



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमदुमास्वातिविरचितं

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र

न्यायवाचस्पति-वादिगजकेसरी-स्याद्वादवारिधि स्व० प० गोपालदासजी करेयाके
अन्यतम शिष्य, विद्यावारिधि प० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीरचित
हिन्दी-भाषानुवादसहित



प्रकाशक—

शेठ मणीलाल, रेवाशकर जगजीवन जौहरी।

जौनपेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावक जैनमंडल ।

जौहरीबाजार—खाराकुवा बम्बई न २ ।



श्रीवीरनिर्माण मयू २४५८

विक्रम मयू १९८९, म १९३२

मूल्य तीन रुपये ।

प्रकाशक—

मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन झवेरी

आ० व्यवस्थापक पद्मश्रुतप्रभावक जैनमंडल ।

झवेरीबाजार-वम्बई नं. २



मुद्रक—

एस्. व्ही. परुलेकर,

वम्बईवेभव, प्रेम-मर्वेष्ट इंडिया

सोगायटी विन्डिंग स्ट्रिट रोड-वम्बई

प्रकाशकका निवेदन ।



वीरनिवाण स २४३२ सन् १९०६ ई० में समाप्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५० ठाकुरप्रसादजी व्याकरण वायङ्मन भाषाटीका सहित पहली बार प्रकाशित हुआ था, प्रथम संस्करण कभीना समाप्त हो गया था, ग्रंथग्री हमेशाह माँग रहनेसे, महत्त्वपूर्ण उपयोगी और पाठ्य-ग्रंथ होनेके कारण पुन विस्तृत भाषाटीका सहित प्रगट किया है । प्रथम संस्करणमे यह संस्करण दुगुना बड़ा है । ग्रंथका प्रचार हो, इससे मूल्य भी बहुत ही कम रखा है ।

इस ग्रंथको दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय पूज्य मानते हैं । दोनों ही सम्प्रदायके आचार्योंने तत्त्वार्थसूत्रपर बड़े बड़े भाष्य-टीका-ग्रंथ लिखे हैं । ऐसी एक हिन्दी-टीकाकी जरूरत थी जो महान् महान् टीका-ग्रंथोंका अध्ययन मनन करके प्रचलित हिन्दीमें लिखी गई हो और जिसमें पदार्थोंका विवेचन आधुनिक शैलीमें हो इन ही सब बातोंपर लक्ष्य रखके यह टीका प्रकाशित की है । आशा है, पाठकोंको पसन्द आयगी ।

भविष्यमें श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालामें उत्तमोत्तम नये ग्रंथ और जो ग्रंथ समाप्त हो गये हैं तथा जो समाप्त प्राय हैं उन्हें पुन उत्तमता पूर्ण छपानेका विचार है । पाठकोंसे नम्र-निवेदन है वे शास्त्रमालाके ग्रंथोंका प्रचार करके हमारे उत्साहको वृद्धिगत करें ।

झवेरीबाजार, धम्मई ।

श्रावण शुक्र १५-रक्षाबंधन स० १९८९

}

निवेदक—

मणीलाल झवेरी ।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी विषय-सूची ।

१ दि० श्वे० सूत्रोंका भेदप्रदर्शक कोष्ठक, १४
२ वर्णानुसारी सूत्रानुक्रमणिका २०

सम्बन्धकारिका ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मंगल और ग्रथकी उत्पत्तिका सम्बन्ध—	१	जिस प्रकार सूर्यके तेजको कोई आच्छादित	
मनुष्यका अन्तिम वास्तविक साध्य—	२	(ढँक) नहीं सकता, उसी प्रकार तीर्थकर द्वारा	
मोक्ष—पुरुषार्थकीसिद्धिके लिये निर्दोष प्रवृत्ति		उपदेश किये अनेकान्त सिद्धान्तको एकान्तवादी	
करो, जो यह न वने, तो यत्नाचारपूर्वक ऐसी		मिलकर भी पराजित नहीं कर सकते,	१०
प्रवृत्ति करो, जो पुण्यबंधका कारण हो—	२	भगवानमहावीरको नमस्कार, उनकी देशना—उप-	
प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यों और उनकी प्रवृत्तियोंकी		देशका महत्त्व और वक्ष्यमाण विषयकी प्रतिज्ञा	१०
जघन्य मध्यमोत्तमता, और न करनेवालेकी अधमता	३	भगवानके वचनोंके एकदेश संग्रह करना भी	
उत्तमोत्तम पुरुष कौन है ?	३	बड़ा दुष्कर है	११
अरहतदेवकी पूजाका फल और उसकी		संपूर्ण जिनवचनके संग्रहकी असंभवताका आगम—	
आवश्यकता	४	प्रमाण द्वारा समर्थन	१२
अरहतदेव जब कृतकृत्य हैं, तो वे उपदेश भी		फलितार्थ	१३
किस कारण देते हैं ?	४	जिनवचन सुननेवाले और व्याख्यान करने-	
उपर्युक्त शकाका समाधान	५	वालोकी फल—प्राप्ति वर्णन	१३
तीर्थकरकर्मके कार्यकी दृष्टान्त द्वारा स्पष्टता	५	ग्रंथका व्याख्यान करनेके लिये वक्ताओको	
अंतिम तीर्थकर श्रीमहावीर भगवानका स्मरण	५	उत्साहित करना	१३
महावीर शब्दकी व्याख्या	६	वक्ताओंको सदा श्रेयो—कल्याणकारी मार्गका ही	
भगवानके गुणोंका वर्णन	७	उपदेश देना चाहिए	१४
भगवानने जिस मोक्षमार्गका उपदेश किया		वक्तव्य विषयकी प्रतिज्ञा	१४
उसका सक्षिप्त स्वरूप, तथा उसका फल	९		

१ प्रथम अध्याय ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मोक्षका स्वरूप	१५	निर्देश, स्वामित्व आदि छह अनुयोगोंका स्वरूप	२७
सम्यग्दर्शनका लक्षण	१७	१ सत्, २ सत्या ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर,	
सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति जिस तरह होती है, उसके		७ भाव और अल्पबहुत्व, आठ अनुयोगोंका स्वरूप	३१
दो हेतुओंका उल्लेख	१८	ज्ञानका वर्णन	३३
निसर्ग और अधिगम सम्यग्दर्शनका स्वरूप	१९	प्रमाणका वर्णन	३४
जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंका स्वरूप	२१	परोक्षका स्वरूप और उसके भेदोंका वर्णन	३५
तत्त्वोंका व्यवहार किस तरह होता है ?	२२	प्रत्यक्षका स्वरूप और उसके भेदोंका वर्णन	३५
नाम, स्थापना, द्रव्य और भावका स्वरूप	२३	मतिज्ञानके भेद	३७
जीवादिक पदार्थोंके जाननेके और उपाय	२५	„ का सामान्य लक्षण	३७
प्रमाण और नयका स्वरूप	२६	अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणाका स्वरूप	३८

अवप्रदादिक विज्ञाने पदार्थोंको धारण करते हैं ?	३९	ज्ञान वस्तुके यथाथ स्वरूपका परिच्छेदन नहीं करते ? यह बात कैसे मात्स्य होवे ?	५९
बहु आदिक विशेषण किमते हैं ?	४०	नयोऽत्र वर्णन	६०
अव्यक्तके विषयमें विशेषता क्या है ?	४०	नैगम संप्रदाय व्यवहार ऋग्वेद और शब्द,	
व्यवहारप्रभृति और भी विशेषता है	४१	नयके इन पाँच भेदोंमें और भी विशेषता है,	६१
भूतज्ञानका स्वरूप	४२	नैगम नय आदि क्या पदार्थ हैं ?	६३
मतिज्ञान और भूतज्ञानमें क्या विशेषता है ?	४३	नैगम नय आदिकको जैनप्रवचनमें भिन्न वैरोधिक आदि दर्शनशास्त्रजाले भी मानते हैं अथवा ये नय स्वतंत्र ही हैं ? अर्थात् ये नय अन्य मित्रा	
इस प्रश्नका उत्तर	४४	नतका भी निरूपण करते हैं अथवा यद्वा तद्वा, युक्त अयुक्त केसा भी पक्ष ग्रहण करके जैनप्र	
अवधिज्ञानका स्वरूप	४५	वचनको सिद्ध करते हैं । इस शराका समाधान	६६
भवप्रत्यय और क्षयोपगमनिमित्तक अवधिज्ञानके भेदोंका स्वरूप	४६	नयोऽत्र स्वरूपमें विद्वत्ता प्रतीत होती है, क्योंकि एक ही पदार्थमें विभिन्न प्रकारके अनेक	
क्षयोपगमनिमित्तक जिनके होता है ? उनमें भी भव कारण है या नहीं ?	४७	अव्यवसायोंकी प्रगुप्ति मानी है । परतु यह बात कैसे पन सञ्चली है ? इस शराका समाधान	६५
मन पर्यायज्ञान और उनमें भेद ऋग्वेद, विपुल्लसितका वर्णन	४८	जीव या नोजीव अथवा अजीव यद्वा नो अजीव	
मन पर्यायज्ञानके दोनों भेद अतीन्द्रिय हैं, दोनोंका विषयपरिच्छेदन मन पर्यायोंको जानना भी गरीबता ही है फिर इनमें विशेषता किस बातकी है ? इस शराका समाधान	४९	इस तरहसे केवल गुण पदका ही उच्चारण किया जाय ता नैगमादिक नयोऽत्रमें निम नयके द्वारा इन पदोंके कौनसे अवयव बोधन कराया जाता है ? इस शराका समाधान	६९
अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें विशेषता क्या क्या है, और किन किन अर्थोंसे है ?	५०	किम किम ज्ञानमें कौन कौनसे नयकी प्रगुप्ति हुआ करती है ?	७१
किम किम ज्ञानकी किम किम विषयमें प्रगुप्ति हो सकती है ?	५१	कौन कौनसा नय किस किम ज्ञानका आश्रय लेता है, ?	७२
अवधिज्ञानका विषय	५२	मात्री छद्म ज्ञानोंका आश्रय यह नय क्यों नहीं लेता ?	७३
मन पर्यायज्ञानका विषय	५३	पाँच कारिकाओं-श्लोकोंमें पहले अव्यायस उपसंहार	७३
वैवज्ञानका विषय	५४		
मतिज्ञानादि पाँच प्रकारके ज्ञानोंमें एक सम यमें एक जीवके कितने ज्ञान हो सकते हैं ?	५५		
प्रमाणभागात्मक ज्ञानोंका निरूपण—	५६		
मिथ्यात्वके गभी ज्ञान विपरीत होते हैं क्योंकि वे	५७		

इति प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

२ द्वितीय अध्याय ।

जीवज्ञानका स्वरूप	७५	परिणामिरमात्रोंमें तीन भेद	८१
अवधिज्ञानादि जीवके भाव-भेदोंकी मर्यादा	७६	जीवोंके उपायगण्यत्वका स्वरूप	८२
अवधिज्ञानका दो भेदोंका स्वरूप	७७	स्वभावके उत्पत्ति	८३
स्वभावके दो भेद	७८	उत्पत्तिगुण जीवस्वभाव कितने भेद हैं ?	८४
आयुष्यमित्रभावेके अगस्त्य भेद	७९	मेगात्री जीवके उपायगण्यत्वका स्वरूप	८५
अवधिज्ञानके इष्टीय भेद	८०	स्वभावोंके भेदोंका	८६

त्रसोंके भेदोंका वर्णन	८७
इन्द्रियोंकी संख्या और उनकी इयत्ता-सीमा	८८
इन्द्रियोंके सामान्य भेद	८९
द्रव्येन्द्रियका आकार और भेद	८९
भावोन्द्रियके भेद और उनका स्वरूप	९०
उपयोग शब्दसे कौनसा उपयोग लेना चाहिए ?	९१
पाँच इन्द्रियोंके नाम	९३
पाँच इन्द्रियोंका विषय	९३
अनिन्द्रियोंका विषय	९५
किस किस जीवके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं ?	९५
किस किस जीवानिकायके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं ?	९६
दो आदिक इन्द्रियाँ किन किनके होती हैं ?	९६
समनस्क जीव कौनसे हैं ? अनिन्द्रियकी अपेक्षा जीवका नियम	९७
जो जीव एक शरीरको छोड़कर शरीरान्तरको धारण करनेके लिये गमन करते हैं, उनके कौनसा योग पाया जाता है ?	९५
जीवोंको यह भवान्तरप्रापिणी—गति किसी तरह नियमबद्ध है, अथवा अनियत ? इस शकाका समाधान	१००
पंचमगति—मोक्षका नियम	१०१
वक्रागति किस प्रकार होती है, उसमें कितना काल लगता है ?	१०१
भवान्तर जाते समय जीवको कालकी अपेक्षा कितना समय लगता है ?	१०२
अनाहारकताका काल कितना है ?	१०३
जन्मके तीन भेद—सम्पूर्ण, गर्भ और उपपातका स्वरूप	१०५
कहाँपर जीव सम्पूर्णजन्मको, कहाँपर गर्भ—जन्मको और कहाँपर उपपातजन्मको धारण करते हैं ?	१०६
किस किस जीवके कौन कौनसा जन्म होता है ? उनके स्वामी कौन हैं ?	१०८
उपपादजन्मके स्वामी	१०९
सम्पूर्णजन्मके स्वामी	१०९
पूर्वोक्त योनियोंमें उपर्युक्त जन्मोंके धारण करनेवाले जीवोंके शरीर कितने प्रकारके हैं ?	
उनके क्या क्या लक्षण हैं ?	११०

औदारिकशरीर स्थूल है, इससे शेष शरीर सूक्ष्म है, परन्तु यह सूक्ष्मता कैसी है ? शेष चारों	
ही शरीरोंकी सूक्ष्मता सद्य है, अथवा विसद्य ?	१११
शरीरोंमें जब उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, तो उनके प्रदेशोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर कम होगी ? इस शंकाका समाधान	११२
तैजस और कार्माणशरीरके प्रदेशोंमें विशेषता	११३
अन्तके दो शरीरोंमें और भी विशेषता है	११३
औदारिक आदि तीन शरीरोंका सम्बन्ध कभी पाया जाता है, और कभी नहीं पाया जाता, ऐसा ही इन दो शरीरोंके विषयमें भी है क्या ? इस शंकाका समाधान	११४
यद्यपि इन दोनोंका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु ये सभी संसारी जीवोंके पाये जाते हैं, या किसी किसी के ? इस प्रश्नका उत्तर—	११६
दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, वह सभी जीवोंके युगपत् पाया जाता है, इसी तरह अन्य शरीर भी एक जीवके एक ही कालमें पाये जाते हैं या नहीं ? यदि पाये जाते हैं, तो पाँचों शरीरोंमेंसे कितने शरीर युगपत् एक जीवके रह सकते हैं ?	११५
इन शरीरोंका प्रयोजन क्या है ? अन्तिम कार्मणशरीरका वर्णन	११७
इन शरीरोंमेंसे कौनसा शरीर किस जन्ममें हुआ करता ? अर्थात् किम किस जन्मके द्वारा कौन कौनसा शरीर प्राप्त हुआ करता है ?	११९
वैक्रियशरीरका जन्म किनके होता है ?	१२०
वैक्रियशरीर औपपातिकके सिवाय, अन्य प्रकारका भी होता है	१२०
आहारकशरीरका लक्षण और उसके स्वामी	१२०
किस किस गतिमें, कौन कौनसा लिंग पाया जाता है ?	१२९
जिन जीवोंमें नपुंसकलिंगका सर्वथा अभाव पाया जाता है, उनका अर्थात् देवोंका वर्णन	१३०
चतुर्गति संबंधी प्राणियोंने अपनी पूर्व आयुका बंधन किया, उस आयुको परिपूर्ण भोगकर नवीन शरीर धारण करते हैं, या और प्रकारसे ?	१३२

३ तृतीय अध्याय ।

जीवनत्वके वर्णनमें जीवोंका आधारविशेषके		लोकका वर्णन	१५८
प्रतिपादनमें अधोलोकाका वर्णन	१३७	लोक क्या है ? और वह कितन प्रकारका है ?	
नरक किन्ने है ? कहाँ है ? और कैसे है ?	१३७	तथा किस प्रकारसे स्थित है ?	१५९
रत्नप्रभा शङ्कराप्रभा आदि ७ नरकभूमियोंका		तियल्लोकका मक्षिप्त स्वप्न	१६०
वर्णन	१३८	द्वीप और समुद्र किस प्रकारसे अवस्थित है ? और	
नरक कहाँ है ? जिनमें नारक जीवोंका नियाम		उनका प्रमाण कितना किन्ना है ?	१६२
पाया जाता है	१४१	जम्बूद्वीपका आकार और उसके विस्तारका	
नारक-जीवोंका विशेष स्वप्न	१४२	प्रमाण	१६३
लेखादिक अन्न अन्नभतर निय प्रकार हैं ?	१४४	जम्बूद्वीपके सात क्षेत्र कौन कौनसे हैं ?	१६५
नारकियोंके शरीरका वर्णन	१४५	जम्बूद्वीपको विभाजित (अलग अलग)	
“ की ऊँचाईका वर्णन	१४६	करनेवाले कुलचलोंका वर्णन	१६७
की वेदनाका वर्णन	१४७	पर्वतोंका अवगाह तथा ऊँचाई आदिका एव जीरा	
“ के पारस्परिक दु खोंका वर्णन	१४८	धनुष आदिना विशेष प्रमाण	१६७
नारकीके क्षेत्रस्वभावकृत दु ख कैसा है ?	१४९	द्वीपान्तर्गताका वर्णन	१७०
क्षेत्रकृत दु ख-वर्णन	१५०	धानकीपराका वर्णन	१७३
अक्षरोदीरित दु खोंका वर्णन	१५१	धातकीपट्ट जैसी रचना पुष्करार्धमें है	१७३
अक्षरुमार क्यों दु ख पहुँचाते हैं ? उनका		मनुष्य कौन है ? और वे कहाँ कहाँ रहते हैं ?	१७६
फौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है ?	१५३	मनुष्योंके मूलभेद कौनसे हैं ?	१७७
नारकी इतने दु खोंको सहन कैसे करते हैं ? यत्र		आर्य मनुष्यके क्षेत्रार्य आदि ६ भेदोंका वर्णन	१७७
पाइनादिसे उनका शरीर छिन्न भिन्न क्यों नहीं होता		म्लेच्छोंका वर्णन	१७८
है ? और उनकी मृत्यु क्यों नहीं होती है ?	१५४	मनुष्यपञ्चकी कर्मभूमि अकर्मभूमिका वर्णन	१८१
सार्तो ही नरकोंके नारकियोंकी आयुका उत्प		मनुष्योंकी उत्पत्ति और जघन्य आयुका प्रमाण	१८२
प्रमाण	१५५	तिर्यचोंकी उत्पत्ति और जघन्य आयुका प्रमाण	१८३
किस किस जानिके जीव ज्यादा मे ज्यादा किस		तिर्यचोंकी भवस्थितिका प्रमाण	१८४
किस नरक तक जा सकते हैं ?	१५६		
नरक दृष्टियोंकी रचनामें विशेषता	१५७		

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

४ चतुर्थ अध्याय ।

देवोंके भेद	१८६	व्यन्तर ज्योतिष्क देवोंके आठ आठ भेद	१९१
चार निशामेभिग ज्योतिष्कदेवोंका अस्तित्व		इन्द्रोरी मय्याका नियम	१९१
प्रत्यक्ष है	१८८	पहले दो निशायोरी लेखाका वर्णन	१९२
चार निशामेके अन्तर्गते	१८८	देवोंके काम-सुगताका वर्णन	१९३
धारहर्षे स्वर्गतक इन्द्रादिरकी क्ययना पाई जाती		अदेवीक (जिनसे देवियाँ नहीं) और भय	
है इगन्धि गगनो क्या कहते हैं, किन्तु यह		वाचार देवोंका वर्णन	१९६
कन्ता विभिन्न प्रकारकी है ?	१८९	भयनामी देवोंके का भेद	१९७

असुरकुमार नागकुमार आदि दश प्रकारके भव- नवासी देवोंका वर्णन	१९८
व्यन्तरनिकायके आठ भेद	२००
किन्नर, किम्पुष्पादि ८ प्रकारके व्यन्तरोंका वर्णन	२०१
किन्नरके १०, किम्पुष्पके १०, महोरगके १०, गान्धर्वके १०, यक्षके १२, राक्षसके ७, भूतके ९, पिशाचके १५ भेद, इन भेदोंके क्रमशः नाम	२०२
व्यन्तरोंके आठ भेदोंकी क्रमसे विक्रिया और उनके व्यञ्जचिन्ह	२०२
तीसरे देवनिकाय-ज्योतिष्कोंका वर्णन	२०४
ज्योतिष्कदेव सर्वत्र समान गति, और भ्रमण कर- नेवाले हैं, या उनमें किसी प्रकारका अन्तर है ?	२०५
सूर्यमंडलका वर्णन	२०७
ज्योतिष्कदेवोंकी गतिसे ही कालके विभाग घड़ी, पल दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर-वर्ष आदि भेद होते हैं	२०९
ज्योतिष्क विमानोद्वारा कालका जो विभाग होता है, उसकी स्पष्टता—	२१०
समयका स्वरूप—	२११
आवली, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव, नाली, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्वाह्न, पूर्वे, अयुत, कमल, नलिन, कुमुद, तुष्टि, अड्ड अवव, हाहा, ह्रह्र, आदि संख्यातकालके भेदोंका स्वरूप	२१३
उपमा नियतकालका प्रमाण	२१३
मनुष्यलोकमें तो ज्योतिष-चक्र भेरीकी प्रदक्षिणा देता हुआ नित्य ही गमनशील है, परन्तु उसके बाहर कैसा है ? बिना प्रदक्षिणा दिये ही गति- शील है ? यद्वा उसका कोई और ही प्रकारसे है ?	२१५
चौथे देवनिकाय-वैमानिकोंका वर्णन	२१६
वैमानिकदेव जो कि अनेक विशेष ऋद्धियोंके धारक हैं, उनके मूलमें कितने भेद हैं ?	२१७
कल्पोपन्न और कल्पातीत भेदोंमेंसे कल्पोपन्न- देवोंके कल्पोंकी अवस्थिति किस प्रकारसे है ?	२१७
कल्पोपन्न और कल्पातीत दोनों भेदोंमेंसे किसी- का भी नामनिर्देश नहीं किया है, अतएव वे कौन कौन हैं ?	२१७
सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत आरण, और अच्युत १२ कल्पोंका वर्णन	२१८
वैमानिकदेवोंकी उत्तरोत्तर अधिकतायें	२२१

वैमानिकदेवोंमें जिस प्रकार ऊपर ऊपर सुगादि विषयोंमें अधिकता है, उसी प्रकार किन्हीं किन्हीं विषयोंकी अपेक्षामें न्यूनता भी है	२२३
वैमानिकदेवोंमें कौन कौनसी लेख्या होती है ?	२२८
कल्प किसे कहते हैं ?	२२९
जो देव भगवान् अरहतदेवके, गर्भ जन्मादिक कल्याणकोंके समय प्रसुदित-प्रसन्न हुआ करते हैं, क्या वे सभी देव सन्मगदृष्टी हैं ?	२३०
लौकान्तिकदेव कौन है ? और वे कितने प्रकारके हैं ?	२३२
सारस्वत आदि आठ प्रकारके लौकान्तिकदेवोंका वर्णन	२३३
अनुत्तरविमानके देवोंका विशेषत्व	२३३
तिर्य्यग्लोका स्वरूप	२३५
देवोंकी स्थितिका क्या हिसाब है ?	२३५
दक्षिणार्धके अधिपति भवनवासियोंकी उच्छ्वास्थिति	२३६
उत्तरार्धके अधिपति भवनवासियोंकी उच्छ्वास्थिति	२३६
दोनों असुरेन्द्रों (चमर और बलि) की उच्छ्वास्थिति	२३७
सौधर्म और ऐशानकी उच्छ्वास्थिति (आयु)	२३७
ऐशानकल्पवासियोंकी उच्छ्वास्थिति	२३८
सनत्कुमारकल्पके देवोंकी उच्छ्वास्थिति	२३८
माहेन्द्रकल्पसे लेकर अच्युत पर्यंत कल्पोंके देवोंकी उच्छ्वास्थिति	२३८
कल्पातीतदेवोंकी उच्छ्वास्थिति	२३९
वैमानिकदेवोंकी जघन्य स्थिति	२४०
सानत्कुमारकल्पमें रहनेवाले देवोंकी जघन्य स्थिति	२४०
माहेन्द्रकल्पवर्ती देवोंकी जघन्य स्थिति	२४०
जघन्य स्थितिका क्या हिसाब है ?	२४१
नारकजीवोंकी जघन्य स्थिति	२४२
नरककी पहली भूमिकी जघन्य स्थितिका प्रमाण	२४२
भवनवासियोंकी जघन्य स्थिति	२४३
व्यन्तरदेवोंकी जघन्य स्थिति	२४३
व्यन्तरोकी उच्छ्वास्थिति	२४३
ज्योतिष्कोंकी उच्छ्वास्थिति	२४३
ग्रहादिकोंकी उच्छ्वास्थिति	२४३
नक्षत्र जातिके ज्योतिष्कदेवोंकी उच्छ्वास्थिति	२४४
ताराओंकी उच्छ्वास्थिति	२४४
” जघन्य ”	२४४
ताराओंसे शेष ज्योतिष्कदेवोंकी जघन्य स्थिति	२४४
इति चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥	

५ पंचम अध्याय ।

चौथे अध्याय तक लेजीवतत्त्वका निरूपण हुआ अरु इस अध्यायमें अजीवतत्त्वका वर्णन है,	
मालद्रव्यको छोड़कर शेष धर्मादिक द्रव्योंका स्वरूप	२८५
धर्मादिन चारोंही द्रव्यता सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इनके विषयमें सन्देह ही रह सकता है, कि ये सत्य हैं? अथवा पर्याय हैं?	२४७
ये द्रव्य अपने स्वभावासे च्युत होते हैं, या नहीं?	
पाँचवी यह सत्या कभी विषदित होती है या नहीं? ये पाँचों ही द्रव्य मूर्त हैं अथवा अमूर्त?	२४७
धर्मादिक द्रव्य अरूपी हैं ऐसे अप्रयुक्त वर्णनसे पुत्रल भी अस्वी ठहरता है उसका निषेध,	२४९
द्रव्योंकी और भी विशेषतायें	२५०
धर्मादिकके बहुत प्रदेश हैं, परन्तु वे कितने कितने हैं? उनकी दयता-प्रदेशोंकी सख्या	२५३
जीवने भी उनमें ही प्रदेश माने हैं जितने कि धर्म द्रव्य और अधर्मद्रव्यके हैं अतएव उसके भी प्रदेशोंकी सख्याका नियम	२५३
आनाशब्दके प्रदेशोंकी दयता	२५४
पुत्रलद्रव्यके प्रदेशोंकी सख्या	२५५
परमाणुके प्रदेश नहीं होते	२५६
धर्मादिक द्रव्योंका आकार	२५६
धर्म अधर्म द्रव्यका अवगाह लोकमें कैसा है?	२५६
पुत्रलद्रव्यके अवगाहका स्वरूप	२५७
जीव, व्यरा अवगाह कितने क्षेत्रमें होता है?	२५८
एक जीवकी अवगाहना छोड़कर अनेक सत्त्व भागमें कैसे है? एक जीवका एकप्रमाण प्रदेश है, इनमें सबलोगमें व्याप्त चाहिए? इन प्रश्नोंका उत्तर	२५९
धर्मादिक द्रव्योंका लक्षण	२६१
आकाशाका लक्षण	२६२
पुत्रलद्रव्यका उपकार	२६३
कार्यद्वारा पुत्रलका उपकार	२६४
जीवद्रव्यका उपकार	२६६
कालकृत उपकार	२६७
पुत्रलके गुण	२७०
पुत्रलके धर्म-	
" पर्याय	२७१

शब्दस्वरूप	२७१
बंध "	२७१
सूक्ष्म "	२७१
स्थूल "	२७१
संस्थान "	२७२
भेद "	२७२
तम "	२७२
छाया "	२७२
आनप "	२७२
उद्योत-स्वरूप	२७२
पुत्रल २ भेद, अणु और स्वचरा वर्णन	२७४
ये दो भेद होते किस कारणसे हैं?	२७५
स्वर्णकी उत्पत्तिके ३ कारणोंका वर्णन	२७५
परमाणुओंकी उत्पत्ति कैसे होती है?	२७६
अवायुप स्वधका वायुप बननेका कारण	२७६
तत्त्वका लक्षण	२७७
उत्पात व्यय और धौर्ब्यका स्वरूप	२७८
विरोधका परिहार और परिणामी नित्यत्वका स्वरूप	२८०
जो नियम है, उगीको अनित्य अथवा जो अनित्य है, उसीको नित्य कैसे कहा जा सकता है?	२८२
अनेकान्तरा स्वरूप	२८३
सप्तमंगीका स्वरूप	२८६
जिन पुत्रलोंका बंध हो जाता है उन्हींका यदि संपान होता है, तो फिर कथं किस तरह होता है?	२८८
पुत्रलोंके कथमें उनके प्रियत्व और रुचत्व गुणका कारण बताया, परन्तु क्या यह एकान्त है कि जहाँपर ये गुण होंगे, वहाँपर नियमम बंध हो ही जायगा, या इसमें भी कोई विरोधना है?	२८९
प्रिय रुचगुणोंकी समानताके द्वारा जो सत्ता है उनका बंध नहीं हुआ करता	२९०
मभी सत्ता पुत्रलोंका बंध नहीं होगा, तो फिर कथं सिद्ध होता है?	२९०
एक स्थिर परमाणुका दूसरे स्थिर परमाणुके साथ बंध हुआ, इनमें से कौन परिणामन करेगा?	
और कौन बंधवेगा?	२९१

द्रव्यका लक्षण	२९२	परिणामका स्वरूप	२९६
कालद्रव्यका स्वरूप, काल भी क्या पाँच		परिणामके २ भेदोंका स्वरूप	२९६
द्रव्योंमें भिन्न छद्मा द्रव्य है ? अथवा पाँचोंमें ही		रूपी-मूर्त पदार्थोंका परिणाम अनादि है	
अन्तर्भूत है ?	२९३	या आदिमान ?	२९६
कालका विगेष स्वरूप	२९४	आदिमान् परिणामका स्वरूप	२९७
गुणका लक्षण	२९५	इति पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥	

६ छठा अध्याय ।

आत्मवतत्त्वका वर्णन		दर्शनमोहके बंधके कारण	३११
आत्मव किसको कहते हैं ? योगका स्वरूप—	२९८	चारित्र्यमोहकर्मके बंधके कारण	३१२
योगके पहले भेद—शुभका स्वरूप	२९९	नरकायुके आत्मवके कारण	३१२
दूसरे भेद—अशुभ योगका स्वरूप	३००	तिर्यगायुके बंधके कारण	३१२
योगके स्वामिभेदकी अपेक्षासे भेद	३००	मनुष्यायुके आत्मवके कारण	३१३
साम्प्रदायिकआत्मवके भेद	३०१	सामान्यसे सभी आयुके आत्मवके कारण	३१३
साम्प्रदायिकआत्मवके भेदोंमें जिन जिन कार-		देवायुके आत्मवके कारण	३१३
णोंसे विगेषता है, उनका वर्णन	३०३	अशुभनामकर्मके बंधके कारण	३१४
अधिकरण और उसके भेदोंका स्वरूप	३०४	शुभनामकर्मके आत्मवके कारण	३१४
भावाधिकरण जीवाधिकरणका स्वरूप	३०५	तीर्थरुक्मके आत्मवके कारण—पौंड्रशकारण—	
अजीवाधिकरण और उनके भेद	३०६	भावनाओंका स्वरूप	३१५
ज्ञानावरण दर्शनावरणकर्मके कारणभूत आत्मवके		नीचगोत्रके आत्मवके कारण	३१६
विगेष भेद	३०८	उच्चगोत्रकर्मके आत्मवके कारण	३१७
असद्वैद्यबंधके कारण	३०९	अन्तरायकर्मके आत्मवके कारण	३१७
सद्वैद्यकर्मके बंधके कारण	३१०	इति षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥	

७ सप्तम अध्याय ।

व्रतोंका स्वरूप, व्रती कितने समझना चाहिए	३१९	संवेग और वैराग्यकी सिद्धिके लिये जगत	
त्यागरूप व्रत कितने प्रकारका है ? और उसका		और लोकस्वरूपका चिन्तन करना चाहिए	३२९
स्वरूप क्या है ?	३१९	हिंसाका लक्षण	३३०
पाँच पापोंके त्यागरूप व्रतोंकी पाँच पाँच भाव-		अमृत-असत्यका लक्षण	३३०
नाओंका स्वरूप	३२०	चोरीका लक्षण	३३२
उपर्युक्त भावनाओंके सिवाय सामान्यतया सभी		अन्नद्वय-कुशीलका लक्षण	३३२
व्रतोंके स्थिर करनेवाली भावनाओंका स्वरूप	३२२	परिग्रहका स्वरूप	३३३
हिंसा आदि ५ पापोंमें दुःखही दुःख है		व्रती किसको कहते हैं ?	३३३
अतएव इनका त्याग ही करना श्रेयस्कृत है	३२४	व्रतीके भेद	३३४
मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, मायस्थभावनाका		अगारी और अनगार में अन्तर और विशेषता	३३४
स्वरूप	३२६		

दिग्गत, देशगत, अनयदण्डगत, सामायिकगत	परिग्रहप्रमाण गतके अतीचार	३४५
पौषपोषण, उपभोगपरिभोगगत, और आतेधि	दिग्गतके अतीचार	३४५
सविभागगतका स्वरूप	देशगतके अतीचार	३४६
संज्ञानागतका स्वरूप	अनर्थदण्डगतके अतीचार	३४६
शस्त्र, काक्षा, विचित्रिज्ञा, अयद्यष्टिप्रज्ञा, और अयद्यष्टिसंज्ञा, सम्पद्यज्ञानके पाँच अतीचारोंका स्वरूप	सामायिकगतके अतीचार	३४७
अहिंसा आदि गतों और सप्तशीलोंके पाँच अतीचार	पौषपोषणगतके अतीचार	३४८
अहिंसागतके अतीचार	भोगोपभोगगतके अतीचार	३४९
सत्याशुनगतके अतीचार	अतिधिसविभाग अतीचार	३४९
अचौर्याशुनगतके अतीचार	संज्ञानागतके अतीचार	३५०
प्रज्ञाचयगतके अतीचार	दानका स्वरूप	३५१
	दानमें विशेषताके कारण	३५१
	इति सप्तमोऽध्याय ॥ ७ ॥	

अष्टम अध्याय ।

बंधतरणका वर्णन	गोत्रक्रमके २ भेदोंका स्वरूप	३७३
बंधके ५ कारण मिथ्यादधान, अविरति, प्रमाद, कपाय और योगका स्वरूप	प्रकृतिबंध-अन्तरायकर्मके पाँच भेदोंका स्वरूप	३७३
बंध किसका होता है? किंग तरहने होता है?	स्थितिगंधकी उत्कृष्ट स्थिति	३७४
और उसके स्वामी कौन है?	मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति	३७४
कर्मणवर्गगाओंका प्रहणरूप बंधका वर्णन—	नाम और गोत्रक्रमकी उत्कृष्ट स्थिति	३७५
प्रहणरूपबंधके प्रकृति स्थिति अनुभाग और	आयुक्रमकी स्थिति	३७५
प्रदेशबंध ४ भेदोंका वर्णन	वेदनीयक्रमकी स्थिति	३७५
प्रकृतिगंधके भेद	गोत्रक्रमकी जपय स्थिति	३७५
“ उत्तरभेद	माफी कर्मोंकी जपय स्थिति	३७५
शानाकरणके पाँच भेद	अनुमागबंधका उभाग	३७६
दानाकरणके ९ भेद	कर्मका विपाक किंग रूपमें होता है ।	३७७
पत्नीयकर्मके २ भेद	नामके अनुरूप विपाक हो जानेके अनन्तर	
मोहनीयकर्मके २८ भेदोंका वर्णन	उन कर्मोंका क्या होता है	३७७
आयुक्रमप्रकृतिगंधके ४ भेद	प्रदेशबंधका वर्णन	३७८
गान्धर्वमे ४२ भेदोंका स्वरूप	पुत्ररूप और पापरूप प्रकृतियोंका विभाग	३७९
	इति अष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥	

९ तम अध्याय ।

गंगारण्य और त्रिशिराण्य वर्णन	१ इमा २ भावा ३ गंगा ४ अग्नान्निर्माण	
गंगारण्य वर्णन	५ उग्रा पाँच धर्मिनियोंका स्वरूप	३८३
किंग विन कारणोंके कर्मोंका आना वर्णन है ।	१ उग्रा समा २ गंगार ३ भावा ४ गंगा ५ अग्नान्निर्माण	
गंगार-विदिवा कारण-जराका स्वरूप	गंगार, ६ गंगार, ७ गंगार, ८ गंगार ९ भावा १० अग्नान्निर्माण	
गंगार-जराका स्वरूप	और १० गंगार, ११ गंगार, १२ गंगार	३८५

१ अनित्य २ अजरण, ३ मंसार, ४ एकत्व,
५ अन्यत्वानुप्रेक्षा ६ अशुचित्वानुप्रेक्षा ७ आत्मत्वानु-
प्रेक्षा ८ सव्रानुप्रेक्षा ९ निर्जराणुप्रेक्षा १० लोकावि-
न्तवन ११ बोधिदुर्लभ १२ धर्मस्वारव्याततत्त्वानु-
प्रेक्षा, चारह अनुप्रेक्षाओंका स्वरूप ४९२
परीपह सहन क्यों करना चाहिए ४०५

१ क्षुधा २ पिपासा ३ शीत ४ उष्ण, ५ दंश-
मशक ६ नाग्य ७ अरति ८ स्त्री ९ चर्या
१० निषद्या ११ शय्या १२ आक्रोश १३ वध
१४ याचना १५ अलाभ १६ रोग १७ तृणस्पर्श
१८ मल १९ सत्कार, २० प्रज्ञा २१ अज्ञान,
२२ अदर्शन वाईस परीपहोंका वर्णन ४०६

किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परी-
पहें होती हैं? कितनी कितनी परीपह किस किस
गुणस्थानवर्ती जीवके पाई जाती हैं? ४०७

जिनभगवानमे ११ परीपहोंकी संभवता ४०७
वादरसंपराय नववें गुणस्थानतक—सभी वाईसों
परीपह संभव है ४०८

किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीपह
होती हैं? ४०८

दर्शनमोहसे अदर्शनपरीपह, अतरायके उदयसे
अलाभपरीपह ४०९

चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाली परीपहें ४०९
वेदनीयकर्मके उदयसे होनेवाली परीपहें ४१०

वाईस परीपहोंमेंसे एक जीवके एक कालमें
कमसे कम कितनी और अधिकसे अधिक कितनी
होती हैं? ४१०

पाँच प्रकारका चारित्र—सामायिक, छेदोपस्थापना,
परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात, समयका
वर्णन ४११

१ अनग्न, २ अवमोदर्य, ३ वृत्तिपरिसंख्यान,
४ रसपरित्याग, ५ विविक्षाशय्यासन, ६ कायक्लेश
छह वाह्यतपोंका स्वरूप ४१२

१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४
स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग, और ६ ध्यान, छह अन्तरंग
तपोंका वर्णन ४१५

अन्तरंगतपके भेद ४१५

प्रायश्चित्तके १ भेद—१ आलोचन, २ प्रति-
क्रमण, ३ तदुभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप,
७ छेद, ८ परिहार, ९ उपस्थापनका स्वरूप ४१६

विनयतपके ४ भेद— १ ज्ञान, २ दर्शन, ३
चारित्र और ४ उपचार विनयका स्वरूप ४१८

वैयावृत्यतपके १० भेद— १ आचार्यवैयावृत्य २
उपाध्यायि ३ तपस्वि ४ शोधक ५

ग्लानवै ६ गणवै ७ कुलवैया ८ संघवैया ९
साधुवै १० समनोजवै का स्वरूप ४१९

स्वाध्याय तपके ५ भेद— १ वाचना, २ प्रच्छन्, ३
अनुप्रेक्षा, ४ आज्ञाय, ५ धर्मोपदेशका स्वरूप ४२०

व्युत्सर्गतपके २ भेद— १ वार, २ आभ्यन्तर
व्युत्सर्गका स्वरूप ४२१

ध्यानतपका स्वरूप ४२२

ध्यानके कालका उन्कृष्ट प्रमाण ४२२

आर्त, रौद्र, वर्म, और शुक्रयानका स्वरूप ४२३

धर्म और शुक्रयान मोक्षके कारण है ४२३

आर्तध्यानके ४ भेद— १ अनिष्टसंयोग, २ दृष्ट-
वियोग, ३ वेदनाचिंतन, ४ निदानका स्वरूप ४२३

दूसरे आर्तध्यानका स्वरूप ४२४

तीसरे आर्तध्यानका स्वरूप ४२४

चौथे आर्तध्यानका स्वरूप ४२४

आर्तध्यानके स्वामी ४२५

रौद्रध्यानके भेद और उनके स्वामी ४२५

धर्मध्यानके ४ भेद— १ आज्ञाविचय २
अपायविचय ३ विपाकविचय ४ संस्थानविच-
यका स्वरूप ४२६

धर्मध्यानके विषयमे एक विशेष बात ४२६

पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क शुक्रध्यानका स्वरूप ४२६

शुक्रध्यानोके स्वामी ४२७

१ पृथक्त्ववितर्क २ एकत्ववितर्क ३ सूक्ष्मक्रिया-
प्रतिपाति ४ व्युत्सर्गक्रियानिवृत्ति शुक्रध्यानके ४
भेदोंका स्वरूप ४२७

ये चारों ध्यान किस प्रकारके जीवोंके हुआ
करते हैं? ४२८

चारों ध्यानोमेंसे आदिके दो ध्यानोकी विशेषता ४२८

दूसरे एकत्ववितर्कशुक्रध्यानका वर्णन ४२८

वितर्क किससे कहते हैं ?	४१९	सामान्यतया उपयुक्त सभी निर्णय कहे जाते हैं, परन्तु मयम, धुन प्रतिषेधना, तीर्थ, लिम	
बीचरना स्वस्म	४२९	लेखा, उपपात स्थानके भेदसे सिद्ध करना चाहिये	४३०
सम्यग्निर्देशकी निर्जराका तरतम भाव अर्थात्		सयम धृत प्रतिमेकना आदिका स्वस्म	४३३
सम्यग्निर्देशके कर्मोंकी निर्जरा एक सरीखी होती है, अथवा उसमें कुछ विशेषता है ?	४३०		
निर्णयोंने पाँच विशेष भेद—१ पुलाफ, २ वकुश			
३ कुलील ४ निर्णय ५ आतरना स्वस्म	४३१	इति नमोऽध्याय ॥ ९ ॥	

१० दशम अध्याय

मोक्षतत्त्व वर्णन		क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र्य, प्रत्येक	
मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक होती है		सुदुर्लभित ज्ञान अवगाहना अन्तर, सत्या,	
केवल ज्ञानी उत्पत्तिके कारण	४३७	और अल्पगुह्यका स्वरूप	४४५
कर्मोंके अत्यन्त क्षय होनेके कारण	४३८	प्रथम महारम्य	४६१
मोक्षका स्वरूप	४३९	आमर्शोपधित, त्रिभुजोपधिव सर्वोपधित शाप	
अन्य कारण जिनके अभावसे मोक्षकी सिद्धि होती है	४४०	और अनुग्रहकी सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाली वचन	
मकर कर्मोंने अभावसे मोक्ष हो जानेपर		मिद्धि ईशत्व वक्षित्व, अवधिमान, शारीरविकरण,	
उस जीवकी क्या गति होती है ? यह		अगप्राप्तिता, अणिमा, लघिमा, और महिमा	
किम प्रकार परिणत होता है ?	४४०	आदि ७ द्वियोंका स्वरूप	४६१
विषयमान गति—ऊर्ध्वगमनके देखने कारण	४४१	उपसहार प्रयका सार	४६४
पूर्वप्रयोग, सग, यंथ, आदिका वर्णन	४४२	प्रशस्तित ।	
मुषिने कारणोंकी पाकर जो जीव मुक्त हो जाते हैं, वे सभी जीव स्वल्परी अपेक्षा, समान		प्रयस्ता थोडासास्वातिरी गुणरम्परा—	
है ? अथवा असमान ?	४४५	प्रयक्ताके प्रय रचनेका स्थान माता, पिता, गोत्रका	
		परिचय और इस उच्च आगमने रचनेका कारण	४७१
		इति दशमोऽध्याय ॥ १० ॥	

धीरायचन्द्रनारायणमालाका परिचय और प्रथम-सूची—

४७२



१ दिगम्बर और श्वेताम्बरसाम्प्रदायके सूत्रपाठोंका भेदप्रदर्शक कोष्टक ।

प्रथमोऽध्यायः ।

सूत्राङ्क । दिगम्बरसाम्प्रदायीसूत्रपाठ ।

१५ अवप्रहेहापायधारणाः ।

× ×

२१ भवप्रत्ययोवधिर्देवनारकाणाम् ।

२२ क्षयोपगमनिमित्तं पट्टिकृत्य गोपाणाम् ।

२३ ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ।

२८ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ।

३३ नैगमसप्रहव्यवहारजुमूत्रशब्दममभिल्लैवम्भूतानया ।

× ×

सूत्राङ्क । श्वेताम्बरसाम्प्रदायीसूत्रपाठ ।

१५ अवप्रहेहापायधारणाः ।

२१ द्विविधोवधिः ।

२२ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ।

२३ यथोक्तनिमित्तं

२४पर्यायः ।

२९पर्यायस्य ।

३४सूत्रशब्दा नयाः ।

३५ आद्यशब्दौ द्विविधेभौ ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

५ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुर्विधपञ्च भेदाः सम्यक्त्व-
चारित्रसंयमासंयमाश्च ।

१३ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्यावराः ।

१४ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ।

× ×

२० स्पर्शरसगन्धवर्णगन्धास्तदर्थः ।

२२ वनस्पत्यन्तानामेकम् ।

२९ एकसमयाविग्रहाः ।

३० एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ।

३१ सम्मूर्च्छनगर्भोपपादः जन्मः ।

३३ जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।

३४ देवनारकाणामुपपादः ।

३७ परं परं सूक्ष्मम् ।

४० अप्रतिघाते ।

४६ औपपादिकं वैक्रियकम् ।

४८ तैजसमपि ।

४९ शुभं विशुद्धमव्याधाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।

५ दर्शनदानादिलब्धयः

.....

१३ पृथिव्यञ्चनस्पतयः स्यावराः ।

१४ तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ।

१९ उपयोगः स्पर्शादिषु ।

२१ गन्धास्तेषामर्थः ।

२३ वाय्वन्तानामेकम् ।

३० एकसमयोऽविग्रहः ।

३१ एकं द्वौ वानाहारकः ।

३२ सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्मः ।

३४ जरायुजाण्डजपोतजानां गर्भः ।

३५ नारकदेवानामुपपातः ।

३८ तेषां परं परं सूक्ष्मम् ।

४१ अप्रतिघाते ।

४७ वैक्रियमौपपातिकम् ।

× ×

४९चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ।

१ भाष्यके सूत्रोंमें सर्वत्र मनःपर्ययके बदले मनःपर्याय है ।

- ५२ शेषास्त्रिवेदा ।
५३ औपपादिकचरमोत्तमदेहा सहस्रयेययामुण्डो-
नपवत्योयुय ।

- X X
५२ औपपादिकचरमदेहोत्तमपुण्यामये

तृतीयोऽध्याय ।

- १ स्तनार्दरायालुकीपद्मभूमनमोमहातम प्रभाभूमयो
घनाम्बुरातामादाप्रतिष्ठा सप्ताधोऽध ।
२ ताह मिशत्पयविशतिपउदशदशत्रिषोनेकनरवशत
सहस्राणि पय चैव यथाक्रमम् ।
३ तारका नित्याभुमतरलेदयापरिणामदेहयेदनावित्रिया ।

- १ मत्ताधोऽध पृथुतरा ।

- ७ जम्बूद्वीपप्लवणोदादय भुमनामानो द्वीपसमुद्रा ।

- ७ जम्बूद्वीपप्लवणोदादय भुमनामानो द्वीप समुद्रा ।

- १ भरतहेमरतहरिविदेहरम्यरहेरम्यवतैरायतयो
क्षेत्राणि ।

- १० तत्र भरत

- १२ हेमाजुनतपनीयवैद्वरजतहेममया ।
१३ मणित्रिचित्रपाशो वपदि मूले च तुल्यविस्तारा ।
१४ पद्ममहापद्मनिगिम्बुकैसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका हृदा
स्तेषामुपरि ।

- X X
X X
X X

- १५ प्रथमो योजन सहस्रायामस्तदर्धविस्मो हृद ।

- X X

- १६ दशयोजनावगाह ।

- X X

- १७ तन्मध्ये योजन पुरम् ।

- X X

- १८ तद्विगुणद्विगुणा हृदा पुष्कराणि च ।

- X X

- १९ तन्निशामिन्यो देव्य धीहीघृतितीतिबुद्धिस्थस्य
पश्यापमस्थितय ममामानिकपरिप्लवा ।

- X X

- २० गन्तासि धुतोहिद्रोहितास्याहरिद्वरिक्रान्तासीतासीतो
दानारीनरक्रान्ताधुवर्णस्यकृत्स्नरक्तारक्षोदा सरित
स्तमध्यगा ।

- X X

- २१ द्वयोर्द्वयो पूर्वा पूर्वगा ।

- X X

- २२ दोषाम्बरगा ।

- X X

- २३ चतुर्गन्दीगह्वरपरितृप्ता गङ्गासम्वाद्यो नय ।

- X X

- २४ भरत पश्चिमातिपमयोजनान्विस्तार पद रेकोन
विशानिभागा योजनस्य ।

- X X

- २५ तद्विगुणद्विगुणविस्तारा वक्रपरव्याविदेहान्ता ।

- X X

- २६ उत्तम दक्षिणतुल्या ।

- X X

- २७ भरतैरात्रयोर्द्विगुणो यद्वमगन्त्यामुत्तरान्यवर्णार्पि
पश्याम् ।

- X X

- ८ तान्यामपरा भूमयोऽवस्थिता ।

- X X

- २९ एकद्विदिस्योपमस्थितयो हेमवनरहरिकर्षदेव
गुह्यक ।

- X X

- ३० तथोत्तरा ।
 ३१ विदेहेषु सङ्ख्यकालाः ।
 ३२ भरनस्य विक्रमो जम्बूद्वीपस्य नवतिगत-
 भागः ।
 ३८ नृस्थिता परावरे त्रिपथोपमान्मुहूर्तौ ।
 ३९ तिर्यग्योनिजाना च ।

X X
 X X
 X X

१३परावरे.....।

१८ तिर्यग्योनीना च ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

२ आदित्यत्रिषु पीनान्तलेख्या ।

X X

८ गेपाः स्वर्गपगन्दमन प्रवीचारा ।

१२ ज्योतिष्का सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णक-
 तारकाश्च ।

१९ सौधर्मैशानगानकुमारमाहेन्द्रब्रह्मबालोत्पलान्तवका-
 पिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारमह्वारेष्वानतप्राणतयोरारणा-
 च्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापरा-
 जितेषु सर्वायमिदौ च ।

२२ पीतपद्मगुरुलेख्या द्वित्रिशेषेषु ।

२४ ब्रह्मलोकाख्या लौकान्तिका ।

२८ स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपगेपाणा सागरोपमत्रिपल्यो-
 पमार्द्धहीनमिताः ।

X X

X X

X X

२९ सौधर्मैशानयो सागरोपमेऽधिके ।

X X

X X

३० सानकुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ।

३१ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ।

३३ अपरा पल्योपमधिकम् ।

X X

X X

३९ परापल्योपमधिकम् ।

४० ज्योतिष्काणा च ।

X X

X X

X X

४१ तदष्टभागोऽपरा ।

X X

४२ लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ।

२ तृतीयः पीतलेख्या ।

७ पीनान्तलेख्या ।

८ प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ।

१३ प्रकीर्ण-
 तारका ।

२० सौधर्मैशानसानकुमारमाहेन्द्रब्रह्मबालोत्पलान्तक-
 महाशुक्रगह्वारे.....

... ..

... .. सर्वायमिदौ च ।

२३लेख्या हि विशेषेषु ।

२४लौकान्तिका ।

२९ स्थितिः ।

३० भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीना पल्योपममध्यर्धम् ।

३१ गेपाणा पादेने ।

३२ असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ।

३३ सौधर्मोदेषु यथात्मम् ।

३४ सागरोपमे ।

३५ अधिके च ।

३६ सप्त सानकुमारे ।

३७ विषेपस्त्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च

३९ अपरा पल्योपममधिकं च ।

४० सागरोपमे ।

४१ अधिके च ।

४७ परापल्योपमम् ।

४८ ज्योतिष्काणामधिकम् ।

४९ ग्रहाणामेकम् ।

५० नक्षत्राणामर्धम् ।

५१ तारकाणा चतुर्भागाः ।

५२ जघन्या त्वष्टभागः ।

५३ चतुर्भागा शेषाणाम् ।

X X

पञ्चमोऽध्यायः ।

- २ इत्याणि ।
 ३ जीवाश्च ।
 १० सख्येयासख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।
 × ×
 १६ प्रदेशसहस्रविमर्षाभ्यां प्रदीपवत् ।
 २६ मेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ।
 २९ सद्बुद्ध्यलम्बणम् ।
 ३७ यथेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।
 ३९ कालश्च ।
 × ×
 × ×
 × ×

- २ इत्याणि जीवाश्च ।
 × ×
 ७ असख्येया प्रदेशा धर्माधमयो
 ८ जीवस्य च ।
 १६ विसर्गाभ्यां ।
 २६ सङ्घातमेदस्य उत्पद्यन्ते ।
 × ×
 ३७ यथे समधिकौ पारिणामिकौ ।
 ३९ कालधेत्येके ।
 ४२ अनादिरादिमांश्च ।
 ४३ रूपिष्वदिमान् ।
 ४४ योगोपयोगौ जीवेषु ।

षष्ठोऽध्यायः ।

- ३ गुभ पुण्यस्यागुभ पापस्य ।
 × ×
 ५ इन्द्रियरूपायामतक्रिया पञ्चनु पञ्चपञ्चविंशति
 सख्या पूर्वस्य भेदा ।
 ६ तीव्रमन्दघाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्त
 द्विशेष ।
 १७ अप्यारम्भपरिग्रहत्वं मानुस्य ।
 १८ स्वभावमार्दवं च ।
 २१ सम्यक्स्य च ।
 २३ तद्विपरीतं गुभस्य
 २४ दर्शनविश्रुद्धिर्विनयसम्प्रप्ता शीलव्रतेयनतीचारीऽभी
 क्षणज्ञानापयोगमवेगी शक्तिरस्यागतपनीसाधुममा
 धिर्वैवावृत्त्यकरणमदृष्टाचार्यबहुभूतप्रवचनमकिरावस्य
 कापरिहाणिमागप्रभावना प्रवचनवत्सल्यमिति तीर्थ
 परतरस्य ।

- ३ गुभ पुण्यस्य ।
 ४ अगुभ पापस्य ।
 ३ अनतरूपायेन्द्रियक्रिया
 ।
 ७ भाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेष ।
 १८ अप्यारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुस्य ।
 × ×
 × ×
 २३ विपरीतं गुभस्य ।
 २३ भीर्षं
 तपमी सङ्घसाधुसमाधिबैवावृत्त्यकरण-
 तीर्थवृत्तस्य ।

सप्तमोऽध्यायः ।

- ४ धात्मनोगुमीवादाननिर्भेरगममिथालोकितापानभो
 जनानि पय ।
 ५ क्रोधलौभभीरुवद्वास्वप्रयाण्यानान्यजुवीविमापय च
 पा ।
 ६ शल्यागारविमोघिनाशामुपरोषावरणभेदजुद्धिम
 धम्मादिर्गदा पा ।

- × ×
 × ×
 × ×

- ७ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराद्गतिरीक्षणपूर्वतालुग्मर-
णवृथेष्टरसस्वशरीरसंस्कारन्यागा पय ।
८ मनोज्ञमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पय ।
९ हिंसादिप्रियामुप्रापायावयवदर्शनम् ।
१२ जगत्कायस्वभावौ वा मर्यादसंगमार्थम् ।
२८ परविवाहकरणेत्वरिकापरिवृद्धीतापरिवृद्धीतागमनान्द्र-
क्कीडाकामनीत्राभिनिवेशाः ।
३२ वन्द्यपक्षौक्यनौसर्प्याममोऽन्याभिन्नरूपभोगपरि-
भोगानर्थक्यानि ।
३४ अप्रयत्नेविताप्रमार्जितौ समर्गाशनसंस्तरोपक्रमगाना-
दरस्मृत्यनुसृत्यानि ।
३७ जीवितमरणशंभामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।

X X

X X

- ४ रिगादिप्रियामुप्रापायावयवदर्शनम् ।
७ जगत्कायस्वभावौ वा मर्यादसंगमार्थम् ।
२३ परविवाहकरणेत्वरिकापरिवृद्धीतापरिवृद्धीतागमनान्द्र-
क्कीडाकामनीत्राभिनिवेशाः
.....
२७ वन्द्यपक्षौक्य,
भोगभोगादिभूतानि ।
२९गन्तारो
.....सुस्थापनानि ।
३२
निदानकरणानि ।

अष्टमोऽध्यायः ।

- २ स्रवायत्ताजीव कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादने
स वन्द्य
X X
४ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगो-
त्रान्तरायाः ।
६ मतिश्रुताप्रथिमनःपर्ययकेवलानाम् ।
७ चक्षुरचक्षुर्वक्षिणेवलाना निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रन-
लाप्रचलास्त्यानगृह्यथ ।
९ दर्शनचारित्र्यमोहनीयाकषायाकषयवेदनीयाध्यात्रि-
द्विनवपोडशभेदा सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यङ्क-
पायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुत्रपुं-
सकृदेदा अनन्तानुनयप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानमज्व-
लनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा ।
१३ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ।
१६ विंशतिर्नामगोत्रयोः ।
१७ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ।
१९ गोपाणामन्तर्मुहूर्ता ।
२४ नामप्रत्यया सर्वतो योगविशेषास्तूष्मैरुक्षेत्रावगाह-
स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।
२५ सद्देयशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।
२६ अतोऽन्यत्पापम् ।

- २पुद्गलानादने ।

- ३ स वन्द्य ।

- ५
मोहनीयायुः नाम.....।

- ७ सत्यादीनाम् ।

- ८
...ग्यानगृहिषेदनीयानि च ।

- १०मोहनीय कषायनाम्भय ।

.....

- तदुभयानि कषायनोकषायावन्तानुनयप्रत्याख्या-
नप्रत्याख्यानावरणमज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमान-
मायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुत्रपुं-
सकृदेदा ।

- १४ दानादीनाम् ।

- १७ नामगोत्रयोर्विशतिः ।

- १८युक्तस्य ।

- २१सुहृत्तम् ।

- २५क्षेत्रा-
वगाहस्थिता।

- २६ सद्देयमम्यक्त्वहास्यरतिपुस्यवेदशुभायुः ।

X X

नवमोऽध्याय ।

- ६ उत्तमक्षमामार्दवाजैः सत्यशौचसंयमस्तपस्त्यागाकि-
शन्यनृपचर्योपि धर्मः ।
१७ एकादशो भाव्या युगपदेश्मिन्नेनविंशति ।
१८ सामाधिरुच्छेदोपस्थापनापरिहारविउद्धिसूक्ष्मसाम्परा-
ययथाख्यातमिति चारित्रम् ।
२२ आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविशेषव्युत्पन्नपत्रेदपरि-
हारोपस्थापना ।
२७ उत्तमसहनस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यामान्तमुदूर्तात् ।

- × ×
११ विपरीतं मनोऽस्य ।
१६ आनापायविपाकमस्थानविचयायधम्यम् ।
× ×
३७ छन्दे चाये पूर्वविद ।
४० येनयोगकाययोगयोगानाम् ।
४१ एकाग्रये सवितर्कैवाचारे पूर्वे ।

- ६ उत्तमक्षमा
।
१७ विंशति ।
१८
यथाख्यातानि चारित्रम् ।
२२
स्थापनानि ।
२७ निरोधो ध्यानम् ।
२८ आमुदूर्तात् ।
२३ विपरीत मनोज्ञानाम् ।
३७
धर्ममप्रमत्त सयनस्य ।
३८ उपशान्तक्षीणरुपाययोध ।
३९ छन्दे चाये ।
४२ तत्त्वैककाययोगा ।
४३ सवितर्कै पूर्वे ।

दशमोऽध्याय ।

- २ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ।
× ×
३ औपशामिकादि भव्यत्वानां च ।
४ अन्यत्र केवलसम्यक्त्वानदर्शनसिद्धत्वेभ्य ।
५ तदनन्तरमूर्त्यै गच्छन्त्यालोयान्तात् ।
६ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्दुष्येद्वास्तव्या गतिपरिमाणव ।
७ आनिद्धिगुणालम्बनद्वयपगतलेपालायुष्येदशब्दीन-
वद्वमिश्रितगव्यव ।
८ धमास्तिराया भावात् ।

- २ निर्जराभ्याम् ।
३ कृत्स्नकर्मसयो मोक्ष ।
४ औपशामिकादिभन्यत्वाभावाधान्यत्र केवलमन्यक्त्व-
ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य ।
× ×
६ गच्छन्त्या ।
७ तत्रति
× ×
× ×

२ वर्णानुसारी सूत्रानुक्रमणिका ।

नं०	अ	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक	नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक	
१	अगार्यनगारश्च	७	१४	३३४	३४	आकाशादेकद्रव्याणि	५	५	२५०
२	अजीवकाया०	५	१	२४५	३५	आचार्योपाध्याय०	९	२४	४१९
३	अणव स्कन्धाश्च	५	२५	२७४	३६	आदितस्तिसृणामन्तरायस्य०	८	१५	३७४
४	अणुव्रतोऽगारी	७	१५	३३४	३७	आद्यंसंरम्भ०	६	९	३०५
५	अदत्तादानं स्तैयम्	७	१०	३३२	३८	आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ	१	३५	६१
६	अधिकरणं जीवाजीवाः	६	८	३०४	३९	आद्ये परोक्षम्	१	११	३४
७	अधिके च	४	३५	२३८	४०	आद्यो ज्ञानदर्शनावरण०	८	५	३५५
८	अधिके च	४	४१	२४०	४१	आनयनप्रेष्यप्रयोग०	७	२६	३४६
९	अनन्तरुणे परे	२	४०	११३	४२	आमुहूर्तात्	९	२८	४२२
१०	अनशनावमौर्ध्य०	९	१९	४११	४३	आरण्यच्युतादू०	४	३८	२३९
११	अनादिरादिमाश्च	५	४२	२९६	४४	आर्तरीधर्मशृङ्गानि	९	२९	४२३
१२	अनादिसम्बन्धे च	२	४२	११४	४५	आर्तममनोज्ञाना०	९	३१	४२३
१३	अनित्याधारण०	९	७	३९२	४६	आर्योम्लेच्छाश्च	३	१५	१७७
१४	अनुग्रहार्थ०	७	३३	३५१	४७	आलोचनप्रतिक्रमण०	९	२२	४१६
१५	अनुश्रेणि गतिः	२	२७	१००	४८	आलवनिरोध संवरः	९	१	३८१
१६	अपरा पल्योपममधिकं च	४	३९	२४०	४९	आज्ञापायविपाक०	९	३७	४३५
१७	अपरा द्वादशमुहूर्ता	८	१९	३७५	५०	इन्द्रसामानिक०	४	४	१८९
१८	अप्रतिघाते	२	४१	११३	५१	ईर्याभापैपणा०	९	५	३८३
१९	अप्रत्यवेक्षिता०	७	२९	३४८	५२	उच्चैर्नीचैश्च	८	१३	३७३
२०	अर्थस्य	१	१७	४०	५३	उत्तमक्षमा०	९	६	३८४
२१	अर्थितानर्पितसिद्धेः	५	३१	२८२	५४	उत्तमसंहननस्यै०	९	२७	४२२
२२	अत्यारम्भपरिग्रहत्वं०	६	१८	३१३	५५	उत्पादव्ययब्रौव्ययुक्तं सत्	५	२९	२७७
२३	अवग्रहेहापायधारणा	१	१५	३८	५६	उपयोगो लक्षणम्	२	८	८२
२४	अविग्रहा जीवस्य	२	२८	१०१	५७	उपयोगा स्पर्शादिषु	२	१९	९१
२५	अविचारं द्वितीयम्	९	४४	४२८	५८	उपर्युपरि	४	१९	२१७
२६	अवत्रतरुपायेन्द्रियक्रिया०	६	६	३०१	५९	उपशान्तक्षीणकपाययोश्च	९	३८	४२६
२७	अश्रुम पापस्य	६	४	३००		ऊ			
२८	असत्येया प्रदेशा०	५	७	२५३	६०	ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्य०	७	२५	३४५
२९	असत्येयभागादिषु-	५	१५	२५८		ऊ			
३०	असदभिधानमनृतम्	७	९	३३०	६१	ऋजुविपुलमती मन.पर्याय	१	२४	४९
३१	असुरेन्द्रयो०	४	३२	२३२		ए			
३२	आकाशस्थानन्ता.	५	९	२५४	६२	एकप्रदेशादिषु भाज्यः०	५	१४	२५७
३३	आकाशस्यावगाहः	५	१८	२६२					

न०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक	न०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
६३	एङ्गमयोऽविग्रह	२	३०	१०२	जगन्मायस्वभावाच्च	७	७
६४	एङ्ग द्वौ भानाहारक	२	३१	१०३	अध्याय त्वष्टमाग	४	५२
६५	एकादश जिते	९	११	१०४	जम्बूद्वीपलवणादय	३	७
६६	एकादशो भाज्या०	६	१७	१०५	जराध्वज्ज्योतिषाणां गर्भे	७	३४
६७	एकादीनि भाज्यानि०	१	३१	१०६	जीवमव्यामव्यत्वादीनि च	२	४
६८	एकाधये सवितर्के०	९	४३	१०७	जीवस्य च	५	८
औ				१०८	जीवाजीवाध्व०	१	४
६९	औदारिकयैक्रिय०	७	३७	१०९	जीवितमरणासंज्ञा०	४	३२
७०	औपपातिकचरमदेहो०	२	५२	११०	ज्योतिषा	४	१३
७१	औपपातिकमनुष्येभ्य०	४	२८	१११	ज्योतिषाजमधिकम्	४	४८
७२	औपशामिरक्षाधिकौ०	७	१	भा			
७३	औपशामिरादि०	१०	४	११२	तत्तत्त्व निरर्जरा	८	४२
क				११३	तत्कृत् कालविभाग	४	१५
७४	अपायोदयासीम	६	१५	११४	तत्त्वार्थभ्रष्टानं सम्यग्दर्शनम्	१	७
७५	अर्धपरोक्षकृच्च०	७	३७	११५	तत्त्वैक्याययोगायोगानाम्	९	४२
७६	अर्धोपपन्ना०	४	१८	११६	तत्त्वमात्रे	१	१०
७७	अर्धप्रतीतिवारा०	४	८	११७	तत्त्वदोषनिवृत्त०	६	११
७८	अर्धवाचन कर्मयोग	६	१	११८	तत्त्व भूत०	३	१०
७९	अर्धव्यवहारे	५	३८	११९	तत्त्वैक्याय	४	३
८०	अर्धमिपिपीलिना०	७	२४	१२०	तदनन्तरभागे मन पयायस्य	१	२९
८१	अर्धमर्मशयो मोक्ष	१०	३	१२१	तदनन्तरपूर्व०	१०	५
८२	अर्धसिधुतसङ्घ०	६	१४	१२२	तदतिरिक्तदेशवित०	९	३५
८३	अर्धसिपासा०	९	९	१२३	तदादीनि भाज्यानि०	२	४४
८४	अर्धसिपासादिरण्य०	७	२४	१२४	तद्विद्विष्या०	१	१४
८५	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	१०	७	१२५	तद्विभाचिन०	३	११
भा				१२६	तद्विपर्ययो०	६	२७
८६	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	२	६	१२७	तद्विपर्ययो०	५	४१
८७	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	४	२२	१२८	तद्विपर्ययो०	७	३०
८८	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	५	१७	१२९	तद्विपर्ययो०	१	३
८९	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	८	१२	१३०	तद्विपर्ययो०	३	९
९०	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	२	४६	१३१	तद्विपर्ययो०	९	३
९१	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	५	३८	१३२	तद्विपर्ययो०	४	५१
९२	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	५	३७	१३३	तद्विपर्ययो०	३	२
९३	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	४	४९	१३४	तद्विपर्ययो०	३	१८
च				१३५	तद्विपर्ययो०	६	७
९४	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	८	८	१३६	तद्विपर्ययो०	४	२
९५	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	४	५३	१३७	तद्विपर्ययो०	२	१४
९६	अर्धसिपासादिलिङ्ग०	९	१५	१३८	तद्विपर्ययो०	२	२८

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
१३४	तेष्वकत्रि०	३	१५५
१३५	त्रयविंशत्तागरोपमाप्यायुक्तस्य	८	१८
१३६	त्रायस्त्रिंश्लोकरूपाल०	४	५
द			
१३७	दर्शनविशुद्धिर्विनयमभ्यस्यता०	६	२३
१३८	दर्शनचारित्र्यमोहनीय०	८	१०
१३९	दर्शनमोहान्तराययो०	९	१४
१४०	दश वर्षसहस्राणि	४	४४
१४१	दशाष्टपञ्च०	४	३
१४२	दानदीनानाम्	८	१४
१४३	दिग्देगानर्यदण्ड०	७	१६
१४४	दुःखगोक्रतापा०	८	१२
१४५	दुःखमेव वा	७	५
१४६	देवाश्चतुर्निकाया	४	१
१४७	देगमवर्ततोऽणमहती	७	२
१४८	द्रव्याणि जीवाश्च	५	२
१४९	द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः	५	४०
१५०	द्विनवाष्टादशै०	२	२
१५१	द्विर्विक्कम्मा ०	३	८
१५२	द्विर्धातकीखण्डे	३	१२
१५३	द्विविवानि	२	१६
१५४	द्विविधोऽत्रयि	१	२१
१५५	द्व्यधिकादिगुणानां तु	५	३५
ध			
१५६	धर्माधर्मयोः कृते	५	१३
न			
१५७	नक्षत्राणामवर्धम्	४	५०
१५८	न चक्षुनिन्त्रिभ्याम्	१	१९
१५९	न जघन्यगुणानाम्	५	३३
१६०	न देवा	२	५१
१६१	नवचतुर्दश०	९	२१
१६२	नाणो.	५	११
१६३	नामगोत्रयोर्विगति	८	१७
१६४	नामगोत्रयोरष्टौ	८	२०
१६५	नामप्रत्यया ०	८	२५
१६६	नामस्थापनाद्वय०	१	५
१६७	नारकदेवानामुपपात	२	३५
१६८	नारकसंमूर्च्छितानां नष्टसकानि	२	५०
१६९	नारकाणां च द्वितीयादिषु	४	४३

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
१७०	नारकैर्धर्म्यानामापुर्णैवानि	८	११
१७१	निन्वावस्थितान्यरूपाणि	५	३
१७२	निन्वाशुभतरलेभ्या०	३	३
१७३	निदानं च	९	३४
१७४	निरपभोगमन्यम्	२	८५
१७५	निर्देशम्यामित्व०	१	७
१७६	निर्वर्तनानिश्चय०	६	१०
१७७	निर्गुण्यपमृगै०	७	१७
१७८	निःशयोः प्रती	७	१३
१७९	निःशीलजननं च सर्वेषाम्	६	१९
१८०	निश्चियाणि च	५	६
१८१	नृम्यिनी परापरे०	३	१७
१८२	नृगममप्रद०	१	३१
प			
१८३	पाननव०	७	६
१८४	पयोन्त्रियाणि	२	१५
१८५	परत परत०	४	४०
१८६	परविवाहकरणे०	७	२३
१८७	परस्पोदीरितदुःखा ०	३	४
१८८	परस्पोप्रग्रहो जीवानाम्	५	२१
१८९	पगालनिन्दाप्रशंसै०	६	२४
१९०	परा पत्न्योपमम्	४	४७
१९१	परे केवलिन	९	४०
१९२	परेऽप्रवीचाराः	४	१०
१९३	परे मोक्षहेतु	९	३०
१९४	पीतपद्मशुक्लेभ्या०	४	२३
१९५	पीतान्तलेभ्याः	४	७
१९६	पुलास्वकुण्ड०	९	४८
१९७	पुष्करार्धे च	३	१३
१९८	पूर्वप्रयोगासदत्वा०	१०	६
१९९	पूर्वयोगोद्दिष्टा.	४	६
२००	पृथक्त्वैकत्व०	९	४१
२०१	पृथिव्यभ्युवनस्पतय स्थावरा	२	१३
२०२	प्रकृतिस्थित्यनुभाव०	८	४
२०३	प्रत्यक्षमन्यत्	१	१२
२०४	प्रदेगतोऽसंख्येयगुणं	२	३९
२०५	प्रदेगसंहार०	५	१६
२०६	प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा०	८	३३०
२०७	प्रमाणनयैराधिगम	१	६

न०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
२०८	प्राग्भैवेयकेभ्य कस्या	४	२४ २३०
२०९	प्राग्मानुषोत्तरान्मनुष्या	३	१४ १७६
२१०	प्रायश्चित्तविनय०	९	२० ४१५
व			
२११	वधवधविच्छेदा०	७	२० ३४१
२१२	वधदेवमानिर्जराभ्याम्	१०	२ ४३८
२१३	वध समाधिकी०	५	३६ २९२
२१४	वहिरुत्प्लिता	४	१६ २१५
२१५	बहुबहुविध०	१	१६ ३९
२१६	बह्वारम्भपरिग्रहत्व०	६	१७ ३१२
२१७	बाह्याभ्यन्तरोपथो	९	२६ ४२१
२१८	भग्नलोफाल्या०	४	२७ २३०
भ			
२१९	भर्तृरावतविदेहा०	३	१६ १८१
२२०	भग्नप्रत्ययो नारकदेवानाम्	१	२० ४५
२२१	भग्नत्वानिने०	४	११ १९८
२२२	भग्ननेपु दक्षिणार्धाधिपतीना०	४	३० २३६
२२३	भग्ननेपु १	४	४५ २४३
२२४	भूतमत्स्यनुकम्पा०	६	१३ ३१०
२२५	भेदमघातान्भ्यां चाभुया	५	२८ २७६
२२६	भेदादपु	५	२७ २७६
म			
२२७	मति स्मृति	१	१३ ३७
२२८	मतिभ्रूतावधि०	१	९ ३३
२२९	मतिभ्रूतयोर्भिनय०	१	२७ ५३
२३०	मतिभ्रूतावध्या०	१	३२ ५७
२३१	मयादीनाम	८	३७ ३७७
२३२	माया तैर्मघोनस्थ	६	१८ ३१२
२३३	माराणान्निही मलेननां जोपिता०	१७	३३८
२३४	मार्गाभ्यां नानिजराधे०	९	८ ४०७
२३५	मिथ्यादर्शनाविरति०	८	१ ३७३
२३६	मिथ्योपदेशरहस्याभ्यान्यायान०	७	२१ ३४२
२३७	मूर्च्छा परिग्रह	७	१२ ३३३
२३८	मेघप्रतिष्ठा	४	१४ २०६
२३९	मेघीप्रतोकारण्य०	७	६ ३२६
२४०	मेघुनमग्न	७	११ ३३२
२४१	मोक्षभाजना	१०	१ ४३७

न०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
२४२	ययोक्तमिमित०	१	२३ ४६
२४३	योगद्वुप्रणिधाना०	७	२८ ३४७
२४४	योगरुक्ता०	६	१ ३१४
२४५	योगोपयोगी जल्वेपु	५	४४ २९७
र			
२४६	रत्नसकग०	३	१ १३८
२४७	रूपिण पुत्रला	५	४ २४९
२४८	रूपिष्ववधे	१	२८ ५४
२४९	रूपिष्यादिमान्	७	४३ २९८
ल			
२५०	लघिप्रत्यय च	४८	१२०
२५१	लघुपयोगी भवेन्द्रियम्	७	१८ ९१
२५२	लोनाकाशोऽङ्गाह	१३	२५६
व			
२५३	वलेना परिणाम०	५	२० २६७
२५४	वाचनाप्रच्छना०	९	३५ ४३०
२५५	वादेशसपरिणयसर्वे	९	१० ४०८
२५६	वाय्वन्तानामेरुम्	७	३ ९६
२५७	विप्रहृती कर्मयाग	३	२६ ९९
२५८	विप्रहृती च०	७	२९ १०१
२५९	विप्रहरणमतरायस्य	६	२६ ३१७
२६०	विवातोऽर्थव्यप्रनयौगसकाणि	९	४६ ४०९
२६१	विजयादियु द्विचरमा	४	२७ २३३
२६२	वितर्क ध्रुवम्	९	४५ ४८९
२६३	विधिप्रधदानु०	७	३४ ३५१
२६४	विपरीत गुमस्थ	६	२० ३१४
२६५	विपरीत मनोशानाम्	९	३३ ४४
२६६	विशतोऽनुमान	८	२० ३७६
२६७	विगृह्णितेन्द्र	१	२६ ७१
२६८	विगृह्यतिशानाभ्यां तद्विना	१	२७ ५०
२६९	विगृह्यतिशान०	२	३७ ३३८
२७०	वेत्तायाग	९	३२ ८०४
२७१	वेदनीये नेरा	९	१६ ४१०
२७२	वेदिकीमौपतिरुम्	७	४७ ११९
२७३	वेदानिहा	४	१७ २१६
७४	व्यप्रनम्यावप्रह	१	१८ ४०
२७५	व्यन्तरा विप्र०	८	१२ २००
२७६	व्यन्तराणां च	४	४६ २४३
२७७	व्यन्तीनेपु पय०	७	१९ १४१

नं०	श	अध्याय	सूत्र	पृष्ठाक	नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठाक
२७८ गङ्गाकाक्षा०	७	१८	३३९	३१२ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति	९	४	३८२	
२७९ शब्दवन्धसौक्ष्म्य०	५	२४	२७०	३१३ सप्त सनत्कुमारे	४	३६	२३८	
२८० शरीरवाङ्मन०	५	१९	२६३	३१४ स यथा नाम	८	२३	३७७	
२८१ शृङ्गे चाद्ये	९	२९	४२३	३१५ सयम श्रुत०	९	४९	४३२	
२८२ शुभ विशुद्धमव्याघाति०	२	४९	१२०	३१६ सरागसंयम०	६	२०	३१३	
२८३ शुभ पुण्यस्य	६	३	२९९	३१७ सर्वद्वयपर्यायेषु	१	३०	५४	
२८४ शोषा स्पर्शरूप०	४	९	१९४	३१८ सर्वस्य	२	४३	११४	
२८५ शोषाणां संमूर्च्छनम्	२	३६	१०९	३१९ संसारिणो मुक्ताश्च	२	१०	८४	
२८६ शोषाणां पादौने	४	३१	२३६	३२० संसारिणस्त्रसस्थावरा	२	१२	८५	
२८७ शोषाणामन्तर्मुहूर्तम्	८	२१	३७६	३२१ संज्ञिनः समनस्काः	२	२५	९७	
२८८ श्रुतं मतिपूर्व०	१	२०	४२	३२२ सागरोपमे	४	३४	२३७	
२८९ श्रुतमनिन्द्रियस्य	२	२२	९५	३२३ सागरोपमे	४	४०	२४०	
स					३२४ सारस्वता०	४	२६	२३३
					३२५ सामायिकच्छेदोप०	९	१८	४११
२९० स आख्य	६	२	२९९	३२६ सुखदुःख०	५	२०	२६४	
२९१ स कषायत्वाज्जीव०	८	२	३५४	३२७ सूक्ष्मसम्पराय०	९	१०	४०७	
२९२ स कषाया०	६	५	३००	३२८ सोऽनन्तसमयः	५	३९	२९४	
२९३ सक्लिष्टासुरो०	३	५	१५१	३२९ सौधर्मादिषु यथाक्रमम्	४	३३	२३७	
२९४ स गुप्तिरिति०	९	२	३८१	३३० सौधर्मैशान०	४	२०	२१८	
२९५ संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते	५	२६	२७५	३३१ स्तेनप्रयोग०	७	२२	३४३	
२९६ सङ्गयेयासङ्गययोश्च	५	१०	२५५	३३२ स्थितिः	४	२९	२३५	
२९७ सचित्तनिक्षेपपिधान०	७	३१	३४९	३३३ स्थितिप्रभाव०	४	२१	२२०	
२९८ सचित्तशीतसंवृता०	२	३३	१०६	३३४ स्निग्धरक्षत्वाद्बन्ध	५	३२	२८८	
२९९ सचित्तसंबद्ध०	७	३०	३४९	३३५ स्पर्शनरसनघ्राण०	२	२०	९३	
३०० सत्सङ्ख्या०	१	८	३०	३३६ स्पर्शरसगन्ध०	५	२३	२७०	
३०१ सदसतोरविशेषाद्य०	१	३३	५९	३३७ स्पर्शरस०	२	२१	९४	
३०२ सदसद्वेद्ये	८	९	३५७	ह				
३०३ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः	२	९	८२					
३०४ सद्वेद्य०	८	२६	३७९	३३८ हिंसादिष्विहामुत्र०	७	४	३२२	
३०५ सप्ततिर्मोहनीयस्य	८	१६	३३५	३३९ हिंसानृतस्तेयविषय०	९	३६	४२५	
३०६ स वन्ध	८	३	३५५	३४० हिंसानृतस्तेया०	७	१	३१९	
३०७ संमूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म	२	३२	१०७	ज्ञ				
३०८ समनस्कासनस्का	२	११	८४					
३०९ सम्यक्त्वचारित्रे	२	३	७७	३४१ ज्ञानदर्शनदान०	२	४	७७	
३१० सम्यग्दर्शन०	१	१	१५	३४२ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने	९	१३	४०८	
३११ सम्यग्दृष्टिश्चावक०	९	४७	४३०	३४३ ज्ञानदर्शनचरित्रोपचारा	९	२३	४१८	
				३४४ ज्ञानाज्ञानदर्शन०	२	५	७८	



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीमदुमास्मातिविरचित

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ।

हिन्दीभाषानुवादसहितम् ।

सम्बन्धकारिकाः

आचार्यानि कृतज्ञाना आदि प्रकट करनेके लिये ग्रन्थी आदिमें मङ्गलचरण करना आस्तिशौके लिये आवश्यक माना है, अतएव यहाँपर भी आचार्यउमास्वातिवाचक वस्तु निर्देशात्मक मङ्गलश्लोक करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकी भाष्यरूप टीका करनेके पूर्व इस ग्रन्थकी उत्पत्ति आदिका सम्बन्ध दिखानेवाली कारिकाओंको लिखते हैं ।

सम्यग्दर्शनशुद्ध यो ज्ञान विरतिमेव चाप्नोति ।

दुःखनिमित्तमपीदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ॥ १ ॥

अर्थ—कोई भी मनुष्य यदि इस प्रकारके ज्ञान और वैराग्यको नियमसे प्राप्त कर लेता है, जोकि सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो, यद्यपि समारम्भे जन्म धारण करना दुःख ही कारण है, फिर भी उसका जन्म धारण करना सार्थक अथवा सुखकर ही समझना चाहिये । भावार्थ—ससार जन्म मरण रूप है, और इसी लिये यह दुःखोंका घर है । किन्तु सभी प्राणी दुःखोंसे छूटना या सुखको प्राप्त करना चाहते हैं । परन्तु दुःखोंसे छूटनारा या सुखकी प्राप्ति तत्तक नहीं हो सकती, जबतक जीव ससार शरीर और भोग इन तीनों विषयोंसे ज्ञानपूर्वक वैराग्यको प्राप्त न हो जाय । साथ ही यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये, कि ज्ञान और वैराग्य भी शुद्ध वही माना जा सकता या वस्तुतः वही कार्यकारी हो सकता है, जोकि सम्यग्दर्शनसे युक्त हो । अतएव यद्यपि जन्म ग्रहण करना अथवा ससार दुःखरूप या दुःखोंका ही निमित्त है, फिर भी उनके अग्रे यह समीचीन या सुखका ही कारण हो जाता है, जोकि उसको धारण करके इस रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्धारित्रको धारण किया करते हैं ।

जन्मनि कर्मक्लेशैरनुवद्धेऽस्मिंस्तथा प्रयतितव्यम् ।

कर्मक्लेशाभावो यथा भवत्येव परमार्थः ॥ २ ॥

अर्थ—यह जन्म जिन क्लेशोंसे पूर्ण है, वे कर्मोदयसे प्राप्त हुआ करते हैं, तथा वे कर्म भी संविलष्ट परिणामोंके द्वारा ही प्राप्त हुए थे और उन कर्मोंका उदय आनेपर होनेवाले संविलष्ट परिणामोंके द्वारा यह जीव नवीन जन्मका कारणभूत कर्मोंका फिर भी संग्रह कर लेता है । इस प्रकारसे यह जन्म कर्म-क्लेशोंसे अनुबद्ध हो रहा है । अतएव इस अनुबन्ध परम्पराका सर्वथा नाश करनेके लिये ऐसे प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है, कि जिससे परमार्थ—परमनिःश्रेयस मोक्षकी सिद्धि हो । क्योंकि कर्मक्लेशोंसे अपरामृष्ट अवस्था ही वस्तुतः सुख स्वरूप है, और इसी लिये उसका प्राप्त करना ही मनुष्यका अन्तिम और वास्तविक साध्य है ।

यद्यपि अभीष्ट अविनश्वर सुखको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको उस अवस्थाके प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये; किन्तु उसके लिये प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति कितने मिलेंगे ? बहुत कम । अतएव जो उसके लिये सर्वथा प्रयत्न नहीं कर सकते उनको क्या करना चाहिये सो बताते हैं—

परमार्थालाभे वा दोषेष्वारम्भकस्वभावेषु ।

कुशलानुबन्धमेव स्यादनुबन्धं यथा कर्म ॥ ३ ॥

अर्थ—परम अर्थ—मोक्ष पुरुषार्थका यदि लाभ न हो सके, तो जन्म मरणके कारणभूत कर्मोंका जिनसे संग्रह होता है, ऐसे दोषरूप कार्योंका आरम्भ होना स्वाभाविक है । अतएव उनके लिये प्रयत्न करना चाहिये । किन्तु इस प्रकारका प्रयत्न करनेमें वही कर्म करना चाहिये जोकि अनवद्य हो—हिंसादिक दोषोंसे रहित तथा अनिन्द्य हो और पुण्यकर्मका ही बन्ध करानेवाला हो । भावार्थ—मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध करनेके लिये सर्वथा आरम्भ रहित निर्दोष प्रवृत्ति ही करनी पड़ती है, जोकि पूर्ण निर्ग्रथ मुनियोंके द्वारा ही साध्य है । जो इस प्रकारकी प्रवृत्ति करनेमें असमर्थ है, उन्हें देशसंयमी होना चाहिये । मुनियोंकी प्रवृत्ति निर्जरा—संचित कर्मोंके क्षयका कारण है । किन्तु देशसंयमीकी प्रवृत्ति सर्वथा निरारम्भ न हो सकनेके कारण आरम्भ सहित ही हो सकती है, और वैसी ही होती है । अतएव इस प्रकारके व्यक्तियोंके लिये ही कहा गया है, कि यदि परमनिःश्रेयस अवस्थाकी साधक सर्वथा निरारम्भ और निर्दोष प्रवृत्ति तुम नहीं कर सकते और दोषरूप आरम्भ प्रवृत्ति ही तुमको करना है, तो वह यत्नाचार

१—इस अवस्थाके प्राप्त करनेवाले आत्माको ही ईश्वर कहते हैं । अतएव पातञ्जल योगदर्शनमें “ हेतुकर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट पुष्पविशेष ईश्वर ” ऐसा माना है । किन्तु यह सिद्धान्त ऐकान्तिक होनेसे मिथ्या है । क्योंकि उन्होंने पुष्टा—जीवको ज्ञानस्वरूप अथवा सुखस्वरूप नहीं माना है । जैनसिद्धान्तमें जीवको ज्ञानस्वरूप व सुखस्वरूप मानकर भी हेतुकर्मविपाकाशयसे अपरामृष्ट अवस्थाका धारक माना है, सो निर्दोष होनेसे सत्य और उपादेय है ।

पूर्वक और ऐसी करो, जोकि पुण्यवधन ही कारण हो तथा हिंसादिक दोषोंसे रहित हो, एवं निन्द्य अथवा गर्ह्य न हो ।

प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यों और उनकी प्रवृत्तियोंकी जघन्य मध्यमोत्तमता बताते हुए प्रशस्त प्रवृत्ति करनेकी तरफ लक्ष्य दिलानेके लिये उसके न करनेवालेकी अधमता और करनेवालेकी उत्तमता बताते हैं ।

कर्माहितमिह चामुन चाधमतमो नरः समारभते ।

इह फलमेव त्वधमो त्रिमध्यमस्तृतीयफलार्थम् ॥ ४ ॥

परलोकहितायैव प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।

मोक्षायैव तु घटते विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः ॥ ५ ॥

यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति ।

नित्यं स उत्तमेभ्योऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥ ६ ॥

अर्थ—मनुष्य तीन प्रकारके समझने चाहिये—उत्तम, मध्यम, अधम । इनमें से उत्तम और अधमके इसी प्रकार तीन तीन भेद और भी समझने चाहिये । जो अधमाधम अधमोंमें भी अधम दर्जेके हैं, वे ऐसे कर्मना आरम्भ किया करते हैं, जो कि आत्माके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही भयोंमें अहितकर—टूटका कारण हो । जो अधमोंमें मध्यम दर्जेके हैं, वे ऐसा कार्य किया करते हैं, कि जो इसी भवमें सुखरूप फलने देनेवाला हो । जो अधमोंमें उत्तम दर्जेके हैं, वे ऐसा कार्य पसंद करते हैं, कि जो इस भवमें और परभवमें दोनों ही जगह सुखरूप उत्तम फलने दे सके । मध्यम दर्जेके मनुष्य सदा ऐसी क्रियाओंके करनेमें ही प्रवृत्त हुआ करते हैं, कि जो परलोकमें हित कर हों । किंतु उस विशिष्टमतिको उत्तम पुरुष समझना चाहिये, कि जो मोक्षको सिद्ध करनेके लिये ही सदा चेष्टा किया करता है । तब जो इस प्रकारकी अपनी चेष्टाको सिद्ध करके कृतार्थ—कृतकृत्य हो जाता है, वह उत्तमोंमें मध्यम दर्जेका समझना चाहिये । और प्रशस्त धर्मको पाकर स्वयं कृतकृत्य होकर भी जो दूसरोंके लिये भी उस धर्मका उपदेश देता है, वह उत्तमोंमें भी उत्तम है और पण्योंमें भी निरंतर सर्वोत्कृष्ट पूज्य समझना चाहिये ।

भाषार्थः—मोक्षके लिये ही प्रवृत्ति करना उत्तम पक्ष, परलोकमें हितकर—पुण्यरूप कार्य करना मध्यम पक्ष, और इस लोकमें भी सुखरूपताकी अपेक्षा रखकर कार्य करना जघन्य पक्ष है । जो दोनों भयके लिये अहितकर कार्य करते हैं वे सर्वथा अधम हैं । इसी प्रकार जो स्वयं अनतज्ञानादिको प्राप्त करके दूसरोंके लिये भी उसके उपायका उपदेश देते हैं, वे उत्तमोंमें सर्वोत्कृष्ट हैं । अतएव जहाँतक हों, मोक्षके लिये ही प्रवृत्ति करना चाहिये, और यदि वह न बन सके, तो निर्दोष पुण्यरूप कर्म करना ही उचित है । उत्तमोत्तम पुरुष कोन है, सो बताते हैं—

तस्मादर्हति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके ।

देवर्पिनरन्देभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वानाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—उत्तमोत्तमका जो स्वरूप ऊपर बताया है, कि स्वयं कृतकृत्य होकर दूसरोंको भी उसके कारणभूत उत्तम धर्मका नित्य उपदेश देनेवाला और सर्वोत्कृष्ट पूज्य, सो यह स्वरूप एक अरहंतमें ही घटित होता है। अतएव जगत्में उन्हींको उत्तमोत्तम समझना चाहिये, क्योंकि संसारके अन्य प्राणी जिनकी पूजा किया करते हैं, उन देवों ऋषियों और नरेन्द्रों—चक्रवर्ती आदिकोंके द्वारा भी वे पूज्य हैं। वे देवेन्द्र मुनीन्द्र नरेन्द्र आदि संसारके सभी इन्द्रोंके द्वारा पूजाको प्राप्त होते हैं।

अरहंतदेवकी पूजाका फल और उसकी आवश्यकता बताते हैं।

अभ्यर्चनादर्हतां मनः प्रसादस्ततः समाधिश्च ।

तस्मादपि निःश्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अरहंतदेवका पूजन करनेसे राग द्वेष आदि मानसिक दुर्भाव दूर होकर चित्त निर्मल बनता है, और मनके प्रसन्न—निर्विकार होनेसे समाधि—ध्यानकी एकाग्रता सिद्ध होती है। ध्यानके स्थिर हो जानेसे कर्मोंकी निर्जरा होकर निर्वाण—पदकी प्राप्ति होती है। अतएव मुमुक्षुओंको अरहंतका पूजन करना न्यायप्राप्त है।

भावार्थ—जो मुमुक्षु गृहस्थ है—मोक्षमार्ग—मुनिधर्मका पालन करनेमें असमर्थ होनेके कारण आरम्भमें प्रवृत्ति करनेवाले है, उनके लिये निर्दोष पुण्यबंधकी कारण क्रिया करनेका ऊपर उपदेश दिया था। वह क्रिया कौनसी है, सो ही इस श्लोकमें बताई है, कि ऐसी क्रिया अरहंतदेवकी पूजन करना हो सकती है, क्योंकि उनका पूजन करनेसे उनके पवित्र गुणोंका स्मरण होता है, जिससे परिणामोंकी कम्पलता दूर होती है, और उससे मन निर्विकार होकर समाधिकी सिद्धि होती है। तथा इसी तरह परम्परया पुनीत परमपदकी प्राप्ति होती है।

ऊपर यह बात बताई गई है, कि अरहंतदेव दूसरोंको भी उत्तम धर्म—मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। सो यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब वे कृतकृत्य हैं—उन्हें अब कुछ भी करनेकी इच्छा बाकी नहीं रही है, तो वे उपदेश भी किस कारणसे देते हैं? अतएव इस शंकाका परिहार करते हैं।

१—तिर्यच मनुष्य देव इन तीनों गतियोंके मिलाकर १०० इन्द्र होते हैं। भवनवासी देवोंके ४०, व्यन्तरीके ३२, कल्पवासियोंके २४, ज्योतिषियोंके २, मनुष्य तिर्यचोका १-१, अरहत इन सौ इन्द्रोंके द्वारा वन्द्य होते हैं। यथा—इंद्रसद्वदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवकाण। अतातीतगुणाणं णमो जिण्णाण जिदम्भाणं ॥

तीर्थप्रवर्तनफल यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम ।

तस्योदयात्कृतार्थोऽप्यर्हस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंमें एक नामकर्म भी है । उसीका एक भेद तीर्थकर नामकर्म है । उसका यही फल-कार्य है, कि उसका उदय होनेपर जीव तीर्थ-मोक्ष मार्गका प्रवर्तन करता है । अरहत भगवान्‌के इस तीर्थकर नामकर्मका उदय रहता है । यही कारण है, कि भगवान्‌ कृतकृत्य होकर भी तीर्थका प्रवर्तन-मोक्षमार्गका उपदेश किया करते हैं ।

भावार्थ—केवल तीर्थकर नामकर्मके उदयवश होकर बिना इच्छाके ही भगवान्‌ उपदेश करते हैं । अतएव उनके उपदेश और कृतकृत्यतामें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता ।

तीर्थकर कर्मके कार्यको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।

तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अपने स्वभावसे ही लोकको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तीर्थकर नामकर्मका भी यह स्वभाव ही है, कि उससे उदयसे तीर्थका प्रवर्तन हो । अतएव उसके उदयके अधीन हुए अरहत सूर्य समान तीर्थप्रवर्तनमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ।

भावार्थ—यस्तुका स्वभाव अनन्य होता है—“स्वाभावोऽनर्ग गोचर” । जिस प्रकार सूर्य अग्नि जल वायु आदि पदार्थ अपने स्वभावसे ही अतर्क्य कार्य कर रहे हैं । उसी प्रकार कर्म अथवा तीर्थकर प्रकृति भी स्वभावसे ही कार्य करती है ।

इस प्रकार तीर्थकर प्रकृतिके उदयसे धर्मका उपदेश देनेवाले तीर्थकर इस युगमें कृपभाटि महावीर पर्यंत ९४ हुए हैं । इस समय अंतिम तीर्थकर महावीर भगवान्‌का तीर्थ चल रहा है । अतएव उन तीर्थकर भगवान्‌का यहाँ कुछ उल्लेख करते हैं—

यः शुभस्मृतिसेवनभावितभावो भवेत्पुनरेषु ।

जने ज्ञातेस्त्वाकुपु सिद्धार्थनिरेन्द्रकुलदीपः ॥ ११ ॥

अर्थ—अनेक जन्मोंमें शुभ कर्मोंके सेवनसे जिनके परिणाम शुभ सत्कारोंसे युक्त हो गये थे, और जो सिद्धार्थ नामक राजाके कुटुम्बमें प्रकाशित करनेके लिये दीपकके समान थे, उन्होंने इक्ष्वाकु नामक प्रशस्त जातिके वंशमें जन्म धारण किया था ।

भावार्थ—भगवान्‌ महावीरस्वामीने इक्ष्वाकु वंशमें जन्म लिया था । और उनके पिताका नाम सिद्धार्थ था । उनके भाव-परिणाम अनेक भय पैहनेसे ही शुभस्मृतिके करनेसे उत्तरोत्तर अधिप्रापित मुसकृत् होने आ रहे थे ।

ज्ञानैः पूर्वाधिगतैरप्रतिपातितैर्मतिश्रुतावधिभिः ।

त्रिभिरपि शुद्धैर्युक्तः शैत्यद्युतिकान्तिभिरिवेन्दुः ॥ १२ ॥

अर्थ—वे भगवान् मति श्रुत और अवधि इन तीन शुद्ध ज्ञानोंसे युक्त थे । अतएव वे ऐसे मालूम पड़ते थे, जैसे शीतलता द्युति और कमनीयता—आलहादकता इन तीन गुणोंसे युक्त चन्द्रमा है । भगवान् के ये तीनों ही गुण पूर्वाधिगत—पूर्व जन्मसे ही चले आये हुए और अप्रतिपाती—केवलज्ञान होने तक न छूटनेवाले थे ।

भावार्थ—भगवान् जब गर्भमें आते हैं, तभीसे वे तीनों ज्ञानोंसे युक्त रहा करते हैं । उनका अवधिज्ञान देवोंके समान भवप्रत्यय होता है । उसके सम्बन्धसे उनका मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी उसी प्रकार विशिष्ट रहा करता है । उनके ये ज्ञान केवलज्ञानको उत्पन्न करके ही नष्ट होते हैं ।

शुभसारसत्त्वसंहननवीर्यमाहात्म्यरूपगुणयुक्तः ।

जगति महावीर इति त्रिदर्शैर्गुणतः कृताभिख्यः ॥ १३ ॥

अर्थ—वे भगवान् शुभ सार—सत्त्व—संहनन—वीर्य—माहात्म्य और रूप आदि गुणोंसे युक्त थे, अतएव देवोंने गुणोंके अनुसार जगत्में उनका “महावीर” यह नाम रखकर प्रसिद्ध किया ।

भावार्थ—भगवान् का “महावीर” यह इन्द्रका रक्खो हुआ नाम अन्वर्थ है । क्योंकि इस नामके अर्थके अनुसारही उनमें सार—सत्त्व आदि गुण भी पाये जाते हैं ।

शरीरकी स्थिरताकी कारणभूत शक्तिको सार कहते हैं । सत्त्व नाम पराक्रमका है । संहनन नाम हड्डीका या उसकी दृढ़ताका है । वीर्य नाम उत्साह शक्तिका है । जिसके द्वारा आत्माकी महत्ता—उत्कृष्टता प्रकट हो ऐसी शक्तिको या उस गुणको माहात्म्य कहते हैं । चक्षुके द्वारा देखनेवाले गुणको रूप कहते हैं ।

स्वयमेव बुद्धतत्त्वः सत्त्वहिताभ्युद्यताचलितसत्त्वः ।

अभिनन्दितशुभसत्त्वः सेन्द्रैर्लोकान्तिकैर्देवैः ॥ १४ ॥

१—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, इन तीनोंका स्वरूप आगे चल कर प्रथमे ही लिखा है । २—तीर्थंकरोंका नाम—निर्देश इन्द्र किया करता है । ३—हड्डीकी दृढ़ताकी तरतमता और वधन विशेषकी अपेक्षा संहनन छह प्रकारका माना है, उसके भेदोंका आगे उल्लेख किया जायगा । तीर्थंकरोंके सर्वोत्कृष्ट शुभ संहनन होता है, उसका वज्रगृभ—नाराचसंहनन कहते हैं । अर्थात् उनका घेठन कीली और हड्डी वज्रके समान दृढ़ हुआ करती है । ४—भगवान् के शरीरमें लक्षण और व्यंजन मिलाकर एक हजार आठ चिन्ह होते हैं, जो उनकी महत्ताको प्रकट करते हैं । ५—उनका रूप अतुल—अनुपम हुआ करता है ।

अर्थ—तीर्थंकर स्वयंबुद्ध ही होते हैं, वे किसी भी तत्त्वोपाय को प्राप्त नहीं करते । तथा उनका कभी भी चलायमान न होनेवाला सत्त्व-पराक्रम दूसरे प्राणियोंका हित सिद्ध करनेके लिये स्था उद्यम रहा करता है । उनके शुभ भावोंका इन्द्र और लौकान्तिकदेव भी अभिनन्दन-प्रशंसा किया करते हैं ।

जन्मजरामरणार्त्तं जगदशरणमभिसमीक्ष्य निःसारम् ।

स्फीतमपहाय राज्य जमाय धीमान् प्रवत्राज ॥ १५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त गुणोंसे युक्त और अतिशय विवेकी भगवान् महावीरने जब जगत्समीक्षा—उसके गुणगेषोंकी पर्यालोचना की, तो उन्होंने उसको अन्तमें निःसार ही पाया । उन्होंने देखा, कि यह ससार जन्म जरा और मरण इन तीन प्रकारकी अस्ति-पीडाओंसे व्याप्त है । तथा इसमें कोई भी किसीके लिये शरण नहीं है । अतएव उन्होंने परम शान्तिरूप प्राप्त करनेके लिये विशद राज्यका भी परित्याग कर दीक्षा धारण की ।

प्रतिपन्नाशुभशमन निःश्रेयससाधक श्रमणलिङ्गम् ।

कृतसामायिककर्म त्रतानि विधिरत्समारोप्य ॥ १६ ॥

अर्थ—भगवान्ने दीक्षा लेकर परमपुरुषार्थ-मोक्षके साधक अर्थात् जिसके धारण करनेसे विना कर्मोंकी सर्वथा निर्जरा होकर आत्माकी पूर्ण विशुद्ध अवस्था नहीं हो सकती—उस श्रमण लिङ्ग-निर्ग्रन्थ मिलिङ्गकी धारण करके अशुभ कर्मोंका उपशमन कर लिया—उन्हें फल देकर आत्माको विद्वत् बनानेके अयोग्य कर लिया । सामायिक कर्मको करके विधिपूर्ण कर्मोंका भी समारोपण किया ।

भावार्थ—दीक्षा धारण करते ही भगवान्की अशुभ प्रकृतियोंका उपशम हो गया, और वे सामायिक करने तथा त्रैतोंके पूर्ण करनेमें प्रवृत्त हुए । समय नाम एकत्वका है । एक शुद्ध आत्म तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये योग्य कालमें उत्तीर्ण चिन्तन करते हुए उसकी साधन

१-हाथी और तसे जीव दो प्रकारके होते हैं—स्वयंबुद्ध बोधितबुद्ध । जिसका स्वयं तत्त्वज्ञान या भाग्यमानका पथ हो उनको स्वयंबुद्ध और जिनको वह परदे उपदेश हो उनका बोधितबुद्ध कहते हैं । भगवान् स्वयंबुद्ध होते हैं—उनका कोई शुभ नहीं होता । २-इन्द्र क्षेमन गमना परिकर और वैश्वी साय आकर भगवान्का दाया-व्यापारका उत्पन्न । ३-यह भगवान् दीक्षा धारण करनेका विचार करने हैं और शरणके स्वरूपका चिन्तन करते हुए अनियत शरण आदि कथनाका दास्य भावना होकर पुनः २ शरण करते हैं तब ही तत्त्वज्ञान की अन्तिम शरण आकर उनका स्ति और प्रज्ञा क्षिप्त करते हैं । ये प्रज्ञाश्रेयके अन्तमें रहते हैं, दुःखद्वे द्वन्द्वों की छान्दिक करते हैं । तथा ये मन्त्रादी पा तत्त्व रहते हैं और इन्द्र के सम्यक् पक्ष हैं एक ही मनुष्यावस्था धारण कर श्रेयका अन्त कर देन हैं—मुक्त होते हैं श्रमण । ४-इन्द्र के अन्तिम कहते हैं । ५-अप्याय ७ सूत्र १६ की टीका—सांख्यिक नामाभिज्ञान का १ गगनादपराधीन ॥ ६-अप्याय ७ सूत्र १-२ के इन्द्र का स्वयं और बोधितका है ।

भूत म्यान उपवेशन आवर्त शिरोनति आदि क्रिया करते हुए सावद्य योगके निरोध करनेको सामायिक कहते हैं। व्रत मूलमें अहिंसादिके भेदसे पाँच प्रकारके हैं, तथा उसके उत्तरभेद अनेक हैं। भगवान्ने इन व्रतोंका भी सम्यक् प्रकारसे अपनी आत्मामें आरोपण—निष्ठापन किया।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंवरतपःसमाधिवलयुक्तः ।

मोहादीनि निहत्याशुभानि चत्वारि कर्माणि ॥ १७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र संवर तप और समाधिके बलसे संयुक्त भगवान्ने मोहनीय आदि चारों अशुभ कर्मोंका घात कर दिया।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इस रत्नत्रयका स्वरूप आगे यथास्थान लिखा है। कर्मोंके न आनेको अथवा जिन क्रियाओंके करनेमें कर्मोंका आना रुकता है, उनको संवर कहते हैं। गुप्ति समिति धर्म अनुप्राप्ता परीपहजय और चारित्र एवं तपस्या ये संवररूप क्रियाएँ हैं। सावद्य कर्मका निरोध करने अथवा निर्जरासिद्धिके लिये मन वचन कायके रोकनेमें कष्ट सहन करनेको तप कहते हैं। यह दो प्रकारका है—अन्तरङ्ग और बाह्य। और उनमें भी अन्तरङ्गके प्रायश्चित्तादि तथा बाह्यके अनशन आदि छह छह भेद हैं। स्थिर ध्यानको समाधि कहते हैं, ऐसा ऊपर कहा जा चुका है। रत्नत्रय और इन तीन कारणोंके बलसे भगवान्ने चार पाप कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर दिया।

केवलमधिगम्य विभुः स्वयमेव ज्ञानदर्शनमनन्तम् ।

लोकाहिताय कृतार्थोऽपि देशयामास तीर्थमिदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—चार घातिया कर्मोंका स्वयं ही नाश करके विभु भगवान्ने जिसका अंत नहीं पाया जा सकता, ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शन गुणोंको प्राप्त किया। इस प्रकार कृतकृत्य होकर भी उन्होंने केवल लोक हितके लिये इस तीर्थ—मोक्षमार्गका उपदेश दिया।

भावार्थ—चार अशुभ कर्मोंको नष्ट कर अनंतचतुष्टयके प्राप्त होनेसे कृतकृत्य अवस्था कही जाती है। अनंतकेवलज्ञान गुणके उद्भूत होजाने पर सम्पूर्ण त्रैकालिक सूक्ष्म स्थूल चराचर जगत प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है। उनका ज्ञान समस्त द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें व्याप्त होकर रहता है; क्योंकि सभी पदार्थ केवलज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं। अतएव

१—मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय। २—कर्म दो प्रकारके माने हैं—घाती और अघाती, प्रत्येकके चार चार भेद हैं। अघातियोंके भेदोंमें शुभ अशुभ दोनों तरहके कर्म होते हैं, किंतु घातियोंके सब भेद अशुभ ही हैं। इन्हीं चार घातियोंका भगवान्ने सबसे पहले नाश किया। ३—चार घातिया कर्मोंके नाशसे अनन्तज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य ये चार गुण प्रकट होते हैं। जैसा कि अध्याय १० सूत्र १ के अर्थमें सिद्ध है।

इस ज्ञानशक्तिकी अपेक्षा भगवान्को विभु कहा है। अथवा समुद्रघातकी अपेक्षासे भी उनको विभु कहा जा सकता है। इस ज्ञानसाम्राज्यमें प्रतिपक्ष कर्मोंका नाश भगवान्ने किमी दूरीकी सहायतासे नहीं, किन्तु अपनी ही शक्तिमें किया था। कृतकृत्य भगवान्की वाणी तीर्थंकर-प्रकृतिके निमित्तसे लोकहितके लिये जो प्रवृत्त हुई वह केवलज्ञानपूर्वक थी, अतएव उसने सस्या निर्वाध ही समझना चाहिये।

भगवान्ने जिस मोक्षमार्गका उपदेश दिया उसका स्वरूप क्या है और उसके भेद नित्ने हैं, तथा उसका फल क्या है सो बताते हैं—

द्वित्रिंशन्नेन्द्रादशविध महाविषयममितगमयुक्तम् ।

ससारार्णवपारगमनाय दुःखक्षयायालम् ॥ १९ ॥

अर्थ—भगवान्ने जिस मार्गका उपदेश दिया वह जीवादि ६ द्रव्य या सात तत्त्व आर नव पदार्थ तथा इनके उत्तर भेदरूप महान् विषयोंसे परिपूर्ण है। और अनन्तज्ञानरूप तथा युक्तिसिद्ध है, अथवा अनन्त प्रमेयासे युक्त है। इसमें मूलमें दो भेद हैं—अगप्रविष्ट और अगवाह्य। अगवाह्यके अनेक भेद और अगप्रविष्टके चारह भेद हैं। यह भगवान्का उपदिष्ट तीर्थं समाप्त-समुद्रसे पार हो जानेके लिये और दुःखोंका क्षय करनेके लिये समर्थ है।

भावार्थ—भगवान्की उपदिष्ट वाणीमें ही श्रुत कहते हैं। उसमें जिन विषयोंका वर्णन किया गया है, वे महान् हैं अनन्त हैं और युक्तिसिद्ध हैं। अतएव उसके अनुसार जो किया करते हैं, वे ससार-समुद्रसे पार हो कर सासारिक दुःखों-तापत्रयका क्षयकर आत्मसमुत्थ स्वाभाविक अविनश्य अयाभाव सुखमें प्राप्त किया करते हैं। श्रुतके भेदोंका वर्णन और स्वरूप आगे चत्वर पहले अध्यायके १९ वें सूत्रमें छिवेंगे वहाँ देखना।

प्रथार्थरचनपटुभिः प्रयत्नवद्भिरपि त्रादिभिर्निपुणैः ।

अनभिगमनीयमन्यैर्भारत इव सर्वतैजोभिः ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार समाजके तेजोमय पदार्थ सबके सम मित्र भी सूर्यसे तेजसे आच्छादित नहीं कर सकते, उसी प्रकार अनेकान्त सिद्धान्तोंसे विरुद्ध एतन्तरूपमें तत्त्वस्वरूप

१—तीर्थंके सम्बन्ध में छत्वर तीर्थंके बाहर भी लानप्रदेशोंमें निरन्तर ही समुद्राग करते हैं।

उपदेशों में भेद हैं—यद्वत्त पणाय विविधा चरण, आहार तेजस तीर्थंके वत्त। वेदन्तमुत्तम वदनीय मन्त्रादि ही होता है। जब अपनी कर्मोंमें आधुनिक और नव वदनीय आदि कर्मोंकी विधिमें न्यूनभित्ति का है। १९ भगवान्का पद कर्मोंकी विधिमें आधुनिक विधि का समाप्त न हो लिये समुद्राग कर। है। २० वत्त का पद मन्त्रादि ही बाह्य वत्त सेहते गुणवत्ता का अन्तर्गत है। २१ वत्त का पद मन्त्रादि ही बाह्य वत्त सेहते गुणवत्ता का अन्तर्गत है। २२ वत्त का पद मन्त्रादि ही बाह्य वत्त सेहते गुणवत्ता का अन्तर्गत है। २३ वत्त का पद मन्त्रादि ही बाह्य वत्त सेहते गुणवत्ता का अन्तर्गत है। २४ वत्त का पद मन्त्रादि ही बाह्य वत्त सेहते गुणवत्ता का अन्तर्गत है। २५ वत्त का पद मन्त्रादि ही बाह्य वत्त सेहते गुणवत्ता का अन्तर्गत है।

२—तीर्थंके उलगावत्ता आदि। ३—आव गद्व मन्त्रादि का अन्तर्गत अन्ति शब्दों का।

को माननेवाले अनेक ऐसे प्रवीणवादी जोकि ग्रंथ और अर्थके निरूपण करनेमें अत्यंत कुशल है, वे मिलकर प्रयत्न करनेपर भी इस अरहंत प्ररूपित मोक्षमार्गको अथवा उसके बोधक श्रुतको अभिभूत-पराजित-तिरस्कृत-बाधित नहीं कर सकते ।

भावार्थ—तीर्थंकर केवली भगवान्का उपदिष्ट आगम प्रशस्त अनंत विषयोंका युक्तिपूर्ण प्रतिपादन करनेवाला और सुखका साधक तथा दुःखका बाधक है । यही कारण है, कि एकान्त-वादियोंके द्वारा चाहे वे कैसे भी ग्रंथोंकी रचना करनेवाले और अर्थका व्याख्यान करनेवाले अथवा दोनों ही विषयोंमें कुशल क्यों न हों, यह श्रुत विजित नहीं हो सकता । सबके सब वादी मिलकर भी इसको जीत नहीं सकते । क्या सूर्यको कोई भी प्रकाश अभिभूत (पराजित) कर सकता है ।

इस प्रकार अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनकी देशनाका महत्त्व उद्घोषित करके उनको नमस्कार करते हुए वक्ष्यमाण विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं—

कृत्वा त्रिकरणगुहं तस्मै परमर्षये नमस्कारम् ।

पूज्यतमाय भगवते वीराय विलीनमोहाय ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रंथम् ।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥

अर्थ—मोह शत्रुको सर्वथा नष्ट करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट पूज्य उक्त परम ऋषिश्च्री वीरभगवान्को मैं—ग्रन्थकार अपने मन वचन और काय इन तीन करणोंको शुद्ध करके नमस्कार कर तत्त्वार्थाधिगम नामक ग्रंथका निरूपण करूंगा । यह ग्रंथ शब्द-संग्रहके प्रमाणकी अपेक्षा अति अल्प परन्तु अर्थकी अपेक्षा विपुल-बड़ा होगा । इसमें महान् और प्रचुर विषयोंका संग्रह किया गया है । इसकी रचना केवल शिष्योंका हित सिद्ध करनेके लिये ही है । इसमें अरहंत भगवान्के वचनोंके एकदेशका संग्रह किया गया है ।

भावार्थ—ग्रंथकारको अपने वचनोंकी प्रामाणिकता प्रकट करनेके लिये, यह बताना आवश्यक है, कि हम जो कुछ लिखेंगे, वह सर्वज्ञके उपदेशानुसार ही लिखेंगे, अतएव उन्होंने यहाँपर यह बात दिखलाई है, कि अरहंत भगवान्के उपदेशके एकदेशका ही इसमें संग्रह किया गया है । तथा इस ग्रंथकी बह्वर्थ और लघुग्रंथ इन दो विशेषणोंके द्वारा आचार्यने सूत्ररूपता प्रकट की है, और इस ग्रंथमें जिस विषयका वर्णन करेंगे, वह उसके नामसे ही प्रकट है, कि इसमें तत्त्वार्थोंका

१—जो ह्येश-रात्रिको नष्ट करते हैं, उन्हें ऋषि कहते हैं—“ रेपणात् ह्येशरात्रिनामृषिः प्रोक्त ”—यशस्ति लक्ष्म्य-सोमदेवसूरी ।

२—कारिकाके “ अर्हद्वचनैकदेशस्य ” यह जो पद आया है, उसका अर्थ हमी कारिकाके अर्थके साथ यहाँ पर लिखा है । परन्तु इस पदका अर्थ आगेकी कारिकाके साथ भी जुड़ता है, इसलिये वह भी अर्थ दिखानेके लिये आगेकी कारिकाका अर्थ लिखते हुए भी इस पदका अर्थ लिखा है ।

३—सूत्रका लक्षण इस प्रकार है—अल्पाक्षरं बह्वर्थं सूत्रम् ।

वर्णन किया जायगा । क्योंकि इस ग्रन्थका “ तत्त्वार्थाधिगम ” यह नाम अन्वर्थ है । इस प्रकार ग्रन्थकारने ग्रन्थ बनानेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसका नाम विषय स्वरूप प्रमाण और प्रामाणिकताको भी बता दिया है । तथा “ शिष्यहितम् ” इस शब्दके द्वारा उसका प्रयोजन और उसकी इष्टता तथा शक्यानुष्ठानता भी प्रकट कर दी है । अर्थात् इस ग्रन्थके बनानेका ख्याति लाभ पूजा आदि प्राप्त करना मेरा हेतु नहीं है, केवल श्रोताओंका हित करना, इस भावनासे ही मैंने यह ग्रन्थ बनाया है । और इसके पढ़ने तथा सुनने सुनानेसे साक्षात् तत्त्वज्ञान और परम्पर या मोक्ष तकका जो फल है, वह मुमुक्षुओंको इष्ट है, तथा उसका सिद्ध करना भी शक्य है ।

इस ग्रन्थकी रचना जिनके उपदेशानुसार की जा रही है, और जिन्होंने अनन्त प्राणि गणोंका अनुग्रह (दया) करनेके लिये तीर्थका प्रवर्तन किया, उनके प्रति ग्रन्थकी आदिमें कृतज्ञता प्रकट करना भी आवश्यक है । इसके सिवाय मंगल-क्रिया क्रिये बिना ही कोई भी कार्य करना आस्तिकता नहीं है । यही कारण है, कि आचार्यने यहाँपर वर्तमान भगवान्को नमस्कार रूप मंगल क्रिया-मंगलाचरण करके ही अग्ररचनाकी प्रतिज्ञा की है ।

मैंने यहाँपर जिन भगवान्के वचनके एकदेशका ही समग्र करना क्यों चाहा है, अथवा उनके सम्पूर्ण वचनोंका समग्र करना कितना दुष्कर है, इस अभिप्रायको आगेकी कारिकाओंमें ग्रन्थकार प्रकट करते हैं—

महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थमाध्यपारस्य ।

कः शक्तः प्रत्यास जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ॥ २३ ॥

शिरसा गिरिं निभत्सेदुच्चिक्षिप्सेच्च स सिति दोर्भ्याम् ।

प्रतितीर्षेच्च समुद्रं मित्सेच्च पुनः कुशाग्रेण ॥ २४ ॥

व्योम्नीन्दु चिक्रमिपेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयिषेत् ।

गत्यानिल जिगीषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च ॥ २५ ॥

खद्योतक्रमभाभिः सोऽभिबुभूषेच्च भास्कर मोहात् ।

योऽतिमहाग्रन्थार्थं जिनवचनं सजिघृक्षेच्च ॥ २६ ॥

अर्थ—जिनभगवान्के वचन बड़े भारी समुद्रके समान महान् ओर अत्यन्त उत्कृष्ट-गम्भीर विषयोंसे युक्त हैं, क्या उनका कोई भी समग्र कर सकता है ? अथवा क्या उनका कोई भी प्रतिकृति-नक्का भी कर सकता है ? कोई दुर्गम ग्रन्थोंकी रचना या निरूपणा करनेमें अत्यन्त कुशल हो, तो वह भी उसका पार

१—“ मगजनिमित्तहेतुप्रमाणनामानि धात्र्यर्हन्ति । व्यावृत्तस्य यत्पि पञ्चात् व्याचष्टं धाममावाय ”
 * स पिनके अंगार भपरी आदिमें लड़ पातोंका डेरा करना आवश्यक है ।

नहीं पा सकता । क्योंकि जिन-वचनत्वी समुद्र अपार है । इस महान गम्भीर अपार श्रुत-समुद्रका जो कोई संग्रह करना चाहता है, तो कहना चाहिये कि वह व्यक्ति अपने शिरसे पर्वतको विदीर्ण करना चाहता है, दोनों भुजाओंसे पृथ्वीको उठाकर फेंकना चाहता है, अपनी दोनों बाहुओंके ही बलसे समुद्रको तरना चाहता है, और केवल कुत्ते अग्रभागसे ही उसका-समुद्रका माप करना चाहता है, पैरोंसे चलकर आकाशमें उपस्थित चन्द्रमाको भी लाँचना चाहता है, अपने एक हाथसे मेरुपर्वतको हिलाना चाहता है, गतिके द्वारा वायुको भी जीनना चाहता है, अंतिम समुद्र-स्वयंभूरमणका पान करना चाहता है, और केवल खद्योत-तुगनूकी प्रभाओंको इकट्ठा करके अथवा उसके ही समान प्रभाओंसे सूर्यके नेत्रको अभिभूत-आच्छादित करना चाहता है । अर्थात् इन असंभव कार्योंके करनेकी इच्छा उसी व्यक्तिकी हो सकती है, जिसकी कि बुद्धि मोहके उदयसे विपर्यस्त हो गई है । उभी प्रकार अत्यंत महान् ग्रंथ अर्थरूप जिन-वचन का संग्रह होना असंभव है, फिर भी यदि कोई इसका संग्रह करना चाहता है, तो कहना पड़ेगा कि उसकी बुद्धि मोह—मिथ्यात्वके उदयसे विकृत हो गई है ।

संपूर्ण जिनवचनके संग्रहकी असंभवताका आगमप्रमाणके द्वारा हेतुपूर्वक समर्थन करते हैं—

एकमपि तु जिनवचनाद्यस्मान्निर्वाहकं पदं भवति ।

श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः ॥ २७ ॥

अर्थ—आगमके अन्दर ऐसा मुनेमें आता है, कि केवल सामायिक पदोंका उच्चारण करके ही अनंत जीव सिद्ध पर्यायको प्राप्त हो गये हैं । अतएव यह बात सिद्ध होनी है, कि जिनवचनका एक भी पद संसार-समुद्रसे जीवको पार उतारनेवाला है ।

भावार्थ—जब सामायिक-पाठके पदोंमें ही इतनी शक्ति है, कि उसका पाठमात्र करनेसे ही सम्यग्दृष्टि प्राप्ति के लिये संसारका नाश कर निर्वाणपद प्राप्त कर लिया, और उस अनंतशक्तिका कोई पार नहीं पा सकता, तो सम्पूर्ण जिनवचनका कोई संग्रह किस प्रकार कर सकता है ।

इस प्रकार जिनवचनकी अनंतशक्ति और महत्ताको बताकर फलितार्थको प्रकट करते हैं ।

१—‘दुर्गमग्रंथभाष्यपारस्य’ इसके दो पदच्छेद हो सकते हैं, एक तो दुर्गमग्रंथभाषा-अपारस्य, और दूसरा जैसेका तैसा-दुर्गमग्रंथभाष्यपारस्य । पहले पदच्छेदके अनुसार ऊपर अर्थ लिखा गया है । दूसरे पदमें इस वाक्यके साथ अर्द्धवर्णकदेशस्यका सम्बन्ध करना चाहिये, और इस अवस्थामें ऐसा अर्थ करना चाहिये, कि यह दुर्गम ग्रंथ भाष्य-तत्त्वाधीनविगम जिन-वचनत्वी समुद्रके पार-तटके नमान है । क्योंकि यह अर्द्धवचनके एकदेशरूप है । इसी प्रकार “महत्” और “अति महाविषयस्य” इन दोनों विशेषणोंका भी अर्थ इन पदमें इस पदके साथ घटित हो सकता है ।

तस्मात्तत्प्रामाण्यात् समासतो व्यासतश्च जिनउचनम् ।

श्रेय इति निर्निचार ग्राह्य धार्य च वाच्य च ॥ २८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे निम्नञ्चनकी प्रमाणता सिद्ध है। वह समाप्त और व्याप्त दोनों ही तरहसे कल्याणरूप है, अथवा कल्याणना कारण है। अतएव निःसंशय होकर इसीको ग्रहण करना चाहिये, इसीको धारण करना चाहिये, और इसीका उपदेश—निरूपण आदि करना चाहिये।

भावाव्य—इसके एक एक पदकी शक्ति अनन्त है, वादियोंके द्वारा अनेक है, दुःख, ध्वंस, और अनन्त सुखका साधक है, निर्वाण विषयोंका प्रतिपादक गम्भीर और और अतिशययुक्त है, इत्यादि पूर्वोक्त कारणोंसे जिनवचनकी प्रामाणिकता सिद्ध है। अनन्त उसमें किसी प्रकार भी सन्देह करना उचित नहीं है। श्रवण ग्रहण धारण आदि जो श्रोताओंके गुण बताये हैं, उनके अनुसार प्रत्येक श्रोता और वक्ता को इस जिनवचनका ही निःसन्देह होकर ग्रहण धारण और व्याख्यान करना चाहिये।

इस निबन्धनके सुननेवाले और धारण करनेवालोंमें जो फल प्राप्त होता है उसे बताते हैं—

न भवति धर्मः श्रोतु, सर्वस्यैकाततो हितश्रयणात् ।

नृवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ २९ ॥

अर्थ—इस हितरूप श्रुतिके श्रवण करनेसे सभी श्रोताओंको एकान्तसे—सर्वात्मना धर्मकी प्राप्त होती है, इतना ही नहीं, बल्कि उनके ऊपर अनुग्रह करनेकी सदिच्छासे जो उसका व्याख्यान करता है, उस वक्ताको भी सर्वथा धर्मज्ञ लाभ होता है।

भारार्थ—इस ग्रन्थो जो आत्म-कल्याण की बुद्धिसे स्वयं सुनेगे अथवा दूसरों से सुनायेगे वे दोनों ही आत्म-कल्याणो सिद्ध करगे । क्योंकि धर्म ही आत्माका हित है, ओर उसका कारण निनश्चन ही है ।

इस ग्रंथ का व्याख्यान करनेके लिये वक्ताओंको उत्साहित करते हैं—

श्रमप्रविचिन्त्यात्मगत तस्माच्छ्रेय, सदोपदेष्टव्यम् ।

आत्मानं च परं च हि हितोपदेष्टानुगृह्णाति ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनवनरूपी मोक्षमार्गका वक्ता अवश्य ही धर्मका आराधन करनेवाण ह । यदि इतना ही नहीं, किंतु हितरूप श्रुतका उपदेश देनेवाला अपना ओर परका दोनोंका ही अनुग्रह—व्यापण करता है, अतएव वक्ताओंको अपने श्रम आदिमा विचार न करके सदा इस धर्ममार्गका ही उपदेश देना चाहिये ।

१-म। २-दिल्लर। ३-दुसरा दुसरा भये गेमा भी हा मफा दे कि इस मये सभी धागआर।
धमरी गिद्धि हामी, गेमा मरान्मरसे जरी कहा 'ता मरता, पन्नु' अमुप्रमुदमे व्यागपन करेनर'। धमरा
सा दाता ही दे, गेमा मरान्मरपम वन जा सकन दे।

भावार्थ—जब इसके उपदेशसे स्व और परका कल्याण एकान्तरूपसे होना निश्चित है, तब विद्वानोंको इसके उपदेश देनेमें ही सदा अप्रमत्त प्रवृत्ति रखना उचित है ।

इस प्रकार मोक्षमार्गके उपदेशकी आवश्यकता और सफलताको बताकर अब अन्तकी सम्बन्ध दिखानेवाली कारिकाके द्वारा वक्तव्य—विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

नैर्त्ते च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।

तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस समस्त संसारमें मोक्षमार्गके सिवाय और किसी भी तरहसे हितोपदेश नहीं बन सकता, अतएव मैं—ग्रंथकार केवल इस मोक्षमार्गका ही अब यहाँ व्याख्यान करूँगा ।

भावार्थ—जगत्में जितने भी उपदेश हैं, वे जीवका वास्तवमें सिद्ध नहीं कर सकते । क्योंकि वे कर्मोंके क्षयका उपाय नहीं बताते । अहितका कारण कर्म है । अतएव जबतक उसका क्षय न होगा, तबतक आत्माका वस्तुतः हित भी कैसे होगा । इसलिये मोक्षमार्गका उपदेश ही एक ऐसा उपदेश है, जोकि वस्तुतः आत्माके हितका साधक माना जा सकता है । अतएव जो मुमुक्षु है, और जो अपना तथा परका कल्याण करना चाहते हैं, उन्हें इसीका ग्रहण धारण और व्याख्यान करना चाहिये ।

अतएव ग्रंथकार भी इस ग्रंथमें मोक्षमार्गके ही उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

इति सम्बन्धकारिकाः समाप्ताः ।

इस प्रकार इकतीस कारिकाओंमें इस सूत्रग्रंथके निर्माण—सम्बन्धको बताया है । अब आगे वक्तव्य विषयका प्रारम्भ करेंगे ।



१—भगवन् ! किं नु खलु आत्मने हितमिति, स आह मोक्ष इति ।—पूज्यपाद—सर्वार्थसिद्धि ।
तथा “अन्तरेण मोक्षमार्गोपदेशो हितोपदेशो दुःप्राप्य इति” ।—अकलकदेव—राजवार्त्तिक०

प्रथमोऽध्यायः ।

सूत्रम्—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्र्यमित्येष त्रिविधो मोक्षमार्गः । तत्पुरस्तात्प्रक्षेपणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेश्यम् । शास्त्रानुपूर्वीमन्यासाय तद्देशमात्रमिदमुच्यते । एतानि च समस्तानि मोक्षसाधनानि, एकतरामावेष्ट्यसाधनानीत्यतस्त्रयाणां ग्रहणम् । एषा च पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरम् । उत्तरलाभे तु नियतं पूर्वलाभः । तत्र सम्यगिति प्रसाधो निपातः, समश्चेतयो भावः । दर्शनमिति । हृद्देश्यभिचारिणी सचन्द्रियानिन्द्रियाग्रमातिरेतसम्यग्दर्शनम् । प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । सगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । एव ज्ञानचारित्र्योरपि ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इस तरहसे यह मोक्षमार्ग तीन प्रसाराका है। इसके लक्षण और भेदोंका हम आगे चलकर विस्तारके साथ निरूपण करेंगे। परन्तु नाममात्र भी कथन किये बिना शास्त्रकी रचना नहीं हो सकती। अनएव केवल शास्त्रकी रचना कमबद्ध हो सके, इसी बातको लक्ष्यमें रखकर यहाँपर इनका उद्देशमात्र ही निरूपण किया जाता है। ये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनों मिले हुए ही मोक्षके साधन माने गये हैं, न कि पृथक् पृथक् एक अथवा दो। इनमेंसे यदि एक भी न हो, तो बाकीके भी मोक्षके साधन नहीं हो सकने, यही कारण है, कि आचार्यने इस सूत्रमें तीनोंका ही ग्रहण किया है। इनमें से पूर्वका लाभ होनेपर भी उत्तर—आगेका भवनीय है,—अर्थात् पूर्वगुणके प्रकट होनेपर उसी समय उत्तरगुण भी प्रकट हो ही ऐसा नियम नहीं है। हाँ, उत्तरगुणके प्रकट होनेपर पूर्वगुणका लाभ होना अवश्य ही नियत है।

सूत्रमें सम्प्रकृ शब्द जो आया है, वह दो प्रगारमें प्रशसा अर्थसा घोटत माना है। अन्युत्पन्न पक्षमें यह शब्द निपातरूप होकर प्रशमा अर्थसा वाचक होना है। आन्युत्पन्न पक्षमें सम्प्रपूर्वक अन्नु घातुमें क्तिप् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है, और इसका भी अर्थ प्रशमा ही होता है।

सम्यक् शब्दों की तरह दर्शन शब्द भी दृश् वातुसे भावमें गुद् प्रत्यय है।
र बना है। प्रशमार्थ सम्यक् शब्द दर्शनरा विशेषण है। अतएव निम्न

[illegible]

किसी प्रकारका भी व्यभिचार नहीं पाया जाता ऐसी इन्द्रिय और मनके विषयभूत समस्त पदार्थोंकी दृष्टि—श्रद्धारूप प्राप्तिको सम्यग्दर्शन कहते हैं । प्रशस्त—उत्तम—संशय विपर्यय अन-
ध्यवसाय आदि दोषोंसे रहित दर्शनको अथवा संगत—युक्तिसिद्ध दर्शनको सम्यग्दर्शन कहते हैं ।
दर्शन शब्दकी तरह ज्ञान और चारित्र शब्दके साथ भी सम्यक् शब्दको जोड़ लेना चाहिये ।

भावार्थ—सूत्रमे “ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि ” यह विशेषणरूप वाक्य है, और
“ मोक्षमार्गः ” यह विशेष्यरूप वाक्य है । व्याकरणके नियमानुसार जो वचन विशेष्यका हो
वहाँ विशेषणका होना चाहिये, किन्तु यहाँपर वैसा नहीं है; यहाँ तो विशेषण—वाक्य बहुवच-
नान्त है, और विशेष्य—वाक्य एकवचनान्त है । फिर भी यह वाक्य अयुक्त नहीं है, क्योंकि अर्थ
विशेषको सूचित करनेके लिये ऐसा भी वाक्य बोला जा सकता है । अतएव इस प्रकारका
वाक्य बोलकर आचार्यने इस विशेष अर्थको सूचित वित्या है, कि ये समस्त—तीनों मिलकर ही
मोक्षके मार्ग—उपाय—साधन हो सकते हैं, अन्यथा—एक या दो—नहीं ।

यद्यपि इन तीनों गुणोंमेसे सम्यग्दर्शनके साथ शेषके दो गुण भी किसी न किसी
रूपमें प्रकट हो ही जाते हैं, फिर भी यहाँपर पूर्वके होनेपर भी उत्तरको भजनीय जो कहा है
सो शब्दनयकी अपेक्षासे समझना चाहिये । क्योंकि शब्दनयकी अपेक्षासे यहाँ सम्यग्दर्शन
आदि शब्दोंसे क्षायिक और पूर्ण सम्यग्दर्शन आदि ही ग्रहण करने चाहिये । सो क्षायिक-
सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्रमसे ही प्रकट होते हैं । क्षायिकसम्यग्दर्शन
चौथेसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमे हो सकता है । क्षायिकसम्यग्ज्ञान तेरहवें
गुणस्थानमें ही होता है । क्षायिकसम्यक्चारित्र चौदहवें गुणस्थानके अंतमें ही होता है ।
अतएव इन क्षायिक गुणोंकी निष्ठापनाकी अपेक्षा पूर्व गुणके होनेपर उत्तरगुणको भजनीय समझना
चाहिये । और उत्तर गुणके प्रकट होनेपर पूर्व गुणका प्रकट होना नियमसे समझना चाहिये ।

यहाँपर दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों शब्दोंको कर्तृसाधन कर्णसाधन और भाव-
साधन इस तरह तीनों प्रकारका समझना चाहिये, और इनमेंसे प्रत्येकके साथ सम्यक् शब्दका

१—जो प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर आत्माका गुण प्रकट होता है, उसको क्षायिक कहते हैं ।
जैसे कि सम्यग्दर्शन गुणके घातनेवाले कर्म सात हैं—मिथ्यात्व, मिथ्र, सम्यक्त्वप्रकृति और चार अनतानुबंधी कपाय ।
गो इनका सर्वथा अभाव होनेपर जो प्रकट होगा, उसका क्षायिक सम्यग्दर्शन कहेंगे । इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मका
सर्वथा अभाव होनेपर क्षायिकज्ञान होता है, और चारित्रको विपरीत अथवा अपूर्ण रखनेवाले कर्मका सर्वथा क्षय
हो जानेपर क्षायिकचारित्र होता है । २—सम्यक्त्व चारित्र और योग इनकी अपेक्षासे आत्माके गुणोंके जो स्थान हो,
उनको गुणस्थान कहते हैं—इनके चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिथ्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत,
अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मापराय, उपजातकपाय, क्षीणकपाय, सयोगकेवली, अयोगकेवली ।
३—प्राग्व्यक्तार्थकी समाप्ति । ४—जैसे पश्यति इति दर्शनम्, जानाति इति ज्ञानम्, चरति इति चारित्रम् । ५—दृश्यते
अनेन इति दर्शनम्, त्रायते अनेन इति ज्ञानम्, चर्यते अनेन इति चारित्रम्, । ६—दृष्टिदर्शनम्, ज्ञातिज्ञानम्,
चरणं चारित्रम् ।

सम्भव करना चाहिये । क्योंकि "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि" इस पदमें द्वन्द्वसमास किया गया है, और त्याकरणका यह नियम है, कि द्वन्द्वसमासमें आदिके अथवा अन्तेके शब्दों। उसके प्रत्येक शब्दके साथ सम्बन्ध हुआ करता है । अतएव इसका ऐसा अर्थ होता है, कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनोंकी पूर्ण मिली हुई अवस्था मोक्षका मार्ग-उपाय है ।

सम्यक् शब्दके छानेमें मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति बताई है । इसी लिये यहाँपर सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताते हुए प्रासिका विशेषण अभिचारिणी ऐसा दिया है । अन्यथा अतत्त्व श्रद्धान, और सशय विपर्यय अनभ्यवसायरूप ज्ञान, तथा विपरीत चारित्र को भी कोई मोक्षमार्ग समझ सकता था ।

मोक्षके मार्गस्वरूप रत्नत्रयमेंसे क्रमानुसार पहले सम्यग्दर्शनका लक्षण बतानेके लिये आचार्य सूत्र कहते हैं —

सूत्र—तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—तत्त्वानामयाना श्रद्धान तत्त्वेन वार्थानां श्रद्धान तत्त्वार्थश्रद्धानम् तत् सम्यग्दर्शनम् । तत्त्वेन भावतो निश्चितमित्यर्थः । तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्तः । त एव चार्थास्तेषां श्रद्धान तेषु प्रत्ययाधारणम् । तदेव प्रशमस्येगनिवृत्तानुक्त्यास्तिक्याभिव्यक्ति-लक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥

अर्थ—तत्त्वरूप अर्थोंके श्रद्धानको, अथवा तत्त्वरूपसे अर्थोंके श्रद्धान करनेको तत्त्वार्थ श्रद्धान कहते हैं, और इसीका नाम सम्यग्दर्शन है । तत्त्वरूपसे श्रद्धान करनेका अभिप्राय यह है, कि भावरूपसे निश्चय करना । तत्त्व जीव अनीव आदि सात हैं, जैसा कि आगे बतल कर उनका वर्णन करेंगे । इन तत्त्वोंको ही अर्थ समझना चाहिये, और उनके श्रद्धानको अथवा उनमें विश्वास करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इस प्रकार तत्त्वार्थोंके श्रद्धानरूप जो सम्यग्दर्शन होता है, उसका लक्षण—किन्तु इन पाँच भावादी अभिव्यक्ति-प्रकृता है—प्रशम, स्येग, निर्वेग, अनुश्रव्य और आत्मिक्य ।

भारार्थ—तत्त्व शब्द सर्वनाम है, और सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थके धारक हुआ रहते है । तत्त्व शब्दमें भाव अर्थमें त्व प्रत्यय होकर तत्त्व शब्द बना है । अतएव हाण्ट पालीके स्वरूपको तत्त्व शब्दमें कह सकते हैं । जो निराशय किया जाय—निराशयका निराशय ही उसको अर्थ करते हैं ।

अनश्रव्य निर्वेगों भाव और भाववानम वार्थानि मे और वार्थानि अभेद माना है ।

१—'वर्णनम्' इति । २—'तत्त्वार्थ' इति । ३—'तत्त्वार्थ' इति । ४—'तत्त्वार्थ' इति । ५—'तत्त्वार्थ' इति । ६—'तत्त्वार्थ' इति । ७—'तत्त्वार्थ' इति । ८—'तत्त्वार्थ' इति । ९—'तत्त्वार्थ' इति । १०—'तत्त्वार्थ' इति । ११—'तत्त्वार्थ' इति । १२—'तत्त्वार्थ' इति । १३—'तत्त्वार्थ' इति । १४—'तत्त्वार्थ' इति । १५—'तत्त्वार्थ' इति । १६—'तत्त्वार्थ' इति । १७—'तत्त्वार्थ' इति । १८—'तत्त्वार्थ' इति । १९—'तत्त्वार्थ' इति । २०—'तत्त्वार्थ' इति । २१—'तत्त्वार्थ' इति । २२—'तत्त्वार्थ' इति । २३—'तत्त्वार्थ' इति । २४—'तत्त्वार्थ' इति । २५—'तत्त्वार्थ' इति । २६—'तत्त्वार्थ' इति । २७—'तत्त्वार्थ' इति । २८—'तत्त्वार्थ' इति । २९—'तत्त्वार्थ' इति । ३०—'तत्त्वार्थ' इति । ३१—'तत्त्वार्थ' इति । ३२—'तत्त्वार्थ' इति । ३३—'तत्त्वार्थ' इति । ३४—'तत्त्वार्थ' इति । ३५—'तत्त्वार्थ' इति । ३६—'तत्त्वार्थ' इति । ३७—'तत्त्वार्थ' इति । ३८—'तत्त्वार्थ' इति । ३९—'तत्त्वार्थ' इति । ४०—'तत्त्वार्थ' इति । ४१—'तत्त्वार्थ' इति । ४२—'तत्त्वार्थ' इति । ४३—'तत्त्वार्थ' इति । ४४—'तत्त्वार्थ' इति । ४५—'तत्त्वार्थ' इति । ४६—'तत्त्वार्थ' इति । ४७—'तत्त्वार्थ' इति । ४८—'तत्त्वार्थ' इति । ४९—'तत्त्वार्थ' इति । ५०—'तत्त्वार्थ' इति । ५१—'तत्त्वार्थ' इति । ५२—'तत्त्वार्थ' इति । ५३—'तत्त्वार्थ' इति । ५४—'तत्त्वार्थ' इति । ५५—'तत्त्वार्थ' इति । ५६—'तत्त्वार्थ' इति । ५७—'तत्त्वार्थ' इति । ५८—'तत्त्वार्थ' इति । ५९—'तत्त्वार्थ' इति । ६०—'तत्त्वार्थ' इति । ६१—'तत्त्वार्थ' इति । ६२—'तत्त्वार्थ' इति । ६३—'तत्त्वार्थ' इति । ६४—'तत्त्वार्थ' इति । ६५—'तत्त्वार्थ' इति । ६६—'तत्त्वार्थ' इति । ६७—'तत्त्वार्थ' इति । ६८—'तत्त्वार्थ' इति । ६९—'तत्त्वार्थ' इति । ७०—'तत्त्वार्थ' इति । ७१—'तत्त्वार्थ' इति । ७२—'तत्त्वार्थ' इति । ७३—'तत्त्वार्थ' इति । ७४—'तत्त्वार्थ' इति । ७५—'तत्त्वार्थ' इति । ७६—'तत्त्वार्थ' इति । ७७—'तत्त्वार्थ' इति । ७८—'तत्त्वार्थ' इति । ७९—'तत्त्वार्थ' इति । ८०—'तत्त्वार्थ' इति । ८१—'तत्त्वार्थ' इति । ८२—'तत्त्वार्थ' इति । ८३—'तत्त्वार्थ' इति । ८४—'तत्त्वार्थ' इति । ८५—'तत्त्वार्थ' इति । ८६—'तत्त्वार्थ' इति । ८७—'तत्त्वार्थ' इति । ८८—'तत्त्वार्थ' इति । ८९—'तत्त्वार्थ' इति । ९०—'तत्त्वार्थ' इति । ९१—'तत्त्वार्थ' इति । ९२—'तत्त्वार्थ' इति । ९३—'तत्त्वार्थ' इति । ९४—'तत्त्वार्थ' इति । ९५—'तत्त्वार्थ' इति । ९६—'तत्त्वार्थ' इति । ९७—'तत्त्वार्थ' इति । ९८—'तत्त्वार्थ' इति । ९९—'तत्त्वार्थ' इति । १००—'तत्त्वार्थ' इति ।

अतएव तत्त्व और अर्थमें भी कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है । इसी लिये यहाँपर “तत्त्वार्थश्रद्धानम्” इस पदकी निरुक्ति दो प्रकारसे की है । यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब तत्त्व और अर्थमें अभेद है, तब दोनों शब्दोंके प्रयोगकी सूत्रमें क्या आवश्यकता है? या तो “तत्त्वश्रद्धानं” इतना ही कहना चाहिये, अथवा “अर्थश्रद्धानम्” ऐसा ही कहना चाहिये । परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा होनेसे दोनों ही पक्षमें एकान्तरूप मिथ्या अर्थका ग्रहण हो सकता है । “तत्त्वश्रद्धानं” इतना ही कहनेसे केवल सत्ता या केवल एकत्व अथवा केवल भावके ही श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है । इसी प्रकार अर्थश्रद्धानं इतना ही माननेपर तत्त्वके भी श्रद्धानका अर्थ छूट जाता है । अतएव दोनों पदोंका ग्रहण करना ही उचित है ।

तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन आत्माका एक ऐसा सूक्ष्म गुण है, कि जिसको हरएक जीव प्रत्यक्ष नहीं देख सकते । अतएव जो सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आत्मामें प्रकट हो सकते हैं, उन प्रशम संवेग आदि पाँच भावरूप चिन्होंको देखकर सम्यग्दर्शनके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है । उन पाँच भावोंका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है—

प्रशमम्—राग द्वेष अथवा क्रोधादि कषायोंका उद्रेक न होना । या उन कषायोंको जागृत न होने देना और जीतनेका प्रयत्न करना ।

संवेगम्—जन्म मरण आदिके अनेक दुःखोंसे व्याप्त संसारको देखकर भयभीत होना । संसारके कारणभूत कर्मोंका मेरे संग्रह न हो जाय, ऐसी निरंतर चित्तमें भावना रखना ।

निर्वेदम्—संसार शरीर और भोग इन तीन विषयोंसे उपरति अथवा इनके त्यागकी भावना होना ।

अनुकम्पम्—संसारके सभी प्राणियोंपर दयाका होना अथवा सभी संसारी जीवोंको अभय बनानेका भाव होना ।

आस्तिक्यम्—जीवादिक पदार्थोंका जो स्वरूप अरंहतदेवने बताया है, वही ठीक है, अथवा उन पदार्थोंको अपने अपने स्वरूपके अनुसार मानना ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया, अब उसकी उत्पत्ति किस तरहसे होती है, इस बातको बतानेके लिये उसके दो हेतुओंका उल्लेख करनेको सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तन्निर्गदाधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तदेतत्सम्यग्दर्शनं द्विविधं भवति—निर्गसम्यग्दर्शनमधिगमसम्यग्दर्शनं च । निर्गदाधिगमाद्वोत्पद्यत इति द्विहेतुकं द्विविधम् । निर्गमः परिणामः स्वभावः अपरोपदेश इत्य-

१—सत्ता ही तत्त्व है, ऐसा किसी किसी का मत है, कोई एकत्वको ही तत्त्व मानते हैं, कोई अर्थको छोड़कर केवल भावका ही ग्रहण मानते हैं, इत्यादि । २—नैयायिकोंने भावको छोड़कर केवल अर्थका ही ग्रहण—ज्ञान होना माना है । ३—रागादीनामनुद्रेक प्रशम । ४—ससाराद्रीस्ता संवेग । ५—संसारशरीरभोगेषूपरतिः । ६—सर्वभूतदया । ७—जीवादयोऽर्था यथास्व सन्तीतिमतिरास्तिक्यम् ।

नर्थान्तरम् । ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव इति वक्ष्यते । तस्यानादौ ससारे परिभ्रमतः कर्मत एव कर्मणः स्वकृतस्य बन्धनिष्काचनोदयनिजरापेक्ष नारक्तितिर्यग्योनिमनुष्यामरभवग्रहणेषु विविधं पुण्यपापफलमनुभवतो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वामात्यात् तानि तानि परिणामाध्यव सायस्यानान्तराणि गच्छन्तोऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि सतः परिणामविशेषादपृथक्करण तादृग्भयति येनास्यानुपदेशास्तस्यैव दर्शनमुत्पद्यत इत्येतन्निःसगसम्यग्दर्शनम् । अधिगमः अभिगमः आगमो निमित्त श्रवण शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम् । तदेव परोपदेशाद्यन्तत्त्वार्थब्रह्मान भवति तदधिगमसम्यग्दर्शनमिति ॥

अर्थ—जिसका कि ऊपर लक्षण बताया गया है, वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—एक निसर्गसम्यग्दर्शन दूसरा अधिगमसम्यग्दर्शन । कोई सम्यग्दर्शन निसर्गसे उत्पन्न होता है, और कोई अधिगमसे उत्पन्न होता है, अतएव यहाँपर ये दो भेद उत्पत्तिके दो कारणोंकी अपेक्षासे हैं, न कि स्वरूपकी अपेक्षासे । जो सम्यग्दर्शन निसर्गसे होता है, उसको निसर्गज और जो अधिगमसे होता है, उसको अधिगमज कहते हैं । निसर्ग स्वभाव परिणाम और अपरोपदेश इन सब शब्दोंका एक ही अर्थ है । ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । अतएव परोपदेशके बिना स्वभावसे ही परिणाम विशेषके हो जानेपर जो सम्यग्दर्शन होता है, उसको निसर्गज, और जो परोपदेशके निमित्तमे परिणाम विशेषके होनेपर प्रकट होता है, उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

जीवका लक्षण ज्ञानदर्शनरूप उपयोग है, ऐसा आगे चलकर बतावेंगे । यह जीव अनादिनालसे ससारमें परिभ्रमण कर रहा है । कर्मके निमित्तसे यह जीव स्वयं ही निन नवीन कर्मोंमें ग्रहण करता है, उनके बंध निराचन उदय निनरा आग्नि अने क्षासे यह जीव नारक तिर्यग् मनुष्य ओर देव इन चार गतियोंको योग्यतानुसार ग्रहण करता है, और उनमें नाना प्रकारके पुण्य पापके फलको भोगता है । अपने ज्ञानदर्शनोपयोगरूप स्वभावके कारण यह जीव विभ्रमण तरहके उन उन परिणामाध्यवसाय स्थानोंको प्राप्त होता है, कि जिनको प्राप्त होनेपर अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके भी उन परिणाम विशेषके द्वारा ऐमे अपूर्वकरण हो जाते हैं, कि जिनके निमित्तसे विना उपदेशके ही उस जीवके सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है । इस तरहके सम्यग्दर्शनको ही निर्गम सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अधिगम अभिगम आगीम निमित्त श्रवण शिक्षा उपदेश ये सब शब्द एक ही अर्थके
वाचक हैं। इसलिये जो परोपदेशके निमित्तमे उत्पन्न होता है, उसको अधिगमन सम्यग्दर्शन
करते हैं।

भाषार्थ—सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें वन लैट्वियोंकी कारण माना है, सद्योपशम

१-आप्तसाधनियधर्म्येणमागम-न्यायदीपिका । २-श्रुति । ३-स्मृति नमः प्राप्तिः हे ।
पान्थु सदाश्रित विनये होनेर ही मन्त्र्यन्तः प्रत्यक्ष हो सत्य है ऐसी सोचवाही प्राप्ति हो । स्मृति मन्त्र्यन्तः
स्मृति । एक ही पत्र मे है क्या- सदाश्रितमितिप्राप्ति देस-सत्ता कर-अप्री य । स्मृति नि मन्त्र्यन्तः करण पुन
होति सम्मन् । १५-॥ " (सम्मन्-आपत्तः)

विशुद्धि देशना प्रायोग्य और करण । कर्मोंकी स्थिति घटकर जब अंतःकोटीकोटी प्रमाण रह जाती है, तभी जीव सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके योग्य बनता है । इसी प्रकार जब उसके परिणाम एक विशिष्ट जातिकी भद्रता और निर्मलताको धारण करते हैं, तभी उसमें सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेकी योग्यता आती है, और इसी तरह सद्गुरुका उपदेश मिलनेसे वास्तविक जीव अजीव और संसार मोक्षका—सप्त तत्त्व नव पदार्थ षड्द्रव्यका स्वरूप मालूम होनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेकी योग्यता जीवमें आती है । तथा संज्ञी पर्याप्त जागृत अवस्था साकारोपयोग आदि योग्यताके मिलनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं, इसके भी होनेपर ही सम्यग्दर्शन प्रकट हो सकता है । करण नाम आत्माके परिणामोंका है । वे तीन प्रकारके हैं—अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण ।

इन पाँच लब्धियोंमें से चार लब्धि सामान्य हैं और करणलब्धि विशेष है । अर्थात् करणलब्धि हुए बिना चार लब्धियोंके हो जानेपर भी सम्यक्त्व नहीं होता । अनादिकालसे जीवको संसारमें भ्रमण करते हुए अनेक बार चार लब्धियोंका संयोग मिला, परन्तु करणलब्धि-के न मिलनेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ । फिर भी सम्यग्दर्शनके होनेमें उन चार लब्धियोंका होना भी आवश्यक है ।

देशनालब्धि को ही उपदेश या अधिगम आदि शब्दोंसे कहते हैं । इसके निमित्तसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमज और जो इसके बिना ही हो, उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

कर्मके अधीन हुआ यह जीव जब उसके निमित्तसे नवीन कर्मको ग्रहण कर लेता है तब उसको उस कर्मके बंधें निकाचर्न उदयं निर्जराकी अपेक्षासे चतुर्गतिमें भ्रमण और उनमें रहकर उन कर्मोंका शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है । उन उन कर्मजनित परिणामस्थानोंको प्राप्त करता हुआ यह जीव अनादि मिथ्यादृष्टि होकर भी कभी अपने उपयोग स्वभावके कारण परिणाम विशेषके द्वारा देशनालब्धि—परोपदेशके बिना ही करणलब्धिके भेदस्वरूप अपूर्वकरण जातिके परिणामोंको प्राप्त कर लेता है, और उससे उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है ।

१—उपयोगके दो भेद हैं—ज्ञान और दर्शन । इनमेंसे ज्ञान साकारोपयोग है, और दर्शन निराकारोपयोग । सम्यक्त्व साकारोपयोग—ज्ञानकी अवस्थामें ही होता है, निराकार दर्शनोपयोगकी अवस्थामें नहीं होता । २—इनका विस्तृत स्वरूप गोम्मटसार जीवकाण्ड अथवा सुशीला उपन्यासमें देखना चाहिये । ३—पुद्गलकर्मोंका आत्मप्रदेशोंके साथ एकक्षेत्रावगाह होनेको बंध कहते हैं—“आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंध । सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद—अथवा “ अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बंध । ” ४—जिसका फल अवश्य भोगना ही पड़ता है, उसको निरञ्जनचक्र कहते हैं । ५—द्रव्यक्षेत्र आदिके निमित्तसे कर्मोंके फल देनेको उदय कहते हैं । ६—फल देकर आत्मासे कर्मोंका जो सम्बन्ध छूट जाता है, उसको निर्जरा कहते हैं । ७—जो आत्माके करण—परिणाम पूर्वमें कभी भी नहीं हुए, उनको अपूर्वकरण कहते हैं ।

यहाँपर यह शका हो सकती है, कि जब चारों लवियोंका मिलना भी सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके लिये आवश्यक बताया है, तब उनमें से देशनालविक्रे बिना ही वह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? इसका उत्तर यह है, कि इसमें केवल साक्षात् असाक्षात् का ही भेद है । साक्षात् परोपदेशके मित्रनेपर जो तत्त्वार्थका श्रद्धान होता है, उसको अधिगमन कहते हैं और साक्षात् परोपदेशके न मिलनेपर जो उत्पन्न होता है, उसको निसर्गज कहते हैं । अनादिमालसे अब तक जिसको कभी भी देशनाका निमित्त नहीं मिला है, उसको सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, किंतु जिसको देशनाके मिलनेपर भी करणलविक्रे न होनेसे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है, उसको ही कालान्तरमें और भवान्तरमें बिना परोपदेशके ही करणलविक्रे भेद-अपूर्वकरणके होनेपर सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है । इसीको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

माप्य--अत्राह, तत्त्वार्थब्रह्मान सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् । तत्र किं तत्त्वमिति ? अत्रोच्यते--

अर्थ—ऊपर तत्त्वार्थके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन बताया है, अतएव उसमें यह शका होती है, कि वे तत्त्व नितने हैं और उनका क्या स्वरूप है, कि जिनके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है : अतएव इस शकाको दूर करनेके लिये—तत्त्वोंसे गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवाजीवास्तववधमवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

माय्यम्—जीवा अजीवा आसृजा बन्ध सयरो निर्जरा मोक्ष इत्येव सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम् ।
एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि । तादृक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरणोपदेश्याम् ॥

अर्थ—जीव अजीव आसन्न बंध सत्वर निर्मरा और मोक्ष यह सात-प्रकारका अर्थ तत्त्व समझना चाहिये । अथवा इन सात पदार्थोंमें ही तत्त्व कहते हैं । इनका लक्षण और भेद कथनके द्वारा आगे चलकर विस्तारसे वर्णन किया जायगा ।

भाषार्थ—मूलमें तत्त्व तो ही है, एक जीव दूसरा अजीव । सर्व सामान्यरी अपेक्षा जीवद्वयरा एक ही भेद है । अजीवके पाँच भेद हैं—पुद्गल धर्म अघर्म आराध और काल । इनका लक्षण आदि बतावेंगे । इन्हीं छहको पञ्चद्वय कहते हैं । किंतु इतनेमें ही मोक्षमार्ग मालूम नहीं होता । अतएव सात तत्त्वोंको भी जानना चाहिये । ये सात तत्त्व जीव और अजीवके संयोगसे ही निष्पन्न होते हैं । तथा यहाँपर अजीव शब्दमें मुख्यतया पुद्गल ग्रहण करना चाहिये । सम्भवेन इन सातोंका स्वरूप इस प्रकार है—

जो चेतना गुणमे युक्त है, अथवा जो ज्ञान और दर्शनरूप उपयोगको धारण करनेवाला है उसको जीव कहते हैं। जो इम जानने और देखनेकी शक्तिसे रहित है उसको अजीव कहते हैं। जीव और अजीवका संयोग होनेपर नीचिन वर्तमान

१—'भेद ग्राह्यता ताव -निराधार-अभूतदर्शने । २—'नो रूपमप्यप्यनं पुन हे उगव ।
पुन कदने हे । ३—पुन न्यस्य ही एव पदार्थ निरूप हे । ३—पुन न्यस्य । ४—पुन न्यस्य २३ भेदोंमें 'नो
रूपमप्यप्यनं' कथोक्त वाक्यता एव है, उनका सामान्यता कहने है ।

वर्गणाओके आनेको अथवा जिन परिणामोंके द्वारा कर्म आने है, उनको आस्रव कहते हैं। जीव और कर्मके एकक्षेत्रावगाहको बंध कहते हैं। कर्मोंके न आनेको अथवा जिन परिणामोंके निमित्तसे कर्मोंका आना रुक जाय, उनको संवर कहते हैं। कर्मोंके एकदेशरूपसे आत्मासे सम्बन्धके छूटनेको निर्जरा कहते हैं। आत्मासे सर्वथा कर्मोंके सम्बन्धके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं।

अब इन तत्त्वोंका व्यवहार किस किस तरहसे होता है, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—एभिर्नामादिभिश्चतुर्भिरनुयोगद्वारैस्तेषां जीवादीनां तत्त्वानां न्यासो भवति । विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थं न्यासो निक्षेप इत्यर्थः । तद्यथा । नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति । नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थान्तरम् । चेतनावतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्यजीवइति नाम क्रियते स नामजीवः । यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवो देवताप्रतिकृतिव दिन्द्रोरुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति । द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते । अथवा शून्योऽयं भङ्गः । यस्य ह्यजीवस्य सतो भव्यं जीवत्वं स्यात् स द्रव्यजीवः स्यात्, अनिष्टं चैतत् । भावतो जीवा औपशमिकक्षायिकक्षायौपशमिकौदयिकपारणामिकभावयुक्ता उपयोगलक्षणाः संसारिणो मुक्ताश्च द्विविधा वक्ष्यन्ते । एवमजीवादिषु सर्वेष्वनुगन्तव्यम् । पर्यायान्तरेणापि नामद्रव्यं स्थापनाद्रव्यं द्रव्यद्रव्यम् भावतोद्रव्यमिति । यस्यजीवस्याजीवस्य वा नाम क्रियते द्रव्यमिति तन्नामद्रव्यम् । यत्काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते द्रव्यमिति तत्स्थापनाद्रव्यम् । देवताप्रतिकृतिवदिन्द्रोरुद्रःस्कन्दो विष्णुरिति । द्रव्यद्रव्यं नाम गुणपर्यायवियुक्तं प्रज्ञास्थापितं धर्मादीनामन्यतमत् । केचिदप्याहुर्द्वद्रव्यतो द्रव्यं भवति तच्च पुद्गलद्रव्यमेवेति प्रत्येतद्व्यम् । अणवः स्कन्धाश्च सङ्गतभेदेभ्य उत्पद्यन्त इति वक्ष्यामः । भावतो द्रव्याणि धर्मादीनि सगुणपर्यायाणि प्राप्तिलक्षणानि वक्ष्यन्ते । आगमतश्च प्राभृतज्ञो द्रव्यमितिभव्यमाह । द्रव्यं च भव्ये । भव्यमिति प्राप्यमाह । भूप्राप्तावात्मनेपदी । तदेवं प्राप्यन्ते प्राप्नुवन्ति वा द्रव्याणि । एवं सर्वेषामनादीनामादिमतां च जीवादीनां भावानां मोक्षान्तानां तत्त्वाधिगमार्थं न्यासः कार्य इति ।

अर्थ—इन नामादिक चार अनुयोगोंके द्वारा जीवादिक तत्त्वोंका न्यास—निक्षेप—व्यवहार होता है। लक्षण और भेदोंके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान जिससे विस्तारके साथ हो सके, ऐसे व्यवहाररूप उपायको न्यास अथवा निक्षेप कहते हैं। इसी बातको जीवद्रव्यके ऊपर घटित करके बताते हैं—

जीव शब्दका व्यवहार चार प्रकारसे हो सकता है—नाम स्थापना द्रव्य और भाव । इन्हींको क्रमसे नामजीव स्थापनाजीव द्रव्यजीव और भावजीव कहते हैं । इनमें से प्रत्येकका खुलासा इस प्रकार है—नाम और संज्ञाकर्म शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । चेतनायुक्त अथवा अचेतन किसी भी द्रव्यकी “ जीव ” ऐसी संज्ञा रख देनेको नामजीव कहते हैं । किसी भी काष्ठ पुस्त चित्र अक्ष निक्षेपादिमें “ ये जीव हैं ” इस तरहके आरोपणको स्थापनाजीव कहते

है। जैसे कि देवताओं की मूर्ति में हुआ करता है, कि ये इन्द्र हैं, ये महान्त्र हैं, ये गणेश हैं, या ये विष्णु हैं, इत्यादि। द्रव्यजीव गुणपर्यायसे रहित होता है, सो यह अनादि पारिणामिक-भावसे युक्त है, अतएव जीवको द्रव्यजीव केवल बुद्धिमे स्थापित करके ही कह सकते हैं। अथवा इस भगवो द्रव्य ही समझना चाहिये, क्योंकि जो पदार्थ अजीव होकर जीवरूप हो सके, वह द्रव्यजीव कहा जा सकता है, सो यह बात अनिष्ट है। जो औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औद्यमिक और पारिणामिक भावोंसे युक्त है और जिनका लक्षण उपयोग हे, ऐसे जीवोंको भावजीव कहते हैं। वे दो प्रकारके हैं—ससारी और मुक्त। सो इनका स्वरूप आगे चक्रकर लिखेंगे। जिस तरह यहाँपर जीवके ऊपर ये चारों निक्षेप घटित किये हैं, उमी प्रसार अनीयादिकके ऊपर भी घटित कर लेना चाहिये।

इसके सिवाय नामद्रव्य स्थापनाद्रव्य द्रव्यद्रव्य और भावद्रव्य इस तरह प्रसारान्तरसे भी इनका व्यवहार होता है, सो इसको भी यहाँ घण्टित करके बनाते हैं—

किसी भी जीव या अजीवरा “द्रव्य” ऐसा सज्ञाकर्म करना नामद्रव्य कहा जाता है। खण्ड पुस्त विचरकर्म अक्ष निक्षेपान्निर्मे “ये द्रव्य हैं” इस तरहसे आरोपण करनेको स्थापना द्रव्य कहते हैं। जैसे कि देवताओंकी मूर्तमें यह इन्द्र है, यह रुद्र है, यह गणेश है, यह विष्णु है, ऐसा आरोपण हुआ करता है। धर्म अघर्म आराध आदिमेंमें केरत मुद्रिके द्वारा गुण पर्याय रहित निर्मा भी द्रव्यको द्रव्यद्रव्य कहते हैं। कुछ आचार्योंरा इस विषयमें ऐसा कहना है, कि द्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा द्रव्य केरत पुद्गल द्रव्यको ही समझना चाहिये। तो इस विषयका “अणत्र स्थानाश्च” और “सघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते” इन दो सूत्रोंरा आग चटुरं हम वर्णन करेंगे, उससे रागसा हो जायगा। प्राप्तिरूप लक्षणासे युक्त और गुण पर्याय सहित धर्मादिक द्रव्योंको भावद्रव्य कहते हैं। आगमकी अपेक्षा से द्रव्यके स्वरूपरा निरूपण करनेरा प्राभृत-शास्त्रके ज्ञाता जीवको जो द्रव्य कहते हैं, मो यहाँपर द्रव्य शब्दमें भय-प्राप्य अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि व्याकरणमें भय अर्थमें ही द्रव्य शब्दका निपात होता है। भय शब्दका अर्थ भी प्राप्य है। क्योंकि प्राप्ति अर्थवाली आत्मनेपदी भू धातुमें यह शब्द बनता है। अर्थात् जो प्राप्त किये जायँ, अथवा जो प्राप्त हों उनको द्रव्य कहने है।

१-बमोज उपाय हो जानेर आ भय होन है, उनको भीतरमर, हाथो रजिर ३ हाथक मंगलीक हाथ-रिग वर दिन निरा ओर दसम होयन हवा मयों देऊनीका लय ३ हाथ हाथ । भय हाथ-रजिर लय का उदय होयने तबो ओरिग कयने है । सिंग गिरि कय ३ हाथ ३ ओ ॥ २११ है रे रे मंगलीक गिरि आरु मयों का वर-मिहमर कयने है ।

[illegible]

इस प्रकारसे अनादि और सौदि जीव अजीव आदिक मोक्षपर्यन्त समस्त भावोंके तत्त्वका अधिगम प्राप्त करनेके लिये न्यासका उपयोग करना चाहिये ।

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुका शब्द द्वारा व्यवहार चार प्रकारसे हुआ करता है, अतएव उस वस्तुका उस शब्द व्यवहारके द्वारा ज्ञान भी चार प्रकारसे हुआ करता है । इस ज्ञानके उपायको ही निक्षेप कहते हैं । उसके चार भेद हैं—नाम स्थापना द्रव्य और भाव ।

गुणकी अपेक्षा न करके केवल व्यवहारकी सिद्धिके लिये जो किसीकी संज्ञा रख दी जाती है, उसको नामनिक्षेप कहते हैं, जैसे कि किसी मूर्त्तिका भी नाम विद्याधर रख दिया जाता है, अथवा माणिक और लाल रत्नके गुण न रहनेपर भी किसीका माणिकलाल नाम रख दिया जाता है । इत्यादि ।

किसी वस्तुमें अन्य वस्तुके इस तरहसे आरोपण करनेको कि “ यह वही है ” स्थापना निक्षेप कहते हैं, चाहे वह वस्तु जिसमें कि आरोपण किया गया है, साकार—जिस वस्तुका आरोपण किया गया है, उसके समान आकारको धारण करनेवाली हो या न हो । जैसे कि महावीर भगवान्‌के आकारवाली मूर्त्तिमें यह आरोपण करना, कि ये वे ही महावीर भगवान्‌ हैं, कि जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृतिके उदयवश भव्यजीवोंके हितार्थ समवसरणमें मोक्षके मार्गका उपदेश दिया था, इसको साकारमें स्थापनानिक्षेप समझना चाहिये । और शतरंजके मुहरोमें जो बादशाह वजीर हाथी घोड़ा आदिका आरोपण किया जाता है उसको अतदाकारमें स्थापनानिक्षेप कहना चाहिये ।

नाम और स्थापना दोनों ही निक्षेपोंमें गुणकी अपेक्षा नहीं रक्खी जाती, फिर दोनोंमें क्या अन्तर है ? यह प्रश्न हो सकता है । सो उसका उत्तर इस प्रकार है, कि पहले तो नाम निक्षेपमें जिस प्रकार गुणकी अपेक्षाका सर्वथा अभाव है, उस प्रकार स्थापनानिक्षेपमें नहीं है । क्योंकि नाम रखनेमें किसी प्रकारका नियम नहीं है; किन्तु स्थापनाके लिये अनेक प्रकारके नियम बताये हैं । दूसरी बात यह है, कि नाममें आदरानुग्रह नहीं होता, परन्तु स्थापनामें वह होता है । मूर्त्तिमें जो पार्श्वनाथकी स्थापना की गई है, सो उस मूर्त्तिका भी खास पार्श्वनाथ भगवान्‌के समान ही आदर सत्कार किया जाता है ।

किसी वस्तुकी आगे जो पर्याय होनेवाली है, उसको पहले ही उस पर्यायरूप कहना इसको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं । जैसे कि राजपुत्र अथवा युवराजको राजा कहना । क्योंकि यद्यपि वह वर्तमानमें राजा नहीं है, परन्तु भविष्यमें होनेवाला है, अतएव उसको वर्तमानमें राजा

१—वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा । २ पर्यायकी अपेक्षा । ३—अतद्वृत्तेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावजवर्तनात् ॥ ४—साकारे वा निराकारे काष्ठदौ यन्निवेशनम् । सोयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥

५—आगामिगुणयोगोऽर्थोऽव्यन्यासस्य गोचर ॥ (तत्त्वार्थसार—अमृतचंद्रसूर)

कहना द्रव्यनिक्षेपका विषय है । अथवा भूत भविष्यत् पर्यायरूपसे वर्तमान वस्तुके व्यवहार करनेको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं । जैसे कि राज्य छोड़ देनेवालेको भी राजा कहना, अथवा मुनीमीकी नोकरी छोड़ देनेवालेको भी मुनीमजी कहना या विद्यार्थीको पंडित कहना, इत्यादि ।

किमी भी वस्तुको वर्तमानकी पर्यायकी अपेक्षासे कहना भावनिक्षेप है । जैसे कि राज्य करते हुएको राजा कहना अथवा मनुष्य पर्याययुक्त जीवको मनुष्य कहना । इत्यादि ।

इन उपर्युक्त चार निक्षेपोंको यहाँपर जीव द्रव्यकी अपेक्षासे घटित करके बताया है । उसी प्रकार सप्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों तथा सम्यग्दर्शन आदिकी अपेक्षासे भी घटित कर लेना चाहिये । विशेष बात यह ध्यानमें रखनी चाहिये, कि जो भग जहां सभव न हो, उसको छोड़ देना चाहिये । जैसा कि यहाँपर जीवद्रव्यके द्रव्यनिक्षेपका भग शून्यरूप बताया गया है । क्योंकि उसमेंसे जीवन गुणका कभी भी अभाव नहीं होता । द्रव्यनिक्षेपसे जीव उसको कह सकते हैं, कि जिसमें वर्तमानमें तो जीवन गुण न हो, परन्तु भूत अथवा भविष्यतमें वह गुण पाया जाय । सो यह बात असंभव है । क्योंकि यदि किसी वस्तुके गुणका कभी भी अभाव माना जायगा तो उस वस्तुका ही अभाव मानना पड़ेगा, और एक वस्तुके किसी भी गुणका दूसरी वस्तुमें यदि सक्रमण माना जायगा, तो सर्वसकरता नामका दोष आकर उपस्थित होगा ।

यहाँपर जीवद्रव्यके विषयमें द्रव्यनिक्षेपको जो शून्यरूप कहा है, वह जीवत्व-सामान्य जीवद्रव्यकी अपेक्षासे समझना चाहिये । जीव विशेषरी अपेक्षासे यह भग भी घटित हो सकता है, यथा—कोई मनुष्य जीव मरकर देव होनेवाला है, क्योंकि उसने देव आयुका निरुचित बच किया है, ऐसी अवस्थामें उस मनुष्य जीवको देवजीव कहना द्रव्यनिक्षेपका विषय है ।

जीवादिक पदार्थोंको जाननेके लिये और भी उपाय बतानेको सत्र कहते हैं —

सूत्र—प्रमाणनयैरधिगम ॥ ६ ॥

भाष्यम्—एषा च जीवादीनां तत्त्वानां दृष्टोद्दिष्टानां नामादिभिर्न्यस्तानां प्रमाणनयैर्यि स्तराधिगमो भवति । तत्र प्रमाण द्विविधं परोक्ष प्रत्यक्ष च वक्ष्यते । चतुर्विधमित्येके । नय वादान्तरेण । नयाश्च निगमादयो बन्धन्ते ।

विचिन्त्यत् ।

अर्थ—जिन जीव अजीव आदि तत्त्वोंका नामनिर्देश "जीवाजीवाल्लव"—आदि सूत्रके द्वारा किया जा चुका है, और जिनका न्यास-निक्षेप "नामस्थापना"—आदि उपर्युक्त सूत्रके द्वारा किया गया है, उनका विस्तार पूर्ण अधिगम प्रमाण और नयके द्वारा हुआ करता है ।

इनमेंसे प्रमाणके दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष । किसी किसी आचार्यने इसके चार भेद माने हैं । सो यह कथन भिन्न नयवाद—अपेक्षासे समझना चाहिये । इसी प्रकार नयोंके नैगम संग्रह आदि सात भेद हैं । उनका भी हम आगे चलकर वर्णन करेंगे ।

भावार्थ—तत्त्वोंके जाननेका ज्ञानरूप उपाय प्रमाण और नय इस तरह दो प्रकारका है । सम्यग्ज्ञानको प्रमाण और प्रमाणके एक देशको नय कहते हैं । प्रमाणके यद्यपि अनेक भेद हैं, जिनका कि आगे चलकर निरूपण किया जायगा, परन्तु सामान्यसे उसके दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष । जो पर—आत्मासे भिन्न—इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होता है, उसको परोक्ष, और जो परकी सहायता न लेकर केवल आत्ममात्रसे ही उत्पन्न होता है, उस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं ।

प्रमाण और नय दोनों ज्ञानस्वरूप हैं, फिर भी उनमें महान् अन्तर है । क्योंकि एक गुणके द्वारा अशेष वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको प्रमाण और वस्तुके एक अंशविशेषके ग्रहण करनेको नय कहते हैं । अतएव दोनोंमें सकलदेश और विकलदेशका अन्तर समझना चाहिये ।

उपर्युक्त उपायोंके सिवाय जीवादिक तत्त्वोंको विस्तारसे जाननेके लिये और भी उपाय है । अतएव उनको भी बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—एभिश्च निर्देशादिभिः पद्भिर्नुयुगैर्द्वारैः सर्वेषां भावानां जीवादीनां तत्त्वानां विकल्पशो विस्तरेणाधिगमो भवति । तद्यथा—निर्देशः । को जीव ? औपशमिकादिभावयुक्तो द्रव्यं जीवः ।

सम्यग्दर्शनपरीक्षायाम्—किं सम्यग्दर्शनम् ? द्रव्यम् । सम्यग्दृष्टिजीवोऽरूपी नोस्कन्धो नो ग्रामः । स्वामित्वम्—कस्य सम्यग्दर्शनमित्येतदात्मसंयोगेन परसंयोगेनोभयसंयोगेन चेति वाच्यम् । आत्मसंयोगेन जीवस्य सम्यग्दर्शनम् । परसंयोगेन जीवस्याजीवस्य जीवयो-रजीवयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पाः । उभयसंयोगेन जीवस्य नोजीवस्य जीवयोरजी-वयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पा न सन्ति । शेषाः सन्ति । साधनम्—सम्यग्दर्शनं केन भवति ? निसर्गादधिगमाद्वा भवतीत्युक्तम् । तत्र निसर्गः पूर्वोक्तः । अधिगमस्तु सम्यग्व्या-यामः । उभयमपि तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयेणोपशमेन क्षयोपशमाभ्यामिति । अधिकरणं त्रिविधमात्मसन्निधानेन परसन्निधानेनोभयसन्निधानेनेति वाच्यम् । आत्मसन्निधानम-भ्यन्तरसन्निधानमित्यर्थः । कस्मिन् सम्यग्दर्शनम् ? आत्मसन्निधाने तावत्जीवे सम्यग्दर्शनम् जीवे ज्ञानम्, जीवेचारित्रमित्येतदादि । बाह्यसन्निधाने जीवे सम्यग्दर्शनम् नोजीवे सम्य-ग्दर्शनमिति यथोक्ता विकल्पाः । उभयसन्निधाने चाप्यभूताः सद्भूताश्च यथोक्ता भंग-विकल्पा इति । स्थिति—सम्यग्दर्शनम् कियन्तं कालम् ? सम्यग्दृष्टिर्द्विविधा । सादिः सपर्यवसाना सादिरपर्यवसाना च । सादिसपर्यवसानमेव च सम्यग्दर्शनम् । तज्जघन्ये-नान्तर्मुहुर्तम् उत्कृष्टेन षट्पट्टिः सागरोपमाणि साधिकानि । सम्यग्दृष्टिः सादिरपर्य-वसाना । संयोगः शैलेशीप्राप्तश्च केवली सिद्धश्चेति । विधानम्—हेतुत्रैविध्यात् क्षयादित्रि-

विध सम्यग्दर्शनम् । तदावरणयित्स्य कर्मणो दर्शनमोहस्य च क्षयादिभ्यः । तद्यथा-क्षयस्य
म्यद्दर्शनम्, उपशमसम्यग्दर्शनम्, क्षयोपशमसम्यग्दर्शनामिति । अत्रचोपशमिक्षाधीपश-
मिकक्षायिकाणां परतः परतो विशुद्धिप्रकर्षः ।

किं चान्यत्—

अर्थ—ये निर्देश आदि जो छह अनुयोगों द्वारा हैं, उनमें सभी भावरूप जीवादिक तत्त्वोंका
उनके भेद प्रभेदरूपसे विस्तारके साथ अधिगम हुआ करता है । जैसे कि निर्देशकी अपेक्षा किसीने
पूछा कि—जीव किसको कहते हैं ? तो उसका उत्तर देना, कि जो द्रव्य ओपशमिक आदि
भावोंसे युक्त है, उसको जीव कहते हैं ।

इसी तरह यदि कोई सम्यग्दर्शनके विषयमें निर्देशकी अपेक्षा प्रश्न करे, कि सम्यग्दर्शन
किसको कहते हैं ? उसका स्वरूप क्या है ? तो उसको उत्तर देना, कि वह जीव द्रव्यस्वरूप
है । क्योंकि नोत्कण्ठ और नोग्रामरूप अर्वाची सम्यग्दर्शित जीवरूप ही वह होता है ।

स्वामित्वके विषयमें यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन किसके होता है ? तो उसका उत्तर
तीन अपेक्षाओंसे दिया जा सकता है, आत्मसयोगरी अपेक्षा परसयोगकी अपेक्षा और उभय
सयोगरी अपेक्षा । अर्थात् इन में से किसी भी एक को अथवा तीनों ही प्रकारसे सम्यग्दर्शन
के स्वामित्वका व्याख्यान करना चाहिये । इनमेंसे पहले भेदकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका स्वामी
जीव है—अर्थात् आत्मसयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन जीवके होता है । दूसरे भेद—परसयोगकी
अपेक्षा सम्यग्दर्शन एक जीवके या एक अजीवके अथवा दो जीवोंके या दो अजीवोंके यद्वा
बहुतसे जीवोंके या बहुतसे अजीवोंके हो सकता है, इस प्रकार इस भेदकी अपेक्षा स्वामित्वके
भेदोंको समझना चाहिये । तीसरे भेद—उभयसयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके स्वामित्वमें ये
विरल नहीं होते—एक जीवके, नोजीव—ईषत् जीवके, दो जीवके या दो अजीवके, बहुतसे
जीवोंके या बहुतसे अजीवोंके, उनके सिवाय अथवा विरल्य हो सकते हैं ।

मौल्यनकी अपेक्षासे यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन किसके द्वारा होता है ? उसकी
उत्पत्ति का कारण क्या है ? तो उसका उत्तर यह है, कि सम्यग्दर्शन निःसर्ग और अधिगम
इन दो हेतुओंमें उत्पन्न हुआ करता है । इनमेंसे निःसर्ग का स्वरूप पहले बना चुके है । और
अधिगम का अभिप्राय यहाँपर सम्यग्यायाम समझना चाहिये । अर्थात् ऐसी शुभ क्रियाएँ करना,
कि निःसर्गके निमित्तसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हो सके । निःसर्ग तथा अधिगम इस तरह दोनों
ही प्रकारका सम्यग्दर्शन अपने अपने आचरण कर्मसे क्षयमें अथवा उपशममें यद्वा क्षयोपशममें
हुआ करता है । अधिचरण तीन प्रकारका माना है—आत्मसंनिधानकी अपेक्षा, परमनिःसर्गकी

१-अननके उक्तार्थोंसे अर्थ ही बनता है । २-एक ही क्षण में सम्यग्दर्शन होना । ३-निःसर्ग निमित्त । ४-अधिगम । ५-अधिगम । ६-अधिगम । ७-अधिगम । ८-अधिगम । ९-अधिगम । १०-अधिगम । ११-अधिगम । १२-अधिगम । १३-अधिगम । १४-अधिगम । १५-अधिगम । १६-अधिगम । १७-अधिगम । १८-अधिगम । १९-अधिगम । २०-अधिगम । २१-अधिगम । २२-अधिगम । २३-अधिगम । २४-अधिगम । २५-अधिगम । २६-अधिगम । २७-अधिगम । २८-अधिगम । २९-अधिगम । ३०-अधिगम । ३१-अधिगम । ३२-अधिगम । ३३-अधिगम । ३४-अधिगम । ३५-अधिगम । ३६-अधिगम । ३७-अधिगम । ३८-अधिगम । ३९-अधिगम । ४०-अधिगम । ४१-अधिगम । ४२-अधिगम । ४३-अधिगम । ४४-अधिगम । ४५-अधिगम । ४६-अधिगम । ४७-अधिगम । ४८-अधिगम । ४९-अधिगम । ५०-अधिगम । ५१-अधिगम । ५२-अधिगम । ५३-अधिगम । ५४-अधिगम । ५५-अधिगम । ५६-अधिगम । ५७-अधिगम । ५८-अधिगम । ५९-अधिगम । ६०-अधिगम । ६१-अधिगम । ६२-अधिगम । ६३-अधिगम । ६४-अधिगम । ६५-अधिगम । ६६-अधिगम । ६७-अधिगम । ६८-अधिगम । ६९-अधिगम । ७०-अधिगम । ७१-अधिगम । ७२-अधिगम । ७३-अधिगम । ७४-अधिगम । ७५-अधिगम । ७६-अधिगम । ७७-अधिगम । ७८-अधिगम । ७९-अधिगम । ८०-अधिगम । ८१-अधिगम । ८२-अधिगम । ८३-अधिगम । ८४-अधिगम । ८५-अधिगम । ८६-अधिगम । ८७-अधिगम । ८८-अधिगम । ८९-अधिगम । ९०-अधिगम । ९१-अधिगम । ९२-अधिगम । ९३-अधिगम । ९४-अधिगम । ९५-अधिगम । ९६-अधिगम । ९७-अधिगम । ९८-अधिगम । ९९-अधिगम । १००-अधिगम ।

अपेक्षा, और उभयसन्निधानकी अपेक्षा । आत्मसन्निधानका अभिप्राय अभ्यन्तरसन्निधान और परसन्निधानका अभिप्राय बाह्यसन्निधान है । बाह्य और अभ्यन्तर दोनों सन्निधानोंके मिश्रणको उभयसन्निधान कहते हैं । अतएव यदि कोई अधिकरणकी अपेक्षासे प्रश्न करे, कि सम्यग्दर्शन कहाँ रहता है, तो उसका उत्तर इन तीन सन्निधानोंकी अपेक्षामें दिया जा सकता है । आत्मसन्निधानकी अपेक्षा कहना चाहिये, कि जीवमें सम्यग्दर्शन रहता है । इसी तरह ज्ञान और चारित्र आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये । जैसे कि जीवमें ज्ञान है, अथवा जीवमें चारित्र है, इत्यादि । बाह्य सन्निधानकी अपेक्षा जीवमें सम्यग्दर्शन नोजीवमें सम्यग्दर्शन, इन विकल्पोंको पहले कहे अनसार आगममें कहे हुए अनुसार समझ लेना चाहिये । इसी तरह उभयसन्निधानकी अपेक्षासे भी अमृत और सद्भूतरूप भक्तोंके विकल्प आगमके अनुसार समझ लेने चाहिये । स्थितिका अर्थ कालप्रमाण है । अर्थात् सम्यग्दर्शन कितने काल तक रहता है, इस बातको स्थिति अनुयोगके द्वारा जानना चाहिये । सम्यग्दृष्टिके दो भेद हैं—एक सादिसान और दूसरा सादिअनन्त । सम्यग्दर्शन सादि और सांत ही हुआ करता है । उसका जयन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक छयासठ सार्गार प्रमाण है, सम्यग्दृष्टि सादि होकर अनन्त होते हैं । तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली अरिहंत भगवान्, शीलै—त्रयचर्यकी स्वामिताको प्राप्त चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान्, और संसारातीत सिद्धपरमेष्ठी ये सादि अनन्त सम्यग्दृष्टि हैं । विधान नाम भेदोंका है । सम्यग्दर्शन हेतुभेदकी अपेक्षासे तीन प्रकारका कहा जा सकता है । क्योंकि वह सम्यग्दर्शनको आवृत करनेवाले दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे अथवा उपशमसे यद्वा क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ करता है । अतएव सम्यग्दर्शन भी तीन प्रकारका समझना चाहिये—क्षयसम्यग्दर्शन उपशमसम्यग्दर्शन और क्षयोपशमसम्यग्दर्शन । प्रतिपत्ती दर्शनमोहनीय कर्म और चार अनन्तानुबन्धी कपाय इनका क्षय होनेपर जो सम्यग्दर्शन प्रकट हो, उसको क्षय सम्यग्दर्शन अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । और जो सम्यग्दर्शन इन कर्मोंके उपशान्त होनेपर उद्भूत हो, उसको उपशमसम्यग्दर्शन अथवा औपशमिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । तथा इन कर्मोंका क्षय और उपशम दोनों होनेपर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो, उसको क्षयोपशम अथवा क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । इनमें विशेषता यह है कि औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक इनकी विशुद्धि क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक अधिक हुआ करती है ।

१-उपमामानका एक भेद है, इसका स्वरूप गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है । २-“ सीलेमि संपत्तो गिरुद्ध-
गिस्मेसआमवो जीवो । कम्मरयविष्णुको गयजोवो केवलो होटी ॥६५॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड) इस कथनके अनुसार अयोगकेवलीको शैलेगी प्राप्त समझना चाहिये । क्योंकि शीलके अठारह हजार भेदोंकी पूर्णता यहाँ पर होती है । ३-दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार औपशमिक और क्षायिकसम्यग्दर्शनकी अपेक्षा क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनकी विशुद्धि कम हुआ करती है । क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमें प्रतिपत्ती कर्मोंसे सम्यक्त्व नामकी देशज्जाती प्रकृतिका उदय भी रहा करता है, जिसके निमित्तसे उसमें चल मलिन और अगाढ़ दोष उत्पन्न हुआ करते हैं । औपशमिक और क्षायिकमें उसका उदय नहीं रहता, अतएव दोष भी उत्पन्न नहीं होते । तथा निर्मलत्ताकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दर्शन समान हैं ।

अर्थात् औपशमिकसे क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिकसे क्षायिककी विशुद्धि-निर्मलता अधिक हुआ करती है ।

भानार्थ—जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप विस्तृत रूपसे जाननेके लिये ये निर्देशादिक छह अनुयोगद्वार बताये हैं । अतएव यद्यपि यहाँपर केवल सम्यग्दर्शन की अपेक्षा लेकर ही ये घटित करके बताये है, परन्तु इनमें सभी विषयोंमें आगमके अनुसार घटित कर लेना चाहिये ।

अनेक मतवालोंने वस्तुका स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारसे माना है, कोई वस्तुको शून्यरूप मानते है, कोई धर्मरहित मानते है, कोई नित्य मानते हैं, कोई अनित्य मानते है, कोई विज्ञानरूप मानते हैं, कोई ब्रह्मरूप मानते है, और कोई शब्दरूप ही मानते है, इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ प्रचलित है, जिनसे वस्तुके वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं होता, अतएव उसके बतानेकी आवश्यकता है । यही पहले अनुयोग-निर्देशका कार्य है ।

किसी किसी का कहना है, कि वस्तुमें सम्बन्धकी कल्पना करना सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि सम्बन्ध दो वस्तुओंमें हुआ करता है । तो यदि शशविषाण और अश्वविषाणकी तरह वह दो असिद्ध वस्तुओंका माना जायगा, तो सर्वथा अयुक्त है, और यदि बन्ध्या तथा उसके पुत्रकी तरह एक सिद्ध और एक असिद्ध वस्तुका वह माना जायगा, तो वह भी बन नहीं सकता । इसी प्रकार यदि दो सिद्ध वस्तुओंका सम्बन्ध माना जायगा तो वह भी अयुक्त ही है । क्योंकि सम्बन्ध परतन्त्रताकी अपेक्षा रखता है, और सभी वस्तुएँ अपने अपने स्वरूपमें स्वतन्त्र हैं । यदि वस्तुस्वरूप परतन्त्र माना जायगा, तो अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित होंगी । इत्यादि । तो यह कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि वस्तुके अन्दर कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद स्याद्वावसिद्धान्तके द्वारा सुसिद्ध है, और इसी लिये स्वस्वामी आदिके सम्बन्ध भी सुगट ही है । इसके बिना वस्तुका स्वरूप भी स्थिर नहीं रह सकता । अतएव इस तरहके सम्बन्धोंका और उनके द्वारा वस्तुका बोध कराना दूसरे अनुयोग-स्वामित्वका कार्य है ।

कोई वादी कह सकता है, कि वस्तुका स्वरूप स्वयं ही सिद्ध है । क्योंकि सत्का विनाश नहीं हो सकता, और असत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि वस्तुको परतन्त्र सिद्ध माना जायगा तो सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी । अतएव जब वस्तु स्वयंसिद्ध ही है तो उसकी उत्पत्तिके निमित्तोंको बतानेकी क्या आवश्यकता है ? तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य है । यदि वस्तुको सर्वथा नित्य ही माना जायगा, तो सत्कारके सम्पूर्ण व्यवहारोंका लोप हो जायगा, और सत्कारमोक्षका भेद तथा मोक्षप्राप्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ ही ठहरेगा । अतएव वस्तुका स्वरूप कथञ्चित् अनित्य भी है । और इसीलिये उसकी पर्यायोंके कारणोंको बताना भी आवश्यक है । कौनसी कौनसी पर्याय जिन जिन कारणोंसे उत्पन्न होती है, यह बताना ही तीसरे अनुयोग-साधनका प्रयोजन है ।

इसी प्रकार जो पदार्थोंको आधागवेय भावमे सर्वथा रहित मानने हैं, उनका कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, इस बातको बनानेके लिये ही अधिकरण अनुयोगका उल्लेख किया है। यद्यपि निश्चयनयसे कोई भी पदार्थ न किमीका आवार है, और न किमीका अपेक्ष है। आकाशके समान सभी पदार्थ स्वप्रतिष्ठ ही हैं। परन्तु सर्वथा ऐसा ही नहीं है। क्योंकि द्रव्यगुण आदिका भी आधागवेयभाव प्रमाणमे निष्ठ है। अतएव पदार्थोंके परिमाणवृत्त अल्प-बहुत्व अथवा व्याप्यव्यापक भावका बनाना आवश्यक है, और यह बनाना ही चाँधे अनुयोग-अधिकरणका प्रयोजन है।

कोई कोई मतवाले पदार्थको क्षणनद्वर मानने हैं, और दुर्मात्रिये के उसकी स्थितिको वस्तुभूत नहीं मानने। परन्तु सर्वथा ऐसा माननेमे पदार्थोंके निरन्तर नाशका प्रसङ्ग आता है। और पुण्य पापका अनुष्ठान भी व्यर्थ ही रहता है। अतएव यह बनानेकी आवश्यकता है, कि जब पदार्थ कथंचिन् अनित्य है और कथंचिन् नित्य है, तो उसकी अनित्यताके कालका प्रमाण कितना है। और इसी लिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्षणमात्रका कालप्रमाण तथा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अनेक क्षणका उसका काल प्रमाण है, यह बनाना ही पाँचवें अनुयोग-स्थितिका प्रयोजन है।

मन्पूर्णा मद्भूत तत्त्व एकरूप ही है। उसके आकार या विशेष भेद वास्तविक नहीं हैं। ऐसा किसी किसी का कहना है, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तुके नाना आकारोंके बिना एकरूपता भी बन नहीं सकती। मन्पूर्णा पदार्थोंको एकरूप कहना ही अनेक भेदोंको मिट्ट करता है। अतएव वस्तुमें भेद कल्पना भी वास्तविक ही है, और इसी लिये नानाभेदरूपसे जीवादिक तत्त्वोंका या सम्यग्दर्शनादिकका अविगम कराना छठे अनुयोग-विवानका युक्ति सिद्ध प्रयोजन समझना चाहिये।

इस प्रकार रत्नत्रयवत् मोक्षमार्ग और उसके विषयभूत जीवादिक तत्त्वोंको सक्षेपमे जाननेके लिये उपायभूत निदंशादिक छह अनुयोगोंका वर्णन किया। जो विस्तारके साथ उनका स्वरूप जानना चाहते हैं, उनके लिये इनके मित्राय मद्रादिक आठ अनुयोगद्वार और भी बताये हैं। अतएव अब उन्हींको बनानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावालपबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भावः, अल्पबहुत्वमित्येतैश्च सद्भूतपदप्ररूपणादिभिरष्टाभिरनुयोगद्वारैः सर्वभावानां विकल्पगो विस्तराधिगमो भवति। कथमित्तिचेदुच्यते—सत् सम्यग्दर्शनं किमस्ति नास्तीति। अस्तीत्युच्यते। कास्तीति चेदुच्यते—अजीवेषु तावन्नास्ति। जीवेषु तु भाज्यम्। तद्यथा—गतीन्द्रियकाययोगकपायवेदलेख्यासम्यक्त्व ज्ञानदर्शनचारित्राहारोपयोगेषु त्रयोदशस्वनुयोद्धारेषु यथासंभव सद्भूतप्ररूपणा कर्तव्या। संख्या—कियत्सम्यग्दर्शनं किं संख्येयमसंख्येयमनन्तामिति, उच्यते,—असंख्येयानि सम्यग्दर्श-

नानि, सम्यग्दृष्ट्यस्त्यनन्ता ॥ क्षेत्र, सम्यग्दर्शन कियितिक्षेत्रे, लोकस्यासग्येयभागे ।
स्पर्शनम् । सम्यग्दर्शनेन किंस्पृष्टम् ? लोकस्यासह्येयभाग, सम्यग्दृष्टिना तु सर्वलोक
इति । अत्राह-सम्यग्दृष्टिसम्यग्दर्शनयो क प्रतिविशेष इति । उच्यते । अपायसद्द
व्यतया सम्यग्दर्शनमयाय आभिनिवोधिकम् । तद्योगात्सम्यग्दर्शनम् । तत्केवलिनो
नास्ति । तस्मान्न केवली सम्यग्दर्शनी सम्यग्दृष्टिस्तु ॥ काल । सम्यग्दर्शन कियन्त काल
मित्यत्रोच्यते । तदेकजीवेन नानाजीवेश्च परीक्ष्यम् तद्यथा-एकजीव प्रति जघन्येनान्त
मुहूर्तमुत्कृष्टेन पदपट्टि सागरोपमाणि साधिकानि । नानाजीवान् प्रति सर्वान्हा ॥ अन्तरम् ।
सम्यग्दर्शनस्य को विरहकाल । एक जीव प्रति जघन्येनान्तमुहूर्तमुत्कृष्टेन उपार्धपुद्गल परि
वर्त । नानाजीवान् प्रति नास्त्यन्तरम् ॥ भाव । सम्यग्दर्शनमोपनिष्ठादीना भावानां कतमो
भाव ? उच्यते । ओद्दयिकपारणामिकपर्जं त्रिपुभावेपु भवति । अल्पब्रह्मत्वम् । अत्राह-सम्य
ग्दर्शनानां त्रिपु भावेपु वर्तमानाना किं तुल्यसहस्रत्यमाहोत्विदल्पब्रह्मत्वमस्तीति । उच्यते ।
मर्वस्तोकमौपशमिकम् । तत क्षायिकमसरयेयगुणम् । ततोऽपि क्षायोपशमिकमसत्येयगु
णम् । सम्यग्दृष्ट्यस्त्यनन्तगुणा इति । एव सर्वमाधाना नामादिभिर्न्यास कृत्वा प्रमाणा
विभिरधिगम कार्य ॥

उक्तं सम्यग्दर्शनम् । ज्ञानं वक्ष्याम ।

अर्थ—सत्, सरया, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, और अल्पगुह्य इन आठ अनुयोगोंके द्वारा भी जीवादिक तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकका अधिगम हुआ करता है। ये सत् सरया आदि पदोंकी प्ररूपणा आदिक आठ अनुयोग द्वार ऐसे हैं, कि जिनके द्वारा जीवादिक सभी पदार्थोंके भेदोंका क्रमसे विस्तारके साथ अधिगम हुआ करता है। मो किम तरहसे होता है, यही बात यहाँपर बताते हैं और उसके लिये आठोंमेंसे सत्रसे पहली सत्प्ररूपणाको सम्यग्दर्शनना आश्रय लेकर यहाँ दिखते हैं।—यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन है या नहीं ? तो इस सामान्य प्रश्नका उत्तर भी सामान्यसे यही हो सकता है, कि हाँ, परन्तु उसमें भी यदि कोई विशेषरूपसे प्रदन करे, कि वह सम्यग्दर्शन कहाँ कहाँपर है, तो उसका उत्तर भी विशेषरूपसे ही होगा, और वह इस प्रकार है, कि सम्यग्दर्शन अजीव द्रव्यम तो नहीं ही होता, जीवद्रव्यमें ही होता। परन्तु जीवद्रव्यमें भी सत्रमें नहीं होता, तिसीमें होता है तिसीमें नहीं होता, किस किस में होता है, इस बातको भी विशेषरूपसे जाननेके लिये गति इन्द्रिय काय योग कषाय वेद लेदया सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन चरित्र आहार और उपयोग इन तेरह अनुयोगानांमें आगमानसार यथासंभव सत्प्ररूपणा घटित करलेनी चाहिये।

क्रमानुसार सत्त्या प्ररूपणाको कहते हैं—सम्यग्दर्शन कितने हैं, सत्त्यात ह असम्यान् हैं, या अनन्त हैं ? इसका उत्तर इस प्रकार है, कि सम्यग्दर्शन असम्यात ह, परन्तु सम्यग्दृष्टि अनन्त है ।

१- इनसे जीवगतत सया मागन भी बरने है । इदगवर गिद्धान्मे दान नैह भद मान नैगाते
इन्द्रिय काय याग वेद कयाय ज्ञान गवन दान । श्रेया भव्यन् सम्यक्त्वं सदा नीर आहार ।

क्षेत्रप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने क्षेत्र में रहता है ? इसका उत्तर इतना ही समझना चाहिये, कि लोकके असंख्यातवें भागमें, । अर्थात् असंख्यात प्रदेशरूप तीनसे तेतालीस (३४३) राजू प्रमाण लोकमें असंख्यातका भाग देनेसे जितने प्रदेश लब्ध आवें, उतने ही लोकके प्रदेशोंमें सम्यग्दर्शन पाया जा सकता है ।

स्पर्शनप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने स्थानका स्पर्श करता है ? उत्तर—सम्यग्दर्शन तो लोकके असंख्यातवें भागका ही स्पर्श किया करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण लोकका स्पर्श किया करते हैं । यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दर्शन इनमें क्या अन्तर है ? इसका उत्तर—दोनोंमें अपाय और सद्व्यवस्थाकी अपेक्षासे अन्तर है । सम्यग्दर्शन अपाय अभिनिबोधिकरूप है, और सम्यग्दृष्टि सद्व्यवस्था रूप है । अर्थात् अपाय नाम छूटनेका है, सो सम्यग्दर्शनमें इसका सम्यन्ध पाया जाता है—सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर छूट जाता है, या छूट सकता है । परन्तु सम्यग्दृष्टिमें यह बात नहीं है । केवली सद्व्यवस्था रूप है, अतएव उनको सम्यग्दृष्टि कह सकते हैं सम्यग्दर्शनी नहीं कह सकते^१ । क्योंकि उनमें अपायका योग नहीं पाया जाता ।

कालप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने कालतक रहता है ? इसका उत्तर इस प्रकार है—कालकी परीक्षा या प्ररूपणा दो प्रकारसे हो सकती है, एक तो एक जीवकी अपेक्षा दूसरी नाना जीवोंकी अपेक्षा । एक जीवकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, और उत्कृष्ट काल छ्यासठ सागरसे कुछ अधिक है । अर्थात् किसी एक जीवके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर कमसे कम अन्तर्मुहूर्त तक अवश्य रहा करता है । उसके बाद वह छूट सकता है, और ज्यादासे ज्यादा वह कुछ अधिक छ्यासठ सागर तक रह सकता है, उसके बाद अवश्य छूट जाता है । नाना जीवोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण काल है । अर्थात् कोई भी समय ऐसा न था न है और न होगा, कि जब किसी भी जीवके सम्यग्दर्शन न रहा हो या न पाया जाय ।

अन्तरप्ररूपणा—सम्यग्दर्शनका विरहकाल कितना है ? उत्तर—एक जीवकी अपेक्षा

१—लोक यह भी उपमाना संख्याका भेद है । क्योंकि उपमानाकं आठ भेद हैं पत्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतराङ्गुल, घनाङ्गुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और लोक । इनका स्वरूप आगे लिखेंगे । जगच्छ्रेणीके सातवें भागको राजू कहते हैं । २—असंख्यातके भी असंख्यात भेद हैं ।—वर्तमान कालके आधारको क्षेत्र और तीनों कालके आधारको स्पर्शन कहते हैं । ३—दिगम्बर सिद्धान्तमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टिमें इस तरहका अन्तर नहीं माना है । क्योंकि गुण गुणीको छोड़कर नहीं रह सकता । अतएव सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, वह जिनके पाया जाय, उनको सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्दर्शनी समझना चाहिये । इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टिका भेद नहीं कहा जा सकता । हाँ सम्यग्दृष्टि जीव दो प्रकारके हुवा करते हैं—संसारी और मुक्त । संसारी जीवका सम्यग्दर्शन सादिसात—अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ अधिक छ्यासठ सागरतक होता है, और मुक्त जीवका सादिवनन्त होता है ।

जगन्मन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परिवर्तन है । किन्तु नाना जीवोंकी अपेक्षासे अन्तर-काल होता ही नहीं है । अर्थात् जब नाना जीवोंकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शन सदा ही रहा करता है, तो उसका विरहकाल कभी भी नहीं रह सकता, यह बात स्पष्टतया सिद्ध है । हाँ एक जीवकी अपेक्षा अन्तर पाया जा सकता है, क्योंकि वह उत्पन्न होकर छूट भी जाता है । उत्पन्न होकर छूट जाय, और फिर वही उत्पन्न हो, उसके मध्यमें जितना काल लगता है उसको विरहकाल कहते हैं । एक जीवके सम्यग्दर्शनका विरहकाल कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और ज्यादा से ज्यादा अर्धपुद्गलपरिवर्तन है ।

भाजप्ररूपणा—औपशमिनादिके भावोंमेंसे सम्यग्दर्शनको कोनसा भाव समझना चाहिये ? इसका उत्तर यह है, कि औद्यमिक और पारणामिक इन दो भावोंको छोड़कर बाकीके तीनों ही भावोंमें सम्यग्दर्शन रहा करता है । अर्थात् सम्यग्दर्शन कहीं औपशमिक कहीं क्षायिक और कहीं क्षायोपशमिक इस तरह तीनों ही भावरूप पाया जा सकता है ।

अल्प बहुत्व प्ररूपणा—औपशमिनादि तीन प्रकारके भावोंमें रहनेवाले तीनों ही सम्यग्दर्शनोंकी सख्या समान है, अथवा उसमें कुछ न्यूनाधिकता है ? उत्तर—तीनोंमेंसे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी सख्या सबसे कम है । उससे असंख्यातगुणी क्षायिकसम्यग्दर्शनकी सख्या है, और उससे भी असंख्यातगुणी क्षायोपशमिक की है । परन्तु सम्यग्दृष्टियोंकी सख्या अनन्तगुणी है ।

इस प्रकार अनुयोगद्वारोंका स्वरूप बताया । सम्यग्दर्शनादिक तथा उसके विषयभूत जीवादिक सभी पदार्थोंका नाम स्थापना आदिके द्वारा विधिपूर्वक व्यवहार करके प्रमाण नय आदि उपर्युक्त अनुयोगोंके द्वारा अधिगम प्राप्त करना चाहिये । क्योंकि इनके द्वारा निश्चित तत्त्वार्थोंका तथाभूत श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका प्रकरण समाप्त करके क्रमानुसार ज्ञानका वर्णन करते हैं ।—

सूत्र—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अविज्ञान, मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञानमित्येतन्मूल विधानतः पञ्चविधं ज्ञानम् । प्रमेयस्त्वस्य पुरस्ताद्वक्ष्यन्ते ॥

अर्थ—मूत्र भेदोंकी अपेक्षासे ज्ञान पाँच प्रकारका है—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अविज्ञान मन पर्ययज्ञान और वेदज्ञान । इनके उत्तरभेदोंका वर्णन आगे चलकर करेंगे ।

१—धर्मात्मै अनादिशस्त्रे औरतः जो नाना गतिधर्मोंपरिचरणा हो रहा है, उसीको परिचरन करने है । इन्द्र पौत्र भेद है—इन्द्र क्षत्र काल भद्र और भाव । इनका स्वप्न और इन्द्र के कालाद्य प्रमाण आगे उद्धर किया । इन्द्रो १७३ स्वप्नरिवनने कालो आधि कालो अधुनापरिवर्तन एवमना चाहिये । २—औपशमिक इन्द्रो १७३ औपशमिक और पारणामिक ।

भाषार्थ—बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों निमित्तोके मिलनेपर चेतना गुणका जो साकार परिणमन होता है, उसको ज्ञान कहते हैं। सामान्यसे इसके पाँच भेद हैं। पाँचोंके स्वरूप विषय और कारण भिन्न भिन्न हैं। इनका विशेष खुलासा आगे चलकर क्रमसे लिखेंगे।

पाँचों ही प्रकारके ज्ञान दो भागोंमें विभक्त हैं—एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। तथा ये दोनों ही भेद प्रमाण हैं। इसी बातको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

भाष्यम्—तदेतत्पञ्चाविधमपि ज्ञानं द्वे प्रमाणे भवतः परोक्षं प्रत्यक्षं च ।

अर्थ—पूर्वोक्त पाँच प्रकारका ज्ञान प्रमाण है, और उसके दो भेद हैं, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष ।

भाषार्थ—जिसके द्वारा वस्तुस्वरूपका परिच्छेदन हो, उसको प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण अनेक सिद्धान्तवालोंने भिन्न भिन्न प्रकारका माना है। कोई सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं। कोई निर्विकल्पदर्शनको, कोई कारकसाकल्यको और कोई, वेदको ही प्रमाण मानते हैं। इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएं हैं, जो कि युक्तियुक्त या वास्तविक न होनेके कारण प्रमाणके प्रयोजनको सिद्ध करनेमें असमर्थ हैं। अतएव आचार्योंने यहाँपर प्रमाणका निर्दोष लक्षण बताया है, कि उपर्युक्त सन्ध्याज्ञानको ही प्रमाण समझना चाहिये। प्रमाणके भेद भी भिन्न भिन्न मतवालोंने भिन्न भिन्न प्रकारसे माने हैं। कोई एक प्रत्यक्षको ही मानते हैं, तो कोई प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो भेद मानते हैं, कोई प्रत्यक्ष अनुमान उपमान ऐसे तीन, तो कोई प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम ऐसे चार भेद मानते हैं, कोई इन्हीं चारको अर्थापत्तिके साथ करके पाँच और कोई अभावको भी जोड़कर छह प्रमाण मानते हैं। इत्यादि प्रमाणके भेदोंके विषयमें भी अनेक कल्पनाएं हैं, जो कि अव्याप्ति आदि दूषणोंसे युक्त होनेके कारण अवास्तविक है। अतएव आचार्योंने यहाँपर प्रमाणके दो भेद गिनाये हैं, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष जो कि सर्वथा निर्दोष है, और इसी लिये इष्ट अर्थके साधक है, तथा इन्हींमें प्रमाणके सम्पूर्ण भेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

क्रमानुसार पहले परोक्षका स्वरूप और उसके भेद बताते हैं:—

सूत्र—आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आद्यौ भवमाद्यम् । आद्ये सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये शास्ति । तदेव भाद्ये मतिज्ञानश्रुतज्ञाने परोक्षं प्रमाणं भवतः । कुतः ? निमित्तापेक्षत्वात् । अपायसद्भव्यतया मतिज्ञानम् । तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति वक्ष्यते । तत्पूर्वकत्वात्परोपदेगजत्वाच्च श्रुतज्ञानम् ।

अर्थ—जो आदिमें हो उसको आद्य कहते हैं। यहाँपर आद्य ऐसा द्विवचनका प्रयोग किया है, अतएव “ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ” इस सूत्रके पाठ क्रमके प्रामाणा-

नुसार आन्तिके दो परोक्ष प्रमाण समझने चाहिये, ऐसी आचार्यकी आज्ञा है । इस प्रकारसे आन्तिके दो ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं, यह बात सिद्ध होती है । इनको परोक्ष प्रमाण क्यों कहते हैं, तो इसका उत्तर यह है, कि ये दोनों ही ज्ञान निमित्तकी अपेक्षा रखते हैं । मतिज्ञान अपायसद्द्रव्यतया परोक्ष है । क्योंकि आगे चलकर ऐसा सूत्र भी कहेंगे कि “ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ” अर्थात् आत्मासे भिन्न स्पर्शनादिक पाँचों इन्द्रियों तथा अनिन्द्रिय-मनके निमित्तसे मतिज्ञान उत्पन्न होता है, अतएव वह अपायसद्द्रव्यरूप है और इसी त्रिये परोक्ष भी है । क्योंकि निमित्त नित्य नहीं है । श्रुतज्ञान भी परोक्ष है । क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है, और दूसरेके उपदेशसे उत्पन्न होता है ।

भावार्थ—जिस ज्ञानके उत्पन्न होनेमें आत्मासे भिन्न पर वस्तुकी अपेक्षा हो, उसको परोक्ष कहते हैं । मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें इन्द्रिय और मन जो कि आत्मासे भिन्न पुद्गलरूप हैं, निमित्त हुआ करते हैं, अतएव इनको परोक्ष कहते हैं । विशेषता यह है, कि इनमेंसे मतिज्ञानमें तो इन्द्रिय और मन दोनों ही निमित्त पड़ते हैं, परन्तु श्रुतज्ञानमें केवल मन ही निमित्त पड़ता है । किन्तु वह मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, अतएव उपचारसे उसमें इन्द्रियों भी निमित्त पड़ती हैं । जैसे कि परोपदेशके सुननेमें श्रोत्रइन्द्रिय निमित्त है । इस सुननेको ही मतिज्ञान कहते हैं । सुने हुए शब्दके विषयमें अथवा उसका अनुष्ठान देखर अर्थान्तरके विषयमें विचार करनेको श्रुतज्ञान कहते हैं । तो इसमें मुरयतया बाह्य निमित्त मन ही है । परन्तु उपचारसे श्रोत्रेन्द्रिय भी निमित्त कहा जा सकता है । क्योंकि बिना सुने विचार नहीं हो सकता । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

प्रत्यक्षका स्वरूप और उसके भेद बतानेको सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

भाष्यम्—मतिश्रुताभ्यां यदन्यत् त्रिविधं ज्ञान तत्प्रत्यक्ष प्रमाण भवति । कुतः ? अतीन्द्रियत्वात् । प्रमीयन्तेऽथास्तीरिति प्रमाणानि । अत्राह—इह अग्रधारितं द्वे पक्ष प्रमाणे प्रत्यक्ष परोक्षे इति । अनुमानोपमानागमार्थोपत्तिसम्भवाभावात्तत्र च प्रमाणानीति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदिति । अत्रोच्यते सर्वोप्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूता निन्द्रियाद्यसन्निकृपनिमित्तत्वात् । किं गान्यत्—अप्रमाणान्येव वा । कुतः ? मिथ्यादृष्टानपरिग्रहाद्विपरीतोपदेशाच्च । मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुताद्यधो नित्यतमज्ञानमेवेति यद्व्यते । नयज्ञानान्तरेण तु यथा मतिश्रुतविकल्पजाति भवति तथा परमादृष्ट्याम् ।

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको छोड़कर बाकिने अथवा मन पर्यन्त और केवल ये तीन प्रकारके जो ज्ञान हैं, वे प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । क्योंकि ये अनिन्द्रिय हैं । जिनके द्वारा पदार्थोंको मजे प्रकारसे जाना जाय, उनको प्रमाण कहते हैं । शब्द—यहाँपर प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण बताये हैं, परन्तु कोई अनुमान उपमान आगम अर्थापत्ति और अपासके भी प्रमाण मानते हैं, तो यह किम तरहमे जाना जाय ? उत्तर—सबमे परन्तु बात तो यह है, कि ये सभी

प्रमाण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि ये इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षका निमित्त पाकर ही उत्पन्न होनेवाले हैं । दूसरी बात यह है, कि ये वस्तुतः प्रमाण ही नहीं हैं । क्योंकि ये मिथ्यादर्शनके सहचारी हैं, तथा विपरीत उपदेशसे उत्पन्न होनेवाले और विपरीत ही उपदेशको देनेवाले हैं । मिथ्यादृष्टिके जो मति श्रुत या अवाधिज्ञान होता है, वह नियमसे अप्रमाण ही होता है, यह बात आगे चलकर कहेंगे भी । परन्तु समीचीन नयवादके द्वारा मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके जो जो और जिस जिस प्रकारसे भेद होते हैं, उनको भी आगे चलकर बतावेगे ।

भावार्थ—आत्माके सिवाय पर पदार्थ इन्द्रिय और मनकी सहायताकी जिसमें अपेक्षा नहीं है, उस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, और इसीलिये इसका नाम अतीन्द्रिय भी है । बहुतेसे लोग ऐन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय ज्ञानको परोक्ष कहते हैं, परन्तु यह बात ठीक नहीं है । क्योंकि सर्वज्ञ परमात्माके प्रत्यक्ष ज्ञान ही माना है, और यदि वह इन्द्रियजन्य माना जायगा, तो उसकी सर्वज्ञता स्थिर नहीं रह सकेगी, क्योंकि इन्द्रियोंका विषय आदि अल्प और नियत है । अतएव अक्ष नाम आत्माका है, जो ज्ञान उसीकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न हो, उसको प्रत्यक्ष और जो पर-अर्थात् आत्मासे भिन्न इन्द्रियानिन्द्रियकी सहायतासे हो उसको परोक्ष ज्ञान समझना चाहिये ।

प्रत्यक्ष ज्ञानके सामान्यसे दो भेद हैं—एक देशप्रत्यक्ष दूसरा सकलप्रत्यक्ष । अवधि और मनःपर्ययको देशप्रत्यक्ष कहते हैं । क्योंकि इनका विषय नियत और अपरिपूर्ण है । केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है । क्योंकि वह सम्पूर्ण त्रैकालिक वस्तुओंको और उनकी अनन्तानन्त अवस्थाओंको विषय करनेवाला और नित्य है । इसके सिवाय मतिज्ञानको भी उपचारसे अथवा व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहते हैं । क्योंकि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा उसमें अधिक स्पष्टता रहा करती है । मुख्यरूपसे वह परोक्ष ही है ।

अवधि मनःपर्यय और केवल ये प्रत्यक्षके समीचीन भेद भी प्रमाण ही हैं । यद्यपि अन्य मतवालोंने ऊपर लिखे अनुसार अनुमान उपमान आदिको भी प्रमाण माना है । परन्तु उनका लक्षण अपरिपूर्ण होनेसे युक्तिशून्य और मिथ्यादर्शनादिसे दूषित है । किन्तु समीचीन अनुमानादिकका लक्षण आगे चलकर हम लिखेंगे और बतावेंगे, कि इनमेंसे किस किस का मतिज्ञानादिमेंसे किस किस में किस किस अपेक्षासे अन्तर्भाव होता है, तथा उनके—मतिज्ञानादिके भेद कौन कौन से हैं ।

भाष्यम्—अत्राह, उक्तं भवता मत्यादीनि ज्ञानानि उद्दिश्य तानि विधानतो लक्षणतश्च परस्ताद्विस्तरेण वक्ष्याम इतिः, तदुच्यतामिति । अत्रोच्यतेः—

अर्थ—शका—ऊपर आपने मतिज्ञानादिकका सामान्यसे नाममात्र उल्लेख करके यह कहा था, कि इनके भेद और लक्षणोंको हम आगे चलकर विस्तारके साथ कहेंगे, सो अब उनका वर्णन करना चाहिये । उत्तर—यह बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं । इसमें क्रमानुसार सबसे पहले मतिज्ञानके भेद बताते हैं —

सूत्र—मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

भाष्यम्—मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान, संज्ञाज्ञान, चिन्ताज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—मतिज्ञान स्मृतिज्ञान संज्ञाज्ञान चिन्ताज्ञान और आभिनिबोधिकज्ञान ये पाँचों ही ज्ञान एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भावार्थ—ये मतिज्ञानके ही भेद हैं, क्योंकि मतिज्ञानावरणरूपका क्षयोपशम होनेसे ही होते हैं, अतएव इनको एक ही अर्थका वाचक माना है । वस्तुतः ये भिन्न भिन्न विषयके प्रति पादक हैं, और इसी लिये इनके लक्षण भी भिन्न भिन्न ही हैं । अनुभव स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान ये क्रमसे पाँचोंके अपर नाम हैं । इन्द्रिय अथवा मनके निमित्तसे किसी भी पदार्थका जो आद्यज्ञान होता है, उसको अनुभव अथवा मतिज्ञान कहते हैं । कालान्तरमें उस जाने हुए पदार्थका “ तत्-वह ” इस तरहसे जो याद आना इसको स्मृति कहते हैं । अनुभव और स्मृति इन दोनोंके जोटरूप ज्ञानको संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । साधन और साधनके अविनाशसम्बन्धरूप व्याप्तिसे ज्ञानको चिन्ता अथवा तर्क कहते हैं । और साधनके द्वारा जो साध्यका ज्ञान होता है, उसको अनुमान अथवा अभिनिबोध कहते हैं । इनमेंसे मतिज्ञानमें प्रत्यक्षता और प्रत्यभिज्ञानमें उपमानका तथा अनुमानमें अर्थापत्तिका अन्तर्भाव समझना चाहिये । और इसी प्रकारसे आगम तथा अभावप्रमाणका भी अन्तर्भाव यथा योग्य समझ लेना चाहिये ।

मतिज्ञानका सामान्य लक्षण बताते हैं —

सूत्र—तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—तदेतन्मतिज्ञानं द्विविधं भवति । इन्द्रियनिमित्तमनिन्द्रियनिमित्तं च । तत्रेन्द्रियनिमित्तं स्पर्शानादीनां पञ्चानां स्पर्शादिषु पञ्चस्वेव स्वाविषयेषु । अनिन्द्रियनिमित्तं मनोवृत्तिरोद्योगश्च ।

अर्थ—उपर्युक्त पाँच प्रकारका मतिज्ञान दो तरहका हुआ करता है—एक तो इन्द्रियनिमित्तक दूसरा अनिन्द्रिय निमित्तक । इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ।

१—जो गिद किया जाय या अनुमानका विषय हो, उसको साध्य कहते हैं जैसे पर्यन्त अग्नि । २—साध्यके अविनाशी चिह्नको साधन कहते हैं, जैसे अग्निका साधन धूम ।

इनके विषय भी क्रमसे पाँच हैं—स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द, जैसा कि आगे चर्चका बना-
वेगे । इन पाँचों ही को अपने अपने विषयोंका जो ज्ञान होना है उसको, इन्द्रियनिमित्तक कहते हैं ।
मनकी प्रवृत्तियोंको अथवा विशेष विचारोंको यद्वा समग्ररूप ज्ञानको अनिन्द्रिय निमित्तक कहते हैं ।

इस प्रकार निमित्तभेदसे मतिज्ञानके भेद बताकर स्वरूप अथवा विषयकी अपेक्षासे
भेद बतानेको मूत्र कहते हैं—

सूत्र—अवग्रहेहापायधारणाः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—तदेतन्मतिज्ञानमुभयनिमित्तमप्येकशब्दतुर्विधं भवति । तद्यथा—अवग्रह ईहा-
पायो धारणा चेति । तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियविषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः ।
अवग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणमित्यनर्थान्तरम् । अवगृहीते विषयार्थकदेशाच्छेषानुगमनं
निश्चयविशेषजिज्ञासा ईहा । ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम् ।
अवगृहीते विषये सम्यगस्तम्यगिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोऽपाय । अपायोऽ-
पगमः अपनोदः अपव्याधः अपेतमपगतमपविद्धमपनुत्तमित्यनर्थान्तरम् ।
धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्व मत्यवस्थानमवधारणं च । धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं
निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—ऊपर इन्द्रियनिमित्तक और अनिन्द्रियनिमित्तक इस तरह दो प्रकारका जो मतिज्ञान
बताया है, उसमें प्रत्येकके चार चार भेद हैं ।—अवग्रह ईहा अपाय और धारणा । अपनी
अपनी इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य विषयोंका अव्यक्त रूपसे जो आलोचनात्मक अवधारण—ग्रहण
होता है, उसको अवग्रह कहते हैं । अवग्रह ग्रहण आलोचन और अवधारण ये एक ही
अर्थके वाचक शब्द हैं । अवग्रहके द्वारा जिस पदार्थके एक देशका ग्रहण कर लिया गया
है, उसीके शेष अंशको भी जाननेके लिये जो प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उस पदार्थका
विशेष रूपसे निश्चय करनेके लिये जो जिज्ञासा—चेष्टा विशेष होती है, उसीको ईहा कहते
हैं । ईहा ऊहा तर्क परीक्षा विचारणा और जिज्ञासा ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ।
अवग्रह तथा ईहाके द्वारा जाने हुए पदार्थके विषयमें यह समीचीन है, अथवा
असमीचीन है, इस तरहसे गुणदोषोंका विचार करनेके लिये जो निश्चयरूप ज्ञानकी प्रवृत्ति
होती है, उसको अपाय कहते हैं । अपाय अपगम अपनोद अपव्याध अपेत अपगत
अविद्ध और अपनुत्त ये सभी शब्द एक अर्थके वाचक हैं । धारणा नाम प्रतिपत्तिका
है । अर्थात् अपने योग्य पदार्थका जो बोध हुआ है, उसका अधिक कालतक स्थिर रहना
इसको धारणा कहते हैं । धारणा प्रतिपत्ति अवधारण अवस्थान निश्चय अवगम और अवबोध
ये सब शब्द भी एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भावार्थ—मतिज्ञानके चार भेद हैं—अवग्रह ईहा अपाय और धारणा । इन्द्रिय और
पदार्थका योग्य क्षेत्रमें अवस्थान होनेपर सबसे पहले दर्शन होता है, जोकि निर्विकल्प अथवा

निराकार है । उसके बाद उस पदार्थका ग्रहण होता है, जोकि सर्वत्रापि अपना साकार हुआ करता है, जैसे कि यह मनुष्य है, इत्यादि । इस ज्ञानके बाद उस पदार्थको विशेष रूपसे जाननेके लिये जब यह शक्त हुआ करती है, कि यह मनुष्य तो है, परन्तु दाक्षिणात्य है, अपना आद्रीच्य है * तब उस शक्तको दूर करनेके लिये उससे वर आदिनी तरफ दृष्टि देनेसे यह ज्ञान होता है, कि यह दाक्षिणात्य होना चाहिये । इसीको ईहा कहते हैं । जब उस मनुष्यके निरुद्ध आ जानेपर बातचीतके मुनेसे यह दृढ निश्चय होता है, कि यह दाक्षिणात्य ही है, तब उसको अपाय कहते हैं । परन्तु उसी ज्ञानमें ऐसे सम्भारका हो जाना, कि निमके निमित्तसे वह अधिक कालतक ठहर सके, उस सम्पूर्ण ज्ञानको ही धारणा कहते हैं । इसके होनेसे ही कालान्तरमें उस जाने हुए पदार्थका स्मरण हो सक्ता है ।

ये अग्रहादिक रित्तने प्रसारके पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले हैं, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अवग्रहाद्यश्चत्वारो मतिज्ञानविभागा ण्या ब्रह्मादीनामयाना सेतराणां भवन्त्येकरुदा । सेतराणामिति सप्रतिपक्षाणामित्यर्थः । ब्रह्मगृह्णाति उत्पन्नमयगृह्णाति, वायुविधमयगृह्णाति एकविधमयगृह्णाति क्षिप्रमयगृह्णाति चिरेणायगृह्णाति, अनिश्रितमयगृह्णाति निश्चितमयगृह्णाति, अनुक्तमयगृह्णाति उक्तमयगृह्णाति, ध्रुवमयगृह्णाति अनुपमयगृह्णाति इत्यपमीक्षादीनामपि विधात् ।

अर्थ—बहु बहुविध क्षिप्र अनिश्रित अनुक्त और ध्रुव ये छह और छह सेनर अर्थात् इनसे उत्पदे, अर्थात् बहुता उत्पन्न अल्प, बहुविधता उत्पन्न एकविध, क्षिप्रता उत्पन्न चिरेण, अनिश्रितता उत्पन्न निश्चित, अनुक्तता उत्पन्न उक्त और ध्रुवता उत्पन्न अध्रुव । इस तरहमे बारह प्रकारके अर्थ हैं । मतिज्ञानके अग्रहादिक कार भेद जो बनाये हैं, उनमें से प्रत्येक भेद इन बारहों तरहके अर्थोंसे हुआ करते हैं । अर्थात् अग्रह इन विषयोंकी ओरोंमे बारह प्रकारका है—ब्रह्म अग्रह, अल्पता अग्रह, बहुविधता अग्रह, एकविधता अग्रह, क्षिप्रता अग्रह, चिरेणता अग्रह, अनिश्रितता अग्रह, निश्चितता अग्रह, अनुक्तता अग्रह, उक्तता अग्रह, ध्रुवता अग्रह, अध्रुवता अग्रह । इसी तरहमे ईशान्तिक भी बारह बारह भेद बनाये गोरिये ।

भारार्थ—अग्रहादिक ज्ञानरूप किया है, अतएव उनका कम भी आदय बताना चाहिये । इसीलिये इस सप्रम में बारह प्रकारके कम बतये हैं । एतदन्तरि देने कीक मन्त्रागो वस्तुसे यह करने हैं । और एतदन्तरि ने मन्त्रा मन्त्रों वस्तुओं अल्प

कहते हैं। दोसे अधिक जातिवाली वस्तुओंको बहुविध कहते हैं, और दो तककी जातिवाली वस्तुओंको एकविध अथवा अल्पविध कहते हैं। शीघ्र गतिवाली वस्तुको क्षिप्र और मंद गतिवालीको चिरेण कहते हैं। अप्रकटको अनिश्रित और प्रकटको निश्रित कहते हैं। विना कहीं हुईको अनुक्त और कहीं हुईको उक्त कहते हैं। और तदवस्थको ध्रुव तथा उससे प्रतिकूलको अध्रुव कहते हैं।

बहु आदिक शब्द विशेषणवाची है, अतएव ये विशेषण किसके हैं, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अर्थस्य ॥ १७ ॥

भाष्यम्—अवग्रहादयो मतिज्ञानविकल्पा अर्थस्य भवन्ति ।

अर्थ—अवग्रह आदिक मतिज्ञानके जो भेद बताये हैं, वे अर्थके हुआ करते हैं।

भावार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि ऊपर बहु आदिक जो विशेषण बताये हैं, वे किसी न किसी विशेष्यके तो होंगे ही, और विशेष्य जो होगा, वह पदार्थही होगा, अतएव ये अर्थ—पदार्थके विशेषण हैं, यह बतानेके लिये सूत्र करनेकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है, कि किसी किसी मतवालेने ज्ञानका साक्षात् विषय पदार्थका नहीं माना है; किंतु ज्ञानका साक्षात् विषय विशेषणको ही माना है, और समवाय समवेतसमवाय संयुक्त-समवेतसमवाय आदि सम्बन्धोंके द्वारा पदार्थको विषय माना है। सो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें विशेष्य विशेषण एक साथ ही विषय होते हैं। क्योंकि दोनोंमें कथंचित् अभेद है। एक दूसरेको सर्वथा छोड़कर ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। अतएव विशेषणके साथ साथ विशेष्यरूप पदार्थ भी विषय होता ही है, यह बताना ही इस सूत्रका प्रयोजन है। और इसी लिये यहाँपर यह कहा है, कि मतिज्ञानके अवग्रहादिक भेद अर्थके हुआ करते हैं।

विशेष्यरूप पदार्थ दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक व्यक्त दूसरे अव्यक्त। व्यक्तको अर्थ और अव्यक्तको व्यंजन कहा करते हैं। इस सूत्रमें व्यक्त पदार्थके ही अवग्रहादिक बताये हैं; क्योंकि अव्यक्तके विषयमें कुछ विशेषता है। वह विशेषता क्या है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

भाष्यम्—व्यंजनस्यावग्रह एव भवति नेहादयः। एवं द्विविधोऽवग्रहो व्यंजनस्यार्थस्य च। ईहादयस्त्वर्थस्यैव ॥

अर्थ—व्यंजन पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते, इस तरहसे अवग्रह तो दोनों ही प्रकारके पदार्थका हुआ करता है, व्यंजनका भी और अर्थका भी जिनको कि

क्रमसे व्यञ्जनावग्रह तथा अर्थावग्रह कहते हैं । ईहा आदिक मतिज्ञानके शेष तीन विरल्य अर्थ-
के ही होते हैं, व्यञ्जनके नहीं होते ।

भाष्यार्थ—जिस प्रकार मट्टीके किसी सकोरा आदि वर्तनके ऊपर जल्दी बूढ़ पड़नेसे पहले तो वह व्यक्त नहीं होती, परन्तु पीछे से वह धीरे धीरे कम कम—से पड़ते पड़ते व्यक्त हो जाती है, उसी प्रकार कहीं कहीं कानोंपर पड़ा हुआ शब्द आदिक पदार्थ भी पहले तो अव्यक्त होता है, पीछे व्यक्त हो जाता है । इसी तरहके अव्यक्त पदार्थको व्यञ्जन और व्यक्तको अर्थ कहते हैं । व्यक्तके अवग्रहादि चारों होते हैं, और अव्यक्तका अवग्रह ही होता है ।

इसके सिवाय व्यञ्जनावग्रहमें और भी जो विशेषता है, उसको बतातेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न चक्षुरिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्—चक्षुषा नोऽिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति । चतुर्भिरीन्द्रियै शेषैर्म
यतीत्यर्थः । एतन्मतिज्ञानं द्विविधं चतुर्विधं अष्टाविंशतिविधं अष्टपञ्चशतविधं षट्
त्रिंशद्विंशतिविधं च भवति ।

अर्थ—यह व्यञ्जनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन इनके द्वारा नहीं हुआ करता है ।
मत्त्व यह है, कि वह केवल स्पर्शन रसन घ्राण और श्रोत्र इन बाकीकी चार
इन्द्रियाके द्वारा ही हुआ करता है । इस प्रकारसे इस मतिज्ञानके दो भेद अथवा चार भेद
पक्का अट्ठाईस भेद या एक सौ अड़सठ भेद अथवा तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ।

भाष्यार्थ—चक्षुरिन्द्रिय और मन ये दोनों ही अप्राप्यकारी हैं । अर्थात् ये वस्तुको प्राप्त-
सम्बद्ध न होकर ही ग्रहण करते हैं । अतएव इनके द्वारा व्यक्त पदार्थका ही ग्रहण हो
सकता है, अव्यक्तका नहीं ।

मतिज्ञानके निमित्त कारणकी अपेक्षासे दो भेद हैं—एक इन्द्रियनिमित्तक दूसरा
अनिन्द्रिय निमित्तक । अवग्रह ईहा अपाय और धारणाकी अपेक्षासे चार भेद हैं । तथा ये
चारों भेद पाँच इन्द्रिय और छठे मनसे हुआ करते हैं, अतएव चारको छहसे गुणा करनेपर
२४ अर्थावग्रहादिके भेद होते हैं, और इन्हींमें व्यञ्जनावग्रहके ४ भेद मिलनेसे २८ भेद
होते हैं । क्योंकि व्यञ्जनका एक अवग्रह ही होता है, और वह चार इन्द्रियोंसे ही होता है । इन
अट्ठाईस भेदोंका बहुत बहुतविध सिद्ध अनिश्चित अनुक्त और ध्रुव इन छह भेदोंके साथ गुणा
करनेसे १६८ भेद होते हैं । और यदि इनके उत्प्रे अल्पविध आदि छह भेदोंको भी
साथमें जोड़कर बारहके साथ इन अट्ठाईसका गुणा किया जाय, तो मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस
भेद होते हैं ।

भाष्यम्—अत्राह गृहीमस्तावन्मतिज्ञानम् । अथ श्रुतज्ञानं किमिति । अत्रोच्यते ।

अर्थ—यहाँपर शिष्य प्रश्न करता है, कि आपने मतिज्ञानके स्वरूपका और उसके भेदादिकोंका जो वर्णन किया सो सब हमने समझा । अब निर्देश—क्रमके अनुसार श्रुतज्ञानका वर्णन प्राप्त है, अतएव कहिये कि उसका स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

भाष्यम्—श्रुतज्ञानं मतिज्ञानपूर्वकं भवति । श्रुतमाप्तवचनमागम उपदेश ऐतिह्यमाज्ञायः प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम् । तद्विविधमद्भवाद्यमङ्गप्रविष्टं च । तत्पुनरनेकविधद्वादशविधं च यथासंख्यम् । अद्भवाद्यमनेकविधम्, तद्यथा—सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकं उत्तराध्यायाः दशाः कल्पव्यवहारौ निशीथमृषिभाषितान्येवमादि । अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं, तद्यथा—आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायः व्याख्याप्रज्ञातिः ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनदशाः अन्तकृद्दशाः अनुत्तरौपपादिकदशाः प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिपात इति । अत्राह—मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोः कः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं सांप्रतकालविषयं मतिज्ञानम् । श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम् । उत्पन्नाविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम् । अत्राह—गृहीमो मतिश्रुतयोर्नानात्वम् । अथ श्रुतज्ञानस्य द्विविधमनेकद्वादशविधमिति किं कृतः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—चक्रवृविशेषाद्द्वैविध्यम् । यद्भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्ववृंभिः परमर्षिभिरर्हद्भिस्तत्त्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभाहुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिरुक्तमतिशयवाग्बुद्धिसम्पन्नैर्गणधरैर्दृढं तदङ्गप्रविष्टं । गणधरानन्तर्यादिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मातिशक्तिभिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत् प्रोक्तम् तदङ्गवाद्यमिति । सर्वज्ञप्रणीतत्त्वादानन्त्याच्च ज्ञेयस्य श्रुतज्ञानं मतिज्ञानान्महाविषयम् । तस्य च महाविषयत्वात्तांस्तानर्थानधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमङ्गोपाङ्गनानात्वम् । किंचान्यत्—सुखग्रहणधारणविज्ञानापोहप्रयोगार्थं च । अन्यथा ह्यनिवृद्धमङ्गोपाङ्गशः समुद्रप्रतरणवद्दुरध्ययवसेयं स्यात् । एतेन पूर्वाणि वस्तूनि प्राभूतानि प्राभूतप्राभूतानि अध्ययनान्युद्देशाश्च व्याख्याताः । अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति “द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु” इति । तस्मादेकत्वमेवास्तिवति । अत्रोच्यते—उक्तमेतत् साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयं विशुद्धतरं चेति । किंचान्यत् । मतिज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमात्मनो ह्यस्वभाव्यात्पारिणामिकं, श्रुतज्ञानं तु तत्पूर्वकमातोपदेशाद्भवतीति ॥

अर्थ—श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, श्रुत आप्त-वचन आगम उपदेश ऐतिह्य आम्नाय प्रवचन और जिनवचन ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अद्भवाद्य और अङ्गप्रविष्ट । इनमें अद्भवाद्यके अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्टके बारह भेद हैं । अद्भवाद्यके अनेक भेद कौनसे हैं, सो बताते हैं—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वन्दना प्रतिक्रमण कायव्युत्सर्ग प्रत्याख्यान दशवैकालिक उत्तराध्यायदशा कल्पव्यवहार निशीथ

इत्यादि । इसी प्रकार ऋषियोंके द्वारा कहे हुए और भी अनेक भेद समझ लेने चाहिये । अद्भुत प्रविष्टके बारह भेद कौनसे ह, सो बताते हैं—आचाराद्भुत सूत्रकृताद्भुत स्थानाद्भुत समवायाद्भुत व्याख्या-प्रज्ञासि ज्ञातृधर्मकथा उपासकमध्ययनदशाद्भुत अन्तकृद्दशाद्भुत अनुत्तरौपादिभूतशाद्भुत प्रश्नन्याकरण विपाकसूत्र और दृष्टिपाताद्भुत ।

प्रश्ना—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें क्या विशेषता है ? उत्तर—जो उत्पन्न तो हो चुका है, किन्तु अभीतक नष्ट नहीं हुआ है, ऐसे पदार्थको ग्रहण करनेवाला तो मतिज्ञान है, अर्थात् मतिज्ञान केवल वर्तमानकालवर्ती ही पदार्थको ग्रहण करता है । किन्तु श्रुतज्ञान निमालविषयक है, वह उत्पन्न—वर्तमान और विनष्ट—भूत तथा अनुत्पन्न—मविष्यत् इस तरह तीनों काल सम्बन्धी पदार्थोंको ग्रहण करता है । प्रश्न—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका भेद समझमें आया । परन्तु श्रुतज्ञानके जो भेद बताये हैं, उनमें एकके अनेक भेद और एकके बारह भेद बताये, सो इनमें क्या विशेषता है ? उत्तर—श्रुत ज्ञानके ये दो भेद वक्ताकी विशेषताकी अपेक्षासे हैं । अपने स्वभावके अनन्त प्रवचनकी प्रतिष्ठापना—प्रारम्भ करना ही जिसका फल है, ऐसे परम शुभ तीर्थकर नामकर्मके उदयसे सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमर्षि अरिहन्त भगवान् ने जो कुछ कहा है, और जिसकी उत्तम—अतिशयसे युक्त वचनश्रद्धा तथा बुद्धिश्रद्धासे परिपूर्ण अरिहन्त भगवान् के सातिशय शिष्य गणधर भगवान् के द्वारा रचना हुई है, उसको अद्भुतप्रविष्ट कहते हैं । गणधर भगवान् के अनन्तर होने वाले आचार्योंके द्वारा जिनकी कि वचनकी शक्ति और मतिज्ञानकी शक्ति परम प्रकर्षको प्राप्त हो चुकी है, तथा जिनका आगम—श्रुतज्ञान अत्यन्त विशुद्ध है, काल दोषसे तथा सहनन और आयुकी कमी आदिके दोषसे जिनकी शक्ति अत्यन्त कम होगई है, ऐसे शिष्योंपर अनुग्रह करनेके लिये जिनकी रचना हुई है, उनको अद्भुतवाह्य कहते हैं ।

मतिज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञानका विषय महान् है । क्योंकि उसमें जिन विषयोंका घणन किया गया है, अथवा उसके द्वारा जिन विषयोंका ज्ञान होता है, वे ज्ञेय—प्रमेयरूप विषय अनन्त हैं, तथा उसका प्रणयन—निरूपण सर्वज्ञके द्वारा हुआ है । उसका विषय अति शय महान् है, इसी लिये उसके एक एक अर्थको लेकर अधिकारियोंकी रचना की गई है, और तत्तत् अधिकारियोंके प्रकरणकी समाप्तिकी अपेक्षामें उनके अद्भुत और उपाद्भुतरूपमें नाना भेद हो गये हैं । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि ऐसा होनेमें उन विषयोंका सुव्यवस्थित ग्रहण हो सकता है—उनका निरूपित तत्त्व अच्छी तरह समझमें आसकता है, और उनका धारण भी हो सकता है—याद रखना जा सकता है । तथा उनको जानकर उनके विषयमें मनन अथवा उद्धारण भी किया जा सकता है । और उसके बाद उसका निश्चय भी भेद प्रकार हो सकता है, एक हेतुको हेतु समझकर उससे त्याग करनेरूप तथा उपाधेयको उपाधेय समझकर उससे ग्रहण करनेरूप प्रयोग भी अच्छी तरह किया जा सकता है । यदि अद्भुत और उपाद्भुत

अवधिज्ञानका दूसरा भेद—क्षयोपशमनिमित्तक किनके होता है, और उसमें भी भव कारण है, या नहीं इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—यथोक्तनिमित्तः पङ्क्तिविकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥

भाष्यम्—यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः । तदेतदवधिज्ञानं क्षयोपशमनिमित्तं पङ्क्तिविधं भवति शेषाणाम् । शेषाणामिति नारकदेवेभ्यः शेषाणां तिर्यग्योनिजानां मनुष्याणां च । अवधिज्ञानावरणीयस्य कर्मणः क्षयोपशमाभ्यां भवति पङ्क्तिविधम् । तद्यथा—अनानुगामिकं, आनुगामिकं, हीयमानकं, वर्धमानकं, अनवस्थितम्, अवस्थितमिति । तत्रानानुगामिकं यत्र क्षेत्रे स्थितस्योत्पन्नं ततः प्रच्युतस्य प्रतिपतति प्रश्नादेशपुरूपज्ञानवत् । आनुगामिकं यत्र क्वचिदुत्पन्नं क्षेत्रान्तरगतस्यापि न प्रतिपतति भास्करप्रकाशवत् घटरक्तभाववच्च । हीयमानकं असंख्येयेषु द्वीपेषु समुद्रेषु पृथिवीषु विमानेषु तिर्यगूर्ध्वमधो यदुत्पन्नं क्रमशः सांक्षिप्यमाणं प्रतिपतति आ अङ्गुलासंख्येयभागात् प्रतिपतत्येव वा परिच्छिन्नेन्धनोपादानसंतत्यग्निशिखावत् । वर्धमानकं यदङ्गुलस्यासंख्येयभागादिपूतपन्नं वर्धते आ सर्वलोकात् अधरोत्तरारणिनिर्मथनोत्पन्नोपात्तशुष्कापचीयमानाधीयमानेन्धनराशयश्चिवत् । अनवस्थितं हीयते वर्धते च वर्धते हीयते च प्रतिपतति चोत्पद्यते चेति पुनः पुनरुत्पन्नमिवत् । अवस्थितं यावति क्षेत्रे उत्पन्नं भवति ततो न प्रतिपतत्या केवलप्राप्तेः आ भवक्षयाद्वा जात्यन्तरस्थायि वा भवति लिङ्गवत् ॥

अर्थ—अवधिज्ञानके दूसरे भेदको बतानेके लिये सूत्रमें “ यथोक्तनिमित्तः ” ऐसा शब्द जो दिया है, उससे अभिप्राय क्षयोपशमनिमित्तकका है । यह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकारका होता है, और यह उपर्युक्त भवप्रत्यय अवधिज्ञानके स्वामी जो देव और नारक उनके सिवाय बाकीके दो गतिवाले जीवोंके अर्थात् तिर्यच्चोंके और मनुष्योंके पाया जाता है । अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षासे इस अवधिज्ञानके भी छह भेद हो जाते

नरककी सातों पृथिवियोंके कुल ४९ प्रस्तार—पटल हैं । उनमेंसे पहले नरकके पहले पटलमें अवधिका क्षेत्र एक योजन है, और अंतिम पटलमें करीब साढ़े तीन कोस है । इसी तरह नीचे नीचेकी पृथिवियोंमें आधा आधा कोस कम कम होता गया है, अतः सातवीं पृथिवीमें अवधिका क्षेत्र एक कोस है । यथा—

“ सत्तमखिदिम्भि कांसं कोसस्सद्धं पवड्ढे ताव ।

जाव य पढ्मे णिरथे जोजणमेक्कं हवे पुण्णं ॥ ४२३ ॥ ” (गोम्मटसार—जीवकाण्ड)

देव चार प्रकारके हैं—भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक—कल्पवासी । इनके अवधिका क्षेत्र कमसे कम २५ योजन और अधिकसे अधिक लोकनाड़ी—एक राज् मोटी एक राज् चौड़ी, तथा चौदह राज् ऊंची त्रसनाली है, और देवोंके अवधिका क्षेत्र ऊपर कम किंतु तिर्यक् और नीचे अधिक हुआ करता है । यथा—

“ भवणतियाणमधोधो थोवं तिरियेण होहि बहुगं तु ।

उट्ठेण भवणवासी सुरगिरिसिहरोत्ति पस्संति ॥ ४२८ ॥

सत्त्वं च लोयणालिं पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा ॥ ४३१ ॥ ” (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

१—“ शेषाणाम् ” इतिपाठः पुस्तकान्तरे नास्ति । २—निर्मयनासन्नोपात्तेति पाठान्तरम् ॥

२—“ प्राप्तेरवतिष्ठेते ” इतिपाठान्तरम् । ३—“ वा ” इति पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति । ४—लिङ्गवजात्यन्तरचिन्हितायमवस्थायी वा भवति ” इति वा पाठः ।

हैं। वे उह भेद कौनसे हैं सो बताते हैं,—अनानुगामी, आनुगामी, हीयमानर, वर्धमानर, अनवस्थित और अवस्थित ।

जिस स्थानपर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, उस स्थानपर तो वह काम कर सके और उस स्थानको छोड़कर स्थानान्तरमें चले जानेपर वह टूट जाय—काम न कर सके—अपने विषयको जाननेमें समर्थ या उपयुक्त न हो सके, उस अवधिज्ञानको अनानुगामिक कहते हैं। जैसे कि किसी किसी ज्योतिषी या निमित्तज्ञानी आदि मनुष्योंके वचनके विषयमें देखा जाता है, कि यदि उससे कोई प्रश्न किया जाय, तो वह उसका उत्तर किसी नियत स्थानपर ही दे सकता है, न कि सत्र । इसी तरह हम अवधिज्ञानके विषयमें भी समझना चाहिये। आनुगामिक अवधिज्ञान इसमें उल्टा है। वह जिस जीवसे जिस क्षेत्रमें उत्पन्न होता है, वह जीव यदि क्षेत्रान्तरको चला जाय, तो भी वह छूटता नहीं। उत्पन्न होनेके स्थानमें और स्थानान्तरमें दोनों ही जगह वह अपने योग्य विषयको जाननेका काम कर सकता है। जैसे कि पूर्व दिशामें उत्पन्न होता हुआ सूर्य—प्रकाश पूर्व दिशाके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है, और अन्य दिशाके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। अथवा जिस प्रकार अवा—पाश्चान्तरमें रक्तताको धारण करनेवाला घट अपने स्थानमें—पाश्चान्तरमें जिस प्रकार रक्ततामें युक्त रहा करता है उसी प्रकार स्थानान्तर—तडागात्रमें भी रहा करता है। ऐसा नहीं है कि पाश्चान्तरमें तो वह रक्तताको धारण करे या प्रकाशित करे, परन्तु तडागा—सरोवरपर जानेपर वह वैसे न करे। इसी प्रकार जो अवधिज्ञान स्वस्थान और परस्थान दोनों ही जगह अपने विषयको ग्रहण कर सकता या अपने स्वयंको प्रकाशित कर सकता है, उसको आनुगामिक कहते हैं। असह्यात द्वीप समुद्र शिखी विमान आर तिर्यङ्—तिरछा अथवा ऊपर नीचेके नितने क्षेत्रका प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ है, तबसे उस प्रमाणमें घटते घटते जो अवधिज्ञान अनुष्णके असह्यातवें भाग प्रमाण तकके क्षेत्रको विषय करने वाला रह जाय, उसको हीयमान कहते हैं। जिस प्रकार किसी अग्नि का उपादान कारण यदि परिमित हो, तो उस उपादान मन्त्रिके न मित्रनेमें उस अग्नि की शक्ति भी तबमें कम कम होती जाती है, उसी प्रकार हम अवधिज्ञानके विषयमें समझना चाहिये। जो अवधिज्ञान अद्बुद्धके असह्यातवें भाग आदि नितने विषयका प्रमाण लेकर उत्पन्न हो, उस प्रमाणमें बढ़ता ही चला जाय उसको वर्धमान कहते हैं। जैसे कि नीचे और ऊपर अग्नि के सपर्यणमें उत्पन्न हुई अग्नि की चाल द्रष्टुं पत्र आदि ईधन राशिका निमित्त पावर बढ़ती ही चला जाती है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान नितन प्रमाणसे लेकर उत्पन्न हुआ है, उसमें अन्तरतः बाध निमित्त पावर सम्पूर्ण ऐक्यपर्यन्त बढ़ता ही चला जाय, उसको वर्धमान कहते हैं। अर्थात् जगत्तममें लेकर उत्पन्न प्रमाणतः विषयों अन्तर्गतमें अवधिज्ञानके

जितने स्थान हैं, उनमेंसे जिस स्थानका अवधि उत्पन्न होकर परम शुभ परिणामोंका निमित्त पाकर उत्कृष्ट प्रमाणतक बढ़ता ही जाय उसको वर्धमानक समझना चाहिये । अनवस्थित अवधिज्ञान उसको समझना चाहिये जोकि एक रूपमें न रहकर अनेक रूप धारण कर सके । या तो कभी उत्पन्न प्रमाणसे घटता ही जाय, या कभी बढ़ता ही जाय, अथवा कभी घटे भी और बढ़े भी, यद्वा कभी छूट भी जाय और फिर कभी उत्पन्न हो जाय । जिस प्रकार किसी जलशयकी लहरें वायुवेगका निमित्त पाकर अनेक प्रकारकी—छोटी मोटी या नष्टोत्पन्न हुआ करती हैं, उसी प्रकार इस अवधिके विषयमें समझना चाहिये । शुभ या अशुभ अथवा उभयरूप जैसे भी परिणामोंका इसको निमित्त मिलता है, उसके अनुसार इसकी हानि वृद्धि आदि अनेक अवस्थाएं हुआ करती हैं । कभी उत्पन्न प्रमाणसे बढ़ती ही है, कभी घटती ही है कभी एक दिशाकी तरफ घटती है और दूसरी दिशाकी तरफ बढ़ती है, कभी नष्टोत्पन्न भी होती है । इत्यादि । अवस्थित अवधिज्ञान उसको कहते हैं, जो कि जितने प्रमाण क्षेत्रके विषयमें उत्पन्न हो, उससे वह तबतक नहीं छूटता, जबतक कि केवलज्ञानकी प्राप्ति न हो जाय, अथवा उसका वर्तमान मनुष्य जन्म छूटकर जबतक उसको भवान्तरकी प्राप्ति न हो जाय, यद्वा जात्यन्तरस्थायि न बन जाय । जैसे कि लिंग—त्रीलिंग पुल्लिंग या नपुसंकलिंग प्राप्त होकर जात्यन्तरताको धारण किया करते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञान भी जिस जातिका उत्पन्न होता है, उससे भिन्न जातिरूप परिणमन कर लिया करता है । अर्थात् जिसके अवस्थित जातिका अवधिज्ञान होता है, उसके वह तबतक नहीं छूटता, जबतक कि उसको केवलज्ञानादिकी प्राप्ति न हो जाय । क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक है, उसके साथ क्षायोपशमिकज्ञान नहीं रह सकता । यदि उसी जन्ममें केवलज्ञान न हो, तो जन्मान्तरमें वह अवधिज्ञान उस जीवके साथ भी जाता है । जिस प्रकार इस जन्ममें प्राप्त हुआ पुरुष लिंग आदि तीन प्रकारके लिंगोंमेंसे कोई भी लिंग जैसे इस जन्ममें आमरण साथ रहा करता है, परन्तु कदाचित् जन्मान्तरमें भी साथ जाता है । उसी प्रकार यह अवधिज्ञान केवलज्ञान हेनेतक अथवा इस जन्मके पूर्ण होनेतक तदवस्थ रहा करता है—जितने प्रमाणमें उत्पन्न हुआ है, उसी प्रमाणमें ज्योंका त्यों अवस्थित रहा करता है, परन्तु कदाचित् जन्मान्तरको साथ भी चला जाता है ।

भावार्थ—अवधिज्ञानके ये छह भेद दो कारणोंसे हुआ करते हैं—अंतरंग और बाह्य । अंतरंग कारण क्षयोपगमकी विचित्रता है, और बाह्य कारण संयम स्थानादिकी तथा अन्य निमित्त कारणोंकी विभिन्नता है । इस पड़भेदात्मक अवधिको क्षयोपगमनिमित्तक कहते हैं । क्योंकि इसमें भवप्रत्ययके समान भव प्रधान कारण नहीं है । जिस प्रकार देव या नारक भवधारण करनेवालेको उस भवके धारण करनेसे ही अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम अवश्य प्राप्त हो

जाता है, वैसा इसमें नहीं होता । मनुष्य और तिर्यचोंको नियमसे अवधिज्ञान नहीं होता, किंतु जिनको समय स्थानादिका निमित्त मिलता है, उन्हींमें वह प्राप्त होता है । अतएव अवधिज्ञाना वरणके क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग निमित्तके दोनों ही जगह समानरूपसे रहनेपर भी बाह्य कारण और उसके नियमके भेदसे ही अवधिके दो भेद बताये हैं—एक भवप्रत्यय दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक ।

इसके सिवाय अवधिज्ञानका तर तम रूप दिखानेके लिये देशावधि परमावधि और सर्वावधि इस तरहसे उसके तीन भेद भी बताये हैं । देव नारकी तिर्यच और सागार मनुष्य इनके देशावधि ज्ञान ही हो सकता है । वास्तीके दो भेद—परमावधि और सर्वावधि मुनियोंके ही हो सकते हैं । इनका विशेष खुलासा और इनके द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप विषयका भेद गोम्मत सार जीवकाण्ड आदिसे जानना चाहिये ।

भाष्यम्—उक्तमवधिज्ञानम् । मन पर्यायज्ञान यस्याम ।—

अर्थ—लक्षण और विधानपूर्वक अवधिज्ञानका वर्णन उक्त रीतिसे किया । अब उसके बाद मन पर्यायज्ञानका वर्णन क्रमानुसार प्राप्त है । अतएव उसके भी लक्षण और विधान—भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—ऋजुविपुलमती मन पर्यायः ॥ २४ ॥

भाष्यम्—मन पर्यायज्ञान द्विविध,—ऋजुमति मन पर्यायज्ञान विपुलमति मन पर्यायज्ञान च । अत्राह,—कोऽत्रयो प्रतिविशेषः १ इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—मन पर्यायज्ञानके दो भेद हैं—एक ऋजुमतिमन पर्यायज्ञान और दूसरा विपुलमतिमन पर्यायज्ञान ।

भावार्थ—जीवके द्वारा ग्रहणमें आई हुई और मनके आकारमें परिणत द्रव्यविशेषरूप मनोवर्गणाओंके अत्रग्रहणसे विचाररूप पर्यायानो इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी अपेक्षा ग्निये बिना ही साक्षात् जानता है, उसको मन पर्यायज्ञान कहते हैं । सम्पूर्ण प्रमादोंसे रहित और जिसको मन पर्यायज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम प्राप्त हो चुका है, उस साधुको यह एक अत्यंत विशिष्ट और क्षायोपशमिक किंतु प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके कि निमित्तसे वह साधु मनुष्य लोकेवर्ती मन पर्यायिके कारण करनेवाले पचेन्द्रिय प्राणीमात्रके त्रिकालवर्ती मनोगत विचारोंको बिना इन्द्रिय और मनकी सहायताके ही जान सकता है ।

१—सध्यालोकेमें आई दीप (प्रमाणाद्गुणे ४५ खल यानन) चीडे और मेरुप्रमाण ऊंचे क्षेत्रकी मनुष्य क्षेत्र कहते हैं । २—शक्ति विशेषी पूर्णताको पर्याय कहते हैं । इसके छह भेद हैं—आहार शरीर इन्द्रिय स्वासोच्छ्वास भाषा और मन । इनमेंसे एकेन्द्रियके ४, दोइन्द्रियके ४, त्रैन्द्रियके ४ और सभी पचेन्द्रियके छहों होती हैं । तथा—‘ आहारमरीरिन्द्रियपञ्चतो आणपाणमाममणो । चत्तीर पच छप्पि य एइन्द्रियवियलमणिसण्णीण ॥ ११८ ॥ गोम्मतसार जीवकाण्ड । जिन जीवोंकी मनोवर्गणाओंसे द्रव्य मनके आकारमें परणमानेकी शक्ति पूर्ण हो जाती है उनको मन पर्याय कहते हैं । इसी प्रकार सत्त्व समचना । जिसकी शरीरपर्यायसे भी पूरा नहीं हो पाता किन्तु मरण हो जाता है, उनका लघ्वपर्याय कहते हैं । भवग्रहणके प्रथम अन्तमुहूर्त कालमें ही अपने अपने योग्य पर्यायियोंकी पूर्णता हो जाती है, तथा इनका प्रारम्भ युगपत् विंश पूर्णता क्रमसे हुआ करती है । फिर भी प्रत्येक पर्यायिका काल अन्तमुहूर्त ॥ है । क्योंकि अन्तमुहूर्तके भी असत्यास भेद हैं ।

विषय भेदकी अपेक्षासे इस ज्ञानके दो भेद है। जो ऋजु—सामान्य—दो तीन पर्यायोंको ही ग्रहण करे, उसको ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान कहते हैं, और जो विपुल—बहुतसी पर्यायोंको ग्रहण कर सके, उसको विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान कहते हैं। अर्थात् विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान त्रिकालवर्ती मनुष्यके द्वारा चिन्तित अचिन्तित अर्ध चिन्तित ऐसे तीनों प्रकारकी पर्यायोंको जान सकता है, परन्तु ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान केवल वर्तमानकालवर्ती जीवके द्वारा ही चिन्त्यमान पर्यायोंको ही विषय कर सकता है। इसके सिवाय यह दोनों ही प्रकारका ज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं हुआ करता। जैसे कि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी दर्शन पूर्वक ही हुआ करता है, वैसे यह नहीं होता। यह ईहा नामक मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है।

प्रश्न—जब कि मनःपर्यायज्ञानके ये दोनों ही भेद अतीन्द्रिय हैं, और दोनोंका विषय-परिच्छेदन—मनःपर्यायोंको जानना भी सरीखा ही है, फिर इनमें विशेषता किस बातकी है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—विशुद्धिकृतश्चाप्रतिपातकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः। तद्यथा—ऋजुमतिमनः-पर्यायाद्विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम्। किं चान्यत्। ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानं प्रतिपतत्यपि भूयो विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानं तु न प्रतिपततीति।

अर्थ—मनःपर्यायज्ञानके दोनों भेदोंमें विशेषता दो प्रकारकी समझनी चाहिये। एक तो विशुद्धिकृत दूसरी अप्रतिपातकृत। मतलब यह है, कि एक तो ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानकी अपेक्षा विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान अधिक विशुद्ध हुआ करता है। दूसरी बात यह है, कि ऋजुमतिमनः-पर्यायज्ञान उत्पन्न होकर छूट भी जाता है, और एक बार ही नहीं अनेक बार भी उत्पन्न हो हो करके छूट सकता है। परन्तु विपुलमतिमें यह बात नहीं है, वह उत्पन्न होनेके अनंतर जबतक केवलज्ञान प्रकट न हो तबतक छूटता नहीं।

भावार्थ—ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानसे विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान विशुद्धि और अप्रतिपात इन दो कारणोंसे विशिष्ट है। क्योंकि ऋजुमतिकी विषय स्तोक और विपुलमतिकी उससे अत्यधिक है। ऋजुमति जितने पदार्थको जितनी सूक्ष्मताके साथ जान सकता है, विपुलमति उसी पदार्थको नानाप्रकारसे विशिष्ट गुण पर्यायोंके द्वारा अत्यंत अधिक

१—तियकालविसयरुर्वि चिन्तितं षट्माणजीवेण। उज्जुमदिणाण जाणदि भूदभविस्सं च विउल्लभदी ॥ ४४० ॥

२—रमणसिद्धियमट् ईहामदिणा उज्जुट्ठियं लहिय। पच्छा पच्चक्खेण य उज्जुमदिणा जाणदे णियमा ॥ ४४७ ॥

सूक्ष्मताके साथ जान सकता है । अतएव विपुलमतिस्त्री विशुद्धि-निर्मलता ऋजुमतिसे अधिक है । इसी प्रकार ऋजुमतिके विषयमें यह नियम नहीं, है कि वह उत्पन्न होकर नहीं ही छूटे, किंतु विपुलमतिके विषयमें यह नियम है । जिस समयी साधुको विपुलमतिमन पर्यायज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसको उसी भवसे केवलज्ञान प्रकट होकर निर्वाण पद भी प्राप्त हो जाता है । अतएव विपुलमति अप्रतिपाती है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथावधि मन पर्यायज्ञानयो क प्रतिविशेष ? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—मन पर्यायज्ञानके दोनों भेदोंमें विशेषता किस किस कारणसे है, सो तो समझमें आया, परन्तु अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें विशेषता क्या क्या है, ओर किस किस अपेक्षासे है ? इसी बातका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययो ॥ २६ ॥

भाष्यम्—विशुद्धिकृत क्षेत्रकृत स्वामिकृतो विषयकृतज्ञानयोर्विशेषो भवत्यवधिमनः-पर्यायज्ञानयो । तद्यथा—अवधिज्ञानान्मनः पर्यायज्ञान विशुद्धतरम् । यावन्ति हि रूपाणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते तानि मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धतराणि मनोगतानि जानीते । किं चान्यत्—क्षेत्रकृतज्ञानयो प्रतिविशेष । अवधिज्ञानमद्गुलस्यास्तरयेयभागाविप्लवभ्रष्ट्यासर्वलोकात् । मनःपर्यायज्ञान तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति नान्यक्षेत्र इति । किं चान्यत्—स्वामिकृतज्ञानयो प्रतिविशेष । अवधिज्ञान सयतस्य असयतस्य चो सवगतिषु भवति । मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसयतस्येव भवति नान्यस्य । किं चान्यत्—विषयकृतज्ञानयो प्रतिविशेष । रूपिन्द्रियेष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धो भवति । तद्वन्तन्भागे मनःपर्यायस्येति ।

अर्थ—अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें विशुद्धि क्षेत्र स्वामी और विषय इन चार कारणोंसे विशेषता है । जिसके द्वारा अधिकतर पर्यायोंका परिज्ञान हो सके, ऐसी निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं । क्षेत्र नाम आकाशका है । जिन जीवोंको वह ज्ञान हो, उनको उस विवक्षित ज्ञानका स्वामी समझना चाहिये । ज्ञानके द्वारा जो पदार्थ जाना जाय, उसको ज्ञेय अपवा विषय कहते हैं । इन चारों ही कारणोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें अन्तर है । वह किस प्रकार है सो बताते हैं—

अवधिज्ञानकी अपेक्षा मन पर्यायज्ञानकी विशुद्धि अधिक होती है । जितने रूपी द्रव्योंको अवधिज्ञानी जान सकता है, उनको मन पर्यायज्ञानी अधिक स्पष्टतासे और मनोगत होनेपर भी जान लिया करता है । इसके सिवाय दोनोंमें क्षेत्रवृत्त विशेषता इस प्रकारसे है, कि अवधिज्ञानका क्षेत्र अङ्गुलके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्त है । अर्थात् सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्याप्तकारी उत्पन्न होनेसे तौसरे समयमें जो शरीरकी जघन्य अव

१ 'रूपाणि' इति पाठान्तरं ग्राप्य प्रतिभाति । — 'मनोहस्यगतनीच' इत्यपि पाठः । २—'वा' शरीरदोऽन्यत्र जलिनः । ४—'गुणस्योक्तम्' रूपरगधस्पर्शगुण इत्यम् ।

गाहना होती, इसका जितना प्रमाण होता है, उतना ही अवधिज्ञानके जघन्य क्षेत्रका प्रमाण समझना चाहिये । इतने क्षेत्रमें जितने भी जघन्य द्रव्य होंगे, उन सबको वह जघन्य अवधिज्ञानवाला जान सकता है । इसके ऊपर क्रमसे बढ़ता हुआ अवधिका क्षेत्र सम्पूर्ण लोकपर्यन्त हुआ करता है । और प्रत्येक अवधिज्ञान अपने अपने योग्यक्षेत्रमें स्थित यथायोग्य द्रव्योंको जान सकता है । परन्तु मनःपर्यायज्ञानके विषयमें ऐसा नहीं है । उसका क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण ही है । वह उतने क्षेत्रके भीतर ही संज्ञी जीवकी होनेवाली मनःपर्यायोंको जान सकता है, बाहरकी नहीं । इसके सिवाय स्वामीकी अपेक्षासे भी दोनोंमें अन्तर है । वह इस प्रकार है कि—अवधिज्ञान तो संयमी साधु और असंयमी जीव तथा संयतासंयत श्रावक इन सभीके हो सकता है, तथा चारों ही गतिवाले जीवोंके हो सकता है । परन्तु मनःपर्यायज्ञान संयमी मनुष्यके ही हो सकता है, अन्यके नहीं हो सकता । इसी तरह विषयकी अपेक्षासे भी अवधि और मनःपर्यायमें अन्तर है । वह इस प्रकारसे कि अवधिज्ञान रूपी द्रव्योंको और उसकी असम्पूर्ण पर्यायोंको जानता है । परन्तु अवधिके विषयका अनंतवां भाग मनःपर्यायका विषय है । अतएव अवधिकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानका विषय अतिशय सूक्ष्म है ।

भावार्थ—यद्यपि संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षासे भी इन दोनोंमें अन्तर है, परन्तु इनका अन्तर्भाव इन कारणोंमें ही हो जाता है, अतएव यहाँपर चार कारणोंकी अपेक्षासे ही विशेषताका उल्लेख किया है । इसी प्रकार यद्यपि क्षेत्रका प्रमाण अवधिकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानका थोड़ा है, परन्तु फिर भी उत्कृष्ट मनःपर्यायज्ञानको ही समझना चाहिये । क्योंकि उसका विषय बहुततर और सूक्ष्मतर होनेसे प्रकृष्ट तथा स्वामी भी संयत मनुष्य ही होनेसे विशिष्ट हुआ करता है । जैसे कि अनुमानसे—धूमको देखकर होनेवाले अग्नि-ज्ञानकी अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होनेवाले अग्निज्ञानमें अधिक स्पष्टता रहा करती है । अथवा जैसे कि एक व्यक्ति तो अपने पठित ग्रंथका ही और एक ही प्रकारसे अर्थ कर सकता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति पठितापठित ग्रन्थोंका और अनेक प्रकारसे अर्थ कर सकता है, इनमेंसे जैसे दूसरे व्यक्तिका ज्ञान उत्कृष्ट समझा जाता है, उसी प्रकार अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानको भी उत्कृष्ट समझना चाहिये । इसके सिवाय जिस तरह अवधिज्ञान चारों गतिके जीवोंके उत्पन्न हो सकता है, वैसे मनःपर्याय नहीं होता । वह संयमी मनु-

१—उत्सेवाङ्गुलकी अपेक्षासे उत्पन्न व्यवहार सूच्यङ्गुलके अमंख्यातवै भाग प्रमाण भुजा कोटी और वेवमे परस्पर गुणा करनेसे जघन्य अवगाहनाका प्रमाण निकलता है । यथा—“ अवरोणाहणमाण उत्सेहंगुलअसख-भागस्य । सूइस्स य षणपदर होदिहु तक्खेत्तसमकरणे ॥३७९॥ गो० जीवकाण्ड । २—गोरुम्मुरालसच मज्झिमजोग-जियं सविस्सचयं । लोयविभत्तं जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा ॥३७६॥ गो० जी० । अर्थात् विस्सोपचयसहित और मध्यम योगके द्वारा संचित डेढ़ गुणी हानिमात्र समयप्रवद्धरूप औदारिक नोकर्मके सम्ग्रहमे लोकप्रमाणका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, वही अवधिज्ञानके जघन्य द्रव्यका प्रमाण है ।

प्यके ही होता है, और उसमें भी ऋद्धिप्राप्तो ही होता है और ऋद्धिप्राप्तिमें भी सबको नहीं किन्तु किसी किसीके ही होता है ।

भाष्यम्—अत्राह, उक्तं मन पर्यायज्ञानम् । अथ केवलज्ञान किमिति । अत्रोच्यते ।—
कवलज्ञानं दशमेऽध्याये वक्ष्यते—“ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलमिति । ”
अत्राह—एषा मतिज्ञानादीनां कस्य विषयनिवन्धः ? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने मन पर्यायज्ञानका तो लक्षण और भेद विधान आदिके द्वारा निरूपण किया, परन्तु अब इसके बाद केवलज्ञानका निरूपण क्रमानुसार प्राप्त है, अतएव कहिये कि उसका स्वरूप क्या है ? उत्तर—केवलज्ञानका स्वरूप आगे चलकर इसी ग्रन्थके दशमें अध्याय के प्रारम्भ में—पहले ही सूत्रमें इस प्रकार बतावेंगे कि “ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । ” वहीं पर उसका विशेष सुलसा समझना चाहिये, यहाँपर भी उसका वर्णन करके पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

प्रश्न—यहाँपर ज्ञानके प्रकरणमें ज्ञानके मतिज्ञान आदि पाँच भेद बताये हैं । परन्तु यह कहिये, कि उनमेंसे किम किम ज्ञानकी किम किम विषयमें प्रवृत्ति हो सकती है ? क्योंकि उसके बिना ज्ञानके स्वरूपका यथावत् परिज्ञान नहीं हो सकता । अतएव इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं, उसमें सबसे पहले क्रमानुसार मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय बताते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतयोर्निवन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २७ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्धिषयनिवन्धो भवति सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु । ताम्बा हि सर्वोपि द्रव्याणि जानीते न तु सर्वं पर्याये ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंका विषय सम्पूर्ण द्रव्योंमें है, परन्तु उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें नहीं है । इन ज्ञानोंके द्वारा जीव समस्त द्रव्योंको तो जान सकता है, परन्तु सम्पूर्ण पर्यायोंके द्वारा उनकी नहीं जान सकता ।

भावार्थ—ये दोनों ही ज्ञान परायेभ हैं, यह बात पहले ही बता चुके हैं । उन अपेक्षित पर कारणोंमेंसे इन्द्रियोक्त विषय और क्षेत्र नियत है । अतएव उनसेद्वारा सम्पूर्ण द्रव्य तथा उनकी समस्त पर्यायोंका ज्ञान नहीं हो सकता । तथा मनकी भी इतनी शक्ति नहीं है, कि वह धर्मात्मिक सभी द्रव्योंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभी पर्यायोंको जान सके । अतएव श्रुतग्रन्थके अनुसार ये दोनों ही ज्ञान सम्पूर्ण द्रव्योंको और उनकी कुछ पर्यायोंको ही जान सकते हैं, उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान सकते ।

क्रमानुसार अवाधिनानका विषय बतानेको सूत्र कहते हैं—

सूत्र—रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—रूपिष्वेव द्रव्येष्ववधिज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति असर्वपर्यायेषु । सुवि-
शुद्धेनाप्यवधिज्ञानेन रूपीण्येव द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते तान्यपि न सर्वैः पर्यायैरिति ।

अर्थ—अवधिज्ञानका विषय रूपी द्रव्यही है । किन्तु वह भी सम्पूर्ण पर्यायों करके
युक्त नहीं है । क्योंकि अवधिज्ञानी चाहे जैसे अतिविशुद्ध अवधिज्ञानको धारण करनेवाला
क्यों न हो, परन्तु वह उसके द्वारा रूपी द्रव्योंको ही जान सकता है, अन्योको नहीं । तथा रूपी
द्रव्योंकी भी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान सकता ।

क्रमानुसार मनःपर्यायज्ञानका विषय बताते हैं—

सूत्र—तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ॥ २९ ॥

भाष्यम्—यानि रूपीणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते ततोऽनन्तभागे मनःपर्यायस्य विष-
यनिबन्धो भवति । अवधिज्ञानविषयस्यानन्तभागं मनःपर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि
मनोरहस्यविचारगतानि च मानुषक्षेत्रपर्यापन्नानि विशुद्धतराणि चेति ।

अर्थ—जितने रूपी द्रव्योंको अवधिज्ञान जान सकता है, उसके अनन्तवें भागको
मनःपर्यायज्ञानी जान सकता है । अवधिज्ञानका जितना विषय है, उसका अनन्तवां भाग
मनःपर्याय ज्ञानका विषय है । क्योंकि मनःपर्यायज्ञानी अन्तरङ्गमें स्थित अतएव अन्तःकरण-
रूप मनके विचारोंमें प्राप्त-आये हुए रूपी द्रव्योंको तथा मनुष्य क्षेत्रवर्ती अवधिज्ञानकी अपेक्षा
अतिशय विशुद्ध-सूक्ष्मतर और बहुतर पर्यायोंके द्वारा उन रूपी द्रव्योंको जान सकता है ।

भावार्थ—मनःपर्यायज्ञानका विषय अवधिके विषयसे अनन्तैकभागप्रमाण रूपी
द्रव्य है । परन्तु वह भी असर्वपर्यायही है । अपने विषयकी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान
सकता । फिर भी वह अधिकतर सूक्ष्म विषयको विशेषरूपसे जानता है, अतएव प्रशस्त है ।

क्रमानुसार केवलज्ञानका विषयनिबन्ध बतानेको सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥

भाष्यम्—सर्वद्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च केवलज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति ।
तादृि सर्वभावग्राहकं संमिश्र लोकालोकविषयम् । नातःपरं ज्ञानमस्ति । न च केवलज्ञानविषया-
त्परं किञ्चिदन्यज्ज्ञेयमस्ति । केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभाव-
ज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्यायमित्यर्थः ॥

अर्थ—केवलज्ञानका विषय निबन्ध संपूर्ण द्रव्य और उनकी संपूर्ण पर्यायोंमें है । क्योंकि
वह द्रव्य क्षेत्र काल भाव विशिष्ट तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सभी पदार्थोंको ग्रहण करता
है, सम्पूर्ण लोक और अशेकको विषय किया करता है । इससे बड़ा और कोई भी ज्ञान
नहीं है, और न ऐसा कोई ज्ञेय ही है, जो कि केवलज्ञानका विषय होनेसे बाकी बच रहे ।

इस ज्ञानको केवल परिपूर्ण समग्र असाधारण निरपेक्ष विशुद्ध सर्वमानज्ञापक लोकालोकविषय और अनन्तपर्याय ऐसे नामोंसे कहा करते हैं ।

भावार्थ—जीवपद्वलादिक सम्पूर्ण भूलद्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण सक्षम स्थूल पर्यायें इस ज्ञानका विषय हैं । न तो इस ज्ञानसे उत्कृष्ट कोई ज्ञान ही है, और न ऐसा कोई पदार्थ या पर्याय ही है, जो कि इस ज्ञानका विषय न हो । यह ज्ञान क्षायिक है, ज्ञानावरणर्मका सर्वथा क्षय होनेसे प्रकट होता है । अतएव दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञानोंमेंसे कोई भी ज्ञान इसके साथ नहीं रह सकता और न रहता ही है, यह एकाकी ही पाया जाता या रहा करता है, इसी लिये इसको केवल कहते हैं । यह सकल द्रव्य भावोंका परिच्छेदक है, इसलिये इसको परिपूर्ण कहते हैं । जिस तरह यह एक जीव पदार्थको जानता है, उसी तरह सम्पूर्ण पर पदार्थोंको भी जानता है, इसलिये इसको समग्र कहते हैं । किसी भी मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञानसे इसकी तुलना नहीं हो सकती, इसलिये इसको असाधारण कहते हैं । इसको इन्द्रिय मन आलोक आदि किसी भी अवलम्बन या सहायककी अपेक्षा नहीं है, इसलिये इसको निरपेक्ष कहते हैं । ज्ञानावरण दर्शनावरण आदिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली मलदोष रूप अशुद्धियोंसे यह सर्वथा रहित है, इसलिये इसको विशुद्ध कहते हैं । यह समस्त पदार्थोंका ज्ञापक है, इसीसे सम्पूर्ण तत्त्वोंका बोध होता है, इसलिये इसको सर्वभावज्ञापक कहते हैं । लोक और अलोकका कोई भी अंश इससे अपरिच्छिन्न नहीं है, इसलिये इसको लोमलोम विषय कहते हैं । अगुरुल घुगुणके निमित्तसे इसकी अनन्तपर्याय परिणमन होते हैं, इसलिये इसको अनन्तपर्याय कहते हैं । अथवा इसकी क्षेत्ररूप पर्याय अनन्त हैं, यद्वा इसके अविभागप्रतिच्छेद अनन्त हैं, इसलिये भी इसको अनन्तपर्याय कहते हैं । मतलब यह कि अनन्त शक्ति और योग्यताके कारण करनेवाला यह ज्ञान सर्वथा अप्रतिम है ।

भाष्यम्—अत्राह—एषा मतिज्ञानादीना युगपदेकस्मिन्जीवे कति भवन्ति ? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने ज्ञानोंका विषय निबन्ध जो बताया तो समझमें आया । परन्तु अब यह बताइये, कि इन मतिज्ञानादि पाँच प्रकारके ज्ञानोंमें से एक समयमें एक जीवके कितने ज्ञान हो सकते हैं ? इसीका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—एषां मत्यादीना ज्ञानानामादित एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन् जीवे आ चतुर्भ्यः, कस्मिंश्चिज्जीवे मत्यादीनामेक भवति, कस्मिंश्चिज्जीवे द्वे भवतः, कस्मिंश्चित् त्रीणि भवन्ति, कस्मिंश्चिज्ज्ञत्वारि भवन्ति । श्रुतज्ञानस्य तु मतिज्ञानेन नियतः स एव भावस्तत्पूर्व कथात् । यस्य तु मतिज्ञान तस्य श्रुतज्ञान स्याद्वा न वेति । अत्राह—अथ केवलज्ञानस्य पूर्वमतिज्ञानादिभिः किं स एवाभ्यो भवति नेत्युच्यते । केचिदाचार्या न्याचक्षते, नाभावः किं तु तद्व

भिभूतत्वादकिंचित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत् । यथा वाव्यभ्रे नभसि आदित्य उदिते भूरितेजस्वा-
दादित्येनाभिभूतान्यतेजांसि ज्वलनमणिचन्द्रनक्षत्रप्रभृतीनि प्रकाशनं प्रत्यकिंचित्कराणि
भवन्ति तद्वदिति । केचिदप्याहुः ।-अपायसद्रव्यतया मतिज्ञानं तत्पूर्वकं श्रुतज्ञानमवधिज्ञान-
मनःपर्यायज्ञाने च रूपिद्रव्यविषये तस्मान्नैतानि केवलिनः सन्तीति ॥ किं चान्यत् ।-मति-
ज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपत् । संभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केव-
लिनो युगपत्सर्वभाषाग्रहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति ।
किं चान्यत् ।-क्षयोपगमजानि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वाणि क्षयादेव केवलम् । तस्मान्न केवलिनः
शेषाणि ज्ञानानि सन्तीति ॥

अर्थ—उपर मति आदिक जो ज्ञानके भेद गिनाये हैं, उनमेंसे एक जीवके एक समयमें
प्रारम्भके एकसे लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं । किसी जीवके तो मतिज्ञानादिकमेंसे एक ही
ज्ञान हो सकता है, किसी जीवके दो हो सकते हैं, किसीके तीन हो सकते हैं, और किसीके चार
हो सकते हैं । इनमेंसे श्रुतज्ञानका तो मतिज्ञानके साथ सहभाव नियत है । क्योंकि वह मतिज्ञान-
पूर्वक ही हुआ करता है । परन्तु जिस जीवके मतिज्ञान है, उसके श्रुतज्ञान हो भी और
न भी हो । शंका—केवलज्ञानका अपनेसे पूर्वके मति आदिक ज्ञानोंके साथ सहभाव है, या
नहीं ? उत्तर—इस विषयमें कुछ आचार्योंका तो ऐसा कहना है, कि केवलज्ञान हो जानेपर भी
इन मतिज्ञानादिका अभाव नहीं हो जाता । किंतु ये ज्ञान केवलज्ञानसे अभिभूत हो जाते हैं,
अतएव वे उस अवस्थामें अपना कुछ भी कार्य करनेके लिये समर्थ नहीं रहते । जैसे कि
केवलज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर भी इन्द्रियाँ तदवस्थ रहती हैं, परन्तु वे अपना कुछ भी कार्य
नहीं कर सकतीं, इसी प्रकार मतिज्ञानादिक के विषयमें समझना चाहिये । अथवा जैसे कि
मेघपटलसे रहित आकाशमें सूर्यका उदय होते ही उसके सातिशय महान् तेजसे अन्य तेजो
द्रव्य—अग्नि रत्न चन्द्रमा नक्षत्र प्रभृति प्रकाशमान पदार्थ आच्छादित हो जाते हैं, और अपना
प्रकाशकार्य करनेमें अकिंचित्कर हो जाते हैं, वैसे ही केवलज्ञानके उदित होनेपर मतिज्ञानादिके
विषयमें समझना चाहिये ।

किसी किसी आचार्यका ऐसा भी कहना है, कि ये ज्ञान केवलीके नहीं हुआ करते ।
क्योंकि श्रोत्रादिक इन्द्रियोंसे उपलब्ध तथा ईहित पदार्थके निश्चयको अपाय कहते
हैं, और मतिज्ञान अपायस्वरूप है तथा वह सद्रव्यतया हुआ करता है वह
विद्यमान अथवा विद्यमानवत् पदार्थको ही ग्रहण किया करता है । किंतु केवलज्ञानमें ये दोनों ही
बातें सर्वथा नहीं पायी जातीं । अतएव वह केवलज्ञानके साथ नहीं रहा करता । और इसीलिये
श्रुतज्ञान भी उसके साथ नहीं रह सकता, क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है, और
अवधिज्ञान तथा मनःपर्यायज्ञान केवल रूपी द्रव्यको ही विषय करनेवाले हैं अतएव वे भी
उसके साथ नहीं रह सकते । इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि—मतिज्ञानादिक

चार प्रकारके जो क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, जीवके उनका उपयोग क्रमसे हुआ करता है, युगपत् नहीं हुआ करता । अर्थात् ये चारों ही ज्ञान क्रमवर्ती हैं न कि सहवर्ती । परन्तु केवलज्ञान ऐसा नहीं है । जिन केवली भगवान् को परिपूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण दर्शन प्राप्त हो गया है, उनका वह केवलज्ञान और केवलदर्शन समस्त पदार्थोंको युगपत् विषय किया करता है, क्योंकि वह असहाय है, और इसीलिये इन दोनोंका उपयोग प्रतिसमय युगपत् ही हुआ करता है । तथा एक बात यह भी है, कि पाच प्रकारके जो ज्ञान हैं उनमेंसे आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक-ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले हैं, परन्तु केवलज्ञान उसके सर्वथा क्षयसे ही प्रसूत होता है । अतएव केवली भगवान्के केवलज्ञान ही रहा करता है, बाकीके चार ज्ञान उनके नहीं हुआ करते ।

भावार्थ—क्षायिक और क्षायोपशमिकमें परस्पर विरोध है, अतएव क्षायिक-केवलज्ञानके साथ चारों क्षायोपशमिक ज्ञानोंका सहभाव नहीं रह सकता, इसलिये केवलीके केवलज्ञानके सिवाय चारोंका अभाव ही समझना चाहिये ।

यहाँतक प्रमाणरूप पाँचों ज्ञानोंका वर्णन किया, अब प्रमाणाभास रूप ज्ञानोंका निरूपण करनेकी इच्छासे सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञान श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमिति विपर्ययश्च भवत्यज्ञान चेत्यर्थः । ज्ञान-विपर्ययोऽज्ञानमिति । अत्राह । तदेव ज्ञान तदेवाज्ञानमिति । ननु च्छायातपवच्छीतोष्णवच्च तद्वत्यन्तविरुद्धमिति । अत्रोच्यते ।—मिथ्यादर्शनपरिप्रदाद्विपरीतमाहकत्वमेतस्याम् । तस्मादज्ञानानि भवन्ति । तद्यथा ।—प्रत्यक्षज्ञान श्रुतज्ञान विमङ्गज्ञानमिति । अघाधिर्विपरीतो विमङ्ग इत्युच्यते ॥

अर्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये विपर्यय भी हुआ करते हैं, अर्थात् ये तीनों ज्ञान अज्ञान रूप भी कहे जाते हैं । क्योंकि ज्ञानसे जो विपरीत हैं, उन्हींको अज्ञान कहते हैं । शक्ता-उसीको ज्ञान कहना और उसीको अज्ञान कहना यह कैसे मन सकता है ?

१—केवलज्ञान और केवलदर्शनके विषयमें दो शिद्धान्त हैं—दिग्दर्श आश्रयमें दोनों उपयोग एक समयमें ही हुआ करते हैं, ऐसा माना है । क्योंकि दोनों उपयोगोंमें आवृत्त करनेवाले दो कर्म हैं—ज्ञानावरण और दर्शनावरण । इन दोनोंका केवलीके सदाय दाय हा जानेसे फिर कोई भी क्रमवर्तिताका कारण होय नहीं रहता । इसी लिये ऐसा सिद्धांत भी है कि दण्डपुत्र पाण छन्दयाण ण दोण्णि उवओगा । जुगव जम्हा केवलिणाह जुगव तु से दोवि ॥ ४४ ॥ '—अप्रसङ्ग-श्रीनामिचन्द्र शिद्धान्तप्रवर्तन । परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ऐसा नहीं माना है । श्रीशिद्धसेनगणितज्ञ टीकामें लिखा है कि 'न गतीनाभिनिज्ञोऽस्माकं युगपदुपयागा मा भूदिति । वचन न पर्यामस्यादृशम् क्रमोपयोगाथ प्रतिशब्दे तु भूविचनमुपलभ्यामे ।' अर्थात् इस विषयमें हमारा ऐसा कोई अत्यधिक आग्रह नहीं है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं ही हों । परन्तु इस विषयके विषादक वचन नहीं दीजते । उपयोगी क्रमवर्तिता रूप वाक्यके प्रतिशब्द वचन बहुतसे देखनेमें मिलते हैं । यथा—'नागमि दणम्मिय एतो एगदग्गि उवत्ता ।' (प्रहपनायाम्) । तथा 'गम्भस्स केवलस्सि वि जुगव दो णमि उवओगा ।' (वि १०१६)

क्योंकि जिस प्रकार छाया और आतप—धूपमें परस्पर विरोध है, अथवा शीत उष्ण पर्यायोंमें अत्यंत विरुद्धता है। उसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान भी परस्परमें सर्वथा विरुद्ध हैं, फिर भी मति श्रुत और अवधिको ज्ञान भी कहना और अज्ञान भी कहना यह कैसे बन सकता है ? उत्तर—जिन जीवोंने मिथ्यादर्शनको ग्रहण—धारण कर रक्खा है, उन जीवोंके ये तीनों ही ज्ञान पदार्थको याथात्म्यरूपसे ग्रहण नहीं करते—विपरीत-तथा ग्रहण करते हैं, अतएव उनको विपरीत—अज्ञान कहते हैं। अर्थात् उनको क्रमसे मति-ज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान न कह कर मत्तज्ञान श्रुतज्ञान और विभंग कहा करते हैं। विपरीत अवधि—मिथ्यादृष्टि जीवके अवधिज्ञानको ही विभंग कहा करते हैं। अवध्यज्ञान और विभङ्ग पर्याय वाचक शब्द हैं।

भावार्थ—व्यवहारमें ज्ञानके निषेधको अज्ञान कहा करते हैं, और निषेध दो प्रकारका माना है—पर्युदास और प्रसह्य। जो सदृश अर्थको ग्रहण करनेवाला है उसको पर्युदास कहते हैं, और जो सर्वथा निषेध—अभाव अर्थको प्रकट करता है उसको प्रसह्य कहा करते हैं। सो यहाँपर ज्ञानके निषेधका अर्थ पर्युदासरूप करना चाहिये न कि प्रसह्यरूप। अर्थात् अज्ञानका अर्थ ज्ञानोपयोगका अभाव नहीं है, किंतु मिथ्यादर्शन सहचरित ज्ञान ऐसा है। मिथ्यादर्शनका सहचारी ज्ञान तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकता। मिथ्यादृष्टिके ये तीन ही ज्ञानोपयोग हो सकते हैं; क्योंकि मनःपर्याय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टिके ही हुआ करते हैं। अतएव इन तीनोंको विपरीतज्ञान अथवा अज्ञान कहा है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता सम्यग्दर्शनपरिगृहीतं मत्यादि ज्ञानं भवत्यन्यथाऽज्ञानमेवेति । मिथ्यादृष्टयोऽपि च भव्याश्चाभव्याश्चेन्द्रियनिमित्तानविपरीतान् स्पर्शादीनुपलभन्ते, उपदिशन्ति च स्पर्शं स्पर्श इति रसं रस इति, एवं शेषान् । तत्कथमेतदिति । अत्रोच्यते ।—तेषां हि विपरीतमेतद्भवति ॥—

अर्थ—प्रश्न—आपने कहा कि सम्यग्दर्शनके सहचारी मत्यादिकको तो ज्ञान कहते हैं, और उससे विपरीत—मिथ्यादर्श सहचारी मत्यादिकको अज्ञान कहते हैं। सो यह बात कैसे बन सकती है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी चाहे वे भव्य हों चाहे अभव्य इन्द्रियोंके निमित्तसे जिनका ग्रहण हुआ करता है, उन स्पर्शादिक विषयोंको अविपरीत ही ग्रहण किया करते हैं और उनका निरूपण भी वैसा ही किया करते हैं। वे भी स्पर्श को स्पर्श और रसको रस ही जानते तथा कहा भी करते हैं। इसी प्रकार शेष विषयोंमें भी समझना चाहिये। फिर क्या कारण है कि उनके ज्ञानको विपरीत ज्ञान अथवा अज्ञान कहा जाय? उत्तर—मिथ्यादृष्टियों—का ज्ञान विपरीत ही हुआ करता है। क्योंकि—

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक मन्थ दूसरे अभन्थ । जो सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो सकते हैं, उनको भन्थ कहा करते हैं, और इसके विपरीत हैं—जिनमें सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है, उनको अभन्थ कहा करते हैं । मिथ्यादृष्टिके दूसरी तरहसे तीन भेद भी हुआ करते हैं—एक अभिगृहीतमिथ्यादर्शन दूसरे अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन तीसरे सदिग्ध । जो जिनभगवान्‌के प्रवचनसे सर्वथा विपरीत निरूपण करनेवाले हैं, उन बौद्धादिकोंको अभिगृहीतमिथ्यादर्शन कहते हैं, और जो जिनभगवान्‌के वचनोंपर श्रद्धान नहीं करते, उनको अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं, तथा उसपर सदेह करनेवालोंको सदिग्ध कहा करते हैं । ये तीनों ही प्रकारके मिथ्यादृष्टि मन्थ भी हुआ करते हैं, और अभन्थ भी हुआ करते हैं । परन्तु सभी मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टिके ही समान घटपटादिक और रूप रसादिकों पर ग्रहण और निरूपण किया करते हैं । फिर क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टिके ग्रहणमें तो समीचीन कहा जाय और मिथ्यादृष्टिके ग्रहणको विपरीत । क्योंकि बाधक प्रत्ययके होनेसे ही किसी भी ज्ञानको मिथ्या कह सकते हैं, अन्यथा नहीं । जैसे कि किसीने सीपमें चादीका ज्ञान हुआ, यह ज्ञान इसलिये मिथ्या कहा जाता है, कि उसका बाधक ज्ञान उपस्थित है । सो ऐसा यहाँपर तो नहीं पाया जाता, फिर समीचीन और मिथ्याके भेदका क्या कारण है ? इसका उत्तर यही है, कि मिथ्यादृष्टिके सभी ज्ञान विपरीत ही हुआ करते हैं । क्योंकि वे ज्ञान वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिच्छेदन नहीं किया करते । वे यथार्थ परिच्छेदन नहीं करते यह बात कैसे मालूम हो । अतएव इस बातको स्पष्टतया बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—यथोन्मत्त कमोदयादुपहृतेन्द्रियमतिविपरीतग्राही भवति । सोऽथ गौरित्यध्यवस्यति गा चाश्व इति लोष्ट सुवर्णमिति सुवर्ण लोष्ट इति लोष्ट च लोष्ट इति सुवर्ण सुवर्णमिति तत्त्वेवमविशेषेण लोष्ट सुवर्ण सुवर्ण लोष्टमिति विपरीतमध्यवस्यतो नियतम ज्ञानमेव भवति । तद्वन्मिथ्यादर्शनोपहृतेन्द्रियमतेर्मतिश्रुतावधयोऽप्यज्ञान भवन्ति ॥

अर्थ—जैसे कि कोई उन्मत्त पुरुष जिसकी कि कर्मादयसे इन्द्रियोंकी और मनकी शक्ति नष्ट हो गई है, पदार्थके स्वरूपको विपरीत ही ग्रहण किया करता है, वह घोड़ाको गौ समझता है, और गौको घोड़ा समझता है, मट्टीके डेलेको सुवर्ण मानता है, और सुवर्णको डेला मानता है, कभी डेलेको यह डेला है, ऐसा भी जानता है, और सुवर्णको यह सुवर्ण है, ऐसा भी समझता है, तथा जैसा समझता है, वैसा ही कहता भी है, फिर भी उसके ज्ञानको अज्ञान ही कहते हैं । क्योंकि उसका वह ज्ञान डेलेको सुवर्ण और सुवर्णको डेला समझनेवाले विपरीत ज्ञानसे किसी प्रकारकी विशेषता नहीं रखता । इसी प्रकार जिसकी मिथ्यादर्शन कर्मात् निमित्तसे देखने और विचार करनेकी शक्ति तथा योग्यता नष्ट हो गई है, यद्वा विपरीत हो गई है, वह जीव जीवादिक पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको न

देख सकता, न विचार सकता और न असहायरूपसे ही जान सकता है, अतएव उसके मनिःश्रुत और अवधि ये तीनों हा ज्ञान अज्ञान ही कहे जाते हैं ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव घट पत्रादिक पदार्थोंको यद्यपि सम्यग्दृष्टिके समान ही ग्रहण करता, तथा उनका निरूपण भी किया करता है, परन्तु मिथ्यात्वके निमित्तम उसके कारण-विपर्यास भेदाभेदविपर्यास स्वरूपविपर्यास भी रहा करते हैं, अतएव उसके ज्ञानको प्रमाणभूत अथवा समीचीन नहीं कह सकते । जैसे कि कोई पुरुष वस्त्रको तो वस्त्र ही माने, परन्तु उसको कुम्हारका बनाया हुआ और पत्थरका बना हुआ माने, तो उसके ज्ञानको अज्ञान ही समझा जाता है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि मनुष्यको मनुष्य ही कहता है परन्तु उसके कारणके विषयमें ईश्वर आदिकों भी कल्पना किया करता है, और वैसा ही फिर श्रद्धान भी करता है । इसी तरह भेदाभेद तथा स्वरूपके विषयमें भी समझना चाहिये । अतएव उसके ज्ञानको प्रमाणरूप न मानकर अज्ञान ही मानना चाहिये ।

भाष्यम्—उक्तं ज्ञानम् । चारित्रं नवमेऽध्याये वक्ष्यामः । प्रमाणे चोक्ते । नयान वक्ष्यामः । तद्यथा ।—

अर्थ—पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानका निरूपण और प्रकरण समाप्त हुआ । अब इसके बाद क्रमानुसार चारित्रका वर्णन प्राप्त है, परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर इसी ग्रन्थके नौवें अध्यायमें करेंगे, अतएव यहाँपर उसके करनेकी आवश्यकता नहीं है । ज्ञानके प्रकरणमें प्रमाण और नय इन दोका उल्लेख किया था, उसमेंसे प्रमाणके ग्रन्थक्ष और परीक्षरूप दोनों भेदोंका भी वर्णन ऊपर हो चुका । अतएव उसके अनंतर क्रमानुसार नयोंका वर्णन होना चाहिये । सो उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—नैगमः संग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्रः शब्दः इत्येते पञ्चनया भवन्ति । तत्र ।—

अर्थ—नयोंके पाँच भेद हैं ।—नैगम सङ्ग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र और शब्द ।

भावार्थ—यह बात पहले लिखी जा चुकी है, कि प्रमाणके एक देशको नय कहते हैं । अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक या अनन्त धर्मात्मक है । परन्तु उन अनन्त धर्मोंमेंसे—अस्तित्व या नास्तित्व, नित्यत्व या अनित्यत्व, एकत्व या अनेकत्व आदि किसी भी एक धर्मके द्वारा उस वस्तुके अवधारण करनेवाले ज्ञान विशेष—विकलादेशको नय कहते हैं । इस नयके अनेक अपेक्षाओंसे अनेक भेद हैं । परन्तु सामान्यसे यहाँपर उसके उपर्युक्त पाँच भेद समझने चाहिये ।

जो वस्तुके सामान्य विशेष अथवा भेदाभेदको ग्रहण करनेवाला है, उसको अथवा संकल्पमात्र वस्तुके ग्रहण करनेको नैगम नय कहते हैं । जैसे कि अरहंतको सिद्ध कहना

अथवा मट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहना । विवक्षित पदार्थमें भेद न करके किसी भी सामान्य गुणधर्मकी अपेक्षासे अभेदरूपसे किसी भी पदार्थके ग्रहण करनेको समग्र नय कहते हैं । जैसे जीवत्व सामान्य धर्मकी अपेक्षासे ये जीव है ऐसा समझना या कहना । जो सङ्ग्रह नयके द्वारा गृहीत विषयमें भेदको ग्रहण करता है, उसको व्यवहार नय कहते हैं । जैसे जीव द्रव्यमें सत्सारी मुक्तका भेद करके अथवा फिर सत्सारीमेंसे भी चार गतिकी अपेक्षा किसी एक भेदका ग्रहण करना । केवल वर्तमान पर्यायके ग्रहण करनेको ऋजुमूत्र कहते हैं । इसका वास्तवमें उदाहरण नहीं बन सकता । क्योंकि शुद्ध वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायका ग्रहण या निरूपण नहीं किया जा सकता । स्थूलदृष्टिसे इसका उदाहरण भी हो सकता है । जैसे कि मनुष्यगतिमें उत्पन्न जीवको आमरणान्त मनुष्य कहना । कर्त्ता कर्म आदि कारकोंके व्यवहारको सिद्ध करनेवाले अथवा लिंग सख्या कारक उपग्रह काल आदिके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवालेको शब्द नय कहते हैं । जैसे कि किसी वस्तुको भिन्न भिन्न लिंगवाले शब्दोंके द्वारा निरूपण करना । इस प्रकार नयोंके सामान्यसे पाँच भेद यहाँ बताये हैं । परन्तु इसमें और भी विशेषता है, जैसे कि इनमेंसे—

सूत्र—आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यालौगम्यमाह । स द्विभेदो वेशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति । शब्दत्रिभेद साम्प्रत समाभिरूढ एवम्भूत इति । अग्राह-किमेवा लक्षणमिति ? अत्रोच्यते ।-निगमेषु येऽभिहिता शब्दास्तेषामर्थं शब्दार्थपरिज्ञानं च वेशसमग्रमाही निगम । अथानां सर्वकवेशसमग्रहणं समग्रम् । लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृताथो व्यवहार । सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रम् । यथार्थाभिधानं शब्दम् । नामादिषु प्रसिद्ध पूर्वाच्छब्दादथे प्रत्ययः साम्प्रतः । सत्स्येष्वसकम् समाभिरूढम् । व्यञ्जनार्थयोरिवम्भूत इति ।

अर्थ—यहाँपर सूत्रमें आद्य शब्दका जो प्रयोग किया है, उससे नैगम नयका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि पूर्वोक्त सूत्र (नैगमसमग्रव्यवहारेत्यादि)में जो क्रम बताया है, वह प्रमाण है । उसके अनुसार नयोंका आद्य-पहला भेद नैगम ही होता है । अतएव नैगम नयके दो भेद हैं—एक वेशपरिक्षेपी दूसरा सर्वपरिक्षेपी । शब्द नयके तीन भेद हैं—साम्प्रत समाभिरूढ और एवम्भूत ।

शङ्क—आपने पहले सूत्रमें और इस सूत्रमें जो नयोंके भेद गिनाये हैं, उनका लक्षण क्या है ? उत्तर—निगम नाम जनपद-देशका है । उसमें जो शब्द जिस अर्थके लिये नियत हैं, वहाँपर उस अर्थके और शब्दके सम्बन्धको जाननेका नाम नैगम नय है । अर्थात् इस शब्दका ये अर्थ है, और इस अर्थके लिये इस शब्दका प्रयोग करना चाहिये, इस तरहके वाच्य वाचन सम्बन्धोंके ज्ञानको नैगम कहते हैं । वह दो प्रकारका है । क्योंकि शब्दोंका प्रयोग दो प्रकारसे हुआ करता है—एक तो वस्तुके सामान्य अंशकी

अपेक्षासे दूसरा विशेष अंशकी अपेक्षासे । जो सामान्य अंशका अवलंबन लेकर प्रवृत्त हुआ करता है, उसको समग्रग्राही नैगमनय कहते हैं । जैसे कि चांदीका या सोनेका अथवा मट्टीका या पीतलका यद्वा सफेद पीला लाल काला आदि भेद न करके केवल घटमात्रको ग्रहण करना । जो विशेष अंशका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसको देशग्राही नैगम कहते हैं । जैसे कि घटको मट्टीका या पीतलका इत्यादि विशेषरूपसे ग्रहण करना । पदार्थोंके सर्व देश और एक देश दोनोंके ग्रहण करनेको संग्रहनय कहते हैं । अर्थात् संग्रहनय “ सम्पूर्ण पदार्थ सन्मात्र है ” इस तरहसे सामान्यतया ही वस्तुको ग्रहण करनेवाला है । जिस प्रकार लौकिक पुरुष प्रायः करके घटादिक विशेष अंशको लेकर ही व्यवहार किया करते हैं । उसी प्रकार जो नय विशेष अंशको ही ग्रहण किया करता है, उसको व्यवहार कहते हैं । यह नय प्रायः करके उपचारमें ही प्रवृत्त हुआ करता है । इसके ज्ञेय विषय अनेक हैं, इसी लिये इसको विस्तृतार्थ भी कहते हैं । जैसे यह कहना कि घड़ा चूता है, रास्ता चलता है, इत्यादि । वस्तुतः घड़ेमें भरा हुआ पानी चूता है, और रास्तेके ऊपर मनुष्यादि चलते हैं, फिर भी लौकिक जन घड़ेका चूना और रास्तेका चलना ही कहा करते हैं । इसी तरहका प्रायः उपचरित विषय ही व्यवहार नयका विषय समझना चाहिये । जो वर्तमान कालवर्ती घटादिक पर्यायरूप पदार्थोंको ग्रहण करता है, उसको ऋजुसूत्र नय कहते हैं । व्यवहार नय त्रिकालवर्ती विशेष अंशको ग्रहण करता है, परन्तु उनमेंसे भूत और भविष्यत्को छोड़कर केवल वर्तमानकालमें विद्यमान विशेष अंशोंको ही यह नय—ऋजुसूत्र ग्रहण करता है । व्यवहारकी अपेक्षा ऋजुसूत्रकी यही विशेषता है । जैसा पदार्थका स्वरूप है, वैसा ही उसका उच्चारण करना—कर्त्ता कर्म आदि कारकोंकी अपेक्षासे अर्थके अनुरूप ग्रहण या निरूपण करनेको शब्दनय कहते हैं । इस नयके तीन भेद हैं—साम्प्रत समभिरूढ और एवम्भूत । निक्षेपोंकी अपेक्षासे पदार्थ चार प्रकारका है—नामरूप स्थापनारूप द्रव्यरूप और भावरूप । इनमेंसे किसी भी प्रकारके पदार्थका ऐसे शब्दके द्वारा जिसके कि उस पदार्थके साथ वाच्यवाचक सम्बन्धका पहलेसे ही ज्ञान है, ज्ञान होनेको साम्प्रत नय कहते हैं । घटादिक वर्तमान पर्यायापन्न पदार्थोंके विषयमें शब्दका संक्रम न करके ग्रहण करनेको समभिरूढ नय कहते हैं । व्यञ्जन—वाचकशब्द और अर्थ—अभिधेयरूप पदार्थ इन दोनोंका यथार्थ संवटन करनेवाले अध्यवसायको एवम्भूत नय कहते हैं ।

१—अन्यत्र सिद्धस्यार्थस्यान्यत्रारोप उपचार । २—इन नयोंके विषयमें श्रीसिद्धसेनगणि कृत टीकामें विशेष लिखा है—३—इन नयोंके विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायमें संज्ञा और लक्षण भिन्न प्रकारसे ही माना है । उन्होने मूलसूत्रमें ही नयोंके सात भेद गिनाये हैं, यथा—“ नेगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रगद्वसमभिरूढैवंभूतानया । ” अर्थात् नेगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ और एवम्भूत ये सात नय हैं । इनमेंसे आदिके तीन द्रव्यार्थिक और अतकी चार पर्यायार्थिक हैं । अथवा आदिके ४ अर्थनय और अतके ३ शब्दनय हैं । सातोंका विषय पूर्व पूर्वका महान् और उत्तरोत्तरका अल्प अल्प है । इनका लक्षण और संघटन आदिक तत्त्वार्थराजवार्त्तिक तथा तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिक आदिमें देखना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—उद्दिष्टा भवता नैगमादयो नया । तर्जया इति क पदार्थः ? इति । नया प्रापका कारका साधका निर्वर्तका निर्मासका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन्पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्तिकारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्मासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नया ॥

अर्थ—शङ्का—ऊपर आपने जिन नैगम आदि नवोंका उल्लेख किया है, वे नय क्या पदार्थ हैं ? उत्तर—नय प्रापक कारक साधक निर्वर्तक निर्मासक उपलम्भक और व्यञ्जक ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । जो जीवादिक पदार्थोंको सामान्यरूपसे प्रकाशित करते हैं, उनको नय कहते हैं । जो उन पदार्थोंको आत्मामें प्राप्त कराते—पहुँचाते हैं, उनको प्रापक कहते हैं । जो आत्मामें अपूर्व पदार्थके ज्ञानको उत्पन्न करावें, उनको कारक कहते हैं । परस्परकी व्याप्तिरूप—जिससे एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें मिश्रण न हो जाय, इस तरहके विज्ञप्तिरूप तथा सिद्धिके उपायभूत वचनोंको जो सिद्ध करें, उनको साधक कहते हैं । अपने निश्चित अभिप्रायके द्वारा जो विशेष अध्यवसायरूपसे उत्पन्न होते हैं, उनको निर्वर्तक कहते हैं । जो निरंतर वस्तुके अशका भास—हापन करावें उनको निर्मासक कहते हैं । निशिष्ट क्षयोपशमकी अपेक्षासे अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ विशेषोंमें जो आत्मा या ज्ञानका अवगाहन करावें उनको उपलम्भक कहते हैं । जो जीवादिक पदार्थोंको अपने अभिप्रायानुसार यथार्थ स्वभासमें स्थापित करें उनको व्यञ्जक कहते हैं ।

भावार्थ—इस प्रकारसे यहाँपर निरुक्तिकी अपेक्षासे नय आदिक शब्दोंका अर्थ यद्यपि भिन्न भिन्न बताया है । परन्तु फलितार्थमें ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । अतएव जो नय हैं, वे ही प्रापक हैं, और वे ही कारक हैं, तथा वे ही साधक हैं । इत्यादि सभी शब्दोंके विषयमें समझ लेना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित्स्वतन्त्रा एव चोदकपक्षमाहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति । अत्रोच्यते—नेते तन्त्रान्तरीया नापि स्वतन्त्रा मतिभेदेन विप्रधाविता । ज्ञेयस्य त्वर्यस्याध्यवसायान्तराण्येतानि । तद्यथा—घट इत्युक्ते घोऽसौ चेष्टाभिर्निर्वृत्त ऊर्ध्वकुण्डलीप्रायतवृत्तमीवोऽधस्तात्परिमण्डले जलादीनामाहरणधारणसमर्थ उत्तरगुणनिर्वर्तना निर्वृत्तो द्रव्यविशेषस्तास्मिन्नेकस्मिन्विशेषवति तज्जातीयेषु वा सर्वेष्वविशेषात्परिज्ञान नैगमनयः । एकस्मिन्वा बहुषु वा नामादिविशेषितेषु साम्प्रतातीतानागतेषु घटेषु सम्प्रत्ययः सद्यमहः । तेष्वेव लौकिकपरीक्षक माहोपचारगम्येषु यथा स्थूलायेषु सप्तत्ययो व्यङ्गहारः । तेष्वेव सन्तु साम्प्रतेषु सम्प्रत्ययः क्रजुसूत्रः । तेष्वेव साम्प्रतेषु नामादीनामन्यतममाहिषु प्रसिद्धपूर्वकेषु घटेषु सम्प्रत्ययः साम्प्रतः शब्दः । तेषामेव साम्प्रतानामध्यवसायासम्भो दितर्कध्यानयत् समभिरुद्धः । तेषामेव व्यञ्जनार्थयोरन्योन्यापेक्षायमाहित्यमेवमभूत इति ॥

शङ्का—आपने ये नैगम आदिक जो नय बताये हैं, उनको अयवादी—जैनप्राचिनमें भिन्न वैशेषिक आदि मतके अनुसार वस्तुस्वरूपका निरूपण करनेवाले भी मानते हैं, अथवा

ये—नय स्वतन्त्र ही है। अर्थात् ये नय अन्य सिद्धान्तका भी निरूपण करते हैं, अथवा यद्वा तद्वा—दुरुक्त अनुक्त या युक्त अयुक्त कैसे भी पक्षको ग्रहण करके जैनप्रवचनको सिद्ध करनेके लिये चाहे जैसे भी बुद्धिभेदके द्वारा दौड़नेवाले—प्रवृत्ति करनेवाले हैं? उत्तर—इन दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं है। न तो ये अन्य सिद्धान्तके प्ररूपक हैं और न चाहे जैसे बुद्धिभेदके द्वारा जैनप्रवचनको सिद्ध करनेके लिये सर्वथा स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्ति करनेवाले हैं। किन्तु ज्ञेयरूप पदार्थको विषय करनेवाले ये ज्ञान विशेष हैं। अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तुको ही ग्रहण करनेवाले ज्ञान अनेक प्रकारके हैं, उन्हींको नय कहते हैं। अतएव ये नय जैनशास्त्रका ही निरूपण करनेवाले हैं। जैसे कि किसीने घट शब्दका उच्चारण किया। यहाँपर देखना चाहिये, कि लोक में घट शब्दसे क्या चीज ली जाती है। जो घटनक्रिया—कुम्भकारकी चेष्टाके द्वारा निष्पन्न बना हुआ है, जिसके ऊपरके ओष्ठ कुण्डलाकार गोल है, और जिसकी ग्रीवा आयतवृत्त—लम्बगोल है, तथा जो नीचेके भागमें भी परिमण्डल—चारों तरफसे गोल है, एवं जो जल घी दूध आदि पदार्थोंको लाने तथा अपने भीतर भरे हुए उन पदार्थोंको धारण करनेके कार्यको करनेमें समर्थ है, और जो अग्निपाकसे उत्पन्न होनेवाले रक्तता आदि उत्तर गुणोंकी परिसमाप्ति होजानेमें भी निष्पन्न हो चुका है, ऐसे द्रव्य विशेषको ही घट कहते हैं। इस तरहके किसी भी एक खास घटका अथवा उस जातिके—जिन जिन में यह अर्थ घटित हो, उन सभी घटोंका सामान्यरूपसे जो परिज्ञान होता है, उसको नैगम नय कहते हैं।

घटादिक पदार्थ निक्षेप भेदसे चार प्रकारके होते हैं।—जैसे कि नामघट स्थापनाघट द्रव्यघट और भावघट। इनके भी वर्तमान भूत और भविष्यत् की अपेक्षासे तीन तीन भेद हैं। सो इनमेंसे किसी भी तरहके एक या अनेक—बहुतसे घटोंका सामान्यरूपसे बोध होता है, उसको संग्रहनय कहते हैं। क्योंकि यह नय विशेष अंशोंको ग्रहण न कर सामान्य अंशोंको ही ग्रहण किया करता है। तथा इन्हीं एक दो या बहुत्व संख्यायुक्त नामादिस्वरूप और जिनका लोकप्रसिद्ध एवं परीक्षक—पर्यालोचना करनेवाले जलादिक द्रव्योंको लाने आदिकमें उपयोग किया करते हैं और जो उपचारागम्य हैं—लोकक्रियाके आधारभूत है, ऐसे यथायोग्य स्थूल पदार्थोंका जो ज्ञान होता है, उसको व्यवहार नय कहते हैं। क्योंकि प्रायः करके यह नय सामान्यको ग्रहण न करके विशेषको ही ग्रहण किया करता है, और इसी प्रकार सूक्ष्मको गौण करके स्थूल विषयमें ही यह प्रायः प्रवृत्त हुआ करता है। वर्तमान क्षणमें ही विद्यमान उन्हीं घटादिक पदार्थोंके जाननेको ऋजुसूत्र नय कहते हैं। ऋजुसूत्र नयके ही विषयभूत और केवल वर्तमानकालवर्ती तथा निक्षेपकी अपेक्षा नामादिकके भेदसे चार प्रकारके पदार्थोंमेंसे किसीको भी विषय करनेवाले और जिनका वाच्यवाचक सम्बन्ध पहलेसे ही ज्ञात है, अथवा जिनका संकेत ग्रहण हो चुका है, ऐसे शब्दरूपसे घटादिकके ग्रहण करनेको साम्प्रत शब्दनय कहते हैं। उन्हीं सद्रूप—विद्यमान वर्त-

मानकाल सम्बन्धी घटादि पदार्थोंके अध्यवसायके असक्रम—विषयान्तरमें प्रवृत्ति न करनेको सम्-
भिरूढ नय कहते हैं । जिस प्रकार तीन योगोंमेंसे किसी भी एक योगका आश्रय लेकर वितर्क-
प्रधान शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति हुआ करती है, उसी प्रकार इस नयके विषयमें भी समझना चाहिये ।
यद्यपि पृथक्त्ववितर्कविचार नामका पहला शुक्लध्यान भी वितर्क प्रधान हुआ करता है, परन्तु
उसका उदाहरण न देकर यहाँ दूसरे शुक्लध्यानका ही उदाहरण दिया है, ऐसा समझना
चाहिये, क्योंकि पहले भेदमें अर्थ व्यञ्जन योगकी सन्नान्ति रहा करती है, और दूसरे भेदमें
वह नहीं रहती । तथा यह नय भी अध्यवसायके असक्रमरूप है । अतएव दूसरे शुक्ल-
ध्यानका ही उदाहरण युक्तियुक्त है । अनतरोक्त नयोंके द्वारा गृहीत घटादिक पदार्थोंके
व्यञ्जन—वाचकशब्द और उसके अर्थ—वाच्य पदार्थकी परस्परमें अपेक्षा रखकर ग्रहण करनेवाले
अध्यवसायको एवम्भूत नय कहते हैं । अर्थात् इस शब्दका वाच्यार्थ यही है, और इस अर्थका
प्रतिपादक यही शब्द है, इस तरहसे वाच्यवाचक सम्बन्धकी अपेक्षा रखकर योग्य क्रिया विशिष्ट
ही वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको एवम्भूत नय कहते हैं ।

भावार्थ—शकाकारने नयके लक्षणमें दो विकल्प उठाकर अपना मतलब सिद्ध करना
चाहा था, परन्तु प्रयत्नकारने तीसरे ही अभिप्रायसे उसका लक्षण बताकर शकाकारके पक्षका
निराकरण कर दिया है । नयोंका अभिप्राय क्या है, सो ऊपर बता दिया है, कि वे न तो
अन्य सिद्धान्तका निरूपण करनेवाले हैं और न सर्वथा स्वतन्त्र ही हैं । किंतु जिनप्रवचनके
अनुसार और यथार्थ वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेवाले हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—एवमिदानीमेकस्मिन्नयोरध्यवसायनानात्वाच्चतु विप्रतिपत्तिप्रसङ्ग
इति । अत्रोच्यते ।—यथा सर्वमेक सव्यविशेषात् सर्व द्वित्व जीवाजीवात्मकत्वात् सर्व त्रित्व
द्रव्यगुणपर्यायावरोधात् सर्व चतुष्टय चतुर्वर्शनविषयावरोधात् सर्व पञ्चत्वमस्तिकायावरोधात्
सर्व षडैतत् षड्द्रव्यावरोधादिति । यदेता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थाना तत्राप्येतानि
तद्वज्रयवादा इति । किं चान्यत् ।—यथा मतिज्ञानादिभिः पञ्चमिर्ज्ञानधर्मादीनामस्तिकायाना
मन्यतमोऽर्थः पृथक् पृथक्गुणलभ्यते पर्यायविशुद्धिविशेषादुक्तयेन न च तौ विप्रतिपत्तयः तद्व
ज्रयवादा । यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानासवचने प्रमाणैरेकोऽथ प्रमीयते स्वविषयनियमात् न
च ता विप्रतिपत्तयो भवन्ति तद्वज्रयवादा इति । आह च—

अर्थ—शका-आपने जो नयोंका स्वरूप बताया है, उसमें विरुद्धता प्रतीत होती है ।
क्योंकि आपने एक ही पदार्थमें विभिन्न प्रकारके अनेक अध्यवसायोंकी प्रवृत्ति मानी है । परन्तु
यह बात कैसे बन सकती है । एक ही वस्तु जो सामान्यरूप है, वही विशेषरूप कैसे हो

१—धीचरोऽर्थव्यञ्जनयोग्यकालान्त ॥ ४० ९ सूत्र ४६ । अविचार द्वितीयम् ॥ ४० ९ सूत्र ४४

२—'युग्य' इति च पाठ । ३—पञ्चमिर्ज्ञानधर्मादीनामस्तिकायाना ॥ इति पठान्तरम् । ४—षडैतत् इति च पाठ ।

५—तानीत्यपि पाठ ।

सकती है, अथवा जो त्रैकालिक है, वही वर्तमानक्षणवर्ती कैसे कही जा सकती है। यद्वा नामादिक तीनोंको छोड़कर केवल भावरूप या पर्याय शब्दोंका अवाच्य अथवा विशिष्ट क्रियासे युक्त वस्तु विशेष कैसे मानी जा सकती है। ये सभी प्रतीति विरुद्ध होनेसे निश्चयात्मक-तत्त्वज्ञान-रूप कैसे कही जा सकती है? उत्तर—अपेक्षा विशेषके द्वारा एक ही वस्तु अनेक धर्मात्मक होनेसे अनेक अध्यवसायोका विषय हो सकती है, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। जैसे कि सम्पूर्ण वस्तुमात्रको सत्सामान्यकी अपेक्षा एक कह सकते हैं, और उसीको जीव अजीवकी अपेक्षा दो भेद रूप कह सकते हैं, तथा द्रव्य गुण और पर्यायकी अपेक्षासे तीन प्रकारकी भी कह सकते हैं। समस्त पदार्थ चक्षु अचक्षु अवधि और केवल इन चार दर्शनोंके विषय हुआ करते हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, कि जो इन चार दर्शनोंमेंसे किसी न किसी दर्शनका विषय न हो। अतएव वस्तु मात्रको चार प्रकारका भी कह सकते हैं। इसी तरह पंच अस्तिकायोकी अपेक्षा पाँच भेदरूप और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह भेदरूप भी कह सकते हैं। जिस प्रकार इस विभिन्न कथनमें कोई भी विप्रतिपत्ति—विवाद उपस्थित नहीं होते, और न अध्यवसाय स्थानोंकी भिन्नता ही विरुद्ध प्रतीत होती है, उसी प्रकार नयवादोंके विषयमें भी समझना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार वस्तुमात्रमें एकत्व द्वित्व त्रित्व आदि संख्याओंका समक्ष या निरूपण विरुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। क्योंकि ये धर्म परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं। यदि जीवको अजीव कहा जाय या जगन्गुणको अज्ञान—जड़रूप कहा जाय। अथवा अमूर्त आकाशादि द्रव्योंको मूर्त बताया जाय, तो वह कथन विरुद्ध कहा जा सकता है, और उसके ग्रहण करनेवाले अध्यवसायोंमें भी विप्रतिपत्तिका प्रसङ्ग आ सकता है। परन्तु नयोंमें यह बात नहीं है, क्योंकि वे जिन अनेक धर्मोंको विषय करती हैं, वे परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं।

इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि—जिस प्रकार मतिज्ञान आदि पाँच प्रकारके ज्ञानोंके द्वारा धर्मादिक अस्तिकायोंमेंसे किसी भी पदार्थका पृथक् पृथक् ग्रहण हुआ करता है, उसमें किसी भी प्रकारकी विप्रतिपत्तिका प्रसंग—विसंवाद उपस्थित नहीं होता। क्योंकि उन ज्ञानोंमें ज्ञानावरण कर्मके अभावसे विशेष विशेष प्रकारकी जो विशुद्धि—निर्मलता रहा करती है, उसके द्वारा उत्कृष्टताके साथ उन्हीं पदार्थोंका भिन्न भिन्न अंशको लेकर परिच्छेदन हुआ करता है, इसी प्रकार नयवादके विषयमें भी समझना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही विषयमें प्रवृत्ति करनेवाले मतिज्ञानादिमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है, उसी प्रकार नयोंके विषयमें भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही घटादिक अथवा मनुष्यादिक किसी भी पर्यायको मतिज्ञानी चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा जेमा कुछ ग्रहण करता है, श्रुतज्ञानी उसी पदार्थको अधिक रूपसे जानता है। क्योंकि

मतिज्ञान कुछ ही पर्यायोंको विषय कर सकता है, परन्तु श्रुतज्ञान असत्यात पर्यायोंके ग्रहण और निरूपणमें समर्थ है । अत्राधिज्ञान श्रुतज्ञानकी भी अपेक्षा अधिक स्पष्टतासे इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा भी न लेकर रूपी पदार्थको जान सकता है, और इसी तरह मन पर्यायज्ञान अपने विषयको अत्राधिकी अपेक्षा भी अधिक विशुद्धताके साथ ग्रहण कर सकता है । और केवलज्ञानसे तो अपरिच्छिन्न कोई विषय ही नहीं है । इस प्रकार सभी ज्ञानोंका स्वरूप और विषयपरिच्छेदन भिन्न होनेसे उनमें किसी भी तरह की बाधा नहीं है, उसी तरह नयोंका भी स्वरूप तथा विषयपरिच्छेदन भिन्न भिन्न है, अतएव उनमें भी किसी भी तरहकी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती ।

अथवा जिस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान तथा आसवचन—आगम इन प्रमाणोंके द्वारा अपने अपने विषयके नियमानुसार एक ही पदार्थका ग्रहण किया जाता है, उसमें कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार नयोंमें भी कोई विरोध नहीं है । अर्थात् जैसे वनमें लगी हुई अग्निको एक जीव जो निरुत्कर्षा है, अपनी आँखोंसे देखकर स्वयं अनुभवरूप प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा उसी अग्निको जानता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति उसी अग्निको धूम हेतुको देखकर जानता है, तथा तीसरा व्यक्ति उसी अग्निको ऐसा स्मरण करके कि सुवर्ण पुष्पके समान पीत वर्ण प्रकाशमान और आमूलसे उष्ण स्पर्शाली अग्नि हुआ करती है, तथा वैसा ही प्रत्यक्षमें देखकर उपमानके द्वारा जानता है, तथा चौथा व्यक्ति केवल किसीके यह कहनेसे ही कि इस वनमें अग्नि है, उसी अग्निको जान लेता है । यहाँपर इन चारों ज्ञानोंमें और उनके विषयोंमें किसी भी प्रकारका विमर्श नहीं है, उसी प्रकार नयोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अतएव ऐसा कहा भी है कि—

भाष्यम्—नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमपेक्ष । वैशसमग्रमाहीव्यवहारी नैगमो ह्येव ॥१॥
यत्समृद्धीतवचनं सामान्ये देशतोऽप्य च विनये । तत्समग्रनयानियत ज्ञान विद्यालयविधिश्च ॥२॥
समुदायव्यक्त्याकृतिसत्तासद्भादिनिश्चयापेक्षम् । लोकोपचारनियत व्यवहार विस्तृत विद्यात्
साम्प्रत विषयमाहकमृजुसूत्रनय समासतो विद्यात्विद्याद्यथार्थस्य विशेषितपदं प्रावदनयम् ॥

अर्थ—नैगम नाम जनपद है, उसमें जो बोले जाते हैं, उनको नैगम कहते हैं । ऐसे—नैगमरूप शब्द और उनके वाच्य पदार्थोंके एक—विशेष और अनेक सामान्य अशोंको

१—'समासतोऽपि भवे ।' (आम नि०) । २—विद्वान्ज्ञानको प्रत्यक्ष करने है, परन्तु नैगम अनुभवरूप मतिज्ञानसे अधिग्राह्य है, हेतुका दूरकर सामान्ये देशतोऽप्य अनुमान करते हैं । उपमानसे मनस्व्य बर्तन पर सामान्य प्रत्याभितान का है । राज्य वषाके बचनेमें तो ज्ञान होता है उसको आगम करने है । ३—यस्य सामान्य अधिग्राह्य दीक्षाद्वारा धीमतिमेतन्नमीने यह बताया है कि इस सामान्य प्रत्यक्ष पर अपनेको ही प्रत्यक्षान्तर्गते सूचित करने है तथा—'आहव्येयमानमेव पर्यायान्तरवर्तिनं निर्दिशति ।' ४—देशान् विशेषण 'इति पठान्तात् ।' ५—६२दि निश्चयपेक्षमें कविन्माह । इतिगु 'सहाविनिश्चयपेक्षम्' इतिगु ।

प्रकाशित करनेकी रीतिकी अपेक्षा रखकर देश-विशेष और समग्र-सामान्यको विषय करने-वाले अध्यवसायको जिसका कि व्यवहार परस्पर विमुख सामान्य विशेषके द्वारा हुआ करता है, नैगम नय कहते हैं ॥ १ ॥ जो सामान्य ज्ञेयको विषय करनेवाला है, जो गोत्वादिक सामान्य विशेष और उसके खंडमुण्डादिक विशेषोंमें प्रवृत्त हुआ करता है, ऐसे ज्ञानको नयोंकी विधि-भेदस्वरूपके जाननेवालोंको संग्रहनयका निश्चित स्वरूप समझना चाहिये । क्योंकि सामान्यको छोड़कर विशेष और विशेषको छोड़कर सामान्य नहीं रह सकता, और सत्ताको छोड़कर न सामान्य रह सकता है, न विशेष रह सकता है । अतएव यह नय दोनोंको ही विषय किया करता है ॥ २ ॥ समुदाय नाम संघात अथवा समूहका है । मनुष्य आदिक सामान्य विशेषरूप पदार्थको व्यक्ति कहते हैं । चौड़ा गोल लम्बा तिकोना षट्कोण आदि संस्थानको आकृति कहते हैं । सत्ता शब्दसे यहाँ महासामान्य अर्थ समझना चाहिये । संज्ञा आदिसे प्रयोजन नामादिक चार निक्षेपोंका है । इन समुदायादिक विषयोंके निश्चयकी अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होनेवाले अध्यवसायको व्यवहारनय कहते हैं । यह नय विस्तृत माना गया । क्योंकि लोकमें “पर्वत जल रहा है” इत्यादि व्यवहारमें आनेवाले उपचरित विषयोंमें भी यह प्रवृत्त हुआ करता है । तथा उपचरित और अनुपचरित दोनों ही प्रकारके पदार्थोंका यह आश्रय लेता है, इसलिये इसको विस्तीर्ण कहते हैं ॥ ३ ॥ जो वर्तमानकालीन पदार्थका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसको ऋजुसूत्रनय कहते हैं । यहाँ पर ऋजुसूत्रनयका स्वरूप संक्षेपसे इतना ही समझना चाहिये यथार्थ शब्दको विषय करनेवाले और विशेषित ज्ञानको शब्दनय कहते हैं ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्राह-अथ जीवो नोजीवः अजीवो नोऽजीव इत्याकारिते केन नयेन कोऽथः प्रतीयत इति । अत्रोच्यते । जीव इत्याकारिते नैगमदेशसंग्रहव्यवहारजुसूत्रसाम्प्रतसमाभिरूढैः पञ्चस्वपि गतिष्वन्यतमो जीव इति प्रतीयते । कस्मात्, एते हि नया जीवं प्रत्यौपशमिकादियुक्तभावग्राहिणः । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं जीवस्य वा देशप्रदेशौ । अजीव इति अजीवद्रव्यमेव । नोऽजीव इति जीव एव तस्य वा देशप्रदेशाविति ॥ एवम्भूतनयेन तु जीव इत्याकारिते भवस्थो जीवः प्रतीयते । कस्मात्, एष हि नयो जीवं प्रत्यौपशमिकभावग्राहक एव । जीवतीति जीवः प्राणिति प्राणान्धारयतीत्यर्थः । तच्च जीवनं सिद्धे न विद्यते तस्माद्भवस्थ एव जीव इति । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं सिद्धो वा । अजीव इत्यजीवद्रव्यमेव । नोऽजीव इति भवस्थ एव जीव इति । समग्रार्थग्राहिवाच्चारय नयस्य नानेन देशप्रदेशौ गृह्येते । एवं जीवो जीवा इति द्वित्व बहुत्वाकारितेष्वपि । सर्व संग्रहणे तु जीवो नोजीवः अजीवो नोऽजीवो जीवो नोजीवो अजीवो नोऽजीवो इत्येकद्वित्वाकारितेषु शून्यम् कस्मात्, एष हि नयः संस्थानन्त्या जीवानां बहुत्वमेवेच्छति यथार्थग्राही । शेषास्तुनया जात्यपेक्षमेकस्मिन् बहुवचनत्वं बहुषु च बहुवचनं सर्वाकारितग्राहिण इति । एवं सर्वभावेषु नयवादाधिगमः कार्यः ।

१-“ यथार्थ शब्द ” ऐसा कहनेसे मुख्यतया एवम्भूतनयको सूचित किया है, जैसा कि श्रीसिद्धसेनगणीकृत टीकामें भी कहा है कि “ अनेन तु एवम्भूत एव प्रकाशितो लक्ष्यते सर्व विशुद्धत्वात्तस्य । ” “ विशेषितपदम् ” ऐसा कहनेसे साम्प्रत और समभिरूढ इन दो भेदोंको ध्वनित किया है ।

अर्थ—शब्दा—“जीव” या “नोजीव” अथवा “अजीव” यद्वा “नोअजीव” इस तरहसे केवल शुद्धपदका ही यदि उच्चारण किया जाय, तो नैगमात्मिक नयोंमेंसे किम नयके द्वारा इन पदोंके कोनसे अर्थका बोधन कराया जाता है ? उत्तर—“जीव” ऐसा उच्चारण करनेपर देशग्राही नैगम समग्र व्यवहार ऋजुसूत्र साम्प्रत और समभिरूढ इन नयोंके द्वारा पाँच गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीव पदार्थका बोधन होता है । क्योंकि ये नय जीव शब्दसे औपशमिक आदि परिणामोंसे जो युक्त है, उसको जीव कहते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करनेवाले हैं । अर्थात् इन नयोंके द्वारा औपशमिकादि पाँच प्रकारके भावोंमेंसे यथासमय भावोंको जो धारण करनेवाला है, वह जीव है ऐसे अर्थका बोधन कराया जाता है । “नोजीव” ऐसा कहनेसे जीवके देश अथवा प्रदेश इन दोनोंका प्रत्यय होता है । “अजीव” ऐसा कहनेसे केवल अजीव द्रव्यका ही बोध होता है । और “नोअजीव” ऐसा कहनेसे या तो जीव द्रव्यका ही बोध होता है अथवा उसीके—जीवके ही देश और प्रदेश दोनोंका बोध होता है ।

भावार्थ—ऊपर नैगम आदिक नयोंका जो स्वरूप बताया है, वह केवल घटादिक अजीव पदार्थोंके उद्देशको लेकर ही दिखाया गया है, न कि जीव पदार्थका भी उदाहरण देकर, अथवा उन उदाहरणोंमें केवल विधिरूपका ही उद्देश पाया जाता है, न कि प्रतिषेधरूपका । अतएव यहाँपर जीव नो जीव अजीव नोअजीव इन चार विरुद्धोंके द्वारा उन नयोंका अभिप्राय स्पष्ट किया है । इनमेंसे जीव शब्दका उच्चारण करनेपर जीव पदार्थ का ही बोध होता है । औपशमिकादि भावोंमेंसे किसी भी, एक को या दो को अथवा सभीको जो धारण करनेवाला है, उसको जीव कहते हैं । मिद्धजीव क्षायिक और पारणामिक भावोंको ही धारण करनेवाले हैं परन्तु अथ जीवोंमें औपशमिक सायोपशमिक और औशयिभूत भी पाये जाते हैं । वह जीव नरक नियोग मनुष्य और देव इस तरह चार गतियोंमें और पाँचवी सिद्ध गतिमें भी रहनेवाला है । समप्रप्राही नैगम और एवमनको ग्रेडकर बाकी उपर्युक्त सभी नयोंके द्वारा इन पाँचों ही म्यानों—अवस्थाओंमें रहनेवाले जीवपदार्थका बोध हुआ करता है ।

नोजीव इस शब्दके द्वारा जो अर्थोंका बोध होना, वह तो जीवसे भिन्न पदार्थ दूसरा जीवका अर्थ । क्योंकि नो शब्द सर्व प्रतिषेधमें भी आता है, और ईषत् प्रतिषेधमें भी आता है । तो जब सर्व प्रतिषेध अर्थ विरहित हो, तब तो नोजीव शब्दका अर्थ जीवद्रव्यमे भिन्न अर्थ भी द्रव्य ऐसा समझना चाहिये, और जब ईषत् प्रतिषेध अर्थ अभीष्ट हो, तब जीवद्रव्यका अर्थ ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । अर्थ भी जो प्रत्ययसे समझने चाहिये, एक तो अनुपपत्ति

१—क्योंकि जैनमिथ्यात्वमें शुद्धपद का पदार्थ नहीं माना है, और न ही वह शुद्ध पदार्थ माना है । क्योंकि शब्दों का अर्थ ही है । तथा राजगरी कायक और अवस्थाही कायक नहीं है । शब्दों का अर्थ ही कायक कायक ही कायक कायक ।

षष्ठांश अष्टमांश आदि देशरूप अथवा अविभागी प्रदेशरूप । अजीव शब्दसे पुद्गलादिक अजीव द्रव्यका ही ग्रहण होता है । क्योंकि यहाँपर अकार सर्वप्रतिषेधार्थी है । नोअजीव ऐसा कहनेसे दो अर्थोंका बोध होता है, जब नो और अ इन दोनोंका ही अर्थ सर्वप्रतिषेध है, तब तो नोअजीवका अर्थ जीवद्रव्य ही समझना चाहिये । क्योंकि दो नकार-निषेधका निषेध प्रकृतस्वरूपकाही बोधन कराया करता है । किंतु जब नोका अर्थ इषन् निषेध और अ का अर्थ सर्वप्रतिषेध है, तब नोअजीवका अर्थ जीवद्रव्यका देश अथवा प्रदेश ऐसा करना चाहिये ।

इस प्रकार जीव नोजीव आदि चार विकल्पोंमें प्रवृत्ति करनेवाले नैगम आदि नयोसे किस अर्थका बोध होता है, सो ही यहाँपर बताया है । परन्तु एवम्भूतनयमें यह बात नहीं है । उसमें क्या विशेषता है सो बताते हैं—

एवम्भूतनयसे जीव शब्दका उच्चारण करनेपर चतुर्गतिरूप संसारमें रहनेवाले जीवद्रव्यका ही बोध होता है, सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेवाले जीवका बोध नहीं होता । क्योंकि यह नय जीवके विषयमें औदायिक भावको ही ग्रहण करनेवाला है । तथा जीव शब्दका अर्थ ऐसा होता है कि “ जीवतीति जीवः । ” अर्थात् जो द्वासोच्छ्वास लेता है—प्राणोंको धारण करनेवाला है, उसको जीव कहते हैं । सो सिद्ध पर्यायमें प्राणोंका धारण नहीं है । अतएव एवम्भूतनयसे संसारी जीवका ही ग्रहण करना चाहिये । नोजीव शब्दसे या तो अजीव द्रव्यका ग्रहण होता, अथवा सिद्ध जीवका । क्योंकि जीव शब्दका अर्थ जीवन—प्राणोंका धारण करना है, सो दोनोंमें से किसीमें भी नहीं पाया जाता । अजीव कहनेसे केवल पुद्गलादिक अचेतन द्रव्यका ही ग्रहण होता है, और नोअजीव कहनेसे संसारी जीवका ही बोध होता है । यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार नोजीव और नोअजीव शब्दोंका अर्थ जीवके देश अथवा प्रदेशका भी हो सकता है, परन्तु यह अर्थ यहाँपर नहीं लेना चाहिये; क्योंकि एवम्भूतनय देश प्रदेशको ग्रहण नहीं करता । वह स्थूल अथवा सूक्ष्म अवयवरूप पदार्थको विषय न करके परिपूर्ण अर्थको ही ग्रहण किया करता है । इस प्रकार

१—नञ् रूप प्रतिषेधके भी दो अर्थ होते हैं—एक प्रसज्य दूसरा पर्युदास । प्रसज्य पक्षमें नञ्का अर्थ सर्व प्रतिषेध और पर्युदास पक्षमें तद्विषय तत्सङ्ग अर्थ होता है । यथा—“ पर्युदास सदग्रही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् । ” इस नियमके अनुसार अजीव शब्दके भी दो अर्थ हो सकते हैं । परन्तु नो जीव शब्दके दो अर्थ किये गये हैं, अतएव अजीव शब्दका एक सर्वप्रतिषेधरूपही अर्थ करना उचित है, ऐसा इस लेखके आचार्यका अभिप्राय मात्तम होता है । २—“ द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतं गमयत ” ऐसा नियम है । ३—जिनका संयोग रहनेपर जीवमें “ यह जीता है ” ऐसा व्यवहार हो और जिनका वियोग होनेपर “ यह मर गया ” ऐसा व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं । ऐसे प्राण दश है—पांच इन्द्रिय तीन बल-मन वचन काय आयु और द्वासोच्छ्वास यथा—“ जं संजोगे जीवति मरति वियोगे वि तेवि दह पाणा । ” तथा—पंचवि इन्द्रिय पाणा मणवन्त्रिकाएषु तिणि वलपाणा । आणप्याणप्याणा आङ्गपाणेण हौन्दिदसपाणा ॥ ” सो ये प्राण संसारी जीवोंकी अपेक्षासे कहे गये हैं । सिद्धोंमें ये नहीं रहते, क्योंकि प्राण दो प्रकारके होते हैं, द्रव्यरूप और भावरूप । द्रव्यप्राणोंके ये दश भेद हैं । भावप्रमाण चेतनारूप है । संसारी जीवमें दोनों ही तरहके प्राण पाये जाते हैं, और सिद्धोंमें केवल भावप्राण-चेतना ही पाया जाता है ।

जीव नोजीव अजीव और नोजीव इन चार विस्त्वोंको एक वचनके ही द्वारा बताया है । परन्तु उसी तरह से द्विवचन और बहुवचनके द्वारा भी समझ लेना चाहिये ।

सर्व समग्रहनय भी इसी तरह चारों विस्त्वोंको ग्रहण करता होगा । ऐसा सदेह किसीको न हो जाय, इसलिये उसकी विशेषताको स्पष्ट करते हैं, कि सर्वसमग्रहनय जीव नोजीव अजीव नोजीव इन एक वचनरूप विस्त्वोंको तथा जीवो नोजीवो अजीवो नोजीवो इन द्विवचनरूप विस्त्वोंको ग्रहण नहीं करता । क्योंकि यह नय यथार्थग्राही है—जैसा वस्तुका स्वरूप है, वैसा ही ग्रहण करता है । चारों गतिवर्ती ससारी और सिद्ध ऐमे पाँचों प्रकारके जीवोंकी सरया सब मिलकर अनन्त है । अतएव यह नय बहुवचनको ही विषय करता है । यद्यपि इसके विस्त्वोंका आकार पहले अनुसार ही है, परन्तु उसका अर्थ केवल बहुवचनरूप ही है, ऐसा समझ लेना चाहिये । इसी लिये बाकीके जो नैगमादिक नय हैं, वे द्विवचनरूप और एकवचनरूप भी विस्त्वोंको विषय किया करते हैं, ऐसा अर्थ स्पष्ट ही हो जाता है । जिस समय जीव शब्दका अर्थ एक जीव द्रव्य ऐसा अभीष्ट हो, वहाँ एकवचनका प्रयोग होता है, परन्तु जहाँ जातिकी अपेक्षा हो, वहाँ उस एक पदार्थके अभिधेय रहते हुए भी बहुवचनका प्रयोग हो सकता है । इसके सिवाय यहाँपर जीव शब्दका अर्थ बहुतसे प्राणी ऐसा दिखाना अभिप्रेत हो, वहाँपर भी बहुवचनका प्रयोग हुआ करता है । अतएव समग्रहनय बहुवचनरूप ही विस्त्वोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ करता है, और बाकीके नय एकवचनरूप द्विवचनरूप और बहुवचनरूप तीनों ही तरहके विस्त्वोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त हो सकते हैं । क्योंकि वे सर्वाकारग्राही हैं । यहाँपर जिस तरह जीव शब्दके विधिप्रतिषेधको लेकर नयोंका अनुगत अर्थ बनाया है, उसी प्रकार सत्त्व—द्रुमुत्सुओंको धर्मास्तिकायादिक अन्य सभी पदार्थोंके विषयमें भी उक्त सम्पूर्ण नयोंका अनुगत लेना चाहिये ।

ऊपर वस्तुस्वरूपको विषय करनेवाले ज्ञानके आठ भेद बताये हैं । उनमेंसे किम किम ज्ञानमें कौन कौनसे नयकी प्रवृत्ति हुआ करती है, इस बातको बतानेके लिये आगेइ प्रकारण लिखते हैं—

भाष्यम्—अत्राह—अथ पञ्चानां ज्ञानानां सविपर्ययाणां कानि का नय भवत इति । अत्रापने—नैगमादयस्त्रय सवाण्यष्टी भवन्ते । क्रतुसूत्रनयो मतिज्ञातमत्यज्ञानयजानि पञ्च । अत्राह ।—कस्मान्मति सविपर्यया न भवत इति । अत्राच्यत ।—धृतरथ सविपर्ययस्योपपत्त्यात् । शङ्खनयस्तु द्वे एव श्रुतज्ञातकथलज्ञाने भवते । अत्राह ।—कस्मादेव

राणि श्रयते इति । अत्रोच्यते ।—मत्यवधिमनःपर्यायाणां श्रुतस्यैवोपग्राहकत्वात् । चेतना-
ज्ञस्वाभाव्याच्च सर्वजीवानां नास्य कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरज्ञो वा जीवो विद्यते, तस्मादपि
विपर्ययाच्च श्रयत इति । अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानातवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायत
इति । आह च ।—

अर्थ—प्रश्न—पहले ज्ञानके पाँच भेद बता चुके हैं, और तीन विपरीत ज्ञानोंका
स्वरूप भी लिख चुके हैं । दोनों मिलकर ज्ञानके आठ भेद हैं । इनमेंसे किन किन ज्ञानोंकी
नैगमादि नयोंमेंसे कौन कौनसा नय अपेक्षा लेकर प्रवृत्त हुआ करता है ? अर्थात् कौन कौनसा
नय किस किस ज्ञानका आश्रय लिया करता है ? उत्तर—नैगम आदिक तीन नय—नैगम
संग्रह और व्यवहार तो कुल आठों प्रकारके ज्ञानका आश्रय लिया करते हैं, और ऋजुसूत्र नय
आठमेंसे मतिज्ञान और मत्यज्ञान इन दोके सिवाय बाकी छह प्रकारके ज्ञानका आश्रय लिया
करता है । प्रश्न—यह नय मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय क्यों नहीं लेता ? उत्तर—ये
दोनों ही ज्ञान श्रुतज्ञान और श्रुताज्ञानका उपकार करने वाले हैं, अतएव उनका आश्रय नहीं
लिया जाता । चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह यदि अवग्रहमात्र ही हो,
तो उससे वस्तुका निश्चय नहीं हो सकता । क्योंकि जब श्रुतज्ञानके द्वारा उस पदार्थका
पर्यालोचन किया जाता है, तभी उसका यथावत् निश्चय हुआ करता है । अतएव मतिज्ञानसे
फिर क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? इसी लिये ऋजुसूत्रनय मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय
नहीं लिया करता । शब्दनय श्रुतज्ञान और केवलज्ञान इन दो ज्ञानोंका ही आश्रय लेकर
प्रवृत्त हुआ करता है । प्रश्न—बाकी छह ज्ञानोंका आश्रय यह नय क्यों नहीं लेता ? उत्तर—
मतिज्ञान अविज्ञान और मनःपर्यायज्ञान श्रुतज्ञानका ही उपकार करनेवाले हैं । क्योंकि ये
तीनों ही ज्ञान स्वयं जाने हुए पदार्थके स्वरूपका दूसरेको बोध नहीं करा सकते । ये ज्ञान स्वयं
मूक हैं, अपने आलोचित विषयके स्वरूपका अनुभव दूसरेको स्वयं करानेमें असमर्थ हैं, श्रुत-
ज्ञानके द्वारा ही उसका बोध करा सकते हैं, और वैसा ही कराया भी करते हैं । यद्यपि केवल
ज्ञान भी मूक ही है, परन्तु वह समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला और इसीलिये सबसे प्रधान
है । अतएव शब्दनय उसका अवलम्बन लेता है । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि
चेतना—जीदत्व—अर्थात् सामान्य परिच्छेदकत्व और ज्ञ अर्थात् विशेषपरिच्छेदकता इन दोनोंका
तथाभूत परिणमन सभी जीवोंमें पाया जाता है । इस नयकी अपेक्षासे पृथिवीकायिक आदि
कोई भी जीव न मिथ्यादृष्टि है और न अज्ञ ही है । क्योंकि सभी जीव अपने अपने विषयका
परिच्छेदन किया करते हैं—स्पर्शको स्पर्श और रसको रसरूपसे ही ग्रहण किया करते हैं, उनके
इस परिच्छेदनमें अययार्थता नहीं रहा करती । इसी प्रकार कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञानका
अभाव पाया जाय । ज्ञानजीवका लक्षण है, वह मवमें रहता ही है, कमसे कम अक्षरके अनंतवें

भाग प्रमाण तो रहता ही है । इस अपेक्षा से सभी जीव सम्यग्दृष्टि है, और ज्ञानी हैं । अतएव इस दृष्टिसे कोई विपरीत ज्ञान ही नहीं उठता है । और उसके बिना शब्दनय अवलम्बन किसका लेगा । इसलिये भी विपरीत ज्ञानका शब्दनय आश्रय नहीं लेता । और इसी लिये प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और आप्तवचन—आगमको भी प्रमाण समझ लेना चाहिये ।

अब इस अध्यायके अतमें पाँच कारिकाओंके द्वारा इस अन्यायमें निम निम विषयका वर्णन किया गया है, उसका उपसंहार करते हैं ।

भाष्यम्—विज्ञायेकार्यपदान्यर्थपदानि च विधानमिष्ट च ।

विन्यस्य परिक्षेपात्, नये परीक्षाणि तत्त्वानि ॥ १ ॥

ज्ञान सविपर्यास त्रय श्रयन्त्यादितो नया सर्वम् ।

सम्यग्दृष्टेर्ज्ञान मिथ्यादृष्टेर्विपर्यास ॥ २ ॥

ऋजुसूत्र पद श्रयते मते श्रुतोपग्रहादनन्यत्वात् ।

श्रुतकेचले तु शब्द श्रयते नाम्यच्छ्रुताद्गतत्वात् ॥ ३ ॥

मिथ्यादृष्ट्यज्ञाने न श्रयते नास्य कश्चिद्वशोऽस्ति ।

ज्ञात्वाभाष्याज्जीवो मिथ्यादृष्टिर्न चाप्यस्ति ॥ ४ ॥

इति नयवादाश्चिन्ना कश्चिद् विरुद्धा इवाथ च विशुद्धा ।

लौकिकविषयातीता तत्त्वज्ञानार्थमधिगम्या ॥ ५ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रयचनसंग्रहे प्रथमोऽध्याय समाप्तः ॥

अर्थ—जीव प्राणी जन्तु इत्यादि एकार्थ पदोंको और निरुक्तिसिद्ध अर्थपदोंको जानकर तथा नाम स्थापना आदिके द्वारा तत्त्वोंके भेदोंको जानकर एव निर्देश स्वामित्व आदि तथा सत् सत्त्वा आदि अधिगमोपायोंको भी समझकर नामादि निक्षेपोंके द्वारा तत्त्वोंका व्यवहार करना चाहिये और उपर्युक्त नयोंके द्वारा उनकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ १ ॥

१—जैसा कि कहा भी है कि “सर्वजीवाण पि य ण अश्रुत्स्म अणतो भागो नि-चुग्यादितभा ।” (गन्दीसूत्र ४०) अर्थात् सभी जीवोंके अक्षरके अन्तर्गत भाग प्रमाण ज्ञान तो कमसे कम निय उद्घाटित होता है । यह ज्ञान निगोदियाके ही पाया जाता है । और इसकी पर्यायज्ञान तथा लक्ष्यक्षर भी कहते हैं । क्योंकि लब्धि नाम ज्ञानावरणकर्मके दायोपागमसे प्राप्त विरुद्धि है । और अक्षर नाम अविभाज्यकर्म है । ज्ञानावरणकर्मका इतना दायोपागम तो रहता ही है । अतएव “सर्वो लक्ष्यक्षर कहने हैं । ६५-१६ के दण्डी और इसका वर्णको वादाल तथा वादालके वर्णका एवही कहते हैं । केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदेमि एक कम एवहीका भाग देनेसे जो लक्ष्य आवे, उतने अविभागप्रतिच्छेदोंक समूहका नाम अक्षर है । अक्षर प्रमाणसे अनन्तका भाग देनेसे अतने अविभागप्रतिच्छेद लक्ष्य आवे उतने ही अविभागप्रतिच्छेद पदाय ज्ञानमें पाय जाये हैं । वे निरुद्धि हैं । २—यह कथन “उद्भिद्ययनयरी अपेक्षामे है । अतएव कथना एका ही नदी समझ पाहिये । समोपाधिरहित शुद्ध जीवका स्वरूप होगा है यह अभिप्राय समझा पाहिये । विजु शेषव्यवहार एक नयके द्वारा नहीं विजु समूह नयोंके द्वारा भाष्य है ।

१—‘न बाष्पा इति कश्चिद् पाठः ।

आदिके तीन नय—नैगम संग्रह और व्यवहार सभी सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानोंको विषय किया करते हैं । परन्तु सम्यग्दृष्टिके ज्ञानको ज्ञान—सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको उससे विपरीत—मिथ्याज्ञान कहते हैं ॥ २ ॥

ऋजुसूत्र नय छह ज्ञानोंका ही आश्रय लिया करता है—मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय नहीं लिया करता । क्योंकि मतिज्ञान श्रुतज्ञानका उपकार करता है, और इसीलिये मति और श्रुतमें कथंचित् अभेद भी है । जब श्रुतज्ञानका आश्रय ले लिया, तब मतिज्ञानकी आवश्यकता भी क्या है ? शब्दनय श्रुतज्ञान और केवलज्ञानका ही आश्रय लिया करता है, औरोंका नहीं । क्योंकि अन्य ज्ञान श्रुतज्ञानमें ही बलाघान किया करते हैं, वे स्वयं अपने विषयका दूसरेको बोध नहीं करा सकते ॥ ३ ॥

शब्दनय मिथ्यादर्शन और अज्ञानका भी आश्रय नहीं लिया करता, क्योंकि इस नयकी अपेक्षासे कोई भी प्राणी अज्ञ नहीं है । क्योंकि सभी जीव ज्ञस्वभावके धारण करनेवाले हैं, इसीलिये इस नयकी दृष्टिसे कोई भी जीव मिथ्यादृष्टि भी नहीं है ॥ ४ ॥

इस तरह नयोंका विचार अनेक प्रकारका है, यद्यपि ये नय कहीं कहीं पर किसी किसी विषयमें प्रवृत्त होनेपर विरुद्ध सरीखे दीखा करते हैं, परन्तु अच्छी तरह पर्यालोचन करनेपर वे विशुद्ध—निर्दोष—अविरुद्ध ही प्रतीत हुआ करते हैं । वैशेषिक आदि अन्य—जैनेतर लौकिक मतोंके शास्त्रोंमें ये नय नहीं हैं । उन्होंने इन नयोंके द्वारा वस्तुस्वरूपका पर्यालोचन किया भी नहीं है । परन्तु इनके विना वस्तुस्वरूपका पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव तत्त्वज्ञानको सिद्ध करनेके लिये इनका स्वरूप अवश्य ही जानना चाहिये ॥ ५ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता जीवादीनि तत्त्वाणीति । तत्र को जीव कथं लक्षणो वेति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—पहले जीवादिक सात तत्त्वोंका आपने नामनिर्देश किया है । उनमेंसे अभीतक किसीका भी स्वरूप नहीं बताया, और न उनका लक्षण विधान ही किया । अतएव सबसे पहले क्रमानुसार जीवतत्त्वका ही स्वरूप कहिये कि वह क्या है, और उसका लक्षण किस प्रकार करना चाहिये कि जिससे उसकी पहचान हो सके ? अतएव इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—औपशमिकक्षायिको भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥**

भाष्यम्—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक पारिणामिक इत्येते पञ्च भावा जीवस्य स्वतत्त्व भवन्ति ।

अर्थः—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव जीवके स्वतत्त्व हैं ।

भावार्थ—जो कर्मोंके उपशमसे होनेवाले है, उनको औपशमिक और क्षयसे होनेवालोंको क्षायिक तथा क्षयोपशमसे होनेवालोंको क्षायोपशमिक एवं उदयसे होनेवाले भावोंको औदयिक कहते हैं । परन्तु निम्नके होनेमें कर्मकी अपेक्षा ही नहीं है—जो स्वत ही प्रकट रहा करते हैं, उनको पारिणामिकभाव कहते हैं ।

यद्यपि इनके सिवाय अस्तित्व वस्तुत्व आदि और भी अनेक स्वभाव ऐसे हैं, जोकि जीवके स्वतत्त्व कहे जा सकते हैं, परन्तु उनको इस सूत्रमें न बतानेका कारण यह है, कि वे जीवके असाधारण भाव नहीं हैं । क्योंकि वे जीव और अजीव दोनों ही द्रव्योंमें पाये जाते हैं । किंतु ये पाँच भाव ऐसे हैं, जोकि जीवके सिवाय अन्यत्र नहीं पाये जाते । इसी लिये इनको जीवका स्वतत्त्व—निज तत्त्व कहा गया है ।

यहाँपर जीव शब्दका अभिप्राय आयुक्रमही अपेक्षासे जीवन पर्यायके धारण करनेवाला ऐसा नहीं है । क्योंकि ऐसा होनेसे सिद्धोंमें जो क्षायिक तथा पारिणामिक भाव रहा करते हैं, सो नहीं बन सकेगे । अतएव यहाँपर जीवसे अभिप्राय जीवत्व गुणके धारण करनेवाला है । जो जीता है—प्राणोंके धारण करता है, उसको जीव कहते हैं । प्राण तो प्रसारके बजाये हैं—एक द्रव्यप्राण दूसरे मातृप्राण । सिद्ध जीवोंमें यद्यपि

द्रव्यप्राण नहीं रहते, क्योंकि वे कर्मोंकी अपेक्षासे होनेवाले हैं, परन्तु भावप्राण रहते ही हैं। क्योंकि उनमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं है।—वे शास्वतिक हैं।

जीव दो प्रकारके हुआ करते हैं, एक भव्य दूसरे अभव्य। इनमेंसे औपशमिक और क्षायिक ये दो स्वतत्त्व भव्यके ही पाये जाते हैं, और बाकीके तीन स्वतत्त्व भव्य अभव्य दोनोंके ही रहा करते हैं। औपशमिक और क्षायिक इन दोनों भावोंकी निर्मलता एकसी हुआ करती है, परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है, कि औपशमिकमें तो प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता रहा करती है, किंतु क्षायिकमें बिल्कुल भी उसकी सत्ता नहीं पाई जाती। जैसे कि संपंकजलमें यदि निर्मली आदि डाल दी जाय, तो उससे पंकका भाग नीचे बैठ जाता है और ऊपर जल निर्मल हो जाता है, ऐसे ही औपशमिक भावकी अवस्था समझनी चाहिये। यदि उसी निर्मल जलको किसी दूसरे वर्तनमें नितार लिया जाय, तो उसके मूलमें पंककी सत्ता भी नहीं पाई जाती, इसी तरह क्षायिक की अवस्था समझनी चाहिये। क्षायोपशमिकमें यह विशेषता है, कि प्रतिपक्षी कर्मकी देशघाती प्रकृतिका फलोदय भी पाया जाता है। जैसे कि संपंक जलमें निर्मली आदि डालनेसे पंकका कुछ भाग नीचे बैठ जाय और कुछ भाग जलमें मिला रहे। उसी प्रकार क्षायोपशमिक भावमें कर्मकी भी क्षीणाक्षीण अवस्था हुआ करती है। गति आदिक भाव जोकि आगे चलकर बताये जायेंगे, वे कर्मके उदयसे ही होनेवाले हैं, और पारिणामिक भावोंमें चाहे वे साधारण हों, चाहे असाधारण कर्मकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है—वे स्वतः सिद्ध भाव हैं।

ये पाँचों भाव अथवा इनमेंसे कुछ भाव जिसमें पाये जायें, उसको जीव समझना चाहिये। यही जीवका स्वरूप है। अब यहाँपर दूसरे प्रश्नके उत्तरमें जीवका लक्षण बताना चाहिये था, परन्तु वह आगे चलकर लिखा जायगा, अतएव उसको यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये यहाँपर इन पाँचों भावोंके उत्तरभेदोंको गिनाते हैं। उनमें सबसे पहले औपशमिकादिक भेदोंकी संख्या कितनी कितनी है, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—एते औपशमिकादयः पञ्च भावा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा भवन्ति। तद्यथा—औपशमिको द्विभेदः, क्षायिको नवभेदः, क्षायोपशमिकोऽष्टादशभेदः, औदायिक एकविंशतिभेदः, पारिणामिकस्त्रिभेद इति। यथाक्रममिति येन सूत्रक्रमेणात ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥

अर्थ—ये औपशमिक आदि पाँच भाव क्रमसे दो नौ अठारह इक्कीस और तीन भेदवाले हैं। अर्थात्—औपशमिकभावके दो भेद, क्षायिकके नौ भेद, क्षायोपशमिकके अठारह

१—क्योंकि यहाँपर जीव शब्दका अभिप्राय सामान्य जीव द्रव्यसे है, न कि आयु प्राणसम्बन्धी जीवन पर्यायके धारण करनेवाले ससारी जीवसे। यहाँपर स्वतत्त्व शब्दसे स्वशब्दसे आत्मा और आत्मीय दोनोंका ही ग्रहण हो सकता है। २—क्योंकि इसी अध्यायकी आदिमें प्रश्न किये थे, कि जीव क्या है, और उसका लक्षण क्या है? स्वतत्त्वोंके निरूपणसे पहले प्रश्नका उत्तर तो हो चुका। ३—“उपयोगो लक्षणम्” अध्याय २ सूत्र ८ में लिखा है।

औद्ययिके इक्षीस भेद और पारिणामिकके तीन भेद हैं । ये दो आदिक भेद कौन कौनसे हैं, सो आगे चलकर सूत्रक्रमके अनुसार बतावेंगे ।

कोई कोई विद्वान् यहाँपर सिद्धजीवोंकी व्यावृत्तिके लिये " ससारस्थानाश्च " अर्थात् ये भेद ससारी जीवोंमें पाये जाते हैं " ऐसा वाक्यशेष भी जोड़कर बोलते हैं । परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है । क्योंकि सभी जगह शब्दोंका अर्थ यथासम्भव ही किया जाता है । सभी जीवोंमें सब भाव पाये जायँ ऐसा नियम नहीं है, और न बन ही सकता है । जैसे कि आदिरे दो मात्र सम्यग्दृष्टिके ही सम्भव हैं, न कि मिथ्यादृष्टिके, उसी प्रकार सिद्धोंमें भी यथाम्भवही मात्र समस्त लेने चाहिये । उसके लिये " ससारस्थानाश्च " ऐसा वाक्यशेष करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

कमानुसार औपशमिकके दो भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सम्यक्त्व चारित्र्यं च द्वाधीपशमिकी भाषी भवत इति ।

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र्य ये दो औपशमिक भाव हैं ।

भावार्थ—यद्यपि सम्यक्त्व और चारित्र्य क्षायिक और क्षायोपशमिक भी हुआ करता है परन्तु औपशमिकके ये दो ही भेद हैं । इनमें से सम्यक्त्वका लक्षण पहले अध्यायमें कहा जा चुका है, और चारित्र्यका लक्षण आगे चलकर नौवें अध्यायमें कहेंगे । जिसका सारांश यह है, कि सम्यग्दर्शनसे घातनेवाते जो कर्म हैं, तीन दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबन्ध। कथाम् इन साँतों प्रवृत्तियोंका उपशम हो जानेपर जो तत्त्वोंमें रानि हुआ करती है, उसके औपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं । और शुभ तथा अशुभरूप क्रियाओंकी प्रवृत्तिरी निवृत्तिके चारित्र्य कहते हैं । चारित्र्यमोहनीयकर्मका उपशम हो जानेपर जो चारित्र्य गुण प्रकट होकर शुभाशुभ क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाती है, उसको औपशमिकचारित्र्य कहते हैं । यह चारित्र्य गुण ग्यारहवें गुणग्रन्थमें ही पूर्ण हुआ करता है । क्योंकि चारित्र्यमोहनीय की शेष २१ प्रवृत्ति योंही उपशम यहाँपर होता है ।

प्रमानुसार क्षायिकके नौ भेदोंको गिनाते हैं —

सूत्र—ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

भाष्यम्—ज्ञानं दर्शनं दानं लाभो भोगो उपभोगो वीर्यामिवेतानि च सम्यक्त्वचारित्र्ये च नव क्षायिका भावा भवन्ति इति ।

१—कह कथन इति सिद्धांतिकी भाष्यस्य हे अर्थः सिद्धं हि च त्रिषु क्षेत्रे सम्यक्त्व प्रवृत्तिरे निवृत्तिरूपे प्रवृत्तिरेव सम्यक्त्व ही सम्यक्त्व हुआ करता है । २—उपभोगः कथं एतदेव वीर्याणाम् सम्यक्त्व चारित्र्यम् ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये सात भाव और पूर्व सूत्रमें जिनका नामोल्लेख किया गया है, वे दो—सम्यक्त्व और चारित्र्य इस तरह कुछ मिला कर नौ क्षायिक भाव होते हैं ।

भावार्थ—प्रतिपक्षी कर्मके सर्वथा निःशेष हो जानेपर आत्मामें ये नौ भाव प्रकट हुआ करते हैं । ज्ञानावरणकर्मका नाश होनेपर क्षायिकज्ञान—केवलज्ञान उत्पन्न होता है । दर्शनावरणकर्मके क्षीण होनेपर क्षायिक दर्शन—अनंतदर्शन उद्भूत हुआ करता है । अन्तरायकर्मके आमूल नष्ट हो जानेपर दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पाँच भाव आविर्भूत होते हैं । इसी तरह सम्यग्दर्शनके घातनेवाली उपर्युक्त सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षीण होनेपर क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र्यमोहनीयका सर्वथा क्षय होनेपर क्षायिकचारित्र्य प्रकट होता है । इनमेंसे क्षायिकसम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें तक किम्भी भी गुणस्थानमें उद्भूत हो सकता है, और क्षायिकचारित्र्य बागहवें गुणस्थानमें ही प्रकट होता है, तथा स्वाकीके अनन्तज्ञानादिक सात भाव तेरहवें गुणस्थानमें ही प्रकाशित हुआ करते हैं ।

सम्यक्त्व चारित्र्य और ज्ञान दर्शनका लक्षण पहले लिख चुके हैं । दानका लक्षण आगे चलकर लिखेंगे कि “ स्वस्यातिसर्गो दानम् । ” अर्थात् रत्नत्रयादि गुणोंकी सिद्धिके लिये अपनी कोई भी आहार औषध शस्त्र आदि वस्तुका वितरण करना इसको दान कहते हैं । लाभ नाम प्राप्ति है, और जो एक बार भोगनेमें आ सके उसको भोग तथा जो बार बार भोगनेमें आ सके उसको उपभोग कहते हैं । एवं वीर्य नाम उत्साह शक्तिका है । ये इन भावोंके सामान्य लक्षण हैं । विशेषरूपसे क्षायिक अवस्थामें यथासम्भव घटित कर लेने चाहिये ।

प्रश्न—सिद्धत्वभाव भी क्षायिकभाव है, सो उसका भी इनके साथ ग्रहण क्यों नहीं किया ? उत्तर—वह आठों ही कर्मोंके सर्वथा क्षय हो जानेपर सिद्ध अवस्थामें ही प्रकट होता है । अतएव उसके यहाँ उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि ये नौ क्षायिकभाव तो ऐसे हैं, जो कि संसार और मोक्ष दोनों ही अवस्थाओंमें पाये जाते हैं ।

क्षायोपशमिकभावके अठारह भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः
सम्यक्त्वचारित्र्यसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥**

भाष्यम्—ज्ञानं चतुर्भेदं—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं अवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिति । अज्ञानं त्रिभेदं—मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विमद्गज्ञानमिति । दर्शनं त्रिभेदं—चक्षुर्दर्शनं अचक्षुर्दर्शनं अवाधि-दर्शनमिति । लब्धयः पञ्चविधाः—दानलब्धिः लाभलब्धिः भोगलब्धिः उपभोगलब्धिः वीर्य-लब्धिरिति । सम्यक्त्वं चारित्र्यं संयमासंयम इत्येतेऽष्टादश क्षायोपशमिका भावा भवन्तीति ।

अर्थ—चार प्रकारका ज्ञान—मतिज्ञान द्रुतज्ञान अविज्ञान और मन पर्यायज्ञान । तीन प्रकारका अज्ञान—मत्त्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभगाज्ञान । तीन प्रकारका दर्शन—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन और अविज्ञान । पाँच प्रकारकी लब्धि—दानलब्धि लाभलब्धि भोगलब्धि उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धि । एक प्रकारका सम्पत्त्व और एक प्रकारका चारित्र तथा एक प्रकारका सयमाप्तयम् । इस तरह कुल मिलाकर अठारह क्षायोपशमिकभाव होते हैं ।

भावार्थ—ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंमेंसे चार घाती और चार अघाती हैं । घातीकर्मोंमें दो प्रकारके अश पाये जाते हैं—एक देशघाती दूसरे सर्वघाती । देशघातीकर्मोंके २६ भेद हैं । इन्हीं घातीकर्मोंके क्षयोपशमसे आत्मार्थ क्षायोपशमिकभाव जागृत हुआ करता है । ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे चार प्रकारका ज्ञान क्षायोपशमिक होता है । तीन प्रकारके ज्ञान ही मिथ्या दर्शनोंसे सहचरित होनेके कारण अज्ञान कहे जाते हैं, अतएव वे भी क्षायोपशमिक ही हैं । तीन प्रकारका दर्शन भी दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमसे हुआ करता है, अतएव वह भी क्षायोपशमिक ही है । इसी तरह लब्धि आदिके विषयों भी समझ लेना चाहिये । सयमाप्तयम् अप्रत्याख्यान वरणकषायके क्षयोपशमसे हुआ करता है, जो कि श्रावकके नारह व्रतरूप है ।

यहाँपर यह शका हो सकती है, कि इस सूत्रमें सम्पत्त्व और चारित्रका ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि पहले सूत्रमें इनका ग्रहण किया गया है, वहीसे इस सूत्रमें भी उनका अनुकर्षण हो सकता था । परन्तु यह शका ठीक नहीं है । क्योंकि इनका पहले सूत्रमें पाठ नहीं किया गया है, किन्तु च शब्दके द्वारा उनका पूर्वसूत्रसे अनुकर्षण किया गया है, और इस तरह अनुकर्षण द्वारा आये हुए शब्दोंका सूत्रान्तरमें पुन अनुकर्षण न्यायानुसार नहीं हो सकता । अतएव सूत्रमें इन दोनों शब्दोंका पाठ करना ही आवश्यक और उचित है ।

कमानुसार औदयिकके २१ भेदोंको गिनाते है—

**सूत्र—गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासयतासिद्धत्वले-
स्याश्रतुश्रतुस्यैकैकैकपहभेदा ॥ ६ ॥**

१-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहमाय और अताराम । २-ज्ञानावरणकी ४ दानावरणकी १ और सम्पत्त्व प्रति तथा सम्पत्त्वकी ४ नोक्षायकी १ और अनन्तरायकी ५ गथा—“वाण्यारणचउत्त तिदगण सम्पत्तं च वरत्तं । जा नोक्षाय किं एतासा देशवादीना ॥ ४० ॥ (गोमन्तार-कर्मार्थः)”

३-दिशा सूत्र केरी पुत्रात और परिग्रह इस तरह पाय पाँच प्रकार हैं । ये दो प्रकारसे हुआ करते हैं—संस्काराद और आत्मनिमित्त धारक अवस्थामें संस्काराद इन पाँच पात्रोंके स्यागरी अथवा सयम् और आत्मनिमित्त पयोध स्याग न हा रचनकी अथवा अगम्य रहता है अथवा धारकके पयोध संदमगम्य रहन है । इन पाँच पात्रोंके सयमाप्तयम् सयमाप्त पराप्तजन और स्याग ७ सूत्र १६ में बताया गये हैं। अतएव, १-संस्काराद निमित्त धारक १२ मत होते हैं ।

१—चतुष्टय सुप्रसन्न सुप्रसन्न । एता नियम है ।

भाष्यम्—गतिश्चतुर्भेदा नारकतैर्यग्योनमनुष्यदेवा इति । कषायश्चतुर्भेदः क्राधी माना मायी लोभीति । लिङ्गं त्रिभेदं स्त्रीपुमान्पुंसकमिति । मिथ्यादर्शनमेकभेदं मिथ्यादृष्टिरिति । अज्ञानमेकभेदमज्ञानीति । असंयतत्त्वमेकभेदमसंयतोऽविरत इति । असिद्धत्वमेकभेदमसिद्ध इति । एकभेदमेकविधमिति । लेख्याः पञ्चभेदाः कृष्णलेख्या नीललेख्या कापोतलेख्या तेजोलेख्या पद्मलेख्या शुक्ललेख्या । इत्येते एकविंशतिरौदयिकभावा भवन्ति ।

अर्थ—गतिके चार भेद हैं—नरकगति तिर्यचगति मनुष्यगति और देवगति । कषाय चार प्रकारका है—क्रोध मान माया और लोभ । लिङ्ग तीन तरहका है—स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग । मिथ्यादर्शन एक भेदरूप ही है । इसी तरह अज्ञान असंयत और असिद्धत्व ये भी एक एक भेदरूप ही हैं । एक भेद कहनेका मतलब यह है, कि ये एक एक प्रकारके ही हैं—इनके अनेक भेद नहीं हैं । लेख्या छह प्रकारकी है—कृष्णलेख्या नीललेख्या कापोतलेख्या तेजोलेख्या पद्मलेख्या और शुक्ललेख्या । इस प्रकार ये सब मिलकर २१ औदयिकभाव होते हैं ।

भावार्थ—जो भाव कर्मके उदयसे होते हैं, उनको औदयिक कहते हैं । नरकगति नामकर्मके उदयसे नारकभाव हुआ करते हैं, इसलिये नरकगति औदयिकी है । इसी तरह तिर्यचगति आदि सभी भावोंके विषयमें समझना चाहिये । ये सब भाव अपने अपने योग्य कर्मके उदयसे ही हुआ करते हैं, इसलिये सब औदयिक हैं । लेख्या नामका कोई भी कर्म नहीं है, अतएव लेख्यारूप भाव पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे अथवा पुद्गलविपाकी शरीरनाम कर्म और कषाय इन दोके उदयसे हुआ करते हैं । क्योंकि कषायके उदयसे अनुगंजित मन वचन और कायकी प्रवृत्ति को ही लेख्या कहते हैं । असिद्धत्वभाव आठ कर्मोंके उदयसे अथवा चार अवघातीकर्मोंके उदयसे हुआ करता है ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब कर्मके भेद १२२ हैं, अथवा १४८ हैं तो औदयिकभाव २१ ही कैसे कहे, जितने कर्मोंके भेद है, उतने ही औदयिक भावोंके भी भेद क्यों नहीं कहे । परन्तु यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि इन २१ भेदोंमें सभी औदयिक-भावोंका अन्तर्भाव हो जाता है । जैसे कि आयु गोत्र और जाति शरीर आङ्गोपाङ्ग आदि नाम कर्मप्रभृतिका एक गतिरूप औदयिकभावमें ही समावेश हो जाता है, तथा कषायमें हास्यादिका निवेश हो जाता है, उसी प्रकार सबका समझना चाहिये ।

लेख्या दो प्रकारकी बताई है—द्रव्यलेख्या और भावलेख्या । शरीरके वर्णको द्रव्य-लेख्या और अन्तरङ्ग परिणाम विशेषोंको भावलेख्या कहते हैं । पुनरपि ये लेख्या दो प्रकारकी

१—“जोगपञ्जी लेस्सा कषायवद्व्याणुरंजिया होइ । ४८९॥ गो० जी० ” कषायोद्व्याणुरंजिता योगप्रवृत्तिलेख्या ।

२—जीव जिस लेख्याके योग्य कर्म द्रव्यका ग्रहण करता है उसके निमित्तसे उसी लेख्यारूप उसके परिणाम हो जाते हैं—यथा “ जेत्सुई दब्बाई आदिअंति तेत्सुमे परिणामे भवति ” (प्रज्ञा० लेख्यापदे०) ।

है, एक शुभ दूसरी अशुभ । कापोत नील और कृष्ण ये क्रमसे अशुभ अशुभतर और अशुभतम हैं । पीत पद्म और शुक्ल लेख्या क्रमसे शुभ शुभतर और शुभतम हैं । किम लेख्याके परिणाम कैसे होने हे, इसके उदाहरण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, अतएव यहाँ नहीं लिखे हैं ।

पारिणामिक भावोंके तीन भेद जो बताये हैं, उनको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जीवत्व भव्यत्वमभव्यत्वमित्येते त्रय पारिणामिका भावा भवन्तीति । आदि-ग्रहण किमयमिति ? अत्रोच्यते—अस्तित्वमन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व गुणवत्त्वमसर्वगतत्वमनादि कर्मसत्तानवद्धत्व प्रदेशत्वमरूपत्व नित्यत्वमित्येवमादयोऽप्यनादिपारिणामिका जीवस्य भावा भवन्ति । धर्मादिभिस्तु समाना इत्यादिग्रहणेन सूचिता । ये जीवस्यैव वैशेषिकास्ते स्वशब्देनोक्ता इति । एते पञ्च भावास्त्रिपञ्चाशद्भेदा जीवस्य स्वतत्त्व भवन्ति । अस्तित्वा वयद्वय । किं चान्यत् ।

अर्थ—जीवत्व मन्यत्व और अमन्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं । प्रश्न—इस सूत्रमें आदि शब्दके ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन है ? उत्तर—अस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व गुणवत्त्व असर्वगतत्व अनादि कर्मसत्तानवद्धत्व प्रदेशत्व अरूपत्व नित्यत्व इत्यादिक और भी अनेक जीवके अनादि पारिणामिक भाव होते हैं । परन्तु ये भाव जीवके असाधारण नहीं हैं । क्योंकि ये धर्मादिक द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, अतएव उनके समान होनेसे साधारण हैं, इसी लिये इनको आदि शब्दना ग्रहण करके साधारणतया सूचित किया है । जो जीवमें ही पाये जाते हैं, ऐसे विशेष-असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं, और इसी-लिये उनका खास नाम लेकर उल्लेख किया है ।

इस प्रकार औपशमिकादिक पाँच भाव जो बताये हैं, वे जीवके स्वतत्त्व—निजस्वरूप हैं—जीवमें ही पाये जाते हैं, अन्यमें नहीं । इनके सिवाय जीवके साधारण स्वतत्त्व अस्तित्वादिक भी हैं । औपशमिक आदि पाँच भावोंके २+९।१८+२१+३ के मिलानसे कुल ५१ भेद होने हैं ।

भावार्थ—असंख्यात प्रदेशी चेतनतामो जीवत्व कहते हैं । मन्यत्व और अमन्यत्व गुणना लक्षण पहले बताया जा चुका है, कि जो सिद्ध-पदको प्राप्त करनेके योग्य है, उसको मन्य कहते हैं, और जो इसके विपरीत है, सिद्ध अवस्थामो प्राप्त नहीं कर सकता, उसको अमन्य कहते हैं । अस्तित्वादिक साधारण भावोंका अर्थ स्पष्ट है ।

इस प्रकार जीवके स्वतत्त्वोंका वर्णन किया । पहले दो प्रश्न जो किये थे, उनमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर देते हुए जीवके स्वतत्त्वोंका निरूपण करने उसका स्वरूप बताया । परन्तु दूसरे

प्रश्नका उत्तर अभी तक नहीं हुआ है, जिसके कि विषयमें यह कहा गया था, कि जीवका लक्षण आगे चलकर करेंगे। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि ये पाँच भाव व्यापक नहीं हैं। अतएव जो जीवमात्रमें व्यापकरूपसे पाया जा सके, ऐसे त्रिकालविषयक और सर्वथा अव्यभिचारी जीवके लक्षणको बतानेकी आवश्यकता है। अतएव ग्रंथकार दूसरे प्रश्नके उत्तरमें जीवका संतोषकर लक्षण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—उपयोगो लक्षणं जीवस्य भवति ॥

अर्थ—जीवका लक्षण उपयोग है।

भावार्थ—ज्ञानदर्शनकी प्रवृत्तिको उपयोग कहते हैं। अनेक वस्तुओंमें मिली हुई किसी भी वस्तुको जिसके द्वारा पृथक् किया जा सके, उसको लक्षण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत। जो लक्ष्यमें अनुप्रविष्ट होकर रहता है, उसको आत्मभूत कहते हैं, और जो लक्ष्यमें अनुप्रविष्ट न रहकर ही उसका अनुगमक होता है, उसको अनात्मभूत कहते हैं। जीवका उपयोग आत्मभूत लक्षण है। यह लक्षण त्रिकालावाधित और अव्याप्ति अतिव्याप्ति असंभव इन तीन दोषोंसे सर्वथा रहित है। क्योंकि कोई भा जीव ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञान और दर्शन न पाया जाय, कमसे कम अक्षरके अनन्तर्वे भागप्रमाण तो ज्ञान जीवमें रहता ही है। तथा और कोई ऐसा पदार्थ भी नहीं है, कि उसमें भी ज्ञान और दर्शन पाया जा सके, एवं दृष्ट और अदृष्ट प्रमाणोंसे उपयोग लक्षणवाला जीव द्रव्य सिद्ध है, अतएव उसमें असंभव दोष भी असंभव ही है।

इस लक्षणके उत्तर भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—स उपयोगो द्विविधः साकारोऽनाकारश्च ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेत्यर्थः। स पुनर्यथासंख्यमष्टचतुर्भेदो भवति। ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः। तद्यथा। मतिज्ञानोपयोगः श्रुतज्ञानोपयोगः, अवधिज्ञानोपयोगः, मनःपर्यायज्ञानोपयोगः, केवलज्ञानोपयोग इति, मत्तज्ञानोपयोगः, श्रुतज्ञानोपयोगः, विमङ्गलज्ञानोपयोग इति। दर्शनोपयोगश्चतुर्भेदः, तद्यथा—चक्षुर्दर्शनोपयोगः, अचक्षुर्दर्शनोपयोगः, अवधिदर्शनोपयोगः, केवलदर्शनोपयोग इति।

१—“व्यतिकर्णवस्तुव्याप्तिहेतुर्लक्षणम्।” २—लक्ष्यके एकदेशमें रहनेको अव्याप्ति, लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें रहनेको अतिव्याप्ति और लक्ष्यमात्रमें लक्षणके न रहनेको असंभव दोष कहते हैं। ३—यह बात पहले अव्यायके अंतमें (टिप्पणीमें) बताई जा चुकी है।

अर्थ—जीवज्ञा लक्षणरूप उपयोग दो प्रकारका है, एक साकार दूसरा अनाकार । ज्ञानोपयोगको साकार और दर्शनोपयोगको अनाकार कहते हैं । इनके भी क्रमसे आठ और चार भेद हैं । ज्ञानोपयोगके आठ भेद इस प्रकार हैं—मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, मन पर्यायज्ञानोपयोग, और केवलज्ञानोपयोग, तथा मत्तज्ञानोपयोग, श्रुता ज्ञानोपयोग, विमलज्ञानोपयोग । दर्शनोपयोगके चार भेद इस प्रकार हैं—चक्षुर्दर्शनोपयोग, अचक्षुर्दर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग, और केवलदर्शनोपयोग ।

भावार्थ—यद्यपि इस सूत्रके विषयमें किसी किसीका ऐसा कहना है कि यहाँपर तत् (स) शब्दका पाठ नहीं करना चाहिये, परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्तर विषयमा ही सम्बन्ध दिखानेके लिये उसके ग्रहण करनेकी आवश्यकता है, जैसे कि “ स आत्सर्व ” इत्यादि सूत्रोंमें किया गया है ।

सर्वरूप परिणतिको ज्ञान और निर्निरूप परिणतिको दर्शन कहते हैं। इनकी प्रगति क्रमसे इस प्रकार होती है, कि पहले दर्शनोपयोग और पीछे ज्ञानोपयोग। इस क्रमके कारण यद्यपि पहले दर्शनोपयोगका और पीछे ज्ञानोपयोगका पाठ करना चाहिये, परन्तु दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान अग्रहित-पूज्य है, आर उसका वक्तव्य विषय भी अत्यधिक है, तथा उसके ही में भी अधिक हैं, अतएव ज्ञानोपयोगका ही पूर्वमें पाठ करना उचित है।

जिसे जिज्ञासा ऐसा भी कहना है, कि ज्ञान और दर्शनसे भिन्न भी उपयोग होता है, जो कि विग्रहगतिमें जीवोंके पाया जाता है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि इसमें युक्ति और आगम दोनोंसे ही बाधा आती है। ज्ञानदर्शनसे भिन्न उपयोग पार्य जिमी भी युक्ति अथवा प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। आगममें भी उपयोगके ज्ञान और दर्शन ऐसे दो ही भेद गिनाये हैं—इन दोनोंसे रहित कोई भी अवस्था उपयोगकी नहीं बताई। तथा विग्रहगतिमें भी ज्ञान पाया जाता है, यह बात भी आगम—वाक्योंसे सिद्ध होती है। तथा विग्रहगतिमें लब्धिर्न रूप इन्द्रियाँ भी रहती ही हैं। अतएव ज्ञान दर्शन रहित उपयोगकी अवस्था नहीं रहती यह बात सिद्ध है।

१-अध्याय ६ सूत्र ३। ३- 'जम्भ दशियाता तस्य न्यबोमाना गियता अधि जरग उरयोमाना तस्य जम्भया
या रंगग्याया गियता अधि, (अगवन्दा दा० १२ उ० १० सूत्र ४६०)। अगवन्तग्या भन। जीवा कि जम्भ
अग्या। तिगिग्यामा। तागा तिगि अग्या। (अगवन्दा दा० ८ उ० २ सूत्र ३१९) तथा- 'जाह्मरो उ भग्य
अर्धतिगिदि उ तिगि उ भोरोदि। (आदयग नियुधि ऋषभान्नपिरो)। ३- जीवे भन। ग्यमापो ग्ये वडम
ग्ये दि गदिण, वडम अदिण वडम। गोयमा। गिय गदिण गिय अदिण ग्ये ग्या भन। एवं
गुह। गोयमा। दभित्तिग्ये पटुह अदिण वडमगि वडित्तिग्या पटुह गदिण वडमगि। (अगवन्दा दा०
१० ७ सूत्र ६१) अर्थात् जीव विप्रगमिने दभित्ति गिग्योदी अनेन ग दिय गदिण ही जग्य हे

उपयोग यह जीवका सामान्य लक्षण है—वह जीवमात्रमें पाया जाता है । और वह दो भेद रूप है, यह बात तो बताई, परन्तु इस लक्षणसे युक्त जीव द्रव्यके जितने भेद हैं, सो अभी तक नहीं बताये, अतएव उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

भाष्यम्—ते जीवाः समासतो द्विविधा भवन्ति—संसारिणो मुक्ताश्च । किं चान्यत्—

अर्थ—जिनका कि उपयोग यह लक्षण ऊपर बताया जा चुका है, वे जीव संक्षेपमें दो प्रकारके हैं—एक संसारी और दूसरे मुक्त ।

भावार्थ—संसरण नाम परिभ्रमणका है, वह जिनके पाया जाय—जो चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करनेवाले हैं, अथवा इस भ्रमणके कारणभूत कर्मोंका जिनके सम्बन्ध पाया जाय, उनको संसारी कहते हैं । और जो उससे रहित हैं, उनको मुक्त कहते हैं ।

यद्यपि जीवोंके इन दो भेदोंमें मुक्त जीव अभ्यर्हित है, इसलिये सूत्रमें पहले उनका ही उल्लेख करना चाहिये या । परन्तु अभिप्राय विशेष दिखानेके लिये सूत्रकारने पहले संसारी शब्दका ही पाठ किया है। वह अभिप्राय यह है, कि इससे इस बातका भी बोध हो जाय, कि संसारपूर्वक ही मोक्ष हुआ करती है । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि संसारी जीवोंका आगेके ही सूत्रोंमें वर्णन करना है, अतएव उसका पहले ही पाठ करना उचित है ।

संसारी जीवोंके उत्तरभेद बतानेके लिये सूत्र करते हैं ।—

सूत्र—समनस्का मनस्काः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—समासतस्ते एव जीवा द्विविधा भवन्ति—समनस्काश्च अमनस्काश्च । तान् पुरस्तात् वक्ष्यामः ॥

अर्थ—उपर्युक्त संसारी जीवोंके संक्षेपसे दो भेद हैं—एक समनस्क दूसरे अमनस्क । इन दोनोंका ही स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे ।

भावार्थ—जो मन सहित हों उनको समनस्क कहते हैं, और जो मन रहित हों, उनको अमनस्क कहते हैं । नारक देव और गर्भज मनुष्य तिर्यच ये सब समनस्क हैं, और इनके सिवाय जितने संसारी जीव हैं, वे सब अमनस्क हैं । जो शिक्षा क्रिया आलाप आदिको ग्रहण कर सकें, समझना चाहिये, कि ये मन सहित हैं । मन दो प्रकारका है—एक द्रव्यमन दूसरा भावमन । मनोवर्गणाओंके द्वारा अष्टदल कमलके आकारमें बने हुए अन्तःकरणको द्रव्यमन कहते हैं और जीवके उपयोगरूप परिणामको भावमन कहते हैं ।

ससारी जीवोंके और भी भेदोंको बतानेके लिये सूत्र करते हैं —

सूत्र—ससारिणस्त्रसस्थावरा ॥ १२ ॥

भाष्यम्—ससारिणो जीवा द्विविधा भवन्ति—त्रस* स्थावराश्च । तत्र—

अर्थ—फिर भी ससारी जीवोंके दो भेद हैं—एक त्रस दूसरे स्थावर ।

भावार्थ—यहँसे चतुर्थ अध्यायके अंत तक ससारी जीवोंका ही अधिकार समझना चाहिये । मुक्त जीवोंका वर्णन दशवें अध्यायमें करेंगे । त्रस और स्थावर ये भी ससारी जीवोंके ही दो भेद हैं । त्रसनामकर्मके उदयसे जिनके सुख दुःखादिका अनुभव स्पष्ट रहता है, उनको त्रस कहते हैं, और जिनके स्थावरनामकर्मके उदयसे उनका अनुभव स्पष्टतया नहीं होता, उनको स्थावर कहते हैं । कोई कोई इन शब्दोंका अर्थ निर्हेतुके अनुसार ऐसा करते हैं, कि जो चलता फिरता है, वह त्रस और जो एक जगहपर स्थिर रहे, वह स्थावर । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे वायुमयको भी त्रस मानना पड़ेगा, तथा बहुतसे द्विद्विधात्मिक भी जीव ऐसे हैं, जो कि एक ही जगहपर रहते हैं, उनकी स्थावर कहना पड़ेगा ।

इन दो भेदोंमें परस्पर सज्जम भी पाया जाता है—त्रस मरकर स्थावर हो सकते हैं, और स्थावर मरकर त्रस हो सकते हैं । परन्तु इनमें त्रस पर्याय प्रधान है । क्योंकि उनके सुख दुःखादिका अनुभव स्पष्ट होता है ।

स्थावरोंके भेद बतानेके लिये सूत्र करते हैं —

सूत्र—पृथिव्यम्बुवनस्पतय स्थावरां ॥ १३ ॥

भाष्यम्—पृथ्वीकायिका अप्कायिका, धनस्पतिकायिका इत्येते त्रिविधा स्थावरा जीवा भवन्ति । तत्र पृथ्वीकायिकोऽनेकविध शुद्धपृथिवी-गर्भराचालुकादि । अप्कायोऽनेकविध हिमादि । धनस्पतिकायोऽनेकविध शीवलादि ।

१—“परिस्फुग्मुक्तु मेच्छद्वेरादिकिह्वास्त्रयनामकर्मोदयान् त्रसा । अपरिस्फुग्मुक्तादिणिना स्थावरनामकर्मोदयान् स्थावरा ।” इति सिद्धसेनगणिनीकायाम् । २—अस्त्यन्तीति त्रसा स्थानशीला स्थावरा ॥ ३—यद्यपि आगे सूत्र १४ में वायुमय और वायुरायको त्रस किया है परन्तु यहाँ केवल किताबी अपेक्षाके लिये किया है वास्तविक त्रस की अपेक्षासे वे दोनों स्थावर हैं, यह बात भी प्रत्यक्षारको दृष्ट है । इसी लिये भी सिद्धसेनगणिने अपनी टीकामें लिखा है, कि “अतः किं प्राप्य तेनैवप्योत्तरान्, एतस्या पृथिव्यस्योत्तरान्—अतएव त्रस स्थावरनामकर्मोदयान् स्थावरा एव ।”

अर्थ—स्थायर जीव तीन प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक । इनमेंसे पृथिवीकायिक जीव शुद्ध पृथिवी शर्करा बालुका मृत्तिका उपल आदिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं । इसी प्रकार जलकायिक जीव भी हिम अवश्याय आदिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं । तथा वनस्पतिकायिक भी शैवल मलक आर्द्रक पणक वृक्ष गुच्छ गुल्म लता आदिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं ।

भावार्थ—स्थायर और त्रस शब्दोंका अर्थ दो-प्रकारसे होता है—एक क्रियाकी अपेक्षासे और दूसरा कर्मके उदयकी अपेक्षासे । क्रियाकी अपेक्षासे जो स्थानशील हों—एक ही जगहपर रहें—चलते फिरते न हों, उनको स्थावर कहते हैं, और कर्मके उदयकी अपेक्षासे जिनके स्थावरनामकर्मका उदय हो, उनके स्थावर कहते हैं । यहाँपर ये स्थावर-के तीन भेद क्रियाकी अपेक्षासे बताये हैं, न कि कर्मोदयकी अपेक्षासे । क्योंकि कर्मकी अपेक्षासे अन्निकाय और वायुकाय भी स्थावर ही हैं ।

स्थायरोंके विषयमें यह शंका हो सकती है, कि क्या इनमें भी साकार और अनाकार उपयोग पाया जाता है ? सो युक्ति और आगम दोनों ही प्रकारसे इनमें दोनों प्रकारके उपयोगका अस्तित्व सिद्ध है, ऐसा समझना चाहिये । आहारादि क्रिया विशेषके देखनेसे उनकी आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञाओंका बोध होता है, जिनसे कि उनके उपयोगकी अनुमानसे सत्ता सिद्ध होती है । आर्गममें भी इनके साकार और अनाकार ऐसे दोनों ही उपयोगोंका उल्लेख किया गया है ।

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें सूत्रपाठ ऐसा है कि—“ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ” “ तथा द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः । अतएव स्थावर पाँच प्रकारके माने हैं—पृथिवीकाय जलकाय अन्निकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय । तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इनको ही त्रस माना है, उन्होंने कर्मके उदयसे ही स्थावर और त्रस भेद किये हैं, क्रियाकी अपेक्षासे नहीं । जैसा कि श्रीसिद्धसेनगणीने भी कर्मोदयकी अपेक्षा पृथिवीकायादि पाँचोंको स्थावर और द्वीन्द्रियादिकोंको ही त्रस बताया है । २—जैसा कि पहले श्रीसिद्धसेनगणीके वाक्योंको उद्धृत करके बताया जा चुका है । ३—एकेन्द्रिया उपयोगवन्त आहारादिपुविशिष्टप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः ॥ ४—“ पुढविकाइयाण भते । किं सागारोवओगोवउत्ता अणागारोवओगोवउत्ता ? गोयसा । सागारोव ओगोवउत्ता वि अणागारोवओगोवउत्तावि । ” (प्रज्ञा० सूत्र-३१२) अर्थात् हे भदन्त ! पृथिवीकायिक जीव साकारोपयोगयुक्त अथवा अनाकारोपयोगयुक्त हैं ? उत्तर—हे गौतम, साकारोपयोगयुक्त भी हैं; और अनाकारोपयोगयुक्त भी हैं । इसी प्रकार अन्य स्थावरोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये ।

पृथिवी आदिके भेद और भी तरहसे ग्रन्थान्तरोंमें बताया है, सो वे भी उन ग्रन्थोंसे जान लेने चाहिये ।

असोंके भेद भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ १४ ॥

भाष्यम्—तेज कायिका अङ्गारादय, वायुकायिका उत्कलिकादय, द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रिया पञ्चेन्द्रिया इत्येते त्रसा भवन्ति । सप्सारिणस्त्रसा स्थावरा इत्युक्ते एतदुक्तं भवति मुक्ता नैव त्रसा नैव स्थावरा इति ॥

अर्थ—अङ्गार विरण ज्वाला मुर्मुर शुद्धाग्नि आदिक अग्निमायिक जीवोंके अनेक भेद हैं । घनवात तनुवात उत्कलिका मडालि इत्यादि वायुमायिक जीवोंके भी अनेक भेद हैं । तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन सब जीवोंको त्रस कहते हैं ।

यहाँपर सप्सारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं, ऐसा कहनेसे अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा यह बात स्पष्ट सिद्ध होजाती है, कि मुक्तजीव न त्रस हैं और न स्थावर हैं । अर्थात् वे इन दोनों ही सप्सारी अवस्थाओंसे सर्वथा रहित हैं ।

भावार्थ—जिस तरह पूर्व सूत्रसे स्थावरोंका उल्लेख कियाकी प्रधानतासे किया गया है, उसी प्रकार इस सूत्रमें त्रसोंका भी निधान कियाही प्रधानतासे समझना चाहिये । क्योंकि कर्मकी अपेक्षासे द्वीन्द्रियादिक ही त्रस हैं ।

पाँच स्थावरोंके समान द्वीन्द्रिय आदि जीवोंके भी अनेक भेद हैं । यथा—शस्त्र शक्ति गिटोरा कौडी चनूना आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं । घुण मत्कुण (सटमग) जू चीटी आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं । भ्रमर मक्खी मच्छर बर पतंग तितली आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं । सर्प पक्षी मत्स्य आदिक और सम्पूर्ण मनुष्य और पशु पञ्चेन्द्रिय जीव हैं । पाँच स्थावर और त्रस जीवोंके शरीरका आकार इस प्रकार है—पृथिवीमायिक जीवोंके शरीरका आकार मसूके समान है ।

१—पृथिवी पृथिवीमायिक और पृथिवीजीव । इस तरह पृथिवीके चार भेद हैं । इसी प्रकार जलादिक पाँचों ही स्थावरोंके चार चार भेद समान होने चाहिये । अतिस्थि गुणने धारण करोशरीर सामान्यमें तेज और अनेकता दोनों ही प्रकारका पुद्गल सामाविक पृथक्पृथक् पदार्थोंको पृथिवी कहते हैं । इसके मृत्तिका वायु आदि ३० भेद भीअमृतद्विआकाश । सर्वार्थसारमें गिनाये हैं । जिनमें पृथिवीनामकका उल्लेख है उस जीव द्वारा ग्रहण करने पुन छोड़े हुए शरीरको पृथिवीमायिक कहते हैं । जिनमें पृथिवीनामकका उल्लेख है और जिनमें पृथिवीका शरीररूपमें धारण भी कर रहता है, उममें पृथिवीमायिक कहते हैं । जो पृथिवीमायिक पदार्थको धारण करनेवाला है, परन्तु अतीतक निवृत्त शरीरको धारण नहीं किया है, किन्तु जिनमें पृथिवीनामकका उल्लेख हो आया है ऐम विद्यमानमें गिना जीवको पृथिवीजीव कहते हैं । इसी तरह जल जलमायिक जलजीव आदिक भेद भी समस्त होने चाहिये । अतएव आदि जीवोंके भी भेद भीअमृतद्वि आकाशने लक्षणधारणमें गिनाये हैं ।

२—दसमें धारण करने निम्ना जा चुका है ।

जलकायिक जीवोंके शरीरका आकार जलकी विन्दुके समान है । अग्निकायिक जीवोंके शरीरका आकार सूचीकलाप—सुइयोके पुंजके समान है । वायुकायिक जीवोंके शरीरका आकार ध्वजाके समान है । वनस्पतिकायिक और व्रस जीवोंके शरीरका आकार नानाप्रकारका है—किसी भी एक प्रकारका निश्चित नहीं है^१ ।

पहले अध्यायमें “ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ” इत्यादि सूत्रोंमें तथा “ द्वीन्द्रियादयञ्च व्रसाः ” इत्यादि स्थलोंमें इन्द्रियोंका उल्लेख किया है, परन्तु उनके विषयमें अभीतक यह नहीं मालूम हुआ, कि उनकी संख्याका अवसान कहाँपर होता है—उनकी संख्या कितनी है, अतएव उनकी संख्याकी इयत्ता बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

भाष्यम्—पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति । आरम्भो नियमार्थः, पडादिप्रतिषेधार्थञ्च । “ इन्द्रियं इन्द्रलिङ्गमिन्द्रदिष्टमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । ” इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्येष्वैश्वर्ययोगात् विषयेषु वा परमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्, लिङ्गनात सूचनात प्रदर्शनादुपपद्यमानाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिंगमिन्द्रियम् ॥

अर्थ—इन्द्रियाँ पाँच हैं । इस सूत्रका आरम्भ नियमार्थक है । जिससे नियम रूप इस प्रकारका अर्थ सिद्ध होता है, कि इन्द्रियाँ पाँच ही हैं—अर्थात् न छह हैं, और न चार हैं । इसलिये छह आदिक संख्याका प्रतिषेध करना नियमवा प्रयोजन सिद्ध होता है । इन्द्रके लिङ्गको इन्द्रिय कहते हैं । लिङ्ग शब्दसे पाँच अभिप्राय लिये जाते हैं—

१—इन्द्रका ज्ञापक—बोधक चिन्ह, २ इन्द्रके द्वारा अपने अपने कार्योंमें आज्ञप्त, ३ इन्द्रके द्वारा देखे गये, ४ इन्द्रके द्वारा उत्पन्न, और ५ इन्द्रके द्वारा सेवित—अर्थात् जिनके द्वारा इन्द्र शब्दादिक विषयोंका सेवन—ग्रहण करे । इन्द्र नाम जीवका है । क्योंकि जो ऐश्वर्यको धारण करनेवाला है, उसको इन्द्र कहते हैं, और सम्पूर्ण द्रव्योंमें जीवका ही ऐश्वर्य पाया जाता है, अथवा समस्त विषयोंमें इसके उत्कृष्ट ऐश्वर्यका सम्बन्ध है । अर्थात् जीव सब द्रव्योंका प्रभु—स्वामी है और समस्त विषयोंका उत्कृष्टतया भोक्ता है, अतएव वह इन्द्र है । और इसके लिङ्गको इन्द्रिय कहते हैं । इन्द्रियाँ जीवको सूचित करनेवाली हैं, जीवमें आज्ञप्त होकर अपने अपने विषयमें प्रवृत्ति करनेवाली हैं, जीवको प्रदर्शित करनेवाली हैं, अथवा जीवके द्वारा स्वयं प्रदर्शित होती हैं, जीवके निमित्तसे ही इनकी उत्पत्ति होती है, और जीव इनके द्वारा इष्ट विषयोंका प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, अतएव ये जीवकी लिङ्ग हैं ।

१—मसूराम्बुपट्टसूचीकलापञ्चजसन्निभा. । धरासेजोमरुत्ताया नानाकारास्तस्त्रसा ॥ ५७ ॥

—श्रीअमृतचन्द्रसूरि—तत्त्वार्थसार । २—पाणिनीय अध्याय २ पाद ५ सूत्र ९३ । इन्द्रदिष्टमितिपाठः क्वचिन्नास्ति । टीकाकारैस्तु सङ्गृहीतः ।

भाषार्थ—जीवकी चेतन्य शक्तिको ये इन्द्रियाँ ही सूचित करती हैं, इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको देखकर अनुमान होता है, कि इस शरीरमें जीव है । परन्तु सभी जीवोंके पाँचोही इन्द्रियाँ नहीं होतीं, किसीके एक किसीके दो किसीके तीन किसीके चार और किसीके पाँचो होती है । परन्तु ये एक दो आदि किन किनके होती हैं, सो सूत्रकार स्वयं ही आगे चलकर बतावेंगे । यहाँपर ता इन्द्रियोंकी सख्याकी इयत्ता ही बताई है कि इन्द्रियाँ पाँचही हैं । इस नियमसे जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच क्रमेन्द्रिय इस तरह दश भेद मानते हैं, उनका निराकरण होता है । इन पाँच इन्द्रियोंमेंसे रसनासे लेकर श्रोत्रपर्यन्त चार इन्द्रियोंका आकार नियत है, परन्तु स्पर्शनेन्द्रियका आकार अनियत है । इन इन्द्रियोंके उत्तर भेद और विषय विभागादिका आगे चलकर वर्णन करेंगे । किन्तु सबसे पहले इनके सामान्य भेदको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विविधानि ॥ १६ ॥

भाष्यम्—द्विविधानीन्द्रियाणि भवन्ति । द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि च । तत्र—

अर्थ—इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—एक द्रव्येन्द्रिय दूसरी भावेन्द्रिय । आत्माके अमर्याद प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनन्त पुद्गल प्रदेशोंके द्वारा जो तत्त्व इन्द्रियोंका आकार विशेष बनता है, उसको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । ओर कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षामें आत्माकी जो परिणति विशेष होती है, उसको भावेन्द्रिय कहते हैं । इनमेंसे क्रमानुसार द्रव्येन्द्रियके आकार और भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

भाष्यम्—निर्वृत्तीन्द्रियमुपकरणेन्द्रियं च द्विविधं द्रव्येन्द्रियम् । निर्वृत्तिरद्वोपादनात्म-निर्वर्तितानीन्द्रियद्वाराणि कमविदोपमस्कृता शरीरप्रवेशा । निर्माणनामाद्वोपाद्वप्रत्यया मूलगुणनिबन्धनेत्यर्थः । उपकरणं धातुमभ्यन्तरं च । निर्वर्तितस्यानुपघातानुपहाम्यामुपकारीति ॥

अर्थ—द्रव्येन्द्रियके दो भेद हैं—निर्वृत्तीन्द्रिय और उपकरणेन्द्रिय । निर्वृत्ति नाम रचना है । अर्थात् भावेन्द्रियके उन द्वारोंको गिनती कि रचना अद्वोपादनात्मकमे द्वारा हुई है, और जो कि कर्मविशेषके द्वारा सम्कृत शरीरके प्रवेशरूप है, उनको निर्वृत्तीन्द्रिय कहते हैं । अर्थात् निर्माणनामक और अद्वोपादनात्मकमे निमित्तमे जिसकी रचना होती है, उस मूलगुणनिबन्धनाका ही नाम निर्वृत्तीन्द्रिय है । जो उस रचनारा उपघात नहीं होने देता, तथा उसकी गति आदिभूमे जो सहायता करता है, इन दो प्रकारोंमे जो उस रचनारा उपकरण करनेवाला है, उसको उपकरण कहते हैं । इस उपकरणके दो भेद हैं—एक बाह्य रूपका अभ्यन्तर ।

भावार्थ—जो भावेन्द्रियकी सहायक है, उनको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। वह दो प्रकारकी हैं, निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति भी दो प्रकारकी होती है, आभ्यन्तर और बाह्य। जो निर्वृत्तिका उपकारक है, उसको उपकरण कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आङ्गोपाङ्ग और निर्माणनामकर्मके उदयके निमित्तसे तत्तत् इन्द्रियोंका आकार बना करता है। तत्तद् इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे युक्त आत्माके असंख्यात प्रदेश उस उस इन्द्रियके आकारमे परिणत हुआ करते हैं। तथा उन्हीं आत्मप्रदेशोंके स्थानमें उस उस इन्द्रियके आकारमें जो पुद्गल द्रव्यकी रचना उक्त दोनों कर्मोंके निमित्तसे होती है, उसको भी द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इनका स्वरूप चक्षुरिन्द्रियमें अच्छी तरह घटित होता है। और समग्रमें आता है, अतएव उसीमें घटित करके यहाँ बताते हैं।—चक्षुरिन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे युक्त अद्बुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेशोंका चक्षुरिन्द्रियके आकारमें बनना इसको आभ्यन्तरनिर्वृत्ति कहते हैं। और तद्योग्य पुद्गलस्कन्धोंका मसूरके आकारमें परिणत होना, इसको बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं। कृष्ण शुक्लवर्णका जो उसी इन्द्रियके आकारमे परिमण्डल दिखाई देता है, उसको आभ्यन्तर उपकरण कहते हैं। और पलक विनोनी आदिको बाह्य उपकरण कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी यथायोग्य घटित करके समझ लेना चाहिये। इन्द्रियोंका आकार-स्पर्शनेन्द्रियके सिवाय चारका नियत है, और स्पर्शनेन्द्रियका अनियत है। श्रोत्रेन्द्रियका आकार यवनालीके सदृश, चक्षुरिन्द्रियका आकार मसूर अन्न विशेषके समान, घ्राणेन्द्रियका आकार अतिमुक्तक पुष्प विशेषके तुल्य और रसना इन्द्रियका आकार क्षुरप्र-क्षुरपा सरीखा हुआ करता है। स्पर्शनेन्द्रियका आकार शरीरके अनुसार नाना प्रकारका हुआ करता है।

बाह्य और आभ्यन्तर उपकरण निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रियका बाह्य वस्तुसे घात नहीं होने देते, और अपने कार्यकी प्रवृत्तिमें सहायता किया करते हैं। मूलगुण निर्वर्तना शब्द उत्तरगुण-निर्वर्तनाको भी सूचित करता है। अतएव जिन बाह्यपदार्थोंसे उन इन्द्रियोंको सहायता मिला करती है, उनको उत्तरगुण निर्वर्तना कहते हैं। जैसे कि चक्षुके लिये अङ्गन आदिके द्वारा संस्कार करना।

भावेन्द्रिय के भेद और स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

१—“चलद् सोढं घाणं जिम्भायारं मसूरजवणाली । अतिमुत्तक्षुरप्पसमं फासं तु अण्येयसठाणं ॥ १७० ” (गोमटसार जीवकाण्ड) । तथा—“फासिंदिए णं भंते । किं संधिएपण्णते ? गोयमा । णाणासंठाणसठिए, जिंमिंदिएणं भंते । किं संधिएपण्णते ? गोयमा । क्षुरप्प सठिए, घाणिंदिएणं भंते । किंठिए पण्णते ? गोयमा । अतिमुत्तय-चदकसंठिए, चक्षुरिंदिएणं भंते ! किं सठिएपण्णते ? गोयमा । मसूरयचंदसंठिएपण्णते सोढंदिणं णं भंते । किंसठिए पण्णते ? गोयमा । कलंबुयापुप्फसंठिए पण्णते ” (प्रज्ञा० सूत्र १९१) २—श्रीसिद्धसेनगणीके कथनानुसार उपकरणके ये दो भेद आगममें नहीं बताये हैं। किसी तरहसे आचार्यकी सम्प्रदाय इनको कहनेकी प्रचलित है। यथा—“आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्वाहिभेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैवकुतोऽपि सम्प्रदाय इति” ।

सूत्र—लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

भाष्यम्—लब्धिरूपयोगस्तु भावेन्द्रियं भवति । लब्धिर्नाम गतिजात्यादिनामकर्मज-
निता तदावरणीयकर्म क्षयोपशमजनिता च । इन्द्रियाश्रयकर्मोदयनिवृत्ता च जीवस्य भवति ।
सा पञ्चविधा, तद्यथा—स्पर्शनेन्द्रियलब्धिः, रसनेन्द्रियलब्धिः, घ्राणेन्द्रियलब्धिः,
चक्षुरिन्द्रियलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियलब्धिरिति ॥

अर्थ—भावेन्द्रियके दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग । गति जाति शरीर आदि नाम-
कर्मके उदयका निमित्त पाकर जो उत्पन्न होती है, और जो तत्तद् इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोप-
शमसे उत्पन्न होती है, उसको लब्धि कहते हैं । एव च पूर्वोक्त इन्द्रियोंका तथा आङ्गोपाङ्ग
और निर्माणनामकर्मका आश्रय लेकर जीवके ये लब्धिरूप इन्द्रियाँ निष्पन्न हुआ करती
हैं । तथा अन्नरसकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा लेकर इन्द्रियोंके विषयका उपभोग—ग्रहण
करनेके लिये जो ज्ञानशक्ति प्रकट होती है, उसको लब्धि कहते हैं । यह लब्धि इन्द्रियोंके
भेदसे पाँच प्रकारकी है—स्पर्शनेन्द्रियलब्धि, रसनेन्द्रियलब्धि, घ्राणेन्द्रिय लब्धि, चक्षुरिन्द्रियलब्धि,
और श्रोत्रेन्द्रियलब्धि ।

भावार्थ—लब्धि नाम प्राप्ति है । सो उपर्युक्त कर्मोदयादिके कारणको पाकर तत्तद्
इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे उस जीवको उस उस इन्द्रियके विषयको ग्रहण करनेकी जो
शक्ति प्रकट होती है, उस लाभको ही लब्धि कहते हैं । इसके होनेसे उस उस इन्द्रियके विषयको
ग्रहण करनेकी जीवमें योग्यता प्राप्त होती है । अतएव इन्द्रिय भेदसे इस लब्धिके भी पाँच
भेद हैं ।

उपयोगका स्वरूप यहाँपर नहीं बताया है । उपयोग शब्दसे मतिज्ञानादिक पाँचों
प्रकारका सम्यग्ज्ञान अथवा तीन अज्ञान सहित आठों ही प्रकारका उपयोग लिया जा सकता
है । परन्तु अवधि आदिक अतीन्द्रियज्ञान उपयोग शब्दसे अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि वे
इन्द्रियोंकी तथा उनके कारणोंकी अपेक्षासे उत्पन्न नहीं होते । अतएव यहाँपर उपयोग शब्दसे
कौनसा उपयोग लेना चाहिये, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—उपयोग स्पर्शादिषु ॥ १९ ॥

भाष्यम्—स्पर्शादिविषु मतिज्ञानोपयोग इत्यर्थः । उक्तमेतदुपयोगो लक्षणम् ।' उपयोग-

१—आदि शब्दसे शरीरकर्म आदि जो जा सहायक है उन सबका ग्रहण समझना चाहिये आयुक्रमके विषयमें
मनभर है—किन्तीको उसका भी ग्रहण इष्ट है, किन्तीको वह इष्ट नहीं है । २—इस विषयमें भी मतभेद मालूम होता है
जैसा कि श्रीसिद्धमनगणीके इन वाक्योंसे प्रकट होता है कि—अये पुनराहु—अन्तरायक्रमसंयोगोपशमापेक्षा इत्यादि ।
३—किन्तीके मतम यह सूत्र ही नहीं है । फोड़ कहते हैं, कि यह भाष्यका पाठ है जो कि सूत्ररूपमें बोल
जाने लगा है । किन्तु श्रीसिद्धसेनगणीने सूत्र ही माना है ।

प्रणिधानम् । आयोगस्तद्भावः परिणाम इत्यर्थः । एषां च सत्यां निर्वृत्तावुपकरणोपयोगौ भवतः । सत्यां च लब्धौ निर्वृत्त्युपकरणोपयोगा भवन्ति । निर्वृत्त्यादीनामेकतराभावेऽपि विषयालोचनं न भवति ।

अर्थ—मतिज्ञानके उस व्यापारको जो कि स्पर्शनादिक इन्द्रियोंके स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्दरूप प्रतिनियत विषयोंको ग्रहण करनेवाला है, उपयोग कहते हैं । स्पर्शादि विषयका मतिज्ञान ही यहाँपर उपयोग शब्दसे लिया गया है, ऐसा कहनेसे अवविज्ञानादिका भाष्यकारने निषेध व्यक्त किया है, परन्तु उपयोग शब्दका अर्थ किसी भी परिणतिमें उपयुक्त होना भी होता है । अतएव परमाणु अथवा स्कन्धरूप पुद्गल भी उपयोग शब्दके द्वारा कहे जा सकते हैं । क्योंकि वे भी दृच्युकादि स्कन्धरूप परिणतिमें उपयुक्त होते हैं । परन्तु उपयोग शब्दका यह अर्थ सर्वथा असंगत है, इस बातको बतानेके लिये ही आगे भाष्यकार कहते हैं—कि जीवका लक्षण उपयोग है, यह बात पहले कही जा चुकी है । अर्थात्—जब उपयोग जीवका ही लक्षण है । तब पुद्गलके विषयमें उसकी कल्पना करना सर्वथा विना सम्बन्धकी बात है—विलकुल अयुक्त है । क्योंकि उपयोगसे चैतन्यलक्षण ही लिया जाता है । द्रव्येन्द्रियादिककी अपेक्षा लेकर स्पर्शादिक विषयोंकी तरफ ज्ञानकी जो प्रवृत्ति होती है, उसको अथवा स्पर्शनादिक इन्द्रियोंके द्वारा उद्भूत होनेवाले उस ज्ञानको जो कि विषयकी मर्यादापूर्वक स्पर्शादिके भेदको अवभासित करनेवाला है उपयोग कहते हैं । यह आत्माका ही परिणाम है, न कि अन्य द्रव्यका ।

इस इन्द्रियोंके प्रकरणमें निर्वृत्ति आदिक जो इन्द्रियोंके भेद गिनाये हैं, उनकी प्रवृत्तिका क्रम इस प्रकार है कि—निर्वृत्तिके होनेपर ही उपकरण और उपयोग हुआ करते हैं । तथा लब्धिके होनेपर ही निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग हुआ करते हैं । क्योंकि निर्वृत्तिके विना उपकरणकी रचना नहीं हो सकती और उपकरणके विना उपयोगकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार लब्धिके विना ये तीनों ही—निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग नहीं हो सकते । क्योंकि तत्तद् इन्द्रियावरणकर्मका क्षयोपशम हुए विना इन्द्रियोंके आकारकी रचना नहीं हो सकती, और उसके विना ज्ञानकी अपने अपने स्पर्शादिक विषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती । अतएव इन चारोंकी मिलकर ही इन्द्रिय संज्ञा हुआ करती है, न कि इनमेंसे अन्यतमकी । क्योंकि इन चारोंमेंसे एकके भी विना विषयका ग्रहण नहीं हो सकता ।

भावार्थ—उपयोग शब्दसे इन्द्रियजन्य मतिज्ञान विशेष—चैतन्य परिणाम समझना चाहिये । यह उपयोग दो प्रकारका होता है—एक विज्ञानरूप दूसरा अनुभवरूप । घटादि पदार्थोंकी उपलब्धिको विज्ञान और सुखदुःखादिके वेदनको अनुभव कहते हैं । यह उपयोग पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा हुआ

कता है, परन्तु एक समय में एक ही इन्द्रियके द्वारा होता है। किसी किसी ने एक ही समयमें अनेक इन्द्रियोंके द्वारा भी उपयोगका होना माना है। परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपयोगकी गति अति सूक्ष्म होनेसे एक ही समयमें प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें उनका समय भिन्न भिन्न ही है। जैसे कि तुरीसे सैम्बों कमलपत्रोंको काटते समय वे एक ही समयमें कटते हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तवमें वैसा नहीं है। क्योंकि उनको काटते समय एक पत्रको काटकर जितनी देरमें दूसरे पत्र तक तुरी पहुँचती है, उतनी देरमें ही असंख्यात समय हो जाते हैं। इसी तरह प्रकृतमें भी समयकी सूक्ष्म गति समझनी चाहिये। अतएव एक समयमें एक ही इन्द्रिय अपने विषयकी तरफ उन्मुख होकर प्रवृत्त हुआ करती है। हाँ, एक इन्द्रिय जिस समयमें अपने विषयकी तरफ उन्मुख होकर प्रवृत्ति करती है, उसी समयमें द्वितीयादि इन्द्रिय जयज्ञान भी रह सकता है। अथवा स्मृतिज्ञान जो देखनेमें आता है, सो नहीं उन सरेगा। इस अपेक्षासे अनेक इन्द्रियजन्य उपयोग भी एक समयमें माने जा सकते हैं। दूसरी बात यह भी है, कि कर्मविशेषके द्वारा अर्थान्तरके उपयोगके समय पहलेका उपयोग आवृत्त भी हो जाता है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता पञ्चेन्द्रियाणि इति । तत् कानि तानि इन्द्रियाणि इति । उच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने “ पञ्चेन्द्रियाणि ” इस सूत्रके द्वारा इन्द्रियाँ पाँच ही है, यह तो बताया, परन्तु वे कौनसी हैं, सो नहीं बताया। अतएव कहिये कि वे पाँच इन्द्रियाँ कौन कौनसी हैं—उनके नाम क्या हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें पाँचो इन्द्रियोंके नाम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ २० ॥

भाष्यम्—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्रमित्येतानि पञ्चेन्द्रियाणि ॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुः, और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। अर्थात् ये क्रमसे पाँच इन्द्रियोंके नाम हैं। ये नाम अन्वर्थ हैं, और इनमें अभेद तथा भेदकी विवक्षासे कर्तृसाधन और कर्तृसाधन दोनों ही धरित होते हैं। अतएव इनका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि जो स्पर्श करे—स्पर्शगुणको निषय करे उसको स्पर्शन कहते हैं। तथा जिसने द्वारा स्पर्श किया जाय—जिसके आश्रयसे शीत उष्ण आदि स्पर्शकी पर्याय जानी जाय उसको स्पर्शन कहते हैं।

इन इन्द्रियोंके स्वामीका उल्लेख ग्रन्थकार आगे चलकर करेंगे। यहाँपर इनके विषयको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

१ इस प्रकार माननेवालेका नाम श्रीसिद्धमेनगणीने आश्रयिष्ठ लिखा है और उनको निन्द्य करके बताया है। यथा—“यत् आर्येन्द्रिजनिह्वनैर्युगपत् क्रियाद्वयोपयोगः” । २—स्पृशति इति स्पर्शनम् रसतीति रसनम्, जिघ्रतीति घ्राणम् चेटे इति चक्षुः, शृणोतीति श्रोत्रम् । ३—स्पृश्यते अनेन इति स्पर्शनम् रस्यते अनन इति रसनम्, जिघ्रित अनेन इति घ्राणम्, चेट अनेन इति चक्षुः, शृयते अनेन इति श्रोत्रम् । ४—। कर्तृसाधन—करणसाधन ।

सूत्र—स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—एतेषामिन्द्रियाणामेतेस्पर्शादयोऽर्था भवन्ति यथासंख्यम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त पाँच इन्द्रियोंके क्रमसे ये पाँच विषय हैं—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ।

भावार्थ—ये शब्द कर्मसाधन हैं । अतएव इनका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि जो छूआ जाय उसको स्पर्श, जो चूसा जाय उसको रस, जो सूंघा जाय उसको गंध, जो देखा जाय उसको वर्ण, और जो सुना जाय उसको शब्द कहते हैं । ये नियत इन्द्रियोंके सिवाय अन्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते । इन्द्रियोंका और उनके विषय ग्रहणका नियम दोनों ही तरफसे है । यथा—स्पर्श विषय स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा ही जाना जा सकता है, न कि अन्य इन्द्रियके द्वारा, इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा स्पर्श ही जाना जा सकता है न कि रसादिक । इसी तरह रसना आदिक इन्द्रियों और उनके रसादिक विषयोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अतएव पाँचो इन्द्रियोंके क्रमसे ये पाँच विषय बताये हैं—स्पर्शनेन्द्रियका विषय स्पर्श, रसनेन्द्रियका विषय रस, घ्राणेन्द्रियका विषय गंध, चक्षुरिन्द्रियका विषय वर्ण—रूप, और श्रोत्रेन्द्रियका विषय शब्द ।

इन्द्रियाँ अपने अपने विषयका ग्रहण करनेमें दो प्रकारसे प्रवृत्त हुआ करती हैं । एक प्राप्तिरूपसे दूसरे अप्राप्ति रूपसे । चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्ति रूपसे ही पदार्थको ग्रहण करती है, बाकी चारों इन्द्रियाँ प्राप्तिरूपसे ही विषयका ग्रहण करती हैं । इन इन्द्रियोंके विषयभूत क्षेत्रादिका प्रमाण भी भिन्न भिन्न है । कौन कौनसी इन्द्रिय कितनी कितनी दूरके पदार्थको ग्रहण कर सकती है यह नियम ग्रन्थान्तरसे जानना चाहिये । जैसे कि स्पर्शन रसना और घ्राण इन्द्रियका क्षेत्र नौ योजन प्रमाण है । इसका अर्थ यह है, कि इतनी दूरतकमे आया हुआ पुद्गल स्पष्ट होनेपर इन इन्द्रियोंके द्वारा जाना जा सकता है ।

१—सृज्यते इति स्पर्शः, रस्यते इति रसः, इत्यादि । २—चक्षुकी अप्राप्यकारिताका समर्थन न्यायके प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि अनेक ग्रन्थोंमें किया गया है । ३—पुष्टं सुगोढं सद् अणु चैव पस्तदे हवं । फासं रसं च गन्धं घट्टं पुष्टं विजाणादि ॥ ४—श्रोत्रेन्द्रियका क्षेत्र बारह योजन और चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट क्षेत्र आत्माडुलकी ओरका एक लक्ष योजनसे कुछ अधिक है ।

दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार इन्द्रियोंका विषयभूत क्षेत्र इस प्रकार है—एकेन्द्रियके स्पर्शनका क्षेत्र चारसौ धनुष है, और वह अमंती पंचेन्द्रियतक क्रमसे दूना दूना होता गया है, द्वीन्द्रियके रसनाका क्षेत्र ६४ धनुष और आगे दूना दूना है । त्रीन्द्रियके घ्राणका क्षेत्र १०० धनुष आगे दूना दूना है । चतुरिन्द्रियके चक्षुका क्षेत्र दो हजार नौ नौ चौधन योजन और अमंतीके दूना है । अमंतीके श्रोत्रका क्षेत्र आठ हजार धनुष है, संजीके स्पर्शन रसना घ्राणका क्षेत्र नौ नौ योजन, श्रोत्रका १२ योजन, और चक्षुका मँतालीस हजार दो सौ त्रैसठसे कुछ अधिक है । चक्षुके इस उत्कृष्ट विषयक्षेत्रको निजालनेकी उपाति इस प्रकार है । “ तिण्णिसयसथिविहिदल्लत्वं दसमूलताडिदे मूलम् । णवण्णिदे सथिहिदे चक्षुप्फासस्स अद्धानं ॥ १६९ ॥—तो० जीवकाण्ड ।

स्पश आठ प्रकारका है—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु, कठोर । रस पाँच प्रकारका है—मधुर आम्ल कटु कषाय और तिक्त । गंध दो प्रकारका है—सुगंध और दुर्गंध । वर्ण पाँच प्रकारका है—श्वेत नील पीत रक्त हरित । शब्द गर्जित आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है । अथवा अक्षर अनक्षर आदि भेदरूप है ।

इस प्रकार पाँच इन्द्रियोंका विषय बताया, परन्तु मतिज्ञानमें इन्द्रियोंकी तरह अनिन्द्रियको भी निमित्त माना है । अतएव इन्द्रियोंकी तरह अनिन्द्रियका भी विषय बताना चाहिये । इसीलिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सूत्र—श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥

भाष्यम्—श्रुतज्ञान द्विषमनेकद्वादशविध जो इन्द्रियस्यार्थ ।

अर्थ—श्रुतज्ञानके मूलमें दो भेद हैं—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य । अङ्गप्रविष्टके आचारङ्गादि १२ भेद और अङ्गबाह्यके अनेक भेद हैं । यह पहले कहा जा चुका है । इन सम्पूर्ण भेद रूप श्रुत अनिन्द्रिय—मनसा विषय है ।

भाष्यार्थ—यहाँपर मनसा विषय जो श्रुत बताया है, उससे मतलब भावश्रुतसा है, जो कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे द्रव्यश्रुतके अनुसार विचार रूपसे तत्त्वार्थका परिच्छेदरूप आत्मपरिणति विशेष ज्ञानरूप हुआ करता है । जैसे किसीने धर्म द्रव्यका उच्चारण किया, उसको सुनते ही पहले शास्त्रमें बाँचे हुए अथवा किसीके उपदेशसे जाने हुए गतिहेतुक धर्म द्रव्यका बोध हो जाता है, यही मनसा विषय है । इसी प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वार्थ और द्वादशाङ्गके समस्त विषयोंका जो विचार होना या करना मनसा कार्य है । अर्थात् किसी भी विषयका विचार करना ही इसका विषय है । अथवा अर्थाविग्रह से अनन्तर जो मतिज्ञान होता है, उसको भी उपचारसे श्रुतज्ञान कहते हैं । क्योंकि वह मनके बिना नहीं होता । अतएव वह भी मनसा ही विषय है, परन्तु मुख्यतया द्वादशाङ्गग्रन्थ—द्रव्यश्रुतके अनुसार जो होता है, वही लिया गया है ।

मनको अनिन्द्रिय कहनेका अपिप्राय ईषत् इन्द्रिय बतानेका है, जमेकि किसी वस्तुको अनुरा वह दिया जाता है । इन्द्रियोंकी तरह इसका विषय नियत नहीं है, और इसका स्थान भी इन्द्रियोंके समान दृष्टिगोचर नहीं होता, अतएव इसको अनिन्द्रिय अथवा अन्तःकरण कहते हैं ।

इस प्रकार इन्द्रियोंका स्वरूप विषय और भेद विधान बनाया । किंतु जिस जिस जीवसे ज्ञान कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं, सो अभीतक नहीं बताया है । अतएव इस भागको बतानेके लिये आगेका प्रकरण उठाते हैं —

भाष्यम्—उक्त मयता पृथिव्यव्यनस्पतितंजोवायवो ह्रीन्द्रियादयश्च नय जीवातिकाया । पंचेन्द्रियाणि चेति । तर्क कस्येन्द्रियमिति । अत्रोच्यते—

अर्थ—आपने नौ जीवनिकाय बताये हैं—पृथिवी जल वनस्पति अग्नि और वायु ये पाँच और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय ये चार, इस तरह कुल जीवनिकाय ९ हैं और “ पंचेन्द्रियाणि ” इस सूत्रके द्वारा इन्द्रियाँ पाँच ही बताई हैं । अतएव कहिये कि किस किस जीवनिकायके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वाय्वन्तानामेकम् ॥ २३ ॥

भाष्यम्—पृथिव्यादीनां वाय्वन्तानां जीवनिकायानामेकमेवेन्द्रियम् । सूत्रक्रमप्रामा-
ण्यात् प्रथमं स्पर्शनमेवेत्यर्थः ॥

अर्थ—पृथिवीसे लेकर वायुपर्यन्त पाँच जीवनिकायोंके एक ही इन्द्रिय है, और वह सूत्रक्रमकी प्रमाणताके अनुसार पहली स्पर्शन इन्द्रिय ही है । क्योंकि यहाँपर एक शब्दसे अभिप्राय प्रथमका है ।

भावार्थ—यद्यपि द्वीन्द्रियादिक शब्दोंका उच्चारण करनेसे ही यह अर्थ अर्थापत्ति प्रमा-
णके अनुसार समझमें आ जाता है, कि जो इनसे पहले वायु पर्यन्त जीवनिकाय हैं, उनके एक ही इन्द्रिय होना चाहिये । परन्तु ऐसा होनेपर भी यह समझमें नहीं आ सकता, कि द्वीन्द्रियके कौनसी दो इन्द्रियाँ हैं, और त्रीन्द्रियके कौनसी तीन इन्द्रियाँ हैं । इत्यादि । इसी तरह वायुपर्यन्तके भी कौनसी एक इन्द्रिय समझना सो भी समझमें नहीं आ सकता । इसलिये इस सूत्रके कहने की आवश्यकता है ।

दो आदिक इन्द्रियाँ किन किनके होती हैं सो बताते हैं—

सूत्र—कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २४ ॥

भाष्यम्—कृम्यादीनां पिपीलिकादीनां भ्रमरादीनां मनुष्यादीनां च यथासंख्यमेकैक-
वृद्धानीन्द्रियाणि भवन्ति । यथाक्रमं, तद्यथा—कृम्यादीनां अपादिकनूपुरक गण्डूपद शङ्ख
शुक्तिका शम्बूका जलोका प्रभृतीनामेकेन्द्रियेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः एकेन वृद्धे स्पर्शनरसनोन्द्रिये
भवतः । ततोऽप्येकेनवृद्धानि पिपीलिका रोहिणिका उपचिका कुन्थु तम्बुरुकत्रपुसबीज
कर्पासास्थिका शतपट्टपतक तृणपत्र काष्ठहारकप्रभृतीनां त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणानि ।
ततोऽप्येकेनवृद्धानि भ्रमर वटर सारङ्गमक्षिकापुत्तिका दंश मगकवृश्चिकनन्द्यावर्तकीट पतङ्गा-
दीनां चत्वारिस्पर्शनरसनघ्राणचक्षूषि । जैपाणां च तिर्यग्योनिजानां मत्स्योरगभुजंगपक्षि
चतुष्पदानां सर्वेषां च नारकमनुष्यदेवानां पञ्चेन्द्रियाणीति ॥

अर्थ—इस सूत्रमें आदि शब्दका सम्बन्ध कृमिआदिक प्रत्येक शब्दके साथ करना चाहिये—कृमि आदिक, पिपीलिका आदिक, इत्यादि । इन जीवोंके क्रमसे एक एक इन्द्रिय अधिक अधिक होती गई है । अर्थात् वायु पर्यन्त पाँच जीवनिकायोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय बताई है, उनकी अपेक्षा कृमि आदिक—कोड़ी लट नूपुरक केंचुआ शंख सीप घोंघा जोंक इत्यादि

जीवोंके एक इन्द्रिय अधिक है । इस तरहके जीवोंके पृथिवी आदिककी अपेक्षा एक अधिक स्पर्शन रसन ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । एक अधिकसे रसनेन्द्रिय ही क्यों अधिक होती है, तो इसके लिये सूत्रक्रम ही प्रमाण है । तथा यही बात त्रीन्द्रिय आदि जीवोंके विषयमें भी समझनी चाहिये । अर्थात् चींटी पई दीमक कुन्डुआ तम्बुरुक उपसवीज कर्पासास्थिका शतपद्मत्पतक तृणपत्र काष्ठहारक—घुण इत्यादि जीवोंके कीड़ी आदिकी अपेक्षा एक इन्द्रिय अधिक अर्थात् स्पर्शन रसन घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं । भ्रमर वटर—वर् सारङ्ग—ततैया मक्खी पुत्तिका डास मच्छर बिच्छू नन्दावर्त कीट पतङ्ग इत्यादि जीवोंके चींटी आदिकी अपेक्षा एक इन्द्रिय अधिक है, अर्थात् इस तरहके जीवोंके स्पर्शन रसन घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं । इनके सिवाय बाकीके तिर्यच—मत्स्य दुग्धही सर्व पक्षी चौपाये—गौ भैंस बोहा हाथी आदि जीवोंके एव सभी नारकी मनुष्य और देवोंके भ्रमरादिकी अपेक्षा एक अधिक अर्थात् स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं ।

भावार्थ—कृमि आदिक पिपीलिका आदिक, इत्यादि शब्दोंमें आदि शब्दसे उन्हीं जीवोंका ग्रहण समझना चाहिये, जिनकी कि इन्द्रियाँ समान हैं । अर्थात् इन्द्रिय सत्त्वाकी अपेक्षा समान जातिके ही जीवोंका आदि शब्दसे ग्रहण करना चाहिये । यद्यपि कोई कोई इस सूत्रमें मनुष्य शब्दका पाठ नहीं करते, परन्तु ऐसा करना उचित नहीं है । मनुष्य शब्दका पाठ किये बिना भ्रमरादिका पाठ भी अयुक्त ही ठहरेगा, और ऐसा होनेसे किन किन इन्द्रियोंके कौन कौन स्वामी है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता द्विविधा जीवा समनस्का अमनस्काद्येति । तत्र के समनस्का इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने पहले जीवोंके दो भेद बताये थे, एक समनस्क दूसरे अमनस्क । उनमेंसे समनस्क जीव कौनसे हैं ? अर्थात् इन्द्रिय और अनिन्द्रियमेंसे इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीवोंका नियम तो बताया, परन्तु अनिन्द्रियोंकी अपेक्षा अभीतक जीवोंका कोई भी नियम नहीं बताया । अतएव उसके बतानेके अभिप्रायसे इस प्रश्नका आश्रय लेकर उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संज्ञिन समनस्का ॥ २५ ॥

भाष्यम्—सप्रधारणसंज्ञाया संज्ञिनो जीवा समनस्का भवन्ति । सर्वे नारकदेवा गर्भ-व्युत्क्रान्त्यश्च मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाश्च केचित् ॥ ईहापोहयुक्ता गुणदीपविचारणात्मिका

१—कोई कोई इस सूत्रके पहले 'अतीन्द्रिया केवलिन' ऐसा एक सूत्र और भी पढ़ते हैं । परन्तु टीकाकारने उसका खण्डन किया है । आगममें हेतु काल आदि संशय अनेक प्रकारकी बताई हैं, उनमेंसे भाष्यकारने यहीँ पर सप्रधारण संज्ञाका ही व्याख्यान किया है ।

संप्रधारणसंज्ञा । तौ प्रति सज्जिनो विवर्धिताः । अन्यथा साधारण्यमभ्युत्पत्तिरिष्टासंज्ञाभिः सर्व एव जीवाः संज्ञिन इति ॥

अर्थ—संप्रधारण संज्ञा की अपेक्षा में जो जीव संज्ञा के धारण करनेवाले हैं, उनके समनस्क कहते हैं । सातों ही भूमियों में रहनेवाले समान नारकी तथा चारों दिशाओं में सम्पूर्ण देव और गर्भों में जन्म धारण करनेवाले सभी मनस्य एवं केई कोई तिर्यक जीव समनस्क समझने चाहिये । ईहा और अपोहके युक्त गुण तथा दोषों के विचारों से सम्प्रधारण संज्ञा रहते हैं । इस तरह की संज्ञा को जो धारण करने हैं, उनके ही पक्ष में संज्ञा शब्द से लिया गया है । यदि यह अर्थ नहीं लिया जायगा, तो श्रुतिविरुद्धिक समान संसारी जीव तो कि अहार भय वैषम्य और परिग्रह इन चार संज्ञाओं को धारण करनेवाले हैं, मंत्री रहे या मर्त्य ।

भावार्थ—समनस्क और अमनस्क में समनस्क विना ही समनस्क ! इसके उत्तर में कहते हैं, कि जो संज्ञी है—संज्ञा के धारण करनेवाले हैं, उनके समनस्क समझना चाहिये । समन संज्ञा शब्द में अनेक अर्थों का द्रष्टव्य होता है । नाम इत्यादि साधुदान आदि भी संज्ञा शब्द में कहे जा सकते हैं । अतएव उभय तात्पर्य स्पष्ट करने हैं, कि ईहा और अपोह रूप में साधारण्य के विचार करने की शक्तियों यहाँ संज्ञा शब्द में लेना चाहिये । इसको संप्रधारण संज्ञा कहते हैं । यह शान्ध्यानि है अथवा श्रद्धाध्यानि है, इस तरह की नैस्त्व कल्पनाओं ईहा करने हैं, और मधुरता आदिके द्वारा यह शान्ध्यानि ही है, न कि श्रद्धाध्यानि इस तरह में पृथक्पृथक् द्रष्टव्य करने हुए शेष के परित्याग करने रूप विचारों को अंगह कहते हैं । भिन कारणों से अभिप्रेत विषय की सिद्धि हो, उनको गुण कहते हैं, और भिनसे उस सिद्धि में बाधा हो, उनको दोष कहते हैं । इस प्रकार ईहा और अपोह के द्वारा गुण दोषों का विचार कर उनमें द्रव्य तथा व्याप्य बुद्धि के होनेको संज्ञा कहते हैं । यह संज्ञा मनसरित जीवों के ही पाई जाती है, अन्यत्र नहीं । यद्यपि यह संज्ञा ज्ञानरूप ही है, परन्तु मन रहित केवट इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले ज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट है, इसलिये इसको संज्ञा कहते हैं । अतएव वह समनस्कता का बोधक है ।

देव नारकी और मनुष्य सब समनस्क ही होते हैं । परन्तु तिर्यकों में दो भेद हैं—समनस्क और अमनस्क । जो गर्भ जन्म धारण करनेवाले हैं, वे ही तिर्यक समनस्क होते हैं; किन्तु वे सभी समनस्क नहीं हुआ करते । समनस्क का अर्थ वतानेपर अमनस्क का अर्थ अर्थापत्ति से ही ज्ञात हो जाता है, कि जो इनके सिवाय संसारी जीव हैं, वे सभी अमनस्क हैं ।

इस तरह इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के विषय का नियम बताया । इससे यह भी मालूम हो जाता है, कि मनोयोग किनके पाया जाता है । अब यह बताते हैं, कि जो जीव एक शरीर को छोड़कर शरीरान्तर को धारण करने के लिये गमन करते हैं, उनके कौनसा योग पाया जाता है:—

सूत्र—विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २६ ॥

भाष्यम्—विग्रहगतिसमापलस्य जीवस्य कर्मकृत एव योगो भवति । कर्मशरीरयोग इत्यर्थः । अन्यत्र तु यथोक्तं कायवाङ्मनोयोग इत्यर्थः ।

अर्थ—जिस क्रियाके द्वारा क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरकी प्राप्ति हो, उसको गति कहते हैं । और विग्रह नाम शरीरका है । अतएव शरीर धारण करनेके लिये जो गति होती है, उसको विग्रहगति कहते हैं । जो जीव इस अवस्थाको धारण करनेवाले हैं, उनके कर्मकृत ही योग पाया जाता है । कर्मणशरीरके द्वारा जो योग-प्रदेशपरिस्पन्दन होता है, उसको कर्मयोग कहते हैं । विग्रहगतिमें तो यही योग रहता है, परन्तु इसके सिवाय अन्य अवस्थावाले जीवोंके काययोग वचनयोग और मनोयोग ये तीनों योग रहा करते हैं ।

भावार्थ—यहाँपर ससारी जीवका अधिकार है । ससारीका अर्थ बता चुके हैं, कि जो ससरण करनेवाले हों । ससरण दो प्रकारसे हुआ करता है । एक देशान्तरप्राप्तिरूपसे दूसरा भवान्तरप्राप्तिरूपसे । एक शरीरको छोड़कर अन्य स्थानपर जाकर दूसरे शरीरको धारण करनेका नाम देशान्तरप्राप्ति और मरकर उसी छोड़े हुए शरीरमें उत्पन्न होनेका नाम भवान्तर प्राप्ति है । यह दोनों ही प्रकारका ससरण वैद्यरूप योगके बिना नहीं हो सकता । अत एव त्यक्त और ग्राह्य शरीरोंके मध्यमें जीवकी गति हुआ करती है । इसीको विग्रहगति कहते हैं । यह दो प्रकारकी होती है—ऋजी और वक्रा । धनुषपरसे छूटे हुए बाणके समान जो सीधी गति होती है, उसको ऋजी कहते हैं, और जिसमें मोटा लेना पड़े, उसको वक्रा कहते हैं । ऋजीगतिमें समय नहीं लगता, क्योंकि यहाँपर पूर्व शरीरका त्याग और उत्तर शरीरका ग्रहण एक ही समयमें हो जाता है, अतएव उसमें भिन्न समय नहीं लगता । किंतु वक्रागतिमें मोड़ा लेना पड़ता है, इसलिये इसमें एकमे लेकर तीन समयतक लगते हैं । इसी लिये वक्रा गतिके तीन भेद हैं—एकममया द्विममया और तिसमया ।

मन वचन और कायके द्वारा जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्दन होता है, उसको योग कहते हैं । इसके मूलभेद तीन हैं, मनोयोग वचनयोग और काययोग, किंतु उत्तरभेद पंद्रह हैं । चार प्रकारका मनोयोग—सत्य असत्य उभय और अनुभय । इसी प्रकार वचनयोग भी चार प्रकारका है—सत्य असत्य उभय और अनुभय । काययोगके सात भेद हैं—औदारिक औदा रिकमिश्र वैक्यिक वैक्यिमिश्र आहारक आहारकमित्र और कर्मण । उपर्युक्त वक्रागतिके समय जीवने इनमें से एक कर्मणयोग ही हुआ करता है, अन्य समयमें अन्य योग भी हो सकते हैं,

१—अथवा इस तरहसे भी चार भेद हैं—साय असत्य सत्यासत्य अमत्यामृता । वचनयोगके भी इसी तरह चार भेद समझने चाहिये ।

और होते हैं । विग्रहगति और केवलसमुद्घातके सिवाय अन्य अवस्थामें कर्मणयोग नहीं होता, शेष योग ही होते हैं ।

यहाँपर कोई कोई ऐसी शंका किया करते हैं, कि जब शरीरके पाँच भेद हैं, तो उनमेंसे एक तैजस शरीरके द्वारा भी योगका होना क्यों नहीं बताया ? परन्तु इसका उत्तर भाष्यकार आगे चलेकर स्वयं देंगे ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जीवोंकी यह भवान्तर-प्रापिणी-गति किमी तरह नियमबद्ध है, अथवा अनियत-चाहे जिस तरहसे भी हो सकती है, अतएव उसका भी नियम है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनुश्रेणिगतिः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—सर्वा गतिर्जीवानां पुद्गलानां चाकाशप्रदेशानुश्रेणिमवतीति । विश्रेणिर्न भवतीति गतिनियम इति ॥

अर्थ—जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्योंकी समस्त गति आकाशप्रदेशके अनुसार ही हुआ करती है, उसके विरुद्ध गति नहीं होती, ऐसा गतिके विषयमें नियम है ॥

भावार्थ—यह गति सम्बन्धी नियम सम्पूर्ण जीव पुद्गल द्रव्योंके लिये है, परन्तु उनकी समस्त अवस्थाओंके लिये नहीं है, किंतु अवस्था विशेषके लिये है । भवान्तरको जाते समय जीवकी जो गति होती है, वह ऊर्ध्व अवः अथवा तिर्यक् किधरको भी हो आकाशप्रदेश-पंक्तिके अनुसार ही हुआ करती है । इसी प्रकार पुद्गलकी जो स्वाभाविकीगति होती है, वह श्रेणिके अनुसार ही होती है । जैसे कि एक पुद्गलका अणु बिना किसी सहायकके चौदह राजू तक लोकके एक भागसे लेकर दूसरे भागतक एक समयमें गमन किया करता है, यह प्रवचनका वचन है, पुद्गलकी ऐसी स्वाभाविकीगति अनुश्रेणि ही होती है, विश्रेणि नहीं होती ।

यद्यपि यहाँपर जीवद्रव्यका अधिकार है, इसलिये इस सूत्रके द्वारा जीवकी गतिकी ही नियम होना चाहिये, ऐसी शंका हो सकती है, परन्तु आगेके सूत्रमें जीव शब्दका पाठ किया है, उसके सामर्थ्यसे इस सूत्रमें पुद्गल द्रव्यके भी ग्रहण करनेका अर्थ निकल आता है । क्योंकि आगेके सूत्रमें जीव द्रव्यका अर्थ अधिकारके ही अनुसार हो सकता है, अतएव जीव शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है, वह व्यर्थ पड़कर ज्ञापन करना है, कि इस पूर्व सूत्रमें पुद्गलका भी ग्रहण है, जिसकी कि व्यावृत्तिके लिये जीव शब्दका पाठ करना आवश्यक है ।

“ विग्रहगतौ कर्मयोगः ” इस सूत्रमें विग्रह शब्दसे दो अर्थ लिये हैं, एक शरीर दूसरा मोड़ा । इसी लिये शरीर धारण करनेको जो जीवकी मोड़ेवाली वक्रागति होती है,

१—“ सर्वस्य ” इस सूत्र (अ० २ सूत्र ४३) के व्याख्यानमें २—“ अनुश्रेणिर्न भवतीति । ” ऐसा भी कहीं कहीं पाठ है ।

उसमें कर्मयोगका होना बताया है । परन्तु अभी तक यह नहीं मालूम हुआ, कि सप्सारातीति सिद्ध जीव जो शरीरको छोड़कर ऊर्ध्वगमन करते हैं, उनकी गति किस प्रकार होती है । वह मोड़ा लेकर होती है, या बिना मोड़ा लिये ही ? अतएव उनकी गति पचमगतिका नियम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥

भाष्यम्—सिद्धयमानगतिर्जीवस्य नियतमविग्रहा भवतीति ॥

अर्थ—जीवोंकी सिद्धयमान गति अर्थात् शरीरको छोड़कर लोकान्तको जाते समय मुक्त जीवोंकी जो गति होती है, वह नियमसे मोड़ा रहित ही होती है ।

भावार्थ—पहले सूत्रमें जीव और पुद्गल दोनोंकी अनुश्रेणिगति कही है । इससे दोनोंका ही यहाँपर भी बोध हो सकता था, परन्तु जीव शब्दके ग्रहणसे पुद्गलका निराकरण हो जाता है । तथा आगेके सूत्रमें सप्सारी शब्दका ग्रहण किया है, इससे यहाँपर जीव शब्दसे सिद्धयमान जीवका अभिप्राय है, यह बात सामर्थ्यसे ही स्पष्ट हो जाती है ।

जो सिद्धयमान जीव नहीं है, उनकी गति ऋजु और वक्र दो तरहकी होती है, यह तो ठीक, परन्तु उनकी वक्रगति किस प्रकार होती है—उसमें कितना काळ लगाता है, सो नहीं मालूम हुआ, अतएव उसका नियम बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥

भाष्यम्—जात्यन्तर सप्तान्तोससारिणो जीवस्य विग्रहवती चाविग्रहा च गति र्भवति उपपातक्षेत्रवशात् तिर्यग्ध्वमधश्च प्राक् चतुर्भ्य इति । येषां विग्रहवती तेषां विग्रहा प्राक्चतुर्भ्यो भवन्ति । अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुःसमय-पराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति । परतो न सम्भवन्ति, प्रतिघाताभावाद्द्विविग्रहनिमित्ताभावाच्च । विग्रहो यस्मिन् विग्रहोऽविग्रहः श्रेण्यन्तरसप्तान्तिरित्यनर्थान्तरम् । पुद्गलानामप्येवमेव ॥ शरी-रिणां च जीवानां विग्रहवती चाविग्रहवती च प्रयोगपरिणामवशात् । न तु तत्र विग्रह-नियम इति ॥

अर्थ—सप्सारी जीव जब अपने किसी भी एक शरीरको छोड़कर अन्य शरीरको धारण करनेके लिये अर्थात् भगन्तरके लिये गमन करता है, उस समय उसके विग्रहवती अपना अविग्रहागति हुआ करती है । किंतु जैसा उपपात क्षेत्र—जन्मभेद मिळता है, वैसी गति होती है । यदि विग्रहवतीके योग्य क्षेत्र होता है, तो विग्रहवतीगति होती है, और यदि अविग्रहाके योग्य जन्मक्षेत्र होता है, तो अविग्रहा हुआ करती है । परन्तु यह गति तिर्यक् ऊर्ध्व और अध ऐसे तीनों दिशाओंकी मिळकर चार समयके पहले पहले ही हुआ करती है । क्योंकि जिन जीवोंकी विग्रहवतीगति होती है, उनके विग्रह चार समयके पहले

पहले ही हुआ करते हैं। इन गतियोंमें चार समय तक लगा करते हैं, अतएव कालभेदकी अपेक्षासे इन गतियोंके चार भेद हैं—अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा और त्रिविग्रहा। इससे अधिक भेद भी संभव नहीं और समय भी नहीं लगता, क्योंकि इसके आगे जीवकी गतिका प्रतिघात नहीं होता, और न विग्रहके लिये कोई निमित्त ही है। विग्रह नाम मोड़ा—टेढ़ा का है। विग्रह अवग्रह और श्रेण्यन्तर संक्रान्ति ये सब शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं। जिस प्रकार यहाँ जीवकी गतिके विषयमें नियम बताया है, उसी प्रकार पुद्गलके विषयमें भी समझना चाहिये।

जो शरीरको छोड़कर गमन नहीं करते—शरीरके धारण करनेवाले हैं, उन जीवोंके गतिके लिये जैसा भी प्रयोग—परिणमन करनेवाला निमित्त मिल जाता है, उसीके अनुसार दोनोंमेंसे कैसी भी—विग्रहवती अथवा अविग्रहा गति हो जाती है। शरीरधारी जीवोंकी गतिके लिये विग्रहका कोई भी नियम नहीं है।

भाष्यम्—अथ विग्रहस्य किं परिमाणमिति । अत्रोच्यते ।—क्षेत्रतो भाज्यम्, कालतस्तु—

अर्थ—भवान्तरके लिये जाते समय जीवको जो विग्रह धारण करना पड़ता है, उसका प्रमाण कितना है ? उसमें कितना समय लगता है ? उत्तर—क्षेत्रकी अपेक्षा तो यथायोग्य समझ लेना; परन्तु कालकी अपेक्षा—

सूत्र—एकसमयोऽविग्रहः ॥ ३० ॥

भाष्यम्—एकसमयोऽविग्रहो भवति । अविग्रहा गतिरालोकान्तादप्येकेन समयेन भवति ॥ एकविग्रहा द्वाभ्याम्, द्विविग्रहा त्रिभिः, त्रिविग्रहा चतुर्भिरिति । अत्र भङ्गप्ररूपणा कार्येति ॥

अर्थ—विग्रह रहित गति एक समयकी हुआ करती है। अर्थात् ऐसी गति जिसमें कि विग्रह नहीं पाया जाता यदि लोकान्तप्रापिणी हो, तो भी वह एक ही समयके द्वारा होती है, उसमें अधिक समय नहीं लगते^१। अतएव जिसमें एक विग्रह पाया जाता है, वह दो

१—दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार विग्रहगतिमें तीन समयसे अधिक नहीं लगते। २—आगममें सात श्रेणी बताई हैं—ऋज्वायता एकतोवका द्विधावका एकत-खा द्विधारदा चक्रवाला और अर्धचक्रवाला। इनमेंसे आदिकी तीन क्रमसे एक दो तीन समयके द्वारा हुआ करती हैं। इनके सिवाय चतुःसमया और पंचसमयागति भी संभव हैं, परन्तु उनमें यह विशेषता है, कि चतुःसमया गतिका तो सूत्र द्वारा उल्लेख पाया जाता है, किंतु पंचसमयाका सूत्रतः अथवा अर्थतः उल्लेख नहीं है। संसारी जीवोंके समान परमाणु आदि पुद्गलोंकी भी चार प्रकारकी गति हुआ करती है। तथा विग्रह और कालका नियम अन्तर्गतियों में समझना चाहिये। ३—विग्रहवतीगतिका एक समय उपलक्षण है, अतएव यह नियम नहीं है, कि एक समयप्रमाण कालमें विग्रह ही हो। ऋज्वीगतिमें विग्रह नहीं पाया जाता, फिर भी वह एकसमया है। लोकान्तप्रापिणी भी एकसमयमें होती है। जिस प्रकार कोई मनुष्य तो एक घंटेमें दो मील चलता है, और कोई मनुष्य एक ही घंटे आधा मील ही चल पाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

समयके द्वारा और जिसमें दो विग्रह पाये जाते हैं, वह तीन, समयके द्वारा तथा जिसमें तीन विग्रह पाये जाते हैं, वह चार समयके द्वारा हुआ करती है। इस प्रकारसे इस विषयमें भद्रप्ररूपणा लगा लेनी चाहिये।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि विग्रहगतिसे धारण करनेवाले जीव आहारक होते हैं अथवा अनाहारक ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि अनाहारक ही होते हैं। क्योंकि यहाँपर कर्मण-योगके सिवाय और कोई भी योग नहीं पाया जाता। किन्तु पुन यह प्रश्न हो सकता है, कि यदि वे अनाहारक ही होने हैं, तो उनकी अनाहारकताका काल कितना है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकं द्वौ वाऽनाहारकः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—विग्रहगतिसमाप्यो जीव एक वा समय द्वौ वा समयावनाहारको भवति । शेष काल मनुसमयमाहारयति । कथमेकं द्वौ वाऽनाहारको न बह्वनीत्यत्र भग्नप्ररूपणा कार्या ॥

अर्थ—उपर्युक्त विग्रहगतिसे अच्छी तरहसे प्राप्त हुआ जीव एक समय मात्रके लिये अथवा दो समयके लिये अनाहारक हुआ करता है। किन्तु शेष समयमें प्रतिक्षण आहारको ग्रहण किया करता है। वह एक समय तक अथवा दो ही समय तक अनाहारक क्यों रहता है ? अधिक समय तक भी अनाहारक क्यों नहीं रहता ? इसके लिये भद्रप्ररूपणा कर लेनी चाहिये।

भावार्थ—आहार शब्दसे यहाँपर औदारिक वैकियिकशरीरके पोषक पुद्गलोंके ग्रहणते अभिप्राय है। इस आहारके ग्रहण न करनेवालेको अनाहारक कहते हैं। आहार तीन प्रकारका है—ओजआहार लोमाहार और प्रक्षेपाहार। कर्मणशरीरके द्वारा यथायोग्य योगिमें प्राप्त होनेपर प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, उसको ओजआहार कहते हैं। पर्याप्त अस्थि होनेपर प्रथम समयसे लेकर मरण समय-पर्यन्त त्वचाके द्वारा जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, उसको लोमाहार कहते हैं, और खाने पीने आदिसे द्वारा जो पुद्गल पिंड ग्रहण करनेमें आता है, उसको प्रक्षेपाहार कहते हैं। इनमेंसे विग्रहगतिमें एक या दो समयतक कोई भी आहार नहीं होता।

१—“परिपोषेदुक्तो य आहार औदारिक वैकियिकशरीरद्वयस्य स विवक्षित प्रतिषेधत्वेन।”—श्रीसिद्धसेनगणी किन्तु दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार इस सूत्रकी व्याख्यामें अनाहारकका अर्थ तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण न करना है। और अनाहारक अवस्था तीन समयतक मानी है। इस विषयमें श्रीसिद्धसेनगणीने कहा है कि “यदि पुनः पचसमयायां गतो वा द्युदेन समयत्रय समुपचीयते ? उच्यते—अग्निहित प्राप्तः । तादृशाग्न्यां कश्चिदुपपद्यते, अपास्ति संभवः, न कश्चिद्दोषः ।” २—दिगम्बर सिद्धान्तमें आहार छह प्रकारका माना है यथा— ओजस्य कम्पमाहारी कल्पमाहारी य लेप्पमाहारी । ओजस्यो विषयस्यो आहारो द्रव्यद्वयो गेयो ॥

दो समयसे अधिक समय तक अनाहारक क्यों नहीं रहता, इसके लिये भंगप्ररूपणा व्रतानेका अभिप्राय यह है, कि जिस विग्रहगतिमें एक या दो समय तक अनाहारक रहना बताया है, उससे यहाँपर द्विविग्रहा और त्रिविग्रहा गति ही ली गई है। पहला समय च्युतदेशका और चौथा समय जन्मदेशका होनेसे इनमें जीव आहारक माना गया है। अतएव द्विविग्रहामें एक समय और त्रिविग्रहामें दो समय अनाहारकके समझने चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—एवमिदानीं भवक्षये जीवः अविग्रहया विग्रहवत्या वा गत्या गतः कथं पुनर्जायत इत्यत्रोच्यते,—उपपातक्षेत्रं स्वकर्मवशात् प्राप्तः शरीरार्थं पुद्गलग्रहणं करोति। “सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते” इति, तथा “कायवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानामुपकारः”, “नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्” इतिवक्ष्यामः। तज्जन्म। तच्च त्रिविधम्। तद्यथा—

अर्थ—प्रश्न—आपने अभीतक के कथनसे यह बात तो बताई, कि भवक्षय होनेपर मृत्युको प्राप्त होकर जीव मार्गमें अविग्रहा अथवा विग्रहवती दोनोंमें से किसी भी गतिके द्वारा आकाश प्रदेश पंक्तिके अनुसार गमन किया करता है, परन्तु अभीतक यह नहीं बताया, कि इस तरहसे गमन करके उत्पन्न किस प्रकार हुआ करता है। अतएव कहिये कि उत्पन्न होनेके क्षेत्रपर किस तरह उत्पन्न होता है? उत्तर—अपने कर्मके अनुसार यह जीव उपपात-क्षेत्र—जहाँपर इसको उत्पन्न होना है, वहाँपर पहुँचकर शरीरके योग्य पुद्गल द्रव्य ग्रहण किया करता है। किंतु वे पुद्गल किस प्रकारसे ग्रहण करनेमें आते हैं, और आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, यह बात आगे चलकर “स कषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते” और “काय-वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानामुपकारः” तथा “नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्” इन सूत्रोंके द्वारा बतावेंगे। इस प्रकारसे पुद्गल ग्रहण करनेको ही जन्म कहते हैं और वह जन्म आश्रयभेदसे तीन प्रकारका है।

भावार्थ—मृत्युको प्राप्त हुआ जीव अविग्रहा या विग्रहवती गतिके द्वारा चलकर जन्मक्षेत्रको अपने कर्मके अनुसार पहुँचता है। इस कथनसे ग्रंथकारने ईश्वरके कर्तृत्व-वादका निराकरण किया है। क्योंकि बहुतसे लोगोंका यह अभिमत है, कि जीवका मरना और जीना—जन्म धारण करना ईश्वरपर निर्भर है। ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टिका कर्ता हर्ता विधाता है, उसकी शक्तिके बिना संसारका उत्पाद विनाश और संरक्षण नहीं हो सकता। परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। सर्वथा वीतराग कृतकृत्य परमात्माकी कर्तृता युक्ति और अनुभवसे असिद्ध तथा बाधित है। अतएव जीवका मरना और जन्मान्तरको जाना कर्मके निमित्तसे ही

१—दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार तीन निष्कृष्ट क्षेत्रोंमें मोड़ा लेनेपर तीन समयतक भी अनाहारक रह सकता है। लोकनाडीमें ऐसे क्षेत्रमें भी उत्पत्ति हो सकती है, जहाँपर पहुँचनेमें तीन मोड़ाओंके लिये तीन समय-तक रुकना पड़ता है। २—अध्याय ८ सूत्र २।३—अध्याय ५ सूत्र १५। ४—अध्याय ८ सूत्र २५।

समझना चाहिये । यह जीव अपने परिणामोंसे जैसे भी कर्मोंका संग्रह करके उनको आत्मसात् कर लेता है, वे कर्म यथा समय उदयमें आकर अपनी अपनी शक्तिके अनुसार फल दिया करते हैं, और वह फल उस जीवको भोगना पड़ता है । उस कर्मके निमित्तसे ही ससारी जीवका जन्म मरण हुआ करता है । सिद्धजीव कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं, अतएव उनका जन्म मरण नहीं हुआ करता । वे अवतार धारण आदि नहीं करते । सचित्त आधुर्मके पूर्ण हो जानेको मरण और नवीन आधुर्मके उदयमें आनेको ही जन्म कहते हैं । भवान्तरके लिये कब जाना कहाँ जाना कैसे जाना किस मार्गसे जाना इत्यादि सभी कार्य कर्मके निमित्तसे ही जीवके सिद्ध हुआ करते हैं । कर्मकी सामर्थ्य अचिन्त्य है । अतएव उसके ही अनुसार यथायोग्य जन्मक्षेत्रको प्राप्त हुआ जीव औदारिक या वैकियिक शरीरकी रचनाके योग्य पुद्गल द्रव्यका ग्रहण किया करता है, और कर्मके निमित्तसे ही उसकी शरीरादिरूप रचना हुआ करती है । शरीर योग्य पुद्गलके ग्रहणको ही जन्म कहते हैं । जन्मके हेतु आदिका वर्णन आगे चलकर बताया जायगा कि “ यह जीव सकपाय होनेसे कर्मके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण किया करता है “ तथा ” मन वचन काय और श्वासोच्छ्वास ये सब पुद्गल द्रव्यके ही उपकार हैं “ और ” कर्मके निमित्तसे योगविशेषके द्वारा यह जीव स्वक्षेत्र और परक्षेत्रसे जिनका ग्रहण किया करता है, ऐसे अनन्तानन्त सूक्ष्म कर्म पुद्गल आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें एक क्षेत्रान्गाह करके स्थित हैं ” ।

इस तरह तीन प्रकारकी उपपत्तियोंके द्वारा जिस जन्मका वर्णन किया जायगा, वह आश्रय भेदसे तीन प्रकारका है । वे तीन प्रकार कौनसे हैं ? इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सूत्र—सम्पूर्णनगर्भोपपाता जन्म ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—सम्पूर्णन गर्भ उपपात इत्येतन्निविध जन्म ।

अर्थ—जन्मके तीन भेद हैं—सम्पूर्णन गर्भ और उपपात ।

भाष्यार्थ—जिस स्थानपर प्राणीको उत्पन्न होना है, उस स्थानके पुद्गल द्रव्यका उस जीवके शरीरके रूपमें परिणमन करना इसको सम्पूर्णन कहते हैं । जैसे कि काठ आदिमें घुण लगा जाता है, फलादिकमें कीड़े पड़ जाते हैं, और शरदी गर्मी आदिका निमित्त पारर शरीरमें या वस्त्रादिकमें जू वगैरह पड़ जाते हैं, पानी आदिका निमित्त पारर अणुम अणु और जमीनमें घाम आदि उत्पन्न हो जाती है, इत्यादि शरीरोंकी उत्पत्तिको सम्पूर्णन जन्म कहते हैं । क्योंकि उस स्थानपर जीवके आते ही उसी स्थानके पुद्गल शरीर रूप परिणत हो जाते हैं । इसीको सम्पूर्णन-जन्म कहते हैं । एकेद्रिपसे लेखत पतुरिन्द्रिय-वर्पण सभी जीवोंका सम्पूर्णन ही जन्म हुआ करता है ।

माता पिताका संयोग होनेपर उनके रज वीर्यके संयोगसे जो शरीर बनता है, उसको गर्भ—जन्म कहते हैं। जैसे कि पशु पक्षियोंका या मनुष्योंका हुआ करता है। देव और नार-कियोंके शरीर—परिणमनको उपपात—जन्म कहते हैं। सम्मूर्च्छन और उपपात—जन्ममें नियत और अनियत स्थानकी अपेक्षा अंतर समझना चाहिये। सम्मूर्च्छनजन्मका स्थान और आकार नियत नहीं है, किंतु देव नारकियोंके उपपातजन्मके स्थान और आकार नियत हैं। तथा सम्मूर्च्छन और गर्भ—जन्मके द्वारा उत्पन्न हुआ शरीर स्थूल हुआ करता है, किंतु उपपातजन्मके द्वारा प्राप्त हुआ शरीर सूक्ष्म होता है।

उपर्युक्त तीन प्रकारके जन्मोंमेंसे सम्मूर्च्छनजन्मके द्वारा प्राप्त शरीर स्थूल भी होता है, और उसके स्वामी भी सबसे अधिक हैं, अतएव सूत्रकारने पहले सम्मूर्च्छन शब्दका ही पाठ किया है। उसके बाद गर्भ शब्दका पाठ इसलिये किया है, कि इसकी भी स्थूलता सम्मूर्च्छनके ही समान है। उपपात—जन्मका स्वभाव इसके प्रतिकूल—सूक्ष्म है, अतएव उसका अन्तर्ग ग्रहण किया है। तथा औदारिकशरीरके स्वामी मनुष्य और तिर्यचोंकी अपेक्षा उपपातजन्मके स्वामी देव नारकियोंका स्वभाव भी विरुद्ध है।

इस प्रकार तीन जन्मोंका स्वरूप तो बताया, परन्तु अभीतक इनके स्थानका निर्देश नहीं किया, कि ये कहाँ होते हैं। अतएव कहाँपर तो जीव सम्मूर्च्छनजन्मको और कहाँपर गर्भजन्मको तथा कहाँपर रहनेवाले या उत्पन्न होकर उपपात—जन्मको धारण करते हैं, यह बतानेके लिये ही सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—सचित्तशीतसंवृत्ताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३३॥

भाष्यम्—संसारं जीवानामस्य त्रिविधस्य जन्मन एताः सचित्तादयः सप्रतिपक्षा मिश्रा-
श्चैकशो योनयो भवन्ति । तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, सचित्ताचित्ता, शीता, उष्णा,
शीतोष्णा, संवृता, विवृता, संवृतविवृता, इति । तत्र नारकदेवानामचित्ता योनिः
गर्भजन्मनां मिश्रा । त्रिविधाऽन्येषाम् । गर्भजन्मनां देवानां च शीतोष्णा । तेजः कायस्योष्णा ।
त्रिविधाऽन्येषाम् । नारकैकेन्द्रियदेवानां संवृता । गर्भजन्मनां मिश्रा । विवृताऽन्येषामिति ।

अर्थ—अष्टविध कर्मरूप संसारके बंधनमें पड़े हुए जीवोंके जन्म ऊपर तीन प्रकारके बताये हैं—सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपात। इनकी योनि—आधार स्थान सचित्तादिक तीन और इनके प्रतिपक्षी—उल्टे अचित्तादिक तीन तथा एक एकके मिश्ररूप तीन इस तरह कुल नौ हैं।

१—“अपरे वर्णयन्ति—सम्मूर्च्छनमेवैकं सामान्यतो जन्म, तद्धि गर्भोपपाताभ्यां विशिष्यत इति” अर्थात् किसी किसीका कहना है, कि सामान्यतया एक सम्मूर्च्छन ही जन्म है, उसीके गर्भ और उपपात ये दो विशेषण हैं। परन्तु ग्रन्थकारको यह बात इष्ट नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे जन्मोंकी त्रिविधता नष्ट हो जाती है। और कीट पतङ्ग वृक्षादिके शरीरको भी गर्भजन्म या उपपातजन्म ही कहना पड़ेगा।

उनके नाम क्रमसे इस प्रकार हैं—सचित्ता, अचित्ता, सचित्ताचित्ता, शीता, उष्णा, शीतोष्णा, सवृता, विवृता, सवृतविवृता ।

इन नौ प्रकारकी योनिओंमेंसे देवगति तथा नरकगतिमें जन्म धारण करनेवाले जीवोंकी योनि सचित्त अचित्त और उसके मिश्रके त्रिकमेंसे अचित्त ही होती है। गर्भ-जन्मवालोंकी मिश्र—सचित्ताचित्त होती है। तथा बाकीके जीवोंकी तीनों ही प्रकारकी—सचित्ता, अचित्ता, और सचित्तोचित्ता होती है। शीत उष्ण और उसके मिश्ररूप योनित्रय में से गर्भ—जन्मवाले तथा देवगतिके जीवोंके मिश्ररूप—शीतोष्णा योनि होती है, और तेज कायवाले जीवोंके उष्णा योनि होती है, किन्तु बाकीके जीवोंके तीनों ही प्रकारकी योनि हुआ करती है। सवृत विवृत और उसके मिश्ररूप इन तीनमेंसे नरकगतिमें तथा एकेन्द्रिय जीवोंके और देवोंके सवृत योनि ही हुआ करती है। गर्भ—जन्मवालोंके मिश्र—सवृतविवृत, किन्तु बाकीके जीवोंके तीनों ही—सवृत विवृत और सवृतविवृत योनि हुआ करती हैं।

भावार्थ—सप्तरी जीव पूर्व शरीरका नाश होनेपर उत्तर शरीरके योग्य पुद्गल द्रव्यको जिस स्थानपर पहुँचकर ग्रहण कर कर्मणशरीरके साथ मिश्रित करता है, उस स्थानको योनि कहते हैं। वह मूलमें सचित्तादिकके भेदसे नौ प्रकारका है, किन्तु उसके उत्तर भेद ८४ लाख हैं। जोकि इस प्रकार है—नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवीकाय जलकाय आग्निकाय वायुकाय इन छहमेंसे प्रत्येकका सात सात लाख, वनस्पतिकायके १० लाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय इनमें प्रत्येकके दो दो लाख, शेष तिर्यञ्च देव और नारकी इनमें प्रत्येक के चार चार लाख, तथा मनुष्योंके १४ लाख ।

नौ प्रकारकी योनिमेंसे किस किस जन्मवालेके कौन कौनसी योनि होती है, सो ऊपर बताया जा चुका है। जो जीवके प्रदेशोंसे युक्त हो उसको सचित्त और जो जीवके प्रदेशोंसे रहित हो, उसको अचित्त तथा जिसका कुछ भाग जीवके प्रदेशोंसे युक्त हो और कुछ भाग उनसे रहित हो, उसको मिश्र—सचित्ताचित्त योनि कहते हैं। शीत उष्ण और उसके मिश्रका अर्थ स्पष्ट है। सवृत शब्दका अर्थ प्रच्छन्न—अप्रकट है, इससे विपरीत—प्रकट योनि को विवृत कहते हैं। तथा जिसका कुछ भाग प्रकट और कुछ भाग अप्रकट हो उसको मिश्र—सवृतविवृत समझना चाहिये।

ऊपर गर्भ—जन्मवालोंकी सचित्ताचित्तरूप मिश्र योनि बताई है, वह इस प्रकार है, कि जो पुद्गल योनिसे सम्बद्ध हैं, वे सचित्त हैं और जो तत्स्वरूप परिणत नहीं हुए हैं, वे अचित्त हैं। ये

१—गिषिदग्धादुसस य तद्वदस विषयिदियेयु छयेव । सुरगिरयतिरियकउरो चोहस मणुए सदसद्वरमा ॥ ८९ ॥
—गो० जी० । १—इस विषयमें किसी किसीका कहना है कि माताका रज सचित्त है, और पिताका धीर्य अचित्त अतएव दोनोंके संयोगसे गर्भ—जन्म वालेकी मिश्र—सचित्ताचित्त योनि होती है। तथा किसी किसीका कहना है, कि इन्द्रयोगित्त दानों ही अचित्त हैं, किन्तु योनिके प्रदेश सचित्त हैं, अतएव उनके संयोगसे मिश्र योनि हुआ करती है।

दोनों ही पुद्गल गर्भ—जन्मके आधार हैं, अतएव उसकी मिश्र योनि कही जाती है। इसी प्रकार अन्य योनियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। जिस कायकी जातिके जितने भेद हैं, उतने ही उसकी योनिके भेद होते हैं, जैसे कि पृथिवीकायके सात लाख। इसी तरह अपनी अपनी जातिके भेदसे अन्य योनियोंके भेद समझने चाहिये। किंतु वे भेद अपने मूलभेदको छोड़कर नहीं रहा करते, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये।

ऊपर जन्मके तीन भेद बताये हैं। उनके आधाररूप योनियोंके भेद प्रभेद गिनाये, किंतु अभीतक यह नहीं बताया, कि किस किस जीवके कौन कौनसा जन्म होता है—उन जन्मोंके स्वामी कौन हैं ? अतएव इस बातको बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—जरायुजानां मनुष्यगोमहिषाज्जाविकाश्वखरोष्ठ मृगचमरवराहगवयसिंह व्याघ्रक्षत्रीपिच्वशृगालमार्जारदीनाम्। अण्डजानां सर्पगोधाकृकलाशृगृहकोकिलिकामत्स्य-
कूर्मनक्रशिशुमारादीनां पक्षिणां च लोमपक्षाणां हंसचापशुकगृध्रश्येनपारावतकाकमयूरम-
द्बुवकबलाकादीनां। पोतजानां गृहकहस्तिश्वाविल्लापकगशशारिका नकुलमूषिकादीनां
पक्षिणां च चर्मपक्षाणां जलूका वल्गुलिभारण्डपक्षिविरालादीनां गर्भो जन्मेति।

अर्थ—मनुष्य गौ बैल भैंस बकरी भेड़ घोड़ा गधा ऊँट हिरण चमरी गौ शूकर नीलगाय सिंह व्याघ्र भालू गेंडा कुत्ता शृगाल बिल्ली आदिक जीव जरायुज हैं। सर्प गोह गिरगिट या छिपकली तथा गृहकोकिलिका मछली कछुआ मगर घड़ियाल आदि जीव अण्डज हैं। एवं लोमपक्षवाले पक्षियोंमें हंस नीलकण्ठ तोता गीध बाज कबूतर कौआ मोर टिट्ठिम बक बलाका आदि जीव भी अण्डज ही हैं। और सेही हस्ती श्वाविल्लापक (चरक) खरगोश शारिका नकुल मूषक आदि जीव तथा पक्षियोंमें चर्मपक्षवाले जीव और जलूका वल्गुली भारण्डपक्षी विडाल आदि जीव पोतज हैं। इन तीनों ही प्रकारके जीवोंका गर्भ—जन्म हुआ करता है।

भावार्थ—जरायुज अण्डज और पोतज इन तीन प्रकारके जीवोंका उपर्युक्त तीन तरहके जन्मोंमेंसे गर्भ—जन्म हुआ करता है। यह सूत्र दोनों ही प्रकारके नियमोंको दिखाता है, अर्थात् इन तीन तरहके जीवोंका गर्भ—जन्म ही होता है, एक तो यह, दूसरा यह कि इन तीन तरहके जीवोंका ही गर्भजन्म हुआ करता है।

जरायु नाम जेरका है, जो कि गर्भमें जीवके शरीरके चारों तरफ जालकी तरह लिपटा रहता है। माता पिताका रज वीर्य नखकी त्वचाके समान कठिनताको धारण करके उस गर्भस्थ जीवके शरीरके चारों तरफ जो गोल आवरण बन जाता है, उसको अण्ड कहते हैं। शरीरके अवयवोंके पूर्ण होनेपर जिसमें चलने फिरनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, उसको पोत कहते हैं।

इन तीन प्रकारके जीवोंमेंसे जो जरायुज है, वे अम्यर्हित हैं, उनमें क्रिया और आरम्भरू शक्ति अधिक पाई जाती है, तथा उनमेंसे किसी किसीमें महान् प्रभाव और मोक्षमार्गका फल भी पाया जाता है, अतएव उसका सबसे पहले ग्रहण किया है । जरायुमके अनन्तर अण्डज-का ग्रहण इसलिये किया है, कि वह पोतकी अपेक्षा अम्यर्हित होता है ।

क्रमानुसार उपपादजन्यके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—नारकदेवानामुपपातः ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—नारकाणां देवानां चोपपातो जन्मेति ।

अर्थ—नरकगति और देवगतिवाले जीवोंका उपपात जन्म होता है ।

भावार्थ—उपपात शब्दका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है । इस उपपातजन्मके स्वामी दो गतिवाले जीव—नारक और देव हैं । इस सूत्रका अभिप्राय भी दुतरफा नियम करनेका ही समझना चाहिये । अर्थात् एक तो यह कि—नारक देवोंके उपपातजन्म ही होता है, और दूसरा यह कि नारक देवोंके ही उपपातजन्म होता है ।

क्रमानुसार सम्मूर्छन-जन्मके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—जरायुज्जपोतजनारकदेवेभ्यः शेषाणां सम्मूर्छनं जन्म । उभयावधारणं चात्र भवति ।—जरायुजादीनामेव गर्भः, गर्भ एव जरायुजादीनाम् । नारकदेवानामेवोपपातः, उपपात एव नारकदेवानाम् । शेषाणामेव सम्मूर्छनम् सम्मूर्छनमेव शेषाणाम् ॥

अर्थ—जरायुज अण्डज पोतज नारक और देव इतने जीवोंको ओढ़कर बाकीके जीवोंके सम्मूर्छन-जन्म होता है । यहाँपर जन्मके स्वामियोंको बतानेका जो प्रकरण उपस्थित है, उसमें दोनों ही तरफसे नियम समझना चाहिये ।—जरायुजादिकके ही गर्भ-जन्म होता है, और जरायुजादिकके गर्भ-जन्म ही होता है । इसी तरह नारक देवोंके ही उपपातजन्म होता है, और नारक देवोंके उपपातजन्म ही होता है । तथा बाकीके जीवोंके ही सम्मूर्छन जन्म होता है, और बाकीके जीवोंके सम्मूर्छन-जन्म ही होता है ।

भावार्थ—ऊपर गर्भ और उपपातजन्मके जो स्वामी बताये हैं, उनसे सिवाय समस्त समारी जीवोंके सम्मूर्छन-जन्म ही होता है, तथा सम्मूर्छन-जन्म इन शेष समारी जीवोंके ही हुआ करता है । ऐसा दुतरफा नियम समझना चाहिये । तीन प्रकारके जन्मों

१—दिगम्बर सिद्धान्तमें अम्यर्हित और अथाञ्जल होनेसे नारक शब्दके पहले देव शब्दका पाठ माना है । हिन्दू धीरिद्वयेनगरी करने हैं, कि ऐसा न करके नारक शब्दके पहले पाठ करनेसे जन्म दुर्गन्ध कारण है, और वह नारकमें प्रवृत्तसे है, इस अर्थके ज्ञापन करनेका अभिप्राय है ।

स्वामियोंको बतानेके लिये ऊपर जो तीन सूत्र किये हैं, उनका अर्थ अवधारणरूप ही होना चाहिये और इकतंरफा अवधारण करनेसे व्यभिचार उपस्थित होता है, अतएव यहाँपर उभयतः अवधारण—नियम बताया गया है।

पूर्वोक्त योनियोंमें उपर्युक्त जन्मोंके धारण करनेवाले जीवोंके शरीर कितने प्रकारके हैं और उनके क्या क्या लक्षण है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकर्मणानि शरीराणि ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—औदारिकं वैक्रियं आहारकं तैजसं कर्मणामित्येतानि पञ्च शरीराणि संसारिणां जीवानां भवन्ति ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस और कर्मण ये पाँच शरीर संसारी जीवोंके हुआ करते हैं।

भावार्थ—यह सूत्र ऐसा नियम बताता है, कि संसारी जीवोंके ये पाँच ही शरीर हुआ करते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह न समझना चाहिये, कि जो संसारातीत है उनके पाँचसे अधिक भी होते हैं। क्योंकि यह संसारी जीवोंका ही प्रकरण है, अतएव शरीरका सम्बन्ध संसारी जीवोंके ही होता है। जो संसारातीत-मुक्त है, वे शरीर और कर्म दोनोंसे ही सर्वथा रहित हैं, अतएव उनके विषयमें शरीरका विचार करना ही निरर्थक है।

संसारी जीवोंके भी शरीर पाँच ही हैं, न कि कम ज्यादा। यद्यपि इस सूत्रमें शरीर शब्दकी जगह काय शब्दका पाठ करनेसे लाघव हो सकता था, परन्तु वैसा नहीं किया है, इससे आचार्यका अभिप्राय अर्थ विशेषको व्यक्त करनेका प्रकट होता है। वह यह कि—यहाँपर शरीर शब्दको अन्वर्थ समझना चाहिये, केवल काय शब्दके अर्थका बोधक ही नहीं। जो विशरणशील है—जीर्ण होकर बिखर जाता है, उसको शरीर कहते हैं। औदारिकादिक पाँचों ही में यह स्वभाव पाया जाता है, अतएव इनको शरीर कहते हैं। यथायोग्य समय पाकर ये आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर पौद्गलिक वर्णारूपमें इतस्ततः बिखर जाते हैं।

इन शरीरोंकी रचना अन्तरङ्गमें पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मके उदयकी अपेक्षासे हुआ करती है। इसके पाँच भेद हैं—औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस और कर्मण। औदारिक शरीरनामकर्मका उदय होनेपर जो उदार स्थूल और असार पुद्गल द्रव्यके द्वारा बनता है, उसको औदारिक कहते हैं। वैक्रियशरीरनामकर्मका उदय होनेपर जो विक्रिया—विविधकर-

१—किसी किसीने इस सूत्रका योग विभाग कर दिया है। वे इस सूत्रके “शरीराणि” इस वाक्यको पृथक् सूत्र मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है, कि इस विषयमें आगे विशेष वर्णन करना है, अतएव यह अधिकार सूत्र पृथक् ही है। किंतु सिद्धसेनगणी आदिको यह अभिप्राय इष्ट नहीं है।

गता-बहुरूपता-अनेकस्वरूपकरणता और अणिमादिक अष्ट ऋद्धि तथा गुणोंसे युक्त पुद्गल-द्रव्यवर्गणाओंके द्वारा बनता है, उसको वैक्रिय कहते हैं । आहारकशरीरानामर्मका उदय होनेपर विशिष्ट प्रयोजनके सिद्ध करनेमें समर्थ-शुभतर विशुद्ध पुद्गलद्रव्य वर्गणाओंके द्वारा नो बनता है, और जिसकी कि स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है, उसको आहारक कहते हैं । तेजस् शब्दका अर्थ अग्नि है । तैजसशरीरानामर्मका उदय होनेपर तेजो गुणयुक्त पुद्गल द्रव्य वर्गणाओंके द्वारा नो बनता है, उसको तैजसशरीर कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है-लब्धिरूप और अलब्धिरूप । लब्धिरूप तैजस भी दो प्रकारका होता है-शुभ और अशुभ । गोशालाके समान जिसको तैजस लब्धि प्राप्त है, वह शोष-क्रोध आदिके वशीभूत होकर अपने शरीरके बाहर तेजस पुतला निकालता है, जो कि उष्ण गुणयुक्त होनेसे दूसरेका दाह करनेमें समर्थ हुआ करता है । इसको अशुभ तैजस कहते हैं, जो कि शाप देने आदि अशुभ किया करनेमें समर्थ होता है । प्रसन्न होनेपर वही तैजस शरीरका पुतला शीत गुणयुक्त निकला करता है । जो कि दूसरेका अनुग्रह करनेमें समर्थ हुआ करता है । इसको शुभ तैजस कहते हैं । अलब्धिरूप तैजस शरीर पाचनशक्ति युक्त होता है । वह उपभुक्त आहारके पचानेमें समर्थ होता है । अष्टविध कर्मोंके समूहको कर्मणशरीर कहते हैं ।

इन पाँच शरीरोंकी परस्परमें विशेषता अनेक कारणोंसे बताई है, जो कि ग्रन्थान्तराम् देखनी चाहिये । यहाँपर औदारिकशरीरकी सूक्ष्म बताया है, इससे शोष शरीर सूक्ष्म है यह बात सिद्ध होती है । परन्तु वह सूक्ष्मता केमी है, शोष चारों ही शरीरोंकी सूक्ष्मता मद्दश ह, अथवा विसदृश इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तेषां पर परं सूक्ष्मम् ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—तेषामादारिकाविशरीराणां पर पर सूक्ष्म वेदितव्यम् । तद्यथा-औदारिकाङ्गे त्रिय सूक्ष्मम् । वैक्रियावादारकम् । आहारकातैजसम् । तैजसात्कामणमिति ॥

अर्थ—उपर्युक्त औदारिकादिक पाँच शरीरोंमेंसे पूर्व पूर्व शरीरकी अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीरको सूक्ष्म सूक्ष्म समझना चाहिये । अर्थात् औदारिक शरीरसे वैक्रियशरीर सूक्ष्म होता है,

१—चोई कोइ आठ कर्मोंके भिन्न हैं। कर्मणशरीरको मन्ते है । परन्तु यह बात नहीं है इत्यर्थ निम्न उक्त प्रमाण है कि 'कर्मणिगणनं कर्ममुभय कथं वा कर्मणमिति ।' २—जैसा कि शब्दार्थिक भाष्य २ मूल ४१ की वार्तिकमें कहा है कि—'सहस्रालम्बस्वरूपकारिणां विग्रहार्थप्रमाण उपर्युक्तानां शरीरानामात्राभावात्पुद्गलविभित्तोत्पत्तये अर्थात् सहा लक्षण कारण स्वमित्य नामार्थ प्रमाण क्षेत्र स्थान काल अन्तर भिन्ना प्रमाण सार और अन्य बहुत है । १४ हेतुओं और इतने विषय अन्य भी हेतुओं जैसा कि प्रयोजन अथवा पुद्गल भाष्य आदिही अपेक्षाओं भी इन शरीरोंकी परस्परकी विग्रहना समझ लेनी चाहिये । इन चोई कर्मोंका लक्षण शरीरोंमें ही देखा चाहिये त्रिकों के द्वारा उक्त और अल्प अर्थका बोध होना है । ३—अमिति वार्तिक ।

वैक्रियसे आहारक सूक्ष्म होता है, आहारकसे भी तैजस सूक्ष्म होता है, और तैजससे भी कर्मणशरीर सूक्ष्म होता है ।

भावार्थ—यहाँपर सूक्ष्म शब्दसे आपेक्षिकी सूक्ष्मता ग्रहण करनी चाहिये, न कि सूक्ष्म-नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाली सूक्ष्मता । जो चर्म चक्षुओंके द्वारा देखी न जा सके, अथवा जो दूसरेसे न रुके और न दूसरेको रोके ऐसी चक्षुरिन्द्रियागोचर पुद्गलद्रव्यकी पर्यायको सूक्ष्म कहते हैं । मनुष्य और तिर्यचोंका शरीर स्वभावसे ही देखनेमें आता है, अतएव वह सबसे अधिक स्थूल है । किंतु वैक्रिय शरीर दिखानेपर विक्रिया द्वारा देखनेमें आ सकता है, स्वभावसे ही देखनेमें नहीं आता, अतएव वह औदारिककी अपेक्षा सूक्ष्म है, किंतु आहारककी अपेक्षा स्थूल है । इसी लिये इसकी सूक्ष्मता आपेक्षिकी सूक्ष्मता कही जाती है । इसी तरह वैक्रियसे आहारक, आहारकसे तैजस और तैजससे कर्मणशरीर सूक्ष्म है । कर्मणशरीरमें अन्त्य—सबसे अधिक सूक्ष्मता है । क्योंकि जिन पुद्गलवर्गणाओंके द्वारा इन शरीरोंकी रचना होती है, उनका प्रचय उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्म और घनरूप है, किंतु कर्मणशरीरका प्रचय सबसे अधिक सूक्ष्म घनरूप है ।

इन शरीरोंमें जब उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, तो इनके प्रदेशोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर कम कम होगी, ऐसी आशङ्का हो सकती है । अतएव इस शंकाकी निवृत्तिके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—तेषां शरीराणां परं परमेव प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं भवति प्राक् तैजसात् । औदारिकशरीरप्रदेशेभ्यो वैक्रियशरीरप्रदेशा असंख्येयगुणाः वैक्रियशरीरप्रदेशेभ्य आहारक-शरीरप्रदेशा असंख्येयगुणा इति ।

अर्थ—यद्यपि उक्त शरीरोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, परन्तु उत्तरोत्तर ही इन शरीरोंके प्रदेश असंख्यातगुणे असंख्यागुणे है । किंतु यह असंख्यातका गुणाकार तैजसशरीरसे पहले पहले ही समझना चाहिये । अर्थात् औदारिकशरीरके जितने प्रदेश हैं, उनसे असंख्यातगुणे वैक्रियशरीरके प्रदेश होते हैं, और जितने वैक्रियशरीरके प्रदेश हैं, उनसे असंख्यातगुणे आहारकशरीरके प्रदेश होते हैं ।

भावार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि औदारिकशरीरका उत्कृष्ट प्रमाण एक हजार योजन है, और वैक्रियशरीरका प्रमाण एक लक्ष योजन । इसलिये औदारिकसे वैक्रियके प्रदेश असंख्यातगुणे होंगे । परन्तु यह बात नहीं है, शरीरकी अवगाहनासे उसके

१—यहाँपर प्रदेशसे अभिप्राय परमाणुओंका नहीं है, स्कन्धोंका है, जो कि असंख्यात अनन्त परमाणुओंसे प्रचित होते हैं । किंतु दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार प्रदेशका लक्षण इस प्रकार है—जावदियं आयासं अविभागी-पुगलाणुवद्वं । तं ख पदेसं जाणे सव्वाणुद्राणदाणरिहं ॥ २५ ॥ (द्रव्यसंग्रह) अतएव प्रदेशसे परमाणुओंको ही लिया है । यथा—“ प्रदेशाः परमाणवस्ततोऽसंख्येयगुणं ”, (—श्रीविद्यानन्दिस्वामी—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ।)

प्रदेशोंकी सस्याका कोई नियम नहीं है । क्योंकि औत्पारिककी उत्कृष्ट अवगाहनाके शरीरमें जितने प्रदेश है, उनसे भी वैक्रीयकी जघन्य अवगाहनाके शरीरके प्रदेश असस्यातगुणे हैं । तथा उत्कृष्ट अवगाहनावाले वैक्रीयशरीरके प्रदेशोंसे आहारकशरीरके प्रदेश असस्यातगुणे हैं । आहारकशरीरका प्रमाण एक हस्तमात्र ही होता है । निम्न प्रकार समान परिमाणवाले रुई काष्ठ पत्थर और लोहेके गोलेके प्रदेशोंमें उत्तरोत्तर अधिकाधिकता है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अन्तर इतना ही है, कि इन शरीरोंके प्रदेश उत्तरोत्तर सूक्ष्म भी हैं । सूक्ष्म सूक्ष्मतर होकर भी इनके प्रदेश अधिकाधिक है, यही इनकी विशेषता है ।

तैजसशरीरके पहले शरीरोंके प्रदेश असस्यातगुणे असस्यातगुणे ह, यह बात मालूम हुई, परन्तु तैजस और कर्मणशरीरके प्रदेशोंमें क्या विशेषता है, सो नहीं मालूम हुई । अतएव उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—अनन्तगुणे परे ॥ ४० ॥

भाष्यम्—परे द्वे शरीरे तेजसकर्मणे पूर्वत पूर्वत प्रवेशार्थतयाऽनन्तगुणे भवत । आहारकातेजस प्रवेशतोऽनन्तगुण, तेजसात्कर्मणमनन्तगुणमिति ।

अर्थ—अन्तके तैजस और कर्मण ये दो शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षासे आगे आगेके पहले पहलेसे अनन्तगुणे अनन्तगुणे हैं । अर्थात् आहारशरीरके जितने प्रदेश है, उनसे तैजसशरीरके प्रदेश अनन्तगुणे हैं, और जितने तैजसशरीरके प्रदेश हैं, उनसे अनन्तगुणे कर्मण शरीरके प्रदेश हैं ।

भावार्थ—तैजस और कर्मणशरीरके प्रदेशोंका प्रमाण निकालनेके लिये अनन्तरा गुणाकार है । आहारकमें तैजस और तैजससे कर्मणके प्रदेश अनन्तगुणे हैं, किंतु फिर भी ये दोनों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं ।

इसके सिवाय अन्तके इन दो शरीरोंमें और भी जो विशेषता है, उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—अप्रतिघाते ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—पते द्वे शरीरे तेजसकर्मणे अन्यत्र लोकान्तात्सर्वाप्रतिघाते भवतः ।

अर्थः—उपर्युक्त विशेषताके सिवाय तैजस और कर्मण इन दो शरीरोंमें एक और भी विशेषता है । वह यह कि—ये दोनों ही शरीर अप्रतिघात हैं—ये न तो किसीको रोकते ही हैं, और न किसीसे रकते ही हैं—वज्रपट्टके द्वारा भी इनकी गति प्रतिहत नहीं हो सकती । किंतु उनका यह अप्रतिघात सम्पूर्ण लोकके भीतर ही है । लोकके अन्तमें ये प्रतिहत हो जाते हैं । क्योंकि जीव और पुद्गल द्रव्यकी गति तथा स्थितिमें कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, जोकि

सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त है। लोकके अन्तमें उनका अभाव है। अवैव सहकारी निमित्तके न रहनेसे लोकके अन्तमें तैजस और कर्मणकी भी गति नहीं हो सकती।

औदारिक आदि तीन शरीरोका सम्बन्ध कभी पाया जाता है, और कभी नहीं पाया जाता, ऐसा ही इन दो शरीरोंके विषयमें भी है क्या ? इस शंकाको दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अनादिसम्बन्धे च ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—ताभ्यां तैजसकर्मणाभ्यामनादिसम्बन्धो जीवस्येत्यनादिसम्बन्ध इति।

अर्थ—उक्त तैजस और कर्मण इन दो शरीरोंके साथ जीवका अनादिकालसे सम्बन्ध है। अतएव इन दो शरीरोंको अनादिसम्बन्ध कहा जाता है।

भावार्थ—जवतक संसार है, तवतक जीवके साथ इन दो शरीरोका सम्बन्ध रहता ही है। संसारी जीव अनादिसे ही संसारी है, अतएव तैजस और कर्मणशरीरका सम्बन्ध भी अनादि है। यह अनादिता द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे समझनी चाहिये न कि पर्यायास्तिकनयकी अपेक्षासे। क्योंकि प्रवाहरूपसे इन दोनों ही शरीरोंके साथ जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु पर्यायास्तिकनयसे इनका सम्बन्ध सादि है। क्योंकि मिथ्यादर्शनादिक कारणोंके द्वारा प्रतिक्षण इनका बन्ध हुआ करता है, और इनकी स्थिति आदिक भी निश्चित है—नियत हैं। परन्तु इनके बन्धका प्रारम्भ अमुक समयसे हुआ है, यह बात नहीं है। जैसे खानके भीतर सुवर्ण पापाणका मलके साथ स्वतः स्वभावसे ही सम्बन्ध है और वह अनादि है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अतएव तैजस और कर्मणका जीवके साथ अनादिसम्बन्ध भी है, और सादिसम्बन्ध भी है, इस बातको दिखानेके लिये ही सूत्रमें च शब्दका पाठ किया है।

यद्यपि इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु ये सभी संसारी जीवोंके पाये जाते हैं या किसी किसी के ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सर्वस्य ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—सर्वस्य चैते तैजसकर्मणे शरीरे संसारिणो जीवस्य भवतः। एके त्वाचार्या नयवादापेक्षं व्याचक्षते। कर्मणमेवैकमनादिसम्बन्धम्। तेनैवैकेन जीवस्यानादिः सम्बन्धो भवतीति। तैजसं तु लब्ध्यपेक्षं भवति। सा च तैजसलब्धिर्न सर्वस्य, कस्यचिदेव भवति। क्रौंधप्रसादनिमित्तौ शापानुग्रहौ प्रति तेजोनिर्गशीतरश्मिनिर्गकरं तथा भ्राजिष्णुप्रभास-सुदयच्छायाविर्गतं तैजसं शरीरेषु मणिज्वलनज्योतिष्कविमानवादिनि।

१—औदारिकशरीरकी उत्कृष्ट स्थिति ३ पत्त्य, वैक्यिकशरीरकी ३३ तैतीस सागर, आहारककी अन्तर्मुहूर्त, तैजसकी छयासठ सागर, कर्मणशरीरकी सामान्यसे ७० कोडाकोडी सागर प्रमाण है। इसका विवेक वर्णन गोम्मट-सार जीवकांडमें देरना चाहिये। २—“पयडो सील सहावो जीवंगाणं अणाइसम्बन्धो। कणयोवले मलं वा ताणथित्तं सयसिद्धं ॥ २॥ (गो० कर्मकांड) ३—कहीं कहींपर क्रोध शब्दकी जगह कोप शब्दका पाठ है। परन्तु टीकाकारने क्रोध शब्द ही रक्खा है। ४—निर्वर्तक शरीरेषु इत्येव पाठोऽन्यत्र।

अर्थ—तैजस और कार्मण ये दो शरीर सभी ससारी जीवोंके रहा करते हैं । परन्तु कोई कोई आचार्य इस सूत्रको नयवादपक्ष—नयवादकी अपेक्षासे कहा गया बताते हैं । उनका कहना है, कि एक कार्मणशरीर ही अनादिसम्बन्ध है । केवल उसीके साथ जीव अनादिसे सम्बन्ध है, न कि तैजसशरीरके साथ । तैजसशरीर तो लब्धिकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ कतरा है, और वह तेजसलब्धि भी सभी जीवोंके नहीं हुआ करती, किन्तु किसी किसीके ही होती है । जैसा कि ऊपर शुभ और अशुभ तैजसके विषयमें लिखा गया है । शरीरके बाहर तैजस पुतला जिसके निमित्तसे निम्नला करता है, वही तेजसलब्धि है । कोपके आवेशसे शाप देनेके लिये उष्ण प्रभावाला अग्निपुञ्जके समान स्फुलिङ्गासे युक्त जो पुतला निम्नलाता है, वह अशुभ है, जैसा कि गोशालके निम्नला था । यह पुतला जिसके ऊपर छोड़ा जाता है, उसको तत्काल भस्म कर देता है । दूसरा शुभ तैजस है, जो कि किसीपर अनुग्रहा करनेके लिये मनकी प्रसन्नताके आवेशसे निम्नला करता है । इसकी विरणें शीतल हुआ करती हैं । जैसे कि मणिओंकी अथवा अन्धकारके दूर करनेवाले ज्वलन—तेजोविशेष की यद्वा चन्द्रमा आदिक उद्योतिष्क देवोंके विमानकी हुआ करती हैं । यह दैवीप्यमान प्रभासमूहकी छायाका उत्पादक है । यह पुतला जिसपर अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे निम्नलाता है, उसको इसके निमित्तसे सताप दूर होकर अत्यन्त सुखका अनुभव हुआ करता है । जैसे कि भगवान् महावीरने इस शीत तेजो निमर्गके द्वारा उसी गोशालरूपर जिसका कि शरीर उष्ण लेदयोंके द्वारा व्याप्त हो रहा था, अनुग्रह किया था ।

इस तरह कोई कोई तैजस शरीरको लब्धिप्रत्यय ही मानते हैं, और इसी लिये उसको नित्यसम्बन्ध नहीं मानते । इस विषयमें भी दो अभिप्राय प्रकट समझने चाहिये,—एक तो यह कि ऐसा आचार्योक्त अभिप्राय नहीं है, क्योंकि यह बात दूसरेका अभिप्राय करके उपस्थित की गई है । दूसरा किसी किसीका यह कहना है, कि यह आचार्योक्त ही अभिप्राय है ।

भावार्थ—इस विषयमें किसी किसीका तो कहना है, कि तैजसशरीर नित्यसम्बन्ध नहीं है, वह लब्धिप्रत्यय होनेमें किसी किसीके ही होता है, सबके नहीं होता । उपमुक्तआहारको पचानेकी शक्ति कार्मणशरीरमें है, और उसीके द्वारा वह कार्य हो जाता है । किन्तु अन्य आचार्य कहना है, कि अन्यकारका यह आशय नहीं है । कार्मणकी तरह तैजस भी नित्यसम्बन्ध है, और यह भी समीकित रहता है, माप्यकारको भी यही बात इष्ट है ।

इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, वह सभी जीवोंके युगपत् पाया जाता है । इसी तरह अन्य शरीर भी एक जीवोंके एक ही धात्रे पाये जाते हैं या नहीं ? यदि पाये जाते हैं, तो उक्त पंच शरीरोंमेंमें कितने शरीर युगपत् एक जीवोंके रह सकते हैं ? इसी कठिनाई बना नेके लिये अगोत्र सूत्र कहने हैं —

सूत्र—तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—ते आदिनी एषामिति तदादीनि । तैजसकर्मणे यावत्संसारभाविनी आदि कृत्वा शेषाणि युगपदेकस्य जीवस्य भाज्यान्या चतुर्भ्यः । तद्यथा—तैजसकर्मणे वा स्याताम्, तैजसकर्मणौदारिकाणि वा स्युः, तैजसकर्मणवैक्रियाणि वा स्युः, तैजसकर्मणौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, तैजसकर्मणौदारिकाहारकाणि वा स्युः । कर्मणमेव वा स्यात्, कर्मणौदारिके वा स्याताम्, कर्मणवैक्रिये वा स्याताम्, कर्मणौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कर्मणौदारिकाहारकाणि वा स्युः, कर्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कर्मणतैजसौदारिकाहारकाणि वा स्युः न तु कदाचित् युगपत् पञ्च भवन्ति, नापि वैक्रियाहारके युगपद्भवतः स्वामिविशेषादिति वक्ष्यते ।

अर्थ—तैजस और कर्मण ये दो शरीर सम्पूर्ण संसारमें रहनेवाले हैं । अतएव इन दोनोंको आदि लेकर—ये दोनों हैं, आदिमें जिनके ऐसे शेष औदारिक आदि शरीर एक जीवके एक कालमें चार तक हो सकते हैं ।

भावार्थ—“ तदादीनि ” इस शब्दका दो प्रकारसे विग्रह हो सकता है, एक तो “ ते आदिनी एषाम् ” यह, जैसा कि यहाँपर भाष्यकारने किया है; दूसरा “ तत्—कर्मणम् आदि येषाम् ” यह, क्योंकि तैजसके विषयमें प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान ये दो पक्ष हैं । भाष्यकारने जो विग्रह किया है, उसके “ ते आदिनी ” इस द्विवचनान्त पदसे तैजस और कर्मण ये दोनों उनको विवक्षित हैं, यह बात स्पष्ट होती है । इसी लिये उन्होंने इन दोनोंको ही मेढीभूत करके “ तैजसकर्मणे यावत्संसारभाविनी ” इस वाक्यके द्वारा अपना अभिप्राय खुलासा कर दिया है । अतएव आचार्यको तैजसशरीरका अप्रत्याख्यान पक्ष ही इष्ट है, ऐसा प्रकट होता है । इस अप्रत्याख्यान पक्षमें पाँच शरीरोंमेंसे दोसे चार तक एक समयमें एक जीवके होनेवाले शरीरोंके पाँच विकल्प होते हैं । किंतु प्रत्याख्यान पक्षमें सात विकल्प होते हैं । क्योंकि इस पक्षमें तैजसशरीरका अभाव मानकर भी लब्धिकी अपेक्षा सद्भाव भी माना है । अप्रत्याख्यान पक्षमें यह बात नहीं है, क्योंकि इस पक्षमें तैजसशरीर सभी जीवोंके और सभी समयमें प्रायः पाया ही जाता है । प्रायः इसलिये कि विग्रहगतिमें आचार्यको भी वह लब्धिनियमित्तक ही इष्ट है । विग्रहगतिके सिवाय अन्य सम्पूर्ण अवस्थाओंमें वह विना लब्धिके ही सर्वत्र सर्वदा अभीष्ट है । अतएव विकल्पोंके प्रयोग यहाँपर भाष्यकारने प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान दोनों ही पक्षोंको लेकर दिखाये हैं । उनमेंसे पहले अप्रत्याख्यान पक्षके पाँच विकल्पोंको यहाँ पर दिखाते हैं—

१—यदि किसी जीवके एक साथ दो शरीर होंगे, तो तैजस और कर्मण ये ही दो होंगे । २—यदि तीन शरीर किसी जीवके एक साथ पाये जाँयेंगे, तो या तो तैजस कर्मण

१—आदिनौ इति पाठान्तरम् । २—भाविनी इति क्वचित् पाठः । जिनके मतमें तैजसशरीर नहीं माना है वे “ तत् आदि येषां ” ऐसी निरुक्ति करते हैं ।

औदारिक ये तीन पाये जाँयगे । ३—अथवा तैजस कर्मण वैक्रिय ये तीन पाये जाँयगे । ४—यदि चार शरीर एक साथ किसी जीवके पाये जाँयगे, तो या तो तैजस कर्मण औदारिक वैक्रिय पाये जाँयगे ५—अथवा तैजस कर्मण औदारिक आहारक ये चार पाये जाँयगे ।

तैजसशरीरके प्रत्याख्यान पक्षमें भी पाँच विरूप होते हैं, परन्तु इस पक्षमें लब्धिकी अपेक्षासे तैजसशरीरको माना भी है । इसलिये इस पक्षमें दो विरूप बढ जाते हैं । अतएव कुल मिलकर इस पक्षमें सात विकल्प होते हैं । उन्हींको यहाँपर क्रमसे दिखाते हैं—

१—या तो किसी जीवके एक समयमें एक कर्मण ही पाया जायगा । २—यदि दो शरीर एक साथ होंगे, तो या तो कर्मण औदारिक होंगे । ३—अथवा कर्मण वैक्रिय ये दो होंगे । ४—यदि किसी जीवके एक साथ तीन शरीर होंगे, तो या तो कर्मण औदारिक वैक्रिय होंगे । ५—अथवा कर्मण औदारिक आहारक ये तीन होंगे । ६—लब्धिप्रत्यय तैजसशरीरकी अपेक्षासे किसी जीवके एकसाथ यदि शरीर पाये जाँयगे तो या तो कर्मण तैजस औदारिक वैक्रिय ये चार पाये जाँयगे । ७—अथवा कर्मण तैजस औदारिक आहारक ये चार पाये जाँयगे ।

कहनेका तात्पर्य यही है, कि किसी भी एक जीवके एक कालमें कभी भी पाँचो शरीर एक साथ नहीं पाये जा सकते, और न वैक्रिय तथा आहारक ये दो शरीर युगपत् किसी जीवके पाये जा सकते हैं । ये दोनों शरीर साथ साथ सम्भव क्यों नहीं हैं, इसका कारण इनके स्वामि ओंसी विशेषता है । इस विशेषताका स्वरूप आगे चलकर बताया जायगा ।

इस प्रकार औदारिक आदि पाँचो शरीरोंका स्वरूप और उनमेंसे युगपत् एक जीवके कितने शरीरोंकी सम्मति है, इस बातका वर्णन किया । परन्तु इन शरीरोंका प्रयोजन क्या है, सो नहीं मालूम हुआ । अतएव इस बातको बतानेके लिये अन्तिम शरीरके विषयमें कहते हैं कि—

सूत्र—निरूपभोगमन्त्रम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—अन्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्कर्मणमाह । तच्चिरूपभोगम् । न सुखदुःखे तेनोपभुज्यते न तेन कर्म वध्यते न वेद्यते नापि निर्जीर्यते इत्यर्थः । शेषाणि तु सोपभोगानि । यस्मात् सुखदुःखे तैरुपभुज्यते कर्म वध्यते वेद्यते निर्जीर्यते च तस्मात्सोपभोगानीति ॥

अर्थ—अन्य शब्दसे कर्मणशरीरका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि “ औदारिक वेजियाहारक ” इत्यादि सूत्रमें पाँच शरीरोंका जो पाठ किया है, वहाँपर सबके अन्तमें कर्मण शरीरका ही पाठ है । यह कर्मणशरीर उपभोग रहित होता है । क्योंकि इसके द्वारा सुख

१-उस चतुर्दश पुरके धारके यह पाया जाना है जिसके कि तैजसस्थि उत्पन्न नहीं हुई है । २-क्योंकि आहारक और वैक्रियकी भी उत्पत्ति परस्परमें निरुद्ध होनेके युगपत् नहीं हो सकती । ३-अध्याय २ सूत्र ४८ और ४९ ॥ लब्धिप्रत्यय वैक्रिय तो मनुष्य और तितय दोनोंके होता है, और आहारक चतुर्दश पुरपर समान धारणको होता है, इत्यादि विवेचनाका वर्णन करेंगे ।

दुःखका उपभोग नहीं हुआ करता, न कर्मका बन्ध होता है, न कर्मफलका अनुभवन होता है, और न निर्जरा ही हुआ करती है। अतएव इसको निरुपभोग कहते हैं। इसके सिवाय बाकीके औदारिकादि चारों शरीर उपभोग सहित हैं। क्योंकि उनके द्वारा सुख दुःखका उपभोग होता है, कर्मोंका बन्ध होता है, उनके फलका अनुभवन होता है, और उनकी निर्जरा भी हुआ करती है। अतएव औदारिकादि चारों शरीरोंको सोपभोग समझना चाहिये।

भावार्थ—यहाँपर कर्मणशरीरके द्वारा उपभोगका जो निषेध किया है, सो उपभोग सामान्यका नहीं, किंतु उपभोग विशेषका किया है। उपभोगके साधन हाथ पैर इन्द्रियाँ आदि हैं सो वे कर्मणशरीरमें नहीं पाये जाते। जिस प्रकार औदारिकशरीरके द्वारा जीव मनोयोगके द्वारा विचारपूर्वक हिंसादि अशुभ और प्राणिरक्षणादिक शुभकर्म कर सकता है, या किया करता है, अथवा गमनागमनादि क्रिया किया करता है, यद्वा श्रोत्रादिक इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादिकको सुन सकता है, तथा और भी इष्ट या अनिष्ट विषयोंका सेवन कर सकता है, उस प्रकारका कोई भी कार्य कर्मणशरीरके द्वारा नहीं हो सकता। इसी प्रकार वैक्रिय आहारक और तैजसशरीरके विषयमें समझना चाहिये। क्योंकि औदारिकके समान ये भी तीनों सोपभोग ही हैं। वैक्रियशरीरके द्वारा भी आङ्गोपाङ्ग तथा निर्वृत्ति और उपकरणरूप इन्द्रियोंके स्फुट रहनेसे इष्टानिष्ट विषयोंका सेवन होता ही है, और आहारकशरीरके द्वारा भी अप्रमत्त मुनिका प्रयोजन सिद्ध होता ही है, तथा तैजसशरीरके द्वारा भी निग्रहानुग्रह यद्वा उपभुक्त आहारका पचन और उसके द्वारा सुरवादिका अनुभव होता ही है, इसी प्रकार बुद्धिपूर्वक किये गये कार्योंके द्वारा जैसा कर्मका बन्ध तथा आङ्गोपाङ्ग और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा कर्मके फलका अनुभवन एवं तपस्या आदिके द्वारा जिस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा औदारिकादि शरीरोंसे हुआ करती है, उस प्रकारके ये कोई भी कार्य कर्मणशरीरसे नहीं हो सकते। इसी लिये इसको निरुपभोग कहा है। अन्यथा विग्रहगतिमें कर्मयोग और उसके द्वारा कर्मबन्धका होना भी माना ही है। तात्पर्य इतना ही है, कि कर्मणशरीरको निरुपभोग कहनेका अभिप्राय उपभोग सामान्यके निषेध करनेका नहीं उपभोग विशेषके निषेध करनेका ही है। अभिव्यक्त सुख दुःख और कर्मानुबन्ध अनुभव तथा निर्जरा कर्मणशरीरके द्वारा नहीं हो सकते, यही उसकी निरुपभोगता है।

इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि कर्मणशरीर कर्मोंके समूहरूप है, अतएव वह उपभोग्य तो हो सकता है, परन्तु उपभोजक नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि छद्मस्थ जीवोंका उपभोग असंख्यात समयसे कममें नहीं हो सकता, परन्तु कर्मणशरीरका योग जहाँ-

१-किन्तु कर्मबन्धको उपभोग नहीं कहते। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके अनुभव करनेको ही उपभोग माना है।
यथा-इन्द्रियनिमित्ता हि जन्दाद्युपलब्धिरुपभोगः ॥ —श्रीविद्यानन्दि-श्लोकवार्तिक।

पर पाया जाता है, उस विग्रहगतिका काल चार समय तकका ही है । इत्यादि कारणोंसे ही कर्मणशरीरको निरुपभोग कहा है ।

आहारकशरीर अप्रमत्तके होता है, अतएव उसके द्वारा उपभोग नहीं हो सकता, यदि इस प्रकारकी कोई शक्ता करे, तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि उपभोगका और प्रमादका सहचर नियम—त्यागि नहीं है । उपभोगके होते हुए भी प्रमादका अभाव पाया जा सकता है । तत्त्व स्वरूपका वेत्ता विद्वान् शब्दादिक विषयोंको बिना प्रमादके—उन्में मूर्छित हुए बिना—राग द्वेष रहित उपेक्षा भावसे ही जान ले यह बात असम्भव नहीं है । अतएव अप्रमत्त मुनि भी आहारकशरीर के द्वारा शरीर तथा इन्द्रियोंके अभिव्यक्त हो जानेपर उसी प्रकारसे शब्दादिकका ग्रहणरूप उपभोग किया करता है ।

भाष्यम्—अत्राह एषां पञ्चानामपि शरीराणां सम्मूर्च्छनाविषु त्रिषु जन्मसु किं क्व जायत इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—ऊपर औदारिकादि पाँच प्रकारके शरीर और सम्मूर्च्छनादि तीन प्रकारके जन्मोंका वर्णन किया है । अतएव यह प्रश्न होता है, कि उन शरीरोंमें से कौनसा शरीर किस जन्ममें हुआ करता ? अर्थात् किस किस जन्मके द्वारा कौनसा शरीर प्राप्त हुआ करता है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—आद्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यादौदारिकमाह । तद्वन्ने सम्मूर्च्छने वा जायते ।

अर्थ—आचार्योंने पाँच शरीरोंका पाठ सूत्र द्वारा जिस क्रमसे बताया है, उसमें सबसे पहले औदारिकाका पाठ किया है । अतएव यहाँपर आद्य शब्दसे औदारिकका ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् औदारिकशरीर गर्भ अथवा सम्मूर्च्छनमें उत्पन्न हुआ करता है ।

भावार्थ—औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्ममें हुआ करता है, इतना अर्थ बतानेके लिये ही यह सूत्र है । किंतु इस सूत्रका अर्थ अवधारणरूप नहीं है, कि औदारिकशरीर ही गर्भ और सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न होता है । क्योंकि तेजस और वार्मण भी उससे उत्पन्न होते हैं, तथा गर्भसे उत्पन्न होनेपर उत्तर कालमें लब्धिप्रत्यय वैक्रिय-शरीर और आहारकशरीर भी उत्पन्न होते हैं ।

प्रमाणानुसार औदारिकके अनंतर वैक्रियशरीरके जन्मको बताते हैंः—

सूत्र—वैक्रियमोपपातिकम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—वैक्रियशरीरमोपपातिक भवति । नारकाणां देवानां चेति ।

१—दिग्भन्व सिद्धातके अनुसार अवधारण ही है । अन्यथा प्रयोग व्यर्थ ठहरता है । इस पक्षमें ऐसा ही भी माना है कि जो औदारिक है, वह गर्भ सम्मूर्च्छन ही उत्पन्न होता है, अथवा जा गर्भ सम्मूर्च्छन होता है वह औदारिक ही है । अन्य शरीर गर्भ सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न नहीं होते ।

अर्थ—वैक्रियशरीर उपपातजन्ममें हुआ करता है । अतएव वह देव और नारकियोंके ही हुआ करता है । न कि अन्य जीवोंके ।

भावार्थः—उपपातजन्मके द्वारा प्राप्त होनेवाला वैक्रियशरीर दो प्रकारका हुआ करता है—एक भवधारक दूसरा उत्तरवैक्रिय । दोनों शरीरोंका जवन्य प्रमाण अङ्गुलके असंख्यातवे भागमात्र है, परन्तु उत्कृष्ट प्रमाण भवधारकका पाँचसौ धनुष और उत्तरवैक्रियका एक लक्ष योजन प्रमाण है ।

वैक्रियशरीर औपपातिकके सिवाय अन्य प्रकारका भी हुआ करता है, इस विशेष बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—लब्धिप्रत्ययशरीरं च वैक्रियं भवति; तिर्यग्योनीनां मनुष्याणां चेति ।

अर्थ—वैक्रियशरीर लब्धिप्रत्यय भी हुआ करता है, और इस प्रकारका शरीर तिर्यचोंके अथवा मनुष्योंके हुआ करता है ।

भावार्थ—यहाँपर च शब्दसे भाष्यकारने उत्कृष्ट वैक्रियका अभिप्राय दिखाया है । प्रत्यय शब्दका अर्थ कारण है । अतएव इसको लब्धिकारणक कहनेका अभिप्राय यह है, कि औदारिकशरीरवालोंके जो वैक्रियशरीर पाया जाता है, वह जन्मजन्य नहीं होता लब्धिकारणक होता है । इसीलिये उसके विशिष्ट स्वामियोंका उद्देश किया है कि, वह तिर्यच और मनुष्योंके हुआ करता है ।

क्रमानुसार आहारकशरीरका लक्षण और उसके स्वामीको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शुभं विशुद्धमव्याधाति वाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—शुभमिति शुभद्रव्योपचित शुभपरिणामं चेत्यर्थः । विशुद्धमिति विशुद्धद्रव्योपचितमसावद्यं चेत्यर्थः । अव्याधातीति आहारकं शरीरं न व्याहन्ति न व्याहन्यते चेत्यर्थः । तच्चतुर्दशपूर्वधर एव कस्मिंश्चिदर्थे कृच्छ्रेऽत्यन्तसूक्ष्मे सन्देहमापन्नो निश्चयाधिग-

१—मनुष्य और तिर्यचोंके भी वैक्रियशरीर होता है, परन्तु वह लब्धि प्रत्यय होता है, औदारिकशरीरमें ही तप आदिके निमित्तसे शक्ति विशेष उत्पन्न हो जाती है । औपपातिक वैक्रिय वक्रिय वर्णणाओसे बनता है । वह देव नारकोंके ही होता है । २—“ वायोश्च वैक्रिय लब्धिप्रत्ययमेव, शेषतिर्यग्योनिजानामध्ये, नान्यस्येति ” । टीकाकारके इन वाक्योंसे मालूम होता है, कि तिर्यचोंमें केवल वायुकायके ही वैक्रियशरीर होता है । किंतु दिगम्बर सिद्धान्तमें तैजस काय आदिके भी माता है । (देखो गोममटसार जीवकाण्ड, गाथा २३२) ३—भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवालोंके भी विक्रिया होती है, और कर्मभूमिमें चक्रवर्ती आदि गृहस्थोंके भी होती है, जिससे कि एक कम ९६ हजार पुतले निकला करते हैं । क्वचित् विष्णुकुमार सरीखे मुनियोंके भी हुआ करती है । ४—चतुर्दशपूर्वधर एवेति क्वचित्पाठः । केचित्तु “ अकृत्स्नश्रुतस्यर्द्धिमत इति अविकं पठन्ति तत्तु न टीकाकाराभिमतम् । दिगम्बरमते तु प्रमत्तसंयतस्यैवेति पाठः ।

माथ क्षेत्रान्तरितस्य भगवतोऽह्यत पादमूलमौदारिकेण शरीरेणाश्वयगमन मत्वा लङ्घिप्रत्यय मेतोपादयति द्वर्षा भगवन्त छिन्नसशय पुनरागत्य व्युत्सृज्यन्तर्मुहूर्तस्य ।

तेजसमपि शरीर लङ्घिप्रत्यय भवति ।

कार्मणमेपा निरन्धनमाश्रयो भवति । तत्कर्मत एव भवतीति बन्धे पुरस्तात् वक्ष्यति । कम हि कार्मणस्य कारणमन्येपा च शरीराणामादित्यप्रकाशवत् । यथादित्य स्वमात्मान प्रकाशयति अन्यानि च शरीराणि न चास्यान्य प्रकाशक । एव कार्मणमात्मनश्च कारणमन्येपा च शरीराणामिति ।

अत्राह—औदारिकमित्येतवादीना शरीरसङ्गाना क पदार्थः । इति । अत्रोच्यते—उद्गता रमुदारम्, उत्कटारमुदारम्, उद्गम एव वोदारम्, उपादानात् प्रभृति अनुसमयमुद्गच्छति धधते जीर्यते शीयते परिणमतीत्युदारम्, उदारमेवौदारिकम् । नैवमन्यानि । उदारमिति स्थूलनाम । स्थूलमुद्गत पुष्ट बृहन्महदिति, उदारमेवौदारिकम् । नैव शेषाणि तेषा हि पर पर सूक्ष्ममित्युक्तम् ॥

वैक्रियमिति—विक्रिया विकारो विकृतिर्विकरणमित्यनर्थान्तरम् । विविध क्रियते ।—एक भूत्वानेक भवति, अनेक भूत्वा एक भवति, अणुभूत्वा महद्भवति महद्य भूत्वाणु भवति एकाकृति भूत्वानेकाकृति भवति, अनेकाकृति भूत्वा एकाकृति भवति, दृश्य भूत्वादृश्य भवति, अदृश्य भूत्वा दृश्य भवति, भूमिचर भूत्वा रेचर भवति खेचर भूत्वा भूमिचर भवति, प्रतिघाति भूत्वाऽप्रतिघाति भवति, अप्रतिघाति भूत्वा प्रतिघाति भवति । युगपद्येताम् भावाननुभवति । तेष शेषाणीति । विक्रियाया भवति विक्रियाया जायते विक्रियाया निर्वर्त्यते विक्रियेव वा वैक्रियम् ॥

आहारकम्—आह्रियते इति आहारम् । आहारकमन्तर्मुहूर्तस्थिति । नव शेषाणि ।

तेजसो विकारस्तेजसम् तेजोमय तेज स्वतत्त्व शापानुग्रहप्रयोजनम् । नैव शेषाणि ।

कर्मणो विकार कर्मात्मक कर्मभयमिति कार्मणम् । नैव शेषाणि ।

एष्य एष्यार्थविशेषस्य शरीराणा नानात्व सिद्धम् । किंचान्यत् ।—कारणतो विषयत स्वामित प्रयोजनत प्रमाणत प्रवेशसरयातोऽवगाहनत स्थितितोऽप्यवहुत्वत इत्येतेभ्यश्च त्रयस्य विशेषेभ्य शरीराणा नानात्व सिद्धमिति ।

अर्थ—आहारकशरीर शुभ है, क्योंकि उसकी रचना जिसके वर्ण गन्ध रस स्पर्श इत्येक हैं, ऐसे द्रव्योंसे हुआ करती है । तथा उसका परिणाम—आकृति—संस्थान भी शुभ—चतुरस्र हुआ करता है, और वह विशुद्ध भी होता है, क्योंकि उसकी रचना विशुद्ध द्रव्यके द्वारा हुआ करती है । जिन पुद्गलवर्णाओंके द्वारा वह बनता है, वे स्फटिक खण्डके समान स्वच्छ होती हैं, उसमें हरएक वस्तुका प्रतिबिम्ब पड सकती है । तथा इस शरीरके द्वारा हिंसा आदिक कोई भी पापरूप प्रवृत्ति नहा हो सकती और न वह इस तरहकी किसी भी पापमय प्रवृत्तिके द्वारा उत्पन्न ही होता है, अतएव इस

१—‘शृणुय’ इति कटित्पाठ । २—अथवाऽप्याये वधाविकार । परस्तात् इति वा पाठ ।

३—शेः कोः विभुद शब्दका अर्थ पुद्गलवर्णका एका करते हैं ।

शरीरको अंसावद्य कहते हैं। इसके सिवाय यह शरीर अव्याघाती होता है। इससे किसी भी पदार्थका व्याघात—विनाश नहीं होता, और न किसी अन्य पदार्थके द्वारा इसका ही व्याघात हो सकता है।

यह शरीर चौदह पूर्वके धारण करनेवाले मुनियोंके ही हुआ करता है। जिनकी पहले रचना हुई है, उनको पूर्व कहते हैं। उनके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। जो धारणा-ज्ञानके द्वारा इन चौदह पूर्वोंका आलम्बन लिया करते हैं, उनको चतुर्दश पूर्वधर कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक भिन्नाक्षर दूसरा अभिन्नाक्षर। भिन्नाक्षरको ही श्रुतकेवली कहते हैं।^१ इनके श्रुतज्ञानमें संशय नहीं हुआ करता, और इसी लिये इनको कोई प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होता, तथा इसी लिये—आलम्बनके न रहनेसे इनके आहारकशरीरका निर्वर्तन भी नहीं होता। जो अभिन्नाक्षर है, उन्हींके संशय और प्रश्नका आलम्बन पाकर आहारकशरीर निर्वृत्त हुआ करता है। क्योंकि उनका श्रुतज्ञान परिपूर्ण नहीं हुआ करता।

यह आहारकशरीर लब्धिप्रत्यय ही हुआ करता है। तपोविशेषता आदि पूर्वोक्त कारणोंसे ही उत्पन्न हुआ करता है। श्रुतज्ञानके किसी भी अत्यंत सूक्ष्म और अतिगहन विषयमें जब उस पूर्वधरको किसी भी प्रकारका संदेह होता है, तब उस विषयका निश्चय करनेके लिये वह भगवान् अरहंतदेवके पादमूलमें जाना चाहता है। किंतु उस समय वे भगवान् यदि उस क्षेत्रमें उपस्थित न हों, किसी ऐसे अन्य विदेहादिक क्षेत्रमें हों, कि जहाँपर वह पूर्वधर औदारिकशरीरके द्वारा पहुँच नहीं सकता, तो अपनी अशक्यताके कारण वह इस लब्धि-प्रत्ययशरीरको ही उज्जीवित किया करता है, और जिन्होंने लोक अलोकका प्रत्यक्ष अवलोकन कर लिया है, ऐसे भगवान् अरहंतदेवके निकट उसी शरीरके द्वारा जाकर और उनका दर्शन अभिवादन करके प्रश्न करता है, तथा पूछकर संशयकी निवृत्ति हो जानेपर पापपंकका पराभव कर पुनः उसी स्थानपर लौटकर आ जाता है, जहाँसे कि उस शरीरको तयार करके निकला था। वापिस आकर औदारिकशरीरमें ही वह प्रविष्ट हो जाता है। निकलनेसे लेकर औदारिकशरीरमें प्रवेश करनेतक आहारकशरीरको अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल लगता है। इस शरीरकी जघन्य अवगाहना एक हाथसे कुछ कम और उत्कृष्ट अवगाहना पूर्ण एक हाथ प्रमाण हुआ करती है।

आहारकके अनंतर तैजसशरीरका पाठ है। यह भी लब्धिप्रत्यय हुआ करता है। इसका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है। जो तेजका विकार—अवस्था विशेषरूप है, उसको

१—व्याघातका अभिप्राय रोकना या रुकना है, आहारकशरीर सूक्ष्म होनेसे न किसीको रोकता न किसी से रुकता है। किंतु ठीकाकारने व्याघातका अर्थ विनाश ही किया है। २—“अतएव केचिदपरितुष्यन्तः सूत्रमाचार्यकृतन्यासादधिकमधीयते “अकृत्स्नश्रुतस्यर्द्धिमत्.” इति।”

तैजसशरीर कहते हैं । उपभुक्तआहारका पचन कराना और निग्रहानुग्रह करना इसका कार्य है ।

पाँचवाँ कर्मणशरीर है, जोकि कर्मोंके विचार अथवा समूहरूप है । यह उपर्युक्त सभी शरीरोंका बीज और आधार है । क्योंकि यह सम्पूर्ण शक्तियोंको धारण करनेवाला है । समस्त सत्तारके प्रपञ्चको यदि अकुरके समान समझा जाय, तो इस शरीरको उसका मूल बीजरूप समझना चाहिये, क्योंकि इसके आमूल नष्ट हो जानेपर जिनको मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है, उनके पुन सत्तारका अकुर उत्पन्न नहीं होता । यह शरीर सभी जीवोंके रहा करता है, यह बात पहले बता चुके हैं । इसकी उत्पत्ति कर्मसे ही हुआ करती है, जिस प्रकार बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है, परन्तु उस बीजकी उत्पत्ति भी पूर्व वृक्षसे ही हुआ करती है । उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । फिर भी यह सत्तानपरम्परा अनन्त ही न समझनी चाहिये, किसी किसीके निमित्त पाकर इसका अन्त भी हो सकता है । जैसे कि उस बीजके अग्निमें भुन जानेपर उसकी परम्परा भाविष्यके लिये नष्ट हो जाती है । ज्ञानावरणादिक कम जो इसके बचने कारण हैं, उनके मूल और उत्तर भेदोंका वर्णन आगे चलकर आठवें अध्यायमें किया जायगा । जिस प्रकार सूर्य स्वपरप्रकाशी है—वह अपने स्वरूपको और उसके सिवाय अन्य द्रव्योंको भी प्रकाशित किया करता है, उसी प्रकार कर्म भी कर्मणशरीरके उत्पन्न होनेमें कारण हैं, तथा उसके सिवाय अन्य औत्तारिक आदि शरीरोंके भी उत्पन्न होनेमें कारण हैं । जिस प्रकार सूर्यको प्रकाशित करनेवाला कोई अन्य पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार कर्मणशरीरके उत्पन्न होनेमें भी कर्मके सिवाय और कोई कारण नहीं है ।

उपर्युक्त तैजसशरीर और इस कर्मणशरीरका साधारणतया जघन्य प्रमाण अगुलके असत्प्रायतमें भाग मात्र और उत्कृष्ट प्रमाण औत्तारिकशरीरकी बराबर ही समझना चाहिये । परन्तु विशेष अवस्थामें—समुद्रातके समय इनका प्रमाण अधिक हो जाया करता है । देखी भगवान्‌के समुद्रातके समय छोटी बराबर इनका प्रमाण हो जाता है, और मारणान्तिज

१ दिगंबर सिद्धान्तके अनुसार तैजसशरीर दो प्रकारका होता है एक साधारण दूसरा लघिप्रयय । साधारण तैजस सभी समान जीवोंके रहा करता है, किन्तु लघिप्रयय किसी किसीके ही होता है । अनिगमित तपसे द्वारा जो ऋद्धि विशेष प्राप्त होती है उसको लघि कहते हैं । लघिप्रयय तेजस भी दो प्रकारका है—एक निगण रूप, दूसरा अनि सरणरूप । नि सरणरूप तैजस दो प्रकारका होता है, एक प्रगस्त दूसरा अप्रगस्त । प्रगस्त तेजस शरीरके दक्षिण भुजाके भागसे और अप्रगस्त वाम भुजाके भागसे निरगता है । जैसे कि आहाररूपका उत्तमाह्न—दक्षिण निरगता है, अप्रगस्त तैजस अगुम कर्माग्रे प्रेरित होनेपर और प्रगस्त तैजस पुन कर्माग्रे प्रेरित होनेपर निरगता है । परन्तु निग प्रगस्त अप्रगस्त तेजस अपत्र काय करके सौन्दर्य योगको भग्न कर देता है जैसे कि द्वीपायनमुनिको (इनकी कथा हरिचरित्प्रमाणमें है) किया था उस प्रकार पुन तेजस नहीं करता । यह वापिस आकर शरीरमें प्रवेश कर जाता है । किन्तु वह भी धूमरपायसे ही होता है । अनपय धीमायपाय मलावीर भगवान्‌ और मोक्षालकके सम्बन्धी इस विषयकी कथा भी यही मानी है ।

समुद्घातके समय इनकी लम्बाई लोकके अन्ततक की हो सकती है। अन्य समुद्घातोंके समयका प्रमाण जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाणके मध्यका समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—उपर्युक्त शरीरोंके वाचक औदारिक वैक्रिय आदि पदोंको कैसा समझना चाहिये ? अर्थात् ये पद अन्वर्थ है—अर्थके अनुसार प्रयुक्त हैं, अथवा यादृच्छिक हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य—भाष्यकार ये शब्द यादृच्छिक नहीं हैं, किंतु अन्वर्थ हैं, इस आशयको प्रकट करनेके लिये क्रमसे उनकी अर्थवत्ताको दिखाते हैं।

औदारिक शब्दके अनेक अर्थ हैं। उदार शब्दसे औदारिक बनता है, उद्गत—उत्कृष्ट है, आरा—छाया जिसकी और जो शरीरोंमें उदार—प्रधान है, उसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि तीर्थंकर और गणधरादि महान् आत्माओंने इसीको धारण किया है, और इसीके द्वारा जगत्का उद्धार किया है। तीन लोकमें तीर्थंकरोंके शरीरसे अधिक उत्कृष्ट शरीर और किसीका भी नहीं होता। अथवा उत्कट—उत्कृष्ट है, आरा—मर्यादा—प्रमाण जिसका उसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि औदारिकशरीरका अवस्थित प्रमाण एक हजार योजनसे भी कुछ अधिक माना गया है। इससे अधिक अवस्थित प्रमाण और किसी भी शरीरका नहीं होता। वैक्रियशरीरका उत्कृष्ट अवस्थित प्रमाण पाँचसौ धनुषका ही है। यद्वा उदार शब्दका अर्थ उद्गम—प्रादुर्भाव—उत्पत्ति भी होता है। जिस समय जीव अपने इस औदारिकशरीरके उपादान कारणरूप शुक्र शोणितका ग्रहण करता है, उसी समयसे प्रतिक्षण वह अपने स्वरूपको न छोड़कर अपनी पर्याप्तिकी अपेक्षा रखनेवाली उत्तरोत्तर व्यवस्थाको प्राप्त हुआ करता है, ऐसा एक भी क्षण वह नहीं छोड़ता, जिसमें कि वह अवस्थान्तरको धारण न करता हो। वयः-परिणामके अनुसार उसकी मूर्ति प्रतिसमय बढ़ती हुई नजर आती है। इसमें जरा—वृद्धावस्था—वयोहानिकृत अवस्था विशेष और शीर्णता—सन्धि बन्धनादिकका शिथिल होना चर्ममें वलि—सरवटोंका पड़ जाना और शिथिल होकर लटकने लगना आदि अवस्था पाई जाती है, और यह शरीर ऐसे परिणामको भी प्राप्त हुआ करता है, जिसमें कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने अपने विषयको ग्रहण करनेकी शक्तिसे शून्य हो जाया करती हैं। इसी तरहके और भी अनेक परिणमन हुआ करते हैं। इस तरहसे इसमें बार बार और अनेक उदार—उद्गम पाये जाते हैं, अतएव इसको औदारिक कहते हैं, ये सब बातें अन्य किसी भी शरीरमें नहीं पाई जाती। अथवा उदार से जो हो उसको औदारिक कहते हैं।

१—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि—“ननु च शरीरप्रकरणप्रथमसूत्रे एतत् भाष्यं युक्तं स्यात्, इह तु प्रकरणान्ताभिधानेन किञ्चित् प्रयोजनं वैशेषिकमस्तीति।—उच्यते—तदेवमर्थं मन्यते, तदेवेदमादिसूत्रमाप्रकरणपरि-समाप्ते प्रपञ्च्यते। अथवा प्रकरणान्ताभिधाने सत्यमेव न किञ्चित् फलमस्त्यसूत्रार्थत्वात् अतः क्षम्यतामेकमाचार्यस्येति।

२—उदारमेव औदारिकम्, इस निश्चितिके अनुसार स्वार्थमें ठूल् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है।

निस प्रकार ग्राह्य आदि सम्पूर्ण धर्म औदारिकके भेदोंमें पाये जाते हैं, वैसी कोई भी विशेषता वैक्रियादि किसी भी अन्य शरीरमें नहीं पाई जाती। औदारिकशरीरमें मास अस्थि स्नायु आदि भी पाये जाते हैं, जोकि अन्यत्र कहीं भी नहीं रहते। औदारिकशरीर हाथोंसे पकड़कर स्थानान्तरको ले जाया जा सकता है, या अन्यत्र जानेसे वहीं रोक जा सकता है, इन्द्रियोंके द्वारा भी वह ग्रहण करनेमें आता है। फरशा आदिके द्वारा उसका छेदन और कर्षण आदिके द्वारा भेदन तथा अग्नि आदिके द्वारा दहन हो सकता है। इसी प्रकार वायु वेगका निमित्त पाकर वह उड़ सकता है। इत्यादि अनेक प्रकारके उदारण-विदारण अन्य शरीरोंमें नहीं पाये जाते, इसलिये भी इसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि वैक्रिय आदि शरीरोंमें मास अस्थि तथा ग्राह्य आदि विशेष नहीं पाये जाते। अर्थात् यह शरीर स्थूल होता है। क्योंकि उदार यह नाम स्थूलका भी है। स्थूल उद्भूत पुष्ट बृहत् और महत् ये शब्द उदारके ही पर्यायवाचक हैं। जो उदार है, उसीको औदारिक कहते हैं। फलन—इसमें प्रदेश अल्प होते हैं, इसका प्रमाण अधिक माना है, शुक शोणित आदि वस्तुओंके द्वारा इसकी रचना हुआ करती है, तथा इसमें प्रति क्षण वृद्धि होना पाया जाता है, और इसका उत्कृष्ट अवस्थित प्रमाण एक हजार योजनसे भी अधिक है, इत्यादि कारणोंसे ही इसको औदारिक कहते हैं। ये सब धर्म अन्य वैक्रिय आदि शरीरोंमें नहीं पाये जाते। क्योंकि औदारिकके अनन्तर वैक्रिय आदि सभी शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं यह बात पहले बताई जा चुकी है।

औदारिकके अनन्तर वैक्रियशरीरका स्वरूप बताते हैं।—वैक्रिया विचार विवृति और विहरण ये शब्द एक ही अर्थके बोधक-पर्यायवाचक हैं। विशिष्ट क्रियाओं वैक्रिया, प्रकृत स्वरूपसे अन्य स्वरूप होनेको विहरण, विचित्र कृतिको विवृति और विविध रूप अथवा चेष्टाओंके करनेको विहरण कहते हैं। इस प्रकार यद्यपि ये शब्द भिन्न भिन्न अर्थके बोधक हैं, फिर भी पर्यायवाचक इस लिये हैं, कि इन सभी शब्दोंका अर्थ वैक्रियशरीरमें घटित होता है। इसी बातसे सिद्धान्तके लिये भाष्यकार आगे स्फुट व्याख्या करते हैं।—यह शरीर इसलिये वैक्रिय है, कि इसमें विविध क्रियाएँ पाई जाती हैं, यह एक होकर अनेकरूप हो जाता है, और अनेक होकर पुन एकरूप हो जाता है, अणुरूप होकर महान् बन जाता है, और महान् बनकर पुन अणुरूप बन जाता है, एक आकृतिको धारण करके अनेक आकृतियोंको धारण करनेवाला बन जाता है, और अनेककृति बनकर एक आकृतिके धारण करने वाला भी बन जाता है, इसी प्रकार दृश्यसे अदृश्य बन जाता है, और अदृश्यसे दृश्य बन जाता है, भूमि रीसे गेहर बन जाता है, और गेहरसे भूमि बन जाता है, प्रणिपतिसे

१—य शब्द अथवा अर्थमें आया है। २—आप्यतत्त्वार्थविगमसूत्रम् ॥

३—भूमि रीसे गेहर बन जाता है। ४—आकृतिके धारण करने के लिये आदि।

अप्रतिघाति हो जाता है और अप्रतिघातिसे प्रतिघाति हो जाता है। ये सभी भाव वैक्रियशरीरमें युगपत् पाये जा सकते हैं, यह उसकी विशेषता है। यह बात अन्य शरीरोंमें नहीं पाई जा सकती। जो विक्रियामें रहे अथवा विक्रियामें उत्पन्न हो, यद्वा विक्रियामें सिद्ध किया जाय, उसको वैक्रिय कहते हैं। अथवा विक्रियाको ही वैक्रिय कहते हैं। ये सब वैक्रिय शब्दके निरुक्ति सिद्ध अर्थ हैं। फिर भी ये औदारिक आदिसे विशिष्टता दिखानेवाले लक्षणरूप अर्थ समझने चाहिये। क्योंकि शास्त्रोंमें वैक्रियशरीरका विशेष स्वरूप दिखानेके लिये इन्हीं भावोंका अधिक खुलासा करके बताया गया है।

आहारक—संशयका दूर करना या अर्थविशेषका ग्रहण करना, अथवा ऋद्धिका देखना इत्यादि विशिष्ट प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये जिसका ग्रहण किया जाय, और कार्यके परा हो जानेपर जो छूट जाय, उस शरीर विशेषको आहारक कहते हैं। आहारकको ही आहार्य भी कहते हैं^१। इस शरीरकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी ही है। जिस प्रकार कोई मनुष्य किसीके यहाँसे कोई चीज माँगकर लावे, तो वह चीज काम निकलते ही वापिस कर दी जाती है। उसी प्रकार इस शरीरके विषयमें भी समझना चाहिये। आहारकशरीरके प्रकट होनेके समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही कार्य समाप्त हो जाता है, और उसके पूर्ण होते ही वह शरीर वापिस आकर औदारिकशरीरमें प्रवेश कर विघटित हो जाता है। जो कार्य इस शरीरका है, वह अन्य किसी भी शरीरके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव यह कार्यविशेषता ही उसका लक्षण समझना चाहिये।

तैजस—इसके विषयमें पहले भी कहा जा चुका है। उष्णता है लक्षण जिसका, और जो उपभुक्त आहारको पकानेवाला है, वह प्राणिमात्रमें रहनेवाला तेज प्रसिद्ध है। इस तेजके विकार—अवस्था विशेषको ही तैजस कहते हैं। अथवा वह तेजोमय है। उस तेजका स्वभाव अथवा स्वरूप यही है, कि उससे शापानुग्रहरूप प्रयोजनकी सिद्धि हुआ करती है। इसके कार्यको भी अन्य शरीर नहीं कर सकते। अतएव यह सबसे विलक्षण है।

कार्मण—ज्ञानावरणादिक अष्टविध कर्मके विकार—अवस्था विशेष—एकलौली भावके होनेको कार्मणशरीर कहते हैं। वह कर्म स्वरूप अथवा कर्ममय ही है। इसके कार्य आदिका भी पहले उल्लेख किया जा चुका है। वह कार्य भी अन्य शरीरके द्वारा नहीं हो सकता। इसलिये इसको भी सबसे विशिष्ट समझना चाहिये।

उपर औदारिक आदि शब्दोंको अन्वर्थ बताकर उनका भिन्न भिन्न अर्थ दिखाया, जिससे

१—विक्रिया एव वैक्रियम्, अथवा विक्रियाया भवम् वैक्रियम्। २—देवो भगवतीसूत्र, तृतीय शतक, ५ उद्देश, सूत्र १६१, अथवा १४ शतक, ८ वाँ उद्देश, सूत्र ५३१, तथा १८ शतक, ७ वाँ उद्देश, सूत्र ६३५। ३—कृत्यल्लयुद्योबहुल्यवचनात्।

कि पाँचो ही शरीरोंकी विशेषताका बोध होता है। इन उदार विकरण आहरण आदि विशिष्ट अर्थोंके होनेसे ही उक्त शरीरोंका नानात्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि घट पटादिकके समान सभी पदार्थोंके स्वरूपोंमें भिन्नताका रहना ही तो नानात्वका कारण हुआ करता है। स्वरूप भेदको ही लक्षणभेद भी कह सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि लक्षणभेदके द्वारा शरीरोंका नानात्व सिद्ध हो चुका है, फिर भी शिष्यको विशिष्टरूपसे ज्ञान करनेके लिये भाष्यकार नौ प्रकारसे उन शरीरोंका नानात्व और भी सिद्ध करके बताते हैं। वे नौ प्रकार ये हैं—कारण विषय स्वामी प्रयोजन प्रमाण प्रदेशसंख्या अग्राहण स्थिति और अल्पबहुत्व। क्रमसे इन्हीं विशेषोंके द्वारा शरीरोंके नानात्वको सिद्ध करते हैं।

कारण—जिन उपादान कारणरूप पुद्गल्यर्गणाओंके द्वारा इन शरीरोंकी रचना हुआ करती है, वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं। औदारिकशरीरके कारणरूप पुद्गल सबसे अधिक स्थूल हैं। वैक्रियशरीरके उससे सूक्ष्म है और उनमें विविधकरणशक्ति भी पाई जाती है। इसी प्रकार आहारक आदिके विषयमें भी समग्रता चाहिये। यही कारणद्वय विशेषता है।

विषय—विषयनाम क्षेत्रका है। अतएव कौनसा शरीर जितने क्षेत्रतक गमन कर सकता है, इस प्रकारकी विभिन्न शक्तिके प्रतिपादनको ही विषयभेद कहते हैं। यथा—औदारिकशरीरके धारण करनेवालोंमें जो विद्याधर हैं, वे अपने औदारिकशरीरके द्वारा नन्दीश्वर द्वीप पर्यन्त जा सकते हैं। परन्तु जो जङ्घाचारण शब्दिके धारण करनेवाले हैं, वे रुचक पर्वत पर्यन्त गमन कर सकते हैं। यह तिर्यक् क्षेत्रकी अपेक्षा विषय भेद है। ऊर्ध्व दिशामें आदारिकशरीरके द्वारा पाण्डुकवन-पर्यन्त गमन हो सकता है। वैक्रियशरीर असंख्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त जा सकता है, आर आहारकशरीर केवल महाविदेहक्षेत्र तक ही गमन किया करता है। तैजस कर्मणशरीरका क्षेत्र सम्पूर्ण लोकमान है। ये दोनों लोकके भीतर चाहे जहाँ गमन कर सकते हैं।

स्वामी—ये शरीर किसके हुआ करते हैं, इसके निरूपणको ही स्वामिभेद कहते हैं। यथा—औदारिकशरीर सप्तरी प्राणियोंमेंसे मनुष्य और तिर्यचोंके ही हुआ करता है। वैक्रिय शरीर टेव ओर नारकोंके ही होता है, परन्तु किसी किसी मनुष्य और तिर्यचके भी हो सकता है, जिसको कि वैक्रियान्धवि प्राप्त हो जाया करती है। आहारकशरीर चतुर्दशपूर्वके धारण करने वाले सयमी मनुष्यके ही हुआ करता है। तैजस और कर्मण सप्तरी जीवमानके हुआ करते हैं।

प्रयोजन—जिसका जो असाधारण कार्य है, वही उसका प्रयोजन कहा जाता है। जैसे कि औदारिकशरीरका प्रयोजन धर्माधर्मका साधन अथवा केवलज्ञानादिकी प्राप्ति होना है।

१—जम्बूद्वीपमें लेकर स्वयम्भूमगनक अग्राह्यत द्वीप समुद्र है। उनमें आठों द्वीपों नाम नन्दीश्वर द्वीप, रुचक पर्वत और निम्नतर राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें दखनी चाहिये।

यह कार्य अन्य शरीरों के द्वारा नहीं हो सकता । इसी प्रकार वैक्यशरीरका प्रयोजन सूक्ष्म अथवा एक अनेक आदि तब धारण करना कठिन और आकाशमें गमन करना तथा अणिमा महिमा आदि कद्रियोंकी प्राप्ति होना इत्यादि विभूति-प्राप्त्यर्थ काम होना ही वैक्यशरीरका असाधारण कार्य—प्रयोजन है । इसी प्रकार आहारकशरीरका प्रयोजन है, कि सूक्ष्म व्यवहिन और दुर्बलाह पशुओंके विषयमें उत्पन्न हुई शक्ति शक्ति दूर होना । अथवा अमंथकता परिहाण होना आदि । आहारका पाक होना तथा शरीर देने और अनुहार करनेकी शक्तिका प्रकट होना, तैजसशरीरका प्रयोजन है । कर्मणका प्रयोजन मरुत्तर को जल आदि है ।

प्रमाण—आहारिकशरीरका प्रमाण एक हजार योजनमें कुछ अधिक है । वैक्यशरीरका प्रमाण एक योजन योजन है । आहारकशरीरका प्रमाण तैजस-नक्षत्रप्रमाण है । तैजस और कर्मणशरीरका प्रमाण क्षेत्रमात्र है ।

प्रदेशमंग्या—इसके विषयमें पहले कहा जा चुका है, कि तैजसशरीरके पहलेके शरीरोंके प्रदेश असंख्यागुणों हैं, और अन्तिम दो शरीरोंके प्रदेश अनन्तगुणों । अर्थात् वैक्यशरीरके वैक्यिके और वैक्यिके आहारके प्रदेश तो असंख्यागुणों हैं, परन्तु आहारकमें तैजसके और तैजससे कर्मणके प्रदेश अनन्तगुणों हैं ।

अवगाहना—इस अपेक्षामें पाँचों शरीरोंमें जो विशेषता है, वह पूर्वोक्त प्रमाणमें ही समझ लेनी चाहिये । जैसे कि आहारिककी अवगाहना एक हजार योजनमें कुछ अधिक, इत्यादि ।

स्थिति-समय प्रमाणको ही स्थिति कहते हैं । आहारिककी जगन्म स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्यकी है । वैक्यशरीरकी जगन्म स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तैतीस सागर प्रमाण है । आहारकशरीरकी जगन्म और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकारकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है । तैजस कर्मणकी स्थिति अभयोंकी अपेक्षा अनाद्यनन्त और भव्योंकी अपेक्षा अनादिमान्त है ।

अल्प बहुत्व—हीनाधिकताको अल्प बहुत्व कहते हैं । पाँच शरीरोंमेंसे किम् शरीरके धारण करनेवाले कम हैं, और किस शरीरके धारण करनेवाले अधिक हैं, इसके जाननेको ही अल्प बहुत्व कहते हैं । सबसे कम संख्या आहारकशरीरवालोंकी है । यह शरीर कभी होता है, कभी नहीं भी होता । क्योंकि इसका एक समयसे लेकर छह महीना तकका अन्तरकाल माना गया है । आहारकसे वैक्यशरीरवालोंका प्रमाण असंख्यागुणों

१—यह प्रमाण विज्ञियाकी अपेक्षामें है, मूल शरीरकी अपेक्षासे नहीं । २—एक हाथमें कुछ कम, इसकी भरति भी कहते हैं । ३—अध्याय २ सूत्र ३९-४० । ४—यहाँपर भी आयुकी अपेक्षा न लेकर विज्ञियाकी अपेक्षा समझना चाहिये । ५—यह गतानक्रमके अनुगमने और भव्यताकी अपेक्षासे है । अन्यथा अनन्त भव्य भी ऐसे हैं, जो कि अनन्तकालमें भी मुक्त न होंगे ।

है । वैक्रियसे औदारिकवालोंका प्रमाण असरयातगुणा है । औदारिकसे तैजस कर्मणका प्रमाण अनतगुणा है ।

भाष्यम्—अत्राह—आसु चतसृषु ससारगतिषु को लिङ्गनियम इति । अत्रोच्यते—जीव स्यौदयिकेषु भावेषु द्वाययायमानेषूक्तम्, त्रिविधमेव लिङ्गं स्त्रीलिङ्ग पुलिङ्गं नपुसकलिङ्गमिति । तथा चारित्रमोहं नोकपायवेदनीये त्रिविधं एव वेदो वक्ष्यते, स्त्रीवेद पुष्वेद नपुसकवेद इति । तस्मात्त्रिविधमेव लिङ्गमिति । तत्र—

अर्थ—प्रश्न—ससारी जीवोंके शरीरोंका लक्षण और नानात्व बताया, परन्तु ससारमें चार प्रकार जो गति बताई है—नारक तिर्यक् मानुष और देव, उनमें लिङ्गका नियम कैसा है, सो अभीतक मालूम नहीं हुआ, कि किस किस गतिमें कौन कौनसा लिंग पाया जाता है । अतएव अब इसी विषयको कहिये, कि इन गतियोंमें लिंगका नियम किस प्रकारका है । उत्तर—जीवोंके औदारिकभावोंका व्याख्यान करते हुए यह बात पहले ही कही जा चुकी है, कि लिङ्ग तीन ही प्रकारका है—स्त्रीलिङ्ग पुलिङ्ग नपुसकलिङ्ग । इसी प्रकार चारित्रमोहनीयके भेद नोकपायवेदनीयके उदयसे तीन ही प्रकारका वेद हुआ करता है, स्त्रीवेद पुष्वेद नपुसकवेद ऐसा भी आगे चलकर कहेंगे । अतएव यह सिद्ध है, कि लिंग तीन ही प्रकारके है ।

भावार्थ—पहले भी लिङ्गके तीन भेद बता चुके हैं, और आगे भी बतावगे, कि मोह नीयके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह । चारित्रमोहके दो भेद हैं—कपायवेदनीय और नोकपायवेदनीय । नोकपायवेदनीय हास्यादिकके भेदसे नौ प्रकारका है । इन्हीं नौ भेदोंमें तीन वेदोंका वर्णन भी किया जायगा । जिसके उदयसे पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसके स्त्रीवेद कहते हैं । जिसके उदयसे स्त्रीके साथ सभोग करनेकी अभिलाषा हो, उसको पुरुषवेद कहते हैं । जिसके उदयसे दोनों ही प्रकारकी अभिलाषाएँ हों, उसको नपुसकवेद कहते हैं । इस प्रकार तीन वेदोंका स्वरूप प्रसिद्ध है । अनएव गतिभेदके अनुसार इन लिंगोंकी इयत्ता निर्णय बताना आवश्यक है । इसीलिये प्रश्नकर्त्ताने भी यह न पूछ करके कि लिंग त्रिमको कहते हैं, यही पूछा है, कि किस किस गतिमें कौन कानमा लिङ्ग पाया जाता है । तदनुसार ही उत्तर देनेके लिये आचार्य भी सूत्र करते हैं, और बताते हैं कि इन तीन प्रकारके लिङ्गोंमेंसे—

सूत्र—नारकसम्मूर्छिनो नपुसकानि ॥ ५० ॥

भाष्यम्—नारकाश्च सर्वे सम्मूर्छिनश्च नपुसकान्येव भवन्ति—न स्त्रियो न पुमांस । तेषां हि चारित्रमोहं नोकपायवेदनीयाश्रयेषु त्रिषु वेदेषु नपुसकवेदनीयमेवैकमनुभगतिनामापेक्ष पूर्ववद्भक्तिकाचितमुदयप्राप्त भवति, नेतरे इति ।

अर्थ—नारकगतिवाले सम्पूर्ण जीव और सभी सम्मूर्छित जन्म—शरण करनेवाले नपुसक ही हुआ करते हैं । ये न तो स्त्री ही होते हैं, और न पुंग्व ही होते हैं । उनसे

चारित्र्यमोहनीयके भेद नोक्तपायवेदनीय सम्बन्धी तीन वेदोंमेंसे एक नपुंसकवेदनीयकर्मका ही उदय हुआ करता है, जो कि अपने उदयमें अशुभ गति नाम अशुभ गोत्र अशुभ आयुके उदयकी भी अपेक्षा रखता है, और जिसका कि पूर्वजन्ममें ही निकाचितबन्ध हो जाता है ।

भावार्थ—जो ग्रहण करते ही आत्माके साथ इस तरह मिल जाता है, जैसे कि दूध पानी आपसमें एक होजाते हैं, ऐसे अध्यवसाय विशेषके द्वारा अविभागिरूपसे आत्मप्रदेशोंके साथ सम्बद्ध कर्मविशेषको ही निकाचितबन्ध कहते हैं । नरकगति और सम्मूर्छन-जन्म धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वजन्ममें ही नपुंसकवेदका निकाचितबन्ध होजाता है । इसका उदय अशुभ गति आदि कर्मोंके उदयके विना नहीं हुआ करता । नरक और सम्मूर्छित जीवोंके यह निमित्त भी है, अतएव उनके नपुंसकवेदका ही उदय हुआ करता है ।

जिन जीवोंमें नपुंसकलिङ्गका सर्वथा अभाव पाया जाता है, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न देवाः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया अपि नपुंसकानि न भवन्ति । स्त्रियः पुमांसश्च भवन्ति । तेषां हि शुभगतिनामापेक्षे स्त्रीपुवेदनीये पूर्ववद्धनिकाचिते उदयप्राप्ते द्वे एव भवतः नेतरत् । पारिशेष्याच्च गम्यते जरायुवण्डपोतजास्त्रिविधा भवन्ति-स्त्रियः पुमांसो नपुंसकानीति ।

अर्थ—चारों ही निकायके देव नपुंसक नहीं हुआ करते । वे स्त्रीवेदी या पुरुषवेदी ही हुआ करते हैं, क्योंकि उनके शुभ गति नामकर्म शुभ गोत्र शुभ आयु और शुभ वेदनीय-कर्मके उदयकी अपेक्षासे स्त्रीवेद और पुवेदका ही उदय हुआ करता है, जिसका कि पूर्वजन्ममें ही निकाचितबन्ध होजाता है । देवगतिमें नपुंसकवेदका उदय नहीं होता । क्योंकि उसका पूर्वजन्ममें बन्ध नहीं हुआ है, और वहाँ उसके उदयके योग्य सहकारी कारण जो अपेक्षित है, वे भी नहीं है । इस प्रकार जब नरकगति और सम्मूर्छनजन्मवाले तथा देवगतिवाले जीवोंके लिङ्गका नियम बता दिया गया, तब इनसे जो शेष बचे उन जीवोंके कौन कौनसा लिङ्ग होता है, यह बात अर्थादापन्न हो जाती है । अर्थात् जरायुज अंडज और पोतज इन शेष जीवोंके स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग ये तीनों ही प्रकारके वेद पाये जाते हैं, यह पारिशेष्यसे ही समझमें आ जाता है । अतएव इनके लिङ्गका नियम बतानेके लिये सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

भाष्यम्—अत्राह—चतुर्गतावपि संसारे किं व्यवस्थिता स्थितिरायुषः उताकालमृत्यु-रप्यस्तीति । अत्रोच्यते—द्विविधान्यायूषि अपवर्तनीयानि अनपवर्तनीयानि च । अनपवर्तनी-यानि पुनर्द्विविधानि सोपक्रमाणि निरुपक्रमाणि च । अपवर्तनीयानि तु नियतं सोप-क्रमाणीति । तत्र—

१—जिसका फल अवश्य भोगना पड़े, उसको निकाचित कहते हैं । अथवा जिसकी उदीरणा संक्रमण उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थाएं नहो सकें, उसको निकाचितबन्ध कहते हैं । देखो गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४४० ।

अर्थ—प्रश्न—चतुर्गतिरूप सप्तरमें आयुके विषयमें क्या नियम है ? चारों ही गतिमें उसकी स्थिति व्यवस्थित है, अथवा अक्लमृत्यु भी हुआ करती है ? अर्थात् पूर्वजन्ममें आयु कर्मकी जितनी स्थिति बाँधी थी, उसका उदयमाल आनेपर उस स्थितिका पूर्णरूपमें उदय हो जानेपर ही जीवका मरण होता है, अथवा उस स्थितिके पूर्ण न होनेपर भी होता है ? उत्तर—आयुर्म्म दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक अपवर्तनीय दूसरे अनपवर्तनीय । अनपवर्तनीयके भी दो भेद हैं—एक सोपक्रम दूसरा निरूपक्रम । अपवर्तनीय आयुर्म्म नियमसे सोपक्रम ही हुआ करते हैं ।

भावार्थ—इस प्रश्नके करनेका कारण यह है, कि इस विषयमें लोकमें दोनों ही प्रकारके प्रवाद सुननेमें आते हैं, कोई कहता है, कि आयुर्म्मकी जितनी स्थिति पूर्वजन्ममें बाँधी है, उतनी पूर्ण भोग चुकनेपर ही मरण हुआ करता है, और कोई कहता है, कि अल्प शत्रुके घात आदिके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पहले भी मरण हो जाता है । अतएव सशयमें पडकर शिष्यने यह प्रश्न किया है, कि इस विषयमें कैसा नियम समझना चाहिये ? इसके उत्तरमें अक्लमृत्युका होना भी सम्व है, यह बनानेके लिये भाष्यकार कहते हैं, कि चतुर्गतिरूप सप्तरमें आयुर्म्म दोनों ही प्रकारके पाये जाते हैं—एक अपवर्तनीय दूसरे अनपवर्तनीय । जिसकी स्थिति पूर्ण होनेके पहले ही समाप्ति हो जाती है, उसको अपवर्तनीय कहते हैं, और जिसकी स्थिति पूर्ण होनेपर ही समाप्ति हो, उसको अनपवर्तनीय कहते हैं । अपवर्तनीय आयुका उदय होनेपर अक्लमरण भी हो सकता है ।

जिन अध्ययसानादिक कारण निशेषोंके द्वारा आयुर्म्मकी अतिदीर्घ कालकी भी स्थिति घटकर अल्पकालकी हो सकती है, उन कारणरूपोपेको ही उपक्रम कहते हैं । ऐसे कारण कलाप जिस आयुके साथ लगे हुए हों, उसको सोपक्रम और जिसके साथ वे न पाये जाँय उसको निरूपक्रम कहते हैं । यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि अनपवर्तनीय और सोपक्रम ये दोनों ही बातें परस्पर विरुद्ध हैं । क्योंकि जो आयु अनपवर्तनीय है, वही सोपक्रम कैसे हो सकती है ? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि उम आयुके साथ धीमे कारणरूप तो लगे रहते हैं, परन्तु फिर भी उसका अपवर्तन नहीं हुआ करता । क्योंकि चरम देह तथा उत्तम पुरुषोंकी आयुका बचन इतना गाढ़ हुआ करता है, कि वे कारण मिटकर भी उसको शिथिल नहीं बना सकते ।

यहाँपर किसीको यह भी शंका हो सकती है, कि जिस प्रकार कारणविशेषोंके द्वारा आयुकी दीर्घस्थिति अल्प बनाई जा सकती या हो सकती है, उसी प्रकार किसी कारणविशेषोंके द्वारा उमकी अल्प स्थिति दीर्घ भी की जा सकती है । परन्तु यह बात नहीं है । जिस प्रकार किसी पत्थरको घटी करके छोग बनाया जा सकता है, परन्तु उसके प्रमाणमें बड़ा किसी भी तरह

नहीं बनाया जा सकता; अथवा जिस प्रकार किसी आम्र आदिके पकनेकी स्थिति पाल आदिमें देनेसे घट सकती है, परन्तु उसकी नियत स्थिति किसी भी कारणसे बढ़ नहीं सकती । उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अतएव जो यह समझते हैं, कि योग आदिके निमित्तसे अथवा किसी रसायनके सेवन करनेसे आयु बढ़ भी जाती है, यह बात मिथ्या है । क्योंकि भुज्यमान आयुका बंध पूर्वजन्ममें ही होता है, उसी समय उसकी स्थितिका भी बंध हो जाता है । अतएव उदयकाल आनेपर उसमें वृद्धिकी संभावना कैसे हो सकती है; हाँ, यह हो सकता है, कि बंधे हुए कर्म निमित्त पाकर आत्मासे जल्दी सम्बन्ध छोड़ दें । इसलिये यह निश्चित है, कि चाहे अमृतका ही सेवन क्यों न किया जाय, परन्तु भुज्यमान आयुकी स्थिति बढ़ नहीं सकती । इसी लिये इस प्रकारके प्रवादोंको भी सर्वथा मिथ्या समझना चाहिये, कि अमुक व्यक्ति अनन्तकालके लिये सशरीर अमर हो गया है ।

इस प्रकार अनपवर्तनीय आयुके सोपक्रम और निरुपक्रम ये दो भेद समझने चाहिये । किंतु अपवर्तनीय आयु नियमसे सोपक्रम ही हुआ करती है । इस उपर्युक्त सम्पूर्ण कथनका सारांश केवल इतना कह देनेसे ही समझमें आसकता है, कि अमुक अमुक जीवोंकी आयु अनपवर्त्य हुआ करती है । क्योंकि शेष जीवोंके दूसरा भेद—अपवर्त्य पारिशेष्यसे ही समझमें आसकता है । अतएव आचार्य इसी बातको सूत्रद्वारा बताते हैं:—

सूत्र—औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ५२

भाष्यम्—औपपातिकाश्चरमदेहा उत्तमपुरुषाः असंख्येयवर्षायुष इत्येतेऽनपवर्त्यायुषो भवन्ति । तत्रौपपातिका नारकदेवाश्चेत्युक्तम् । चरमदेहा मनुष्या एव भवन्ति नान्ये । चरमदेहा अन्त्यदेहा इत्यर्थः । ये तेनैव शरीरेण सिध्यन्ति । उत्तमपुरुषास्तीर्थकरचक्रवर्त्यर्धचक्रवर्तिनः । असंख्येयवर्षायुषो मनुष्याः तिर्यग्योनिजाश्च भवन्ति । सदेवकुलुत्तरकुरुषु सान्तर द्वीपकास्त्वकर्मभूमिषु कर्मभूमिषु च सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुःषमायामित्यसंख्येयवर्षायुषो मनुष्या भवन्ति । अत्रैव बाह्येषु द्वीपेषु समुद्रेषु तिर्यग्योनिजा असंख्येयवर्षायुषो भवन्ति । औपपातिकाश्चासंख्येयवर्षायुषश्च निरुपक्रमाः । चरमदेहाः सोपक्रमाः निरुपक्रमाश्चेति । एभ्य औपपातिकचरमदेहासंख्येयवर्षायुर्भ्यः गोषाः मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति । तत्रयेऽपवर्त्यायुषस्तेषां विषगस्त्रकण्टकाग्न्युदकाद्यशिताजीर्णाशानिप्रपातोद्वन्धनञ्चापद्वज्रनिर्घातादिभिः क्षुत्पिपासाभीतोष्णादिभिश्च द्वन्द्वोपक्रमैरायुरपवर्त्यते । अपवर्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपभोगः । उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम् ।

अर्थ—उपपातजन्मवाले तथा चरमशरीरके धारक और उत्तम पुरुष एवं असंख्यात वर्षकी जिनकी आयु हुआ करती है, इतने जीवोंकी आयु अनपवर्त्य समझनी चाहिये । नारक और देव उपपातजन्मवाले हैं, यह बात पहले बताई जा चुकी है । चरमशरीरके धारक

मनुष्य ही हुआ करते है, और कोई भी नहीं होते । जो उसी शरीरसे सिद्धि प्राप्त किया करते हैं—जिनको और कोई भी शरीर—धारण करना बाकी नहीं रहा है, उस अन्तिम शरीरके धारण करनेवालोंसे चरमदेह कहते हैं । तीर्थंकर चक्रवर्ती और अर्धचक्री इनको उत्तम पुरुष माना है । असंख्यात वर्षकी आयुके धारक मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों ही हुआ करते हैं । परन्तु इनमें से असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य देवकुरु उत्तरकुरु और अन्तरद्वीपोंकी अकर्मभूमियोंमें तथा कर्मभूमियोंमें भी आदिके तीन कालोंमें—सुपमसुपमा सुपमा और सुपमदुपमामें ही हुआ करते है । तथा हैमवत हरिवर्ष रम्यक और हैरण्यवत इन क्षेत्रोंमें भी असंख्यातवर्षकी आयुवाले मनुष्य हुआ करते हैं । क्योंकि ये भी अकर्मभूमि ही हैं । तथा असंख्यातवर्षकी आयुके धारक तिर्यच इन क्षेत्रोंमें भी हुआ करते हैं और इनके बाहर—मनुष्यक्षेत्रके बाहर जितने द्वीप समुद्र हैं, उनमें भी हुआ करते है । इनमेंसे औपपातिक और असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंकी आयु निरुपक्रम ही हुआ करती है । जिन वेदनारूप कारणरूपाणोंसे आयुका भेदन हो जाता है, उनसे इन जीवोंकी आयु रहित हुआ करती है । चरमदेहक धारक जीवोंकी आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों ही तरहकी होती है । इनके सिवाय अर्थात् औपपातिक और असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य तिर्यच तथा चरमशरीरियोंको छोड़कर बाकी जितने जीव हैं, उनकी आयु अपवर्त्य भी हुआ करती है, और अनपवर्त्य भी हुआ करती है । तथा वे सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों ही तरहकी हुआ करती है । जिनकी अपवर्त्य आयु हुआ करती है । उनकी आयुका विष शत्रु कटक अग्नि जल सर्प भोजन अजीर्ण यज्ञपात बधनविशेष—गलेमें फासी लगा लेना आदि सिंहदिक हिंसक जीव यज्ञपात आदि कारणोंसे तथा क्षुधा पिपासा शीत उष्ण आयुका तीन उपद्रव आजाने आदि कारणोंसे भी अपवर्तन हो जाता है । अधिक स्थितिवाली आदिका शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्तके पहले ही फलौपभोग हो जाना इसको अपवर्तन कहते हैं । और जो इस अपवर्तनके निमित्त हैं, उनको उपजन्म कहते है ।

इस प्रकार आयुके अपवर्तनका स्वरूप बताया । इस विषयमें कोई कोई अपवर्तनका वास्तविक अर्थ न समझकर तीन दोष उपस्थित किया करते हैं—वृत्तनाश अकृतागम और निष्क

१—मुनेर और निरुपचे दक्षिणोत्तर तथा सौमनस त्रिगुणभक्त मध्यस्थ क्षेत्र देवकुरु कहाता है । मुनेर और नीलके उत्तर दक्षिण तथा गणमादन और माल्यगान्धके मध्य भागका क्षेत्र उत्तरकुरु कहाता है । २—हिमवान् पर्वतके पूर्व पश्चिम और विदिशाओंमें तथा समुद्रके भीतर अन्तरद्वीप हैं । जिनमें कि अनेक आहृतियोंके धारक मनुष्य हुआ करते हैं । इन क्षेत्रोंकी लम्बाई चौड़ाई आदिना प्रमाण टीकास जानना चाहिये । ३-४—इन क्षेत्रोंका विषय गुलासा जम्बूद्वीपसि त्रिलोकप्रकाश या त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये । उचित वर्णन आगे तीसरे अध्यायमें करेंगे । ५—यहाँपर आयुक्रमके ही विषयमें अपवर्तनका उल्लेख किया है । परन्तु आयुके समान अन्य क्रमोंका भी अपवर्तन हुआ करता है ऐसा टीकाकृताका अभिप्राय है ।

लता । अतएव उनकी तरफसे शंका उठाकर इनका निराकरण करनेके लिये भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—अत्राह—यद्यपवर्तते कर्म तस्मात्कृतनाशः प्रसज्यते यस्मान्न वेद्यते । अथा-
स्त्यायुष्कं कर्म त्रियते च, तस्मादकृताभ्यागमः प्रसज्यते । येन सत्यायुष्के त्रियते च
ततश्चायुष्कस्य कर्मण आपत्त्यं प्रसज्यते । अनिष्टं चैतत् । एकभवस्थिति चायुष्कं
कर्म न जात्यन्तरानुबन्धि तस्मान्नापवर्तनमायुषोऽस्तीति । अत्रोच्यते—कृतनाशाकृताभ्याग-
माफलानि कर्मणो न विद्यन्ते । नाप्यायुष्कस्य जात्यन्तरानुबन्धः । किंतु यथोक्तैरुपक्रमैर-
भिहतस्य सर्वसन्दोहेनोदयप्राप्तमायुष्कं कर्म शीघ्रं पच्यते तदपवर्तनमित्युच्यते । संहतशुष्क-
तृणराशिदहनवत् । यथाहि—संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य
चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमा-
भिहतस्याशु दाहो भवति तद्वत् । यथावा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारमागहारा-
भ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति तद्वदुपक्रमाभिहतो
मरणसमुद्भातदुःखार्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं
कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति । किंचान्यत्—यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहतश्चि-
रेण शोषमुपयाति ए एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते
तस्मिन्प्रभूतस्नेहापगमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोषः तद्वद्यथोक्तानिमित्तापवर्तनः कर्मणः क्षिप्रं
फलोपभोगो भवति । नच कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफलानि ॥

इति तत्त्वार्थधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ—प्रश्न—इस प्रकारसे यदि कर्मका अपवर्तन भी हो जाता है, तो कृतनाशका प्रसङ्ग आवेगा । क्योंकि उस कर्मका फल भोग करनेमें नहीं आ सका, और यदि अपवर्तनसे यह मतलब लिया जाय, कि आयुर्कर्म सत्तामें तो रहता है, परन्तु फिर भी जीवका मरण हो जाता है, तो अकृताभ्यागमका प्रसङ्ग आता है । क्योंकि आयुके रहते हुए ही और अन्तरालमें ही मरण हो जाता है, और इसी लिये आयुर्कर्मकी निष्फलताका भी प्रसङ्ग आता है । क्योंकि जब आयुर्कर्मके रहते हुए भी मरण होजाता है, तो फिर उससे क्या प्रयोजन । किंतु जैन-सिद्धान्तके अनुसार ये तीनों ही बातें अनिष्ट हैं । जिस कर्मका बन्ध हुआ है, वह बिना फल दिये ही नष्ट हो जाय, या जिसका बन्ध नहीं किया है, उसका उदय हो यद्वा कर्म निःप्रयो-जनीमूत वस्तु ही ठहर जाय, यह बात जैनसिद्धान्त स्वीकार नहीं करता । इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि आयुर्कर्म एकभवस्थिति है, उसके फलका उपभोग एक ही भवमें हुआ करता है, न कि अनेक भवोंमें, और आप कहते हैं, कि आयुके रहते हुए भी मरण होजाता है, इससे यह बात सिद्ध होती है, कि आयुर्कर्म जात्यन्तरानुबन्धि है—पर्यायान्तरमें भी उसके फलका भोग हो सकता है । किन्तु यह भी अपसिद्धान्त है । इसप्रकार आयुका

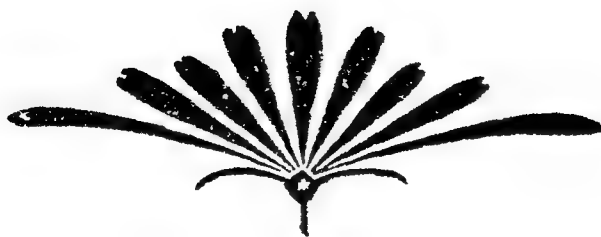
अपवर्तन माननेम चार दोष उपस्थित होते हैं, अतएव यही कहना चाहिये कि उसका अपवर्तन नहीं होता । फिर आप किस तरह कहते हैं, कि आयुका अपवर्तन होता है ?

उत्तर—कृतनाश अकृतागम और निष्फलता ये तीन दोष जो कर्मके विषयमें दिये हैं, वे ठीक नहीं हैं । इसी प्रकार चौथा दोष जो यह दिया है, कि आयुर्कर्म जात्यन्तरानुबन्धि ठहरेगा, सो भी उचित नहीं है । जैनसिद्धान्तमें अपवर्तनका जो स्वरूप माना है, उसके न समझनेके कारण ही ये दोष प्रतीत होते हैं । पूर्वोक्त उपक्रमों—विष शस्त्रादिक कारणविशेषोंसे अभिहत—ताडित—उपद्रुत होकर आयुर्कर्म सर्वात्मना उदयको प्राप्त होकर शीघ्र ही पक जाता—अपने फलका अनुभव करा देता है, इसीको अपवर्तन कहते हैं । जिस प्रकार शुष्क भी तृणराशि—ईंधन यदि सहित हो, आपसमें ढक सम्बद्ध हो, और क्रमसे उनका एक एक अवयव जलया जाय, तो चिरकालमें उसका दाह हो पाता है, परन्तु यदि उसका बंधन शिथिल हो और उस सबको अलग अलग करके एक साथ जलया जाय, तथा वायुरूपी उपक्रमसे वह अभिहत हो, तो फिर उसके जलनेमें देर नहीं लगती—शीघ्र ही वह जलकर भस्म होजाता है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अथवा जिस प्रकार कोई गणित शास्त्रका विद्वान् आचार्य सुगमतासे और जल्दी हिसाब निम्न आवे, इसके लिये गुणाकार भागहारके द्वारा राशिका छेद करके अपवर्तन कर देता है, तो उससे सत्येय अर्थका अभाव नहीं हो जाता, इसी प्रकार यहाँपर भी समझना चाहिये । उपक्रमोंसे अभिहत हुआ और मरणसमुद्रातके दुखोंसे पीडित हुआ प्राणी कर्म है, कारण जिसका ऐसे अपवर्तन नामक करणविशेषको अनाभोग—अत्यन्त अपरिज्ञानरूप—जो अनुभवमें न आ सके, ऐसे योग—चेष्टाविशेषपूर्वक उत्पन्न करके शीघ्रतासे फलोपभोग होजानेके लिये कर्मका अपवर्तन किया करता है, इससे उसके फलका अभाव सिद्ध नहीं होता । अर्थात्—मरणके समय कुछ पूर्व जो समुद्रघात होता है, उसको मरणसमुद्रघात कहते हैं, उस समय शरीरसे आत्मप्रदेशोंका जो अपकर्ष होता है, वह चैतन्य रहित—मूर्च्छित होता है, अतएव वह प्राणी बाह्य चेष्टाओंसे शून्य और अन्यक्त बोधको धारण करनेवाला हुआ करता है । इस तरहही ज्ञान रहित अगम्यामें ही वह कर्मका अपवर्तन किया करता है । अपवर्तन भी जान पूँकर नहीं करता, किंतु जिस प्रकार उपयुक्त आहारके रसादिक परिणमन निमित्तानुसार स्वतः ही हो जाया करते हैं, उसी प्रकार अपवर्तनके विषयमें भी समझना चाहिये । इस अपवर्तनके होनेसे आयुर्कर्मके फलका अभाव नहीं समझना चाहिये । अनपवर्तित और अपवर्तितमें अन्तर इतना ही है, कि पहलेमें तो पूर्ण स्थितिकर उसका क्रमसे परिभोग होता है, अतएव उसका काल अधिक है, किन्तु दूसरेमें समुचित होकर चारों—तरफसे एक साथ भोगनेमें आजाता है, इसलिये उसका काल थोड़ा है ।

अपवर्तनका अर्थ अभुक्तकर्म नहीं है । इसी बातको और भी दृष्टान्त देकर भाष्यकार स्पष्ट करते हैं:—

जिस प्रकार किसी वस्त्रको जलसे धोया जाय, और उसमें धोया हुआ ही धरा करके रख दिया जाय, तो वह चिरकालमें मूख पाना है । परन्तु उसीको यदि फैला दिया जाय, तो सूर्यकी किरणोंसे और वायुमें ताडित होकर शीघ्र ही वह सूख जाता है । उस धरा किये हुए वस्त्रमें कोई ऐसा नवीन स्नेह—जल आ नहीं गया है, जो कि पहले उसमें न हो, इसी तरह न फैलाये हुए वस्त्रमें पूर्ण शोष नहीं हुआ हो यही बात है । किंतु धानों ही अवस्थाओंमें जलके अवयवोंका प्रमाण बग़र ही है । अन्नर इतना ही है, कि एकका शोष अधिक कालमें होता है, और दूसरेका उपक्रमवश शीघ्र ही—अल्पकालमें ही हो जाता है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समग्रता चाहिये । पूर्वोक्त अपवर्तनके निमित्तोंमें कर्मका फलप्रयोग शीघ्र ही होजाता है, यही अपवर्तनका स्वरूप है । इसमें कृत्तनाश अकृतागम और निष्फलताका प्रसङ्ग आता है यह बात नहीं है ।

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसदमहे द्वितीयोऽध्याय समाप्तः॥



तृतीयोऽध्यायः ।



भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता नारका इति गतिं प्रतीत्य जीवस्यौद्यिको भावः । तथा जन्मसु नारकदेवानामुपपातः । वक्ष्यति च स्थितौ नारकाणां च द्वितीयादिषु । आस्रवेपु बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः इति । तत्र के नारका नाम क्व चेति । अत्रोच्यते—नरकेषु भग्न नारकाः । तत्र नरकप्रसिद्धार्थमिदमुच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने नारक शब्दका अनेक बार उल्लेख किया है । जीवके औद्यिक-भावोंको गिनाते हुए गतिके भेदोंमें नारकगतिका नाम गिनाया है । तथा जन्मोंका वर्णन करते हुए कहा है कि “नारक और देवोंका उपपातजन्म होता है ।” इसी तरह आगे चलकर भी इन शब्दोंका उल्लेख किया है । यथा स्थितिका वर्णन करते हुए “नारकाणां च द्वितीयादिषु” इस सूत्रमें और आस्रवोंको बतते हुए “बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः” इस सूत्रमें । सो अभीतक यह नहीं मालूम हुआ कि वे नारक कौन हैं ? और कहाँपर रहते हैं । अर्थात् पहले और आगे चलकर नारक शब्दका तो अनेक सूत्रोंमें उल्लेख किया, परन्तु किसी भी सूत्रमें उसकी ऐसी व्याख्या करके नहीं बताई, जिससे यह मालूम हो सके, कि नारक अमुकको कहते हैं, और न अभीतक यही बताया गया, कि उनका निवासस्थान कहाँपर है । अतएव कृपाकर कहिये कि नारक कौन हैं, और कहाँपर रहते हैं ? उत्तर—जो नरकोंमें उत्पन्न हों या रहें उनको नारक कहते हैं । इस प्रकार “नारक कौन हैं ?” इसका उत्तर नारक शब्दकी निरुक्तिके द्वारा ही समझमें आजाता है । परन्तु वे नरक कहाँ हैं, और कैसे हैं इत्यादि बातें इससे समझमें नहीं आती, अतएव उनको समझानेके लिये ही आगे सूत्र कहते हैं—

१—कोई कोई, इस सूत्रकी उक्तानिरुक्ति लिख कहते हैं, कि यत्तु अध्यायोंमें जीवका सामान्य स्वरूप तो कहा गया और वह ममत्तमें आया, परन्तु उससे नारक आदि विशेष भेदोंका स्वरूप अभीतक नहीं कहा गया । नारक शब्दका अर्थ नरकेषु भग्न नारका इस निरुक्तिके अनुसार जिन तरह समझमें आ सकता है वथा प्रकार नरक शब्दका अर्थ भी ‘नरान् कामन्ति-आह्वयन्ति इति नरका’ इस निरुक्तिके अनुसार समझमें आ सकता है । परन्तु यह निरुक्ति केवल न्युत्पत्तिके लिये ही है, इसके कोई अधात्रिया-प्रयोजनवत्ता मित नहीं होती । क्योंकि नरक यह रुचिगता है । अतएव वे नरक कहाँ हैं, किन्तु वे कैसे हैं, आदि बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

इसके सिवाय कोई कोई इसकी उक्तानिरा इस प्रकार भी करते हैं कि आगे चलकर नीचे अध्यायमें सूत्र ३७ के द्वारा मत्स्थानविषय नामक धर्मस्थानका उद्घटन किया गया है । मत्स्थानविषयनाम विषय क्षेत्रके स्वरूपका विचार करना है । यथा—लोकाध्यायमिदं विविन्तयेष्टमपि य पाप्मस्यम् । मत्प्रजन्ममरणे रुचिर्ध्वोपयोगात् ॥ (प्रश्नपरति लोक १६०) । लोक तीन भागमें विभक्त है, और वहीं जीवोंके रहनेका अधिकरण है । अतएव उसका वर्णन करनेमें ऊर्ध्वलोक और मध्यलोकके पहले अधोलोकका वर्णन प्रथमतः है इसी लिये अधोलोकका स्वरूप बतानेके लिये यहाँ सूत्र करते हैं । इसके अनन्तर भी अध्यायमें त्रियगलोक-मध्यलोक और चतुर्थ अध्यायमें ऊर्ध्वलोकका वर्णन करेंगे ।

**सूत्र—रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घ-
नाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥ १ ॥**

भाष्यम्—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा इत्येता भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा भवन्त्येकैकशः सप्त अधोऽधः । रत्नप्रभाया अधः शर्कराप्रभा, शर्कराप्रभाया अधो वालुकाप्रभा, इत्येवं शेषाः । अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते यथा प्रतीयते घनमेवाम्बु अधः पृथिव्याः । वातास्तु घनास्तनवच्चेति । तदेवं खरपृथिवी पङ्कप्रतिष्ठा, पङ्को घनोदधिवलयप्रतिष्ठा घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठं घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठं ततो महातमोभूतमाकाशम् । सर्वं चैतन्पृथिव्यादि तनुवात-वलयान्तमाकाशप्रतिष्ठम् । आकाशं त्वात्मप्रतिष्ठं । उक्तमवगाहनमाकाशस्येति । तदनेन क्रमेण लोकानुभावसंनिविष्टा असंख्येययोजनकोटीकोट्यो विस्तृताः सप्तभूमयो रत्नप्रभाद्याः ॥

अर्थ—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात अधोलोककी भूमियाँ हैं, और ये सात ही हैं न कि कम ज्यादा, तथा इनका प्रतिष्ठान एकके नीचे दूसरीका और दूसरीके नीचे तीसरीका इस क्रमसे है । प्रत्येक पृथिवी तीन तीन वातवलयोंके आधारपर ठहरी हुई है—घनोदधिवलय घनवातवलय और तनुवातवलय । ये वात-वलय आकाशके आधारपर हैं, और आकाश आत्मप्रतिष्ठ है—अपने ही आधारपर है । क्योंकि वह अनंत है, परन्तु प्रत्येक पृथिवीके नीचे अन्तरालमें जो आकाश है वह अनन्त नहीं है, असंख्यात कोटीकोटी योजन प्रमाण है । रत्नप्रभाके नीचे और शर्कराप्रभाके ऊपर इसी तरह वालुकाप्रभाके ऊपर और शर्कराप्रभाके नीचे असंख्येय कोटीकोटी योजनप्रमाण आकाश है । इसी प्रकार सातों पृथिवियोंके नीचे समझना चाहिये । लोकके अन्तमें और वातवलयोंके भी अनन्तर जो आकाश है वह अनन्त है ।

प्रश्न—इस सूत्रमें घन शब्दके ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि अम्बु वाताकाशप्रतिष्ठाः इतना कहनेसे ही कार्य सिद्ध हो सकता है । उत्तर—ठाक है, परन्तु घन शब्दके ग्रहण करनेका एक खास प्रयोजन है । वह यह कि अम्बु शब्दका अर्थ जल है, सो केवल अम्बु शब्द रहनेसे कोई यह समझ सकता है, कि प्रत्येक पृथिवीके नीचे जो जल है, वह द्रवरूप ही । किंतु यह वात नहीं है । अतएव प्रत्येक पृथिवीके नीचे जो जल है, वह घनरूप ही है, ऐसा समझानेके लिये ही घनशब्दका ग्रहण किया गया है । सूत्रमें वात शब्दका प्रयोग जो किया है, उससे घनवात और तनुवात दोनों ही समझने चाहिये । इस प्रकार पहली पृथ्वीका खरभाग पङ्कभागके ऊपर और पङ्कभाग घनोदधिवलयके ऊपर तथा घनोदधिवलय घनवातवलयके ऊपर एवं घनवातवलय तनुवातवलयके ऊपर प्रतिष्ठित है । इसके अनंतर महातमोभूत आकाश है । ये पृथिवीसे लेकर तनुवातवलय पर्यंत सभी उस आकाशपर

ठहरे हुए है, और आकाशका आधार आकाश ही है। आकाशका उपकार—वायु ही यह है, कि वह सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाहन देता है। यह बात आगे चलकर द्रव्योंके उपकार प्रकरणमें बताई है। जिस प्रकार यहाँ पहली रत्नप्रमा पृथिवीके लिये क्रम और विस्तार बताया है, उसी क्रमसे सातों ही पृथिवियोंका सन्निवेश लोकस्थितिके अनुसार समझ लेना चाहिये। इन सभी पृथिवियोंका तिर्यक् विस्तार असंख्यात कोटीकोटी योजन प्रमाण है।

भावार्थ—अधोलोके रत्नप्रमा आदिक सात पृथिवी हैं, पृथिवियोंके ये नाम प्रमाकी अपेक्षासे अर्थ हैं। जिसमें रत्नोंकी प्रमा पाई जाय उसको रत्नप्रमा कहते हैं। पहली पृथिवीमें रत्न वज्र वैडूर्य लोहित मसारगुह्य आदि सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रमा पाई जाती है। दूसरी पृथ्वीकी प्रमा शर्कराकीसी है और तीसरी पृथ्वीकी बालूकीसी है। इसी प्रकार शेष पृथिवियोंकी समझनी चाहिये। पहली पृथिवीके तीन ऋण्डक—भाग हैं—खरभाग एकभाग और अन्वहुलभाग। खरभाग सोलह हजार योजनका एकभाग चौरासी हजार योजनका और अन्वहुलभाग अस्सी हजार योजनका है। इस तरह कुल मिलाकर पहली पृथ्वीका प्रमाण एक लाख अस्सी हजार योजनका होता है। यह पहली पृथिवी अथवा उसका अन्वहुलभाग जिसपर ठहरा हुआ है, वह घनोदधिवलय बीस हजार योजनका है, और घनोदधिवलय जिसपर ठहरा हुआ है, वह घनवातवलय असंख्यात हजार योजनका है, तथा जिसपर घनवातवलय ठहरा हुआ है, वह तनुवातवलय भी असंख्यात हजार योजनका है। इसके नीचे असंख्यात कोटीकोटी योजनप्रमाण आकाश है। जिसप्रकार चन्द्र सूर्य आदिके विमान निरालम्ब आकाशमें ठहरे हुए हैं, उसी प्रकार ये पृथिवी और वातवलय भी निराधार आकाशमें ही ठहरे हुए हैं, उसके लिये आधारान्तरकी आवश्यकता नहीं है।

जिस प्रकार पहली पृथिवीके लिये निरूपण किया गया है, उसी प्रकार शेष पृथिवियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। यह लोकका सन्निवेश अनादि अकृत्रिम है—ईश्वर आदिका किया हुआ नहीं है, और यह लोकस्थिति आगममें जाठ प्रकारकी बताई है। यथा—आकाश

१—अध्याय ५ सूत्र १८। २ सातों पृथिवियोंके ह्निनाम क्रमसे इस प्रकार हैं—घम्मा वशा शैला (मेघा) अजनारिष्ठा (अरिष्ठा) माघण्या (मघवी) माघवी। ३—किंतु यह प्रमा पहलेकाण्वके ही दे शेष दो काण्व एकारा ही हैं। ४—भाष्यकारने खरभाग और परभाग ही उल्लेख किया है अन्वहुलभाग नहीं। परन्तु घनोदधि शब्द के ग्रहणसे दोनोंका ही ग्रहण होता है। जैसा कि टीकाकारने भी कहा है, कि “अत्र आचार्येणाप्यहुल काण्व नोपात्तं पृथक्, घनोदधिवलयग्रहणेनैव लघत्वात् घनोदधिश्च घनोदधिवलय चेत्येकदेशनिर्देशात्।” ५—इसी तरह द्वितीयादिक पृथिवियोंका प्रमाण भी क्रमसे इस प्रकार समझना चाहिये।—एक लाख बीस हजार एक लाख अठारह हजार एक लाख सोलह हजार, एक लाख आठ हजार। ६—“कतिविदा ण भते। सोमद्विती पण्णा २ गोयमा। अविहा लोमहिं पण्णा तज्जा आगासपतिदिण्ण वाए १ घातपतिदिण्ण उदही २ उदधिपट्टिया पुन्वी ३ पुन्वी पतिता तसयावण पाणा ४ अजावा जीवपतित्रिया ५ जीवा कम्मसगहिया ६ अजीवा जीवसगहिया ७ जीवा कम्मसगहिया ८ ॥ इत्यादि भग० शतक १ उ० ६ सूत्र ५४ ॥

प्रतिष्ठित वात १ वातप्रतिष्ठित उदधि २ उदधिप्रतिष्ठित पृथिवी ३ पृथिवी प्रतिष्ठित व्रसस्थावर प्राण ४ जीवप्रतिष्ठित अजीव ५ कर्मप्रतिष्ठित जीव ६ जीवसंग्रहीत अजीव ७ कर्मसंग्रहीत जीव ८ ।

इन सातों पृथिवियोंका संनिवेश कोई तिरछा आदि न समझ ले, इसके लिये अधोऽधः शब्द दिया है । तथा सात पृथिवी बतानेका अभिप्राय यह है, कि अधोलोकमें सात ही पृथिवियाँ हैं, सम्पूर्ण लोकमें सात ही हैं, ऐसा अभिप्राय नहीं है । क्योंकि ईषत् प्राग्भार नामकी आठवीं पृथिवी भी मानी है । इसी अभिप्रायको स्पष्ट करनेके लिये भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—सप्तग्रहणं नियमार्थं रत्नप्रभाद्या माभूवत्तेकशो ह्यनियतसंख्या इति । किंचान्यत्—अधः सप्तैवेत्यवधार्यते, ऊर्ध्वत्वेकैवेति वक्ष्यते । अपि च तन्त्रान्तरीया असंख्येयेषु लोकधातुष्वसंख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः । तत्प्रतिषेधार्थं च सप्तग्रहणमिति ।

सर्वाश्चेता अधोऽधः पृथुतराः छत्रातिच्छत्रसंस्थिताः । धर्मावंशा शैलाञ्जनारिष्ट । माघक्यामाधवीति चासां नामधेयानि यथासंख्यमेवं भवन्ति । रत्नप्रभा घनभावेनाशीतं योजनशतसहस्रं शेषा द्वात्रिंशदष्टाविंशतिर्विशत्यष्टादशषोडशाष्टाधिकमिति । सर्वे घनोदधयो विंशतियोजनसहस्राणि । घनवाततनुवातास्त्वसंख्येयानि अधोऽधस्तु घनतराविशेषेणेति ॥

अर्थ—सूत्रमें सप्त शब्दका जो ग्रहण किया है, वह नियमार्थक है, जिससे रत्नप्रभा आदिक प्रत्येक पृथिवी अनियत संख्यावाली मालूम न हो, क्योंकि पहली पृथिवीके तीन काण्डक हैं, और उनमें भी पहला काण्डक सोलह प्रकारका है, इन सभी भेदोंको एक एक पृथिवी समझनेसे पृथिवियोंकी कोई नियत संख्या मालूम नहीं हो सकती । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि इस शब्दसे यह अवधारण-नियम किया जाता है, कि अधोलोकमें पृथिवियाँ सात ही हैं । ऊर्ध्वलोकमें एक ही पृथिवी है, ऐसा आगे चलकर कहेंगे, और एक बात यह भी है, कि जो जिनेन्द्र भगवान्‌के प्रवचनके बाह्य हैं—मिथ्या आगमके माननेवाले हैं, उनका कहना है कि “लोक धातु असंख्यात है, और उनमें पृथिवियोंका प्रस्तार भी असंख्यातप्रमाण है” । ” इस मिथ्या आगमका प्रतिषेध करनेके लिये ही सप्त शब्दका ग्रहण किया है ।

ये सभी पृथिवियाँ नीचे नीचेकी तरफ उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत हैं । जो रत्नप्रभाका विष्कम्भ और आयाम है, उसकी अपेक्षा शर्कराप्रभाका विष्कम्भ और आयाम अधिक है । इसी तरह बालुकाप्रभा आदिके विषयमें समझना चाहिये । इन सातों पृथिवियोंका आकार छत्राति-

१—यह पृथिवी सम्पूर्ण कल्पविभागोंके ऊपर है, और ढाई द्वीपकी वरावर लम्बी चौड़ी है, इसका आकार उत्तान छत्रके समान है । इसका विशेष वर्णन आगे चलकर “तन्वी मनोज्ञा सुरभि पुण्या परमभासुरा” इत्यादि कारिकाओंके द्वारा किया जायगा । २—“तदागमश्चायं—” यथा हि वर्षति देवे प्रततधार नास्ति वीचिका वा अन्तरिका वा एवमेव पूर्वायां दिशि लोकधातवो नैरन्तर्येण व्यवस्थितास्तथाऽन्यास्वपि दिक्ष्विति ” । ३—विष्कम्भ और आयामकी अपेक्षा रत्नप्रभा एक रज्जुप्रमाण, शर्कराप्रभा ढाई रज्जुप्रमाण, बालुकाप्रभा चार रज्जुप्रमाण, पंकप्रभा पाँच रज्जुप्रमाण, धूसप्रभा छह रज्जुप्रमाण, तमःप्रभा साढ़े छह रज्जुप्रमाण, और मंहातमः प्रभा सात रज्जुप्रमाण है ।

छत्रके समान है । जिस प्रकार एकके नीचे दूसरा और दूसरेके नीचे तीसरा इसी तरह सात छत्र ऊपर नीचे—तर ऊपर लगानेसे जो आकार हो, वैसा ही आकार सातों पृथिवियोंका समझना चाहिये । तथा इन पृथिवियोंके क्रमसे धर्मा वशा शैल्य अञ्जना अरिष्टा माघव्या । और माघवी ये नाम हैं । पहली रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है । बाकी द्वितीयादिक पृथिवी क्रमसे एक लाख बत्तीस हजार, एक लाख अठ्ठाईस हजार, एक लाख बीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार, और एक लाख, आठ हजार योजनकी मोटी हैं । सभी घनोदधि बीस हजार योजन मोटे हैं । तथा घनवातवलय और तनुवातवलय भी असंख्यात हजार योजन मोटे हैं, परन्तु सभीकी मोटाई नीचे नीचेके भागमें अधिकाधिक है ।

भाषार्थ—अवलोककर्ता इन सात पृथिवियोंकी और उसके आधारभूत वातवलयोंकी सज्ञा सख्या परिणाम सस्थान प्रमा आदिक सभी अनादि है । यहाँपर जो कुछ वर्णन किया है, वह सामान्य है, जिनमें इनका विशेष स्वरूप देखना हो, उन्हें लोक-स्वरूपके प्रतिपादक प्रयोगोंको देखना चाहिये । यहाँपर जो प्रश्न किया था, वह नरकोंके विषयमें ही था, अतएव उसीके सम्बन्धमें अवलोकका यह सक्षिप्त वर्णन किया है । अब यह बताना चाहते हैं, कि वे नरक कहाँपर हैं, कि जिनमें नरक—जीवोंका निवास पाया जाता है । इसीके लिये आगे सूत्र कहते हैं —

सूत्र—तासु नरका ॥ २ ॥

भाष्यम्—तासु रत्नप्रभाद्यासु भूपूर्वमधश्चेकशो योजनसहस्रमेकेक वर्जयित्वा मध्ये नरका भवन्ति । तथा—उट्टिकापिपृ पचनीलोटीकरकेन्द्रजानुकाजन्तोकायस्कुम्भाय कोष्ठा विसृथाना ध्वजतला सीमन्तकोपक्रान्ता रोरवोऽच्युतो रौद्रो हाहारवोधातन शोचनस्ता पन रुन्दनोविलपनश्छेदनोभेदन खटासट कालपिञ्जर इत्येवमाद्या अशुभनामान काल महाकालरौरवमहारोरवाप्रतिष्ठानपर्यन्ता । रत्नप्रभाया नरकाणा प्रस्तारास्त्रयोदश । द्विद्वष्टमा शेषासु । रत्नप्रभाया नरकवासाता त्रिंशच्छतसहस्राणि । शेषासु पञ्चविंशति पञ्चदश दश त्रीण्येक पञ्चोन नरक शतसहस्रमित्यापन्ना । सप्तम्यां तु पञ्चैव महानरका इति ॥

अर्थ—रत्नप्रभा आदिक उपर्युक्त पृथिवियोंमें ही नरकोंके आवास है । परन्तु वे आवास उन प्रत्येक पृथिवियोंके ऊपर और नीचेके एक एक हजार योजनका भाग छोड़कर मध्यके भागमें हैं । उट्टिका पिष्टपचनी लोही करका इन्द्रजानुका जन्तोका आयकुम्भ

१—समिपु इत्यपि पाठ । २—एक एक हजार योजन ऊपर नीचे छोड़नेके लिये जो कहा है सो पहला पृथिवीके लेखर छी तन्के लिये हा समझना चाहिये । सातवीं पृथिवीका प्रमाण एक लाख आठ हजार योजनका है उन्मेंगे ५२५०० ऊपर और उतने ही योजन नीचेका भाग छोड़कर मध्यका भाग ३ हजार योजनका बचता है उसीमें नरक है । भाष्यकारने एक सातवीं पृथिवीके नरकस्थानमें बतानेकी अपेक्षा नहीं रखी है, क्योंकि वह बाहुल्य नहीं रखता ।

अयःकोष्ठ आदि पकानेके वर्तन प्रसिद्ध हैं, उनका जैसा आकार है, वैसा ही आकार इन नरकोंका होता है। इन भाण्ड विशेषोंमें पकनेवाले अन्नके समान नारक जीव जो इन नरकोंमें रहते हैं, उन्हें क्षणभरके लिये भी स्थिरता या सुखका अनुभव नहीं होता। इन नरकोंके नीचेका तल भाग वज्रमय है, और इन सभी नरकोंके मध्यमें एक इन्द्रक नरक होता है, जिनमेंसे सबसे पहले इन्द्रकका नाम सीमन्तक है। पहली रत्नप्रभा भूमिके तेरह पटल हैं। उनमेंसे पहले पटलमें दिशाओंकी तरफ ४९-४९ और विदिशाओंकी तरफ ४८-४८ नरक हैं, मध्यमें एक सीमन्तक नामका इन्द्रक नरक है। इनकी संख्या सप्तम भूमितक क्रमसे एक एक कम होती गई है। दिशा और विदिशाओंके सिवाय कुछ प्रकीर्णक नरक भी होते हैं। रौरव अच्युत रौद्र हाहारव घातन शोचन तापन क्रन्दन विलपन छेदन भेदन खटाखट कालपित्तुर इत्यादिक उन नरकोंके नाम हैं, जो कि कर्णकटु होनेके सिवाय स्वभावसे ही महा अशुभ हैं। सातवीं भूमिमें केवल पाँच ही नरक हैं। क्योंकि उसमें विदिशाओंमें कोई नरक नहीं है। चार दिशाओंमें चार और एक इन्द्रक इस तरह कुल पाँच है, जिनके कि क्रमसे ये नाम हैं—काल महाकाल रौरव व महारौरव और अप्रतिष्ठान। अप्रतिष्ठान यह सातवीं भूमिके अन्तिम इन्द्रक नरकका नाम है। अप्रतिष्ठान नरकसे पूर्वमें काल पश्चिममें महाकाल दक्षिणमें रौरव और उत्तरमें महारौरव है।

रत्नप्रभा भूमिके नरकोंके तेरह पटल बताये हैं। इनकी रचना इस तरह समझनी चाहिये, जैसे कि किसी एक मकानमें अनेक माले होते हैं। द्वितीयादि भूमियोंके पटलोंकी संख्या क्रमसे दो दो हीन है। अर्थात् शर्कराप्रभाके ग्यारह बालुकाप्रभाके नौ पंकप्रभाके सात धूमप्रभाके पाँच तमःप्रभाके तीन और महातमःप्रभाका एक ही पटल है। इन पटलोंमें नरक कितने कितने हैं, सो इस प्रकार समझने चाहिये।—रत्नप्रभामें तीस लाख, शर्कराप्रभामें पच्चीस लाख, बालुकाप्रभामें पंद्रह लाख, पंकप्रभामें दस लाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमःप्रभामें पाँच कम एक-लाख, और महातमःप्रभामें केवल पाँच नरक हैं। सातों भूमियोंके सब पटलोंके दिशा विदिशा प्रकीर्णक और इन्द्रकोको मिलाकर कुल चौरासी लाख नरक हैं। इनमेंसे सातवीं भूमिके अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक नरकका प्रमाण जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजनका है, और बाकी नरकोंमें कोई संख्यात हजार और कोई असंख्यात हजार योजनके प्रमाणवाले हैं। महान् पापके उदयसे जीव इन नरकोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। ये नित्य ही अन्धकारसे व्याप्त दुर्गन्धमय और दुःखोंके स्थान हैं। इनका आकार गोल त्रिकोना चतुष्कोण आदि अनेक प्रकारका होता है।

इन नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले और रहनेवाले नारकजीवोंका विशेष स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—नित्याशुभतरलेख्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया ॥ ३ ॥

भाष्यम्—ते नरका भूमिक्रमेणाधोऽधो निर्माणतोऽशुभतरा । अशुभा रत्नप्रभाया ततोऽशुभतरा शर्कराप्रभाया ततोऽप्यशुभतरा वालुकाप्रभायाम् । इत्येवमासप्तम्या ।

नित्यग्रहण गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गकर्मनियमादेते लेख्यादयो भावा नरकगतो नरक पञ्चेन्द्रियजातो च नैरन्तर्येणामप्रक्षयोद्धर्तनाद्भवन्ति न कदाचिदक्षनिमेषमात्रमपि न भवन्ति शुभा वा भवन्त्यतो नित्या इत्युच्यन्ते ॥

अर्थ—भूमिक्रमके अनुसार नीचे नीचे नरकोंका निर्माणक्रमसे अधिक अधिक अशुभ होता गया है । रत्नप्रभा भूमिके नरकोंका निर्माण अशुभ है, परन्तु शर्कराप्रभाके नरकोंका निर्माण उससे कहीं अधिक अशुभ है, तथा वालुकाप्रभाके नरकोंका निर्माण उससे भी अधिक अशुभ है, और उससे भी अधिक पद्मप्रभाके नरकोंका एव उससे भी अधिक धूमप्रभाके नरकोंका तथा उससे भी अधिक तम प्रभाके नरकोंका निर्माण है । महातम प्रभाके नरकोंका निर्माण सबसे अधिक अशुभ है ।

भावार्थ—प्रयमादिक भूमियोंके पट्टोंमें जितने सीमन्तसे लेकर अप्रतिष्ठान पर्यन्त नरक हैं, उनका सत्पान—आकृति—रचना उत्तरोत्तर अधिनाधिक अशुभ है—भयानक है । यद्यपि यहाँपर सूत्रमें अशुभतर शब्दका ही पाठ है, अशुभ शब्दका पाठ नहीं है, परन्तु फिर भी एक शेषकी अपेक्षासे उसका भी पाठ समझ लेना चाहिये । इसी तरह इस सूत्रमें नरक और नारक दोनोंका ही ग्रहण है । क्योंकि नरकोंका तो प्रकरण ही है, और सूत्रमें लेख्या आदिना ग्रहण किया है जोकि नारक जीवोंके ही समान हैं । अतएव भाष्यकारने सूत्रमें सत्पान शब्दका उल्लेख न रहते हुए भी उसकी अशुभ अशुभतरताका वर्णन किया है ।

सूत्रमें नित्य शब्द जो आया है, वह आभीक्ष्ण्यवाची है—निरन्तर अर्थको निम्नाता है । जिस तरह किसीके लिये यह कहना कि, यह मनुष्य नित्य—हमेशा हँसता ही रहना है, अथवा जेठ जल पीकर ही रहता है । यहाँपर वह हँसनेके सिवाय और भी काम करता है, अथवा जलके सिवाय और चीज भी खाता पीता है, परन्तु उसकी अपेक्षा नहीं है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । नारकजीवोंकी अशुभतर लेख्या आदिक अपरिणामी नहीं हैं । फिर भी इस नित्य शब्दके ग्रहणसे यही अर्थ समझना चाहिये, कि गति जानि शरीर आङ्गोपाङ्ग आदि नामकर्मोंका जो यहाँपर उदय होता है, उससे नियमानुसार नरकगति और नरकजातिमें जो नारकजीवोंके लेख्या परिणाम आदि होते हैं, वे नियमसे निरन्तर

१—पुनराकरो 'तेषु नारका' इत्यधिक पाठ । २—जिस समय तीर्थंकर जन्म लेते हैं उस समय इस शब्दके अन्तर्मुद्रितके लिये नारकजीवोंका भी कुछ कुछ जाना है, और उन्हें श्रुत अशुभ होता है, ऐसा भागमरा कथन है । सा नियम के आभाष्यवाची रहने पर प्रतिज्ञा है । अथवा टीकाकारके हा धन्यनुसार सद्भाष्यमय निर्वृत्त इस सूत्रका गन्ध भी स्थित हो सकता है ।

रहते हैं—जबतक उन जीवोंका वह भव पूर्ण नहीं होता, तबतक वे रहने ही हैं । ओंसका पलक मारनेमें जितना समय लगता है, उतनी देरके लिये भी वे शुभरूप परिणमन नहीं करते और न उन कर्मोंके उदयका अभाव ही होता है । अतएव इनको नित्य शब्दमें कहा है ।

लेइया आदिक अशुभ अशुभतर किस प्रकार है ? इस बातको दिवानेके लिये भाष्य-कार स्पष्ट करते हैं:—

भाष्यम्—अशुभतरलेइयाः ।—कापोतलेइया रत्नप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कापोता शर्कराप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कापोतनीला बालुकाप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना नीला पंकप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना नीलकृष्णा घूमप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कृष्णा तम प्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कृष्णैव महातमःप्रभायामिति ।

अशुभतरपरिणामः ।—बन्धनगतिसंस्थानभेदवर्णगंधरसस्पर्शागुरुलघुशब्दाख्यो दश विधोऽशुभः पुद्गलपरिणामो नरकेषु । अशुभतरश्चाधोऽधः । तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वतोऽनन्तेऽभयानकेन निन्योत्तमकेन तमसा नित्यान्धकाराः श्लेष्ममूत्रपुरीषस्रोतोमल रुधिरवसामेदपूयानुलेपनतला स्मगानमिव प्रीतिमांसकेशास्थिचर्मदन्तरवास्तीर्णभूमय । च्वधृगालमार्जार नकुलसर्पमूषकहस्त्यश्वगोमानुषजवकोप्राशुभतरगंधाः । हा मातर्धिगहो कष्टं वत मुञ्च तावन्द्वावत प्रसीदमर्तमा बधीः कृपणकमित्यनुवृद्धरुदितस्तीव्रकरुणैर्दानविक्रुवैर्घिलापैरार्त्तस्वैर्निनादैर्दानकृपण करुणैर्याचितैर्वाप्यसंनिरुद्धैर्मिस्तनितैर्गाद्वैद्यनैः कूर्जितैः सन्तापोष्णैश्चनिश्वासरैरनुपरतभयस्त्वनाः ॥

अर्थ—उपर्युक्त नरकोंमें रहनेवाले जीवोंकी लेइयाएं हमेशा अशुभ ही रहती हैं । और नीचे नीचेके नरकोंकी लेइयाएं क्रमसे और भी अधिकाधिक अशुभतर अशुभतर हैं । अर्थात्—पहली रत्नप्रभा भूमिके नरकोंमें—जीवोंके कापोतलेइया हैं । दूसरी भूमि शर्करा-प्रभामें भी कापोतलेइया ही है, परन्तु रत्नप्रभाकी कापोतलेइयाके अध्यवसान जैसे संक्लेशरूप होते हैं, उससे दूसरी भूमिकी कापोतलेइयाके अध्यवसान अधिक संक्लेशरूप हैं । इसी तरह तीसरी आदि भूमियोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अर्थात् बालुकाप्रभामें कापोत और नीलेइया है, उनके अध्यवसानोंकी संक्लेशता शर्कराप्रभासे अधिक तीव्र है । पङ्कप्रभामें नीलेइया है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान बालुकाप्रभाकी नीलेइयाके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र है । घूमप्रभामें नील और कृष्ण लेइया है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान पंकप्रभाकी नीलेइयाके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र है । तमःप्रभामें कृष्णलेइया है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान घूमप्रभाके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र है, और महातमःप्रभामें केवल कृष्णलेइया ही है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान तमःप्रभाके अध्यवसानोंसे भी अधिक तीव्र हैं ।

भावार्थ—नीचे नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ लेइयाएं होती गई हैं । यही बात परिणामादिकके विषयमें भी समझनी चाहिये, यथा—

अशुभतर परिणाम—नरकोंमें पुद्गल द्रव्यके जो परिणमन होते हैं, वे उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ होते हैं। अपने अपने ऊपरके नरकोंसे नीचे नीचेके नरकोंमें पुद्गल द्रव्यभी पर्यायें अशुभ अशुभतर होती गई हैं। नरकोंमें होनेवाला पुद्गल द्रव्यका यह अशुभ परिणाम दश प्रकारका माना है—बध्न गति सत्पान भेद वर्ण गंध रस स्पर्श अगुल्लु आर शब्द। इन नरकोंकी भूमियाँ तिरछी ऊपर और नीचे सभी दिशाओंमें सब तरफ अनन्त भयानक, नित्य—कभी नष्ट न होनेवाले और उत्तम—प्रथमश्रेणीके अधिकारसे सदा तमोमय बनी रहती हैं। तथा श्लेष्म—कफ मूत्र और विष्टाका जिनमें प्रवाह हो रहा है, ऐसे अनेक मेल तथा रुधिर, वसा—चर्बी, मेदा और पूय—पीबसे इनका तल भाग लिप्त रहा करता है। तथा स्मशानभूमिकी तरह सबेरे दुर्गन्धयुक्त मांस और केश, हड्डी, चर्म, दाँत तथा नखोंसे व्याप्त बनी रहती है। कुत्ते, गीदड़, बिछो, नेबला, सर्प, चूहे, हाथी, घोड़े, गौ, और मनुष्योंके शवोंसे पूर्ण एव उनकी अशुभतर गंधसे सदा दुर्गन्धित रहती है। उन भूमियोंमें निरन्तर सब तरफ ऐसे ही शब्द सुनाई पड़ते हैं कि, हा मात ! धिक्कार हो, हाय अत्यन्त कष्ट और खेद है, दोड़ो और मेरे ऊपर प्रसन्न होकर—कृपा करके मुझको शीघ्र ही इन दुःखोंसे छुड़ाओ, हे स्वामिन् ! मैं आपका सेवक हूँ, मुझ दीनको न मारो। इसी प्रकार निरन्तर अनेक रोनेके और तीव्र क्लृप्ता उत्पन्न करनेवाले, दीनता और आकुलताके भावोंसे युक्त, महान् विलापरूप, पीडाको प्रकट करनेवाले शब्दोंसे तथा जिनमें दीनता हीनता और कृपणताका भाव भरा हुआ है, ऐसी याचनाओंसे, जिनमें गला रक गया है, ऐसी अश्रुधारासे युक्त गर्जनाओंसे, गाढ वेदनाके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शब्दोंसे तथा अन्तरङ्गके सतापका अनुभव करानेवाले उष्ण उच्छ्वासोंसे वे भूमियाँ अतिशय भयानकतासे भरी रहती हैं।

माप्यम्—अशुभतरदेहा । देहा शरीराणि, अशुभनामप्रत्ययादशुभान्यद्बोधाद्वा निर्माणसत्पानस्पर्शरसगन्धवर्णस्वराणि । हुण्डानि, निर्लुनाण्डजशरीराकृतानि क्रूरकदण्डी भक्षप्रतिभयदर्शनानि दुःखमाज्ज्यशुचीनि च तेषु शरीराणि भवन्ति । अतोऽशुभतराणि चाधोऽध । सप्त धनूपि त्रयोऽस्ता पटङ्गुलमिति शरीरोच्छ्रायो नारकाणां रत्नप्रभायां द्विर्द्वि शेषास्तु । स्थितियञ्चोत्कृष्टजघन्यता चेदितव्या ॥

अर्थ—नारकियोंके शरीर भी अशुभ अशुभतर ही होते गये हैं, उनके अशुभ नामकर्मके उदयका निमित्त हैं, अतएव उनके शरीरके आङ्गोपाङ्ग और उनका निर्माण—सम्पान—आकार स्पर्श रस गंध वर्ण तथा स्वर अशुभ ही हुआ करते हैं। हुडकुनामकर्मके उदयसे उनके शरीरोंका आकार अनियत और अन्यवस्थित बनता है। जिसके पक्ष उलाहकर दूर फेंक दिये गये हैं, ऐसे पक्षोंके शरीरके समान उनके शरीरकी आकृति अतिशय

१—अथवा दोतामत्र शब्दका अर्थ कोई भी बहनेवाला मल ऐसा भी हो सकता है।

२—'जघन्यतो वेदितव्या।' ऐसा भी पाठ है।

बीभत्स-न्यायिकर हुआ करती है। नारकिमात्रके शरीर क्रूर करुणापूर्ण बीभत्स और देखनेमें भयानक हुआ करते हैं। तथा अतिशयित दुःखोंके आयतन एवं अशुचि-अपवित्र होते हैं, और उनकी यह अशुभता नीचे नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती गई है।

नारकियोंके शरीरकी उँचाई इस प्रकार है—पहली रत्नप्रभामें नारकियोंके शरीरकी उँचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल। उससे आगेकी शर्कराप्रभा आदिक पृथिवियोंमें क्रमसे उसका प्रमाण दूना दूना समझना चाहिये। इसके उत्कृष्ट और जघन्यका प्रमाण स्थितिकी तरह समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार स्थितिके विषयमें यह कहा गया है, कि पहली पहली पृथिवीके नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति नीचे नीचेके नारकियोंकी जघन्य स्थिति हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। इस नियमके अनुसार पहले नरकके जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका जो प्रमाण बताया है, वही दुसरे नरकके जीवोंके शरीरकी अवगाहनाका जघन्य प्रमाण होता है। इसी प्रकार आगे आगेका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये। यहाँपर यह जाननेकी इच्छा हो सकती है, कि जब पहले पहले प्रतरों या भूमियोंके नारकियोंका उत्कृष्ट अवगाहन आगे आगे जघन्य हो जाता है, तो पहली भूमिके नारकियोंकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण क्या है? उत्तर—वह प्रमाण अङ्गुलके असंख्यातवें भाग समझना चाहिये। उत्तरवैक्रियका जघन्य प्रमाण अङ्गुलके संख्यातवें भाग है। तथा उत्कृष्ट प्रमाण १५ धनुष ३॥ अरत्ति है। यह भी दूना दनाके क्रमसे सातवें नरकमें एक हजार धनुष हो जाता है।

भाष्यम्—अशुभतरवेदनाः—अशुभतराश्च वेदना भवन्ति नरकेष्वधोऽधः। तद्यथा—उष्णवेदनास्तीव्रास्तीव्रतरास्तीव्रतमाश्चातृतीयाः। उष्णगीते चतुर्थ्याम् शीतोष्णे पञ्चम्याम्। परयोः शीर्ताः शीततराश्चेति। तद्यथा—। प्रथमगरत्काले चरमनिदाघे वा पित्तव्याधिप्रकोपाभिभूतशरीरस्य सर्वतो दीप्ताग्निराशिपरिवृतस्य व्यध्रे नभस्मिध्यान्हे निघातेऽतिरस्कृतातपस्य यादृगुष्णजं दुःखं भवति ततोऽनन्तगुणं प्रकृष्टं कष्टमुष्णवेदनेषु नरकेषु भवति। पौषमाघयोश्च तुषारलिप्तगात्रस्य रात्रौ हृदयकरचरणाधरौष्ठदशनायासिनि प्रतिसमयप्रवृद्धे शीतमारुते निरग्न्याश्रय प्राचरणस्य यादृक्कीतसमुद्भवं दुःख-

१—नारकियोंके शरीर दो प्रकारके माने हैं—एक भवधारक दूसरा उत्तरवैक्रिय। जो मूलमें धारण किया जाय, उसका भवधारक और जो विक्रियासे उत्पन्न हो, उसको उत्तरवैक्रिय कहते हैं। यहाँपर भवधारककी उँचाई बताई है। २—यह उँचाई उत्सेधाङ्गुलकी अपेक्षासे है। आठ जोका १ अंगुल, २४ अंगुलका १ हाथ, और ४ हाथका १ धनुष होता है। ३—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि—“उक्तमिदमतिदृग्गता भाष्यकारेणास्ति चेतत्, न तु मया कचिदागमे दृष्टं प्रतरादिभेदेन नारकाणां शरीरावगाहनमिति।” परन्तु इसपर अन्य विद्वानोंका लिखना है कि—आगमगण्डेनात्र सूत्रागमः, तेन वृत्त्यादिषु एतत्सत्त्वेऽपि न क्षतिः। उत्तरं तु पृथिवीवत् द्विगुणमिति स्पष्टमेव। ४—एष पाठः कचिदास्ति। ५—प्रथमायामुष्णवेदना द्वितीयायामुष्णवेदनाश्च तीव्रतरास्तीव्रतमाश्चातृतीयायामिति पाठोऽन्यत्र। ६—शीततराः शीततमाश्चेति एवं वा पाठः। ७—उष्णमिति च पाठः। ८—भिन्न इति वा पाठः।

मशुम भवति ततोऽनन्तगुण प्रकृष्ट कष्ट शीतवेदनेषु नरकेषु भवति । यत् किंलोष्णवेदनाक्षरकादु
त्क्षिप्य नारकं सुमहत्पद्मद्वाराशानुदीप्ते प्रक्षिप्येत स किल सुशीता मृदुमाकृत शीतला
छायामित्र प्राप्त सुखमनुपम विन्ध्याजिह्वा चोपलभेत एव कष्टतर नारकमुष्णमाचक्षते । तथा
किल यदि शीतवेदनाक्षरकादुत्क्षिप्य नारकं कश्चिदाकाशे माघमासे निशिप्रवाते मरति
तुषारराशो प्रक्षिप्येत स वन्तश्चोत्तमकरप्रकम्पयासकरेऽपि तत्र सुरा विन्ध्यादनुपमा निदां
चोपलभेत एव कष्टतर नारकं शीतदुःखमाचक्षत इति ।

अर्थ—नारकियोंकी अशुभतर वेदना ।—यह वेदना भी उक्त नरकोंमें जन्मधारण कर-
नेवाले नारकियोंकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती गई है । यह अशुभ वेदना पहलेसे दूसरेमें
और दूसरेसे तीसरेमें तथा इसी तरह आगेके भी नरकोंमें अधिक अधिक ही बढ़ती गई है । यह
वेदना दो प्रकारकी है, एक उष्ण दूसरी शीत । तीसरी भूमि तक उष्ण वेदना ही है, और
वह भी क्रमसे तीव्रतर और तीव्रतम होती गई है । चौथी पृथिवीमें उष्ण और शीत दोनों ही
प्रकारकी वेदना है । पाँचवीं भूमिमें शीत और उष्ण वेदना है । अन्तर्की नौ भूमियों—छट्टी
और सातवींमें क्रमसे शीत और शीततर वेदना है । अर्थात्—तीसरी भूमितक सब नारकी उष्ण
वेदनावाले ही हैं, किंतु चौथी भूमिमें उष्ण वेदनावाले अधिक हैं, और थोड़ेसे शीत वेदनावाले भी हैं ।
पाँचवीं पृथिवीमें शीत वेदनावाले अधिक और उष्ण वेदनावाले अल्प है । तथा अन्तर्की दोनों
भूमियोंमें शीत वेदनावाले ही हैं । इन भूमियोंमें जो उष्ण वेदना और शीत वेदना होती है, उसका
स्वरूप और प्रमाण बतानेके लिये कल्पना करके समझाते हैं ।—

प्रथम शरत्कालमें अथवा अन्तर्के निदाघ—ग्रीष्म कालमें जिसका कि शरीर पित्त व्याधि
के प्रकोपसे आक्रान्त हो गया हो, और चारों तरफ जलती हुई अग्नि राशिसे घिरा हुआ हो,
एव मेघ शून्य आकाशमें मघ्यान्हके समय जब कि वायुमा चलना बिलजुल बढ हो, कटी धूपसे
सतप्त हो रहा हो, उस जीवको उष्णताजन्य जैसा कुछ दुःख हो सकता है, उससे भी अनन्त
गुणा अधिक कष्ट उष्ण वेदनावाले नारकियोंको हुआ करता है । इसी प्रकार शीत वेदनाके
विषयमें समझ लेना चाहिये ।—पौष अथवा माघ महीनेमें जिसके कि शरीरसे तुषार—चर्क
चारों तरफ लिपटा हुआ हो, रात्रिके समय जब कि प्रति समय बढ़ती हुई ऐसी ठंडी हवा चल
रही हो, जिसके कि लगते ही हृदय हाथ पैर नीचे ऊपरके ओष्ठ और दाँत सब कंपने लगते हैं,
एव अग्नि मकान और कपड़े रहित मनुष्यके जैसा कुछ शीत वेदना सम्बन्धी अशुभ दुःख हो सकता
है, उसमें भी अनन्तगुणा अधिक कष्ट शीत वेदनावाले नारकियोंको हुआ करता है । यदि कदाचिन्
उष्ण वेदनावाले नरकमें किसी नारकीको उठाकर अच्छी तरह जलती हुई, जिसकी कि ज्वालाएँ चारों
तरफसे निरन्तर रही हों, ऐसी महान् अद्भार—राशिमें पटक दिया जाय, तो वह नारकी ऐसा समझेगा
कि, मैं एक शीतल त्वायामें आकर प्राप्त हो गया हूँ, अग्नि की ज्वालाओंको वह अत्यन्त ठंडी
हवाके मध्य मध्य झंकेरे समझेगा, और ऐसे अनुपम सुखका अनुभव करने लगेगा, कि उसे उसीमें

निद्रा आ जायगी । इस कल्पना द्वारा नारकियोंकी अति महान् उष्ण वेदनाका प्रमाण दिखाया है, जिससे यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि वहाँपर नारकियोंको उष्ण वेदनाका कष्ट कितना अधिक हुआ करता है । इसी प्रकार शीत वेदनाका प्रमाण भी कल्पनासे समझ लेना चाहिये ।—यदि कदाचित् किसी नारकीको शीत वेदनावाले नरकसे निकालकर माघ-महीनेमें रात्रिके समय जब कि ठंडी हवा चल रही हो, और महान् तुफान पड़ रहा हो, आकाशमें—आवरण रहित स्थानमें पटक दिया जाय, तो यद्यपि वह प्रसङ्ग ऐसा है, कि जब बत्तीसीका कटकट शब्द होने लगता है, और अच्छी तरहसे हाथ पैरोंके कॉपनेका दुःख होने लगता है, परन्तु वह नारकी उस प्रसङ्गमें भी महान् सुखका अनुभव करने लगेगा, यहाँतक कि उसे उसमें भी गाढ़ निद्रा आ जायगी । इस तरहसे शीत वेदनानन्य नरकोंका जो महान् दुःख बताया है, सो इस कल्पनासे समझमें आ सकता है ।

भाष्यम्—अशुभतरविक्रियाः । अशुभतराश्च विक्रिया नरकेषु नारकाणां भवन्ति । शुभं करिष्याम इत्यशुभतरमेव विकुर्वते । दुःखाभिभूतमनसश्च दुःखप्रतीकारं चिकीर्षवः गरीयस एव ते दुःखहेतून् विकुर्वत इति ॥

अर्थ—नारकियोंकी विक्रिया भी अशुभतर ही होती गई है । अर्थात् उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीव अपने शरीरको नाना आकारोंमें जो विपरिणत करते हैं, सो यह विक्रिया-विपरिणमन भी उनका उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ होता गया है । वे चाहते हैं, कि हम शुभ परिणमन करें—अपने शरीरको सुखद या शान्तिकर बना लें, परन्तु वह वैसा न बनकर अशुभरूप ही बन जाता है । जब उनका चित्त दुःखोंसे ग्रस्त होता है, तब वे उन दुःखोंके प्रतीकार करनेकी इच्छा करते हैं, परन्तु वैसा होता नहीं, वे उल्टे उन महान् दुःखोंके कारणोंको ही और उत्पन्न कर लेते हैं ।

भावार्थ—नारकियोंका भवधारक शरीर तो हुंडक संस्थानादिके कारण अशुभ होता ही है, परन्तु विक्रियाके द्वारा होनेवाला उत्तरवैक्रियशरीर भी अशुभतर ही हुआ करता है । क्योंकि उनके वैसे ही नामकर्मका उदय पाया जाता है, और वहाँके क्षेत्रका माहात्म्य भी इसी प्रकारका है ।

उक्त प्रकारके दुःखोंके सिवाय और भी दुःख नारकोंको हुआ करते हैं । उनमेंसे पारस्परिक दुःखको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—परस्परोदीरितानि दुःखानि नरकेषु नारकाणां भवन्ति । क्षेत्रस्वभावजनिता-च्चाशुभात्पुद्गलपरिणामादित्यर्थः ।

अर्थ—उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके आपसमें उदीरित दुःख भी हुआ करते हैं । वे नारकी आपसमें एक दूसरेको देखकर विभंगज्ञानके निमित्तसे विरुद्ध परिणामोंको

धारण करके क्रोध करते हैं, और एक दूसरेको मारण ताटन अभिघातादिके द्वारा दुःख दिया करते हैं । इसके सिवाय उस क्षेत्रमा स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर जो पुद्गलका परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है, सो उसके द्वारा भी उन नारकियोंको दुःख हुआ करता है ।

भावार्थ—नरकोंमें दो प्रकारके जीव पाये जाते हैं, एक मिथ्यादृष्टि जिनकी कि सत्त्वा बहुत अधिक है, और दूसरे सम्यग्दृष्टि जिनकी कि सत्त्वा अत्यल्प है । मिथ्यादृष्टियोंके मन-प्रत्ययविभग पाया जाता है, और सम्यग्दृष्टियोंके अवधिज्ञान रहा करता है । विभगके निमित्तसे विपरीत भाव उत्पन्न हुआ करते हैं । अतएव इस प्रकारके नारकी एक दूसरेपर क्रोधादि भाव धारण करके प्रहारादि करनेके लिये प्रयत्न किया करते हैं । जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे दूसरे पर क्रोध नहीं करते, और न दूसरोंके लिये दुःखोंकी उदीरण ही करते हैं । किंतु वे दूसरोंसे उदीरित दुःखोंको सहते हुए अपनी आयुकी पूर्णताकी अपेक्षा किया करते हैं, और अपने पूर्वजन्मके आचरणका विचार भी किया करते हैं ।

इस परम्परकी उदीरणान्तर्य दुःखके सिवाय उनके क्षेत्रस्वभावकृत भी दुःख होता है, इस बातको बतानेके लिये ही कहा है, कि वहाँके क्षेत्रमा स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर पुद्गल द्रव्यमा जो कुछ भी परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है । यद्यपि उपपातादि-कृत सुख भी वहाँपर माना है, किन्तु बहुतर दुःखके सामने वह इतना अल्प है, कि उसको नहीं सरीखा ही कहना चाहिये । दुःखकी विपुलताको देखकर यही कहना पड़ता है, कि नरकोंमें सुख रचमात्र भी नहीं है । अतएव वे नारकी क्षेत्र-स्वभावकृत दुःखको भी भोगते हैं । वह दुःख किम प्रकारका है, सो आगे बताते हैं —

भाष्यम्—तत्र क्षेत्रस्यमायजमितपुद्गलपरिणाम शीतोष्णभुत्पिपासादि । शीतोष्णो ध्यायते, भुत्पिपासे यक्ष्याम । अनुपरतपुष्केन्धनोपादानेनेचाग्निना तीक्ष्णेन प्रततेन धुत्पिपासा ददधमानशरीरा अनुसमयमाहरयन्ति ते सर्वे पुद्गलानप्यष्टुस्तीव्रया च मित्यानु पकया पिपासया शुष्ककण्ठीघृतालुजिह्वा सर्वाधिनापि पित्रेयुर्न च तृप्तिं समान्पुयुर्वधयाता मेव र्धया धुत्पुष्णे हत्येवमाग्निनि क्षेत्रप्रत्ययानि ॥

अर्थ—उक्त नरकोंमें क्षेत्र-स्वभावसे जो पुद्गलका परिणमन उत्पन्न होता है, वह शीत उष्णरूप अथवा क्षुधा पिपासा आदि रूप ही समस्तता चाहिये । इनमें से शीत और उष्ण परिणमनका स्वरूप ऊपर बना चुके हैं, क्षुधा और पिपासाका स्वरूप वहाँपर बताते हैं —

निरंतर—यकथान राहेत शुष्क ईधन निममें पट रहा हो, ऐसी अग्निसे समान अति महान् और प्रचण्ड क्षुधारूप अग्निसे जिनका शरीर अतिशयरूपसे जल रहा है, ऐसे वे

नारकी प्रतिक्षण भूखकी बावामे पीड़ित बने रहते हैं । उनकी भूख इतनी तीव्र हुआ करती है, कि वे सबके सब पुद्गल द्रव्योंको भी खा जायें तो भी क्षुधा शान्त न हो । इसी प्रकार निरन्तर बढ़ती हुई तीव्र पिपासाके द्वारा जिनका कण्ठ ओष्ठ तालु और जिह्वा सब सूख गये हैं, ऐसे वे नारकी अपनी उस तीव्र प्यासकी बदनके वश इतने व्यथित होते हैं, कि यदि उन्हें मित्र जाँय, तो सबके सब समुद्रोंको भी पी जाँय, और फिर भी तृप्ति न हो । उल्टी उनकी क्षुधा और पिपासा बढ़ती ही जाय । इसी तरह और भी क्षेत्ररूप कारणोंको समझ लेना चाहिये, जिनमें कि अशुभ पणिमन-भूमिकी रूझना दुर्गन्धि आदि हुआ करते हैं ।

क्षेत्रकृत दुःखको दिखाकर अब मूत्रके अर्थको स्पष्ट करते हैं—

भाष्यम्—परस्परोद्दीरितानि च । अपि चोक्तम् भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति । तन्ना-
रकेष्ववधिज्ञानमशुभभवहेतुकं मिथ्यादर्शनयोगाच्च विमङ्गलान् भवति । भावदोषोपघातानु-
तेषां दुःखकारणमेव भवति । तेन हि ते सर्वतः तिर्यग्ध्वमधश्च दूरत एवाजन्तं दुःखहेतुन्य-
व्यन्ति । यथा च काकोत्क्रमहिनकुलं चोत्पत्त्येव बद्धवैरं तथा परस्परं प्रति नारकाः । यथा
वाऽपूर्वाञ् शुनो दृष्ट्वा श्वानो निर्दयं क्रुध्यन्त्यन्योन्यं प्रहरन्ति च तथा तेषां नारकाणामवधि-
त्रिपयेण दूरत एवान्योन्यमालोक्य क्रोधस्तीव्रानुगयो जायते दुरन्तो भवहेतुकः । ततः प्रागेव
दुःखसमुद्घातार्ताः क्रोधान्यादीपितमनसोऽतर्किता इव श्वानः समुद्रता वैक्रियं भयानकं
रूपमास्थाय तत्रैव पृथिवीपरिणामजानि क्षेत्रानुभावजनितानि चायःशूलगिलामुसलमुद्गर-
कुंततोमरासिपट्टिगशक्त्ययोधनस्रङ्गयष्टिपरशुमिण्डिपालादीन्यायुधान्यादाय करचरणदंश-
नैश्चान्यान्त्यमभिघ्नन्ति । ततः परस्पराभिहता विकृताङ्गा निस्तनन्तो गाढेन्दनाः शूनाघातनप्र-
विष्टा इव महिषसूकरोरभ्राः स्फुरन्तो रुधिरकदमे चेषन्ते । इत्येवमादीनि परस्परोद्दीरितानि-
नारकेषु नारकाणां दुःखानि भवन्तीति ॥

अर्थ—नारक जीव परस्परमें उद्दीरित दुःखोंको भोगते हैं, यह बात उपर कही है ।
परन्तु इसका कारण क्या है, सो बताते हैं । पहले यह बात बता चुके हैं कि—“भवप्रत्ययो
ऽवधिर्नारकदेवानाम् ।” अर्थात् देव और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है । किन्तु
इनमेंसे नारकियोंके जो अवधिज्ञान होता है, वह अशुभ भवहेतुक ही हुआ करता है । क्योंकि
नारक भव अशुभ है और उसी निमित्तसे उसकी उत्पत्ति हुआ करती है । तथा
मिथ्यादर्शनका साहचर्य रहनेसे उसको अवधिज्ञान न कहकर विमङ्ग कहते
हैं । एवं स्वरूप दोषोंके उपघातमें वह विमङ्ग उन नारकियोंके लिये दुःख-
का ही कारण हुआ करता है । इस विमङ्गके द्वारा वे नारकी सब तरफ तिर्यक्—चारों दिशा-
ओंमें और ऊर्ध्व तथा अधः दूरमें ही निरन्तर दुःखोंके कारणोंको ही देखा करते हैं । जिस
प्रकार काक और उलूक—उल्लूमें जन्मसे ही वैर हुआ करता है, अथवा जिस तरह सर्प और
न्योला जातिस्वभावमें ही आपसमें बद्धवैर हुआ करते हैं, उसी प्रकार नारकियोंको भी आप-
समें समझना चाहिये । यद्वा जिस प्रकार कुत्ते दूसरे नये कुत्तोंको देखकर निर्दयताके साथ

आपसमें क्रोध करते और एक दूसरेके ऊपर प्रहार भी किया करते हैं, उसी प्रकार उन नार कियोंके भी अवधिज्ञान-विमर्गके द्वारा दूर ही से आपसको देखकर तीव्र परिणामरूप क्रोध उत्पन्न हुआ करता है, जो कि भवके निमित्तसे ही जन्य है, और जिसका कि फल अतिशय दुःखरूप है । उनके वह क्रोध उत्पन्न होता है, कि उसके पहले ही दुःखोंके समुद्रवातसे पीड़ित हुए वे अन्य नारकी जिनका कि मन क्रोधरूप अग्निसे प्रज्वलित हो रहा है, अतर्कित रूपसे-अस्मान् कुत्तोंकी तरह आ टूटते हैं, और अत्यन्त उद्धत हुए भयानक वैक्रिय रूपके धारण करके वहीँपर पृथिवी परिणामसे जन्य-पृथिवीरूप और क्षेत्रके माहात्म्यसे ही उत्पन्न हुए लोहमय शल शिला मुशाल मूँदर वर्ज्य तोमर तलवार दाल शक्ति लोहघन स्वर्ण-दुधारा छाठी फरशा तथा मिण्डपाल-गोफ अथवा बन्दूक आदि आयुधोंको लेकर अथवा हाथ पैर और दाँतोंसे आपसमें एक दूसरेके ऊपर आज्ञमण करते हैं, और एक दूसरेका हनन करते हैं । सदनन्तर इस परस्परके गतसे छिन्न भिन्न शरीर होकर महा पीडासे चिहाते हुए रुधिरकी वीचडमें लोटने आदिनी ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसी कि कसाईखाने-वधस्थानमें प्रविष्ट भैंसा सूकर या भेड़ आदि पशु किया करते हैं । इसी प्रकार और भी अनेक तरहके परस्पोदीरित दुःख नारकोंमें नारकियोंके हुआ करते हैं ।

भाषार्थ—विभङ्गके निमित्तसे जो दुःख होता है, वह मिथ्यादृष्टियोंको ही होता है, न कि सम्यग्दृष्टियोंको । क्योंकि उनका जो ज्ञान होता है, वह समीचीन होता है । अतएव वे उन ध्मुओंमें निरुद्धप्रत्यय करके दुःखका अनुभव नहीं किया करते ।

इस प्रकार परस्परके उदीरित दुःखोंको दिखाकर नारकियोंके एक विशेष प्रकारका और भी जो दुःख होता है उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संक्रिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्व्याः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—संक्रिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च नारका भवन्ति । तिसृषु भूमिषु प्राक् चतुर्व्याः । तद्यथा—अम्बाम्बरीपद्यामशवल्लक्ष्मिपद्मकालमहाकालास्यासिपत्रयनकुम्भीवालुकापितरणी परस्परमहाघोषा पद्मदश परमाधार्मिका मिथ्यादृष्टयः पूर्वज-मसु संक्रिष्टकर्माणः पापाभिर-स्य आसुरी गतिमनुप्राप्ता कमल्लक्ष्मिपद्म ताच्छील्यधारकाणां वेदना समुदीरयन्ति चित्रा मिरुपपत्तिभिः । तद्यथा—ततायोरसपायननिष्ठस्य स्तम्भालिङ्गनकट-तात्मल्यधारोपणाप्रत रणायोधनाभिधातवासीशुरतक्षणाक्षारततर्तलाभिषेचनाय-कुम्भपाकाभ्यरीपतजनयन्त्रपीट-पाय-शूलशलाकाभेदनकक्षपाटनाद्वारवेहनवाहनासूचीशङ्खलापकर्षण तथा सिंहव्याघ्र-घ्नीपिप्पलगात्रवृक्षकोकमाज्जरनकुलसपवायसमृद्धकाकोट्टकश्येनाविस्तापन तथा तप्तया लुकायतरणान्निपत्रयनप्रवेदनव्यतारणपरस्परयोधनाग्निभिरिति ॥

अर्थ—चौथी भूमिसे पहले—अथान् पहले दमरी और तीमरी भूमिसे नारकियोंके असुरोदीरित भी दुःख हुआ करता है । पूवनमें जिन्होंने अनि सकलेशम्प कर्म किये हैं,

और जिनकी पापकर्मके करनेमें अत्यंत अभिरुचि रही है, ऐसे जीव मरकर अमुरोदितको प्राप्त होते हैं। ये मिथ्यादृष्टि और परम अवार्मिक हुआ करते हैं। इनके पंद्रह भेद हैं—अम्ब अम्बरीष श्याम शबल रुद्र उपरुद्र काल महाकाल आसि आसिपत्रवन कुम्भी बालुका वैतरणी स्वर-स्वर और महाघोष। कर्म क्लेशसे उत्पन्न होनेवाले इन अम्बाम्बरीषादिक देवोंका स्वभाव भी संक्लेशरूप ही हुआ करता है। दूसरोंको दुःखी देखकर प्रसन्न हुआ करते हैं, और इसी लिये उन नारकियोंके भी वेदनाओंकी अच्छी तरहसे उद्दीरणा करते और कराया करते हैं—आपसमें उनको मिड़ाते हैं, और दुःखोंकी याद दिलाया करते हैं। इनकी उद्दीरणा करानेकी उपपत्ति नाना प्रकारकी हुआ करती है। यथा—तपा हुआ लेहेका रस पिलाना, संतप्त लेहेके स्तम्भोंसे आलिङ्गन कराना, मायामय—वैकिकिक शालमली वृक्षके ऊपर चढ़ाना, लेहमय घनोंकी चोटसे कूटना, वसूलेसे छीलना, रन्दा फेरकर क्षत करना, क्षार जल अथवा गरम तैलसे अभिषेक करना, अथवा उन घावोंके ऊपर क्षारजल या गरम तैल छिड़कना, लेहेके कुम्भमें डालकर पकाना, भाड़में या बालू आदिमें भूँजना, कोल्हू आदिमें पेलना, लेहेके शूल अथवा शलाका शरीरमें छेद देना, और उन शूलादिके द्वारा शरीरका भेदन करना, आरोंसे चीरना, जलती हुई अग्निमें अथवा अंगारोंमें जलाना, सवारीमें जोतकर चलना—हाकना तीक्ष्ण नुकीली घासके उपरसे घसीटना, इसी प्रकार सिंह व्याघ्र गेंडा कुत्ता गृगाल भेड़िया कोक मार्जार नकुल सर्प कौआ तथा भेरुण्ड पक्षी गीध काक उल्लू बाज आदि हिंस्र जीवोंके द्वारा भक्षण कराना, एवं संतप्त बालूमें चलाना, जिनके पत्ते तलवारके समान तीक्ष्ण हैं, ऐसे वृक्षोंके वनोंमें प्रवेश कराना, वैतरणी—खून पीव मल मूत्रादिकी नदीमें तैराना, और उन नारकियोंको आपसमें लड़ाना, इत्यादि अनेक प्रकारके उपायोंके द्वारा ये असुरकुमार तीसरी पृथिवीतकके नारकियोंको उद्दीरणा करके दुःखोंको भुगाया करते हैं।

भावार्थ—तीसरी भूमितकके नारकियोंको परस्परोदिरित दुःखके सिवाय अमुरोदिरित दुःख भी भोगना पड़ता है। चौथी आदि भूमिके नारकियोंको वह नहीं भोगना पड़ता, इसलिये वहाँपर पहली तीन भूमियोंके दुःखोंसे कुछ कम दुःख हो गया, ऐसा नहीं समझना चाहिये। वहाँपर अन्य दुःख इतने अधिक हैं, कि जिनके सामने उपरकी पृथिवियोंके दुःख अति अल्प मालूम पड़ते हैं। चौथी आदि भूमिमें असुरोदिरित दुःख क्यों नहीं है? तो इसका कारण यही है, कि वे तीसरी पृथिवीसे आगे गमन नहीं कर सकते—आगे जानेकी उनमें सामर्थ्य नहीं है। इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यानमें रख लेनी चाहिये, कि सभी असुरकुमार वहाँ जाकर दुःखोंकी उद्दीरणा नहीं कराया करते, किन्तु जिनके मानसिक परिणाम संक्षेपशुक्ल रहा करते हैं, ऐसे उपर्युक्त अंब अंबरीष आदि पंद्रह जातिके ही असुरकुमार वैसा किया करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं? इस बातको आगे स्पष्ट करते हैं:—

भाष्यम्—स्यादेतत्किमर्थं च एव कुर्वन्तीति, अत्रोच्यते—पापकर्माभिरतय इत्युक्तम् । तद्यथा—गोवृषभमहिषवराहमेपकुक्कुटवार्तकालाचकान्मुष्टिमहाश्च सुध्यमानान् परस्पर चाभिघ्नत पश्यता रागद्वेषाभिभूतानामकुशालानुबन्धिपुण्याना नराणा परा प्रीतिरुत्पद्यते । तथा तेपामसुराणा नारकास्तथा तानि कारयतामन्योन्य घ्नतश्च पश्यता परा प्रीतिरुत्पद्यते । ते हि द्रष्टुकन्दर्पोस्तथाभूतात् दृष्टादृष्टास्त मुञ्चन्ति चेलोक्षेपान्श्वडितास्फोटितावाह्लिते तल तालनिपातनाश्च कुर्वन्ति महतश्च सिंहनादाच्चदन्ति । तच्च तेपा सत्यपि देवत्वे सत्सु च कामिकेष्वन्येषु प्रीतिकारणेषु मायानिदानमिथ्यादर्शनगत्यतीव्रकषायोपहतस्यानालोचित भावदोषस्याप्रत्यवमर्पस्याकुशालानुबन्धि पुण्यकर्मणो बालतपस्तश्च भावदोषानुकर्षिण फल यत्सत्स्वप्न्येषु प्रीतिहेतुष्वनुभा एव प्रीतिहेतव समुत्पद्यन्ते ॥

अर्थ—असुरोदीरित दुःखके विषयमें यह प्रश्न हो सकता है, कि वे ऐसा क्यों करते हैं ? नारकियोंके भिड़नेमें और उनके दुःखकी उद्दीरणा करानेमें असुरकुमार देवोंका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है, कि जिसके लिये वे अपने स्थानको छोड़कर नरक—भूमियोंमें जाते हैं, और वहाँ जाकर उक्त प्रकारके कार्य करते हैं ? उत्तर—यह बात ऊपर ही कही जा चुकी है, कि इन देवोंकी रुचि पापकर्ममें ही हुआ करती है । हाँ ! यह रुचि किस प्रकारसे होती है, सो बताते हैं—लोकमें देखा जाता है, कि गौ बैल बैसा शूकर मेंढा मुर्गा बतर तीतर आदि जानवरोंको अथवा मुष्टिमल्ल—आपसमें घूँसा मार मारकर लड़नेवाले घोड़ाओंको परस्परमें लड़ता हुआ और एकके ऊपर दूसरेको प्रहार करता हुआ देखकर, ओ राग द्वेषके वशीभूत हैं, और अकुशालानुबन्धि पुण्यके धारण करनेवाले हैं, उन मनुष्योंको बड़ा आनन्द आता है । इसी प्रकार असुरकुमारोंके विषयमें समझना चाहिये । उनको भी नारकियोंको बैसा करते हुए देखकर अथवा नारकियोंसे बैसा करानेमें और आपसमें उनको लड़ता तथा प्रहार करता हुआ देखकर अत्यन्त खुशी होती है । सक्लेशरूप परिणामोंको अथवा द्रष्टु भावोंको धारण करनेवाले वे असुरकुमार उन नारकियोंको बैसा करता हुआ देखकर खुशिके मोरे अदृष्टास करते हैं, कपड़े उड़ाते हैं—कपड़े हट जानेसे नम हो जाते हैं, लेटपोट हो जाते हैं, और तालियाँ बजाते हैं, तथा बड़े जोर जोर से सिंहनाद भी किया करते हैं ।

ये असुरकुमार यद्यपि गतिकी अपेक्षा देव हे, और इसीलिये इनके अन्य देवोंके समान मनोज्ञ विषय भी मौजूद है । जैसे कि दूसरे देवोंके मनको हरण करनेवाले भोग और उपभोग रहा करते हैं, वैसे ही इनके भी रहते हैं । परन्तु फिर भी इनको उन विषयोंमें इतनी आभिरुचि नहीं हुआ करती, जितनी कि उक्त अशुभ कार्योंको देखकर हुआ करती है । इसके अनेक कारण है—सबसे पहली बात तो यह है, कि इनके माया मिथ्या और निदान ये तीनों ही शल्य पाये जाते हैं । तथा शल्योंके साथ साथ तीव्र कषायका उदय भी रहा करता है । दूसरी बात यह है, कि इनके जो भावोंमें दोष लगते हैं, उनकी आलोचना नहीं करते, और न इन्होंने पूर्वजन्ममें वैसा किया है । पहले भग्नमें जो आसुरी—गतिका बन्ध किया है, वह आलोचना

रहित भाव—दोषोंके कारण ही किया है। तीसरी बात यह है, कि ये विचारशील नहीं होते, इनको इतना विवेक नहीं होता, कि यह अशुभ कार्य है, इसमें सहयोग देना या इसमें प्रसन्नता प्रकट करना अथवा इनको देखकर हर्षित होना भी अशुभ ही है। वे इस बातपर कभी विचार ही नहीं करते। चौथी बात यह है, कि जिस पुण्य-कर्मका इन्होंने पूर्वजन्ममें बन्ध किया है, वह अकुशलतानुबन्धी है। वह पुण्यरूपमें अपना फल नहीं दिया करता। उसके उदयसे ऐसा ही फल प्राप्त होता है, कि जो जीवको अशुभताकी ही तरफ ले जाय। पाँचवीं बात यह है, कि जिसके प्रसादसे इन्होंने आसुरीगतिको प्राप्त किया है, वह भाव—दोषोंका अनुकर्षण करनेवाला बाल्यतप या, जिसमें कि भावदोषोंका संभव रहा करता है, ऐसा मिथ्यादृष्टियोंका तप कुशलानुबन्धी नहीं हो सकता। उससे ऐसे विशिष्ट पुण्यका बन्ध नहीं हो सकता, जोकि उदयको प्राप्त होकर जीवको अशुभ क्रियाओंसे निवृत्त और शुभ क्रियाओंकी तरफ प्रवृत्त करानेवाले शुभ-मार्गमें लगा दे। ये ही सब कारण हैं, कि जिनके फलस्वरूप प्रीतिके लिये अन्य मनोज्ञ विषय सामग्रीके रहते हुए भी अशुभ विषय ही प्रीतिके कारण हुआ करते हैं।

भावार्थ—उपर्युक्त पंद्रह प्रकारके असुरकुमार नारकियोंको दुःखोंकी उदीरणा क्यों कराते हैं ? इसके उत्तरमें पाँच कारणोंका ऊपर निर्देश किया गया है। इससे यह बात मालूम हो जाती है, कि उनका पूर्ववद्ध कर्म और तदनुसार उनका स्वभाव ही ऐसा होता है, कि जिससे दूसरोंको लड़ता हुआ या मरता पिटा दुःखी होता हुआ देखकर उन्हें आनन्द आता है। यह बात असुरोदीरित दुःखोंके सम्बन्धको लेकर कही गई है। किंतु नारकियोंके उपर्युक्त दुःखोंकी भयंकरतापर विचार करनेसे यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि इतने अधिक दुःखोंको वे सहन कैसे कर सकते हैं ? यन्त्रपीडनादि सरीखे दुःखोंसे उनका शरीर विशीर्ण क्यों नहीं हो जाता ? और यदि हो जाता है, तो शरीरके विशीर्ण होनेपर उनकी मृत्यु क्यों नहीं हो जाती ? इत्यादि। इसका उत्तर स्पष्ट करनेके लिये आगे भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—इत्येवमप्रीतिकरं निरन्तरं सुतीव्रं दुःखमनुभवतां मरणमेव काङ्क्षतां तेषां न विपत्तिरकाले विद्यते कर्मभिर्धारितायुषाम् । उक्तं हि—“ औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ” इति । नैव तत्र शरणं विद्यते नाप्यपक्रमणम् । ततः कर्मवशादेव दग्धपाटितभिन्नच्छिन्नक्षतानि च तेषांसद्य एव संरोहन्ति शरीराणि दण्डराजिरिवाम्भसि इति ॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार अनेक प्रकारके अति तीव्र अमनोज्ञ दुःखोंको निरन्तर भोगते हुए भी उन नारकियोंका असमयमें मरण नहीं हुआ करता। वे इन दुःखोंसे घबड़ाकर मरना चाहते हैं, फिर भी उन्होंने जो आयुर्कर्म बाँधा है, उसकी स्थिति जबतक पूर्ण नहीं होती, तबतक उनका मरण नहीं हो सकता, यह बात पहले भी कह चुके हैं, कि—“ औपपा-

तिकचरमदेहोत्तमपुरपासह्येवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ अर्थात् औपपातिकजन्मवाले-देव और नारकी चरमशरीरी उत्तम देहके धारक तथा असंरयातवर्षकी आयुवाले जीवोंकी आयुका अपवर्तन नहीं हुआ करता । उन नारकियोंके लिये नरकोंमें कोई भी शरण नहीं होता, और न उनकी आयुका अपक्रम ही हो सकता है । अतएव आयुपर्यन्त उनकी उक्त दुःखोंको निरन्तर भोगना ही पड़ता है । अवश्यमोग्य-कर्मके वशमें पड़कर वे उक्त दुःखोंको भोगते हैं, और उस कर्मके ही निमित्तसे उनका शरीर यन्त्र पीड़नादि दुःखों या उपघातोंसे विशेष होकर भी-जलाया गया उपाग गया विदीर्ण किया गया, छेदा गया और क्षत विक्षत किया गया, भी तत्काल फिर जैसेका तैसा हो जाता है । जैसे कि जलमें लकड़ीसे यदि लोही की जाय, तो जल छित होकर भी तत्काल ज्याका त्यों मिल जाता है, उसी प्रकार नारकियोंका शरीर समझना चाहिये । वह भी छित भित होकर तत्काल अपने आप जुड़ जाता है ।

भाष्यम्—एवमेतानि त्रिविधानि बु खानि नरकेषु नारकाणां भवन्तीति ॥

अर्थ—उपर लिखे अनुसार नरकोंमें जन्म ग्रहण करनेवाले नारकियोंको उपर्युक्त तीन प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं ।—परस्परोदीरित, सेत्रस्वभावोत्पन्न और असुरोदीरित ।

भाषार्थ—यहाँपर नारकियोंके तीन दुःख जो बताये हैं, सो सामान्य अपेक्षासे हैं । अनएव उसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही घटित कर लेना चाहिये, कि इन तीन प्रकारके दुःखों मेंसे दो प्रकारके दुःख तो सभी नारकियोंके हुआ करते हैं, किन्तु असुरोदीरित दुःख पहली दूमरी और तीसरी श्रेणियोंके ही नारकियोंके हुआ करते हैं ।

उपर यह बात ठीकी जा चुकी है, कि नारक अनपवर्त्यायुष्य हैं, अतएव दुःखोंसे आज्ञान्त होकर अममयमें मरनेकी इच्छा रखते हुए भी नवतरु आयु पूर्ण न हो, मर नहीं सकते । इसपरसे नारकियोंके आयु-प्रमाणको जाननेकी इच्छा हो सकती है । अतएव ग्रन्थकार सानों ही नरकोंके नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण बनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रम्—तेष्वेकत्रिमसदशसप्तदशद्व्यविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वाना परास्थिति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तेषु नरकेषु नारकाणां परा स्थितया भजन्ति । तद्यथा-रत्नप्रमायामेकं सागरोपमम् । एतं त्रिसागरोपमा सप्तसागरोपमा दशसागरोपमा सप्तदशसागरोपमा द्वाविंशतिसागरोपमा त्र्यविंशतिसागरोपमा । जघन्या तु पुरस्ताद्भज्यते ।—“नारकाणां च द्वितीया दिवः ।”—‘एतादृशमन्त्राणि प्रथमायामिति’ । ”

अर्थ—उन सत्त्वानों में जिनमें रहनेवाले अगस्त्य-धाम-धारण करनेवाले नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिये ।—पहली रत्नप्रमा भूमिमें एक

सागर, दूसरी शर्कराप्रभा में तीन सागर, तीसरी बालुकाप्रभा में सात सागर, चौथी पंकप्रभा में दश सागर, पाँचवीं धूमप्रभा में सत्रह सागर, छठी तमःप्रभा में बाढ़म सागर, और सातवीं महा-तमःप्रभा में तेतीस सागर । इन नारकियोंकी आयुका जघन्य प्रमाण आगे चलकर लिखेंगे, कि “ नारकाणां च द्वितीयदिपु ” और “ दशवर्ष सहस्राणि प्रथमायाम् । ” अर्थात् नारकियोंकी जघन्य आयुका प्रमाण पहले पहले नरकोंकी उत्कृष्ट आयुकी बराबर समझना चाहिये । पहले नरककी आयुका जो उत्कृष्ट प्रमाण है, वह दूसरे नरकमें जघन्य हो जाता है, और दूसरेका जो उत्कृष्ट है, वह तीसरेमें जघन्य हो जाता है । इसी तरह सातवें तक क्रमसे समझ लेना चाहिये । यह क्रम दूसरेसे लेकर सातवें तक हो सकता है, अतएव पहले नरककी आयुका जघन्य प्रमाण दश हजार वर्ष मात्र है । इसका खुदासा आगे चलकर और भी करेंगे ।

यह नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी आयुका प्रमाण बताया, किंतु इतनी इतनी आयु लेकर उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेकी योग्यता रखनेवाले जीव कौन कौनसे हैं—अर्थात् किस किस जातिके जीव ज्यादासे ज्यादा किस किस नरक तक जा सकते हैं, यह बताना भी आवश्यक है, अतएव भाष्यकार इसको स्पष्ट करते हैंः—

भाष्यम्—तत्रास्त्रैर्वैर्यथोक्तैर्नारकसंवर्तनीयेः कर्मभिरसंज्ञिनः प्रथमायासुत्पद्यन्ते । सरी-सृपा द्वयोरादितः प्रथमद्वितीययोः । एवं पक्षिणस्तिसृषु । सिंहाश्चतसृषु । उरगाः पञ्चसु । स्त्रियः षट्सु । मत्स्यमनुष्याः सप्तस्त्विति । न तु देवा नारका वा नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । नहि तेषां बह्मरश्मपरिग्रहादयो नरकगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति । नाप्युद्धृत्य नारका देवेषूप-द्यन्ते । न ह्येषां सरागसंयमादयो देवगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति । उद्धर्तितास्तु तिर्यग्योनौ मनुष्येषु वोत्पद्यन्ते । मानुषत्वं प्राप्य केचित् तीर्थकरत्वमपि प्राप्नुयुरादितस्तिसृभ्यः निर्वाणं चतसृभ्यः संयमं पञ्चभ्यः संयमासंयमं षड्भ्यः सम्यग्दर्शनं सप्तभ्योऽपीति ॥

अर्थ—कर्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं । कर्मभेदके अनुसार आस्रव भी भिन्न भिन्न ही हैं । क्योंकि जहाँ कार्यभेद है वहाँ कारणभेद भी होना ही चाहिये । किन किन आस्रवोंसे कौन कौनसे कर्मका बन्ध होता है, यह बात शास्त्रोंमें बताई है । उनमेंसे जिनके द्वारा नारक-पर्यायको उत्पन्न करनेवाले कर्मका बन्ध हुआ करता है, ऐसे आगमोक्त आस्रवोंके निमित्तसे बन्धे हुए कर्मोंके द्वारा जीव नरक—पर्यायको धारण किया करता है । किन्तु सब जीवोंमें एकसी योग्यता शक्ति नहीं हुआ करती । फलतः योग्यताकी तरतमताके अनुसार जीवोंके आस्रव परिणाम और उससे होनेवाले कर्मबन्ध भी तरतमरूपसे भिन्न भिन्न ही हुआ करते हैं । अतएव किस किस प्रकारके जीवमें कहाँ कहाँ तक—कौनसे कौनसे नरक तक लेजानेवाले कर्मको बाँधनेकी योग्यता है, यह जान लेना भी जरूरी है । वह इस प्रकार है कि—जो असंज्ञी—मन रहित पंचेन्द्रिय जीव है, वे पहली पृथिवी तक ही जा सकते हैं । इसी प्रकार सरीसृप—सर्पविशेष पहली और दूसरी भूमि तक जा सकते हैं । इसी तरह आगेके लिये

समझना चाहिये । अर्थात्—पक्षी आदिकी तीन भूमियों तक, सिंह आदिकी चार भूमियों तक, विषधर सर्प आदिकी पाँच भूमियोंमें, श्रियाँ आदिकी छह भूमियोंमें, और मनुष्य तथा मत्स्य सातों ही भूमियोंमें जा सकते हैं । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि कोई भी देव अथवा नारकी मरकर नरकमें जन्म-धारण नहीं कर सकता । यद्यपि उनके आरम्भ और परिग्रहकी विपुलता अति तीव्र पाई जाती है, फिर भी वह ऐसी नहीं हुआ करती, कि जो नरकगतिजो निष्पन्न कर सके । इसी तरह कोई भी नारकी मरकर देवपर्यायमें भी जन्म-धारण नहीं कर सकता । क्योंकि जो देवगतिजो निष्पन्न कर सकते हैं, वे सारा सयमाधिक हेतु नारक—जीवोंके नहीं रहा करते । नारक—जीव मरनेके अनन्तर नरकसे निःशुद्ध तिर्यग्योनि अथवा मनुष्य गतिमें ही जन्म ग्रहण कर सकता है, अन्यमें नहीं । नरकसे निःशुद्ध जो जीव मनुष्य पर्यायजो धारण किया करते हैं, उनमेंसे कोई कोई जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं । परन्तु आग्नि की तीन भूमियोंसे निकले हुए ही जीव तीर्थंकर हो सकते हैं । आदिकी चार भूमियोंसे निकले हुए जीव मनुष्य होकर मोक्षजो भी जा सकते हैं । आदिकी पाँच भूमियोंके जीव मरनेके अनन्तर मनुष्य होकर सयमजो धारण कर सकते हैं । उह भूमियोंके निकले हुए मनुष्य होकर सयमासयम—देशव्रतजो धारण कर सकते हैं, और सातवीं भूमि तकके निःशुद्ध हुए जीव सय्य भ्रक्षनजो धारण कर सकते हैं ।

इस प्रकार नरककी गति आगनिजी विशेषता बताई है । इससे सिद्ध नरक पृथिव्याक सतिवेश—रचना आदिमें भी जो विशेषता है, वह इस प्रकार है कि—

भाष्यम्—ह्रीपसमुद्रपर्यंत हृदयतटागसरासि धामनगरपत्तनादयो विनिवेशा बादरो घन स्फटिकायो वृक्षतृणगुल्मादि ह्रीन्दिन्द्रियादयस्तिर्यग्योनिजा मनुष्या देवाश्चतुर्निपाया अपि न सन्ति अन्यत्र समुद्रघातोपपातविश्रयासाद्रुतिकनरकपालेभ्यः । उपपातस्तु देवा रत्न प्रभायामिव सन्ति नान्यास्तु, गतिस्तृतीयं याचत ॥

अर्थ—ह्रीप समुद्र पर्यंत बड़े बड़े हृत् तटाग और छोटे छोटे मरीचर इन सबकी रचना नरक-भूमियोंमें नहीं है । इसी प्रकार वहाँपर बादर वनस्पतिकाय और वृक्ष तृण—पात आदि और गुल्म—छोटे छोट पौधे ह्रीन्दिन्द्रिय आग्नि तिर्यग्जीव और मनुष्य तथा तारों ही निरायणों के भी नहीं रहा करते । किन्तु समुद्रघात उपपात विश्रया साद्रुतिकनरकपालोंके उभरे गए निवेश नहीं है । उपपातकी अपेक्षामें देव रत्नप्रभायों ही रहा करते हैं, और भूमियोंमें नहीं । देवोंकी गति तीसरी भूमि तक हुआ करती है ।

भारार्थ—ह्रीप उपपात—रत्न पाली भूमि रत्नप्रभायों ही होता है, अन्य भूमियोंमें नहीं, अन्य उपपातकी अपेक्षामें देव पाली भूमि ही रहा करते हैं, अन्य भूमियोंमें नहीं रहे । ह्रीप समुद्र अग्नि जो निवेश है, मो भी दूसरी अग्नि पृथिवियोंके विषय ही समझना न कि पदार्थ पृथिवीके विषयमें । क्योंकि रत्नप्रभायों उपर इन सबका सन्निवेश पाया जाता है ।

साधारण नियमके अनुसार कोई भी मनुष्य नरकभूमियोंमें नहीं जा सकता, और न पाया जा सकता है। किन्तु समुद्रघातकी अवस्थामें मनुष्यका अस्तित्व वहाँपर कहा जा सकता है। समुद्रघातगतसे मतलब केवलियोंका है। इसी प्रकार उपपात—नारकी और विक्रियालठिसे युक्त जीव तथा साङ्गतिक—पूर्वजन्मके स्नेही मित्र आदि एवं नरकपाल—महान् अधार्मिक—उपर्युक्त असुरकुमार इतने जीव क्वचित् कदाचित् नरकभूमियोंमें सम्भव माने जा सकते हैं।

प्रसङ्गानुसार लोकके विषयमें कुछ उल्लेख करते हैं—

भाष्यम्—यच्च वायव आपो धारयन्ति न च विस्वग्गच्छन्त्यापश्च पृथिवीं धारयन्ति न च प्रस्पन्दन्ते पृथिव्यश्चाप्सु विलयं न गच्छन्ति तत्तस्यानादिपारिणामिकस्य नित्यसन्त-
तैर्लोकविनिवेशस्य लोकस्थितिरेव हेतुर्भवति ॥

अर्थ—वायुने जलको धारण कर रक्खा है, जिससे कि वह जल कहीं भी इधर उधर को गमन नहीं करता, जलने पृथिवीको धारण कर रक्खा है, जिससे वह जल भी स्पन्दन नहीं करता—किधरको भी वहता नहीं है, और न वह पृथिवी ही उस जलमें गलती है। यह लोक-विनिवेशका अनादि पारिणामिक स्वभाव ही है, कि नित्यरूपसे इसकी ऐसी ही सन्तति चली आ रही है। ऐसा होनेमें भी लोककी स्थिति—अवस्थान ही कारण है और दूसरा कुछ नहीं।

भावार्थ—लोकका विनिवेश इस प्रकार है—पृथिवीको काठनीभूत जलने धारण कर रक्खा है, जलको घनवातवलयने और घनवातवलयको तनुवातवलयने धारण कर रक्खा है। तनुवातवलयके लिये कोई आधार नहीं है, वह आत्मप्रतिष्ठ है—अपने ही आधार पर है, केवल आकाशमें ठहरा हुआ है। इस विषयमें यह बात विशेष है, कि इनकी रचना अथवा आधाराधेय भाव इस प्रकारसे परस्परमे सन्निविष्ट है, कि जलके ऊपर हमेशा रहकर भी पृथिवी गलती नहीं है, और न वह जल ही इधर उधरको वहता है। इसी प्रकार जिस वायुने जलको धारण कर रक्खा है, वह वायु भी किधरको ही नहीं वहती, और न वह जल ही वहता है। यह लोकका सन्निवेश अनादि है। और यह अनादिता द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे

१—‘ इमा णं भन्ते । रयणप्पभा पुड्वी किं सामता असासता ? गोयमा ! सिय सासया सिय असासया । से केण्ठेण भन्ते । एवं वुब्वइ ? गोयमा ? दव्वट्टयाए सासया, वणपज्जवेहिं गन्धपज्जवेहिं, रसपज्जवेहिं, फासपज्जवेहिं, असासया, से एतेण अट्ठेण गोयमा ! एवं वुब्वइ ’ ।

छाया—इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथ्वी किं शाश्वती अशाश्वती ? गौतम ! स्यात् शाश्वती स्यात् अशाश्वती । तत् केनार्थेन भदन्त एवमुच्यते ? गौतम ! द्रव्यार्थतया शाश्वती वर्णपर्यवैर्गन्धपर्यवै रसपर्यवै स्पर्शपर्यवैरशाश्वती, तदेतेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते ॥

अर्थ—हे भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी शाश्वती—नित्य है अथवा अशाश्वती—अनित्य ? गौतम ! कथंचित् नित्य है, और कथंचित् अनित्य । हे भदन्त ! ऐसा किस अपेक्षासे कहा जाता है ? गौतम ! द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य है, और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा—वर्णपर्याय गन्धपर्याय रसपर्याय और स्पर्शपर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। अतएव उसको नित्य और अनित्य दोनों प्रकारका कहा जाता है ।

है । क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे लोक सादि भी है । अतएव आगममें इसको कथंचित् अनादि और कथंचित् सादि ही बताया है । तथा ऐसा सन्निवेश होनेमें सिवाय स्वभावके और कोई कारण नहीं है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता “लोकाकाशेऽवगाहः” “तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात्” इति । तत्र लोकः कः कतिविधो वा किं सस्थितो वेति ? अत्रोच्यते —

अर्थ—प्रश्न—आपने कहा है कि “लोकाकाशेऽवगाहः” अर्थात् जीवानीगति कि जो द्रव्य हैं, उन समस्त लोकाकाशमें ही अवगाह है, और यह भी कहा है कि “तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात्” । अर्थात् सम्पूर्ण कर्म और शरीरसे छूटनेपर यह जीव लोकके अन्ततक ऊर्ध्व-गमन करता है । इस तरह आपने लोक शब्द का कई बार उल्लेख किया है । अतएव इस विषयमें यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि वह लोक क्या है ? आर वह किनने प्रकारका है ? तथा किम प्रकारसे स्थित है ? उत्तर ।—

भाष्यम्—पञ्चास्तिकाय समुदायो लोकः । तेषां अस्तिकाया स्वतत्त्वतो विधानतो लक्षणं तथोक्ता वक्ष्यन्ते च । स लोकः क्षेत्रविभागेन त्रिविधोऽधस्तिर्यग्ध्वं चेति । धर्माधमास्तिकायां लोकव्यवस्थाहेतुः । तयोर्वगाहविशेषालोकानुभावनियमात् सुप्रतिष्ठक यन्त्राकृतिलोकः । अधोलोको गोकन्धराधराधराकृतिः । उक्तं हेतुत्वं—भूमयः सप्ताधोऽधः पृथुतराच्छत्रातिच्छत्रसंस्थिता इति । ता यथोक्ता । तिर्यग्लोको ब्रह्मयाकृतिः, ऊर्ध्वलोको मृद्वङ्गाकृतिरिति । तत्र तिर्यग्लोकप्रसिद्धार्थमिवमाकृतिमात्रमुच्यते ॥

अर्थ—पाँच अस्तिकायके समूहको लोक कहते हैं । जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं । इनका कुछ वर्णन तो स्वतत्त्वकी अपेक्षासे तथा विधान और लक्षणकी अपेक्षासे पहले भी कर चुके हैं, बाकी और वर्णन आगे चटकर भी करेंगे ।

क्षेत्र—विभागकी अपेक्षा लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक । लोककी व्यवस्थाके कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय हैं । इन दोनोंके अवगाह विशेषमें लोककी व्यवस्था बनी हुई है । क्योंकि जितने आकाशमें ये दोनों द्रव्य अवगाहनसे जिस तरह अभिहित हैं, उसी प्रकारसे उस अवगाहने अनुसार ही लोक भी सन्निवेश बना हुआ है । अथवा लोगानुभावके अनुसार सुसिद्ध नियमोंमें ही उमका पैसा पैसा सन्निवेश बना हुआ है ।

अर्थान्—लोकमन्येयशरीर मर्यादा धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य निमित्तसे है । यदि ये दोनों द्रव्य न हों, तो चाहे जीवनसा द्रव्य चाहे जहाँतक जा सकना और चाहे जहाँ उतर सकता

१—अध्याय ५ सूत्र १२ । २—अध्याय १० सूत्र ५ । ३—वेदहेतु इति च पाठ । ४—नैवमरा धार्मिक । ५—आकाशविशेषः कथ्यते । ६—दिग्दशः सप्तम्यमे वाच्यं भी मुख्य इत्य मन्ता दे और इसी में उल्लेख है । इसीके कारणसे यह मन्ता है । ७—अत्र विधादि शब्दोंके बन्धने तथा मन्ता मुख्य अति भेद भवति मन्त और ‘मन्तातो ए मन्त’ की व्याख्या है । ८—लोकके अध्यायमे ।

है। क्योंकि गमन करनेमें कारण धर्म द्रव्य और स्थितिमें सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है। जब ये दोनों कारण ही न रहेंगे, तो द्रव्योंके गमन और अवस्थानकी मर्यादा भी कैसे रह सकती है, कि अमुक स्थान तक ही द्रव्योंका गमन और अवस्थान हो सकता है आगे नहीं। अतएव जब कि लोककी मर्यादा सिद्ध है, तो उसका कारण भी प्रसिद्ध होना चाहिये, इसी लिये यहाँपर उस मर्यादाका कारण धर्म और अधर्म द्रव्यको बताया है कि जहाँतक ये द्रव्य हैं, वहाँतक अन्य द्रव्योंका गमन और अवस्थान हो सकता है और इसीसे लोकसन्निवेशकी मर्यादा भी बनी हुई है। परन्तु लोकका सन्निवेश ऐसा क्यों है? इसका उत्तर तो स्वभाव ही हो सकता है। अनादि पारिणामिक स्वभाव ही ऐसा है, कि जिसके निमित्तसे लोकका आकार सुप्रतिष्ठक अथवा वज्रके आकारमें बना हुआ है^१। और उसीसे वह प्रदेशोंकी हानि वृद्धिरूप कहीं महान है और कहीं पतला है। क्योंकि यह पारिणामिक स्वभाव अनेक विचित्र शक्तियोंको धारण करनेवाला है।

क्षेत्र—विभागसे लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक यह बात ऊपर लिख चुके हैं। इनमेंसे अधोलोकका आकार आधी गोकन्धराके समान है। नीचेकी तरफ विशाल—चौड़ी और ऊपरकी तरफ क्रमसे संक्षिप्त। इसी बातको पहले भी बताया चुके हैं, कि नीचे नीचे जो सात भूमियाँ अवस्थित हैं, उनका आकार नीचे नीचेकी तरफको अधिकाधिक चौड़ा छत्रातिच्छत्रकी तरह होता गया है। अधोलोकका अथवा नीचेकी सातों भूमियोंका यह आकार है। तिर्यग्लोक—मध्यलोकका आकार ब्रालरके समान है, और ऊर्ध्वलोककी आकृति मृदङ्गके समान है। यह तीनों विभागोंका भिन्न भिन्न आकार है। सम्पूर्ण लोकका आकार वज्रके समान अथवा दोनों पैरोंको चौड़ाकर और कमरपर दोनों हाथोंको रखकर खड़े हुए पुरुषके समान है।

लोकके तीन भागोंमेंसे अधोलोकका वर्णन इसी अध्यायके प्रारम्भमें किया जा चुका है। ऊर्ध्वलोकका वर्णन आगे चौथे अध्यायमें करेंगे। यहाँ क्रमानुसार तिर्यग्लोकका स्वरूप बतानेके लिये संक्षेपमें वर्णन करते हैं।—

सूत्र—जम्बूद्वीपलवणादयःशुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जम्बूद्वीपादयोद्वीपा लवणादयश्च समुद्राः शुभनामान इति। यावन्ति लोके शुभानि नामानि तन्नामान इत्यर्थः। शुभान्येव वा नामान्येषामिति ते शुभनामानः। द्वीपाद-

१—एक यन्त्रविशेष होता है। २—इन्द्रके हाथमें रहनेवाले उसके आयुवका नाम है। ३—इन्हीं आचार्योंने लोकका आकार प्रगम० गा० २१०-२११ में इस प्रकार लिखा है—जीवाजीवौ द्रव्यमिति पद्विविधं भवति लोकपुरुषोऽयम्। वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्म ॥ तत्राधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकम्। स्थालमिव तिर्यग्लोकम् ऊर्ध्वमथमल्लकसमुद्रम् ॥ ४—जिनको विस्तारसे जानना हो, उन्हें द्वीपसागरप्रज्ञप्ति अथवा त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदि देखना चाहिये।

नन्तर समुद्रः समुद्रादनन्तरो द्वीपो यथासरयम् । तद्यथा जम्बूद्वीपो द्वीपः लवणोदः समुद्रः घातकीखण्डो द्वीपः कालोदः समुद्रः पुष्करवरो द्वीपः पुष्करोदः समुद्रः वरुणवरो द्वीपः धरुणोदः समुद्रः क्षीरवरो द्वीपः क्षीरोदः समुद्रो घृतवरो द्वीपः घृतोदः समुद्रः इक्षुवरो द्वीपः इक्षुवरोदः समुद्रः नन्दीश्वरो द्वीपः नन्दीश्वरवरोदः समुद्रः अरुणवरो द्वीपः अरुणवरोदः समुद्रः इत्येवमसंख्येया द्वीपसमुद्राः स्वयम्भूरमणपर्यन्ता वेदितव्या इति ॥

अर्थ—जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र तिर्यग्योक्तं असंख्यात हैं । इन सबके नाम अति शुभ हैं । लोकमें जितने भी शुभ नाम हैं, वे सब इन द्वीप और समुद्रोंके पाये जाते हैं । अथवा इनके जो नाम हैं, वे सब शुभ ही हैं, इनमेंसे अशुभ नाम किसीका भी है ही नहीं । इन द्वीप समुद्रोंका सन्निवेश किस प्रकारका है ? विमानोंकी तरह प्रकीर्णरूप हैं, अथवा अथ अथ अवस्थित हैं, या अन्य ही तरहसे हैं ? उत्तर—न प्रकीर्णक है और न अथ अथ अवस्थित हैं । किन्तु इनका सन्निवेश इस प्रकार है, कि द्वीपके अनन्तर समुद्र और समुद्रके अनन्तर द्वीप । इसी क्रमसे अन्तके स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त पहलेको दूसरा बढे हुए अवस्थित हैं । जैसे कि—सबसे पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, उसके अनन्तर जम्बू द्वीपको चारों तरफसे घेरे हुए लवणसमुद्र है । इसी क्रमसे आगे आगे भी द्वीप समुद्रोंको अन्तके समुद्र तक समझना चाहिये । अर्थात् लवणसमुद्रके अनन्तर घातकीखण्ड द्वीप है, उसके अनन्तर कालोदसमुद्र है, उसके बाद पुष्करवर द्वीप है, उसके बाद पुष्करवरसमुद्र है, उसके बाद वरुणवर द्वीप है, उसके बाद वरुणोदसमुद्र है, उसके बाद क्षीरवरद्वीप है, उसके बाद क्षीरोदसमुद्र है उसके बाद घृतवरद्वीप है, उसके बाद घृतोदसमुद्र है, उसके बाद इक्षुवरद्वीप है, उसके बाद इक्षुवरोद समुद्र है, उसके बाद नन्दीश्वरद्वीप है, उसके बाद नन्दीश्वरोदसमुद्र है । उसके बाद अरुण वरद्वीप है, उसके बाद अरुणवरोदसमुद्र है । इसी प्रकार स्वयम्भूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप और असंख्यात ही समुद्र अवस्थित हैं ।

भावार्थ—असंख्यातके असंख्यात भेद हो सकते हैं, उन उनमेंसे जितने असंख्यात प्रमाण द्वीप समुद्र समझना * तो दाईं सागरके जितने समय हों, उतने ही कुछ द्वीप और समुद्र समझना चाहिये । इनमें सबसे पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, और सबसे अन्तिम स्वयम्भूरमणसमुद्र है । उनमेंसे ही कुछका यहाँपर नामोल्लेख करके बताया है । इनसे समान और भी जितने द्वीप और समुद्र हैं, उन सबके वाचक शब्द शुभ हैं । ये सब रत्नप्रभा भूमिके ऊपर अवस्थित हैं । इन्हींके समूहमें तिर्यग्योक्त अथवा मन्थलोक कहते हैं ।

१—संख्याके भेदोंमें उपमानाश्रयक भेद है । इसका प्रमाण दखना हो, ता गोमयसार ब्रह्मसंहिता भूमिकामें भयका त्रिलोक्य आदिमें दसो । २—सबसे अन्तिम स्वयम्भूरमणसमुद्र ही अन्तिम है । इसमें कोई भेद न समाने कि स्वयम्भूरमणसमुद्रके अनन्तर घातकीखण्ड द्वीप ही है और कुछ नहीं । किन्तु स्वयम्भूरमणसमुद्रके अनन्तर वरुणोद द्वीपका भय भी है उसके बाद घातकीखण्ड द्वीप । यद्यपि उक्तका प्रमाण अल्प है इसलिये उक्तकी ओरका नहीं कहा है ।

इस सूत्रमें जिनका निर्देश किया गया है, वे द्वीप और समुद्र किस प्रकारसे अवस्थित हैं, और उनका प्रमाण कितना कितना है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्रम्—द्विर्द्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सर्वे च ते द्वीपसमुद्रा यथाक्रममादितो द्विर्द्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः प्रत्येतव्याः । तद्यथा—

अर्थ—उपर्युक्त सभी द्वीप और समुद्रोंका विष्कम्भ—चौड़ाईका प्रमाण प्रथमसे लेकर अन्त तक—जम्बूद्वीपसे स्वयम्भूरमण पर्यन्त दूना दूना समझना चाहिये । और ये सभी—द्वीप अथवा समुद्र अपने अपनेसे पहले द्वीप या समुद्रको घेरे हुए हैं । जैसे कि जम्बूद्वीपको लवण-समुद्र और लवणसमुद्रको धातकीखण्डद्वीप तथा धातकीखण्डद्वीपको कालोदसमुद्र और कालोद-समुद्रको पुष्करवरद्वीप घेरे हुए है । इसी तरह अन्त तक समझ लेना चाहिये । अतएव इनका आकार कंकणके समान गोल है ।

दूना दूना प्रमाण जो बताया है, वह तबतक समझमें नहीं आ सकता, जबतक कि पहले द्वीपका प्रमाण मालूम न हो जाय । अतएव उसको बताते हुए उनके सन्निवेशको भी स्फुट करते हैं—

भाष्यम्—योजनशतसहस्रं विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य वक्ष्यते । तद्विगुणो लवणजलसमुद्रस्य । लवणजलसमुद्रविष्कम्भाद्विगुणो धातकीखण्डद्वीपस्य । इत्येवमास्वयम्भूरमणसमुद्रादिति ॥

पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः—सर्वे पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः प्रत्येतव्याः । जम्बूद्वीपो लवणसमुद्रेण परिक्षितः, लवणजलसमुद्रो धातकीखण्डेन परिक्षितः, धातकीखण्ड द्वीपः कालोदसमुद्रेण परिक्षितः, कालोदसमुद्रः पुष्करवरद्वीपार्धेन परिक्षितः, पुष्करद्वीपार्ध मानुपोत्तरेण पर्वतेन परिक्षितम्, पुष्करवरद्वीपः पुष्करवरोदेन समुद्रेण परिक्षितः, एवमास्वयम्भूरमणात्समुद्रादिति ॥

वलयाकृतयः ।—सर्वे च ते वलयाकृतयः सह मानुपोत्तरेणेति ॥

अर्थ—पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, उसका विष्कम्भ—विस्तार एक लाख योजनका है, ऐसा आगे चलकर सूत्र द्वारा बतावेंगे । इससे दूना विस्तार लवणोदसमुद्रका है । लवणोद-समुद्रके विस्तारसे दूना विस्तार धातकीखण्ड द्वीपका है । इसी तरह स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त द्वीपसे समुद्रका और समुद्रसे द्वीपका विस्तार दूना दूना समझना चाहिये । अपनेसे पहले द्वीप या समुद्रका जितना विस्तार हो, उससे दूना अगले द्वीप या समुद्रका विस्तार समझ लेना चाहिये ।

पूर्वपूर्वका परिक्षेपण—ये सभी द्वीप और समुद्र पूर्वपूर्व परिक्षेपी हैं । द्वीपने अपनेसे पहले समुद्रको और समुद्रने अपनेसे पहले द्वीपको चारों तरफसे घेर रक्खा है । जैसे कि जम्बू-द्वीप लवणसमुद्रसे घिरा हुआ है, और लवणसमुद्र धातकीखण्ड द्वीपसे घिरा हुआ है, धातकी

खण्ड द्वीप कालोत्समुद्रसे और कालोदसमुद्र आघे पुष्करवर्द्धीपसे निरा हुआ है । आघा पुष्करवर्द्धीप मानुषोत्तरपर्वतसे और मानुषोत्तरसे परेका आघा पुष्करवर्द्धीप पुष्करवरोद समुद्रसे घिरा हुआ है । इसी तरह स्वयम्भूरमणिसमुद्र पर्यन्त समस्त लेना चाहिये । अर्थात् ये सभी द्वीप समुद्र परस्परमें एक दूसरेसे परिवेष्टित-घिरे हुए हैं ।

वल्याकृति—उपर्युक्त सभी द्वीप और समुद्रोंका आकार तथा इनके साथ साथ मानुषोत्तर पर्वतकी भी आकृति कक्षणके समान गोल समझनी चाहिये ।

भावार्थ—यद्यपि पहले जम्बूद्वीपमें लवणसमुद्रादिके समान कक्षणीसी गोलाई प्रतीत नहीं होती । क्योंकि उसने किसीको घेर नहीं रक्खा है । तो भी जम्बूद्वीपके अतकी परिधिसे यदि टेला जाय, तो वैसे आकृति उसकी भी टीखती ही है । अथवा जम्बूद्वीपका आकार थालीके समान गोल समझ लेना चाहिये । यद्वा जम्बूद्वीपसे आगेके समुद्र और द्वीपोंका आकार तो कक्षणके समान गोल और जम्बूद्वीपका आकार गोल मणिबन्ध-पहुँचेके समान समझ लेना चाहिये । अथवा इस सूत्रमें वक्ष्य-कक्षणके समान जो आकृति कहीं है, सो लवणो दादिकी ही समझनी चाहिये, न कि जम्बूद्वीपकी । जम्बूद्वीपका आकार और उसके विष्कम्भ-विस्तारका प्रमाण बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं —

सूत्र—तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भोजम्बूद्वीप ९

भाष्यम्—तेषां द्वीपसमुद्राणां मध्ये तन्मध्ये । मेरुनाभिः ।—मेरुरस्य नाभ्यामिति मेरु-वास्य नाभिरिति मेरुनाभिः । मेरुरस्य मध्य इत्यर्थः । सर्वद्वीपसमुद्राभ्यन्तरो वृत्तः कुलालचक्रा-कृतियाजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः । वृत्तग्रहण नियमायम् । लवणादयो वलयवृत्ता जम्बूद्वीपस्तु प्रतरवृत्त इति । यथा गम्येत वल्याकृतिमिश्रतुरल्लयोरपि परिक्षेपो विद्यते तथा च मामृदिति ॥

अर्थ—उन उपर्युक्त अमन्यात द्वीप और समुद्रोंके मध्यमें पहला जम्बूद्वीप है । वह मेरुनाभि है । अर्थात् मेरु इसका नाभिस्थानमें है, ऐसा कहिये, अथवा यों कहिये कि मेरु इसका नाभिस्थान है । तात्पर्य यही है, कि जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें मेरु है । यह सम्पूर्ण द्वीप और समुद्रोंके अभ्यन्तर टहरा हुआ है और वृत्त-गोल है । इसका आकार घुम्भारके चक्र-के समान है, और उसका विस्तार एक त्रास योजनका है ।

सूत्रमें वृत्त शब्द न दिया जाता, तो भी चक्र समझा था, फिर उसका जो ग्रहण किया है, सो विशेष नियमसे बनानेके लिये है । वह यह कि लवणोत्पत्तिक अमन्यात द्वीप समुद्र तो

१-मेरु पाँच है—गुदरीन विष्णुनाली विजय अचल और मन्दर । इनोंने पहला मुद्रालोक जम्बूद्वीपके मध्यमें है और पदरोज बारोंसे बना है । बारी बाराका प्रमाण बराबर है । बारोंमें दो घातकी खण्ड और दो पुष्करवर्द्धीपके लगे हुए लवणके भागोंमें विभक्त है । २-योजन ४ कोटि का होता है । पञ्चु बहोतर जो प्रमाण बनाया है वह प्रमाण-वृत्तकी अपेक्षा है । लवणोत्पत्तिक प्रमाण-वृत्त पचो गुना होता है । अन्तर्गत प्रमाणों एक कोटि दो हजार कोटि बराबर समझना चाहिये ।

वलयवृत्त हैं, किन्तु जम्बूद्वीप प्रतरवृत्त है। यदि वृत्त शब्द न दिया जाता, तो विपरीत अर्थका भी कोई ग्रहण कर सकता था। क्योंकि गोल पदार्थके द्वारा जो घिरी हुई हो, वह भी गोल ही हो ऐसा नियम नहीं हो सकता। चौकोण अथवा त्रिकोण आदि वस्तुभी गोल पदार्थके द्वारा घिरी हुई हो सकती हैं। अतएव वृत्त शब्दके न रहनेपर लवणोदादिकको गोल समझकर भी जम्बूद्वीपको कोई चौकोण आदि समझ सकता था। सो ऐसा विपरीत अर्थ कोई न समझ ले इसी लिये सूत्रमें वृत्त शब्दका पाठ किया है। अर्थात् जम्बूद्वीपका आकार प्रतरवृत्त है।

भाष्यम्—मेरुरपि काश्चनस्थालनाभिरिव वृत्तो योजनसहस्रमधोधरणितलमवगाढो नवनवत्युच्छ्रितो दशाधो विस्तृतः सहस्रमुपरीति। त्रिकाण्डस्त्रिलोकप्रविभक्तमूर्तिश्चतुर्भिर्वनैर्भद्रशालनन्दनसौमनसपाण्डकैः परिवृतः। तत्र शुद्धपृथिव्युपलवज्रशर्कराबहुलं योजनसहस्रमेकं प्रथमं काण्डम्। द्वितीयं त्रिषष्टिसहस्राणि रजतजातरूपाङ्गु स्फटिकबहुलम् तृतीयं षट्त्रिंशत्सहस्राणि जाम्बूनद्वहुलम्। वैदूर्यबहुला चास्य चूलिका चत्वारिंशद्योजनान्युच्छ्रयेण मूले द्वादश विष्कम्भेण मध्येऽष्टावुपरि चत्वारितीति। मूले वलयपरिक्षेपि भद्रशालवनम्। भद्रशालवनात्पञ्च योजनशतान्यारुह्य तावत्प्रतिक्रान्तिविस्तृतं नन्दनम्। ततोर्ध्वत्रिषष्टिसहस्राण्यारुह्य पञ्चयोजनशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतमेव सौमनसम्। ततोऽपि षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य चतुर्नवतिचतुःशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतं पाण्डकवनमिति। नन्दनसौमनसाभ्यामेकादशैकादशसहस्राण्यारुह्य प्रदेशपरिहाणिर्विष्कम्भस्येति।

अर्थ—मेरु भी सुवर्णके थालके मध्यकी तरह गोल है। इसकी उँचाई एक लाख योजनकी है। जिसमेंसे एक हजार योजन पृथिवीके नीचे प्रविष्ट है। बाकी ९९ हजार पृथिवीके ऊपर है। इस ऊपरके भागको दृश्य भाग और पृथिवीके भीतर प्रविष्ट एक हजारके भागको अदृश्य भाग समझना चाहिये। अदृश्य भागकी चौड़ाई दश हजार योजनकी है, और उँचाई एक हजार योजन है। मेरुके ऊपर दृश्य भागमें तीन काण्डक—मेखला—कटिनी है। यह मेरु पर्वत मानों तीनों लोकोंका विभाग करनेके लिये माप करनेकी मूर्ति ही है। क्योंकि मेरुके नीचे अधोलोक और ऊपर ऊर्ध्वलोक तथा मेरुकी बराबर तिर्यग्लोक—मध्यलोकका प्रमाण है। भद्रशाल नन्दन सौमनस और पाण्डक इन चार वनोंसे चारों तरफ—सब तरफसे घिरा हुआ है। तीन काण्डकोंमेंसे पहला काण्डक एक हजार योजन उँचा है, जोकि पृथिवीके भीतर अदृश्य भाग है। इस काण्डकमें शुद्ध पृथिवी पत्थर हीरा और शर्करा ही प्रायः पाई जाती है। दूसरा और तीसरा काण्डक पृथिवीके ऊपरके दृश्य भागमें है। दूसरा काण्डक पृथिवीतलसे लेकर त्रैसठ हजार योजनकी उँचाई तक है। इस काण्डकमें प्रायः करके चाँदी सुवर्ण अङ्गु—रत्नविशेष और स्फटिक ही पाया जाता है। दूसरे काण्डकके ऊपर छत्तीस हजार योजनकी उँचाईवाला तीसरा काण्डक है। इस काण्डकमें प्रायः सुवर्ण ही है।

१—मूलमें जो वाक्य है, उसका अर्थ ऐसा भी हो सकता है, कि यह मेरुपर्वत सुवर्णमय तथा थालीके मध्यके समान गोल है। २—“मेखस दिङ्माए सत्तवि रज्जू हवेअहोलोओ। उड्ढम्हि उड्ढलोओ मेखसमो मज्झिमो लोओ ॥

१२०॥ —स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा।

इस मेरुपर्वतके ऊपर एक चूलिका-शिखर, है जो कि चालीस योजन ऊँची है। इसकी चौड़ाई मूलमें बारह योजन मध्यमें आठ योजन और अन्तमें चार योजन है। चूलिकाके भागमें प्राय करके वैडूर्यमणि ही पाई जाती हैं।

मेरुके मूलमें पृथिवीके ऊपर भद्रशाल्वन है, जो कि गोल और चारों तरफसे मेरुको घेरे हुए है। भद्रशाल्वनसे पाँचसौ योजन ऊपर चलकर उतनी ही प्रतिबान्तिके विस्तारसे युक्त नन्दनवन है। नन्दनवनसे साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर चलकर सोमनसवन है। इसकी चौड़ाई पाँचसौ योजनकी है। सौमनसवनसे छत्तीस हजार योजन ऊपर चलकर चौथा पाण्डकवन है। इसकी चौड़ाई चारसौ चौरानवे योजनकी है।

मेरुका विष्कम्भ सर्वत्र एकसा नहीं है, और न कहीं कुछ कहीं कुछ ऐसा अन्यवस्थित है। किन्तु उसके विष्कम्भके प्रदेश क्रमसे घटते गये हैं। इस हानिना प्रमाण इस प्रकार है, कि नन्दनवन और सौमनसवनसे लेकर ग्यारह ग्यारह हजार प्रदेशोंके ऊपर चलकर विष्कम्भके एक एक हजार प्रदेश घटते गये हैं।

इस प्रकार जम्बूद्वीपका विस्तार और आकार आदि बताया। इसमें एक विशेष बात और भी है, वह यह कि यह सात क्षेत्रोंसे विभक्त है। अर्थात् इस जम्बूद्वीपके सात भाग हैं, जिनको कि सात क्षेत्र कहते हैं। वे सात क्षेत्र कौनसे हैं, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षा-क्षेत्राणि ॥ १० ॥

भाष्यम्—तत्र जम्बूद्वीपे भरतहैमवतहरयो विदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतमितिसप्त वंशा क्षेत्राणि भवन्ति । भरतस्योत्तरतः हैमवतम्, हैमवतस्योत्तरतः हरयः, इत्येव ज्ञेयाः । वंशा वर्षा वास्या इति वर्षा गुणतः पर्यायनामानि भवन्ति । सत्त्वर्षा वर्षा व्यवहारन्यापेक्षादित्य कृताश्चिद्विग्नियमादुत्तरतो मेरुर्मयति, लोकमध्यावस्थितं चाष्टप्रदेशं कृत्वा दिग्भियमहेतु प्रतीत्य यथासम्भवं भवतीति ॥

अर्थ—जिसका कि प्रमाण और आकार ऊपर बताया जा चुका है, उस जम्बूद्वीपमें ही भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। भरतसे उत्तरकी तरफ हैमवतक क्षेत्र है, और हैमवतकसे उत्तरकी तरफ हरि क्षेत्र है। इसी तरह दूसरे क्षेत्रोंके विषयमें भी समझना चाहिये। अर्थात् हरिसे उत्तरमें विदेह, विदेहसे उत्तरमें रम्यक, रम्यकसे उत्तरमें हैरण्यवन और हैरण्यवनसे उत्तरमें ऐरावत क्षेत्र है। वंश वर्षा और वास्य ये इन क्षेत्रोंके पर्यायवाचक नाम हैं, और ये नाम अन्वर्थ-गुणकी अवेक्षामें हैं। क्योंकि वंश

१-१५ विराममें टीकाकारने लिखा है कि 'एषा च परिहृणित्वादीनां न मरणाः गतिरिति कदा कदा भवति।' और इस वचनका हेतु यह कि 'एषा' शब्दके बताया भी है विशेष बात अनेक दिग्दर्शन समझना चाहिये।

पर्ययुक्त हुआ करते हैं, ये भरतादिक भी वंशादिककी तरहसे विभागोंको करनेवाले अथवा धारण करनेवाले हैं । अतएव इनको वंश-क्षेत्र कह सकते हैं । इसी तरह वर्ष और वास्य शब्दका अर्थ भी समझ लेना चाहिये । क्योंकि इनको वर्षके सन्निधानसे वर्ष और इनमें मनुष्यादिका वास होनेसे वास्य कहते हैं ।

दिशाओंका नियम व्यवहारनयकी अपेक्षासे तो सूर्यकी गतिके हिसाबसे ही माना गया है । इस हिसाबसे मेरु सभी क्षेत्रोंसे उत्तर दिशाकी तरफ पड़ता है । क्योंकि लोकमें ऐसा व्यवहार है, कि जिधरको सूर्यका उदय होता है, वह पूर्व दिशा है, उसके ठीक उल्टी तरफ—जिधर सूर्यका अस्त होता है, वह पश्चिम दिशा है । जिधरकी तरफ कर्कमे लेकर धन तककी छह राशियाँ व्यवस्थित हों, उसको दक्षिण, और मकरसे लेकर मिथुन तककी छह राशियाँ जिधरको व्यवस्थित हो, उसको उत्तर दिशा कहते हैं । इस व्यवहारके अनुसार सभी क्षेत्रवालोंके लिये मेरु उत्तरकी तरफ पड़ता है । किन्तु यह वास्तविक कथन नहीं है, केवल व्यवहारमात्र है । क्योंकि सूर्यके उदय अस्तके हिसाबसे ही पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंका यदि नियम माना जायगा, तो एक यह बड़ा विरोध आकर उपस्थित होगा, कि सब जगह सभी दिशाओंका सद्भाव मानना पड़ेगा, और उससे व्यवहारका लोप होगा । क्योंकि जिधर सूर्यका उदय हो, उधर पूर्व और जिधर अस्त हो उधर पश्चिम, ऐसा नियम माननेपर हमारे लिये जिधर पूर्व है, उधरको ही पूर्वविदेह-वालोंके लिये पश्चिम है । अतएव व्यवहार विरुद्ध हो जाता है, और इसी लिये इस नियमको केवल व्यवहाररूप ही समझना चाहिये, न कि निश्चयरूप । निश्चयनयकी अपेक्षासे दिशा-ओंका नियम किस प्रकार है सो बताते हैं—

लोकके ठीक मध्य भागमें रुचकके आकार—चौकोण आठ प्रदेश अवस्थित हैं, निश्चय नयसे उन्हींको दिशाओंके नियमका कारण समझना चाहिये । इन आठ प्रदेशोंसे ही चार दिशा और चार विदिशाओंका नियम बनता है । किन्तु इस नियमके अनुसार मेरु उत्तरमें ही हो यह बात नहीं ठहरती; किन्तु यथासम्भव दिशाओंमें माना जा सकता है । अतएव निश्चयनयसे मेरु भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें रहनेवालोंके लिये भिन्न भिन्न दिशाओंमें समझना चाहिये ।

जम्बूद्वीपमें सात क्षेत्र है, ऐसा ऊपर लिख चुके हैं, किन्तु ये विभाग तबतक नहीं हो सकते, जबतक कि इन विभागोंको करनेवाला कोई न हो । अतः इनके विभाजक कुलाचलोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

**सूत्र—तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्नि-
षधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥**

भाष्यम्—तेषां वर्षाणां विभक्तारः हिमवान् महाहिमवान् निषधो नीलो रुक्मी शिख-
रीत्येते षड् वर्षधराः पर्वताः । भरतस्य हैमवतस्य च विभक्ता हिमवान्, हैमवतस्य, हरिवर्षस्य

च विभक्ता महाहिमवान् इत्येव शेषा । तत्र पञ्च योजनगतानि षड्विंशानि षट्चेकोनविंशतिभागा (५२६ $\frac{१}{१६}$) भरतविष्कम्भ स द्विर्द्विहिमवद्धेमवतादीनामाविदेहेभ्यः । परतो विदेहेभ्योऽर्धार्धटीना ॥

अर्थ—उपर्युक्त सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले ये छह पर्वत हैं । हिमवान् महाहिमवान् निषध नील र्म्भी और शिखरी । इनको वर्षधरपर्वत कहते हैं । क्योंकि ये पतत बीचमें पड़कर क्षेत्रोंको विभक्त कर देते हैं, और ऐसा करके उस विभागको तथा क्षेत्रोंको धारण करते हैं । किस किस क्षेत्रका विभाग करनेवाला कौन कौनसा पर्वत है ? तो इसके लिये यथाक्रमसे ही घटित करके समझ लेना चाहिये । अतएव जिस प्रकार भरत और हैमवतरूना विभाग करनेवाला हिमवान्पर्वत है, और हैमवतरू तथा हरिर्वर्षका विभाजक महाहिमवान् है, उसी प्रकार शेष क्षेत्र और पर्वतोंके नियमों क्रमसे घटित कर लेना चाहिये, अर्थात् हरिर्वर्ष और विदेहका विभाजक निषधपर्वत है । विदेह और रम्यकरू विभक्ता नील है । रम्यक और हैरण्यतरू भेत्तक रुक्मीपर्वत है । हैरण्यवत और ऐरावतरू व्यवस्थाकारी शिखरीपर्वत है ।

छह कुलाचलोंके द्वारा विभक्त इन सात क्षेत्रोंका प्रमाण इस प्रकार है ।—पहले भरत क्षेत्रका प्रमाण पाँचसौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग है । अर्थात् ५२६ $\frac{१}{१६}$ योजन प्रमाण भरतक्षेत्रका विष्कम्भ है । भरतसे आगे हिमवान्पर्वत और हैमवत आदि क्षेत्रोंका विष्कम्भ दूना दूना समझना चाहिये । किन्तु यह द्विगुणता विदेहपर्यन्त ही है आगे नहीं । विदेहसे आगे पर्वत और क्षेत्रोंका विष्कम्भ क्रमसे आधा आधा होता गया है ।

भावार्थ—मेरुसे उत्तर और दक्षिणके क्षेत्र तथा कुलाचल आदिना प्रमाण समान है । जैसा कि “ उत्तरा दक्षिणतुल्या ” इस कथनसे स्पष्ट है । अतएव भरतक्षेत्रसे विदेह पर्यन्त क्षेत्र पर्वत हूट आदिना जो प्रमाण है, उसी प्रकार विदेहसे ऐरावत पर्यन्त समझना चाहिये । इसी लिये यहाँपर ऐसा कहा गया है, कि भरतसे विदेह तक दना दना और विदेहसे ऐरावत तक आधा आधा प्रमाण है । अर्थात् भरतक्षेत्रका प्रमाण ५२६ $\frac{१}{१६}$ योजन है, इतना ही प्रमाण ऐरावतक्षेत्रका है । हिमवान् शिखरी आदिका भी इसी क्रमसे समान प्रमाण समझना चाहिये । यथा—हिमवान् और शिखरीका प्रमाण १०५२ $\frac{१}{१६}$ योजन, हैमवत और रण्यकरूका प्रमाण २१०५ $\frac{१}{१६}$ योजन, महाहिमवान् और रुक्मीका प्रमाण ४२१० $\frac{१}{१६}$ योजन, हरि और रम्यकरूका प्रमाण ८४२१ $\frac{१}{१६}$ योजन, निषध और नीलका प्रमाण १६८४२ $\frac{१}{१६}$ योजन, विदेहका प्रमाण ३३६८४ $\frac{१}{१६}$ योजन है ।

अब इन पर्वतोंका अवगाह तथा उँचाई आदिका एव जोवा धनुष आदिना विशेष प्रमाण बनानेके लिये वर्णन करते हैं—

भाष्यम्—षड्विंशतियोजनान्यवगाहो योजनगतोच्चगयो हिमवान् । तद्विमलादि गयान् । तद्विर्निषध इति ॥

अर्थ—विदेहक्षेत्रमें देवकुरु और उत्तरकुरु नामके दो क्षेत्र हैं, जहाँपर सदा भोगभूमि ही रहा करता है। निषधपर्वतसे उत्तरकी तरफ और मेरुसे दक्षिणकी तरफ जो क्षेत्र है। उसको देवकुरु कहते हैं। यह क्षेत्र अनेक पर्वतोंसे शोभायमान है। इसमें पाँच सरोवरोंके दोनों बाजुओंमें अवस्थित दश दशसुपर्णगिरि हैं, और सीतोदानदीके पूर्व तथा पश्चिमकी तरफ चित्रकूट और विचित्रकूट नामके दो पर्वत हैं। ये दोनों एक हजार योजन ऊँचे हैं, पृथ्वीपर इनकी चौड़ाई एक हजार योजन और ऊपर चलकर पाँच सौ योजन हैं। देवकुरुकी चौड़ाई ग्यारह हजार आठ सौ योजन और एक योजनके व्यालीस भागोंमेंसे दो भाग ११८०० ई० योजन है।

इसी प्रकार मेरुसे उत्तरमें ओर नीलपर्वतसे दक्षिणकी तरफ उत्तरकुरु भोगभूमि है। इसमें यह विशेषता है, कि चित्रकूट और विचित्रकूट नामके दोनों पर्वत नहीं हैं। इनकी जगह पर इस क्षेत्रमें सीतानदीके किनारेपर दो सुवर्णमय यमक पर्वत हैं, जिनका कि प्रमाण चित्रकूट और विचित्रकूटके समान ही है। इसका विस्तार भी देवकुरुके समान है, और इसमें काश्चनगिरि पर्वत भी देवकुरुके समान ही अवस्थित हैं।

यद्यपि जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें और निषध नील पर्वतके अंतरालमें सामान्यसे विदेह क्षेत्र एक ही है, तो भी मेरुपर्वत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुसे विभक्त होकर क्षेत्रान्तरके समान उसने जुटे जुटे विभाग हो गये हैं। विदेहके मूल विभाग दो हैं—पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह। मेरुके पूर्व भागकी पूर्व विदेह और पश्चिम भागकी पश्चिम विदेह कहते हैं। इनमें भी प्रत्येकके सोलह सोलह भाग हैं, और सोलहमेंसे भी प्रत्येकके छह छह खण्ड हैं, जिनकी कि चक्रवर्ती विनय किया करता है। ये खण्ड नदी और पर्वतोंसे विभक्त होकर हुए हैं। इनके निवासियोंका परस्परमें गमनागमन नहीं हुआ करता। पूर्व विदेह और पश्चिम विदेहके विभाग और उनका प्रमाण आदि तुल्य है।

भावार्थ—मेरुके पूर्व और पश्चिमके दोनों भागोंको चार चार वप्सरगिरि और तीन तीन विभागा नदियोंके मध्यमें एक तरफ सीता और दूसरी तरफ सीतोदानकी पट जानेसे सोलह सोलह भाग हो गये हैं। इन्हींको जम्बूद्वीप सम्बन्धी ३२ विदेह कहते हैं। प्रत्येक भागके भी भरत क्षेत्रके समान छह छह खण्ड हैं। क्योंकि भरतके समान इन प्रत्येक भागोंमें भी एक एक विनयार्थ और गंगा मिथु नामकी दो दो नदियाँ हैं। भरतके समान यहाँके छह छह खण्डोंका विनय भी एक एक चक्रवर्ती हुआ करता है। आपसमें इन क्षेत्रोंके निवासियोंका गमनागमन नहीं हुआ करता। विदेहमें एक समयमें ज्याद मे ज्याद ३२ चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर हो सकते हैं। तीर्थंकर कमसे कम ४ भी हो सकते हैं। पाँचों मेरुसम्बन्धी तीर्थंकर कमसे कम २० हो सकते हैं, क्योंकि एक एक मेरु के चार चार विदेह हैं।

दक्षिण और उत्तरमें जो वैनाशपर्वत हैं, उन दोनोंकी लम्बाई चौड़ाई अमानिक

भीतरकी गहराई और जमीनसे ऊपरकी उँचाई समान है। जितनी दक्षिणके वैतावकी लंबाई आदिक है, उतनी ही उत्तरके वैतावकी है। उमी तरह हिमवान् और शिखरीपर्वतकी लम्बाई आदिक परस्परमें समान हैं। जितनी हिमवानकी है, उतनी ही शिखरीकी है। महाहिमवान् और स्वर्माकी समान है। तथा निपथ और नीलकी समान है।

भावार्थ—विदेहसे उत्तरकी तरफ जो पर्वत हैं, उनका लम्बाई चौड़ाई आदिका प्रमाण उत्तरके पर्वतोंके समान समझना चाहिये। जिस तरह भक्त पुरावन आदि क्षेत्रोंका प्रमाण परस्परमें समान है, उसी प्रकार दक्षिण उत्तरके वैताव आदि पर्वतोंका आयाम विष्कम्भ अवगाह और उच्छ्राय परस्परमें एक मरीखा समझना चाहिये।

इस प्रकार जम्बूद्वीपके क्षेत्र पर्वतोंका प्रमाण बताकर एक विशेष बातका उल्लेख करते हैं। ऊपर विदेहक्षेत्रके मध्यमें मेरुका वर्णन किया है। इसी तरह—जम्बूद्वीपके समान धातकी-खण्ड और पुष्करार्धद्वीपके विदेहमें भी मेरु हैं। किन्तु जम्बूद्वीपमें धातकीखण्ड और पुष्कारार्धका प्रमाण दूना है। अतएव इन दोनों द्वीपोंमें विदेहक्षेत्र दो दो हैं। और इसी लिये इन चार विदेहोंके मेरु भी चार हैं। किन्तु इन चारोंका प्रमाण जम्बूद्वीपके मेरुके समान नहीं है, कम है। कितना प्रमाण है सो बताते हैं—

भाष्यम्—क्षुद्रमन्दरास्तु चत्वारोऽपि धातकीखण्डकपुष्करार्धका महामन्दरात्पञ्चदशमि-योजनसहस्रैर्हीनोच्छ्रायाः। पट्टभियोजनगतैर्धरणितले हीनविष्कम्भाः। तेषां प्रथमं काण्डम् महामन्दरतुल्यम्। द्वितीयं सप्तभिर्हीनं, तृतीयमष्टाभिः। भद्रशालनन्दनवने महामन्दरवत्। ततो अर्धपट्ट पञ्चाशद्योजनसहस्राणि सौमनसं पञ्चगतं विस्तृतम्। ततोऽष्टाविंशतिसहस्राणि चतुर्नवतिचतुःशतविस्तृतमेव पाण्डकं भवति। उपरि चाधश्च विष्कम्भोऽवगाहश्च तुल्यो महामन्दरेण, चालिका चेति॥

विष्कम्भकृतेर्दशगुणाया मूलं वृत्तपरिक्षेपः। स विष्कम्भपादाभ्यस्तो गणितम्। इच्छा-वगाहोनावगाहाभ्यस्तस्य चतुर्गुणस्य मूलं ज्या। ज्याविष्कम्भयोर्वर्गविशेषमूलं विष्कम्भाच्छोध्यं शेषार्धं मिषुः। इषुवर्गस्य पञ्चगुणस्य ज्यावर्गवृत्तस्य कृतस्य मूलं धनुःकाष्ठम्। ज्यावर्गचतुर्भा-गवृत्तमिषुवर्गमिषुविभक्तं तत्प्रकृतिवृत्तविष्कम्भः। उदग्धनुःकाष्ठादक्षिणं शोध्यं शेषार्धं बाहुरिति॥ अनेन करणाभ्युपायेन सर्वक्षेत्राणां सर्वपर्वतानामायामविष्कम्भज्येषुधनुः काष्ठ-परिमाणानि ज्ञातव्यानि॥

अर्थ—धातकीखण्ड और पुष्करार्धसम्बन्धी चारों क्षुद्र मेरुओंकी उँचाईका प्रमाण महामेरुसे पंद्रह हजार योजन कम है। पृथिवीके भीतरका विष्कम्भ छह सौ योजन कम है। चारों मेरुओंका पहला काण्ड महामेरुके प्रथम काण्डके समान है। दूसरा काण्ड सात हजार योजन कम है। तीसरा काण्ड आठ हजार योजन कम है। भद्रशालवन और नन्दनवन महामेरुके समान है। नन्दनवनसे साढ़े पचपन हजार योजन ऊपर चलकर सौमनसवन है, इसकी भी चौड़ाई पाँच सौ योजनकी ही है। सौमनससे अट्ठाईस हजार योजन ऊपर

चलकर पाण्डुवन है। इसकी भी चौटाई चार सौ चौरानवे योजनकी ही है। ऊपर और नीचेका विष्कम्भ तथा अगगाह महामेरुके समान है। चारोंकी चूलिफाफा प्रमाण भी महामेरुकी चूलिफाके समान ही समझना चाहिये।

भार्यार्थ—धातकी खण्डमें दो और पुष्करार्थमें दो इस तरह चार जो मेरु है, वे क्षुद्र-मेरु कहे जाते हैं। क्योंकि इनका प्रमाण महामेरु—जम्बूद्वीपके मध्यवर्त्ती सुशानमेरुके कम है। किन्तु चारोंका प्रमाण परस्परमें समान है। महामेरुके इनके त्रिंश भिन्न भागका प्रमाण कितना कितना कम है, अथवा समान है, सो ऊपर बताया है। अर्थात् इनकी ऊँचाई ८४ हजार योजन है। पृथिवीतट्टका विष्कम्भ ९४०० योजन है। चारों मेरुओंके पृथ्वीके भीतरका अगगाह महामेरुके समान एक हजार योजन है। दूसरा पाण्डुक ५६ हजार योजनका है। तीसरा पाण्डुक २८ हजार योजनका है। भद्रशाल्यन और नन्दनवन महामेरुके समान हैं। इन चारों क्षुद्र मेरुओंके नीचे चारों तरफ पृथ्वीपर महामेरुके समान भद्रशाल्यन हैं। उसमें पाँचसौ योजन ऊपर चलकर नन्दनवन है। उसमें साढ़े छप्पन हजार योजन ऊपर चलकर सौमनस्य पर्वत है। उससे २८ हजार योजन ऊपर चलकर पाण्डुवन है। सामनसका विस्तार ५०० योजन और पाण्डुवनका विस्तार ४९४ योजनका है। इसके सिवाय ऊपर नीचे तथा चूलिफाफा प्रमाण महामेरुके समान ही समझना चाहिये।

इस प्रकार क्षुद्र मेरुओंका स्वरूप बनाकर अब कुछ गणितके नियमोंका उल्लेख करते हैं निम्नमें कि द्वीप समुद्रादिककी परिधि जीवा आदि का स्वरूप सुगमतासे और अच्छी तरह समझमें आजाय—

विष्कम्भके वर्गको दशगुणा करके वर्गमूत्र निरालनेपर गोल क्षेत्रकी परिधिका प्रमाण निश्च्युता है। परिधिका विष्कम्भके चौथाई भागसे गुणा करनेपर गणितपद निश्च्युता है। इस नियमके अनुसार जम्बूद्वीपकी परिधिका प्रमाण और जम्बूद्वीपम एक एक योजनके चौकोर पाण्डु रितने हो सक्ते हैं, सो समझमें आसकता है।

इच्छित अगगाहका कितना प्रमाण हो, उसको विष्कम्भमेंसे घटनेपर पुन अगगाह प्रमाणसे गुणा करके चौगुणा करना चाहिये, ऐसा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उसका वर्गमूत्र निश्च्युता चाहिये। इसमें गोल क्षेत्रकी जीवाका प्रमाण निश्च्युता है। अनप्य इम विधिसे अनुसार जम्बूद्वीपके मध्यवर्त्ती भरतादिक क्षेत्रकी जीवाका प्रमाण कितना है, सो समझमें आसकता है।

जीवाका वर्ग और विष्कम्भका वर्ग उसके चैतनीका भाग निश्च्युती चाहिये। पुन चारोंका वर्गमूत्र निश्च्युत विष्कम्भके प्रमाणसे शोधन करना चाहिये। जो शेष रहे उसका

आधा इषुका प्रमाण समझना चाहिये । इस नियमके अनुसार भरतादिक क्षेत्रोंके इषुका प्रमाण निकाल लेना चाहिये ।

इषुके वर्गको छहसे गुणा करके ज्याके वर्गमें मिलाना चाहिये, पुनः उसका वर्गमूल निकालनेसे धनुःकाष्ठका प्रमाण निकलता है ।

जीवाके वर्गमें चारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, उसको इषुके वर्गमें मिलाना चाहिये । पुनः उसमें इषुका भाग देना चाहिये । लब्ध—राशिको वृत्तक्षेत्रका विष्कम्भ समझना चाहिये ।

उत्तरके धनुःकाष्ठका जो प्रमाण हो, उसमेंसे दक्षिणके धनुःकाष्ठके प्रमाणको घटा देना चाहिये । जो बाकी रहे उसका आधा बाहुका प्रमाण समझना चाहिये ।

इन करण—सूत्रोंके अनुसार सम्पूर्ण क्षेत्रोंके तथा वैताद्व्य आदि समस्त पर्वतोंके आयाम विष्कम्भ इषु ज्या धनुःकाष्ठके प्रमाणको समझ लेना चाहिये ।

इस प्रकार जम्बूद्वीपके विषयका वर्णन करके द्वीपान्तरोंका भी वर्णन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विधातकी खण्डे ॥ १२ ॥

भाष्यम्—एते मन्दरवंशवर्षधरा जम्बूद्वीपेऽभिहिता एते द्विगुणाधातकीखण्डे द्वाभ्यामिष्वाकारपर्वताभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां विभक्ताः । एभिरेव नामभिर्जम्बूद्वीपकसमसंख्याः पूर्वार्धे चापारार्धे च चक्रारकसंस्थिता निपधसमोच्छ्रायाः कालोदलवणजलस्पर्शिनो वंशधराः सेष्वाकाराः । अरविवरसंस्थिता वंशा इति ॥

अर्थ—जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वत क्षेत्र आदिका जो वर्णन किया है, उससे दूना प्रमाण धातकीखण्डमें उन सबका समझना चाहिये । क्योंकि यहाँपर दो इष्वाकारपर्वत पड़े हुए हैं, जोकि दक्षिण उत्तर लम्बे हैं, और जिनके कि निमित्तसे इस धातकीखण्डके दो भाग हो जाते हैं—पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध । दोनों ही भागोंमें जम्बूद्वीपके समान मेरू आदिक अवस्थित हैं । जम्बूद्वीपमें जो पर्वत और क्षेत्रों आदिके नाम हैं, वे ही नाम यहाँपर भी हैं । पर्वत और क्षेत्रोंकी संख्या पूर्वार्ध और पश्चिमार्धमेंसे प्रत्येकमें जम्बूद्वीपके समान है ।

१—आचार्यने इन करण—सूत्रोंका वर्णन संक्षेपमें ही किया है । क्योंकि विस्तारसे लिखनेमें ग्रन्थगौरवका भय है । कुछ विद्वानोंने इस विषयको विस्तृत बनानेके लिये और भी अनेक सूत्रोंकी रचना की है । किन्तु उसको शास्त्रनिपुणजन प्राचीन नहीं हैं ऐसा कहते हैं । २—ये एते इति क्वचित्पाठः । ३—मन्दरवर्षवंशधरा इति च पाठ । ४—चक्रारकसंस्थिता इति च पाठान्तरम् । ५—इषु—बाणके समान इनका आकार है, इसी लिये इनको इष्वाकार कहते हैं । ६—समानसे मतलब पर्वत क्षेत्र हृद नदी आदिकी संज्ञासे है, न कि प्रमाण और सख्या आदिसे । क्योंकि पर्वतादिकोंकी जो संज्ञाएं जम्बूद्वीपमें हैं, वे ही धातकीखण्ड और पुष्करार्धमें हैं । सख्या जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड और पुष्करार्धमें दूनी है । जम्बूद्वीपमें एक भरत है, तो यहाँपर दो दो हैं । इनका प्रमाण जम्बूद्वीपकी अपेक्षा कई गुणा है । क्योंकि जम्बूद्वीपका विष्कम्भ एक लाख योजन तथा धातकीखण्डका ४ लाख योजन और सूची १३ लाख योजन है ।

घातरीखण्डमें जो पर्वत है, वे तो पूर्वार्ध ओर पश्चिमार्ध दोनों ही भागोंमें गाड़ीके पहियेके अरोंकी तरह अवस्थित हैं । और अरोंकी मध्यवर्ती जगहकी तरह क्षेत्र अवस्थित हैं । पर्वतोंकी उँचाई निषधगिरिके समान समझनी चाहिये । ये पर्वत एक वान्में तो कालोदधि समुद्रके जलका और दूसरी वान्में लवण समुद्रके जलका स्पर्श करनेवाले हैं । क्योंकि घातरी खण्डके दोनों भागोंमें ये दो समुद्र अवस्थित हैं । तथा इन पर्वतोंके साथ साथ पौन सौ योजन ऊँचे इष्वाकारपर्यन्त भी अवस्थित हैं ।

भाष्यार्थ—जम्बूद्वीपको घेरे हुए लवण समुद्र है, और लवण समुद्रको घेरे हुए घातरीखण्ड नामका दूसरा द्वीप है । उक्त प्रमाणके अनुसार घातरीखण्डका विष्णुम्भ ४ दशल योजनका है । जिस प्रकार जम्बू ध्रुवके निमित्तसे पहले द्वीपकी जम्बूद्वीप सज्ञा है, उसी प्रकार घातरी ध्रुवके निमित्तसे इस द्वीपकी घातरीखण्ड सज्ञा है । यहाँपर भरताडि क्षेत्रोंकी और हिमव तदि पर्वतों तथा नगी मरौरादित्री सरया जम्बूद्वीपसे दूरी है । जम्बूद्वीपमें एक मरुत है, यहाँपर दो हैं, इत्यादि सभी क्षेत्र और पर्वतादिक दूने समझने चाहिये । सज्ञाए सबकी जम्बूद्वीपके समान ही समझनी चाहिये । घातरीखण्डके ठीक मध्य भागमें त्रिन्त एक उत्तरमें और दूसरा दक्षिणमें इस तरह दो इष्वाकारपर्यन्त पड़े हुए हैं, जोकि दक्षिण उत्तर लम्बे हैं, और इसी लिये लवणसमुद्र तथा कालोदधिसमुद्रका स्पर्श कर रहे हैं । इसके निमित्तसे ही घातरीखण्डके दो भाग होगये हैं, एक पूर्वार्ध दूसरा पश्चिमार्ध । दोनों ही भागाम भरतभेद्रात्रित्री राना है । अतएव जम्बूद्वीपकी अपेक्षा यहाँसे भरतभेद्रात्रित्री प्रमाण दूना कहा जाता है । घातरीखण्डका आकार गाड़ीके पहियेके समान है, जिसमें कि अरोंकी जगह पवन तथा अरोंके मध्यवर्ती त्रिद्रोंकी जगह क्षेत्र हैं । यहाँके वर्षापर पर्वतोंकी उँचाई चार सौ योजनकी है ।

जिस प्रकारकी राना घातरीखण्डमें है, ठीक वैसी ही रचना पुष्करार्धमें है । इसी वानरी बनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पुष्करार्धं च ॥ १३ ॥

भाष्यार्थ—यद्य घातरीखण्डे मन्दरादीनां सेष्वाकारपयताया सकयाविषयनियमः ॥ एत पुष्करार्धं वेदितव्यम् ॥

तत पर मानुषोत्तरो नाम पयसो मानुषलोकपरिक्षेपी सुनगरप्राकारवृत्तः पुष्करपरद्वी-
पार्धविनिविष्टः काशनमयः सप्तद्वीपविभातयोजनगता युच्छिद्रः चत्वारि विज्ञानि प्रो-
थापो धरणीतलमवगाढो योजनसहस्रं द्वाविंशमध्वनाद्विस्तृतः सप्तशतानि प्रयोर्विंशानि माये
चत्वारि चतुर्विंशान्युपरीति ॥

१ ये १३ पञ्चमसूत्रमें हैं, जम्बूद्वीपके एक विचार है कि इस तरहके एक आकारमें पश्चिम का
घेरे है। यह भी जल आकार है। अत्रित्री है। इसका विचार जल विचारका है। विचारका है। विचारका है।
विचारका है। विचारका है। १-क्षेत्रोंकी रचना यहाँके आकार प्रमाण लवण समुद्रका आकार है। अत्रित्री है।

न कदाचिद्स्मात्परतो जन्मतः संहरणतो वा चारणविद्याधरान्द्रिप्राप्ता अपि मनुष्या भूतपूर्वा भवन्ति भविष्यन्ति च, अन्यत्र समुद्रघातोपपाताभ्याम् । अतएव च मानुषोत्तर इत्युच्यते ॥

तदेवमर्वाङ्मानुषोत्तरस्यार्थतृतीया द्वीपाः समुद्रद्वयं पञ्चमन्दराः पञ्चात्रिंशत्क्षेत्राणि त्रिंशद्दर्पधरपर्वताः पञ्च देवकुरवः पञ्चोत्तराः कुरवः शतं पद्मचक्रं चक्रवर्तिं विजयानां द्वेगते पञ्चपञ्चागदधिके जनपदानामन्तरद्वीपाः पट्टपञ्चागदिति ॥

अर्थ—इष्वाकार पर्वतोंका तथा उनके साथ साथ मेरु आदि पर्वतोंका संख्या विषयक जो नियम धातकीखण्डके विषयमें ऊपर बताया है, वही नियम पुष्करार्धके विषयमें भी समझना चाहिये ।

भावार्थ—धातकीखण्डकी और पुष्करार्धकी रचना समान है । धातकीखण्डके ही समान पुष्करार्धमें भी दो इष्वाकारपर्वत हैं, जोकि दक्षिणोत्तर लम्बे और कान्धेदधि तथा पुष्करवर समुद्रके जलका स्पर्श करनेवाले तथा पाँच सौ योजन ऊँचे हैं । इन्हींके निमित्तसे पुष्करार्धके भी दो भाग हो गये हैं—पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध । धातकीखण्डके समान ही इनमें भी रचना है, अर्थात् यहाँपर भी जम्बूद्वीपकी अपेक्षा क्षेत्रोंकी और पर्वतोंकी संख्या दूनी समझनी चाहिये । जम्बूद्वीपमें एक भरतक्षेत्र है, तो पुष्करार्धमें दो हैं—एक पूर्व पुष्करार्धमें और दूसरा पश्चिम पुष्करार्धमें । इसी तरह अन्य क्षेत्र तथा पर्वतोंका प्रमाण भी समझ लेना चाहिये । धातकीखण्डके समान यहाँपर भी दो मेरु हैं, जोकि चौरासी चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं, वंशधर पर्वत भी चार चार सौ योजन ऊँचे हैं । यहाँका सभी संख्याविषयक नियम धातकीखण्डके समान है^१ ।

कालेदधिसमुद्रको चारों तरफसे घेरे हुए पुष्करवर द्वीप है, जिसका कि विष्कम्भ १६ लाख योजनका है । इस द्वीपके ठीक मध्य भागमें मानुषोत्तर नामका एक पर्वत है, जोकि कंकणके समान गोल चारों तरफको सम्पूर्ण दिशाओंमें पड़ा हुआ है । जिस प्रकार बड़े बड़े नगरोंको परकोटा घेरे रहता है, उसी प्रकार मानुषोत्तरपर्वतने मनुष्यक्षेत्रको घेर रक्खा है । यह सुवर्णमय सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊँचा और भूभागमें चार सौ तीस योजन एक कोस प्रविष्ट है । पृथ्वीपर इसका विस्तार एक हजार बाईस योजन और मध्यमें सात सौ तेईस योजन तथा ऊपर चलकर चार सौ चौबिस योजन है । जिस प्रकार धान्यकी राशिको ठीक बीचमेंसे काट देनेपर उसका आकार एक तरफसे सपाट दीवालके समान और दूसरी तरफसे आधी नारङ्गीके समान ढलवाँ होता है, उसी प्रकार मानुषोत्तरपर्वतका आकार समझना चाहिये । मनुष्यक्षेत्रके भीतरकी तरफका आकार सपाट दीवालके समान और बाहरकी तरफका आकार ढलवाँ है । इसके निमित्तसे पुष्करवर द्वीपके दो भाग हो गये हैं ।

१—पुष्करार्धकी सूची ४५ लाख योजनकी है । अतएव क्षेत्रादिकोंके आयासादिका प्रमाण धातकीखण्डसे कई गुणा अधिक है । विवक्षित द्वीप या समुद्रके एक किनारेसे दूसरे किनारे तकके प्रमाणको सूची कहते हैं ।

इस पर्वतका नाम मानुपोत्तर क्यों है ? तो इसका कारण यह है, कि इससे आगे कोई भी मनुष्य गमन नहीं कर सकता । इस पर्वतसे परे आजतक कोई भी मनुष्य न तो उत्पन्न हुआ न होता है आर न होगा । सहरणकी अपेक्षा भी मानुपोत्तरके परे कोई मनुष्य नहीं पाया जाता । चारण विद्याधर और ऋद्धि प्राप्त भी मनुष्योंका सहरण नहीं पाया जाता, और न हुआ न होगा । अर्थात् समुद्रघात और उपपातकके सिवाय मानुपोत्तरके आगे मनुष्योंका जन्म तथा सहरण नहीं पाया जाता, इसीलिये इसको मानुपोत्तर ऐसा कहते हैं ।

भावार्थ—हर वर लेजानेको सहरण कहते हैं । कोई भी देव या विद्याधर आदिक वैरानुबन्धसे बढला आदि लेनेके लिये यहाँके मनुष्यको उठाकर इसलिये लेजाते हैं, कि वह बिना प्रतीकारके ही मर जाय । किन्तु इस तरहका सहरण श्रमणी, वेदरहित, परिहारविशुद्धि समयके धारण करनेवाले, पुलाक, अप्रमत्त, चतुर्दशपूर्वके धारक, और आहारक ऋद्धिके धारण करने वाले मुनियोंका नहीं हुआ करता । ऐसा आगमका उल्लेख है । अतएव मानुपोत्तरके आगे चारण आदिका गमन निषिद्ध नहीं है, किन्तु उनका सहरण और वहाँपर मरण निषिद्ध है । विशिष्ट तपोबलक माहात्म्यसे जङ्घाचारण या विद्याचारण शक्तियों प्राप्त हुए मुनि चैत्यवन्दनाके लिये नन्दीश्वर आदि द्वीपोंको भी जाया करते हैं, ऐसा आवश्यकसूत्रोंमें विधान पाया जाता है । इसी प्रकार महाविद्याओंको धारण करनेवाले विद्याधर और वैक्यिक आदि ऋद्धिके धारक भी मनुष्य वहाँ जाया करते हैं, ऐसा उल्लेख है । अतएव नियम ऐसा ही करना चाहिये, कि चारण आदिक वहाँ जाकर वहाँपर प्राणोंका परित्याग नहीं करते । साधारण मनुष्य जिनका कि सहरण होता है, मानुपोत्तर तक पहुँचनेके पहले ही मरणको प्राप्त हो जाते हैं ।

साराश यही है, कि इसके आगे मनुष्योंका जन्म आर सहरण नहीं पाया जाता, सिवाय समुद्रघात और उपपातके । समुद्रघातकी अपेक्षा मनुष्यक्षेत्रके बाहर भी मनुष्योंका

१—समणी अजगत वेद परिहारपुलागमप्रमत्त च । चोदसपुण्यि आहारय च ण्वि कोइ सहरइ ॥
धमणीमरणनेद परिहार पुलागमप्रमत्त च । चतुर्दशपूर्णिमाहात्म्य च नैव कोपि सहरति ॥ (भग० पा० ५७०६६श्लो)
२—यह बात दिगम्बर-सम्प्रदायमें नहीं मानी है । दिगम्बर-निदान्तके अनुसार मानुपोत्तरसे आगे समुद्रघात और उपपातसे विद्याधर कभी कोई वैरा भी मनुष्य चारण विद्याधर आदि भा गमन नहीं कर सकता । ३—समुद्रघातका लक्षण पहले बता चुके हैं कि आत्मप्रदेशोंका शरीरसे सम्बन्ध न छोड़कर बाहर निकलना इसको समुद्रघात कहते हैं । इसके साथ भेद है । प्रकृतमें टीरानारने समुद्रघात "वृद्धसे मारणात्मिक समुद्रघातका उल्लेख किया है, परन्तु केवल समुद्रघातमें भी मनुष्यक्षेत्रके बाहर आत्मप्रदेश पाये जाते हैं । किन्तु केवल समुद्रघातमें मरण नहीं होता, और टीरानारना अभिप्राय मरणको दिरानका है । क्योंकि कोई टाई द्वीपक बाहर जन्म धारण करनेके लिये मारणात्मिक समुद्रघातक द्वारा पहुँचकर पीछे वहीं मर जाता है ऐसा माना है । इस अपेक्षारो मनुष्यक्षेत्रके बाहर भी मनुष्यका मरण समझ है । किन्तु दिगम्बर-सम्प्रदायक अनुसार मारणात्मिक समुद्रघात बाला उपम होनेके प्रदेशोंका स्वयं करने वापिस आ जाना है फिर मरण करता है अतएव वहाँ मरण समझ नहीं किन्तु मनुष्य-पर्यायका समझ है । ४—टाई द्वीपके बाहरका जीव मरण करके मनुष्य क्षेत्रमें आता है, तब विप्रदगतिमें मनुष्य आधुना उदय रहता है ।

मरण हो सकता है, और उपपातकी अपेक्षा जन्म भी पाया जा सकता है, शेष अवस्थाओंमें नहीं । अतएव इस पर्वतको मानुषोत्तर कहते हैं ।

इस प्रकार मानुषोत्तरपर्वतके पहले ढाई द्वीप, दो समुद्र, पाँच मेरु, पैंतीस क्षेत्र, तीस वर्षधरै पर्वत, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, एक सौ साठ चक्रवर्तियोंके विजयक्षेत्र, दो सौ पचपन जनपद, और छप्पन अन्तर द्वीप हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता मानुषस्य स्वभावमार्दवार्जवत्वं चेति । तत्र कं मनुष्याः क्व चेति अत्रोच्यते —

अर्थ—इसी ग्रंथमें आगे चलकर आपने कर्मोंके आत्मवर्गके प्रकरणमें कहा है, कि “ स्वभावमार्दवार्जवत्वं च । ” अर्थात् स्वभावकी मृदुता और ऋजुता मनुष्यायुके आत्मवर्गका कारण है, और भी मनुष्य शब्दका उल्लेख कई जगहपर किया है । किन्तु यह नहीं बताया कि वे मनुष्य कौन हैं ? और कहाँ रहते हैं ? अतएव इसी बातको दिखानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ १४ ॥

भाष्यम्—प्राग् मानुषोत्तरात्पर्वतात्पश्चविंशत्सु क्षेत्रेषु सान्तरद्वीपेषु जन्मतो मनुष्या भवन्ति । संहरणविद्यार्द्धियोगाच्च सर्वेष्वर्धतृतीयेषु द्वीपेषु समुद्रद्वये च समन्दरगिरिवरेष्विति । भारतका हैमवतका इत्येवमादयः क्षेत्रविभागेन । जम्बूद्वीपका लवणका इत्येवमादयो द्वीप-समुद्रविभागेनेति ॥

अर्थ—उपर्युक्त मानुषोत्तरपर्वतके पूर्वमें—मानुषोत्तरपर्वतकी मर्यादासे विरे हुए पैतालीस लाख योजन प्रमाण विष्कम्भवाले मनुष्यक्षेत्रमें—पैंतीस क्षेत्रोंमें तथा छप्पन अन्तरद्वीपोंमें मनुष्य जन्म धारण किया करते हैं । संहरण विद्या और ऋद्धिकी अपेक्षासे तो मनुष्योंका सन्निधान सर्वत्र—ढाई द्वीपोंमें दो समुद्रोंमें तथा मेरुशिखरोपर पाया जाता है । भारतक—भरत क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले और हैमवतक—हैमवतक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले इत्यादि क्षेत्र विभागकी अपेक्षासे मनुष्योंके भेद है । तथा जम्बूद्वीपक—जम्बूद्वीपमें उत्पन्न होनेवाले, लवणक—लवणसमुद्रमें उत्पन्न होनेवाले इत्यादि द्वीपसमुद्रके विभागकी अपेक्षासे मनुष्योंके भेद है ।

भावार्थः—मनुष्य आयु और मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे जो जन्म धारण करते हैं, उन जीवोंको मनुष्य कहते हैं । अतएव मनुष्य पर्याय जन्मकी अपेक्षासे ही समझनी चाहिये, न कि किसी अन्य कारणसे । मनुष्यजन्म मानुषोत्तरपर्वतके भीतरके क्षेत्रमें ही होता

१-जम्बूद्वीपके ७ धातकोंखण्डके १४ पुष्करार्धके १४। २-जम्बूद्वीपके ६, धातकीखण्डके १२, पुष्करार्धके १२। ३-पाँच मेरुओंके आजू बाजूके विदेहक्षेत्रसम्बन्धी लिये हैं । पाँच भरत और पाँच ऐरावतोंके जोड़नेसे १७० होते हैं । ४-जनपदसे मतलब आर्यजनपदोंका है । ५-हिमवान् और शिखरीके पूर्व तथा पश्चिमकी तरफ विदिशाओंमें सात सात अन्तरद्वीप हैं, जो मिलकर ५६ होते हैं ।

है बाहर नहीं । इस कथनसे मनुष्योंका स्वरूप और अधिकरण क्या है, सो मालूम होता है । परन्तु मनुष्योंके भेद कितने हैं, सो नहीं मालूम होते । इसके लिये कहते हैं, कि उनके भेद अनेक प्रकारसे किये जा सकते हैं, क्षेत्र-विभागकी अपेक्षासे तथा द्वीपसमुद्र विभागकी अपेक्षासे । इत्यादि । परन्तु जिनमें सभी भेदोंका अन्तर्भाव हो जाय, ऐसे मूलभेद कौनसे हैं, इस बातको मतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आर्या म्लेच्छाश्च ॥ १५ ॥

भाष्यम्—द्विविधा मनुष्या भवन्ति, आर्या, म्लिच्छाश्च । तत्रार्या पञ्चविधा क्षेत्रार्या जात्यार्या कुलार्या कर्मार्या शिल्पार्या भाषार्या इति । तत्र क्षेत्रार्या पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जाता । तथा भरतेष्वर्धपञ्चविंशतिषु जनपदेषु जाता शेषेषु च चक्रवर्तिविजयेषु । जात्यार्या इक्ष्वाकवो विदेहा हरयोऽम्बरा हाता कुरवो बुबुनाला उग्र भोगा राजन्या इत्येवमादयः । कुलार्या कुलकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा ये चान्य आर्यतीयादा पञ्चमादा सप्तमाद्या कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयप्रकृतयः । कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनप्रयोगकृषिलिपि-वाणिज्ययोन्यपोषणवृत्तयः । शिल्पार्यास्तन्तुवायकुलालनापिततुलवायदेवटावयोऽल्पसाध्या अगर्हिताजीवा । भाषार्या नाम ये शिष्टभाषानियतवर्ण लोकरूढस्पृष्टशब्द पञ्चविधा नामप्यार्याणां सव्यवहार भाषन्ते ॥

अर्थ—मूलमें मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—एक आर्य दूसरे म्लेच्छ । आर्य मनुष्योंके उह भेद हैं—क्षेत्रार्य जात्यार्य कुलार्य कर्मार्य शिल्पार्य और भाषार्य । जो पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न होनेवाले हैं, तथा भरतक्षेत्रके साठ पचीस जनपदोंमें अथवा शेष चक्रवर्तीके विजय स्थानोंमें जो ज म धारण करनेवाले हैं, उनको क्षेत्रार्य कहते हैं । इक्ष्वाकु विदेह हरि अम्बरा हाता कुरु बुबुनाल उग्र भोग और राजन्य प्रभृति जातिकी अपेक्षासे जो आर्य हैं, उनको जात्यार्य कहते हैं । कुलकी अपेक्षासे जो आर्य हैं, उनको कुलार्य कहते हैं, जैसे कि कुलकर चक्रवर्ती बलदेव वासु देव प्रभृति तथा और भी तीसरेसे पाँचवेंसे या सातवेंसे लेकर कुलकरोंके वंशमें जो उत्पन्न हुए हैं, या जो विशुद्ध वंश और प्रकृतिसे धारण करनेवाले हैं, उनको कुलार्य कहते हैं । जो अनाचार्यक कर्मकी अपेक्षासे आर्य हैं, उनको कर्मार्य कहते हैं, जैसे कि यजन याजन अध्ययन अध्यापनका प्रयोग—कर्म करनेवाले तथा कृषि (खेती) लिपि (लेखन) वाणिज्य (व्यापार) की योनिभन—मूलरूप पोषणवृत्ति—जिससे कि प्रजाका पोषण होता है, करनेवाले हैं, उनको कर्मार्य कहते हैं । शिल्प—कारीगरीके कर्म करनेकी अपेक्षासे जो आर्य हैं, उनको शिल्पार्य कहते हैं । जैसे कि तन्तुवाय (कपड़े बुननेवाले) कुलाल (कुम्हार) नापित (नाई) तुलवाय (सूत फातनेवाले) और देवट प्रभृति । शिल्पार्योंसे इनका कर्म

१—आर्या म्लिच्छास्त्वपि द्विविद्यन्ति ॥ २—तथया इति द्विविद्यन्ति । ३—करी बुबुनाल और करी बुबुनाल भी पाठ है । ४—कहीं भोज शब्द है ।

अल्पसावद्य है, और इसी लिये इनका आजीवन अगर्हित माना गया है। भाषा—शब्द व्यवहारकी अपेक्षासे जो आर्य है, उनको भाषार्य कहते हैं। गणधरादिक शिष्ट—विशिष्ट—सर्वातिशय सम्पन्न व्यक्तियोंके बोलनेकी जो संस्कृत अथवा अर्धमागधी आदि भाषाएं हैं, उनमें अकारादि वर्णोंके पूर्वापरीभावसे सन्निवेश करनेके जो विशिष्ट नियम हैं, उनकी जिसमें प्रधानता पाई जाती है, तथा जो लोकमें रूढ—अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, और स्फुट—वाल—भाषाके समान व्यवहारमें अव्यक्त नहीं हैं, ऐसे शब्दोंका जिसमें व्यवहार पाया जाता है, ऐसी उपर्युक्त पाँच प्रकारके आर्य पुरुषोंके बोलनेकी भाषाका जो व्यवहार करते हैं, उनको भाषार्य समझना चाहिये।

भाषार्य—सामान्यतया मनुष्योंके दो भेद हैं।—एक आर्य दूसरे स्लेच्छ। जो गुणोंको धारण करनेवाले हैं, अथवा जो गुणवानोंके आश्रय हैं, उनको आर्य कहते हैं। सादे पच्चीस जन-पदोंमें जो उत्पन्न होते हैं, वे प्रायःकरके आर्य होते हैं। आर्योंके छह भेद हैं, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। अतएव क्षेत्र जाति कुल कर्म शिल्प और भाषा इनकी अपेक्षासे ज्ञान दर्शन और चारित्रिक विषयमें जिनका आचरण और शील शिष्ट लोकोंके द्वारा अभिमत तथा न्याय्य और धर्मसे अवि-रुद्ध रहा करता है, उनको आर्य कहा है। जिनका आचरण और शील इससे विपरीत है, तथा जिनकी भाषा और चेष्टा अव्यक्त एवं अनियत है, उनको स्लेच्छ समझना चाहिये। इसी बातको खुलासा करते हुए स्लेच्छोंके भेदोंको भी बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—अतो विपरीता म्लिशः। तद्यथा—हिमवतैश्चतसृषु विविधु त्रीणि योजन-शतानि लवणसमुद्रमवगाह्य चतसृणां मनुष्यविजातीनां चत्वारोऽन्तरद्वीपा भवन्ति त्रियो-जनशतविष्कम्भायामाः। तद्यथा—एकोरुकाणामाभापकार्णां लाङ्गूलिनां वैपाणिकानांमिति॥ चत्वारि योजनशतान्यवगाह्य चतुर्योजनशतान्यविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः। तद्यथा—हय-कर्णानां गजकर्णानां गोकर्णानां शङ्कुलिकर्णानामिति॥ पञ्चशतान्यवगाह्य पञ्चयोजनशता-यामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः। तद्यथा—गजमुखानां व्याघ्रमुखानामादशमुखानां गोमुखाना-मिति॥ षड्योजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः। तद्यथा—अश्व-

१—गुणै गुणवद्विर्वा अर्थन्ते इत्यार्या। २—दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार जिनमे वर्णाचार पाया जाय, उनको आर्य, और जिनमें वह न पाया जाय, उनको स्लेच्छ कहते हैं। आर्योंके मूलमें दो भेद हैं—बुद्धिप्राप्त, अनृद्धिप्राप्त। ऋद्धिप्राप्तके सात भेद हैं—बुद्धि तप विक्रिया औषध रस बल और अक्षीण। कहीं कहीं पर आठ भेद भी बताये हैं। इनके उत्तरभेद अनेक हैं। अनृद्धिप्राप्त आर्योंके भी अनेक भेद हैं, किन्तु उनके पाँच भेद मुख्य हैं क्षेत्रार्थे जात्यार्थे कर्मार्थे चारित्रार्थे और दर्शनार्थे। आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवालोंको क्षेत्रार्थ, जिसमें उच्च गोत्रका उदय पाया जाता है, ऐसे विशुद्ध मातृवंगमें उत्पन्न होनेवालोंको जात्यार्थ, वर्णाचारके अनुसार आजीविका करने-वालोंको कर्मार्थ, संयम धारण करनेवाले अथवा उसके पात्रोंको चारित्रार्थ, और सम्यग्दृष्टि मनुष्योंको दर्शनार्थ कहते हैं। ३—हिमवत प्राक् पश्चाच्च चतसृषु इति पाठान्तरम्। ४—आभासिकानाम् इति च पाठ। ५—विपाणिनामिति वा पाठ। ६—चतुर्योजनशतविष्कम्भा। एवमेव हयकर्णानाम् इति क्वचित्पाठ। ७—पञ्चयोजनशतानीति पाठान्तरम्। ८—आदर्शमेपह्यगजमुखानामान् इति वा पाठ।

और तीन सौ ही योजन चौड़ा आभासिक नामका द्वीप है, उसमें आभासिक नामके मनुष्य निवास करते हैं । दक्षिण पश्चिम दिशामें तीन सौ योजन समुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ योजन चौड़ा लाङ्गूलिक नामका द्वीप है, जिसमें कि लाङ्गूलिक नामके मनुष्य निवास करते हैं । उत्तर पश्चिम दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ योजन चौड़ा वैषाणिक नामका द्वीप है, जिसमें कि वैषाणिक नामके मनुष्य निवास करते हैं ।

ये पहले अन्तरद्वीप सम्बन्धी चार द्वीप हैं, इसी प्रकार सातवें अन्तरद्वीप तकके चार चार भेदोंको समझ लेना चाहिये । अर्थात् पूर्वोत्तर दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा हयकर्ण नामका द्वीप है, जिसमें कि हयकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं । दक्षिण पूर्व दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा गजकर्ण नामका द्वीप है, जिसमें कि गजकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं । दक्षिण पश्चिम दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा गोकर्णनामका द्वीप है, जिसमें कि गोकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं । उत्तर पश्चिम दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा शङ्कुलिकर्ण नामका अन्तरद्वीप है, जिसमें कि शङ्कुलिकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं ।

लवणसमुद्रके भीतर पाँच सौ योजन चलकर पाँच पाँच सौ योजनका जिनका आयाम—विस्तार और विष्कम्भ है, ऐसे चार अन्तरद्वीप हैं, जोकि उपर्युक्त चार विदिशाओंमें सन्निविष्ट हैं, और जिनके कि क्रमसे गजमुख व्याघ्रमुख आदर्शमुख और गोमुख ये नाम हैं । तथा इनमें क्रमसे इन्हीं नामवाले मनुष्य निवास करते हैं । छह सौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले क्रमसे पूर्वोत्तर आदि विदिशाओंमें अश्वमुख हस्तिमुख सिंहमुख और व्याघ्रमुख नामके चार द्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इन्हीं नामवाले मनुष्य निवास करते हैं । इसी प्रकार सात सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर क्रमसे पूर्वोत्तरादि विदिशाओंमें सात सात सौ योजन लम्बे चौड़े अश्वकर्ण सिंहकर्ण हस्तिकर्ण कर्णप्रावरण नामके चार अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इसी तरहके नामवाले मनुष्योंका निवास है । आठ सौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले उपर्युक्त चार विदिशाओंमें क्रमसे उल्कामुख विद्युज्जिह्व मेघमुख और विद्युदन्त नामके अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि वैसे ही नामवाले मनुष्य निवास करते हैं । नौसौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले चारों विदिशाओंमें क्रमसे घनदन्त गूढदन्त विशिष्टदन्त और शृङ्गदन्त नामके चार अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इसी नामवाले मनुष्य निवास करते हैं ।

इन अन्तरद्वीपोंका और इनमें रहनेवाले मनुष्योंका नाम ममान है । जैसे कि पञ्चोक्त । अर्थात् पञ्चोक्त मनुष्योंका पञ्चोक्त द्वीप है, अथवा यह भी कहा जा सकता है, कि पञ्चोक्त द्वीपमें रहनेके कारण ही उन मनुष्योंका नाम पञ्चोक्त है । इसी प्रकार आभिमित आदि द्वीप द्वीपों और उनमें रहनेवाले मनुष्योंके नाममें तुल्यता समझनी चाहिये ।

एतन्मममुद्रके भीतर तीन सौ योजनमे लेकर नीची योजन भीतर तक पञ्चर ये सात अन्तरद्वीप हैं, जो कि हिमवान् पर्वतके पूर्व और पश्चिमकी चारों विदिशाओंके मिश्र-कर अष्टाईम होते हैं । निम्न प्रकार हिमवान् पर्वत सम्बन्धी अष्टाईम अन्तरद्वीप है, उन्नी प्रकार गिरगीर्वात सम्बन्धी भी अष्टाईम हैं । कुल मिश्रकर ५६ अन्तरद्वीप होते हैं । इन सभी द्वीपोंमें रहनेवाले मनुष्य अन्तर्द्वीपमे स्टेच्छ कहे जाने हैं ।

इस प्रकार मनुष्योंके अर्थ और स्टेच्छ भेदोंको बताकर मनुष्यक्षेत्रमें कर्मभूमि और अशर्मभूमि नामके जो भेद हैं, वे यौन से हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—भरतेरावतविदेहा कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तर-
कुरुभ्यः ॥ १६ ॥**

भाष्यम्—मनुष्यक्षेत्रे भरतेरावतविदेहा पञ्चदश कर्मभूमयो भवन्ति । अन्यत्र देवकुरु-
त्तरकुरुभ्यः ।

संसारदुर्गान्तगमकस्य सम्यग्दर्शनपान्धारिप्राप्तमकस्य माक्षमागस्य इतार कत्तार
उपदेशारर भगवन्त परमर्षयस्तीक्ष्णकरा अशोपयन्ते । अत्रैव जाता निरुच्यन्ति तान्यत्र ।
अतो निपाणाय कमणः सिद्धिभूमयः कर्मभूमय इति । दोषास्तु विनाशिताना नान्तरद्वीपा
अशर्मभूमयो भवन्ति । देवकुरुत्तरकुरुभ्यः कर्मभूमयस्तत्रा अप्यकर्मभूमय इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त मनुष्यक्षेत्रमें भरत पेशात और देवकुरु तथा उत्तरकुरुके छन्दर
बाहरके विदेशोत्र सम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं ।

भावार्थ—यौन भेदोंमें अधिकित पैदाहोम तथा दोहन लम्बे बीच मनुष्यक्षेत्रमें
पौष तथा यौष पेशात और पौष ही निरुच्येत्त है । ये ही मिश्रकर पन्द्रह कर्मभूमियाँ कहली
हैं । इनके मिश्रण को क्षेत्र है, वे अशर्मभूमि हैं । कि हमें देवकुरु और उत्तरकुरु, भगवन्

सम्मिलित है, अतएव वह भी कर्मभूमि समझा जा सकता था, इसके लिये ही उनको छोड़कर ऐसा कहा है। क्योंकि देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमि नहीं है, भोगभूमि है।

नारकादि चतुर्गतिरूप संसार अत्यन्त दुर्गम—गहन है, क्योंकि वह अनेक जातियों—योनियोंसे पूर्ण और अति संकटमय है। इसका अन्त—नाश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्यरूप जिस मोक्षमार्गके द्वारा हुआ करता है, या हो सकता है, उसके ज्ञाता प्रदर्शक और उपदेष्टा भगवान् तीर्थंकर एवं परमर्षि इन पंद्रह कर्मभूमियोंमें ही उत्पन्न होते हैं। तथा इन क्षेत्रोंमें ही उत्पन्न हुए मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय करके मोक्षपदको प्राप्त किया करते हैं, न कि अन्य क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य। इस प्रकारसे ये ही भूमियाँ ऐसी हैं, कि जहाँपर निर्वाणपद—सिद्धिपदको प्राप्त करनेके योग्य कर्म किया जा सकता है। इसी लिये इनको कर्मभूमि कहते हैं। इनके सिवाय जो भूमियाँ हैं, जिनमें कि बीस क्षेत्र और पूर्वोक्त एकोरुकादिक अन्तरद्वीप अधिष्ठित हैं, वे सब अकर्मभूमि हैं। क्योंकि उनमें तीर्थंकरका जन्म आदि नहीं पाया जाता। देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमिके अम्यन्तर होनेपर भी कर्म-भूमि नहीं है, क्योंकि वहाँपर चारित्रिका पालन नहीं हुआ करता।

इस प्रकार मनुष्योंके भेदोंको बताकर उनकी आयुका जघन्य तथा उत्कृष्ट प्रमाण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नरो नरा मनुष्या मानुषा इत्यनर्थान्तरम्। मनुष्याणां परा स्थितिस्त्रीणि पल्योपमानि, अपरा अन्तर्मुहूर्तैति।

अर्थ—नृ नर मनुष्य और मानुष ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं—पर्यायवाची हैं। मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तीन पल्य और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

भावार्थ—मनुष्य आयु और मनुष्य गति नामकर्मके उदयसे जो पर्याय प्राप्त होती है, उस पर्यायसे युक्त जीवको मनुष्य कहते हैं। पर्यायसम्बन्धी स्वभावोंके अनुसार ऐसे जीवको नृ नर मनुष्य मानुष मर्त्य मनुज आदि अनेक शब्दोंसे कहते हैं। अभेद विवक्षासे सामान्य-तया ये सभी पर्यायवाचक शब्द एक मनुष्य पर्यायरूप अर्थके ही वाचक हैं। जिस मनुष्य आयुकर्मके उदयसे यह पर्याय प्राप्त हुआ करती है, उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्यतकका है। अर्थात् कोई भी मनुष्य अन्तर्मुहूर्तसे पहले मर नहीं सकता, और तीन पल्यसे अधिक जीवित नहीं रह सकता।

१—पल्य उपमानानका एक भेद है। इसका प्रमाण गोमूढसार कर्मकाण्डकी भूमिकामे देखना चाहिये। पल्यके तीन भेद हैं—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। यह आयुका प्रमाण अद्धापल्यकी अपेक्षासे समझना चाहिये। २—मनुष्य और तिर्यक्षोंकी स्थिति आगे चलकर दो प्रकारकी बताई है—भवस्थिति और कायस्थिति। इनमेंसे तीन पल्यका प्रमाण भवस्थितिका है। कायस्थितिका प्रमाण आगे लिखेगे।

सप्तरी प्राणी चार यागोंमें विभक्त हैं—नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देव । इनमेंसे नारकियोंकी उत्कृष्ट जघन्य आयुका प्रमाण बता चुके हैं, देवोंकी आयुका प्रमाण आगेके अध्यायमें बतावेगे, मनुष्योंकी आयुका प्रमाण इस सूत्रमें बता दिया । अतएव तिर्यञ्चोंकी आयुका प्रमाण बताना बाकी है, उसीको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तिर्यग्योनीना च ॥ १८ ॥

भाष्यम्—तिर्यग्योनिजाना च परापरे स्थितौ त्रिपल्योपमान्तमुद्भूते भवतो यथास्तरय मेव । पृथक्करणं यथास्तरयदोषनिवृत्त्यर्थम् । इतरथा ईदमेकमेव सूत्रमभविष्यदुभयत्र चोभे यथास्तरय स्यातामिति ।

अर्थ—तिर्यग् योनिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रमा नुसार तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही समझनी चाहिये । दो सूत्र पृथक् पृथक् करनेका प्रयोजन यथास्तरय दोषकी निवृत्ति करता है । क्योंकि यदि ऐसा न किया होता, ओर दोनों सूत्रोंकी जगह एक ही सूत्र रहता, तो यथास्तरयके नियमानुसार दोनों स्थितियोंका दो जगह बोध हो जाता ।

भावार्थ—यथास्तरय प्रकृतमें दो प्रकारका हो सकता है—एक तो उत्कृष्ट और जघन्यका तीनपल्य और अन्तर्मुहूर्तके साथ । दूसरा मनुष्य और तिर्यञ्चोंका उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिके साथ । इनमेंसे पहला यथास्तरय इष्ट है, और दूसरा अनिष्ट । पहला यथास्तरय पृथक् पृथक् दो सूत्र होनेपर ही बन सकता है । यदि दोनोंकी जगह एक सूत्र कर दिया जाय, तो अनिष्ट यथास्तरयका प्रसङ्ग प्राप्त होगा । जिससे ऐसे अर्थका बोध हो सकता है, कि मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यकी होती है, और तिर्यञ्चोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है ।

भाष्यम्—द्विविधा चेपा मनुष्यतिर्यग्योनिजानां स्थितिः । भगस्थितिः कायस्थितिश्च । मनुष्याणां यथोक्ते त्रिपल्योपमान्तमुद्भूते परापरे भवस्थितिः । कायस्थितिस्तु परा सप्ताष्टी या भवप्रवृत्तयानि ॥ तिर्यग्योनिजानां च यथोक्ते समासत परापरे भगस्थितिः ।

अर्थ—मनुष्यों की तथा तिर्यञ्चोंकी स्थिति दो प्रकारकी है, एक भगस्थिति दूसरी काय स्थिति । ऊपर तीन पल्य तथा अन्तर्मुहूर्तकी क्रमसे उत्कृष्ट तथा जघन्य जो स्थिति बताई है, वह मनुष्यों की भगस्थिति है । अर्थात् मनुष्यभक्तों को पारण करनेवाले जीवोंकी एक भवमें स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे क्रम नहीं हो सकती और तीन पल्यसे अधिक नहीं हो सकती । एक

१-तिर्यग्योनिजानां चयपि पाठ । २-तिर्यग्योनिनां चयपि पाठ । ३-यद्यन्य इति वा पाठ ।

४-जीवाकारने हिम्मा है कि एक सूत्र कर देनेमें भी कोई क्षति नहीं है । समस्त पदोंका सम्बन्ध हा नानस भी इष्ट अर्थका बाध हो सकता है । अथवा व्याख्यानको विशेषप्रतिपासि इस नियमके अनुसार इष्ट अर्थ किया जा सकता है । अथवा इस सूत्रकी रचना बाध ही समझनी चाहिये ।

मनुष्यपर्यायमें जीवित रहनेका काल इससे कम या ज्यादा नहीं हो सकता, इसको भवस्थिति कहते हैं। निरन्तर उसी भवके धारण करनेकी कालमर्यादाका नाम कायस्थिति है। एक जीव मनुष्य पर्यायको धारण करके आयु पूर्ण होनेपर पुनः मनुष्य हो और फिर भी उसी तरह बार बार यदि मनुष्य भवको ही धारण करता जाय, तो वह निरन्तर कितने मनुष्यके भव ग्रहण कर सकता है, इसके प्रमाणका ही नाम कायस्थिति है। मनुष्योंकी भवस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण सात आठ भव ग्रहण करने तकका है। क्योंकि कोटिपूर्वकी आयुवाला मनुष्य पुनः पुनः मरकर यदि कोटिपूर्वकी आयुवाला ही होता जाय, तो वह सात बारसे अधिक नहीं हो सकता। आठवें भवमें देवकुरु अथवा उत्तरकुरुकी भोगभूमिमें ही उत्पन्न होता है, जहाँसे कि मरण करके नियमसे देवपर्याय धारण करनी पड़ती है।

तिर्यञ्च जीवोंकी भी भवस्थितिका प्रमाण मनुष्योंके समान ही समझना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त। संक्षेपसे तिर्यञ्चोंकी भवस्थितिका यही प्रमाण है। विस्तारसे उसका प्रमाण इसप्रकार है।—

भाष्यम्—व्यासतस्तु शुद्धपृथिवीकायस्य परा द्वादश वर्षसहस्राणि, खरपृथिवीकायस्य द्वाविंशतिः, अपकायस्य सप्त, वायुकायस्य त्रीणि, तेजःकायस्य त्रीणि रात्रिदिनानि वनस्पतिकायस्य दश वर्षसहस्राणि । एषां कायस्थितिरसंख्येयाः अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यः । वनस्पतिकायस्यानन्ता । द्वीन्द्रियाणां भवस्थितिर्द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणामेकोनपञ्चाशद् रात्रिदिनानि । चतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः । एषां कायस्थितिः संख्येयानि वर्षसहस्राणि । पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिजाः पञ्चविधाः—तद्यथा—मत्स्याः उरगाः परिसर्पाः पक्षिणश्चतुष्पदा इति । तत्र मत्स्यानामुरगाणां भुजगानां च पूर्वकोट्येव । पक्षिणां पल्योपमासंख्येयभागः । चतुष्पदानां त्रीणि पल्योपमानि गर्भजानां स्थितिः । तत्र मत्स्यानां भवस्थितिः पूर्वकोटिस्त्रिपञ्चाशदुरगाणां द्विचत्वारिंशद् भुजगानां द्विसप्ततिः पक्षिणां स्थलचराणां चतुरर्शातिर्वर्षसहस्राणि सम्मूर्छितानां भवस्थितिः । एषां कायस्थितिः सप्ताष्टौ भवग्रहणानि । सर्वेषां मनुष्यतिर्यग्योनिजानां कायस्थितिरप्यपरा अन्तर्मुहूर्तैवेति ।

इति तत्त्वार्थाधिगमे लोकप्रज्ञातिर्नामा तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।

अर्थ—तिर्यञ्चोंकी भवस्थितिका प्रमाण सामान्यतया ऊपर लिखे अनुसार है। विशेषरूपसे यदि जानना हो, तो वह इस प्रकार समझना कि—

शुद्ध पृथिवीकायकी उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार वर्षकी है। खर पृथिवीकायकी चाईस हजार वर्षकी, जलकायकी सात हजार वर्षकी और वायुकायकी तीन हजार वर्षकी है। अग्निकायकी भवस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण तीन रात्रि दिनका है। तथा वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट भवस्थिति दश हजार वर्षकी है। इनमेंसे वनस्पतिकायको छोड़कर बाकी जीवोंकी उत्कृष्ट कायस्थितिका प्रमाण असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी है। वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है।

द्वीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार वर्षकी है । त्रीन्द्रियोंकी उनचास रात्रि दिन, और चतुरिन्द्रियोंकी छह महीना है । इनकी उत्कृष्ट कायस्थिति सख्यात हजार वर्षकी है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पाँच प्रकारके हैं ।—मत्स्य उरग परिसर्प पक्षी और चतुष्पद । इनमेंसे मत्स्य उरग और भुजग (परिसर्प) इनकी उत्कृष्ट भवस्थिति कोटिपूर्व वर्षकी है पक्षियोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति पल्यके अस्त्रयातवे भाग है । गर्भज चतुष्पदोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्यकी है । इसमें मत्स्योंकी भवस्थिति कोटिपूर्व, उरगोंकी त्रेपन, भुजगोंकी व्यालीस, स्थलचर पक्षियोंकी बहत्तर आर सम्मूर्जनजीवोंकी भवस्थिति चौरासी हजार वर्षकी है । इन सबकी कायस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण सात आठ भवग्रहण करने तक है । सम्पूर्ण मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी कायस्थितिका जघन्य प्रमाण अतर्मुहर्तमात्र ही है ।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्यका लोकप्रज्ञप्ति
नामका तीसरा अध्याय समाप्त हुआ

चतुर्थोऽध्यायः ।

अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन ऊपर तीसरे अध्यायमें कर चुके हैं, किन्तु ऊर्ध्वलोकका वर्णन अभी तक नहीं किया गया । अतएव उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता है । इसके सिवाय—

भाष्यम्—अत्राह उक्तं भवता “भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति” । तथौदयिकेषु भावेषु देवगतिरिति । केवलश्रुतसङ्गधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य । सारागसंयमादयो देवस्य । नारकसम्मूर्च्छिनो न पुंसकानि न देवाः । तत्र के देवाः ? कतिविधा वेति ? अत्रोच्यतेः—

अर्थ—यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, कि आपने अनेक स्थलोंपर देव शब्दका प्रयोग किया है—जैसे कि “भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानाम् (अ० १ सूत्र २२) । तथा औदयिक-भावोंका वर्णन करते हुए भी देवगतिका उल्लेख किया है (अ० २ सूत्र ६) और “केवलश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।” (अ० ६ सूत्र १४४) इसी प्रकार “साराग संयमादयो देवस्य ” एवं “नारक सम्मूर्च्छिनो न पुंसकानि—न देवाः ।” इन सूत्रोंमें भी देव शब्दका पाठ किया है । इस प्रकार देव शब्दका पाठ तो अनेक बार किया है, परन्तु अभी तक यह नहीं बताया, कि देव कहते किसको है ? दूसरा प्रश्न यह भी है, कि उन देवोंके कुछ भेद भी है या नहीं ?

भावार्थ—जीव तत्त्वके आधारभूत तीन लोकोंमेंसे ऊर्ध्वलोकका वर्णन बाकी है, उसका करना आवश्यक है, इसलिये और अनेक सूत्रोंमें जो देव शब्दका प्रयोग किया है, उसपरसे उक्त दो प्रश्न जो उपस्थित होते हैं, उनका उत्तर देनेके लिये आचार्य सूत्र कहते हैं—

सूत्र—देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया भवन्ति । तान्पुरस्ताद्वक्ष्यामः ॥

अर्थ—देव चार निकायवाले हैं । चारों निकायोंका वर्णन आगे चलकर किया जायगा ।

भावार्थ—सबसे पहला प्रश्न तो यही उपस्थित होता है, कि जब देव अधोलोक और मध्यलोकमें भी रहते हैं, तो ऊर्ध्वलोकको ही देवोंका आवास क्यों कहा जाता है ? उत्तर—देवोंके चार निकाय हैं—भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक । भवनवासी अधोलोकमें और व्यंतर तथा ज्योतिषी तिर्यग्लोकमें रहते हैं, यह ठीक है, परन्तु देवोंमें वैमानिकदेव प्रधान हैं, और उनका निवास ऊर्ध्वलोकमें ही है । अतएव ऊर्ध्वलोकको जिसका कि इस चतुर्थ अध्यायमें वर्णन किया जायगा, देवोंका आवासस्थान कहते हैं ।

देव किसको कहते हैं ? इसका उत्तर देवशब्दकी निरुक्तिसे ही लब्ध हो जाता है ।

देव शब्द दिव् धातुसे बना है, जोकि क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न शान्ति और गति अर्थमें आती है । देवगति नामकर्मके उदयसे जो जीव देवपर्यायको धारण करता है, वह स्वभावसे ही क्रीडा करनेमें आसक्त रहा करता है । उसको भूल प्यासकी बाधा नहीं हुआ करती । उसका शरीर रसे रक्तादिकसे रहित और दीप्तिशाली हुआ करता है । उनकी गति भी अति शीघ्र और चपल हुआ करती है । इत्यादि अर्थोंके कारण ही उनको देव कहते हैं ।

दूसरा प्रश्न उनके भेदोंके विषयमें है । सो उसका उत्तर चतुर्निकाय शब्दके द्वारा स्पष्ट ही है, कि देवोंके चार निकाय हैं । निकाय नाम सप्त अथवा जाति या भेद का है । देवोंकी—मवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक ये चार जातियाँ हैं, अथवा उनके ये चार सप्त या भेद हैं । यद्वा निकाय शब्दका अर्थ निवासस्थान भी माना है । चारों प्रकारके देवोंके निवास और उत्पत्तिके स्थान भिन्न भिन्न हैं और वे चार हैं । मवनवासी रत्नप्रभा पृथिवीके ऊपर नीचेके एक एक हजार योजनके भागको छोड़कर शेष भागमें उत्पन्न होते हैं । ऊपर जो एक हजार योजनका भाग छोड़ा है, उसमेंसे ऊपर नीचे सौ सौ योजन छोड़कर मध्यके आठ सौ योजनके भागमें व्यन्तर उत्पन्न हुआ करते हैं । ज्योतिषी देव शृण्वीसे ऊपर सात सौ नब्बे योजन चढ़कर एकसौ दश योजन प्रमाण ऊँचे नमो भागमें जन्म ग्रहण किया करते हैं । वैमानिकदेव मेरुसे ऊपर ऋजुविमानसे लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तके विमानोंमें उत्पन्न हुआ करते हैं । इस प्रकार उत्पत्ति स्थानके भेदसे देवोंके चार भेद हैं । इनका गमनागमन जन्मस्थानके सिवाय अन्यस्थानोंमें भी हुआ करता है । यहाँपर इतनाही देवोंका स्वरूप और भेदकथन सामान्यसे समझना चाहिये । क्योंकि इसका विशेष वर्णन आगे चलकर करेंगे । यहाँपर इतना और विशेष समझना कि यह ऊर्ध्व लोकका प्रसरण है, अतएव उसके अनुसार देवशब्दसे भावनेव ही यहाँपर विवक्षित हैं ।

प्रश्न—देवोंका स्वरूप और उनके चार निकाय आपने बताये, परन्तु देव प्रत्यक्ष—

१—“दीव्यति जदो निष्च गुणेहि ओष्ठेहि दिव्यमावेहि । भासतादिव्यकाया तम्हा ते वणिग्या देवा ॥ १५० ॥ (गोष्मन्सार जीवकाण्ड) इसके निवाय देखो भगवतीसूत्र ५८४- के महालए ण भते । लोए पप्रत्ते ? इत्यादि । और विमानमहत्त्व प्रमाणामे “के महालया ॥ भते । विमाणा पण्णता २” इत्यादि । २—वैमानिकदेवोंका जन्म अपने अपने स्वर्गमें ही होता है, परन्तु उनकी नियोगिनी देवियोंका जन्म पहले दूसरे स्वर्गमें ही होता है । ऊपरके स्वर्गमें जन्म ग्रहण करनेवाले अथवा रहनेवाले देव वहाँसे आकर उन अपनी अपनी नियोगिनी देवियोंको अपने अपने स्थानपर ले जाते हैं । ३—इसी अध्यायमें । ४—भगवतासूत्रमें (श १२ उ ९ सूत्र ४६१) पौच प्रच्छादके देव बताये हैं ।—भव्य इव्यदेव नरदेव धर्मदेव देवाधिदेव और भावदेव । यथा—“कतिविधा ण भते । देवा पण्णता । गोयमा । पंचविधा देवा पण्णता ता जहा—भविष्यदश्वदेवा नरदेवा धम्मदेवा देवाहिदेवा भावदेवाय ।” जो मनुष्य या तिर्यच मरकर देव होनेवाला है उसको भव्य इव्यदेव कहते हैं । चौदह रत्नोंके अधिपति चक्रार्थियोंको नरदेव कहते हैं । निर्मल साधुओंको धर्मदेव और तीर्थंकर भगवान्को देवाधिदेव कहते हैं । जो देवगति नामकर्मके उदयसे देवपर्यायको धारणकर देवायुको भोगनेवाले हैं, उनको भावदेव कहते हैं ।

इन्द्रियोंके द्वारा नहीं दीखते । अतएव उनका मूलमें अस्तित्व भी है या नहीं ? अथवा यह कैसे मालूम हो, कि वास्तवमें देवगति का अस्तित्व है ? उत्तर—देवगतिके एक देशको देखकर शेष भेदोंके अस्तित्वको भी अनुमानसे जाना जा सकता है । चार निकायोंमेंसे ज्योतिष्कदेवोंका अस्तित्व प्रत्यक्ष है । इसी बातको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—तृतीयः पीतलेश्यः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तेषां चतुर्णां देवनिकायानां तृतीयो देवनिकायः पीतलेश्य एव भवति । कश्चासौ ? ज्योतिष्क इति ।

अर्थ—ऊपर जो देवोंके चार निकाय बताये हैं, उनमेंसे तीसरे देवनिकायके पीतलेश्या ही होती है । उस देवनिकायका नाम है—ज्योतिष्क । अर्थात् चार देवनिकायोंमेंसे तीसरे देवनिकायका नाम ज्योतिष्क है, और वह नियमसे पीतलेश्यावाला ही होता है^१ । चन्द्र सूर्य आदि विमान प्रत्यक्ष दीखते हैं । उनमें रहनेवाले देव ज्योतिष्कदेव कहे जाते हैं । जिस प्रकार मकानोंको देखकर उनमें रहनेवालोका अस्तित्व अनुमानसे मालूम हो जाता है । उसी प्रकार उन देवोंका अस्तित्व भी समझ लेना चाहिये, और उन देवोंके सम्बन्धसे दूसरे देवोंका अस्तित्व भी जाना जा सकता है । जैसे कि सेना वन आदिके एकदेशको देखकर शेषका भी ज्ञान हो जाता है ।

ऊपर जो चार निकाय बताये हैं, उनके अन्तरभेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—ते च देवनिकाया यथासङ्ख्यमेवंविकल्पा भवन्ति । तद्यथा—दशविकल्पा भवनवासिनोऽसुरादयो वक्ष्यन्ते । अष्टविकल्पा व्यन्तराः किन्नरादयः । पञ्चविकल्पा ज्योतिष्काः सूर्यादयः । द्वादशविकल्पाः वैमानिका कल्पोपपन्नपर्यन्ताः सौधर्मादिष्विति^२ ॥

अर्थ—ऊपर जिन देवनिकायोंका उल्लेख किया गया है, उनके भेद क्रमसे इस प्रकार हैंः—भवनवासी, इनके असुरकुमार नागकुमार विद्यत्कुमार आदि दश भेद हैं, जिनका कि वर्णन आगे चलकर करेंगे । व्यन्तर, इनके किन्नर किंपुरुष महोरग आदि आठ भेद हैं । तीसरे ज्योतिष्क है, जिनके कि सूर्य चन्द्र आदि पाँच भेद हैं । वैमानिकदेवोंके बारह भेद हैं, परन्तु ये भेद सौधर्म आदि स्वर्गसे लेकर कल्पोपपन्न पर्यन्त हैं । आगे नहीं । व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिकदेवोंके इन भेदोंका भी उल्लेख आगे किया जायगा ।

१—यहाँपर लेश्यासे द्रव्यलेश्या समझनी चाहिये, जो कि शरीरके वर्णरूप है । परन्तु यह कथन ठीक समझमें नहीं आता, क्योंकि देवोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये यह सूत्र है । देव प्रत्यक्ष नहीं दीखते हैं, जो दीखते हैं, वे देवोंके विमान हैं, और उनके वर्णको लेश्या कैसे कहा जा सकता है, फिर सभी विमान या देव पीतवर्णके ही नहीं हैं । यदि देवोंका शरीरवर्ण लिया जाय, तो शेष तीन निकायोंके समान ज्योतिष्क भी दीखते नहीं ।

२—सौधर्मादिष्वपीति च पाठान्तरम् ।

भावार्थ—वैमानिकदेव दो प्रकारके है, कल्पोपपन्न और कल्पातीत । जिनमें वक्ष्यमाण इन्द्र सामानिक आदि भेदोंकी कल्पना पाई जाती है, उन स्वर्गोंको कल्प कहते हैं, और उनमें उपपाद-जन्म धारण करनेवाले देवोंका नाम कल्पोपपन्न है । जिनमें वह कल्पना नहीं पाई जाती, उन स्वर्गोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंको कल्पातीत कहते हैं । पहले सौधर्म स्वर्गसे लेकर बारहवें अच्युत स्वर्गतकको कल्प कहते हैं । अतएव इनमें उत्पन्न होने वाले देवोंके बारह भेद हैं । बारह स्वर्गोंके इन्द्र भी बारह ही हैं । अच्युत स्वर्गसे ऊपरके देव दो तरह के हैं—ग्रहेयस्त्रैसी और अनुत्तरत्रैसी । इन दोनों ही तरहके देवोंको अहमिन्द्र कहते हैं, क्योंकि इनमें इन्द्रादिककी कल्पना नहीं है । सब समान ऐश्वर्यके धारक हैं । अतएव वे सभी देव अपने अपनेको इन्द्र ही समझते और मानते हैं । प्रकृतमें वैमानिकदेवोंमेंसे अहमिन्द्रोंका ग्रहण अपेक्षित नहीं है । कल्पोपपन्नपर्यन्त ऐसा कहनेसे और बारह भेद दिखानेसे स्पष्ट होता है, कि प्रकृतमें अच्युत स्वर्ग तकके भेद बताना ही आचार्यको अभीष्ट है ।

ऊपर कहा जा चुका है, कि बारहवें स्वर्गतक इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, इसलिये उसके कल्प कहते हैं । किंतु वह कल्पना जितने प्रकारकी है, सो अभी तक बताई नहीं, अतएव उसके भेदोंको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिपद्यात्मरक्षलोकपालानी-
कप्रकीर्णकामियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकश ॥ ४ ॥

भाष्यम्—एकेकशश्चेतेषु देवनिकायेषु देवा दशविधा भवन्ति । तद्यथा इन्द्रा सामा-
निका त्रायस्त्रिंशा पारिपद्या आत्मरक्षा लोकपाला अनीकानि अनीकाधिपतयः प्रकीर्णका
आभियोग्या किल्बिषिकाश्चेति ॥ तत्रेन्द्रा भवनवासिष्यन्तरज्योतिष्कविमानाधिपतयः ॥
इन्द्रसमाना सामानिका अमात्यपितृगुरुपाध्यायमहन्तरघट केवलमिन्द्रत्वहीना । त्राय
स्त्रिंशा मन्त्रिपुरोहितस्थानीया । पारिपद्या वयस्यस्थानीया । आत्मरक्षा शिरोरक्षस्था

१-दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग और उनके बारह इन्द्र माने हैं । इन इन्द्रोंकी अपेक्षासे ही कल्पोपपन्नके बारह भेद माने हैं । यथा—सौधमादि बार स्वर्गोंके बार इन्द्र पाँचवें छठेका एक सातवें आठवेंका एक नौवें दशवेंका एक ग्यारहवें बारहवेंका एक, और तेरहवेंसे सोलहवें तकके बार इन्द्र हैं । इनके नाम राजवार्तिरुमें देरना चाहिये । श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अच्युत पर्यन्त बारह स्वर्ग और उनके बारह ही इन्द्र माने हैं । किन्तु सिद्धमेन गणाने इन्द्रोंके दश भेद ही गिनिये हैं । ऐसा कि आचार्य ४ सूत्र ६ की टीकासे मालूम होता है । २-इस ग्रन्थमें नव ग्रहेयस्त्र और नव अनुत्तर देवोंका ही ग्रहण करना चाहिये । ३-विजय वैजयत जयत अपराजित और सर्वोपसिद्धि इन पाँच विमानोंको अन्तर्गत कहते हैं । ४-अहमिन्द्रोऽस्मि तेन्द्रोऽज्यो मत्तास्तीयातकृत्यना । अहमिन्द्राभ्याम्यथा व्याप्ति गतास्ते हि दिवौकसः ॥ श्रीविनयेनाचार्य—महापुराण ५- अधिवासवाची चाय कल्पशब्द । अन्तेपरिगता पर्यन्ता । कल्पोपपन्ना (कल्पपन्ना) पर्यन्ता ज्ञेया त इमे । कल्पाय द्वादश वक्ष्यमाणा सौधर्मादयोऽच्युतपर्यवसाना । तत्पर्यन्तमित्यनुष्ठेय भवतीति ॥ ६—सूत्रमें केवल अनीक शब्द ही पड़ा है न कि अनीकाधिपति । अतएव भाष्यकारन अनीक शब्दका ही अर्थ अनीकाधिपति है । ऐसा समझनेके लिये सुलभ किया है । अन्यथा दशनी सत्या विधित हो जायगी ।

नीयाः । लोकपाला आरक्षिकार्थचरस्थानीयाः । अनीकाधिपतयो दण्डनायकस्थानीयाः । अनीकान्यनीकस्थानीयान्येव । प्रकीर्णकाः पौरजनपदस्थानीयाः । आभियोग्याः दासस्थानीयाः । किल्विपिका अन्तस्थस्थानीया इति ॥

अर्थ—ऊपर जो देवोंके चार निकाय बताये हैं, उनमेंसे प्रत्येक निकायमें देवोंके दश भेद हुआ करते हैं । अर्थात् चारों निकायोंके देवोंमें दश दश प्रकार हैं । वे दश प्रकार कौनसे हैं सो बताते हैं ।—इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद्य आत्मरक्ष लोकपाल अनीक—अनीकाधिपति प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्विपिक ।

भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक इन चारों निकायोंके देवोंमें जो सब देवोंके—अपने अपने निकायवर्त्ती समस्त देवोंके अधिपति—स्वामी हैं, उनको इन्द्र कहते हैं । अमात्य पिता गुरु उपाध्याय आदिके समान जो महान् हैं, जिनमें केवल इन्द्रत्व तो नहीं है—आज्ञा करनेकी योग्यता या अधिकार तो जिनमें नहीं पाया जाता, परन्तु जिनका ऐश्वर्य सब इन्द्रके हा समान होता है, उन देवोंको सामानिक कहते हैं । राज्यमें मन्त्री और पुरोहित जिस प्रकार हुआ करते हैं, उसी प्रकार जो देव उनके समान स्थानपर नियुक्त हैं, उनको त्रायस्त्रिंश कहते हैं । जो मित्रके समान हैं, अथवा सभासदोंके स्थानापन्न हैं, उनको पारिषद्य कहते हैं, । जो हथियार लिये हुए पीठकी तरफ रक्षाके लिये खड़े रहते और स्वामीकी सेवामें सज्ज रह कर रहे हैं, ऐसे अङ्गरक्षकोंके समान जो देव होते हैं, उनको आत्मरक्ष कहते हैं । जो चोर आदिसे रक्षा करनेवाले कोतवालके समान हैं, उनको लोकपाल कहते हैं । जो सेनापतिके समान हैं, उनको अनीकाधिपति कहते हैं । जो नगरनिवासियोंके समान हैं—प्रजाके स्थानापन्न हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं । जो नौकरोंके समान हैं, उनको आभियोग्य कहते हैं । नगर बाह्य रहनेवाले चाण्डालादिके जो समान हैं, उनको किल्विपिक कहते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार मर्त्यलोकमें राज्यकी विभूति और उसके अंग हुआ करते हैं, उसी प्रकारकी रचना देवोंमें भी है । इन्द्र राजाके स्थानापन्न हैं, सामानिक अमात्य और पिता तथा गुरु आदिके स्थानापन्न हैं । इसी प्रकार ऊपर लिखे अनुसार दशों भेदोंके विषयमें समझना चाहिये ।

१—यह सामान्य कथन है । इसका विशेष अपवादरूप कथन आगेके सूत्रमें करेंगे, कि व्यन्तर और ज्योतिष्कोंमें आठ ही भेद हैं । २—ये एक एक इन्द्रके प्रति मंल्यामें ३३ ही होते हैं । अतएव इनको त्रायस्त्रिंश कहते हैं ।

३—अनीक शब्द सूत्रमें आया है, उसीका अर्थ अनीकाधिपति है । अन्यथा दो शब्द माननेपर दण्डकी संख्या नहीं रह सकती है, ऐसा पहले बता चुके हैं । अतएव स्पष्ट बोध करानेके लिये ही भाष्यकारने एक अनीकाधिपति शब्दकी ही व्याख्या की है । ४—यद्यपि स्वर्गोंमें यहाँके समान चोरी करनेवाले अथवा युद्धादि करनेवाले शत्रु आदि नहीं हैं, तो भी यह केवल पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुई, ऋद्धि विशेषके वैभव और उसके महत्वको प्रकट करता है । जैसे कि किसी महान् पुण्याधिकारी राजाके राज्यमें कभी किसी भी प्रकारका कोई भी उपद्रव नहीं होता, तो भी उसके राज्यमें राज्यके सम्पूर्ण अंग रहते ही हैं, और उनके रहनेको केवल पुण्यजनित वैभव ही कहा जा सकता है । इसी प्रकार प्रकृतमे भी समझना चाहिये । अतएव इस वैभवका फल स्थितिका रक्षण और पालन तथा प्रकृष्ट प्रीतिका उत्पन्न करना आदि समझना चाहिये ।

उपरके कथनसे देवोंके चारों ही निकायोंमें यह दशविध कल्पना है—सभी निकायोंमें ये दश प्रकारके देव रहते हैं, ऐसा समझमें आता है । क्योंकि ऊपर जो कथन किया है, वह सामान्य है, उसमें अभीतर कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है । अतएव उसमें जो विशेषता है, उसको बताते हैं—

सूत्र—त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—व्यन्तरा ज्योतिष्काश्चाष्टविधा भवन्ति त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या इति ॥

अर्थ—चार निकायोंमेंसे व्यन्तर तथा ज्योतिष्क निकायमें आठ प्रकारके ही देव रहा करते हैं । उनमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं हुआ करते ।

भावार्थ—इन्द्र सामानिक आदिके भेदसे देवोंके जो दश प्रकार बताये हैं, वे दशों प्रकार भवनवासी और वैमानिक देवोंमें ही पाये जाते हैं । व्यन्तर और ज्योतिष्कोंमें नहीं । अतएव उनमें देवोंके आठ ही भेद हुआ करते हैं ।

इन्द्र आदि दश भेद जो बताये हैं, उनमें और कोई विशेषता नहीं बताई है, अतएव कोई समझ सकता है, कि चार निकायोंके चार ही इन्द्र हैं, इसी प्रकार और भी अनिष्ट अर्थका प्रसङ्ग आ सकता है । अतएव उक्त निकायोंमें इन्द्रोंकी कल्पना किस प्रकारसे है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—पूर्वयोर्दीन्द्रा ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वयोर्देवनिकाययोर्भवनवासित्वव्यन्तरयोर्देवविकल्पाना द्वौ द्वाविन्द्री भवतः । तद्यथा—भवनवासिपु तावद्द्वौ असुरकुमाराणामिन्द्री भवतश्चमरो बलिश्च । नागकुमाराणा धरणो भूतानन्दश्च । विष्णुकुमाराणा हरिर्हरिहसश्च । सुपर्णकुमाराणा वेणुदेवो वेणुद्वारी च । अग्निकुमाराणामग्निशिरोऽग्निमाणवश्च । वातकुमाराणा घेलम्बः प्रमन्नश्च । स्तनितकुमाराणां सुधोषो महाघोषश्च । उदधिकुमाराणा जलकान्तो जलप्रमदश्च । द्वीपकुमाराणा पृणाऽवशिष्टश्च । विष्णुकुमाराणाममितोऽमितवाहनश्चेति ॥

व्यन्तरेष्वपि द्वौ किन्नराणामिन्द्री किन्नरः किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणा सत्पुरुषो महापुरुषश्च । मत्तोरगाणामतिकायो महाकायश्च । गन्धर्वाणा गीतरतिर्गीतयशाश्च । यक्षाणां पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च । राक्षसाना भीमो महाभीमश्च । भूतानां प्रतिरूपोऽतिरूपश्च । पिशाचानां कालो महाकालश्चेति ॥ ज्योतिष्काणां तु षट्—सूर्याश्चन्द्रमसश्च । वैमानिकानामेकैक एव । तद्यथा—सौधम शक्रः पेशाने ईशानः, सनत्कुमारे सनत्कुमारः इति । एव सर्व कल्पेपु स्वकल्पाद्याः परतत्त्वव्यन्त्रादयो दश विशेषा न सन्ति सर्व एव स्वतन्त्रा इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त चार निकायोंमेंसे पहले दो देवनिकायोंमें अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरोंमें नितने देवोंके विस्तृत हैं, उन सभीमें दो दो इन्द्र हुआ करते हैं । उनके नाम हम प्रकार है—भवनवासियोंके अमरकुमार आदि दशभेद हैं, जिनमेंसे

असुरकुमारोंके चमर और बलि ये दो इन्द्र हैं। नागकुमारोंके धरण और भूतानन्द, विद्युत्कुमारोंके हरि और हरिहस, सुपर्ण कुमारोंके वेणुदेव और वेणुदारी, अशिकुमारोंके अशिशिख और अशि-
माणव, वातकुमारोंके वेलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारोंके सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारोंके पूर्ण और अवशिष्ट, तथा दिक्कुमारोंके अमित और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं।

व्यन्तरनिकायके आठ भेद हैं—उनमें भी इसी प्रकार प्रत्येक भेदके दो दो इन्द्र सम्-
झे चाहिये। उनके नाम इस प्रकार हैं—किन्नरोंके किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषोंके मत्पुरुष
और महापुरुष, महोरगोंके अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वोंके गीतरति और गीतयशाः, यक्षोंके
पूर्णमद्र और मणिमद्र, राक्षसोंके भीम और महाभीम, भूतोंके प्रतिरूप और अतिरूप, एवं
पिशाचोंके काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं।

ज्योतिष्क निकायमें सूर्य और चन्द्रमा ये दो^१ इन्द्र हैं। किन्तु ये सूर्य और चन्द्रमा एक
एक ही नहीं किन्तु बहुत हैं। क्योंकि द्वीप समुद्रोंका प्रमाण असंख्य है और प्रत्येक द्वीप या
समुद्रमें अनेक सूर्य तथा चन्द्रमा पाये जाते हैं। अतएव सूर्य और चन्द्रमा भी असंख्य हैं।

वैमानिकदेवोंमें एक एक ही इन्द्र हैं।—यथा—सौधर्म स्वर्गके इन्द्रका नाम शक्र है, इसी
प्रकार ऐशान स्वर्गके इन्द्रका नाम ईशान और सानत्कुमार स्वर्गके इन्द्रका नाम सनत्कुमार है।
इसी प्रकार हरएक कल्पमें समझना चाहिये। उन इन्द्रोंके नाम कल्पोंके नामके अनुसार ही
हैं। बारहवें अच्युत स्वर्ग तक कल्प कहा जाता है। इसलिये वहीं तक यह इन्द्रादिककी
कल्पना पाई जाती है, उसके आगे देवोंके सामानिक आदि विशेष भेद नहीं है। वहाँके
सभी देव स्वतन्त्र हैं। उनको अहमिन्द्र कहते हैं। वे गमनागमनसे रहित हैं।

इस प्रकार पहली दोनों निकायोंके इन्द्रोंका वर्णन करके उनकी लेख्याओंको बतानेके
लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—पीतान्तलेख्याः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—पूर्वयोर्निकाययोर्देवानां पीतान्ताश्चतस्रोलेख्या भवन्ति ।

अर्थ—पहले दोनों निकायोंके देवोंके पीतपर्यन्त चार लेख्याएं होती हैं।

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें इन दोनोंमें से चन्द्रमाको प्रधान माना है। चन्द्रको इन्द्र और सूर्यको प्रतीन्द्र
कहते हैं। सौ इन्द्रोंकी गणनामें इन्द्र और प्रतीन्द्र दोनों ही लिये जाते हैं। २—जम्बूद्वीप दीप खण्डाभ्युधिमें चार
चन्द्र, धातखण्ड बारह कालोदधि व्यालीस हैं, पुष्करके दीप भाग ईधर वहत्तरह इत्यादि (चर्चाशतक) ३—माहे-
न्द्रमें माहेन्द्र, ब्रह्मलोकमें ब्रह्म, लान्तवमे लान्तरु, महाशुक्रमें महाशुक्र, सहस्रारमें सहस्रार, आनत और प्राणत दोनों
कल्पोंका प्राणत नामका एक ही इन्द्र है। इसी प्रकार आरण और अच्युतकल्पोंका एक अच्युत नामका ही इन्द्र है।
इम प्रकार बारह स्वर्गोंके दस ही इन्द्र हैं। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग और उनके बारह इन्द्र माने हैं।

भार्यार्थ—यहाँपर लेइयासे अभिप्राय द्रव्यलेइयाका है । अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरनिकायके देवोंके शरीरका वर्ण कृष्ण नील कपोत और पीत इन चार लेइयाओंमेंसे किसी भी एक लेइयारूप हो सकता है । भावलेइयाके विषयमें कोई नियम नहीं है । दोनों निकायके देवोंके छहों भावलेइया हो सकती हैं ।

उक्त चारों निकायके देव तीन भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं । एक तो वे कि जिनके देवियाँ भी हैं और प्रवीचार भी है, दूसरे वे कि जिनके देवियाँ तो नहीं हैं, परन्तु प्रवीचार पाया जाता है । तीसरे वे कि जिनके न देवियाँ हैं और न प्रवीचार ही है । इनमेंसे वे देव कौनसे हैं, कि जिनके देवियाँ भी हैं और प्रवीचार भी है ? उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—भवनवास्याद्यो देवा आ ऐशानात् कायप्रवीचारा भवन्ति । कायेन प्रवीचार एषामिति कायप्रवीचारा । प्रवीचारो नाम मैथुनविषयोपसेवनम् । ते हि सक्लिष्टकर्मणो मनुष्यवन्मैथुन सुखमनुप्रलीयमानास्तीव्रानुगत्या कायसङ्केशज सर्वाङ्गीण स्पर्शसुखमवाप्य प्रीतिमुपलभन्त इति ॥

अर्थ—काय नाम शरीरका है, और प्रवीचार नाम मैथुन सेवनका है । शरीरके द्वारा स्त्रीसम्भोग आदि जो मैथुन सेवन किया जाता है, उसको कायप्रवीचार कहते हैं । भवनवासियोंसे लेफर ऐशान स्वर्गतक्के देव कायप्रवीचार हैं । वे शरीर द्वारा ही मैथुन विषयका सेवन करते हैं । उनके कर्म अतिक्लेशयुक्त हैं, वे मैथुन सेवनमें अति अनुरक्त रहनेवाले और उसका पुन सेवन करनेवाले हैं, मैथुनसत्ताके उनके परिणाम अतिशय तीव्र रहा करते हैं । अतएव वे शरीरके सङ्केशसे उत्पन्न हुए और सर्वाङ्गीण स्पर्श सुखको मनुष्योंकी तरह पाकरके ही वे प्रीतिको प्राप्त हुआ करते हैं ।

भार्यार्थ—यहाँपर आइका मर्याद अर्थ न करके अभिविधि अर्थ माना है । अतएव ऐशान स्वर्गसे पहले ऐमा अर्थ न करके ऐशानपर्यन्त ऐमा अर्थ करना चाहिये । दूसरी बात यह है, कि उपर्युक्त कथानके अनुसार हम सूत्रमें दो बातें बतानी चाहिये । एक तो देवियोंका अस्तित्व और दूसरा प्रवीचारका सद्भाव । कायप्रवीचार शब्दके द्वारा ऐशान पर्यन्त—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवोंके प्रवीचार जिस तरहका होता है, सो तो बना दिया । परन्तु देवियोंके अस्तित्वके विषयमें यहाँ कोई उल्लेख नहीं किया है । सो वर "व्याख्यानतो विशेष प्रणिपत्ति" इम सिद्धान्तके अनुसार आगमके व्याख्यानसे प्राप्त लेना चाहिये । आगममें लिखा है, कि भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान

कल्पमें ही देवियाँ जन्मके द्वारा उत्पन्न हुआ करती हैं, इसके आगे नहीं। अतएव जन्मकी अपेक्षा देवियोंका अस्तित्व ऐशान कल्पपर्यन्त ही समझना चाहिये।

दूसरे प्रकारके देव वे बताये हैं, जिनके कि देवियोंका सद्भाव तो नहीं है, परन्तु प्रवी-चारकी सत्ता पाई जाती है। उनके मैथुन सेवन किस प्रकारसे हुआ करता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्रम्—शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ १ ॥

भाष्यम्—ऐशानादूर्ध्वं शेषाः कल्पोपपन्ना देवा द्वयोर्द्वयोः कल्पयोः स्पर्शरूपशब्दमनः-प्रवीचारा भवन्ति यथासङ्गचम् । तद्यथा सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवान् मैथुनसुखप्रेप्सुनुत्पन्ना-स्थान् विदित्वा देव्य उपतिष्ठन्ते । ताः स्पृष्ट्वैव च ते प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तास्याश्च भवन्ति । तथा ब्रह्मलोकलान्तकयोर्देवान् एवंभूतोत्पन्नास्थान् विदित्वा देव्यो दिव्यानि स्वभावमास्वराणि सर्वाङ्गमनोहराणि शृङ्गारोदाराभिजाताकारविलासान्युज्ज्वलचारुवेषाभरणानि स्वानि रूपाणि दर्शयन्ति । तानि दृष्ट्वैव ते प्रीतिमुपलभन्ते निवृत्तास्याश्च भवन्ति ॥ तथा महाशुक-सहस्रारयोर्देवानुत्पन्नप्रवीचारास्थान् विदित्वा देव्यः श्रुतिविषयसुखानत्यन्तमनोहरान्शृङ्गारो-दाराभिजातविलासाभिलाषच्छेदतलतालाभरणरवमिश्रान् हसितकथितनीतशब्दानुदीर-यन्ति । तान् श्रुत्वैव प्रीतिमुपलभन्ते निवृत्तास्याश्च भवन्ति । आनत प्राणतारणाच्युतकल्प-वासिनो देवाः प्रवीचारायोत्पन्नास्याः देवीः संकल्पयन्ति । संकल्पमात्रेणैव च ते परां प्रीति-मुपलभन्ते विनिवृत्तास्याश्च भवन्ति ॥ एभिश्च प्रवीचारैः परतः परतः प्रीति प्रकर्षविशेषोऽनु-पमगुणो भवति, प्रवीचारिणामल्पसङ्केतत्वात् । स्थितिप्रभावादिभिरधिका इति वक्ष्यते । (अ० ४ सूत्र ११)

अर्थ—कल्पोपपन्न देवोंमें सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंको छोड़कर बाकीके जो देव हैं, वे यहाँपर शेष शब्दसे कहे गये हैं। इन देवोंमें दो दो कल्पके देवोंके क्रमसे स्पर्श रूप शब्द और मनके द्वारा प्रवीचार हुआ करता है। वह किस प्रकारसे होता है सो बताते हैं—

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें जो उत्पन्न होनेवाले हैं, उन देवोंके जब मैथुन सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, तब उनकी नियोगिनी देवियाँ उनको वैसा जानकर उनके निकट आकर उपस्थित होती हैं। वे देव उन आई हुई देवियोंका केवल स्पर्श करके ही प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं, और उनकी वह कामवासनाकी आशा उसीसे निवृत्त हो जाती है।

इसी प्रकार ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पवासी देवोंके जब मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है, तब उनको वैसा-मैथुन सुखके लिये आशवान् जानकर उनकी नियोगिनी देवियाँ उनके निकट आकर उपस्थित होती हैं, और वे उन्हें अपने ऐसे रूप दिखाती हैं। जो कि दिव्य और स्वभावसे ही भास्वर-प्रकाशमान तथा सर्वाङ्गमें मनोहर हैं, जो शृङ्गार-सम्बन्धी उदार और अभिजात-उत्तम कुलके योग्य कहे और माने जा सकनेवाले आकार

तथा विलाससे युक्त हैं, एव जिनमें उज्ज्वल और मनोज्ञ वेप—वस्त्रपरिधान—पोशाक तथा आमरण पत्ये जाते हैं । उन देवियोंके ऐसे मनोहर और सुन्दर शृङ्गार तथा वेप भूषासे युक्त रूपोंको देखकर ही वे देव प्रीतिको प्राप्त होजाते हैं, और इतने—देखने मात्रसे ही उनकी वह-कामकी आशा भी निवृत्त हो जाती है ।

इसी तरह महाशुक्र और सहस्रार कल्पके देवोंके जब प्रवीचारकी आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, तब उनकी नियोगिनी देवियाँ उनको वैसा—काम सुखका अभिलाषी जानकर उनके निकट आती हैं, और ऐसे शब्दोंका उच्चारण करती हैं, कि जो श्रवण विषयके सुखको देनेवाले और अत्यन्त मनोहर हैं, जिनमें शृङ्गारका उदार और उच्च कुलके योग्य विलास अमिलाप छेद तल ताल और आभरणोंका शब्द मिला हुआ है । एव जो कभी हास्यके विषयको लेकर और कभी व्योपकथनके सम्बन्धको लेकर तथा कभी गायनके प्रकरणको लेकर प्रवृत्त हुआ करते हैं । उन देवियोंके उन इच्छाके अनुरूप शब्दोंको सुनते ही वे देव प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं और उनकी वह आशा भी उसीसे निवृत्त हो जाती है ।

इसा तरह आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पवर्ती देव जिस समय प्रवीचारका विचार ही करते हैं, और देवियोंका सकल्प करते हैं, उसी समय—उस सकल्पके करते ही वे देव प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं, और उस सकल्प मात्रसे ही उनकी वह आशा निवृत्त हो जाती है ।

इन प्रवीचारोंके कारण आगे आगेके—ऊपर ऊपरके कल्पोंमें रहनेवाले देव अधिकाधिक विशेष प्रीतिको धारण करनेवाले हैं, और उनकी यह प्रीति उत्तरोत्तर अनुपम महत्वको रखने वाली है । क्योंकि ऊपर ऊपरके उन प्रवीचार करनेवाले देवोंमें प्रवीचारके सकल्परूप परिणाम अल्प—मन्द मन्दतर हुआ करते हैं । परन्तु वे स्थिति और प्रभावकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक हैं, जैसा कि आगे चलकर लिखा जायगा ।

भाषार्थ—ऊपर जो तीन प्रकीरके देन बताये हैं, उनमेंसे यह उन देवोंके स्वरूपका वर्णन है, जो कि अदेवीक और सप्रवीचार हैं । यह बात भी ऊपर लिखी जा चुकी है, कि कल्पवासिनी देवियाँ जन्मके द्वारा सौधर्म और ऐशान कल्पमें ही उत्पन्न हुआ करती हैं । ऊपरके कल्पोंमें वे उत्पन्न नहीं हुआ करती । अतएव उन देवोंको अदेवीक माना है । किन्तु उनमें प्रवीचार पाया जाता है । उन देवोंको मैथुनकी इच्छा होते ही उनकी नियोगिनी देवियाँ उनके पास सौधर्म ऐशान कल्पसे आकर उपस्थित हो जाती हैं । उपस्थित होनेवाली

१—अध्याय ४ सूत्र २१ । २—अदेवीक सप्रवीचार, अदेवीक सप्रवीचार अदेवीक अप्रवीचार । दूसरे प्रकारको अदेवीक कहनेसे यह अभिप्राय नहीं है कि उनके देवियाँ ही नहीं हैं । किन्तु तात्पर्य यह है कि वे मनुष्योंके समान अथवा ऐशान पर्यन्त देवोंके समान कार्यसे क्रीडा करनेवाले नहीं हैं और उनके नियोगिनी—परिप्रीता देवियाँ नहीं हैं । अतएव अदेवीक शब्दार्थ देवियोंके निषेधका पर्युदास रूप अर्थ करना चाहिये ।

जो देवियाँ हुआ करती हैं, उनको अपरिग्रहीत वेद्याओंके स्थानापन्न माना है, और उन्हें अप्सरा कहते हैं। उनकी स्थिति आदिका विशेष वर्णन टीका-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये, जिससे यह मालूम हो सकता है, कि सौधर्म ऐशानमेंसे किस कल्पमें उत्पन्न होनेवाली और कितनी स्थितिवाली देवियाँ किस कल्पवासीके उपभोग योग्य हुआ करती हैं।

सानत्कुमारसे अच्युत कल्प पर्यन्त देवोंके प्रवीचारका सद्भाव जो बताया है, वह मनुष्योंके समान शारीरिक नहीं है। किंतु वह क्रमसे चार प्रकारका है—स्पर्शन दार्शनिक शाब्दिक और मानसिक। इनमेंसे किस किस कल्पमें कौन कौनसा प्रवीचार पाया जाता है, सो ऊपर बताया जा चुका है।

केवल स्पर्शमात्रसे अथवा देखने मात्रसे या शब्दमात्रसे या शब्दमात्रको सुनकर यद्वा मनके संकल्पमात्रसे जो प्रवीचार हुआ करता है, उनमें उत्तरोत्तर सुखकी मात्रा कम होगी, ऐसी उन लोगोंको शंका हो सकती है, जो कि मनुष्योंके समान काय सम्भोगके द्वारा रेतःसुखलनमें ही मैथुन सुखका अनुभव करनेवाले हैं। परन्तु यह बात नहीं है, उन उत्तरोत्तर कल्पवासीदेवोंमें सुखकी मात्रा अधिकाधिक है, क्योंकि प्रवीचार वास्तवमें सुख नहीं है, वह एक प्रकारकी वेदना है। वह जहाँ जहाँपर जितने जितने प्रमाणमें कम हो, सुखकी मात्रा वहाँ वहाँपर उतने उतने ही प्रमाणमें अधिकाधिक समझनी चाहिये। जो कल्पातीत है, वे सर्वथा अप्रवीचार होनेसे मानसिक प्रवीचार करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिक सुखी हैं। जैसा कि आगेके सूत्रसे मालूम होगा।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके प्रवीचारका वर्णन पहले कर चुके हैं। और उसके बादका सानत्कुमार कल्पसे लेकर अच्युत कल्पतकके प्रवीचारका इस सूत्रमें वर्णन किया है।

क्रमानुसार अदेवीक और अप्रवीचार देवोंका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥

भाष्यम्—कल्पोपपन्नेभ्यः परे देवा अप्रवीचारा भवन्ति। अल्पसंक्लेगत्वात् स्वस्थाः शीतीभूताः। पञ्चविधप्रवीचारोद्भवाद्यपि प्रीतिविशेषादपरिमितशुणप्रीतिप्रकर्षाः परमसुख-वृत्ता एव भवन्ति ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें वैमानिक देवोंमेंसे कल्पोपन्न देवोंके प्रवीचारका वर्णन किया गया है, उससे आगेके—नव ग्रैवैयक नव अनुदिश और विजयादिक पाँच अनुत्तरवासी देव यहाँपर पर शब्दसे लिये हैं। ये देव प्रवीचारसे सर्वथा रहित माने हैं। इनके संक्लेश परिणाम अत्यल्प हैं—मैथुन संज्ञाके परिणाम इनके नहीं हुआ करते, अतएव ये स्वस्थ हैं—आत्मसमाधिसे उत्पन्न हुए अनुपम सुखका ही ये उपभोग किया करते हैं, इनका मोहनीय कर्म अत्यंत कृश हो जाता है, इनके क्रोधादि कषाय भी अति मंद रहते हैं, अतएव इनको शीर्ताभूत

माना है । पाँच प्रकारके प्रवीचारसे उत्पन्न होनेवाली प्रीति विशेषसे भी इनकी प्रीतिके प्रकर्षना महत्व अपरिमित है । अतएव ये परमसुखके द्वारा सदा तृप्त ही रहा करते हैं ।

भावार्थ—प्रवीचारकी गंधसे सर्वथा रहित होनेके कारण कल्पातीत देव आत्मसमुत्थ अनुपम सुखका अनुभव करनेवाले हैं । रूप रस गंध स्पर्श और शब्द ये पाँच मनोहर विषय प्रवीचारके कारण हैं । इन पाँचोंके समुदायसे जो सुखानुभव हो सनता है, उससे भी अपरिमित गुणा प्रीतिविशेष-प्रमोद-आत्मिक सुख इन देवोंके रहा करता है । उनके सुखके समान सुख अन्यत्र ससारमें कहीं भी नहीं मिल सनता । अतएव वे जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त निरंतर सुखी ही रहा करते हैं ।

“न परे” ऐसा सूत्र करनेसे भी काम चल सनता था, फिर भी अप्रवीचार शब्दका ग्रहण करके सूत्रमें जो गौरव किया है, वह विशेष अर्थका ज्ञापन करनेके लिये है । जिससे इन देवोंमें सकलेश अधिक नहीं है, अल्प है, ओर ससार प्रवीचार समुद्भव है, इत्यादि विशिष्ट अर्थका बोध होता है ।

अबतक देवोंके सामान्य वर्णन द्वारा नाम निकाय विकल्प विधिसा वर्णन किया, अब विशेष कथन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार कहते हैं —

भाष्यम्—अत्राह-उक्त भवता “देवाश्चतुर्निकाया,” दशाष्ट पचद्वादशविकल्पा इति । तत् के निकाया ? के चेपा त्रिकल्पा इति ? अत्रोच्यते-चत्वारो देवनिकाया । तद्यथा-भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिका इति । तत्र—

अर्थ—प्रश्न-आपने इस अध्यायकी आदिमें पहला-“देवाश्चतुर्निकाया ” और तीसरा-“दशाष्टपचद्वादशविकल्पा ” ऐसा सूत्र कहा है । उसमें निम्न शब्दका पाठ किया है । सो यह नहीं मालूम हुआ कि, निम्न कहते किसको है ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर—देवोंके चार निम्न हैं । यथा-भवनवासी व्यन्तरा, ज्योतिष्क और वैमानिक ।

भाषार्थ—प्रश्नकर्त्ता आभिप्राय सामान्य जिज्ञासाका नहीं, किन्तु विशेष जिज्ञासाका है । अर्थात् निम्न शब्दसे जो आपने बताया है वे कौन कौनसे हैं, और उनके वे त्र आदिक भेद कौन कौनसे हैं । अतएव उत्तरमें भाष्यकार निम्नोंके चार भेदोंके भवनवासी आदि नाम गिनाकर तमसे पहले भवनवासियोंके दश भेदोंके बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

१—टीकाकारने रूप रस गंध रस और शब्द इन विषयोंकी अपेक्षा प्रवीचारके पाँच भेद बताये हैं । परन्तु सूत्रोक्त पाँच प्रकारके प्रवीचार इन तरह धँदे जा सकते हैं, कि-कथिक, स्वाक्षन, दार्शनिक, शाब्दिक और मानसिक । जैसा कि सूत्र ८-९ से प्रतीत होता है ।

सूत्र—भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाभिवातस्तनितो- दधिद्वीपदिवकुमाराः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—प्रथमो देवनिकायो भवनवासिनः । इमानि चैषां विधानानि भवन्ति । तद्यथा—असुरकुमारा नागकुमारा विद्युत्कुमाराः सुपर्णकुमारा अग्निकुमारा वातकुमाराः स्तनितकुमारा उदधिकुमारा द्वीपकुमारा दिक्कुमारा इति ॥

कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललितगतयः शृङ्गाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्वणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते । असुरकुमारावासेष्वसुरकुमाराः प्रतिवसन्ति शेषास्तु भवनेषु । महामन्दरस्य दक्षिणोत्तरयोर्दिग्विभागयोर्वह्नीषु योजनशतसहस्रकोटीकोटीष्वावासा भवनानि च दक्षिणार्धाधिपतीनामुत्तरार्धाधिपतीनां च यथास्वं भवन्ति । तत्र भवनानि रत्न-प्रभायां बाहल्यार्धमवगाह्य मध्ये भवन्ति । भवनेषु वसन्तीति भवनवासिनः ॥

अर्थ—पहला देवनिकाय भवनवासी हैं । उनके ये भेद हैं—असुरकुमार १ नागकुमार २ विद्युत्कुमार ३ सुपर्णकुमार ४ अग्निकुमार ५ वातकुमार ६ स्तनितकुमार ७ उदधिकुमार ८ द्वीपकुमार ९ और दिक्कुमार १० ।

असुरादिक सभी भवनवासीदेवोका स्वरूप कुमारोंके समान रमणीय और दर्शनीय हुआ करता है । इनके शरीर कुमारोंके समान ही सुकुमार और इनकी गति मृदु—स्निग्ध मधुर और ललित हुआ करती है । सुंदर शृंगारमें रत उच्च एवं उत्तम रूपको धारण करने-वाले तथा विविध प्रकारकी क्रीड़ा विक्रिया करनेमें अनुरक्त रहा करते हैं । इनका रूप शरीरका वर्ण, वेष—वस्त्रपरिधान, भाषा—वचन—कला, आभरण—अलंकार, प्रहरण—अस्त्र शस्त्र आदि आयुध, आवरण—छत्रादिक आच्छादन, यान—पालकी पीनस आदि, और वाहन—हाथी घोड़ा आदि सवारी, सब उद्धत और ऐसी हुआ करती है, जो कि कुमारोंके तुल्य हों, इनका राग भाव भी कुमारोंके ही समान उल्बण—व्यक्त हुआ करता है । एवं कुमारोंके ही समान ये भी क्रीड़ा करने—यथेच्छ इतस्ततः विहार करने और विनोद करते फिरनेमें रत एवं प्रसन्न रहा करते हैं । इत्यादि सभी चेष्टा और मनोभाव कुमारोंके तुल्य रहनेके कारण असुरादिक दशों भेदवाले भवनवासियोंके लिये कुमार शब्दका प्रयोग किया जाता है । असुरकुमार नागकुमार इत्यादि ।

दश प्रकारके भवनवासियोंमें जो असुरकुमार है, वे प्रायः करके अपने आवासोंमें ही रहा करते हैं । यद्यपि कभी कभी वे भवनोंमें भी रहते हैं, परन्तु प्रायःकरके उनका निवास अपने अपने आवास स्थानमें ही हुआ करता है । बाकीके ९ प्रकारके भवनवासी आवासोंमें नहीं रहते भवनोंमें ही रहा करते हैं ।^१

१—नाना प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे उद्दीप्त रहनेवाले शरीर प्रमाणके अनुसार बने हुए महामण्डपोंको आवास कहते हैं । बाहरसे गोल भीतरसे चतुष्कोण और नीचेके भागमें कमलकी कर्णिकाके आकारमें जो बने हुए होते हैं, उन मकानोंको भवन कहते हैं ।

महामन्दर—सुदर्शन मेरुके दक्षिणोत्तर दिग्भागमें अनेक कोटीकोटी लाख योजनमें आवास है, और दक्षिण अर्धके अधिपति चमरादिकोंके तथा उत्तर अर्धके अधिपति बलि आदि कोंके भवन भी यथायोग्य बने हुए हैं । इनमेंसे भवन रत्नप्रभा पृथिवीमें मुटाईका जितना प्रमाण है, उसके ठीक अर्ध भागके बीचमें बने हुए हैं । उन भवनोंमें निवास करनेके कारण ही इन प्रथम निकायवाले देवोंको भवनवासी कहते हैं ।

भाष्यम्—भवप्रत्ययाश्चैषामिमा नामकमानियमात्स्वजातिविशेषनियता विक्रिया भवन्ति । तद्यथा—गम्भीरा श्रीमान्त काला महाकाया रत्नोत्कटमुकुटमास्वराश्चूडामणिचिन्ता असुरकुमारा भवन्ति । शिरोमुखेष्वाधिक प्रतिरूपा कृष्णश्यामा मृदुललितगतय शिरस्सु फणिचिन्ता नागकुमारा । स्निग्धा भ्राजिष्णवोऽवदाता वज्रचिन्ता विद्युत्कुमारा । अधि कल्पप्रीवोरस्का श्यामावदाता गरुडचिह्ना सुपर्णकुमारा । मानोन्मानप्रमाणयुक्ता मास्व न्तोऽवदाता घटचिह्ना भ्रमिकुमारा भवन्ति । स्थिरपीनवृत्तगान्त्रा निमग्नोदरा अश्वचिह्ना अजदाता घातकुमारा । स्निग्धा स्निग्धगम्भीरानुनादमहास्वना कृष्णा वर्धमानाचिह्ना स्त नितकुमारा । ऊरुकटिष्वधिकप्रतिरूपा कृष्णश्यामा मकरचिह्ना उदधिकुमारा । उरु- स्कन्धबाह्वग्रस्तेष्वाधिक प्रतिरूपा श्यामावदाता सिंहचिह्ना द्वीपकुमारा । जट्टामपादेष्वा धिकप्रतिरूपा श्यामा हस्तिचिह्ना दिक्कुमारा । सर्वे विविधवस्त्राभरणप्रहरणधरणा भवन्तीति ।

अर्थ—इन देवोंके विभिन्न प्रकारकी ये विक्रियाएँ जो हुआ करती हैं, वे भवप्रत्यय हैं । उस भव-पर्यायको धारण करना ही उनका कारण है, न कि तपोऽनुष्ठानादिक । नामकर्मके नियमानुसार और अपनी अपनी जातिविशेषमें जैसी कुछ नियत हैं, उसके अनुरूप ही उनके विक्रियाएँ हुआ करती हैं । यथा —असुरकुमार गम्भीर—घनशरीरके धारक श्रीमान्—सम्पूर्ण अंग और उपाङ्गोंके द्वारा सुन्दर कृष्ण वर्ण महाकाय और रत्नोंसे उत्कट मुकुटके द्वारा दैदीप्यमान हुआ करते हैं । इनका चिह्न चूडामणि रत्न है । अर्थात् उनकी यह विक्रिया आङ्गोपाङ्गनामकर्म निर्माणनामकर्म और वर्णादिनामकर्मके उदयसे अपनी जातिविशेषता को करने या दिखानेवाली उसके अनुरूप हुआ करती है । इसी तरह नागकुमारादिकके विषयमें ममज्ञाना चाहिये । नागकुमार शिर और मुखक भागोंमें अधिक प्रतिरूप कृष्णश्याम—अत्यधिक श्यामवर्णवाले एव मृदु और ललित गतिवाले हुआ करते हैं । इनके शिरोपर सर्पका चिह्न हुआ करता है । क्षिप्र प्रकाश शील उज्ज्वल शुक्लवर्णके धारण करनेवाले विद्यत्कुमार हुआ करते हैं । इनका चिह्न वज्र है । सुपर्णकुमार ग्रीवा और वक्षस्थलमें अति सुन्दर श्याम किन्तु उज्ज्वल—शुद्ध वर्णके धारक हुआ

१—घातकीमण्ड आदिके मेरुके कोई न समझ ले, इसके स्थिरे ही महामन्दर शब्दका प्रयोग किया है । यद्यपि महामेरुके दक्षिणोत्तर दिग्भागमें आवास और भवनोंका स्थान लिखा है परन्तु टीकाकार सिद्धसेनगणी लिखते हैं कि आर्य भागमें रत्नप्रभा पृथिवीकी मोटाईके ऊपर नीचेके एक एक हजारको छोड़कर सन्धके ७८ हजार योजन मात्र भागमें ही भवनोंका होना गवय स्थित है । २—भाष्यकारने नपुंसक लिंगवाचे अपवादका प्रयोग किया है, जिससे धराधरके आधे आधे दृक्दृश्य अर्थ होता है, क्योंकि “अर्थ समाप्त” “सुख्यमात्रोऽर्थ” ऐसा कोषका नियम है ।

करते है । इनका चिन्ह गरुड़ है । अशिकुमार मान और उन्मान—चौड़ाई और ऊँचाईका जितना प्रमाण होना चाहिये, उससे युक्त दैदीप्यमान और शुद्ध वर्णके धारण करनेवाले हुआ करते है । इनका चिन्ह घट है । स्थिर स्थूल और गोल शरीरको रखनेवाले तथा निमग्न उदरसे युक्त एवं शुद्ध वर्णके धारक वातकुमार हुआ करते है । इनका चिन्ह अश्व है । स्तनितकुमार चिक्कण और स्निग्ध गम्भीर प्रतिध्वनि तथा महानाद करनेवाले और कृष्ण वर्ण हुआ करते है । इनका चिन्ह वर्धमान है । उदधिकुमार जड्वा और कटि भागमें अधिक सुन्दर और कृष्णश्याम वर्णके धारक हुआ करते है । इनका चिन्ह मकर है । द्वापकुमार वक्षःस्थल स्कन्ध—कंधा बाहुओंका अग्र भाग एवं हस्तस्थलमें विशेष सुन्दर हुआ करते है, शुद्ध श्याम और उज्ज्वल वर्णको धारण करनेवाले हुआ करते है । इनका चिन्ह सिंह है । दिक्कुमार जडघाओके अग्रभाग और पैरोंमें अधिक सुन्दर होते और श्यामवर्णको धारण करनेवाले हुआ करते है । इनका चिन्ह हस्ती है ।

इस प्रकार यह भवनवासियोंकी भिन्न भिन्न विक्रियाओका स्वरूप बताया है । इसके सिवाय ये सभी देव नाना प्रकारके वस्त्र आभरण प्रहरण और आवरणोंसे युक्त रहा करते है ।

भावार्थ—लोकमें यह बात प्रसिद्ध है, कि असुर, देवोंके विरोधी और विड्वत्प हुआ करते है । सो यह बात नहीं है । ये भी देवयोनि ही है । इनको पहले देवनिकायमें माना है, और ये अति सुन्दर रूपको धारण करनेवाले हुआ करते हैं । किन्तु ये कर्मजनित जाति स्वभावके कारण कुमारोकीसी चेष्टाको पसन्द करते हैं, अतएव कुमार कहे जाते है । इनके आवास और भवनोके विषयमें ऊपर लिखा जा चुका है । किस किस जातिके देवोंके भवनोंकी संख्या कितनी कितनी है, सो टीका—ग्रन्थोंसे देखना चाहिये ।

क्रमानुसार दूसरे देवनिकायके जो आठ भेद बताये हैं, वे कौनसे है, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्ष-
सभूतपिशाचाः ॥ १२ ॥**

भाष्यम्—अष्टविधो द्वितीयो देवनिकायाः । एतानि चास्य विधानानि भवन्ति । अध-
स्तिर्यगूर्ध्व च त्रिष्वपि लोकेषु भवननगरेष्व्वागसेषु च प्रतिवसन्ति । यस्माच्चाधस्तिर्यगूर्ध्व च
त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तः स्वातन्त्र्यात्पराभियोगाच्च प्रायेण प्रतिपतन्त्यनियतगतप्रचारा
मनुष्यान्पि केचिद्भृत्यवदुपचरन्ति विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवनविवरादिषु प्रतिवसन्त्यतो
व्यन्तरा इत्युच्यन्ते ॥

अर्थ—दूसरा देवनिकाय व्यन्तर है । वह आठ प्रकारका है । वे आठ भेद इस प्रकार है—
किन्नर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गन्धर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ भूत ७ और पिशाच ८ ॥

इन्को व्यन्तर क्यों कहते हैं ? उत्तर—वि-विविध प्रकारका है, अन्तर—आवसन—निवास जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं । क्योंकि यद्यपि रत्नप्रभा पृथिवीके एक हजार योजन मोटे पहले रत्नफण्डके ऊपर नीचेके सौ सौ योजनके भागको छोड़कर मध्यके आठसौ योजन मोटे भागमें इन व्यन्तरोंका जन्मस्थान है, परन्तु वहाँ उत्पन्न होकर भी ये अध ऊर्ध्व और तिर्यक् तीनों लोकमें अपने मन और अपने नगर तथा अपने आवासोंमें निवास किया करते हैं । बालके समान इनका स्वभाव अनवस्थित हुआ करता है, और स्वतन्त्र रूपसे सर्वत्र ये अनियत गमनागमन करनेवाले हैं । अतएव इनको व्यन्तर कहते हैं । तथा अध तिर्यक् और ऊर्ध्व तीनों ही लोकोंका स्पर्श करते और स्वतन्त्ररूपसे प्राय अनियत गमन—प्रचार करते हैं, फिर भी कदाचित् पराभियोग—इन्द्रकी आज्ञा अथवा चक्रवर्ती आदि पुरुषोंकी आज्ञासे भी ये गमनागमन—प्रचार किया करते हैं । कोई कोई व्यन्तर नौम्रोकी तरह मनुष्योंकी सेवा भी किया करते हैं । नाना प्रकारकी पर्वतोंकी कन्दराओंमें, वनोंमें, या किन्हीं विवरस्थानोंमें भी निवास किया करते हैं । अतएव इनको व्यन्तर कहते हैं ।

भाषार्थ—व्यन्तर शब्दके कई अर्थ हैं । वि-विविध प्रकारका है अन्तर—निवास जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं । अथवा वि-विगत है, अन्तर—भेद जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं । क्योंकि इनमें मनुष्योंसे अविशिष्टता भी पाई जाती है । यद्वा गो आदिक सत्ताओंकी तरह रूढ़ीसे ही दूसरे देविकायका नाम व्यन्तर ऐसा प्रसिद्ध है । इनके कितने किम्पुरुष आदि आठ भेद हैं, जैसा कि ऊपर गिनाया जा चुका है । उन कित्तरादिकोंके भी उत्तरभेद कितने कितने और कौन कौन से हैं, सो बताने के लिये भाष्यकार कहते हैं —

भाष्यम्—तत्र कित्तरा दशविधा । तद्यथा—किञ्चरा किम्पुरुषा किम्पुरुषोत्तमा किञ्चरोत्तमा हृदयगमा रूपशालिनोऽनिन्दिता मनोरमा रतिप्रिया रतिभ्रेष्ठा इति । किम्पुरुषा दशविधा । तद्यथा—पुरुषा सत्पुरुषा महापुरुषा पुरुषबुधमा पुरुषोत्तमा अतिपुरुषा मरुदेया मरुतो मेरुप्रभा यदास्थन्त इति । महोरगादशविधा । तद्यथा—भुजगा भोगशालिनो महाकाया अतिकाया स्कन्धशालिनो मनोरमा महावेगा महेष्यक्षा मेरुकान्ता मास्थन्त इति । गान्धर्वा द्वादशविधा । तद्यथा—हाहा हूह ह्रस्वुरयो नारदा ऋषिवाटिका भूतवाटिका कावम्बा महाकावम्बा रेयता विश्वावसवा गीतरतयो गीतयशस इति । यक्षास्त्रयोदशविधा । तद्यथा—पूर्णमद्राः माणिभद्राः श्वेतमद्रा हरिमद्रा सुमरोमद्रा व्यतिपातिकमद्रा सुमद्राः सर्वतोमद्रा मनुष्ययक्षा वनाधिपतयो वनाहारा रूपयक्षा यक्षोत्तमा इति । सप्तविधा राक्षसा । तद्यथा—मीमा महामीमा विघ्ना विनायका जलराक्षसा राक्षसराक्षसा प्रहराराक्षसा इति । भूता नवविधा । तद्यथा—सुरूपाः प्रतिरूपा अतिरूपा भूतोत्तमा स्कन्दिता महास्कन्दिता महावेगा प्रतिचञ्चला आकाशगा इति । पिशाचा पचदशविधा । तद्यथा—कृष्मण्डा पटका जोषा आद्रका काला महाकालाश्चीक्षा अचीक्षास्ताल्पिशाचा मुखरपिशाचा अधस्ता रका घेरा महाविदेहास्तुष्णीका वनपिशाचा इति ॥

अर्थ—व्यन्तरोंके आठ भेद जो बनावे हैं, उनमें सबसे पहला भेद कित्तरा है । उसके दशभेद हैं । यथा—किञ्चर १ किम्पुरुष २ किम्पुरुषोत्तम ३ किञ्चरोत्तम ४ हृदयगम ५ रूप

शाली ६ अनिन्दित ७ मनोरम ८ रतिप्रिय ९ और रतिश्रेष्ठ १० । दूसरा भेद किम्पुरुष है । उसके भी दश भेद हैं । यथा—पुरुष १ सत्पुरुष २ महापुरुष ३ पुरुषवृषभ ४ पुरुषोत्तम ५ अतिपुरुष ६ मरुदेव ७ मरुत् ८ मेरुप्रम ९ और यशस्वान् १० । तीसरा भेद महोरग है । उसके भी दश भेद हैं । यथा—भुजग १ भोगशाली २ महाकाय ३ अतिकाय ४ स्कन्धशाली ५ मनोरम ६ महावेग ७ महेप्सव ८ ९ मेरुकान्त और भास्वान् १० । चौथा भेद गान्धर्व है । उसके बारह भेद हैं । यथा—हाहा १ हूहू २ तुम्बुरु ३ नारद ४ ऋषिवादि ५ भूतवादि ६ कादम्ब ७ महाकादम्ब ८ रैवत ९ विद्वावसु १० गीतरति ११ और गीतयशाः १२ । पाँचवाँ भेद यक्ष है । उसके तेरह भेद हैं । यथा—पूर्णभद्र १ माणिभद्र २ श्वेतभद्र ३ हरिभद्र ४ सुमनोभद्र ५ व्यतिपातिकभद्र ६ सुभद्र ७ सर्वतोभद्र ८ मनुष्ययक्ष ९ वनाधिपति १० वनाहार ११ रूपयक्ष १२ यक्षोत्तम १३ । छठा भेद राक्षस है । उसके सात भेद हैं । यथा—भीम १ महाभीम २ विघ्न ३ विनायक ४ जलराक्षस ५ राक्षसराक्षस ६ ब्रह्मराक्षस ७ । सातवाँ भेद भूत है, उसके नौ भेद हैं । यथा—सुरूप १ प्रतिरूप २ अतिरूप ३ भूतोत्तम ४ स्कन्दिक ५ महास्कन्दिक ६ महावेग ७ प्रतिच्छन्न ८ आकाशग ९ । आठवाँ भेद पिशाच है, उसके पन्द्रह भेद हैं । यथा—कूष्माण्ड १ पटक २ जोष ३ आह्लक ४ काल ५ महाकाल ६ चौक्ष ७ अचौक्ष ८ तालपिशाच ९ मुखरपिशाच १० अवस्तरक ११ देह १२ महाविदेह १३ तूष्णीक १४ वनपिशाच १५ ।

अब इन आठों भेदोंके क्रमसे विक्रिया और ध्वजचिन्होंको भाष्यकार बताते हैं—

भाष्यम्—तत्र किन्नराः प्रियङ्गुश्यामाः सौम्याः सौम्यदर्शना मुखेष्वधिकरूपशोभा मुकुटमौलिभूषणा अशोकवृक्षध्वजा अवदाताः । किम्पुरुषा ऊरुबाहुष्वधिकशोभा मुखेष्वधिकमास्वरा विविधाभरणभूषणाश्चित्रस्त्रगनुलेपनाश्चम्पकवृक्षध्वजाः । महोरगाः श्यामावदाता महावेगाः सौम्याः सौम्यदर्शना महाकायाः पृथुमीनस्कन्धग्रीवा विविधानुविलेपना विचित्राभरणभूषणाः नागवृक्षध्वजाः । गान्धर्वा रक्तावदाता गम्भीराः प्रियदर्शनाः सुरूपाः सुसुखाकाराः सुस्वरा मौलिधरा हारविभूषणास्तुम्बुरुवृक्षध्वजाः । यक्षाः श्यामावदाता गम्भीरास्तुन्दिला वृन्दारकाः प्रियदर्शनाः मानोन्मानप्रमाणयुक्ता रक्तपाणिपादतलनखतालुजिह्वाः प्राः भास्वरमुकुटधरा नानारत्नविभूषणा वटवृक्षध्वजाः । राक्षसा अवदाताः भीमा भीमदर्शनाः शिरःकराला रक्तलम्बौघास्तपनीयविभूषणा नानाभक्ति विलेपनाः खट्वाङ्गध्वजाः । भूताः श्यामाः सुरूपाः सौम्या आपीवरा नानाभक्तिविलेपनाः सुलसध्वजाः कालाः । पिशाचाः सुरूपाः सौम्यदर्शनाः हस्तग्रीवासु मणिरत्नविभूषणाः कदम्बवृक्षध्वजाः । इत्येवंप्रकारस्वभावानि वैक्रियाणि रूपचिन्हानि व्यन्तराणां भवन्तीति ॥

अर्थ—उक्त आठ प्रकारके व्यन्तरोंमेंसे पहली जातिके किन्नरदेव प्रियङ्गुमणिके ममान श्यामवर्ण सौम्यस्वभावके और देखनेमें भी अत्यन्त सौम्य—आल्हादकर हुआ करते हैं । इनके रूपकी शोभा मुखभागमें अधिक हुआ करती है, और शिरोभाग मुकुटके द्वारा भूषित रहा करता है । इनका चिन्ह अशोक वृक्षकी ध्वजा है, और वर्ण अवदात शुद्ध स्वच्छ एवं उज्ज्वल हुआ करता है । दूसरी जातिके किम्पुरुष व्यन्तरोंकी शोभा ऊरु जङ्घा और

बाहुओंमें अधिक हुआ करती है । इनका मुखभाग अधिक मास्वर प्रकाशशील हुआ करता है, और ये नाना प्रकारके आभरणोंसे भूषित रहा करते हैं । चित्र विचित्र प्रकारकी मालाओंसे सुसज्जित एवं अनेक तरहके अनुलेप इत्र आदिसे अनुलिप्त रहा करते हैं । इनका चिन्ह चम्पक वृक्षकी ध्वजा है । तीसरी जातिके व्यन्तर महोरग श्यामवर्ण किन्तु अवदात शुद्ध स्वच्छ और उज्ज्वल हुआ करते हैं, ये महान् वेगको और सौम्य स्वभावको धारण करनेवाले हुआ करते हैं । इनका स्वरूप देखनेमें सौम्य हुआ करता है । तथा इनका शरीर महान् और स्कन्ध तथा ग्रीवाका मांस विशाल एवं स्थूल हुआ करता है । ये विविध प्रकारके विलेपनोंसे युक्त और विचित्र आभरणोंसे भूषित रहा करते हैं । इनका चिह्न नाग वृक्षकी ध्वजा है । चौथे गान्धर्व जातिके व्यन्तर शुद्ध स्वच्छ लाल वर्णके और गम्भीर—घन शरीरको धारण करनेवाले हुआ करते हैं । उनका स्वरूप देखनेमें प्रिय होता है । और सुन्दररूप तथा सुन्दरमुखके आकार और मनोज्ञ स्वरके धारक हुआ करते हैं । शिरपर मुकुटको रखनेवाले और गलेमें हारसे विभूषित रहा करते हैं । इनका चिन्ह तुम्बुरु वृक्षकी ध्वजा है । पाँचवें यक्ष जातिके व्यन्तर निर्मल श्यामवर्णके किन्तु गम्भीर और तुन्दिल हुआ करते हैं । मनोज्ञ और देखनेमें प्रिय तथा मान और उन्मानके प्रमाणसे युक्त होते हैं । हाथ पैरोंके तलभागमें तथा नख तालु जिन्हा और ओष्ठ प्रदेशमें लालवर्णके हुआ करते हैं । प्रकाशमान मुकुटोंको धारण करनेवाले और नाना प्रकारके रत्न अथवा रत्नजटित भूषणोंसे भूषित रहा करते हैं । इनका चिन्ह वट वृक्षकी ध्वजा है । छठे राक्षस जातिके व्यन्तर शुद्ध निर्मल वर्णके धारक भीम और देखनेमें भयकर हुआ करते हैं । शिरोभागमें अत्यन्त कराल तथा लालवर्णके लम्बे ओष्ठोंसे युक्त हुआ करते हैं । तथाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे अलङ्कृत और अनेक तरहके विलेपनोंसे युक्त होते हैं । और इनका चिन्ह खट्वाङ्गकी ध्वजा है । सातवें भूत जातिके व्यन्तर श्यामवर्ण किन्तु सुन्दर रूपको रखनेवाले सौम्य स्वभावके अतिस्थूल अनेक प्रकारके विलेपनोंसे युक्त कालरूप हुआ करते हैं । इनका चिह्न सुलसध्वजा है । आठवीं जातिके व्यन्तर पिशाच हैं । ये सुन्दर रूपके धारक देखनेमें सौम्य और हाथ तथा ग्रीवामें मणियों और रत्नजटित भूषणोंसे अलङ्कृत रहा करते हैं । इनका चिन्ह कदम्ब वृक्षकी ध्वजा है ।

इस तरहसे आठ प्रकारके व्यन्तरोंका स्वभाव—रुचि विक्रिया शरीरका विविधकरण-वर्ण आकार प्रकार आदि और रूप तथा चिन्होंको समझना चाहिये ।

भावार्थ—दूसरा देवनिर्णय व्यन्तर है । व्यन्तर शब्दका अर्थ और उनके जन्म तथा निवास करनेके स्थानका ऊपर वर्णन कर चुके हैं । यहाँपर उनके भेद और स्वभाव आदिको बताया है । आठ प्रकारके व्यन्तरोंके जो उत्तरभेद हैं, उनका स्वभावादि भी अपने अपने मूलभेदके अनुसार ही समझ लेना चाहिये । यहाँपर भाष्यकारने जो बहुतसे उत्तरभेदोंको

गिनाया है, उसकी लेशमात्र सूचना आर्ष आगममें मिलती है, परन्तु इस तरहका पाठ नहीं मिलता^१। इनके आवासस्थान या जन्मस्थानोंका प्रकार विस्तार प्रमाण शरीरकी अवगाहना देवियोंकी संख्या अवधिका विषयक्षेत्र आदिका स्वरूप ग्रन्थान्तरोंसे जानना चाहिये ।

भाष्यम्—तृतीयो देवनिकायः ।—

अर्थ—ऊपर पहले—भवनवासी और दूसरे—व्यन्तर देवनिकायका वर्णन किया । उसके अनन्तर क्रमानुसार तीसरे देवनिकायका वर्णन अवसरप्राप्त है । अतएव उसका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ॥१३॥

भाष्यम्—ज्योतिष्काः पञ्चविधा भवन्ति । तद्यथा—सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि प्रकीर्णकतारका इति पञ्चविधा ज्योतिष्का इति । असमासकरणमार्पाच्च सूर्याचन्द्रमसोः क्रमभेदः कृतः यथा गम्येतैतदेवैपामूर्ध्वनिवेश आनुपूर्व्यमिति । तद्यथा—सर्वाधस्तात्सूर्यास्त-तश्चन्द्रमसस्ततो ग्रहास्ततो नक्षत्राणि ततोऽपि प्रकीर्णताराः । ताराग्रहास्त्वनियतचारित्या-त्सूर्याचन्द्रमसामूर्ध्वमधश्च चरन्ति । सूर्येभ्यो दशयोजनावलम्बिनो भवन्तीति । समाश्रूयि भागादष्टसु योजनशतेषु सूर्यास्ततो योजनानामशीत्यां चन्द्रमसस्ततो विंशत्यां तारा इति । द्योतयन्त इति ज्योतींषि विमानानि तेषु भवा ज्योतिष्का ज्योतिषो वा देवा ज्योतिरेव वा ज्योतिष्काः । मुकुटेषु शिरोमुकुटोपगृहितैः प्रभामण्डलकल्पैरुज्ज्वलैः सूर्याचन्द्रतारामण्डलैर्यथास्व चिन्हैर्विराजमाना द्युतिमन्तो ज्योतिष्का भवन्तीति ।

अर्थ—तीसरा देवनिकाय ज्योतिष्क है^१ । वह पाँच प्रकारका है । यथा—सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा । इस तरह ज्योतिष्क देव पाँच प्रकारके हैं । इस सूत्रमें सूर्य और चन्द्रमस् शब्दका समास नहीं किया गया है । यदि वह करके “सूर्याचन्द्रमसो” ऐसा पाठ कर दिया जाता, तो लाघव होता था । सो न करके असमस्त पद ही रक्खा है । इस लिये और आर्ष आगमके प्रमाणसे सूर्य और चन्द्रमाके पाठका क्रम भी भिन्न ही कर दिया है, इसलिये आचार्यका अभिप्राय ज्ञापनसिद्ध विशेष अर्थके बोध करानेका है । वह यह कि जिससे ज्योतिष्क विमानोंका यह आनुपूर्व और ऊर्ध्वनिवेश अच्छी तरह और ठीक ठीक समझमें आ जाय । वह इस प्रकार है कि—सबके नीचे सूर्य है, उसके ऊपर चन्द्रमा, उसके ऊपर ग्रह और उसके ऊपर नक्षत्र और उसके भी ऊपर प्रकीर्णक ताराओंका निवेश है ।

१—“ भेदाश्चैषा किन्नरादीनां स्वस्थाने भाष्यकृता वहवो निदर्शितास्ते चापि सूचिता लेशतो न प्रतिपद-मधीताः । ” (सिद्धसेनगणि टीका) २—ज्योतिष्कशब्दकी निराक्ति इस प्रकार है—ज्योतींषि विमानानि तेषु भवा ज्योतिष्काः द्व्यष्टगादिसूत्रात् टक्, अथवा ज्योतिषो देवास्तेर्दीव्यन्तीति ज्योतिष्काः वपुःसम्बन्धिना वा ज्योतिषा ज्वलन्तीति ज्योतिष्का यद्वा ज्योतिरेव ज्योतिष्का भास्वरशरीरत्वात् समस्त दिङ्मण्डलयोतनत्वाच्च स्वार्थे कन् । यहाँपर भाष्यकारने पहले ज्योतिष्कोंके प्रकार फिर उसका अर्थ और स्वरूप भी आगे बताया है । ३—दिगम्बर सम्प्रदायमें ऐसा ही पाठ है । ४—आर्ष आगममें सर्वत्र चन्द्रमाका पाठ पहले और सूर्यका पाठ पीछे मिलता है । परन्तु यहाँपर सूत्रमें सूर्य शब्दका पाठ पहले किया है ।

इनमेंसे तारा और ग्रहोंका चार नियत नहीं है । अतएव उनका चार-भ्रमण सूर्य और चन्द्र-
माके ऊपर तथा नीचे दोनों ही भागमें हुआ करता है । अनवस्थित गतिवाले हेनेके कारण ही
ये-अङ्गारकादिक सूर्यसे दश योजनके अन्तरपर रहा करते हैं ।

इस समान भूमितलसे आठ सौ योजन ऊपर चलकर सूर्यके विमान हैं । सूर्यस्थानसे
अस्सी योजन ऊपर चलकर चन्द्रमाओंके विमान हैं । चन्द्रमाओंके स्थानसे बीस योजन ऊपर
चलकर तारा हैं ।

इन ज्योतिष्कदेवोंके विमान उद्योतशील हैं । उन विमानोंमें जो रहें, उनको ज्योतिष्क
अथवा ज्योतिष् देव भी कहते हैं । ज्योतिष् और ज्योतिष्क शब्दका एक ही अर्थ है ।

इन ज्योतिष्कदेवोंके मुकुटोंमें जो चिन्ह रहा करते हैं, वे शिरोमुकुटोंसे अलङ्कृत और
प्रभामण्डलके समान तथा उज्ज्वल वर्णके हुआ करते हैं । तथा वे यथायोग्य सूर्यमण्डल चन्द्रमण्डल
और तारामण्डलरूप हैं । अर्थात् जो सूर्यके चिन्ह हैं, वे सूर्यमण्डलके आकार हैं और जो चन्द्रमाके
चिन्ह हैं, वे चन्द्रमण्डलके आकार हैं, तथा जो ताराओंके चिन्ह हैं, वे तारामण्डलके आकार
हैं । ज्योतिष्कदेव इन चिन्होंसे युक्त प्रकाशमान हैं ।

भावार्थ—तीसरे देवनिकायका नाम ज्योतिष्क है । इन देवोंके विमान प्रकाशशील
हैं, उनमें रहनेके कारण अथवा स्वयं भी ये द्युतिमान् हैं, अतएव इनको ज्योतिष्क कहते हैं ।
इनके पाँच भेद हैं, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है । इनका अस्तित्व सभी द्वीप समुद्रोंमें है ।
किमपि द्वीप और किमपि समुद्रमें कितने प्रमाणोंमें कौन कौनसे ज्योतिष्क विमान हैं, यह
ज्ञात आगमके अनुसार समझ लेनी चाहिये । जम्बूद्वीपमें इनका भ्रमण मेरुसे ११२१ योजनके
अन्तर पर हुआ करता है, और यह ज्योतिर्लोक एकसौ दश योजन ऊँचा है । इनकी अवधि
विक्रिया विभूति आदि ग्रन्थान्तरोंसे समझनी चाहिये ।

ये ज्योतिष्कदेव सर्वत्र समान गति और भ्रमण करनेवाले हैं, या उसमें किसी प्रकारका
अन्तर है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये आचार्य सूत्र करते हैं कि —

१--दिग्गम्बर सम्प्रदायके अनुसार पहले ताराओंके विमान हैं और उनके ऊपर सूर्यदिकोंके विमान हैं,
जिसका कि क्रम इस प्रकार है—“णवदुत्तरसप्तमया दससीदी षट्पदुग तियचउके । तारा रविससि रिक्ता बुद्ध भगव
अगिरा राणी ॥” अर्थात् पृथ्वीतलसे १५० योजन ऊपर ताराओंके विमान हैं, उनसे दश योजन ऊपर सूर्यका
उपसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमाका उससे तीन योजन ऊपर नक्षत्रोंका विमान, उससे भी तीन योजन ऊपर शुषका
विमान, उससे तीन योजन ऊपर पुत्रका विमान, उससे दश योजन ऊपर चन्द्र बुद्धस्पर्शिका, विमान उससे भी
चार योजन ऊपर चलकर मंगलका विमान, और उससे भी ऊपर चार योजन चलकर शनिका विमान है । इस प्रकार
सम्पूर्ण ज्योतिर्गणकी ऊँचाई एक सौ दश योजन और तिर्यग् पनोदधि पर्यन्त असंख्य द्वीप समुद्र प्रमाण है ।
१-ज्योतिष्क शब्दकी विधि पहले बता चुके हैं ।

सूत्र—मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥

भाष्यम्—मानुषोत्तरपर्यन्तो मनुष्यलोक इत्युक्तम् । तस्मिन् ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो भवन्ति । मेरोः प्रदक्षिणा नित्या गतिरियामिति मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयः । एकादशस्वेकविंशेषु योजनशतेषु मेरोश्चतुर्विंशं प्रदक्षिणं चरन्ति । तत्र द्वौ सूर्यौ जम्बूद्वीपे, लवणजले चत्वारो, घातकीखण्डे द्वादश, कालोद्रे द्वाचत्वारिंशत्, पुष्करार्धे द्विसप्ततिरित्येवं मनुष्यलोके द्वात्रिंशत्सूर्यशतं भवति । चन्द्रमसामन्येष एव विधिः । अष्टविंशतिर्नक्षत्राणि, अष्टाशीतिर्ग्रहाः, पद्मपट्टिः सहस्राणि नव शतानि पञ्चसप्ततीनि तारा कोटाकांटीनामेकैकस्य चन्द्रमसः परिग्रहः । सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि च तिर्यग्लोके, शेषास्तुर्ध्वलोके ज्योतिष्का भवन्ति । अष्टचत्वारिंशद्योजनैकपट्टिभागाः सूर्यमण्डलविष्कम्भः, चन्द्रमसः पद्मपञ्चाशत्, ग्रहाणामर्धयोजनम्, गन्धूतं नक्षत्राणाम्, सर्वोत्कृष्टायास्ताराया अर्धक्रांशो, जयन्यायाः पञ्चधनुःशतानि । विष्कम्भार्धबाहुल्याश्च भवन्ति सर्वे सूर्यादयः, नृलोक इति वदन्ति । बहिस्तु विष्कम्भबाहुल्याभ्यामतोऽर्धं भवन्ति ॥ एतानि च ज्योतिष्कविमानानि लोकस्थित्या प्रसक्तावस्थितगतीन्यपि ऋद्धिविशेषार्थमाभियोग्यनामकमांद्याश्च नित्यंगतिरतयो देवा वहन्ति । तद्यथा—पुरस्तात्केसरिणो, दक्षिणतः कुङ्गराः, अपरतो वृषभाः, उत्तरतो जविनोऽश्वा इति ॥

अर्थ—मनुष्यलोकका प्रमाण पहले बता चुके हैं, कि मानुषोत्तर पर्यंत पर्यन्त मनुष्यलोक है । अर्थात् जम्बूद्वीप घातकीखण्ड और पुष्करद्वीपका अर्ध भाग तथा इनके मध्यवर्ती लवणसमुद्र और कालोद्रेसमुद्र इस समस्त क्षेत्रको मनुष्यलोक कहते हैं । इसमें जितने ज्योतिष्क देवोंके विमान हैं, वे सभी मेरुकी प्रदक्षिणा देनेवाले और नित्य गमन करनेवाले हैं । इनकी मेरुकी प्रदक्षिणारूप गति नित्य है, इसी लिये इनको मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतिवाला कहा है । ग्याह सौ इक्कीस योजन (११२१) मेरुसे हटकर चारों दिशाओंमें ये प्रदक्षिणा दिया करते हैं । अर्थात् मेरुसे ११२१ योजन दूर रहकर उसकी प्रदक्षिणा देते हुए भ्रमण किया करते हैं ।

ज्योतिष्क देवोंके पाँच भेद जो बताये हैं, उनमेंसे सूर्य जम्बूद्वीपमें दो, लवणसमुद्रमें चार, घातकीखण्डमें चारह, कालोद्रेसमुद्रमें ब्यालीस, और पुष्करद्वीपके मनुष्यक्षेत्र सम्बन्धी अर्ध भागमें बहत्तर हैं । इस प्रकार मनुष्यलोकमें कुछ मित्रकर एक सौ बत्तीस सूर्य होते हैं । चन्द्रमाओंका विधान भी सूर्यविविधके समान ही समझना चाहिये । प्रत्येक चन्द्रमाका परिग्रह इस प्रकार है—अष्टाईस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छ्यासठ हजार नौ सौ पचहत्तर (६६९७५) कोड़ाकोड़ी तारा ।

पाँच प्रकारके ज्योतिष्कोंमेंसे सूर्य चन्द्रमा ग्रह और नक्षत्र ये चार तो तिर्यग्लोकमें हैं, और शेष ज्योतिष्क—प्रकीर्णक तारा ऊर्ध्वलोकमें हैं ।

१—अन्य ग्रन्थोंमें पाँचों ही प्रकारके ज्योतिष्क तिर्यग्लोकमें ही माने हैं । अतएव इसकी टीकामें चिद्वत्तन गंगीने लिखा है कि “ आचार्य एवेदमवगच्छति, नन्वार्यमेवमवस्थितं, सर्वज्योतिष्काणां तिर्यग्लोकस्थित्वान्तरम् । ” परन्तु किसी किसीने इसका ऐसा भी समझाया लिखा है, कि भाष्यकारका आशय भी उनके बहुश्रुत होनेसे अविरुद्ध ही है । अतएव यहाँपर ऊर्ध्व लोकसे ऊर्ध्व दिशा अथवा सबसे ऊपरका भाग ऐसा अर्थ समझना चाहिये । क्योंकि ताराओंकी गति अनियत है, और वे चन्द्रमासे ऊपर भी गमन करते हैं, तथा नौ सौ योजनका तिर्यग्लोक भी माना नहीं है ।

सूर्यमण्डलका विष्कम्भ अदतालीस योजन और एक योजनके साठ भागोंमेंसे एक भागप्रमाण (४८६) है । चन्द्रमण्डलका विष्कम्भ छप्पन योजन है । ग्रहोंका विष्कम्भ अर्ध योजन, और नक्षत्रोंका विष्कम्भ दो कोश, तथा ताराओंमेंसे सबसे बड़े ताराका विष्कम्भ (उत्कृष्ट विष्कम्भका प्रमाण) आधा कोश और सबसे छोटे ताराका विष्कम्भ (जघन्य प्रमाण) पाँचसौ धनुष है । इन मण्डलोंके विष्कम्भका जो प्रमाण बताया है, उससे आधा बाहल्य—मोटाई या ऊँचाईका प्रमाण समझना चाहिये ।

इस प्रकार सूर्य आदि सम्पूर्ण ज्योतिष्क देवोंका जो प्रमाण यहाँपर बताया है, वह मनुष्यलोककी अपेक्षासे है । मनुष्यलोकसे बाहर सूर्य आदिके मण्डलोंका विष्कम्भ और बाहल्य मनुष्यक्षेत्रवर्ती सूर्य मण्डलादिके विष्कम्भ और बाहल्यसे आधा समझना चाहिये । अर्थात् मनुष्यक्षेत्रके बाहर जितने सूर्य हैं, उनमेंसे प्रत्येक सूर्यमण्डलका विष्कम्भ चौबीस योजन और एक योजनके साठ भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण (२४६) है । इससे आधा प्रमाण बाहल्यका समझना चाहिये । इसी तरह चन्द्रमण्डल आदिका जो प्रमाण मनुष्यलोकमें बताया है, उससे आधा मनुष्यक्षेत्रके बाहरके चन्द्रमण्डलादिकका है, ऐसा समझना ।

कुछ लोगोंका कहना है, कि सूर्यमण्डलादि जो भ्रमण करते हैं, उसका कारण ईश्वरीय इच्छा है । ईश्वर ही जगत्का कर्त्ता हर्त्ता विधाता है, अतएव उसकी सृष्टिमें उसकी इच्छाके बिना कुछ भी नहीं हो सकता, और न इस प्रकारकी नियत गति उसकी इच्छाके बिना बन ही सकती है । परन्तु यह बात नहीं है, सर्वज्ञ वीतराग कर्ममलेसे सर्वथा रहित अशरीर परमात्मा सृष्टिका कर्त्ता हर्त्ता विधाता नहीं बन सकता । उसमें इस प्रकारके गुणोंका आरोपण करना युक्ति और वस्तुस्थितिसे सर्वथा विरुद्ध है । सृष्टिका सम्पूर्ण कार्य वस्तु स्वभावसे ही चल रहा है । तदनुसार ही सूर्यमण्डलादिना भ्रमण भी समझना चाहिये । ज्योतिष्क विमानोंकी आभीक्ष्ण्य—नित्यगति लोकानुभाव—वस्तु स्वभावके अनुसार ही प्रसक्त—सम्बद्ध—नियत है । तदनुसार ही उनका गमन हुआ करता है । फिर भी ऋद्धिविशेषको प्रकट करनेके लिये, जिनके आभियोग्य नामकर्मका उदय आ रहा है, और इस उदयके कारण ही जो गति—गमन करनेमें ही रति—प्रीति रखनेवाले हैं ऐसे वाहन जातिके देव उन सूर्यमण्डलादिकोंको खींचा करते हैं । आभियोग्य नामकर्मके उदयसे जिनको सदा गमन करनेकी ही क्रिया पसंद है, ऐसे देव लोकास्थितिके अनुसार स्वयं ही धूमने हुए सूर्यमण्डलादिके नीचे सिंहादिके नाना आकार धारण करके गमन क्रिया करते हैं, और उन विमानोंको खींचा करते हैं । इस कथनसे यह बात प्रकट कर दी है, कि उन वाहन—देवोंको

१—यू० में गम्यन्ति शब्द है । यद्यपि यही कहीं पर गम्यन्ति शब्दका अर्थ एक कोण भी किया है, परन्तु यह व्यापक अर्थ नहीं है, सामान्यसे गम्यन्ति शब्दका दो कोण ही अर्थ होता है । अमरकोशमें भी 'गम्यन्ति द्वौ कोणयुगे' ऐसा ही लिखा है, अतएव यहाँपर दो कोण ही अर्थ किया है । यही अर्थ शास्त्रसे अभिप्रेत है ।

खींचनेमें किसी प्रकारका भारजन्य कष्ट नहीं हुआ करता । क्योंकि कर्मोदयके अनुसार उन्हें स्वयं ही वह कार्य प्रिय है । दूसरे स्वयं गमन करनेवाले सूर्य चन्द्र आदिके विमानोंके नीचे इच्छा-नुसार वेष धारण करके ये लग जाते और गमन किया करते तथा उनकी गतिमें सहायक हुआ करते हैं । इस प्रकार वाहनोके निमित्तसे सूर्य चन्द्र आदिकी पुण्यकर्मजनित ऋद्धिकी महत्ता प्रकट हुआ करती है ।

सूर्यमण्डलको खींचनेवाले देवोंमेंसे जो पूर्व दिशामें खींचते हैं, वे सिंहका रूप धारण किया करते हैं, दक्षिण दिशामें खींचनेवाले हाथीका रूप धारण करते, पश्चिम दिशामें खींचने वाले बैलका स्वरूप धारण किया करते और उत्तर दिशामें खींचनेवाले वेगवान् घोड़ोंका रूप धारण किया करते हैं । यह सब उसी आभियोग्य नामकर्मका कार्य है, कि जिसका फल अवश्य भोगना ही पड़ता है ।

ये सब वाहन-जातिके देव सूर्यमण्डलके सोलह हजार और उतने ही चन्द्रमण्डलके हैं, ग्रह विमानोंके आठ हजार, नक्षत्र विमानोंके चार हजार, और तारा विमानोंके दो हजार कुल वाहन-देव हैं ।

भावार्थ—तीसरे ज्योतिष्क नामक देवनिकायका स्वरूप उपर लिखे अनुसार है । इनके सामान्य पाँच ही भेद हैं । सम्पूर्ण ज्योतिष्क इन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं । इनके प्रकाश और ताराके क्षेत्रका काष्ठान्तर मण्डलान्तर और चार क्षेत्र आदिका एवं ऋद्धि वैभव आदिका प्रमाण आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये ।

सर्व सामान्यसे ये दो प्रकारके कहे जा सकते हैं—गतिशील और स्थितिशील । मनुष्य-लोकवर्ती पाँचों ही प्रकारके ज्योतिष्क गतिशील हैं, और उसके बाहरके सब स्थितिशील हैं । यद्यपि मनुष्यलोकमें भी कितने ही ज्योतिष्क विमान स्थितिशील—ध्रुव हैं, परन्तु उनकी गौणता होनेसे गणना नहीं की है । जिस प्रकार किसी वैश्यके विवाहकी बरातको देखकर लोकमें कहा जाता है कि “ यह वैश्योंकी बरात है । ” यद्यपि उस बरातमें वैश्योंके अतिरिक्त ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्र भी सम्मिलित रहा करते हैं, परन्तु उनका बाहुल्य और प्राधान्य न रहनेसे परिगणन नहीं किया जाता । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । सूर्य चन्द्र आदि प्रायः सभी ज्योतिष्कमण्डलके गतिशील रहनेसे मनुष्यलोकका ज्योतिर्मण्डल गतिशील ही कहा जाता है ।

इसी प्रकार नित्य शब्दके विषयमें समझना चाहिये । यहाँपर नित्य शब्द भी अभी-क्षयवाची अभीष्ट है । जिस प्रकार लोकमें किसी मनुष्यके लिये कहा जाता है, कि “ यह तो नित्य ऐसा ही करता रहता है । ” यद्यपि वह मनुष्य प्रतिदिन और प्रतिक्षण उसी कामको नहीं किया करता, उसके सिवाय अन्य कार्योंको भी किया करता है । परन्तु प्रायः उसी

कार्यके करनेसे उसके लिये नित्य शब्दका प्रयोग हुआ करता है । इसी तरह प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये । नृलोकमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य मानी है । सो उनमेंसे कोई कोई कदाचित् गमन नहीं करता, तो भी उसकी अपेक्षा नहीं है । सामान्यतया प्राधान्यकी अपेक्षासे सभीकी गति नित्य मानी है ।

मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क विमान मेरुकी नित्य प्रदक्षिणा देते हुए गमन-भ्रमण करते हैं, ऐसा कहनेका एक अभिप्राय यह भी है, कि इनकी गति दक्षिण भागके द्वारा हुआ करती है, न कि वाम भागके द्वारा । इसी लिये सत्रमें प्रदक्षिणा शब्दका प्रयोग किया है । अर्थात् सूर्य आदिक जो भ्रमण करते हैं, सो पूर्व दिशासे दक्षिण दिशाकी तरफ घूमते हुए करते हैं, न कि उत्तर दिशाकी तरफ घूमते हुए ।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि इन सूर्य आदि ज्योतिष्क विभागोंकी गतिको ही काल शब्दके द्वारा अनेक लोग कहा करते हैं, सो उनका यह कहना सत्य है या मिथ्या ? इसका उत्तर यह है, कि वास्तवमें काल यह गति शब्दका वाच्य नहीं है । किन्तु कालके मन भविष्यत् और वर्तमानरूप जो भेद है, वे इस गतिके द्वारा सिद्ध होते हैं । इस अभिप्रायको दिखानेके लिये ही आगे सूत्र करते हैं —

सूत्र—तत्कृत. कालविभाग ॥ १५ ॥

भाष्यम्—कालोऽनन्तसमयं वर्तनाविलक्षण इत्युक्तम् । तस्य विभागो ज्योतिष्काणां गतिविशेषकृतद्वारविशेषेण हेतुना । तै कृतस्तत्कृत । तद्यथा—अणुभागाद्वारा अशाकला लवा नालिका मुहूर्ता विवक्षा रात्रय पक्षा मासा ऋतवोऽयनानि सवत्सरा युगमिति लौकिक समीपविभागः । पुनरन्यो विकल्पः प्रत्युत्पन्नाऽतीतोऽनागत इति त्रिविधः ॥ पुनस्त्रिविध परिभाष्यते सरयेयोऽसख्येयोऽनन्त इति ॥

अर्थ—वर्तना आदि हैं लक्षण जिसके ऐसा काल द्रव्य अनन्त समयोंके समूह रूप है, यह बात पहले लिख चुके हैं । उस कालका विभाग इन ज्योतिष्क देवोंके विभागोंके गति विशेषके द्वारा हुआ करता है । सूर्य चन्द्र आदिकी गतिको ही चार कहते हैं । यह चार सूर्य और चन्द्र आदिका भिन्न भिन्न प्रकारका है । किन्तु जिसका जैसा चार है, वह उसका नियत है, अतएव उसके द्वारा कालका विभाग सिद्ध होता है, और इसी लिये उस विभागको तत्कृत—ज्योतिष्कदेवोंका किया हुआ कहते हैं, यह विभाग सर्व जगत्मेंसे लेकर सर्वोत्कृष्ट तक अनेक भेदरूप है । यथा—अणुभाग चार अश कला लव नालिका (नात्रि) मुहूर्त दिन रात्रि दिनरात्रि पक्ष महीना ऋतु

१—वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षण काल ” वर्तना परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व ये काल-द्रव्य के लक्षण हैं ।

अयन सम्बत्सर और युग । ये सब लौकिकजनोंके समान ही कालके विभाग हैं । जिस प्रकार लोकमें वैशेषिक पौराणिक आदिने काल—विभाग माना है, उसी प्रकारका यह विभाग है । इसके सिवाय दूसरी तरहसे भी लौकिक पुरुषोंके समान ही काल—विभाग माना है । वह तीन प्रकारका है—भूत भविष्यत् और वर्तमान । इन दोनों प्रकारोंके सिवाय अपने सिद्धान्तकी अपेक्षासे भी काल—विभाग माना है । वह भी तीन प्रकारका है—संख्येय असंख्येय और अनन्त ।

ज्योतिष्क विमानोंकी गतिके द्वारा कालका जो विभाग होता है, उसका खुलासा अर्थ समझानेके लिये कहते हैंः—

भाष्यम्—तत्र परम सूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्र-
व्यतिक्रमकालः समय इत्युच्यते, परमदुराधिगमोऽनिर्देयः, तं हि भगवन्तः परमर्षयः केवालि-
नो विदन्ति, न तु निर्दिशन्ति, परमनिरुद्धत्वात् । परमनिरुद्धे हि तस्मिन् भाषाद्रव्याणां
ग्रहणनिसर्गयोः करणप्रयोगासम्भव इति । ते त्वसंख्येया आवलिका, ताः संख्येयाः उच्छ्वासः
तथा निश्वासः । तौ बलवतः पट्विन्द्रियस्य कल्यस्य मध्यमवयसः स्वस्थमनसः पुंसः प्राणः ।
ते सप्त स्तोकाः । ते सप्त लवः, तेऽष्टात्रिंशद्वर्षं च नालिका । ते द्वे मुहूर्तः । ते त्रिंशद्द्वयोरात्रम् ।
तानि पंचदश पक्षः । तौ द्वौ शुक्लकृष्णौ मासः । तौ द्वौ मासावृतम् । ते त्रयोऽयनम् । ते द्वे
संवत्सरः । त पञ्च चन्द्रचन्द्राभिर्वर्धितचन्द्राभिर्वर्धिताख्या युगम् । तन्मध्येऽन्ते चाधिक-
मासकौ । सूर्यसवनचन्द्रनक्षत्राभिर्वर्धितानि युगनामानि । वर्षगतसहस्रं चतुरशीतिगुणितं
पूर्वाङ्गम् । पूर्वाङ्गशतसहस्रम् चतुरशीतिगुणितम् पूर्वम् । एवं तान्ययुतकमलनालिनकुमुद-
तुट्यडडाववाहाहाहृहृचतुरशीतिगतसहस्रगुणाः संख्येयः कालः । अत ऊर्ध्वमुपमानियतं
वक्ष्यामः । तद्यथा हि नाम-योजनविस्तीर्णं योजनोच्छ्रायं वृत्तं पत्यमेकरात्राद्युत्कृष्ट-
सत्तरात्रजातानामङ्गलोद्भां गाढं पूर्णं स्याद्वर्षशताद्वर्षातादेकैकस्मिन्नुद्ध्ययमाणे यावता
कालेन तद्विक्तं स्यादेतत्पत्योपमम् । तद्वगभिः कोटाकोटिभिः गुणितं सागरोपमम् ।
तेषां कोटाकोट्यश्चतस्रः सुषमसुषमा, तिस्रः सुषमा, द्वे सुषमदुःषमा, द्विचत्वारिंशद्वर्ष-
सहस्राणि हित्वा एका दुःषमसुषमा, वर्षसहस्राणि एकविंशतिर्दुःषमा, तावत्येव दुःषम-
दुःषमा । ता अनुलोमप्रतिलोमा अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यौ भरतैरावतेष्वनाद्यनन्तं परिवर्तन्तेऽ-
होरात्रवत् । तयोः शरीरायुःशुभपरिणामानामनन्तगुणहानिवृद्धी, अशुभपरिणामवृद्धिहानी ।
अवस्थिताऽवस्थितगुणाचैकैरन्यत्र । तद्यथा—कुरुपु सुषमसुषमा, हरिरम्यकवासेषु सुषमा,
हैमवतहैरण्यवतेषु सुषमदुःषमा, विदेहेषु सान्तरद्विपेषु दुःषमसुषमा, इत्येवमादिमनुष्यक्षेत्रे
पर्यायापन्नः कालविभागो ज्ञेय इति ।

अर्थ—ऊपर जो कालके विभाग बताये हैं, उनमें सबसे छोटा विभाग समय है,

१—अवरा पञ्चायटिदी खणमेतं होदि तं च समओत्ति । दाण्मणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे ओ दु ॥५७२॥ आवलि-
अर्धखसमया सखेज्जावलिसमहमुत्सासो । सत्तुत्सासा थोवो सत्तथोवा लवो भणिओ ॥५७३॥ अठ्ठीसद्वलवा नाली वेना-
लिया मुहुत्तं तु । एगसमयेण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं ॥५७४॥ दिवसो पत्थो मासो उडु अयणं वस्समेवमादी हु ।
संखेज्जासंख्खाणंताओ हांदि ववहारो ॥५७५॥—गोम्मटसार—जीवकांड । इसके सिवाय इसी सूत्रकी व्याख्यामें आगे
चलकर स्वयं ग्रन्थकारने अणुभागसे लेकर युग पर्यन्त गन्दोंका अभिप्राय बताया है । २—शुद्धिनियमतो यावता
कालेनेति पाठान्तरम् ।

जिसका कि स्वरूप इस प्रकार है—निर्विभाग पुद्गल द्रव्यको परमाणु कहते हैं, उसकी क्रिया जब परम सूक्ष्म—अत्यन्त अल्प हो, और जब कि वह सबसे जघन्य गतिरूपमें परिणत हो, उस समयमें अपने अवगाहनके क्षेत्रक व्यतिक्रम करनेमें जितना काल लगता है, उसको समय कहते हैं । अर्थात् जिसका फिर दूसरा विभाग कभी नहीं हो सक्ता, ऐसे पुद्गल द्रव्यके अणु—परम अणुकी क्रिया जब सबसे अधिक सूक्ष्मरूप हो, और उसी समयमें वह आकाशके जिस प्रदेशपर ठहरा हुआ है, उससे हटकर—सर्व-जघन्य—अत्यन्त मन्द गतिके द्वारा अपने निःसृत्यता दूसरे प्रदेशपर जाय, तो उसको अपने अवगाहनका व्यतिक्रम कहते हैं, इस व्यतिक्रममें, अर्थात् मन्त्रगतिके द्वारा उस परमाणुको अपने अवगाहित प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमें जितना काल लगता है, उसकी समय कहते हैं । परमाणु और उसके अवगाहित आकाश प्रदेशकी अपेक्षा सक्रान्तिके बाध—समयको भी अविभाग परम निरुद्ध और अत्यन्त सूक्ष्म कहते हैं । साविशय ज्ञानके धारण करने-वाले भी इसको कठिनातासे ही जान सक्ते हैं । इसके स्वरूपका वचन द्वारा निरूपण भी नहीं हो सकता । जो परमर्षि है, वे आत्मप्रत्यक्षके द्वारा उसको जान सकते हैं, परन्तु उसके स्वरूपका निरूपण करके दूसरोंको उसका बोध नहीं करा सकते । जो परमर्षि—अनुपम हृदयके धारक और हृदयस्थ अवस्थाको नष्ट कर वैवल्यको प्राप्त हो चुके हैं, वे भगवान् भी ज्ञेयमान को विषय करनेवाले अपने वैवल्यज्ञानके द्वारा उसको जान लेते हैं, परन्तु दूसरोंको उसके स्वरूपका निर्देश नहीं करते, क्योंकि वह परम निरुद्ध है । उसके स्वरूपका निरूपण जिनके द्वारा हो सक्ता है, ऐसी भाषावर्गणाओंको वे केवली भगवान् जबतक ग्रहण करते हैं, तबतक असंख्यात समय हो जाते हैं । समय परम निरुद्ध—अत्यल्प—इतना छोटा है, कि उसके विषयमें पुद्गल द्रव्यकी भाषावर्गणाओंका ग्रहण और परित्याग करनेमें इन्द्रियोंका प्रयोग हो नहीं सक्ता—असंभव है ।

इस प्रकार समयका स्वरूप है । यह कालकी सबसे छोटी—जघन्य पर्याय है । असंख्यात समयोंकी एक आवली—आवलि होती है । सत्यान आश्लिकाओंका एक उच्छ्वास अथवा एक निश्वास होता है । जो ब्रह्मवान् है—जिसके शरीरकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है,

१—समय कालकी पर्याय होनेमें अमूर्त है—और वह मयस जघन्य है । अतएव प्रत्यक्ष ज्ञानमेंसे केवल ज्ञानका ही वह विषय हो सकता है । अथवा श्रुत्यन्तसे अनुमान द्वारा जाना जा सकता है । २—यदा दिक्के समान उपवा साधात्कार नरो करा ससत्, और न यही क्या ससत्ते हैं कि वह अब गुरु हुआ और अब पूर्ण हुआ । यद्यो नहीं क्या ससत्ते और इसका कारण क्या है तो आगे चलकर उसी व्याख्यामें लिखा है ।

३—वायुको भीतर गाँचनेको उच्छ्वास और कोष्ठस्थ वायुके बाहर निश्वसनेको निश्वास कहते हैं । यदा ज्ञानोद्भासका स्वप्न मनुष्यगतिकी अपेक्षासे समानता चाहिये । क्योंकि दोनों ज्ञानोद्भासका प्रमाण इतने बहुत बराबर होता है । उनके ज्ञानोद्भासका प्रमाण उनकी आयुसे दिशावसे हुना करता है । वह इस प्रकार है, कि जितने शरीरकी आयु होती है, उतने ही पंच पीछे वे जायें लगे हैं ।

तदवस्थ बनी हुई है, जिसकी इन्द्रियाँ भी समर्थ है, जिसका शरीर किसी प्रकारकी व्याधिसे आक्रान्त नहीं है, जो न बाल्य अवस्थाका है और न वृद्ध अवस्थाका, किंतु मध्यम वयको धारण करनेवाला है, जिसका मन भी स्वस्थ है—किसी प्रकारकी आधि-चिन्तासे घिरा हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषके उच्छ्वास और निःश्वास दोनोंके समूहको प्राण कहते हैं । सात प्राणोंके समूहको एक स्तोक कहते हैं । सात स्तोक प्रमाण कालको लव कहते हैं । साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली कही जाती है । दो नालीका एक मुहूर्त, तीस मुहूर्तका एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्रका एक पक्ष होता है । ये पक्ष दो प्रकारके हुआ करते हैं, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष । दोनों पक्षोंके समूहको मास—महीना कहते हैं । दो महीनेकी एक ऋतु होती है । तीन ऋतुका एक अयन और दो अयनका एक संवत्सर—वर्ष होता है । पाँच वर्षके समूहको युग कहते हैं । वर्ष चान्द्र अभिवर्धित आदि पाँच प्रकारका होता है । उसके अनुसार ही युगके भी पाँच प्रकार समझ लेने चाहिये । वे पाँच नाम इस प्रकार हैं । सौर्य, सवन, चान्द्र, नाक्षत्र, और अभिवर्द्धित । पाँच वर्षके युगमें मध्यमें और अन्तमें मिलकर दो अधिक मास हुआ करते हैं^१ ।

१—“ अड्वत्स अणलसत्स य णिरुहदत्स य हवेज्ज जीवत्स । उत्सासाणित्सातो ऐसो पाणेत्ति आहीदो ॥ (गो. जीवकाण्ड क्षेपक) । ऐसे मनुष्यके एक अन्तर्मुहूर्तमें ३७७२ नाड़ीके ठोके लगते हैं । आजकलके डाक्टरोंने भी करीब करीब इतना ही हिसाब माना है ।

२—जिसमें चन्द्रमाका उदय—काल बढ़ता जाय, उसको शुक्ल पक्ष और जिसमें अन्धकार बढ़ता जाय, उसको कृष्णपक्ष कहते हैं । प्रतिपदासे अमावस्यातक कृष्णपक्ष और उसके बाद प्रतिपदासे पूर्णमासीतक शुक्ल पक्ष होता है, कृष्णपक्षमें अन्धकार बढ़ते बढ़ते अमावस्याको चन्द्रमाका सर्वथा अनुदय हो जाता है, और शुक्ल पक्षमें चन्द्रमाका प्रकाश बढ़ते बढ़ते पूर्णमासीको उसका पूर्ण उदय हो जाता है । २—साधारणतया महीना पाँच प्रकार के हैं, सूर्य चन्द्र आदिकी अपेक्षासे । परन्तु देशमें इस विषयका व्यवहार प्रायः दो प्रकारका ही देखनेमें आता है ।—कहीं कहीं तो अमावस्याको महीना पूर्ण होता है, अतएव उस तिथिकी जगह ३० का अंक लिखा जाता है । कहीं कहींपर पूर्णमासीको महीना पूर्ण होता है, और इसी लिये उसका नाम पूर्णमासी है । सामान्यसे महीना ३० दिनका ही गिना जाता है, यद्यपि उसमें कुछ कुछ अंतर भी है । ४—इस हिसाबसे वर्षकी छह ऋतु हुआ करती हैं, जिनके कि नाम इस प्रकार हैं—हेमन्त शिशिर वसंत ग्रीष्म वर्षा शरद् । ५—चन्द्र १ सूर्य २ अभिवर्द्धित ३ सवन ४ और नक्षत्र ५ ये पाँच प्रकारके संवत्सर हैं । इनका प्रमाण क्रमसे इस प्रकार है ।—चन्द्रसंत्सरमें महीनाका प्रमाण २९ $\frac{१}{२}$ दिनका है । इस हिसाबसे वर्षमें बारह महीनाके ३५४ $\frac{१}{२}$ दिन होते हैं । यही चन्द्रसंवत्सरका प्रमाण है । (आजकल मुसलमान प्रायः चन्द्रसम्बत्सर को ही मानते हैं ।) सूर्यसम्बत्सरमें महीनाका प्रमाण ३० $\frac{१}{२}$ दिन है, इस हिसाबसे वर्ष—बारह महीनाके ३६६ दिन होते हैं । यही सौर-वर्षका प्रमाण है । अभिवर्द्धित सम्बत्सरमें ३१ $\frac{१}{२}$ दिनका महीना और इसी हिसाबसे बारह महीनाके ३८३ $\frac{१}{२}$ दिन होते हैं । सवन संवत्सरमें महीनाके ३० दिन और बारह महीनाके ३६० दिन होते हैं । नक्षत्र सम्बत्सरमें महीनाके २७ $\frac{१}{२}$ दिन और इसी हिसाबसे बारह महीनाके ३२७ $\frac{१}{२}$ दिन होते हैं । इस प्रकार पाँचो सम्बत्सर एक साथ प्रवृत्त रहा करते हैं, और अपने अपने समयपर वे पूर्ण हो जाते हैं । पाँच वर्षके युगमें पाँचो ही प्रकारके सम्बत्सर आ जाते हैं । वर्षके अनुसार ही युगके भी पाँच नाम समझ लेने चाहिये ।

६—पाँच प्रकारके सम्बत्सरोंमेंसे अभिवर्द्धित नामके सम्बत्सरमें अधिक मास होता है । और अंतमें अभिवर्द्धित सम्बत्सर ही हुआ करता है ।

चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्क, चौरासी लाख पूर्वाङ्कका एक पूर्व हुआ करता है । पूर्वसे आगे क्रमसे अयुत कमल नलिन कुमुद तुट्टि अड्ड अवव हाहा और हूहू भेद माने हैं । इनका प्रमाण भी उत्तरोत्तर चौरासी लाख चौरासी लाख गुणा है । अर्थात् चौरासी लाख वर्षका एक अयुत और चौरासी लाख अयुतका एक कमल, चौरासी लाख कमलका एक नलिन, चौरासी लाख नलिनका एक कुमुद, चौरासी लाख कुमुदका एक तुट्टि, चौरासी लाख तुट्टिका एक अड्ड, चौरासी लाख अड्डका एक अवव, चौरासी लाख अववका एक हाहा, और चौरासी लाख हाहाका एक हूहू होता है । यहाँतक सख्यात कालके भेद हैं । क्योंकि ये गणित-शास्त्रके विषय हो सकते हैं और हैं । अतएव इसके ऊपर जो कालके भेद गिनाये हैं, उनको उपमा नियत कहते हैं । इस उपमा नियत-कालका प्रमाण इस प्रकार है —

एक योजन लम्बा और एक ही योजन चौड़ा तथा एक ही योजन ऊँचा गहरा—एक गोल गड्ढा बनाना चाहिये । एक दिन या रात्रिसे लेकर सात दिन तकके उत्पन्न भेदके बचेके बालोंसे उस गड्ढेको गान्तरूपसे—स्वयं अच्छे तरह दबाकर पूर्णतया भरना चाहिये । पुनः सौ सौ वर्षमें उन बालोंमेंसे एक एक बालको निखालना चाहिये । इसी क्रमसे निखालने निखालते जब वह गड्ढा बिलकुल खाली होजाय, उतनेमें जितना काल लगे, उसको एक पल्य कहते हैं । इसको दश कोडाकोडीसे गुणा करनेपर एक सागर होता है । अर्थात् दश कोडाकोडी पल्यका एक सागर होता है । चार कोडाकोडी सागरका एक सुपमसुपमा, तीन कोडाकोडी सागरका सुपमा, दो कोडाकोडी सागरका सुपमादुपमा, च्यालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरका दुपमसुपमा, इक्कीस हजार वर्षका दुपम, और इक्कीस हजार वर्षका ही दुपमदुपमा माल माना है ।

१—भाष्यकारने जो स्थान गिनाये हैं, वे अत्यल्प हैं । आगममें जो कम बताया है वह इस प्रकार है—
 सुव्यङ्ग सुटिका अड्डा अवव हाहा हाहा हूहू हूहू उत्पल उरल पचाङ्ग पच नलिन नलिन अर्धनियूरा अर्धनियूर वृष्टि वृष्टि शर्पश्रेष्ठिका शर्पश्रेष्ठिका । ये सब चौरासी लाख चौरासी लाख गुणे हैं । सूर्यप्रकाशमें पूरे के ऊपर लगाइसे लेकर शर्पश्रेष्ठिका पर्यन्त गणित-शास्त्रका विषय बताया है । २—उपमानामान अर्थात् उत्पन्न है । यह कारके नहीं बताया जा सकता, अतएव किसी न किसी व्याख्याता उपमा देकर उक्त छोट बचपनका बोध कराया जाता है । जैसे कि पल्य सागर आदि । अत्र भलेकी गान्धो पल्य और समुद्रको सागर कहते हैं । ३—एगा प्रयोग किसीने न किया है और न हो सकता है केवल बुद्धिके द्वारा कल्पना करके समझनेके लिये यह उपाय केवल कल्पनाका बताया है । ४—दिगम्बर सम्प्रदायक अनुसार उन व्याख्यातों के ऐसे करने का भिन्न कि विर केवासे दूसरा दुष्टान्ता होसके ऐसे बात-गान्धोसे उस गड्ढा भरना चाहिये । —पल्य ३ प्रकारका माना है—उदारपल्य अदापल्य और क्षेत्रपल्य । दिगम्बर सम्प्रदायमें इस प्रकार ३ भेद माने हैं—व्यवहारपल्य उदार पल्य और अदापल्य । इनके उत्तरोत्तर अनेक हैं उनका स्वरूप और उनके कालके अन्य बहुत-सी टीका ग्रन्थोंमें देखना चाहिये । सान्यासतया—उदारपल्यका प्रयोजन ईश सागरोकी गणना आदिक है । अदापल्यका प्रयोजन उत्कर्षादि आदि काल विभाग कामधियादि श्रुतिकी कथादिककी कथा और भवकी स्थिति आदिका परिमाण करना है । क्षेत्रपल्यका प्रयोजन श्रुतिकी कथादिक चीज-सामान्य परिमाण बताया है । प्रत्येक पल्यके बाद और सूत्रके अन्त में दो दो भेद हैं । यहीर भाष्यकारने बाद अदापल्यका स्वरूप बताया है, जाकि सख्यात केने बताया है ।

सुषमसुषमासे लेकर दुष्यमदुष्यमा तकका काल दश कोड़ाकोड़ी सागरका है। इम दश कोड़ाकोड़ी सागरके अनुलोम-सुषमसुषमासे लेकर दुष्यमदुष्यमा तकके कालको अवसर्पिणी^१ कहते हैं। दश कोड़ाकोड़ी सागरके ही प्रतिलोम-दुष्यमदुष्यमासे लेकर सुषमसुषमा पर्यन्त कालको उत्सर्पिणी^२ कहते हैं। जिस प्रकार दिनके बाद रात्रि और रात्रिके बाद दिन हुआ करता है, तथा उनकी इसी तरहकी प्रवृत्ति अनादि कालसे चली आ रही है, उसी प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालकी फिरन भी अनादि कालसे चली आ रही है। अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी काल प्रवृत्त हुआ करता है^३, यह प्रवृत्ति अनादि कालसे है। किन्तु यह भरत आर ऐरावत क्षेत्रमें ही होती है, अन्य क्षेत्रोंमें नहीं। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दोनों ही कालोंमें क्रमसे शरीर आयु और शुभ परिणामोंकी अनन्तगुणी हानि और वृद्धि हुआ करती है, तथा अशुभ परिणामोंकी अनन्तगुणी वृद्धि और हानि हुआ करती है। अर्थात् अवसर्पिणी कालमें शरीर आयु और शुभ परिणामोंकी क्रमसे अनन्तगुणी हानि होती जाती है, और उत्सर्पिणी कालमें इन विषयोंकी क्रमसे अनन्तगुणी वृद्धि होती जाती है। इसी प्रकार अवसर्पिणीमें अशुभ परिणामोंकी अनन्तगुणी वृद्धि होती जाती है, और उत्सर्पिणीमें उनकी क्रमसे अनन्तगुणी हानि होती जाती है। भरत और ऐरावतके सिवाय दूसरे क्षेत्रोंमें कालकी प्रवृत्ति अवस्थित है, और वहाँके गुण भी अवस्थित है। यथा-कुरुक्षेत्रमें-देवकुरु और उत्तरकुरुमें सदा सुषमसुषमा काल ही अवस्थित रहता है^४। कल्पवृक्षादिके परिणाम जो नियत है, वे ही वहाँ हमेशा बने

१-जिसमें आयु काय और शुभ परिणाम घटते जाँय उसको अवसर्पिणी कहते हैं। अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी बाद अवसर्पिणी हुआ करती है। असाध्यत अवसर्पिणियोंके अनंतर एक हुंदावसर्पिणी हुआ करती है। इसमें द्रव्य मिथ्यात्वकी प्रशुति और अनेक विलक्षण कार्य हुआ करते हैं। वर्तमानमें हुंदावसर्पिणी काल चल रहा है। २-जिसमें आयु काय और शुभ परिणाम बढ़ते जाँय। ३-उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनोंके समूहको एक कल्पकाल कहते हैं। अतएव उसका प्रमाण वीस कोड़ाकोड़ी सागर है। ४-अर्थात् अवसर्पिणीमें शरीरादिककी अनन्तगुणी हानि और उत्सर्पिणीमें अनन्तगुणी वृद्धि हुआ करती है। शुभ परिणामोंसे प्रयोजन आचार विचार शिक्षा दीक्षा बुद्धि और मनकी गति रीति नीति आदि सभी धार्मिक भावोंसे है, सुषमसुषमामें मनुष्योंका शरीर ३ कोशका, आयु ३ पर्यकी होती है। आगे घटती घटती जाती है, दुष्यमा (वर्तमान काल) में शरीरका प्रमाण अनियत और आयुका प्रमाण १०० वर्ष परन्तु अनियत है। अति दुष्यमामें शरीर प्रमाण अनियत परन्तु अन्तमें एक हाथका है। आयु सोलह वर्षकी मानी है। प्रतिलोममें इसकी उल्टी गति समझनी चाहिये।

५-यह उत्तम भोगभूमि है। यहाँपर उत्तम पात्रको दान देनेके द्वारा मंदिन पुण्यके प्रभावसे युगल उत्पन्न हुआ करते हैं। उत्तम शरीर संहनन आयु कायरूपको पानेवाले दश प्रकारके कल्पवृक्षोंके फलोंको भोगते हैं। स्त्री पुण्य साथ उत्पन्न होते और साथ ही मृत्युको प्राप्त होते हैं। पुण्य जैभाई लेकर और स्त्री छींक लेकर मरते हैं। स्त्री और पुण्य दोनों ही मरकर नियमसे स्वर्गको जाते हैं। क्योंकि उनके परिणाम अन्यत मन्द कपायरूप हुआ करते हैं। इनके शरीरकी कान्ति तप्त सुवर्णके समान हुआ करती है।

रहते हैं। हरि और रम्यक क्षेत्रमें सुषमा कालकी परिस्थिति हमेशा रहा करती है।
हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रमें सदा सुषमदुषमा कालकी प्रवृत्ति रहती है। विदेहक्षेत्र तथा
अन्तरद्वीपोंमें हमेशा दुष्पमसुषमा ऋतु बना रहता है।

ऊपर कालके अनेक भेद जो बताये हैं, उनके सिवाय और भी उसके अनेक भेद
हैं। परन्तु उन सब काल-विभागोंका व्यवहार मुख्यतया मनुष्य-क्षेत्रमें ही हुआ करता है।
मुख्यतया कहनेका अभिप्राय यह है, कि मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क चक्रके भ्रमशील होनेसे वास्त-
वमें तो यहाँपर कालका विभाग हुआ करता है। परन्तु यहाँ जो व्यवहार प्रसिद्ध है, उसके
सम्बन्धसे देवलोक आदिमें भी उसका व्यवहार होता है।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि मनुष्यलोकमें तो ज्योतिषचक्र मेरुकी प्रवक्षिणा
देता हुआ नित्य ही गमनशील है। परन्तु उसके बाहर कैसा है ? बिना प्रवक्षिणा दिये ही
गतिशील है ? अथवा नित्य गतिशील न होकर कदाचित् गतिशील है ? यद्वा उसका कोई
और ही प्रकार है ? इसके उत्तरमें नृलोकके बाहर ज्योतिष्क विमानोंकी जैसी कुछ अवस्था है,
उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बहिरवस्थिता ॥ १६ ॥

भाष्यम्—नृलोकाद् बहिर्योतिष्का अवस्थिता, अवस्थिता इत्यविचारिण अवस्थित
विमानप्रवेष्टा अवस्थितलक्ष्याप्रकाशा इत्यर्थः । सुराशीतोष्णरश्मयश्च ॥

अर्थ—नृलोक-मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त जो क्षेत्र है, उससे बाहर सूर्य चन्द्र आदि जो
ज्योतिष्क विमान हैं, वे अवस्थित हैं। अवस्थितसे अभिप्राय अविचारोत्तरा है। अर्थात् वहाँके
ज्योतिष्क विचारण-भ्रमण नहीं करते, अनन्व अवस्थित हैं। उनके विमानोंके प्रदेश भी अव-
स्थित हैं। अर्थात् न ज्योतिष्क देव ही गमन करते हैं, और न उनके विमान ही गमन करते हैं।

१—यहाँ मध्यम भोगभूमि है। यहाँ गरीर २ कोसका आयु २ पत्थरी इत्यादि सब विषय मध्यम समझना
चाहिये। यहाँके मनुष्योंके शरीरकी कान्ति चक्षुष्य समान मानी है। २—यह नपस्य भोगभूमि है। यहाँ गरीर १ कोस
आयु १ पत्थरी होती है। शरीरका कान्ति महद्वार पते समीपे कही है। ३—यह कर्मभूमि है, यहाँ राजा प्रजाका व्यवहार
और आजीविका उपायोंका व्यवहार चलता है। यहाँ शरीरोत्प्रेष उच्छ्वस धनुष और आयु ६४ हजार वर्ष है।

४—पुत्रलपरावनन आदि पञ्च परितनन्व तथा मर्वादा आदिक कालका प्रमाण अनन्त है। भाष्यकारों
मध्यमेय अमध्यमेय और अनन्त इस तरह तीन भेदोंका योग्य किया है, परन्तु उनमेंमें यहाँपर पहले दो भेदोंका गुलासा
दिया है। अनन्तता गुलासा नहीं किया है जो प्रजातारोंमें गमन सेना चाहिये। सामान्यसे अनन्त उद्योगको कथन है कि
विषय राशिका कमी अन्त न और। इसके मूलमें दो भेद हैं—१। अन्त और २। अन्त। ३। अन्त।
स्पष्ट दृष्ट प्रसार है— सत्यवि श्वयस्र्वावे नवीनहृदरभावत्तरा येर। यरर लखो न निनर। गोप्त्रन्तो त्रिनान
भोगि ॥ अनन्तके ३ भेद इस प्रकार भी बताये हैं—मुचानन्त परोत्तन्त अनन्तानन्त । नन्ते भी प्रयेक
उच्छ्वस मध्यम और नपस्य भेदमें तीन तीन प्रकार हैं। इनका प्रमाण गोमन्मन्मर कर्मराश्वी भूमिमें
देखना चाहिये।

उनकी लेश्या और प्रकाश भी अवस्थित है। लेश्यासे मतलब वर्णका है। मनुष्य-लोकमें ज्योतिष्क विमानोंके गतिशील होनेसे उपराग आदिके द्वारा वर्णमें परिवर्तन भी हो जाता है, परन्तु नृलोकके बाहर ज्योतिष्कोंके अवस्थित होनेसे उपराग आदि संभव नहीं हैं, अतएव वहाँ-पर वर्णमें परिवर्तन नहीं हो सकता, उनका पीत वर्ण अवस्थित रहता है। इसीलिये-निष्कम्प रहनेके कारण ही उनका उदय और अस्त नहीं हुआ करता, अतएव उनका एक लाख योजन प्रमाण प्रकाश अवस्थित रहता है। वहाँके सूर्य चन्द्रमाओंकी किरणें अत्यंत उग्र उष्ण अथवा शीतरूप नहीं हैं। सूर्यकी किरणें अत्यन्त उष्ण नहीं हैं-सुखकर हैं। चन्द्रमाकी किरणें अत्यन्त शीत नहीं हैं। वे भी सुखकर हैं। दोनोंकी ही किरणें स्वभावसे ही साधारण और सुखकर रहती हैं।

इस प्रकार तीसरे देवनिकायका वर्णन पूर्ण हुआ। ज्योतिष्कोंके स्थान वर्ण गति विष्कम्भ आदिका और उनके विमान तथा उनकी गतिके द्वारा होनेवाले काल-विभाग एवं उस काल-विभागका स्वरूप भी बताया। शेष वैभव और अवधि प्रमाण आदिका स्वरूप ग्रन्थान्तरों-से देखकर जानना चाहिये। अब क्रमानुसार चौथे देवनिकायका वर्णन अवसर प्राप्त है। उनके नाम भेद आदिका विशेष वर्णन करनेके लिये सबसे पहले अधिकार सूत्रका उल्लेख करते हैं:—

सूत्र—वैमानिकाः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—चतुर्थो देवनिकायो वैमानिकाः । तैस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यन्ते । विमानेषु भवा वैमानिकाः ।

अर्थ—चौथे देवनिकायका नाम वैमानिक है। यहाँसे अब इसी निकायका वर्णन करेंगे। विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले या रहनेवालोंको वैमानिक कहते हैं।

भावार्थ—यह अधिकार सूत्र है। यहाँसे वैमानिक देवोंका अधिकार चलता है, स्थितिके प्रकरणसे पूर्वतक अर्थात् आगे चलकर स्थितिका वर्णन जो किया जायगा, उससे पहले-यहाँसे लेकर उस प्रकरणसे पहले पहले जो कुछ भी अब वर्णन किया जायगा, वह वैमानिक देवोंके विषयमें समझना चाहिये, ऐसा इसका अभिप्राय है। विमानोंमें होनेवालोंको वैमानिक कहते हैं। यद्यपि ज्योतिष्कदेव भी विमानोंमें ही उत्पन्न होते और रहते हैं, परन्तु यह वैमानिक शब्द समभिरूढ नयकी अपेक्षा सौधर्मादि स्वर्गवासी देवोंमें ही रूढ है। विमान तीन प्रकारके हैं-इन्द्रक श्रेणिवद्ध और पुष्पप्रकीर्णक। जो सबके मध्यमें होता है, उसको इन्द्रक कहते हैं, जो पूर्व आदि दिशाओंके क्रमसे श्रेणिरूप-एक लाइनमें अवस्थित है, उनको श्रेणिवद्ध

१-वैमानिकशब्द निरुक्तिसिद्ध भी है। यथा-यत्रस्था आत्मनो वि-विशेषेण सुकृतिनो मानयन्ति इति विमानानि तेषु भवा वैमानिका। अथवा-यत्रस्था परस्परं भोगातिशयं मन्यन्ते इति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः। २-ये शब्द भी अन्वर्थ और निरुक्तिसिद्ध हैं।

कहते हैं । बिखरे हुए फूलोंकी तरह जो अनवस्थितरूपसे जहाँ तहाँ अवस्थित रहते हैं, उनको पुष्पप्रकीर्णक कहते हैं । इनमें रहनेवाले देवोंका नाम वैमानिक है । यही चौथा देव-निकाय है । आगे इसीका क्रमसे वर्णन करेंगे ।

वैमानिक देव जोकि अनेक विशेष ऋद्धियोंके धारक हैं, उनके मूर्खों कितने भेद हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—कल्पोपपन्ना कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥

भाष्यम्—द्विधिया वैमानिका देवा—कल्पोपपन्ना कल्पातीताश्च । तान् परस्तात् घक्ष्याम इति ।

अर्थ—वैमानिक दो प्रकारके हैं—एक कल्पोपपन्न, दूसरे कल्पातीत । इन भेदोंका आगे चलकर वर्णन करेंगे ।

भावार्थ—पूर्वोक्त इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पना जिनमें पाई जाय, उनको कल्प कहते हैं । यह कल्पना सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युत स्वर्गतक ही पाई जाती है । इन कल्पोंमें उत्पन्न होनेवालोंको कल्पोपपन्न कहते हैं । इस कल्पनासे जो अतीत—रहित हैं, उनको कल्पातीत कहते हैं । अच्युत स्वर्गसे ऊपर ग्रैयेयक आदिमें जो उत्पन्न होनेवाले हैं, उनको कल्पातीत समझना चाहिये । वैमानिक देवोंके सामान्यसे ये दो मूल भेद हैं । इनके उत्तरभेदोंका वर्णन आगे क्रमसे करेंगे ।

इन दो भेदोंमेंसे पहले कल्पोपपन्न देवोंके कल्पोंकी अवस्थिति किस प्रकारसे है ? इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—उपर्युपरि ॥ १९ ॥

भाष्यम्—उपर्युपरि च यथानुदश वेदितव्या । नेकक्षेत्रे नापि तिर्यग्घोचेति ।

अर्थ—यह सूत्र देवों या विमानोंके विषयमें न समझकर कल्पोंके विषयमें ही समझना चाहिये । सौधर्म आदि कल्पोंका नामनिर्देश आगेके सूत्रमें करेंगे । उनका अवस्थान क्रमसे ऊपर ऊपर समझना चाहिये । अर्थात् निर्दशके अनुसार सौधर्मके ऊपर ऐशान और ऐशानके ऊपर सनत्कुमार कल्प है । इसी क्रमसे अच्युतपर्यन्त कल्पोंका अवस्थान ऊपर ऊपर है । ये कल्प न तो एक क्षेत्रमें हैं—मनके सब एक ही जगह अवस्थित नहीं हैं, और न तिर्यक् अथवा नीचे नीचेकी तरफ ही अवस्थित हैं ।

नामनिर्देशके अनुसार कल्पोंका और उसके ऊपर कल्पानुसार अवस्थान है, यह बात ऊपर बता चुके हैं, किन्तु दोनोंमेंसे किसीका भी अमीनक नामनिर्देश नहीं किया है । अनर्थक ये कहना है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोक-लान्तकमहाशुक-
सहस्रारेष्वाणतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-
वैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ २० ॥

भाष्यम्—एतेषु सौधर्मादिषु कल्पविमानेषु वैमानिका देवा भवन्ति । तद्यथा—सौध-
र्मस्य कल्पस्योपरि ऐशानः कल्पः । ऐशानस्योपरि सनत्कुमारः । सनत्कुमारस्योपरि माहेन्द्र
इत्येवमा सर्वार्थसिद्धादिति ॥

अर्थ—सौधर्म ऐशान सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मलोक लान्तक महाशुक सहस्रार आणत
प्राणत आरण और अच्युत ये चारह कल्प हैं । इन सौधर्म आदि कल्पोंके विमानोंमें वैमानिक
देव रहते हैं । अच्युत कल्पके ऊपर नवग्रैवेयक है । जोकि ऊपर ऊपर अवस्थित हैं ।
ग्रैवेयकोंके ऊपर पाँच महा विमान हैं, जिनको कि अनुत्तर कहते हैं, और जिनके नाम इस
प्रकार हैं—विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्ध । सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्ध
पर्यन्त सभीका अवस्थान क्रमसे ऊपर ऊपर हैं ।

भावार्थ—ज्योतिष्क विमानोंमें असंख्यात योजन ऊपर चलकर मेरुसे ऊपर पहला
सौधर्मकल्प है । यह पूर्व पश्चिम लम्बा और उत्तर दक्षिण चौड़ा है । इसकी लम्बाई
और चौड़ाई असंख्यात कोटिकोटी योजनकी हैं । क्योंकि इसका विस्तार लोकके अन्ततक है ।
इसकी आकृति आवे चन्द्रमाके समान है । यह सर्वरत्नमय और अनेक शोभाओंसे युक्त है ।
इसके ऊपर ऐशान कल्प है, जोकि इससे उत्तरकी तरफ कुछ ऊपर चलकर अवस्थित है ।
सौधर्म कल्पसे अनेक योजन ऊपर सनत्कुमार कल्प है, जोकि सौधर्मकल्पकी श्रेणीमें ही
व्यवस्थित है । ऐशान कल्पके ऊपर माहेन्द्र कल्प है । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पके ऊपर
अनेक योजन चलकर दोनोंके मध्यभागमें पूर्ण चन्द्रमाके आकारवाला ब्रह्मलोक नामका कल्प है ।
इसके ऊपर लान्तक महाशुक और सहस्रार ये तीन कल्प हैं । इनके ऊपर सौधर्म ऐशान
कल्पोंकी तरह आणत और प्राणत नामके दो कल्प हैं । इनके ऊपर सनत्कुमार और माहेन्द्रके

१—इस विषयमें टीकाकारने भी लिखा है कि “ज्योतिष्कोपरितनप्रस्तारादसंख्येययोजनमध्वानमाख्य
मेरुपलक्षितदक्षिणभागार्थव्यवस्थितः प्राक् तावत् सौधर्मः कल्पः ।” परन्तु अगत्यात योजन ऊपर चलकर
किस तरह लिखने है, सो समझमें नहीं आता । क्योंकि मेरुप्रमाण मध्यलोक है, उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, और
मेरुका प्रमाण एक लाख योजनका ही है । अथवा संभव है, कि सौधर्म स्वर्गकी ऊँचाईको लक्ष्यमें रखकर
अन्तिम उपरितन विमानकी अपेक्षामें ही असंख्यात योजन ऊपर ऐसा लिख दिया हो । २—यहाँपर लोक शब्द
लौकान्तिक देवोंका बोध करनेके लिये है, ये अत्यन्त शुभ परिणामवाले देव हैं, जोकि ऋषियोंकी तरह रहनेके
कारण ब्रह्मर्षि कहाते हैं । इनकी रुचि जिनभगवानके कल्याणकोंको देखनेकी अधिक रहा करती है । जिस समय
तीर्थकर दीक्षा-धारण करनेका विचार करते हैं, उसी समय ये आकर उनके उम विचारकी प्रगटा किया करते हैं ।
ये मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर नियमसे मोक्षको जाते हैं ।

समान आरण और अच्युत नामके दो कल्प समान श्रेणीमें व्यवस्थित हैं । इस प्रकार बारह कल्प हैं । इनके ऊपर त्रैवेयक हैं । ये नौ हैं और वे ऊपर ऊपर अवस्थित हैं ।^१ इनके ऊपर विजयादिक पाँच महाविमान हैं ।

भाष्यम्—सुधर्मा नाम शक्रस्य देवेन्द्रस्य समा, सा तस्मिन्नस्तीति सौधर्म कल्प । इशानस्य देवराजस्य निवास ऐशान इत्येवमिन्द्राणां निवासयोगाभिरुया सवे कल्पा । त्रैवे यकास्तु लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेशविनिविष्टा ग्रीवाभरणभूता ग्रीवा ग्रीव्या ग्रीवेया ग्रीवेयका इति ॥

अनुत्तरा पञ्च देवनामान एव । विजिता अभ्युदयविघ्नेतव पाभिरिति विजय वैजय न्तजयन्ता । तैरेव विघ्नेतुभिर्न पराजिता अपराजिता । सवेव्यभ्युदयार्थेषु सिद्धा सर्वार्थश्च सिद्धा सर्व धैपामभ्युदयार्था सिद्धा इति सर्वार्थसिद्धा । विजितप्रायाणि वा कर्माण्येभिरुप स्थितमग्रा परीपहेरपराजिता सर्वार्थेषु सिद्धा सिद्धप्रायोत्तमार्था इति विजयादय इति ॥

अर्थ—पहले सौधर्म कल्पके इन्द्रका नाम शक्र है, यह बात पहले बता चुके हैं । इस देवराजकी समाका नाम सुधर्मा है । इस समाके नामके सम्बन्धसे ही पहले कल्पको सौधर्म कहते हैं । दूसरे कल्पके देवराज—इन्द्रका नाम ईशान है । उसके निवासके कारण ही दूसरे कल्पको ऐशान कहते हैं । इसी प्रकार इन्द्रोंके निवासके सम्बन्धसे सम्पूर्ण कल्पोंका नाम समग्र लेना चाहिये । जो इन्द्रोंके निवास स्थान—समा आदिका अथवा इन्द्रोंका नाम है उसीके अनुसार उन कल्पोंका भी नाम है । यह व्यवहार बारह कल्पोंमें ही हो सकता है । इनके ऊपर त्रैवेयक हैं । इनको त्रैवेयक कहनेका कारण यह है, कि यह लोक पुरुषाकार है । उसके ग्रीवाके प्रदेशपर ये अवस्थित हैं । अथवा उस ग्रीवाके ये आभरणभूत हैं । अतएव इनको त्रैव ग्रीव्य त्रैवेय और त्रैवेयक कहते हैं ।

पाँच महाविमान जोकि त्रैवेयकोंके ऊपर हैं, उनको अनुत्तर कहते हैं । इनके नाम—विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध हैं । ये नाम देवोंके नामके सम्बन्धसे हैं । पहले तीन विमानोंके देव विजयशील—स्वभावसे ही जयरूप हैं । उन्होंने अपने अभ्युदयके विघ्नोंके कारणोंको भी जीत लिया है, अतएव उनको क्रमसे विजय वैजयन्त और जयन्त कहते हैं । उनके विमानोंके भी क्रमसे ये ही नाम हैं । जो उन विमानोंके कारणोंसे पराजित नहीं होते, उनको अपराजित कहते हैं । उनके विमानका नाम भी अपराजित है । सम्पूर्ण अभ्युदयरूप प्रयोजनोंके विषयमें जो सिद्ध हो चुके हैं । अथवा समस्त

१—जो ग्रीवाके स्थानपर हो, ऐसा इस शब्दका अर्थ है । इसकी निश्चित इंगी सूचीकी व्याख्यामें आगे बल्लकर लिखी है । १—दिगम्बर सम्प्रदायमें त्रैवेयकोंके ऊपर और सप्तर्षिसिद्धिसे नीचे नौ अनुदिश और भी माने हैं ।

३—लोक पुरुष इत्येवमुपनारणोक्त एव पुरुषमन्वय आदेव प्राप्ता तत्प्रमता ग्रीवा ग्रीव्या ' इति अष्ट (—पाणिनीय अध्याय ४ पाद ३ सूत्र ५७) तथा 'कुल्लुक्षिग्रीवाम्य स्वास्थल्लोके' (—पाणिनीय अध्याय ४ पाद ३ सूत्र ५६) इति ग्रीव्या ग्रीवेयका इति वा व्युत्पत्ति कर्तव्या । ये सबके उत्तर—ऊपर दे—दोनों ऊपर और कोइ भी विमान नहीं है । अतएव इनको अनुत्तर कहे हैं ।

इष्ट विषयोंके द्वारा जो सिद्ध हो चुके हैं। यद्वा जिनके समस्त अभ्युदयरूप प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं, उन देवोंको सर्वार्थसिद्ध कहते हैं। उनके विमानोंका नाम भी सर्वार्थसिद्ध है।

सामान्यतया विजय आदि पाँचो ही अनुत्तर विमानोंमें निवास करनेवाले देवोंने कर्म-भारको प्रायः जीत लिया है; क्योंकि अब उनका कर्म-पटल गुरु और स्रवन नहीं रहा है, लघु और तनु रह गया है। इनको निर्वाणकी प्राप्ति अत्यन्त निकटतर है, अतएव इनके कल्याण-परम कल्याण अत्यल्प समयकी अपेक्षा उपस्थित हुए सरीखे ही समझने चाहिये। देव-पर्यायसे च्युत होकर मनुष्य-पर्यायको प्राप्त करके भी ये परीपह-उपसर्ग और विघ्न-बाधाओंसे पराजित नहीं हुआ करते, और देव-पर्यायमें भी निरन्तर तृप्त ही रहा करते हैं। इनको कोई भी क्षुधा-दिककी बाधा पराजित—पीड़ित नहीं कर सकती, अतएव ये सभी देव अपराजित कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार इन सभी देवोंकी संसारसम्बन्धी प्रायः सभी कर्तव्यताएं समाप्त हो चुकी हैं, प्रायः सभी इष्ट विषयोंमें ये सिद्ध—तृप्त हो चुके हैं, और इनका उत्तमार्थ—सकल कर्मोंके क्षयरूप परमनिःश्रेयस-कल्याण भी प्रायः सिद्ध हो चुका है, क्योंकि ये अनन्तर आगामी भवसे ही मुक्त होनेवाले हैं। अतएव पाँचों ही अनुत्तर विमानवासी विजय आदिक कल्पातीत देवोंको अपराजित और सर्वार्थसिद्ध कह सकते हैं। परन्तु उनके ये नाम जो प्रसिद्ध हैं, सो प्रसिद्धि या रूढिकी अपेक्षासे हैं।

इस प्रकार वैमानिकदेवोंके सौधर्मादि कल्प और ग्रैवेयकादि कल्पातीत भेदोंको बताया और उनकी ऊपर ऊपर उपस्थिति किस किस प्रकारसे है, तथा उनके समाप्त विग्रहार्थ आदि भी बताये अब उन्हीं प्रकृत वैमानिक देवोंके ही विषयमें और भी अधिक विशेषता बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र-स्थितिप्रभावसुखदुष्टतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि- विषयतोऽधिकाः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—यथाक्रमं चैतेषु सौधर्मादिषु उपर्युपरि पूर्वतः पूर्वतः एभिः स्थित्यादिभि-
रर्थैरधिका भवन्ति । तत्र स्थितिरुत्कृष्टा जघन्या च परस्ताद्वध्यते । इह तु वचने प्रयोजनं
येषामपि समा भवति तेषामप्युपर्युपरि गुणाधिका भवतीति यथा प्रतीयेत ।
प्रभावतोऽधिकाः—यः प्रभावो निग्रहानुग्रहविक्रियापराभियोगादिषु सौधर्मकाणां सोऽनन्त-
गुणाधिक उपर्युपरि । मन्दाभिमानतया त्वल्पतरसंक्रिष्टत्वादेते न प्रवर्तन्त इति । क्षेत्रस्वभाव-
जनिताच्च शुभपुद्गलपरिणामात्सुखतो द्युतितश्चानन्तगुणप्रकर्षेणाधिकाः । लेश्याविशुद्ध्या
धिकाः—लेश्यानियमः परस्तादिषां वक्ष्यते । इह तु वचने प्रयोजनं यथा गम्येत यत्रापि

१-दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित इन चार विमानवाले देव दो मनुष्य-भवतक धारण करके मोक्षको जाते हैं, और सर्वार्थसिद्धिके देव एक ही भव-धारण करके मुक्त हो जाते हैं।

विधानतस्तुत्यास्तत्रापि विशुद्धितोऽधिका भवन्तीति । कर्मविशुद्धित एव साधिका भवन्तीति । इन्द्रियविषयतोऽधिका—यदिन्द्रियपाटव दूरादिष्टविषयोपलब्धो सोधर्मदेवाना तत्प्रकृष्टतरगुणत्वादल्पतरसंज्ञकशत्वाच्चाधिकमुपर्युपरि इति । अवाधिविषयतोऽधिका—सोधर्मज्ञानयोदेवा अवाधिविषयेणाधो रत्नप्रभा पश्यन्ति तिर्यगसख्येयानि योजनशतसहस्राण्यूर्ध्वमास्त्वभवनात् सनत्कुमारमाहेन्द्रयो शर्कराप्रभा पश्यन्ति तिर्यगसख्येयानि योजनशतसहस्राण्यूर्ध्वमास्त्वभवनात् । इत्येव शेषा क्रमशः । अनुत्तरविमानवासिनस्तु कृत्वा लोकनाहीं पश्यन्ति । येषामपि क्षेत्रतस्तुत्योऽवाधिविषय तेषामप्युपर्युपरि विशुद्धितोऽधिको भवतीति ॥

अर्थ—उपर्युक्त सौधर्म आदिक कल्प और कल्पातीतोंके देव क्रमसे पूर्व पूर्वकी अपेक्षा ऊपर ऊपरके सभी वैमानिक इस सूत्रमें बताये हुए स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्या विशुद्धि इन्द्रियविषय और अवाधिविषय इन ७ विषयोंमें अधिकाधिक हैं । अपनेसे नीचेके देवोंकी अपेक्षा सभी वैमानिकदेवोंकी स्थिति आदिक अधिक ही हुआ करती है । यथा—स्थितिके जघन्य और उत्कृष्ट भेदोंको आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकार इसी अध्यायमें लिखेंगे । अतएव इस विषयमें यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । फिर भी यहाँपर जो स्थितिका उल्लेख किया है, उससे उसका यह प्रयोजन अवश्य समझ लेना चाहिये, कि जिन उपरितन और अधस्तन विमानवर्ती देवोंकी स्थिति समान है, उनमें भी जो ऊपरके विमानोंमें रहनेवाले और उत्पन्न होनेवाले हैं, वे अन्य गुणोंमें अधिक हुआ करते हैं, अथवा उनकी स्थिति दूसरे गुणोंकी अपेक्षा अधिक हुआ करती है ।

अचिन्त्य शक्तिको प्रभाव कहते हैं । यह निग्रह अनुग्रह विक्रिया और परामियोग आदिके रूपमें दिखाई पड़ता है । शाप या दण्ड आदिके देनेकी शक्तिको निग्रह तथा परोपकार आदिके करनेकी शक्तिको अनुग्रह कहते हैं । शरीरको अनेक प्रकारका बना लेनेकी अणिमा महिमा आदि शक्तियोंको विक्रिया कहते हैं । जिसके बलपर जबरदस्ती दूसरेसे कोई काम करा लिया जा सके, उसको परामियोग कहते हैं । यह निग्रहानुग्रह आदिकी शक्ति साधर्माणिक देवोंमें जितने प्रमाणमें पाई जाती है, उससे अनन्तगुणी अपनेसे ऊपरके विमानवर्ती देवोंमें रहा करती है । किन्तु वे अपनी उस शक्तिको उपयोगमें नहीं लिया करते । क्योंकि उनका कर्म—भार अति मन्द हो जानेसे अभिमान भी अत्यन्त मन्द हो जाता है, और इनके संकलश परिणाम भी अतिशय अल्पतर हो जाते हैं । ऊपर ऊपरके देवोंके चित्त संकलश—कपायरूप परिणामोंके द्वारा कम कम व्याप्त हुआ करते हैं । अतएव उनकी निग्रह अथवा अनुग्रह आदिके करनेमें प्रवृत्ति कम हुआ करती है ।

इसी प्रकार सुख और द्युति भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक है । क्योंकि यहाँके क्षेत्रज्ञ स्वभाव ही इस प्रकारका है, कि जिसके निमित्तमे वहाँके पुद्गल अपनी अनादि पारणामिक शक्तिके द्वारा अनन्तगुणे अनन्तगुणे अधिकाधिक शुभरूप ही परिणामन किया करते हैं, और यह परिणामन इस तरहका हुआ करता है, कि जो ऊपर ऊपरके देवोंके लिये अनन्तगुणे अनन्तगुणे

अधिक—प्रकृष्ट सुखोदयका कारण हुआ करता है । शरीरकी निर्मलता अथवा कान्तिको वृत्ति, कहते हैं । यह भी नीचेके देवोंसे ऊपरके देवोंकी अधिक है ।

शरीरके वर्णको लेश्या कहते हैं । इसकी विशुद्धि भी ऊपर ऊपर अधिकाधिक है, वैमानिकदेवोंमें लेश्यासम्बन्धी जो नियम है, उसका वर्णन आगे चलकर करेंगे । किन्तु यहाँपर जो लेश्या शब्दका प्रयोग किया है, उसका अभिप्राय विशेष अर्थको बतानेका है । वह यह कि जिन ऊपर नीचेके देवोंमें लेश्याका भेद समान होता है, उनमें भी ऊपरके देवोंकी लेश्याकी विशुद्धि अधिक हुआ करती है । क्योंकि ऊपर ऊपरके देवोंके अशुभ कर्म कृष हो जाया करते हैं, और उनमें शुभ-कर्मोंकी बहुलता पाई जाती है ।

इन्द्रियोंका और अवधिका विषय भी ऊपरके देवोंका अधिक अधिक है । दूर ही से अपने इष्ट विषयको ग्रहण कर लेने—देख लेनेमें इन्द्रियोंका सामर्थ्य जितना नीचेके देवोंमें है, उससे ऊपरके देवोंमें अधिक है । क्योंकि वे प्रकृष्टतर गुणोंको और अल्पतर संक्लेश परिणामोंको धारण करने वाले हैं । अवधिज्ञानका स्वरूप पहले बताया जा चुका है । वह भी ऊपर ऊपरके देवोंका अधिकाधिक है । सौधर्म और ऐशान कल्पके देव अवधिके विषयकी अपेक्षा रत्नप्रभा पृथिवीतकको देख सकते हैं । तिर्यक्—पूर्वादि दिशाओंकी तरफ असंख्यात लक्ष योजनतक देख सकते हैं । ऊपरको—ऊर्ध्व दिशामें अपने विमान पर्यन्त ही देख सकते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव शर्करा—दूसरी पृथिवीतक देख सकते हैं । तिर्यक् असंख्यात लक्ष योजन और ऊर्ध्व दिशामें अपने विमान पर्यन्त—विमानके ध्वजदण्ड तक देख सकते हैं । इसी प्रकार शेष—ब्रह्मलोक आदिके देवोंके विषयमें भी क्रमसे समझ लेना चाहिये । अर्थात् ब्रह्मलोक और लान्तक विमान-वाले देव बालुकाप्रभा पर्यन्त, शुक सहस्रारवाले पङ्कप्रभा पर्यन्त, आनत प्राणत और आरण अच्युतवाले धूमप्रभा पर्यन्त, अधस्तन ग्रैवेयक और मध्यम ग्रैवेयकवाले तमःप्रभा पर्यन्त, और उपरिम ग्रैवेयकवाले महातमःप्रभा पर्यन्त, तथा पाँच अनुत्तर विमानोंके देव समस्त लोकनाडीको देख सकते हैं । इस विषयमें इतना और भी समझना चाहिये, कि जिन देवोंके अवधिज्ञानका विषय क्षेत्रकी अपेक्षा समान है, उनमें भी जो ऊपर ऊपरके देव हैं, उनमें उसकी विशुद्धता अधिकाधिक पाई जाती है ।

इस प्रकार वैमानिकदेवोंमें जिन विषयोंकी अपेक्षा ऊपर ऊपर अधिकता है, उनको बताया अब यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं, कि उनमें जिस प्रकार ऊपर ऊपर सुखादि विषयोंकी

१—अर्थात् लोकको नहीं देख सकते, केवल लोकके मध्यमे बनी हुई नाडीके भीतरके विषयको ही देख सकते हैं । लोकके ठीक मध्यमें नीचेसे ऊपर तक १४ राजू ऊँची और एक राजू चौड़ी तथा एक राजू मोटी नाडीको लोकनाडी कहते हैं, इसीका नाम त्रसनाडी भी है ।

अपेक्षा अधिकता है, उसी प्रकार किन्हीं विषयोंकी अपेक्षासे अधिकाधिक युनता भी है, या नहीं । यदि है तो किन किन विषयोंकी अपेक्षासे है । अतएव कहते हैं कि वे देव—

सूत्र—गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीना ॥ २२ ॥

भाष्यम्—गतिविषयेण शरीरमहत्त्वेन महापरिग्रहत्वेनाभिमानेन चोपर्युपरि हीना । तद्यथा—द्विसागरोपमजघन्यस्थितीना देवानामासप्तम्या गतिविषयस्तिर्यगसम्येयानि योजनकोटीकोटीसहस्राणि । तत परतो जघन्यास्थितीनामेकैकहीना भूमयो यावत्तृतीयेति । गतपूर्वाश्च गमिष्यन्ति च तृतीया देवा परतस्तु सत्यपि गतिविषये न गतपूर्वा नापि गमिष्यन्ति । महानुमाद्यज्ज्यात औदासीन्याच्चोपर्युपरि देवा न गतिरतयो भवन्ति । सोधर्मज्ञानयो कल्पयोर्देवाना शरीरोच्छ्रय सत्तारत्नय । उपर्युपरिर्द्वयोद्वयोरेकैकारनिर्हीना आ सहस्रारात् । आनतादिषु तिष्ठ । प्रैवेयकेषु द्वे । अनुत्तरे एका इति । सौधर्म विमानाना द्वात्रिंशच्चतसहस्राणि । ऐशानेऽष्टाविंशति । सानत्कुमारे द्वादश । मोहन्त्रेऽष्टौ । ब्रह्मलोके चत्वारि शतसहस्राणि । लान्तके पञ्चाशत्सहस्राणि । महाशुके चत्वारिंशत् । सहस्रारे पत् । आनतप्राणतारणाच्युतेषु सप्त शतानि अधोधेवेयकाणा शतमेकादशोत्तरम् । मध्ये सप्तोत्तरम् । उपर्येकमेव शतम् । अनुत्तरा पञ्चैवेति । एवमूर्ध्वलोके धेमानिकानां सर्वविमानपरिसत्त्या चतुरशीति शतसहस्राणि सप्तनवतिश्च सहस्राणि त्रयोविंशानीति । स्थानपस्विारशक्ति-विषयसप्तस्थितिव्यल्पाभिमाना परमसुरमागिन उपर्युपरीति ॥

अर्थ—गति विषय—अपने स्थानसे दूसरे स्थानको जाना आदि, शरीरकी उँचाई आदि, महान् परिग्रह—ऐश्वर्य और विभूति तथा उसमें समझार और अहंकारका भाव रखना, अभिमान—अपनेमे बड़े अथवा बराबरवालेको अपनेसे छोटा समझना, अथवा अपनेमें महत्ताका अनुभव करना, इन चार विषयोंकी अपेक्षा ऊपर ऊपरके देव हीन है । ऊपरके देवोंमें अपनेसे नीचेके देवोंकी अपेक्षा ये विषय कम कम पाये जाते हैं । यथा—जिनकी जघन्य स्थिति दो सागरकी है, उनकी गतिरा विषय सातवीं पृथिवी पर्यन्त है, यह प्रमाण अधो दिशाकी अपेक्षासे है । तिर्यग्—पूर्वादि दिशाओंकी अपेक्षासे असंख्यात कोड़ाकोड़ी सहस्र योजन प्रमाण गतिरा विषय समझना चाहिये । इसके आगेके जगत् स्थितिवाले देवोंका गतिरा विषयभूत क्षेत्र तीसरी पृथिवी पर्यन्त क्रमसे एक एक भूमि कम कम होता गया है । जिनका विषय तीसरी पृथिवी तमरा है, वे देव अपने गतिके विषयभूत क्षेत्रपर्यं गमन कर सकते हैं, और करते भी हैं । पर्व जन्मसे स्नेह आदिके वशसे अपने किसी इष्ट प्राणीसे मित्रने आदिके लिये वे बहोतक—तीसरी भूमितक जा सकते हैं और जाते हैं । पूर्वजालमें अनेक देव इस प्रकारसे गये भी हैं और भविष्यमें जाँदगे भी, परन्तु जिनका गतिरा विषयभूत क्षेत्र तीसरी पृथिवीसे अधिक है, उनका उतना गतिरा विषय

१—जैसे कि वृक्षका जाड़ अपने पूर्वजमके गाने वृक्षके नीचे मिलनेके लिये स्वर्गमे नरकमे गया था । इसकी वया भी जिनमेनाचावहृत् इतिव्युत्पत्तये लिये है । इसी प्रकार और भी अनेक कथाये प्रदिष्ट हैं ।

रहते हुए भी वे वहाँतक गमन नहीं किया करते । न पूर्वकालमें ही उन्होने कभी गमन किया है, और न भविष्यमें ही गमन करेंगे । अर्थात् उनके गति विषयको बतानेका प्रयोजन उनकी गति—शक्तिको बतानामात्र है, कि वे अमुक स्थान तक गमन करनेकी सामर्थ्य रखते हैं । क्योंकि इससे उनकी महत्ताका बोध होता है । किन्तु उनकी वह शक्ति व्यक्त नहीं होती—क्रिया रूपमें परिणत नहीं होती । क्योंकि ऊपरके देवोंके परिणाम महान्—उत्कृष्ट—शुभ होते गये हैं । वे इधर उधर जाने आने आदिके विषयमें उदासीन रहा करते हैं । जिन-भगवान्‌के कल्याणकोंको देखना तथा चैत्य चैत्यालय आदिकी वन्दना आदि करना इत्यादि शुभ कार्योंके सिवाय अन्य सम्बन्धसे उनको इतस्ततः घूमना पसन्द नहीं है—अन्य विषयोंमें उनकी गमन करनेमें प्रीति नहीं हुआ करती ।

शरीरकी उँचाई सौधर्म और ऐशान कल्पवाले देवोंकी सात अरत्नि प्रमाण है । इनसे ऊपरके देवोंका शरीरोत्सेध सहस्रार कल्पपर्यन्त दो दो कल्पोंके प्रति एक एक अरत्नि क्रमसे कम कम होता गया है । आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पवासी देवोंका शरीरोत्सेध तीन अरत्नि प्रमाण है । ग्रैवेयकवासियोंका दो अरत्नि प्रमाण और पाँच अनुत्तर वासियोंके शरीरका उत्सेध एक अरत्नि प्रमाण है । इस प्रकार क्रमसे ऊपर ऊपरके देवोंके शरीरकी उँचाईका प्रमाण कम कम होता गया है ।

परिग्रहका प्रमाण इस प्रकार है—सौधर्म कल्पमें विमानोंकी संख्या ३२ लाख, है । ऐशान-कल्पमें २८ लाख, सानत्कुमारकल्पमें १२ लाख, माहेन्द्रकल्पमें ८ लाख, ब्रह्मलोकमें चार लाख, लान्तककल्पमें पचास हजार, महाशुकमें चालीस हजार, सहस्रारमें छह हजार, आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पमें सात सौ, अधोग्रैवेयकमें १११, मध्यम ग्रैवेयकमें १०७, उपरिम ग्रैवेयकमें १०० विमान हैं । विजयादिक अनुत्तर विमान ९ ही है । इस प्रकार ऊर्ध्वलोकमें वैमानिक देवोंके समस्त विमानोंकी संख्या चौरासी लाख सतानवे हजार तेईस (८४९७०२३) है । इससे स्पष्ट होता है, कि ऊपर ऊपरके देवोंका परिग्रह अल्प अल्प होता गया है ।

इसी प्रकार अभिमानके विषयमें समजना चाहिये । स्थान—कल्पविमान आदि, परिवार—देवियों और देवों, शक्ति—अचिन्त्य सामर्थ्य, विषय—इन्द्रियोंका तथा अवधिका विषयक्षेत्र आदि, संपत्ति—वैभव ऐश्वर्य, अथवा विषयसंपत्ति—शब्दादि रूप समृद्धि, और स्थिति—आयुका प्रमाण, ये सब विषय ऊपर ऊपरके देवोंके महान् हैं । फिर भी उनके सम्बन्धसे उन देवोंको गर्व नहीं हुआ करता । प्रत्युत जिस जिस तरह उनका वैभव और शक्ति आदिका

१—एक हस्त प्रमाणसे कुछ कमको अरत्नि कहते हैं । अर्थात् कोहनीसे कनिष्ठिका पर्यन्त ।

२—दासी दास प्रश्रुति ।

प्रमाण तथा महत्त्व बढ़ता गया है, उसी उसी प्रकार उनका अभिमान उत्तरोत्तर कम कम होता गया है। अर्थात् यद्यपि नीचेके देवोंसे ऊपरके वैमानिक अधिक शक्तिशाली है, फिर भी वे नीचेके देवोंसे अधिक निरभिमान हैं। अतएव ऊपर ऊपरके देव अधिनाधिक उत्तम सुखके भोक्ता हैं। क्योंकि उनके दुष्टोंके अन्तरङ्ग या बाह्य कारण नहीं है, और सुखके कारण बन्ते चले गये हैं।

भाष्यम्—उच्छ्वासासारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्या ।—उच्छ्वास सर्वजघन्यस्थितीना वेदानां सप्तसु स्तोकेषु आहारश्चतुर्थकालः । पत्यापमस्थितीनामन्तर्दिवसस्योच्छ्वासो पृथक्त्वस्याहारः । यस्य यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्य तावत्स्वर्धमासेपृच्छासस्तावत्स्वेव वर्षसहस्रेष्वहारः । देवानां सत्रेदना प्रायेण भवन्ति न कदाचिद्वसत्रेदना । यद्येवाप्तद्वेदना भवन्ति ततोऽन्तर्मुहूर्तमेव भवन्ति न परतोऽनुवद्धा । सत्रेदनास्तत्कृष्टेन पणमासान् भवन्ति । उपपात —आरणाद्युतादूर्ध्वमन्यतीर्थानामुपपातो न भवति । स्वलिङ्गिना भिन्नदशानानामाग्नेयेयकेभ्यः उपपातः । अन्यस्य सम्यग्दृष्टे सत्यतस्य भजनीय आ सत्यासिद्धात् । प्रल्लोकादूर्ध्वमासर्वार्थसिद्धाच्चतुर्दशपूर्वधराणामिति । अनुभावो विमानानां सिद्धिक्षेत्रस्य आकाशे निरालम्बस्थिती लोकस्थितिरेव हेतुः । लोकस्थितिलोकानुभावो लोकस्वभावो जगद्धमाऽनाद्विपरिणामसन्ततिरित्यर्थः । सद्य च देवन्द्रा भवयादेषु च देवा भगवता परमर्षीणामहता जन्माभिपकानि क्रमणहानोत्पत्तिमहासमयभरणनिर्वाणकालेष्वसीना शयिता स्थिता या सहस्रयासनशयनस्थानाभ्रये प्रचलन्ति । शुभकर्मफलोदयाहोकाऽनुभावत एव वा । ततो जनितोपयोगास्तां भगवतामनन्यसहर्षा तीर्थरुरनामकमोद्भवा धर्मधिभूतिमयधिनाऽऽलोच्य सजातसपेगा सद्धर्मवृत्तमानात्केचिदागत्य भगवत्पादमूलं स्तुतिचन्दनोपासनद्विस्तभ्रवर्णी रात्मानुग्रहमाप्नुवन्ति । केचिदपि तत्रस्था एव प्रत्युपस्थापनाञ्चलिप्रणिपातनमस्कारोपहारैः परमसावित्रा सद्धमामुरागोत्फुल्लनयनवदना समभ्यर्चयन्ति ॥

अर्थ—उपर्युक्त वैमानिक देवोंमें उच्छ्वास आहार वेदना उपपात और अनुभावकी अपेक्षा भी ऊपर ऊपर हीनता है। इनकी हीनताका क्रम किस प्रकारका है, सो आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये। किन्तु उसका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार है—उच्छ्वास—सबसे जघन्य स्थितिकाले देवोंका उच्छ्वास सात स्तोकमें हुआ करता है। देवोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है। इतनी स्थितिवाले देव सात स्तोत्रों की जितने उच्छ्वास लिया करते हैं, और उनमें आहारकी अभिलाषा एक दिनके अन्तरसे हुआ करती है। जिनकी स्थिति एक पक्षकी है, वे एक दिनमें उच्छ्वास लिया करते हैं, और उनमें पृथक्त्व दिनमें आहारकी अभिलाषा हुआ करती है। सागरोपम स्थितिवालोंमें से जिनकी जितने सागरकी स्थिति है, वे

१—ऊपर गतिस्थिति आदि सूत्रमें बताये गये विषयोंके विषय इन विषयोंकी अपेक्षासे भी ऊपर ऊपर हीनता है, ऐसा भाष्यकारका अभिप्राय है। परन्तु अन्य विषयोंमें इनका अन्वयभाव हो सकता है। २—इसका प्रमाण पहले बताया चुके हैं। ३—देवों की नौकरी पूषन्त्र संज्ञा है। विष्णु सप्रदायमें तीनसे तीनकरी पूषन्त्र कहते हैं। अर्थात् स्थितिसे पत्योके अगुमार आहारकी अभिलाषाके दिनोंका प्रमाण २ स ५ तकका गया योग्य समझ लें।

उतने ही पक्ष व्यतीत होनेपर, उच्छ्वास लेते हैं, और उतने ही हजार वर्ष बीत जानेपर उनको आहारकी अभिलाषा हुआ करती है। वेदना—वेदना नाम सुख दुःखके अनुभवका है। यह भाव वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करता है। वेदनीयकर्म दो प्रकारका है—साता और असाता। साताके उदयसे सुखका अनुभव और असाताके उदयसे दुःखका अनुभव हुआ करता है। सुखानुभवको सद्देदना और दुःखानुभवको असद्देदना कहते हैं। देवोंके प्रायः सद्देदना ही हुआ करती है, कभी भी असद्देदनाएं नहीं होती। यदि कदाचित् असद्देदनाएं उनके हों भी, तो ज्यादासे ज्यादाः अन्तर्मुहूर्ततक ही हो सकती हैं, इससे अधिक नहीं। सद्देदनाकी भी निरन्तर धारा—प्रवाहरूप प्रवृत्ति ज्यादासे ज्यादाः छह महीनातक चल सकती है, इससे अधिक नहीं। छह महीनाके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तके लिये वह छूट जाती है, अन्तर्मुहूर्तके बाद फिर चालू हो जाती है। उपपात—देवपर्यायमें जन्मग्रहण करनेको उपपात कहते हैं। किस प्रकारका जीव कहाँतक की देवपर्यायको धारण कर सकता है, वह इस प्रकार है—जो अन्य लिङ्गी मिथ्यादृष्टि है, वे अच्युत स्वर्गतक जाते हैं, इससे ऊपर नहीं जा सकते। अर्थात् जो जैनतर लिङ्गको धारण करनेवाले और मिथ्या ही दर्शन—मतको माननेवाले हैं, वे मरकर आरण अच्युत कल्पतक जन्म ग्रहण कर सकते हैं। किन्तु जो जैनलिङ्गको धारण करनेवाले हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टि हैं, वे मरकर नवग्रैवेयक पर्यन्त जन्मग्रहण कर सकते हैं, इससे ऊपर नहीं। जो जैनलिङ्गको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि साधु है, वे मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त योग्यतानुसार कहीं भी जन्म-ग्रहण कर सकते हैं। अर्थात् जिनलिङ्गी सम्यग्दृष्टियोंका उपपात सौधर्मसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान पर्यन्त है। एक विशेष नियम और भी है, वह यह कि जो चौदह पूर्वका ज्ञान रखनेवाले हैं, वे साधु मरकर ब्रह्मलोकसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान पर्यन्त जा सकते हैं। अर्थात् चौदह पूर्वके पाठी मरकर ब्रह्मस्वर्गसे नीचेके कल्पमें जन्म ग्रहण नहीं करते। अनुभाव—परिणमन अथवा कार्यविशेषमें प्रवृत्ति करनेको अनुभाव कहते हैं। देवोंके विमान निरालम्ब है—सब विना आधारके ही ठहरे हुए है। इसी प्रकार जो सिद्धक्षेत्र है, वह भी निरालम्ब ही है। अतएव इस विषयमें यह प्रश्न हो सकता है, कि ये विना आधारके किस तरह ठहरे हुए हैं? इसका उत्तर यही है, कि इस प्रकारसे ठहरनेका कारण मात्र लोकस्थिति है। लोकस्थिति लोकानुभाव लोकस्वभाव और जगद्धर्म तथा अनादि परिणाम सन्तति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। अर्थात् अनादि पारिणामिक स्वभाव ही ऐसा है, कि जिसके निमित्तसे उनका ऐसा ही परिणाम होता है, कि

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग माने हैं, उनमें से बारहवें सहस्रारतक अन्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि जा सकते हैं, ऐसा माना है। यथा—परमहंस नामा परमती, सहस्रार ऊपर नहीं गती। द्रव्यलिङ्गधारी जे जती, नवग्रैवक ऊपर नहीं गती ॥ (दण्डक)

जिससे वे आकाशमें बिना आधारके यथास्थान वायुमें ठहरे रहते हैं। अनादिकालसे जिस प्रकार ठहरे हुए हैं, अनन्त कालतक भी उसी प्रकारसे ठहरे रहेंगे। अतएव इस प्रकारसे ठहरनेमें वस्तुका अनादि पारिणामिक स्वभाव ही कारण समझना चाहिये।

परमर्षि भगवान् अरिहतदेवके जन्मकल्याणरत्न महाभिषेकोत्सव जब होता है, 'अथवा जब नि क्रमण-कल्याणरत्न उपस्थित होता है, और तीर्थंकर भगवान् दीक्षा धारण करते हैं,' यद्वा ध्यानाग्निके द्वारा चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर देनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है', तथा कैवल्य प्रकट होनेके अनन्तर महान् समवसरणकी रचना हुआ करती है, एव च जब आयु पूर्ण होनेपर शेष समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेसे निर्वाण-कल्याणरत्न प्रसङ्ग आता है, उस समय समस्त देवोंके सोने बैठने और चलने फिरने आदिके आधारभूत स्थान चलायमान-कम्पायमान हो जाया करते हैं'। उस समय जो देव अपने आसनपर बैठे हों वे, जो सो रहे हों वे और जो केवल स्थित हों वे, अपने अपने आसनके-बैठने सोने और उठरनेके आधारके सहसा कम्पित होनेसे चलायमान हो जाया करते हैं। अपने स्थानसे चलकर उसी समय भगवानकी स्तुति वन्दना आदि करते हुए उत्सवके मनानेमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस तरह आसनोंका कम्पित होना और देवोंका चलायमान होना किसका कार्य कहा जा सकता है ? तो इसका कारण या तो शुभ कर्मोंका फलोदय अथवा लोकका अनुभाव-स्वाभाविक अनादि परिणाम ही कहा जा सकता है। जब आसन आदि कम्पित होते हैं, तब सहसा इस प्रकारकी क्रियाओंको देखकर वे देवगण उसके कारणको जाननेके लिये अवधिज्ञानरत्न उपयोग लेते हैं। अवधिका उपयोग करनेपर अब वे देखते हैं, कि भगवान् अरिहतदेवके तीर्थंकर नामकर्मके उदयसे असाधारण-जो अरिहतके सिवाय अन्य किसी भी देवमें न पाई जाय, ऐसी धर्म-

१-गर्भ-कल्याणरत्न उत्सव मनानेके लिये भी देव आया करते हैं परन्तु उसका उत्सव माध्यकारने क्यों नहीं किया, सो समझमें नहीं आता। सम्भव है कि जन्मके कहनेसे हा गर्भ जन्म दोनोंका बोध कराना अभीष्ट हो। भगवान्को जन्मते हा सप्त देव मिलकर सौधर्मन्द्रकी मुख्यतामें मेस्सर लेजाते हैं, और यहाँ शौरसमुद्रके जलमें १००८ कलशोंसे उनका अभिषेक करते हैं। कलशोंका प्रमाण त्रिलोकसारमें और जन्म तथा पाप कल्याणोंका विशेष स्वरूप घातिनाथ पुराण आदिग्रन्थों में देखना चाहिये। २-भगवान्-जब दीक्षा धारण करनेके लिये घर छोड़कर वनको जाते हैं, तब देवोंकी लई हुई विशेष पालखीमें बैठकर जाते हैं। उस पालखीको घोड़ी बृद्ध तर्प मनुष्य लेकर चलते हैं पीछे देव आकाश मार्गसे उसको ले जाते हैं। ३-कवलज्ञानकी उत्पत्ति तीर्थंकरोंके मित्राय आय साधुओंको भी हो सक्ती है। अतएव तीर्थंकरोंके ज्ञानकल्याणरत्न उत्सव मनानेके सिवाय अन्य केवलियोंके वैय-योग्यताके समय भी देव उनका उत्सव मनानेके लिये आया करते हैं। ४-तीर्थंकर भगवानके उपदेशारी गुरु हैं। इसमें १० समाधि और उनके मध्यमें गङ्गाजुनी हुआ करती है। इसकी रचना अत्यन्त मदान है। इसका विशेष स्वरूप त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिमें देखना चाहिये। ५-आसन कम्पित होते हैं, समुद्र-प्रीतिमत् होते हैं व्य-तरोंके यहाँ पङ्क-ध्वनि भवनवासियोंके यहाँ गल-ध्वनि, ज्योतिष्कोंके यहाँ सिद्धनाद, वेमानियोंके यहाँ पट्टाका नाद-नाद हुआ करता है। इस अस्मान् पट्टनामे आ-वयान्निव होकर वे अवधिज्ञान-को जोन्ते हैं। तब उन्हें उसका कारण कल्याणरत्न ममय माद्यम होता है।

विभूति प्रकट हुई है, तो उनमेंसे कितने ही देव सर्वगोंको प्राप्त होते हैं, और समीचीन धर्मको बहुमान-अत्यन्त सम्मान देनेके लिये स्वर्गसे मर्त्यलोकमें आकर भगवान् अरिहंतदेवके चरणोंके मूलमें उपस्थित होकर उनकी स्तुति बन्दना और उपासनामें प्रवृत्त होकर तथा हितोपदेशको श्रवण करके आत्म-कल्याणको प्राप्त हुआ करते हैं। कोई कोई देव मर्त्यलोकमें नहीं आते, वे अपने अपने स्थानपर ही रहकर खड़े होकर अञ्जलि-हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्र होकर नमस्कार करके और भेंट पूजाका द्रव्य चढ़ाकर परम संवेगको प्राप्त हुए समीचीन धर्मके अनुरागसे जिनके नेत्र और मुख खिल रहे हैं, वहींमें भगवान्का पूजन करते हैं।

भावार्थ—ऊपर ऊपरके देवोंकी गति आदि कम कम जो बताई हैं, उसके अनुसार वे देव प्रायः मर्त्यलोकमें नहीं आते। कभी आते भी हैं, तो पुण्यकर्मके उदयमें अथवा अनादि पारणामिक स्वभावके वश पंच कल्याणोंके अवसरपर ही आते हैं। कोई कोई देव उन अवसरोंपर भी नहीं आते। न आनेका कारण अभिमान नहीं है, क्योंकि अभिमान तो ऊपर ऊपर कम कम होता गया है; किन्तु न आनेका कारण संवेगकी अधिकता है। जिसके कि वश होकर वे अपने अपने स्थानपर ही पूजा महोत्सव करते हैं।

वैमानिक देवोंके विमानोंकी संख्या भेद स्थिति स्थान आदिका वर्णन किया, अब उनकी लेख्याका वर्णन प्राप्त है। उसके लिये भाष्यकार करते हैं कि—

भाष्यम्—अत्राह-त्रयाणां देवनिकायानां लेख्यानियमोऽभिहितः । अथ वैमानिकानां केषां का लेख्या इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पूर्वाक्त तीनों देवनिकायों—भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष्कोंकी लेख्याका नियम पहले बता चुके हैं। परन्तु वैमानिकोंकी लेख्याका अभीतक कोई भी नियम नहीं बताया। अतएव कहिये कि किन किन वैमानिकोंके कौन कौनसी लेख्या होती है? इस प्रश्नका उत्तर निम्नलिखित सूत्रसे होता है, अतएव उसको कहते हैं—

सूत्र—पीतपद्मशुक्लेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २३ ॥

भाष्यम्—उपर्युपरि वैमानिकाः सौधर्मादिषु द्वयोस्त्रिषु शेषेषु च पीतपद्मशुक्लेश्या भवन्ति यथासङ्ख्यम् । द्वयोः पीतलेश्या सौधर्मेशानयोः । त्रिषु पद्मलेश्याः, सनत्कुमारमा-हेन्द्रब्रह्मलोकेषु । शेषेषु लान्तकादिष्वसर्वार्थासिद्धाच्छुक्लेश्याः । उपर्युपरि तु विशुद्धतरेत्युक्तम् ।

अर्थ—यहाँपर वैमानिक देवोंका प्रकरण है, और उपर्युपरि शब्दका सम्बन्ध चला आता है। अतएव इस सूत्रका अर्थ भी इस प्रकरण और सम्बन्धको लेकर ही करना

चाहिये । यहाँपर जो लेइयाका नियम बताया है, वह ऊपरके वैमानिक देवोंके विषयमें क्रमसे घटित कर लेना चाहिये, अर्थात् सौधर्मादिक कल्पोंमें से दो तीन और शेष कल्पोंमें क्रमसे ऊपर ऊपरके वैमानिक देवोंको पीत पद्म लेइया और शुरु लेइया वाला समझना । सौधर्म और ऐशान इन दो कल्पोंमें तो पीतलेइया है । इसके ऊपर सानत्कुमार माहेन्द्र और ब्रह्मलोक इन तीन कल्पोंमें पद्मलेइया है । बाकीके अर्थात् लान्तकसे लेकर सर्वार्थसिद्धपर्यन्त वैमानिकोंकी शुरु लेइया है । इनमें भी विशुद्ध विशुद्धतर और विशुद्धतमका ऊपरका क्रम जैसा कि पहले बता चुके हैं, यहाँपर भी समझ लेना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँपर कल्पोंकी लेइयाओंका जो वर्णन है, वह सामान्य है । सूक्ष्म अशोंकी अपेक्षासे वर्णन नहीं है । अतएव इस नियमसे लक्ष्यमें रखकर ऊपरके देवोंमें नीचेके देवोंकी अपेक्षा लेइयाकी अधिक विशुद्धि समझनी चाहिये । जैसे कि सौधर्म और ऐशान दोनोंमें ही पीत लेइया बताई है, परन्तु सौधर्मकी अपेक्षा ऐशानमें पीतलेइयाकी विशुद्धि अधिक है । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँपर भी लेइयासे द्रव्यलेइयाका ही ग्रहण अमीष्ट है । क्योंकि भाव लेइया का यवसायरूप है, अतएव वे छाँहों ही वैमानिक देवोंमें पाई जाती हैं । यहाँपर जो लेइयाओंका नियम है, वह भावलेइयाओंके विषयमें है, ऐसा किसी किसीका कहना है, परन्तु टीकाकार को यह बात इष्ट नहीं है । दूसरी बात यह है, कि—पहले तीन निकार्योंकी लेइयाका वर्णन कर चुके हैं, यहाँपर वैमानिकोंकी लेइयाका वर्णन किया है, यदि दोनों वर्णनोंको एक साथ कर दिया जाता, तो ठीक होता, ऐसी किसी किसीको शका हो सकती है, परन्तु वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि वैसा करनेमें व्यतिकर दोष उपस्थित होता है, और ऐसा करनेसे सुखपूर्वक विषयका ज्ञान हो जाता है । पीत लेइयावाले सौधर्म और ऐशान कल्पके देव सुवर्ण वण हैं, सानत्कुमार माहेन्द्र और ब्रह्मलोकके देवोंके शरीरकी कान्ति पद्म कमलके समान है, लान्तकसे लेकर सर्वार्थसिद्धतकके देवोंके शरीरकी प्रभा धवलवर्ण है ।

भाष्यम्—अत्राह उक्त मयता द्विविधा वैमानिका देवा कल्पोपपन्ना कल्पातीताश्चेति । तत् के कल्पा इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—आपने वैमानिक देवोंके पहले दो भेद बताये थे—एक कल्पोपपन्न दूसरे कल्पातीत । इनमेंसे किसीका भी अर्थ तबतः अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता, जबतक कि कल्प शब्दका अभिप्राय न मालूम हो । किन्तु कल्प शब्दका अर्थ अभीतक सूत्र द्वारा अनुक्त है । अतएव कहिये कि कल्प किसको कहते हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र द्वारा कल्प शब्दका अर्थ बताते हैं—

सूत्र—प्राग्ग्रेवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २४ ॥

भाष्यम्—प्राग्ग्रेवेयकेभ्यः कल्पा भवन्ति सौधर्मादय आरणाच्युतपर्यन्ता इत्यर्थः । अतोऽन्ये कल्पातीताः ।

अर्थ—ग्रेवेयकोंसे पहले पहलेके जो विमान हैं, उनको कल्प कहते हैं । अर्थात् सौधर्म स्वर्गसे लेकर आरण अच्युत पर्यन्त जितने विमान हैं, उन सबकी कल्प संज्ञा है । अतएव इनसे जो शेष बचते हैं—अर्थात् ग्रेवेयक और पाँच अनुत्तर विमानोंको कल्पातीत कहते हैं । जो कल्पोंमें उपपाद—जन्म ग्रहण करते हैं, उनको कल्पोपपन्न और जो ग्रेवेयकादिकोंमें उपपन्न होते हैं, उनको कल्पातीत कहते हैं । अच्युतपर्यन्तको कल्प कहनेका कारण वहाँपर इन्द्र आदिक दश प्रकारके देवोंकी कल्पनाका होना है, यह बात पहले बता चुके हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—किं देवाः सर्व एव सम्यग्दृष्टयो यद्भगवतां परमर्षीणामर्हतां जन्मादिषु प्रमुदिता भवन्ति इति । अत्रोच्यते—न सर्वे सम्यग्दृष्टयः किन्तु सम्यग्दृष्टयः सद्धर्मबहुमानादेव तत्र प्रमुदिता भवन्त्यभिगच्छन्ति च । मिथ्यादृष्टयोऽपि च लोकाचित्तानुरोधादिन्द्रानुवृत्त्या परस्परदर्शनात् पूर्वानुचरितामिति च प्रमोदं भजन्तेऽभिगच्छन्ति च । लोकान्तिकास्तु सर्व एव विशुद्धभावाः सद्धर्मबहुमानात्संसारदुःखार्तानां च सत्त्वानामनुकम्पया भगवतां परमर्षीणामर्हतां जन्मादिषु विशेषतः प्रमुदिता भवन्ति । अभिनिःक्रमणाय च कृतसंकल्पान्भगवतोऽभिगम्य ग्रहणमनसः स्तुवन्ति सभाजयन्ति चेति ॥

अर्थ—प्रश्न—क्या सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं, कि जो परमर्षि भगवान् अरहंतदेवके जन्मादिक कल्याणोंके समय प्रमुदित हुआ करते हैं ? उत्तर—नहीं, सभी देव सम्यग्दृष्टि नहीं हैं । किन्तु जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे तो सद्धर्मके बहुमानसे ही प्रमुदित होते हैं, और उनके पादमूलमें आकर स्तुति आदिमें प्रवृत्त हुआ करते हैं । जो मिथ्यादृष्टि हैं, वे भी उस कार्यमें प्रवृत्त तो होते हैं, परन्तु सद्धर्मके बहुमानसे प्रवृत्त नहीं हुआ करते, किन्तु लोगोंके चित्तके अनुरोधसे अथवा इन्द्रका अनुवर्तन करनेके लिये यद्वा आपसकी देखा देखी, या हमारे पूर्वज इस कामको करते आये हैं, अतएव हमको भी करना चाहिये, ऐसी समझसे प्रमोदको प्राप्त होते हैं, और भगवान् अरहंत देवका अभिगमन करते हैं । लौकान्तिक देव जो बताये हैं, वे सभी विशुद्ध भावोंको धारण करनेवाले—सम्यग्दृष्टि हैं । वे सद्धर्मके बहुमानसे अथवा संसार दुःखोंसे आर्त—पीडित—प्राणियोंके ऊपर दया करके—सदय परिणामोंके कारण परमर्षि भगवान् अरहंत—देवके जन्मादि कल्याणोंके समय विशेषरूपसे प्रमुदित हुआ करते हैं, और जिस समय भगवान् अभिनिःक्रमण—तपस्या या दीक्षा धारण करनेके लिये संकल्प करते हैं, उस समय वे भगवान् के निकट आते हैं, और अत्यंत हर्षित चित्तसे उनकी स्तुति करते हैं, तथा उन्हें वैसा करनेके लिये प्रेरित करते हैं ।

भावार्थ—लौकान्तिक देव सम्यग्दृष्टि होते हैं । इसी लिये वे भगवान् अरहंतदेवके जन्म लेनेपर या दीक्षाका विचार करनेपर विशेषरूपसे हर्षित होते हैं, और उनके निकट आकर उनके

उस विचारकी अत्यंत प्रशंसा करते हैं, और ससारके ताप त्रयसे सतप्त जीवोंके ऊपर अनुकम्पा भावसे कहते हैं, कि हे भगवन्, आपने जो यह विचार किया है, वह अतिशय स्तुत्य है। आपने तीन जगत्का उद्धार करनेके लिये ही अवतार धारण किया है। आपके दीक्षा धारण किये बिना जीवोंका अज्ञान और क्लेश दूर नहीं हो सकता। अतएव इन तीन प्राणियोंपर कृपा करके शीघ्र ही तपस्यामें प्रवृत्त हो, कैवल्य को प्राप्त करके इनको हितका उपदेश दीजिये।

लौकान्तिकोंके सिवाय अच्युत कल्प पर्यन्तके देवोंमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रकारके देव हुआ करते हैं। यद्यपि जिन भगवान्‌के जन्मादि कल्याणोंके समय दोनों ही प्रकारके देव सम्मिलित होते हैं, और स्तुति वन्दना प्रणाम नमस्कार पूजोपहारादिमें स्वयं प्रवृत्त होते हैं। फिर भी दोनोंकी अन्तरङ्ग रुचिमें महान् अन्तर है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे बहुमान पूर्वक भगवान्‌के कल्याणोंका यह अवसर है, यह बात आसन कम्पनादिका निमित्त पाकर ओढ़े गये अवधिज्ञानके द्वारा मालूम होते ही सहसा उस उत्सवको मनानेमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी ऐसी प्रवृत्तिका कारण सद्धर्मका अनुराग, दर्शनविशुद्धि, भक्ति—भावका अतिरेक, भक्तिवश जिन भगवान्‌का अनुसरण करनेकी विशिष्ट भावना, कल्याणोत्सव मनानेका अनुराग, तीर्थकर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई असाधारण विभूतिको देखनेके लिये उत्पन्न हुई उत्सुकता, तत्त्वस्वरूपमें उत्पन्न हुई शकाओंको दूर करनेकी अभिलाषा, नवीन प्रश्न करनेकी सदिच्छा आदि हैं। इन कारणोंके वश होकर ही वे तीर्थकर भगवान्‌के चरणमूलमें आते हैं, और वहाँपर अपनी आत्माका अत्यन्त एकान्त हित सिद्ध होना समझकर उनकी स्तुति वन्दना पूजा उपासना और धर्म श्रुतिमें प्रवृत्त होते हैं जिससे कि वे अपनी और परकी आत्माओंको श्रद्धा तथा सवेगके द्वारा कल्मषतासे रहित बना देते हैं। किन्तु मिथ्यादृष्टि देवोंमें यह बात नहीं है। वे दूसरोंके अनुश्रवणसे, अथवा इन्द्र जैसा करते हैं, वैसा नहीं करेंगे, तो वे समस्त कुपित हों, ऐसा समझकर इन्द्रका अनुसरण करनेके अभिप्रायसे, वहाँपर दूसरे देव करते हैं, उनकी—सम्यग्दृष्टियोंकी देखा देखी, अपने पूर्वजोंका आचरण समझकर उसमें प्रवृत्ति करते हैं। उनके हृदयमें सद्धर्मके प्रति स्वयं बहुमान नहीं होता।

जो प्रवेयक और अनुत्तर विमानवासी हैं, वे अपने म्यानपर ही से मन वचन और कायके द्वारा एकत्र भावना स्तुति और हाथ जोड़ना प्रणाम करना आदि कार्योंमें प्रवर्तन किया करते हैं।

१—लौकान्तिकोंका यह नियोग—नियम ही है कि जब तीर्थकर भगवान्‌ दाक्षका विचार करें, उसी समय वे आकर उनकी स्तुति करें। २—कुलचार समझाने। जिस प्रकार यहाँपर बहुतसे लोक अपने अपने कुलके देवी देवोंको यह समयकर पूजा करते हैं कि हमारा पूर्वज इनका पूजते थे इसलिये हमें भी पूजा चाहिये। इसी तरह स्वर्गमें कितने ही मिथ्यागिष्ट देव अरहत्‌को अथवा कुलदेव समझकर पूजते हैं।

भाष्यम्—अत्राह—केपुनर्लोकान्तिकाः कतिविधावन्ति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—वैमानिक देवोंका वर्णन करते हुए आपने लोकान्तिक देवोंका नामोल्लेख जो किया है वे कौन हैं ? और कितने प्रकारके हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेके सूत्रका उपस्थापन करते हैं—

सूत्र—ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—ब्रह्मलोकालया एव लोकान्तिका भवन्ति नान्यकल्पेषु नापि परतः । ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टास्तु दिक्षु अष्टविकल्पा भवन्ति । तद्यथा—

अर्थ—ब्रह्मलोक है, आलय-स्थान जिनका उनको कहते हैं ब्रह्मलोकालय । लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकालय ही होते हैं । अर्थात् लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकमें ही निवास करनेवाले हैं, वे अन्य कल्पोंमें निवास नहीं करते, और न कल्पोंसे परे ग्रैवेयकादिकमें ही निवास करते हैं । अर्थात् सूत्र करनेकी सामर्थ्यसे ही एवकारका अर्थ निकल आता है । उस सामर्थ्यलभ्य एवकारको ही भाष्यकारने यहाँपर स्फुट कर दिया है । इसका फल अवधारण अर्थको दिखाना ही है । अन्यथा कोई यह समझ सकता था, कि ब्रह्मलोक—पाँचवें स्वर्गमें लोकान्तिक देव ही रहते हैं । सो यह बात नहीं है, ऐसा दिखाना भी- इसका अभिप्राय है । अर्थात् ब्रह्मलोकमें अनेक देव रहते हैं, उनमें ही लोकान्तिक देव रहते हैं । परन्तु लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकमें ही रहते हैं, अन्यत्र नहीं रहते । लोकान्तिकोंके निवास स्थानको इस तरह खास तौरसे बतानेका कारण उनकी विशिष्टताको प्रकट करना है । क्योंकि अन्य देवोंकी अपेक्षा लोकान्तिक देव विशिष्ट है । उनमें विशिष्टता दो कारणसे है । एक तो निवास-स्थान की अपेक्षा दूसरी अनुभावकी अपेक्षा । इनका निवास-स्थान ब्रह्मलोकमें जहाँपर दूसरे सामान्य देव रहते हैं, वहाँपर नहीं है, किन्तु ब्रह्मलोकके अन्तमें चारों तरफ आठों दिशाओंमें—चार दिशा और चार विदिशाओंमें है । इसीलिये इनको लोकान्तिक कहते हैं । क्योंकि जिस प्रकार साधुओंके निवास-स्थान शहरके बाहर बने हुए होते हैं, उसी प्रकार इनके भी ब्रह्मलोकके अन्तमें—बाहर आठ दिशाओंमें आठ निवास-स्थान बने हुए हैं । उन्हींमें ये उत्पन्न होते हैं, और उन्हींमें ये रहते हैं । अतएव निवास-स्थानकी अपेक्षा विशेषता है । अथवा लोक शब्दका अर्थ जन्म मरण जरारूप संसार भी है, उसका

१—लोको ब्रह्मलोकस्तस्यान्तं बाह्यप्रदेशः तत्र वसन्ति तत्रभवा इति वा लोकान्तिकाः । २—मध्य लोकमे अर्धव्यात द्वीप समुद्रोर्मिसे एक अरुणवर नामका भी समुद्र है । उसमेंसे अत्यंत सघन अन्धकारका पटल निकलता है । वह ऊपर ब्रह्मलोकतक चला गया है । वह इतना निविड है, कि एक देवभी उसमेंसे निकलनेमें घबड़ा जाता है । वह अंधकार ऊपर जाकर ब्रह्मलोकके नीचे अरिष्ट विमानके प्रस्तारमें अक्षपाटके आकार आठ श्रेणियोंमें विभक्त हो गया है । इन्हीं श्रेणियोंमेंसे दो दो श्रेणियोंके मध्यमें सारस्वत आदि एक एक लोकान्तिक देवका निवास-स्थान है । आठ दिशाओंमें रहनेवालोंके आठ भेद यहाँ बताये हैं, परन्तु शास्त्रोंमें नौ भेद हैं । आठोंके मध्यमें एक अरिष्ट विमान और है ।

अत इन्होंने कर दिया है, इसलिये भी इनको लोकान्तिक कहते हैं । क्योंकि इन्होंने कर्मोंके क्षयका अभ्यास कर लिया है, अब ये मनुष्य-पर्यायको धारण करके नियमसे मुक्त होनेवाले हैं । अतएव अनुभावकी अपेक्षासे भी इनमें विशेषता है । आठ दिशाओंमें रहनेके कारण ही लोकान्तिकोंके आठ भेद हैं । अर्थात् लोकान्तिकोंकी आठ जाति हैं । एक एक जातिके लोकान्तिक एक एक नियत दिशामें रहते हैं । उन आठ भेदोंके नाम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सारस्वतादित्यवहन्यरुणगर्दतोयतुपिताव्यावाधमरुतः ॥२६॥

भाष्यम्—एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पृथक्तरादिषु दिक्षु प्रवक्षिण भवन्ति यथासंज्ञयम् । तद्यथा—पूर्वोत्तरस्या विशिस्तारस्वता, पूर्वस्यामादित्या, इत्येव शेषा ।

अर्थ—ये सारस्वत आदि आठ प्रकारके देव ब्रह्मलोककी पूर्वोत्तरादिक दिशाओंमें क्रमसे प्रवक्षिणारूपसे रहते हैं । जैसे कि पूर्वोत्तर दिशामें सारस्वत, पूर्व दिशामें आदित्य, इसी प्रकार शेष बह्नि आदिके विषयमें समझना चाहिये ।

भावार्थ—पूर्व और उत्तर दिशाके मध्यमें सारस्वत, पूर्व दिशामें आदित्य, पूर्व और दक्षिणके मध्यमें वह्नि, दक्षिणमें अरुण, दक्षिण और पश्चिमके मध्यमें गर्दतोय, पश्चिममें तुपित, पश्चिम और उत्तरके मध्यमें व्यावाध, और उत्तर दिशामें मरुत् नामक लोकान्तिक देवोंका निवासस्थान है । आठोंके मध्यमें अरिष्ट नामका एक विमान और है । इस प्रकार कुल मिलाकर लोकान्तिकोंके नौ भेद हैं, और शास्त्रोंमें नौ भेद ही बताये हैं । यहाँपर ग्रन्थकारने जो आठ भेद गिनाये हैं, वे दिग्वर्तियोंके हैं । ब्रह्मलोकके बाहर आठ दिशामें रहनेवाले आठ ही हैं ।

ऊपर यह बात बता चुके हैं, कि अच्युतपर्यन्त कल्पोंके देव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रकारके हैं, और त्रैविक्र तथा अनुत्तरवासी सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं । सम्यग्दृष्टियोंके लिये यह नियम है, कि जिनका सम्यक्त्व छूटा नहीं है, ऐसे मयजीव ज्यादा से ज्यादा आठ भव और कम से कम दो तीन भव ससारमें बिताकर अवश्य ही निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं । यह सामान्य नियम सभीके लिये है, वही विनयादिक अनुत्तरवासियोंके लिये भी समझा जा सकता था । परन्तु उनमें कुछ विशेषता है । अतएव उस विशेषताको बतानेके लिये ही सूत्र करते हैं—

सूत्र—विजयादिषु द्विचरमा ॥ २७ ॥

भाष्यम्—विजयादिष्वनुत्तरेषु विमानेषु देवा द्विचरमा भवन्ति । द्विचरमा इति तत् 'अच्युता' पर द्विर्जनित्वा सिध्यन्तीति । सङ्ख्ये सत्रायसिद्धमहाविमानवासिनः, शेषास्तु भजनीयाः ॥

अर्थ—विजयादिक पाँच अनुतर विमान जो बताये हैं, उनमेंसे सर्वार्थसिद्धको छोड़कर बाकी चार विमानोंके देव द्विचरम हैं। द्विचरम कहनेका अभिप्राय यह है, कि इन विमानोंसे च्युत होकर दो बार जन्म धारण करके निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं। सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमानके देव एक भव धारण करके ही सिद्ध हो जाते हैं। बाकी सम्यग्दृष्टियोंके लिये आगमोक्त सामान्य नियमके अनुसार यथायोग्य समझ लेना चाहिये—

भावार्थ—इस कथनसे कोई यह समझ सकता है, कि एक जीव जो विजय वैजयन्त जयन्त या अपराजितमेंसे किसी भी विमानमें उत्पन्न हुआ और वहाँकी आयु पूर्ण करके मनुष्य हुआ। यह एक जन्म हुआ। पुनः दूसरा जन्म धारण करके मनुष्य भवसे फिर मनुष्य होकर—मोक्षको प्राप्त हुआ करता है। परन्तु यहाँपर नियम जो बताया है, उसका ऐसा अभिप्राय नहीं है। उसका आशय यह है, कि विजयादिक विमानोंसे दो जन्म धारण करके मोक्षको जाया करते हैं। अर्थात् एक जीव विजयादिकमें उत्पन्न होकर मनुष्य हुआ, मनुष्य होकर फिर विजयादिकमें गया, विजयादिकसे पुनः मनुष्य होकर मुक्त होता है। इसके सिवाय दो जन्म धारण करनेका अभिप्राय ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, कि इनको अवश्य ही दो जन्मधारण करने पड़ें। परिणामोंके अनुसार एक भव धारण करके भी मुक्त हो सकते हैं। क्योंकि दोका नियम उत्कृष्टताकी अपेक्षासे है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता जीवस्यौदयिकेषु भावेषु तिर्यग्योनि-गतिरिति। तथा स्थितौ “तिर्यग्योनीनां च” इति। आस्रवेपु “माया तैर्यग्योनस्य” इति। तत्के तिर्यग्योनय इति? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—दूसरे अध्यायके छठे सूत्रका व्याख्यान करते हुए जो जीवके औदयिक भाव गिनाये हैं, उनमें आपने तिर्यग्योनि गतिका भी उल्लेख किया है। तीसरे अध्यायके अन्तमें आयुकी स्थितिका वर्णन करते हुए सूत्र १८ “तिर्यग्योनीनां च” में भी तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख किया है। इसी प्रकार छठे अध्यायमें आस्रवके प्रकरणमें “माया तैर्यग्योनस्य” (सूत्र १७) में भी इसका नामोल्लेख किया है। इस प्रकार अनेक स्थलोंपर तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख करके भी अभीतक यह नहीं बताया, कि वे तिर्यग्योनि कौन हैं? अर्थात्—संसारी जीव चार गतियोंमें विभक्त हैं—नारक तैर्यग्योन मानुष और देव। इनमेंसे

१—द्विचरमताका अर्थ कोई कोई ऐसा करते हैं, कि—विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्य हुआ, और मनुष्य से फिर सर्वार्थसिद्धिमें गया। वहाँसे च्युत होकर मनुष्य होकर सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। परन्तु ऐसा अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि इससे सर्वार्थसिद्धिका अतिगम्य प्रकट होता है, न कि विजयादिकों का। सर्वार्थसिद्धिके देव एक मनुष्य भव धारण करके मोक्षको जाते हैं, यह नियम है। विजयादिके दवोंको प्रतनुकर्मवाला लिखा है यथा—“अणुत्तरोववादिश्राण देवा णं भंते। केवइएणं कम्मावसेसेण अणुत्तरोववादिश्राण उववत्ता? गोयमा! जावनिअन्नं छद्भत्तीए समणे निगमथे कम्मं निज्जेइ एवतिएणं कम्मावसेसेण अणुत्तरो ववाइयत्ताए उववत्ता ॥”

नारक मानुष और देवोंका अभीतक वर्णन किया गया है, परन्तु तैर्यग्योन भेदका नामोद्देश करनेके सिवाय और कुछ भी वर्णन नहीं किया, अतएव कहिये, कि तैर्यग्योन किनको समझना ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र करते हैं—

सूत्र—औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—औपपातिकेभ्यश्च नारकदेवेभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथोक्तेभ्यः शेषा एकेन्द्रियादवस्तिर्यग्योनयो भवन्ति ॥

अर्थ—उपपात जन्मवाले नारक और देव, तथा गर्भज और सम्पूर्ण ठोनों प्रकारके मनुष्य इनके सिवाय जितने भी समारी जीव बचे—एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त वे सब तिर्यग्योनि कहे जाते हैं ।

भावार्थ—तिर्यग्योनि किन किन जीवोंको समझना सो यहाँपर बताया है । देवादिजनोंके समान तिर्यग्योनि जीवोंके आधार—निवासस्थानका भी वर्णन करना चाहिये । परन्तु उसका वर्णन किया नहीं है, क्योंकि वे सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रह रहे हैं । यद्यपि प्रधानतया तिर्यग्लोक—मध्यलोकमें ही इनका आवास है, फिर भी सामान्यसे स्थावर कायका सद्भाव सर्वत्र ऊर्ध्व और अधोलोकमें भी पाया जाता है । तिर्यग्लोकमें मुख्य आवास रहनेके कारण ही इनकी तिर्यग्योनि सज्ञा है ।

भाष्यम्—अत्राह—तिर्यग्योनिमनुष्याणा स्थितिरुक्ता । अथ देवानां का स्थितिरिति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—तिर्यग्योनि और मनुष्योंकी भक्ष्य तथा उत्कृष्ट आयुर्नी स्थितिका प्रमाण तीसरे अध्यायके अन्तमें बता चुके हैं । अतएव उसके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु देवोंका प्रकरण चल रहा है, और उनकी आयुर्नी स्थिति जगन्मया या उत्कृष्ट कैसी भी अभीतक बताई भी नहीं है । अतएव कहिये कि देवोंकी स्थितिका क्या हिसाब है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लियेही आगेका सूत्र करते हैं—

सूत्र—स्थिति ॥ २९ ॥

भाष्यम्—स्थितिरित्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यते ॥

अर्थ—यह अधिकार—सूत्र है । अतएव इसका अभिप्राय इतना ही है, कि यहाँसे आगे स्थितिका वर्णन करेंगे । अर्थात् “वैमानिकाना” सूत्रसे लेकर अबतक वैमानिक देवोंका अधिकार चला आ रहा था । परन्तु वहाँपर यद बात कही जा चुकी है, कि स्थितिके

१—यहाँपर इस सूत्रके करनेसे स्पष्ट होता है, अतएव देवोंके प्रकरणमें भी तिर्यग्योनिना रूप प्रकाशित किया है ।

प्रकरणसे पहले पहले यह अधिकार समझना । यहाँसे अब स्थितिका प्रकरण शुरू होता है । अतएव वैमानिकोंका ही सम्बन्ध यहाँसे न समझकर सामान्य देवोंका सम्बन्ध समझना चाहिये । यदि यही बात है, तो देवोंके चार निकायोंमें से सबसे पहले देवानिकाय—भवनवासियोंकी स्थितिका ही पहले वर्णन करना चाहिये । सो ठीक है—भवनवासी भी दो भागोंमें विभक्त हैं—एक तो महामन्दरमेरुकी अवाधिसे दक्षिण अर्धके अधिपति दूसरे उत्तर अर्धके अधिपति । स्थिति भी दो प्रकारकी है—जवन्य और उत्कृष्ट । इनमेंसे पहले दक्षिण अर्धके अग्निपति भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं:—

सूत्र—भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यर्धम् ॥ ३० ॥

भाष्यम्—भवनेषु तावद्भवनवासिनां दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यर्ध परा स्थितिः । द्वयोर्यथोक्तयोर्भवनवासीन्द्रयोः पूर्वो दक्षिणार्धाधिपतिः पर उत्तरार्धाधिपतिः ॥

अर्थ—भवनवासियोंमेंसे जो दक्षिण अर्धके अधिपति है, उन भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पल्यकी है । पहले कहे अनुसार भवनवासियोंके दो इन्द्रोंमेंसे—चमर बलि आदिमेंसे पहले दक्षिण अर्धके अधिपति है, और दूसरे उत्तर अर्धके अधिपति हैं ।

भावार्थ—असुरेन्द्रोंकी स्थिति आगे चलकर इसी प्रकरणमें बतावेंगे अतएव उस भेदको छोड़कर शेष भवनवासियोंमेंसे दक्षिण अर्धके अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति—आयुका-प्रमाण डेढ़ पल्य समझना चाहिये ।

कमानुसार उत्तर अर्धके अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण कितना है, सो बताते हैं—

सूत्र—शेषाणां पादोने ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—शेषाणां भवनवासिष्वाधिपतीनां द्वेपत्योपमे पादोने परा स्थितिः । के च शेषाः ? उत्तरार्धाधिपतय इति ॥

अर्थ—भवनवासियोंमेंसे शेष अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पाद—चतुर्थ भाग कम दो पल्यकी उत्कृष्ट स्थिति है । प्रश्न—शेषसे किनको लेना या समझना चाहिये ? उत्तर—महामन्दरमेरुकी अवाधिसे उत्तर अर्धके जो अधिपति हैं उनको, अथवा यों कहिये कि पूर्वसूत्रमें जिनका निर्देश किया जा चुका है, उनसे जो बाकी बचे, वे सभी भवनवासी शेष शब्दमें लिये जाते हैं । हाँ, असुरेन्द्रोंकी स्थितिका वर्णन आगेके सूत्रमें स्वतन्त्ररूपसे करेंगे अतएव उत्तरार्धाधिपतियोंमेंसे असुरेन्द्र बलिका यहाँपर ग्रहण नहीं समझना ।

भावार्थ—असुरेन्द्र बलिके सिवाय सभी उत्तरार्धाधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पौने दो पल्यकी है ।

अब दोनों असुरेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—असुरेन्द्रयो सागरोपममधिक च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—असुरेन्द्रयोस्तदक्षिणार्धाधिपत्युत्तरार्धाधिपत्यो सागरोपममधिक च यथा सद्भाव्यम् परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—असुरेन्द्र दो हैं—चमर और बलि । दक्षिण अर्धके अधिपति चमर और उत्तर अर्धके अधिपति बलि हैं । इनकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक सागर और एक सागरसे कुछ अधिक है ।

भावार्थ—सागरका प्रमाण पहले बता चुके हैं, तदनुसार चमरेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरकी है, और उत्तरार्धाधिपति बलिराजकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरसे कुछ अधिक है । यहाँपर भावनेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति सामान्यसे बताई है । विशेष कथन " त्वारव्यान्तो विशेषप्रतिपत्ति " इस वाक्यके अनुसार आगमसे समझ लेना चाहिये । यथा—असुरकुमारियोंकी उत्कृष्ट स्थिति साठे चार पल्यकी है । बाकी नागकुमारी प्रभृति सम्पूर्ण भवनवासिनियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम एक पल्यकी है । इत्यादि ।

इस प्रकार भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन किया । अब नष्टस्थितिका वर्णन करना चाहिये और उसके बाद क्रमानुसार व्यंत्तर और ज्योतिष्कोंकी स्थितिका वर्णन करना चाहिये । परन्तु ऐसा करनेमें गौरव होता है, अतएव ग्रन्थालासके लिये इस विषयको आगेके लिये छोड़कर पहले वैमानिक निकायकी स्थितिका वर्णन करनेके लिये प्रस्तावरूप सूत्रको कहते हैं—

सूत्र—सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—सौधर्ममादि कृत्या यथाक्रममित ऊर्ध्व परा स्थितिर्वक्ष्यते ।

अर्थ—अब यहाँसे आगे वैमानिक देवोंकी—सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थासिद्ध विमान-तत्त्वके सभी देवोंकी आयुकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे बतावेंगे । अर्थात्—इस सूत्रके द्वारा केवल इस बातकी प्रस्तावना की है, कि अब वैमानिकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन किया जायगा ।

अब प्रतिज्ञानुसार वैमानिकोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतानेके लिये सबसे पहले सौधर्म और ऐशान आदि कल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—सागरोपमे ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—सौधर्मे कल्पे देवाना परा स्थितिर्द्वे सागरोपमे इति ।

अर्थ—सबसे पहले सौधर्म कल्पमें देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो सागर प्रमाण है ।

भावार्थ—यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र अथवा सामानिक देवोंकी अपेक्षासे समझनी चाहिये । शेष सामान्य दूसरे देवोंकी स्थिति नष्टस्थितिसे लेकर उत्कृष्टके मध्यमें अनेक भेदरूप है ।

अत्र ऐशान कल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—अधिके च ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—ऐशाने द्वे सागरोपमे अधिके परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—ऐशान कल्पवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो सागर प्रमाण है, और कुछ अधिक है।

भावार्थ—यह भी इन्द्र और सामानिकोंकी अपेक्षासे ही समझनी चाहिये। तथा इस सूत्रमें यद्यपि ऐशान कल्पका नाम नहीं लिया है, फिर भी यथासङ्ख्य-क्रमसे ऐशानका ही बोध होता है। क्योंकि पहले प्रस्तावनारूप सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उल्लेख किया है। अन्यथा पहले सूत्रमें सौवर्ग कल्पका सम्बन्ध भी नहीं लिया जा सकता।

क्रमानुसार सनत्कुमार कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—सप्त सनत्कुमारे ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—सनत्कुमारे कल्पे सप्त सागरोपमाणि परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—सनत्कुमार कल्पमें रहनेवाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरकी है। यह भी स्थिति इन्द्रादिकोंकी है।

माहेन्द्र कल्पसे लेकर अच्युत पर्यन्त कल्पोंके देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—एभिर्विशेषादिभिरधिकानि सप्त माहेन्द्रादिषु परा स्थितिर्भवति। सतेति वर्तते। तद्यथा—माहेन्द्रे सप्त विशेषाधिकानि। ब्रह्मलोकेत्रिभिरधिकानि सप्त दशेत्यर्थः। लान्तके सप्तभिरधिकानि सप्त चतुर्दशेत्यर्थः। महाशुके दशभिरधिकानि सप्त सप्तदशेत्यर्थः। सहस्रारे एकादशभिरधिकानि सप्त अष्टादशेत्यर्थः। आनतप्राणतयोस्त्रयोदशभिरधिकानि सप्त विंशतिरित्यर्थः। आरणाच्युतयोः पञ्चदशभिरधिकानि सप्त द्वाविंशतिरित्यर्थः ॥

अर्थ—पूर्व सूत्रसे इस सूत्रमें सप्त शब्दकी अनुवृत्ति आती है। अतएव इस सूत्रका अर्थ यह होता है, कि माहेन्द्र आदि कल्पवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति इस सूत्रमें बताये गये विशेषादिकोंसे अधिक सात सागर प्रमाण क्रमसे समझनी चाहिये। अर्थात्—माहेन्द्र कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरसे कुछ अधिक है। ब्रह्मलोकवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन अधिक सात सागर अर्थात् दश सागर प्रमाण है। लान्तक विमानवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् चौदह सागर प्रमाण है। महाशुक विमानवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दश सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् सत्रह सागर प्रमाण है। सहस्रार कल्पवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति ग्यारह सागरसे अधिक सातसागर अर्थात् अठारह सागर प्रमाण है। आनत और प्राणत कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तैरह सागरसे

अधिक सात सागर अर्थात् बीस सागर प्रमाण है । आरण और अच्युत कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति पद्रह सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् बाईस सागर प्रमाण है । यहाँपर आनत और प्राणत कल्पकी पृथक् पृथक् स्थिति न बताकर इकट्ठी बताई है । इसी प्रकार आरण और अच्युतकी भी इकट्ठी ही बताई है । इसका कारण यह है, कि ये दो दो कल्प एक एक इन्द्रके द्वारा योग्य है ।

कल्पातीत देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं -

सूत्र—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेनाधिका स्थितिर्भवति नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च । आरणाच्युते द्वाविंशतिर्ग्रैवेयकेषु पृथगेकैकेनाधिका त्रयोविंशतिरित्यर्थः । एवमेकैकेनाधिका सवेषु नवसु यावत्सर्वेषामुपरि नवमे एकात्रिंशत् । सा विजयादिषु चतुर्थप्येकेनाधिका द्वात्रिंशत् । साप्येकेनाधिका सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदिति ॥

अर्थ—आरण और अच्युत कल्पके ऊपर नव ग्रैवेयक और विजयादिक चार तथा सर्वार्थसिद्ध इनमें क्रमसे एक एक सागर अधिकाधिक उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण समझना । आरण अच्युत कल्पमें बाईस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है, यह बात ऊपरके सूत्रकी व्याख्यामें बता चुके हैं । इसके ऊपर नव ग्रैवेयकोंमें पृथक् पृथक्—एक एक ग्रैवेयकमें एक एक सागर अधिक अधिक होनेसे उन उन ग्रैवेयकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण होता है । अर्थात् पहले ग्रैवेयककी तेईस सागर, दूसरे ग्रैवेयककी चौबीस सागर, तीसरे ग्रैवेयककी पचीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है । इसी प्रकार अन्तिम ग्रैवेयक तक एक एक सागरका प्रमाण बता गया है । अन्तिम—नवमें ग्रैवेयककी उत्कृष्ट स्थिति इकतीस सागरकी है । ग्रैवेयकोंके ऊपर चारों विजयादिकोंमें एक ही सागरकी वृद्धि है । अर्थात् विजय वैजयन्त जयन्त और अपराचित इन चारों ही विमानवाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बचीस सागरकी है । इसके ऊपर सर्वार्थसिद्धमें एक सागर और बढ़-जाती है । अर्थात् सर्वार्थसिद्ध विमानके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है ।

१—साप्येकेनाधिका त्वनघन्योत्कृष्टा इति पाठान्तरम् साधोय । २—सर्वार्थसिद्धके देवोंकी ३३ सागरकी स्थिति भजघन्योत्कृष्ट है, माह बात आगे चलकर लिखी है, तथा आगमका नियम भी ऐसा ही है । परन्तु यहाँ भाष्यकारके लेखसे यह बात प्रकट नहीं होती । एक एक सागरकी क्रमसे वृद्धि बतानेमें सर्वार्थसिद्धके देवोंकी ३३ सागर उन्मृष्ट स्थिति सिद्ध होती है, और आगे बताने हुए "परत परत पूर्वोपर्युज्जन्तरा" सूत्रके द्वारा सर्वार्थसिद्धमें नघन्य ३२ सागरकी स्थिति सिद्ध होती है । उस सूत्रकी भाष्यके साथ "भजघन्योत्कृष्टसर्वार्थसिद्ध इति" ऐसा जो पाठ है, वह कांस्य है । वह पाठ भाष्यकारका मालूम नहीं होता ।

भावार्थ—सर्वार्थसिद्धके देवोंकी स्थितिमें यह विशेषता समझनी चाहिये, कि वहाँपर जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद नहीं है। एक ही भेद है, जिसका कि प्रमाण तेतीस सागर है। अर्थात् सर्वार्थसिद्धमें जितने भी देव होते हैं, सबकी आयुकी स्थिति तेतीस सागर ही हुआ करती है।

भाष्यम्—अत्राह—मनुष्यतिर्यग्योनिजानां परापरे स्थिती व्याख्याते । अथौपपातिकानां किमेकैव स्थितिः परापरे न विद्येते इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पहले मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी जो स्थिति बताई है, वह दो प्रकारकी बताई है—उत्कृष्ट और जघन्य। यहाँपर औपपातिक जन्मवालोंकी जो स्थिति बताई है, वह एक ही प्रकारकी है—एक उत्कृष्ट भेदरूप ही है। उसमें उत्कृष्ट और जघन्य ऐसे दो भेद नहीं हैं। सो क्या वह एक ही प्रकारकी हैं—उसमें जघन्योत्कृष्ट भेद है ही नहीं? या और ही कुछ बात है? इसके उत्तरमें आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अपरा पल्योपममधिकं च ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—सौधर्मादिष्वेव यथाक्रममपरा स्थितिः पल्योपममधिकं च । अपरा जघन्या निकृष्टेत्यर्थः । परा प्रकृष्टा उत्कृष्टेत्यनर्थान्तरम् । तत्र सौधर्मेऽपरा स्थितिः पल्योपममैशाने पल्योपममधिकं च ।

अर्थ—अत्र जघन्य स्थितिका वर्णन करते हैं। वह भी क्रमसे सौधर्मादिकके विषयमें ही समझनी चाहिये। सौधर्म और ऐशानमें जघन्य स्थिति क्रमसे एक पल्य और एक पल्यसे कुछ अधिक है। अर्थात् सौधर्म कल्पमें जघन्य स्थितिका प्रमाण एक पल्य है, और ऐशान कल्पमें एक पल्यसे कुछ अधिक है। अपर जघन्य और निकृष्ट शब्दोंका एक ही अर्थ है। तथा पर प्रकृष्ट और उत्कृष्ट शब्दोंका एक अर्थ है।

सूत्र—सागरोपमे ॥ ४० ॥

भाष्यम्—सानत्कुमारेऽपरा स्थितिर्द्वे सागरोपमे ॥

अर्थ—सानत्कुमार कल्पमें रहने वाले देवोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण दो सागरोपम है।

सूत्र—अधिके च ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—माहेन्द्रे जघन्या स्थितिरधिके द्वे सागरोपमे ॥

अर्थ—माहेन्द्रकल्पवर्ती देवोंकी जघन्यस्थितिका प्रमाण दो सागरोपमसे कुछ अधिक है।

१—स्थिति शब्द स्त्रीलिङ्ग है। अतएव उसके विशेषणरूपमें आनेपर ये शब्द भी स्त्रीलिङ्ग हो जाते हैं। जैसा कि अपरा जघन्या आदि मूलमें पाठ दिया गया है।

यहाँसे आगे जग्य स्थितिका क्या हिसाब है, सो बताते हैं—

सूत्र-परत परत पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—माहेन्द्रात्परत पूर्वा परा (पूर्वा) ऽनन्तरा जघन्या स्थितिर्भवति । तद्यथा—
माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकाणि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या स्थितिर्भवति,
ब्रह्मलोके दश सागरोपमाणि परा स्थिति सा छान्तके जघन्या । एतन्मा सर्वार्थसिद्धादिति ।
(विजयादिषु चतुषु परा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साऽजघन्योत्कृष्टा सर्वार्थसिद्ध इति)

अर्थ—माहेन्द्र कल्पसे आगेके कल्पोंमें जग्य स्थितिका प्रमाण इस प्रकार है, कि पहले
कल्पकी जो उत्कृष्ट स्थिति होती है, वही आगेके कल्पकी जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता
है । जैसे कि—माहेन्द्र कल्पमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण सात सागरसे कुछ अधिक है, वही
आगेके कल्प—ब्रह्मलोकमें जघन्य स्थितिका प्रमाण है । इसी प्रकार ब्रह्मलोकमें उत्कृष्ट स्थितिका
प्रमाण जो दश सागरोपम है, वही आगेके कल्प—छान्तकमें जग्य स्थितिका प्रमाण
हो जाता है । इसी तरह आगेके सम्पूर्ण कल्पोंमें सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त यही क्रम समझना
चाहिये (विजयादिक चार विमानोंमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण तेतीस सागर है, वही आगेके
विमान सर्वार्थसिद्धमें जग्य स्थितिका प्रमाण है । निन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानकी स्थितिमें
जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है । वहाँ तेतीस सागरकी ही स्थिति है ।)

उपपात जन्मवालोंकी जघन्य स्थितिके विषयमें प्रश्न करते हुए पूछा था, कि इनकी
स्थिति एक उत्कृष्ट भेदरूप ही है या क्या ? उपपात जन्म नारक—जीवोंका भी है, और उनकी
भी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन पहले कर चुके हैं, किन्तु अभीतक जघन्य स्थितिका वर्णन नहीं
किया है, अतएव उनके विषयमें भी यही प्रश्न है । परन्तु यहाँपर डेवोंकी ही जघन्य स्थिति-
का अभीतक उल्लेख किया है । इसीलिये यहाँपर नारकजीवों की भी जग्य स्थिति बताना
आवश्यक है । इसके सिवाय अन्य उसके वर्णन करनेमें ग्रन्थ—गौरव और यहाँपर वर्णन
करनेमें ग्रन्थका लाघव होता है । क्योंकि उपर्युक्त सूत्रमें बताया हुआ ही क्रम नारक—जीवों-
की जग्य स्थितिके विषयमें है । अतएव अप्रकृत भी नारक—जीवोंकी जग्य स्थितिको बतानेके
लिये सूत्र करते हैं—

१—इस सूत्रमें बताया हुआ नियमक अनुसार विजयादिमें जघन्य ३१ सागर और उत्कृष्ट ३२ सागर
स्थिति सिद्ध होती है । परन्तु यहाँ बाधस्थ पाठमें ३३ सागर दिग तरह बताए, सो समझमें नहीं आता । दूसरी
बाध यह है कि यह पाठ भाष्यकारका मालूम भी नहीं होता । भाष्यकारको सार्धसिद्धमें जघन्य ३२ सागरकी
स्थिति इष्ट है, ऐसा मालूम होता है । जैसा कि उसाकारन भी लिखा है कि—‘भाष्यकारेण ॥ सवापशिद्धेऽपि
जघन्या द्वात्रिंशत् सागरोपमायधीता सप्त विधा वेनाभिप्रेत्येण । आगमस्यावश्यं—‘साध्वगिद्धदेवान भेने । केरतिय
काल तिष्ठ पण्णा २ गोयमा । अजदयुस्येगेण तत्तीम सागरोपनादि तिष्ठ पण्णा । (अ० प० ४ सूत्र १०२) ।
सूत्र ३८ के भाष्यों दिये हुए अजययोन्मृष्टा पाठमें ‘साध्वगिद्धदेवान भेने’ का अर्थ है परन्तु यह पत्र कही मिलता
है और कही नहीं । मगर है कि उन्हें यह पाठ न मिलता हो, अथवा इसका अर्थ अन्तरा प्रसिद्ध अर्थ हो ।

सूत्र—नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—नारकाणां च द्वितीयादिषु भूमिषु पूर्वा पूर्वा परा स्थितिरनन्तरा परतः परतोऽपरा भवति । तद्यथा—रत्नप्रभायां नारकाणामेकं सागरोपमं परा स्थितिः । सा जघन्या शर्कराप्रभायाम् । त्रीणि सागरोपमाणि परास्थितिः शर्कराप्रभायां सा जघन्या बालुका प्रभायामिति । एवं सर्वासु । तमःप्रभायां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि परा स्थितिः सा जघन्या महातमःप्रभायामिति ॥

अर्थ—नारक-भूमियोंमें भी नारक जीवोंकी जघन्य स्थितिका क्रम वही है, जो कि पूर्व सूत्रमें देवोंके विषयमें बताया है । अर्थात् पहली पहली भूमिमें नारक-जीवोंकी जो अव्यवहित परा-उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण है, वही आगे आगेकी अव्यवहित भूमिमें जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता है । यह क्रम द्वितीयादिक भूमियोंमें रहनेवाले नारकोंके विषयमें ही है । जैसे कि पहली भूमि-रत्नप्रभामें नारकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक सागरोपम है, वही आगेकी अव्यवहित दूसरी भूमि-शर्कराप्रभाके नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण है । शर्कराप्रभामें नारकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण तीन सागर है, वही आगेकी अव्यवहित तीसरी भूमि बालुकाप्रभामें नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण है । यही क्रम अन्ततक—सातवीं भूमितक सभी भूमियोंके विषयमें समझना चाहिये । इस क्रमके ही अनुसार छठी भूमिमें जो उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बाईस सागरोपम है, वही छठेसे अव्यवहित आगेकी—सातवीं भूमिके नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण समझना चाहिये ।

भावार्थ—इस स्थितिके विषयमें यह बात विशेषरूपसे जाननेकी है, कि सातवीं भूमिमें पाँच बिल-नरक है, जिनमेंसे चार चारों दिशाओंमें है, और एक चारोंके मध्यमें है, जिसको अप्रतिष्ठान नरक कहते हैं । चार दिशाओंके जो चार बिल हैं, उनमें जघन्य ३२ सागर और उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण स्थिति है । किन्तु मध्यके अप्रतिष्ठान नरकमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है । वहाँपर उत्पन्न होनेवाले या रहनेवाले नारकोंकी अजघन्योत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी ही है ।

इस सूत्रमें द्वितीयादिक भूमियोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण बताया है, किन्तु पहली भूमिकी जघन्य स्थितिका प्रमाण अज्ञात ही रह जाता है, अतएव उसको भी बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—दश वर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—प्रथमायां भूमौ नारकाणां दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः ।

अर्थ—पहली भूमि-रत्नप्रभामें उपपन्न नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार वर्षका है ।

स्थितिके प्रकरणको पाकर भवनवासी व्यतर ज्योतिष्कोकी स्थितिका भी वर्णन करना चाहते हैं । किंतु भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पहले बता चुके हैं, जघन्य स्थिति अभीतर नहीं बताई है, अतएव उसीका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—भवनेषु च ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—भवनवासिना च दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिरिति ॥

अर्थ—भवनवासी देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार (१००००) वर्षका है ।

क्रमानुसार व्यतर देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—व्यन्तराणा च ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणा च देवाना दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिरिति ।

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार वर्षका ही है ।

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति अभीतर नहीं बताई है, अतएव उसको भी यहाँपर बताते हैं—

सूत्र—परा पल्योपमम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणा परा स्थिति पल्योपम भवति ॥

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्योपम है ।

क्रमानुसार ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—ज्योतिष्काणा देवानामधिक पल्योपम परा स्थितिर्मवति ।

अर्थ—ज्योतिष्क निम्नयके देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्यसे कुछ अधिक है । अधिकता प्रमाण इस प्रकार है—चन्द्रमाता एक लाख वर्ष अधिक, और सूर्यमाता एक हजार वर्ष अधिक । ज्योतिष्क देवियोंकी उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण आधा पल्य और पचास हजार वर्ष है ।

इस सूत्रमें बताये हुए ज्योतिष्कोंके सिवाय ग्रहादिकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—ग्रहाणामेकम् ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—ग्रहाणामेकम् पल्योपम स्थितिर्मवति ।

अर्थ—ग्रहोंकी उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण एक पल्योपम है ।

सूत्र—नक्षत्राणामर्धम् ॥ ५० ॥

भाष्यम्—नक्षत्राणां देवानां पल्योपमार्धं परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र जातिके ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति आधा पल्य प्रमाण है ।

सूत्र—तारकाणां चतुर्भागः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—तारकाणां च पल्योपमचतुर्भागः परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—प्रकीर्णक ताराओंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्यका चतुर्थ भाग है ।

ताराओंकी जघन्य स्थिति बताते हैं—

सूत्र—जघन्या त्वष्टभागः ॥ ५२ ॥

भाष्यम्—तारकाणां तु जघन्या स्थितिः पल्योपमाष्टभागः ॥

अर्थ—ताराओंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण एक पल्यका आठवाँ भाग मात्र है ।

सूत्र—चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ५३ ॥

भाष्यम्—तारकाभ्यः शेषाणां ज्योतिष्काणां चतुर्भागः पल्योपमस्यापरा स्थितिरिति ॥

इति श्रीतत्त्वार्थसंग्रहे अर्हत्प्रवचने देवगतिप्रदर्शनो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

अर्थ—ताराओंसे शेष जो ज्योतिष्क देव हैं, उनकी अपरा—जघन्या स्थिति पल्यका एक चतुर्थ भाग है ॥

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें देवगतिका जिसमें वर्णन किया गया है
ऐसा चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

तत्त्वोंका नामनिर्देश करते समय अन्यकी आदिमें सात तत्त्व गिनाये थे, उनमें सबसे पहला जीव तत्त्व था । गत चार अध्यायोंमें निर्देश स्वामित्वादि अनुयोगोंके द्वारा तथा लक्षण विधानादिके द्वारा उसका वर्णन किया । अब उसके अनन्तर क्रमानुसार अजीव तत्त्वका वर्णन होना चाहिये । अतएव इस अध्यायमें उसीका वर्णन करेंगे । इसी आशयको भाष्यकार प्रकट करते हैं—

भाष्यम्—उक्ता जीवा, अजीवान् वक्ष्याम ।

अर्थ—जीव तत्त्वका वर्णन गत चार अध्यायोंमें किया जा चुका है । अब उसके अनन्तर यहाँपर अजीव तत्त्वका वर्णन करेंगे ।

भावार्थ—जो तीनों कालमें द्रव्य प्राण और भाव प्राणोंको धारण करता है, उसको जीव कहते हैं^१ । उसके चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं^२ । उसका लक्षण दोनों प्रकारका साकार और अनाकार उपयोग है । इत्यादि विषयोंकी अपेक्षा जीव तत्त्वका वर्णन सामान्यतया पूर्ण हुआ । उसके अनन्तर निर्दिष्ट अजीव तत्त्व है । कालके साथ लेकर गिननेसे अजीव द्रव्यके पाँच भेद होते हैं । इनके विषयमें की गई प्रतिज्ञाके अनुसार इन अजीव द्रव्योंके वर्णनका अवसर प्राप्त है । उनमेंसे एक काल द्रव्यको छोड़ कर शेष चार धर्मादिक द्रव्योंके स्वरूप और भेदोंको बतानेके लिये सूत्र करते हैं ।—

सूत्र—अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुट्टला ॥ १ ॥

भाष्यम्—धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुट्टलास्तिकाय इत्यजीव काया । तान् लक्षणतः परस्ताद्वक्ष्याम । कायग्रहणं प्रवेशावयवग्रहणत्वाद्यर्थमन्वयासमयप्रतिषेधार्थं च ॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और पुट्टलास्तिकाय ये अजीव काय हैं । इनका लक्षण आगे चलकर लिखेंगे । यहाँपर काय शब्दका ग्रहण जो किया है, सो प्रदेश और अवयवोंका बहुत्व दिखानेके लिये, अथवा अद्वारूप समयका निषेध दिखानेके लिये है ।

भावार्थ—अजीव द्रव्य पाँच हैं—धर्म अधर्म आकाश पुट्टल और काल । पाँचों ही द्रव्य अस्तिरूप—सत् हैं । अतएव उनके माथ अस्ति शब्दका प्रयोग किया जाता है । दूसरी बात

१—आपत्तिः जीविष्यते अजीवीव इति जीव । द्रव्य प्राण १० हैं—५ इन्द्रिय ३ योग १ आयु १ आगोष्णम् । भाव प्राण चेतनारूप है, समागम जीवोंके दोनों ही प्राण पाये जाते हैं । सिद्धोरे एक भावप्राण ही रहता है । २—नारदी तिर्यक् मनुष्य और देव । ३—जीवके अनन्तर अजीव द्रव्यका और उगमें धर्मादिक ४ का काल द्रव्यके सापेक्ष वर्णन आगे करेंगे, ऐसी आकाशने प्रथम प्रमाण की थी, संप्रसार । ४—यह अस्ति विद्या—असत् प्राणके कल्पग्रहण प्रयोग नहीं है किन्तु अप्रत्यक्ष है ।

यह है, कि धर्मादिक चार द्रव्योंके प्रदेश बहुत है, और काल द्रव्यमें यह वात नहीं है, वह एक प्रदेशी ही है, अतएव काय शब्दके द्वारा उसका भेद दिखाया है, यहाँपर काय शब्दका अर्थ प्रदेश और अवयवोंका बहुत्व विवक्षित है । अतएव धर्मादिक चार द्रव्योंमें यह अर्थ घटित होता है, और काल द्रव्यमें घटित नहीं होता, इस वातको दिखानेके लिये ही काय शब्दका प्रयोग किया है ।

धर्मादिक पाँचो ही द्रव्य अजीव भी हैं । क्योंकि उनमें जीवत्व-चैतन्य नहीं पाया जाता । जीवसे सर्वथा विरुद्ध अथवा जीवका सर्वथा अभाव ऐसा अजीव शब्दका अर्थ यहाँपर अभीष्ट नहीं है, किन्तु ये द्रव्य जीवरूप नहीं है, इतना ही अर्थ अभीष्ट है ।

इस कथनसे धर्मादिक चार द्रव्योंमें अजीवत्व और कायत्व दोनों ही धर्म पाये जाते हैं, अतएव उनके लिये अजीव काय शब्दका प्रयोग किया है, क्योंकि ये अजीव भी हैं, और काय भी है । अर्थात् अजीव काय शब्दमें कर्मधारय समास माना है^१ । कर्मधारय समास जिन पदोंमें हुआ करता है, उनकी वृत्ति परस्पर एक दूसरेको छोड़कर भी रहा करती है । जैसे कि “ नीलोत्पल ” । नील और उत्पल शब्दका कर्मधारय समास है, अतएव इन दोनों शब्दोंकी परस्परमे एक दूसरेको छोड़कर भी वृत्ति पाई जाती है । नीलको छोड़कर उत्पल शब्द रक्तोत्पल आदिमें भी रहता है, और उत्पल शब्दको छोड़कर नील शब्द वस्त्रादिकके साथ भी पाया जाता है । इसी प्रकार अजीव काय शब्दके विषयमें समझना चाहिये । अजीव शब्दको छोड़कर काय शब्दकी वृत्ति जीवमें पाई जाती है^२, और कायको छोड़कर अजीव शब्दकी वृत्ति काल द्रव्यमें भी पाई जाती है ।

धर्म और अधर्म शब्दसे पुण्य पापको अथवा वैशेषिकादिकोंके माने हुए गुण विशेषको

१-काय शब्दकी निश्चिति इस प्रकार है-चीयते इति कायः । काय शब्दसे शरीरावयवोंका ग्रहण होता है, उसीके उपास सादृश्यकी अपेक्षासे जिसमें बहुतसे अवयव या प्रदेश पाये जाते हैं, उनको भी काय शब्दके द्वारा ही कह दिया जाता है, अतएव धर्मादिक और पुद्गलके साथ काय शब्दका प्रयोग किया गया है ।

२-प्रतिषेध दो प्रकारका हुआ करता है-प्रसज्य और पर्युदास । इनका लक्षण इस प्रकार है-“ प्रतिषेधोऽर्थनिविट्, एक वाक्यं विधेः परः । तद्गानस्वपदोक्तश्च पर्युदासोऽन्यथेतरः ॥ ’ अर्थात् जिसमे सर्वथा निषेध पाया जाय, उसको प्रसज्य और जिसमे सहस्य पदार्थका ग्रहण हो, उसको पर्युदास कहते हैं । अस्तित्वादि गुणोंकी अपेक्षा जीव द्रव्य और धर्मादिक अजीव द्रव्योंमें सादृश्य पाया जाता है ।

कोई कोई कहते हैं, कि जीवनामकर्मके उदयसे प्राणोका धारण हुआ करता है । यहाँपर अजीव शब्दसे उस जीवनाम कर्मका ही निषेध अभीष्ट है । परन्तु यह वात ठीक नहीं है, क्योंकि आगममें कोई भी जीवनामकर्म नहीं माना है । इसके सिवाय एक दोष यह भी आवेगा, कि यदि जिनके जीवनामकर्मका उदय नहीं है, वे अजीव हैं, ऐसा अर्थ माना जाय, तो सिद्ध भी अजीव ठहरेंगे ।

३-अजीवाश्च ते कायाश्च । ४-राहोऽगिरः शिलापुत्रकस्य गरीरम्, की तरह अमेदमें पड़ी माननेसे पड़ी-तत्पुरुष समास भी हो सकता है । यथा-अजीवानां काया अजीवकाया इति । ५-बहुप्रदेशी होनेसे जीव काय तो है, और इसी लिये पंचास्तिकायमें वह परिगणित है, परन्तु अजीव नहीं है, और काल द्रव्य काय नहीं है, अजीव है ।

नहीं समझना चाहिये । किन्तु ये स्वतन्त्र द्रव्य हैं, जैसा कि आगेके सूत्रमें बताया जायगा । पुण्य पाप तो कर्मके घेद हैं, जिनका कि पुद्गल द्रव्यके भेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

धर्मादिक चारोंकी द्रव्यता सूत्र द्वारा अर्णितक अनुक्त है, अतएव इनके विषयमें सन्देह ही रह सकता है, कि ये द्रव्य हैं, अथवा पर्याय हैं । अतएव इस सन्देहकी निवृत्तिके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥

भाष्यम्—एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पञ्च द्रव्याणि च भवन्तीति । उक्त हि "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु, सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य " इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त सूत्रमें बताये हुए धर्मादिक चार और अनन्तर चार अध्यायोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे जीव द्रव्य हैं । अर्थात् पाँचोंकी ही द्रव्य सत्ता है । जैसा कि पहले अव्यापके सूत्र "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" और "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" में द्रव्य शब्दका प्रयोग किया गया है ।

भावार्थ—द्रव्यका लक्षण आगे चलकर इसी अध्यायके सूत्र ३१ द्वारा बतावेंगे । वैशेषिकादि मतनालोंका कहना है, कि द्रव्य शब्दसे द्रव्यत्व जातिमा ग्रहण हुआ करता है । जाति यह सामान्य नामका एक पदार्थ है, अतएव द्रव्यत्व भी एक सामान्य पदार्थ ही है । और इस द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धसे ही द्रव्य कहा जाता है । परन्तु यह अभिमत ठीक नहीं है । क्योंकि सामान्य नामका पदार्थ पदार्थसे या द्रव्यसे भिन्न है, या अभिन्न है ? इनमेंसे किसी भी एक पक्षके लेनेपर सामान्य नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध नहीं होता, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट करेंगे ।

इस सूत्रमें जो पाँच द्रव्य गिनये हैं, उनके विषयमें तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं ।—ये कभी भी अपने स्वभावसे न्युत होते हैं या नहीं ? पाँच यह सरया कभी विग्रहित होती हैं या नहीं ? और ये पाँचों ही द्रव्य मूर्त हैं अथवा अमूर्त ? इन तीनों ही प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये सूत्र करते हैं ।

सूत्र—नित्यावस्थितान्यरूपाणि च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति । तद्भावाव्ययं नित्यमिति । यद्यपि अयं स्थितानि च । न हि कदाचित्पञ्चत्व भूतार्थत्व च व्यभिचरन्ति । अरूपाणि च, तेषां रूपमस्तीति । रूप मूर्तिर्मूल्याभ्याश्च स्पर्शादय इति ॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त सूत्र द्वारा बताये हुए द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं, और अरूप हैं । नित्य शब्दका अभिप्राय आगे चलकर "तद्भावाव्ययं नित्यम्" इस सूत्रके द्वारा बतावेंगे, अर्थात् वस्तुका जो भाव-स्वभाव है, उसके व्यय न होनेको नित्य कहते हैं । अतएव धर्मादिक

चार और जीव ईनमेंसे कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है, कि जो अपने स्वरूपको छोड़ देता हो। धर्म द्रव्य अवर्मादिकरूप नहीं हो सकता, अधर्म द्रव्य धर्मादिकरूप नहीं हो सकता, इसी तरह आकाश शेष धर्मादिरूप नहीं हो सकता, न पुद्गल शेष द्रव्यरूप हो सकता है, और न जीवद्रव्य ही शेष द्रव्यरूप हो सकता है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वरूपको कायम रखता है—कोई भी द्रव्य कभी भी सर्वथा नष्ट नहीं होता, अतएव हम कथनसे पहले प्रश्नका उत्तर हो जाता है।

द्रव्यास्तिक नयको प्रधानतया लक्ष्यमें रखकर आचार्यने नित्य शब्दके द्वारा वस्तुके ध्रौव्य अंशका प्रतिपादन किया है। अतएव एकान्तवादरूप नित्यत्व नहीं समझना चाहिये। द्रव्योंके समान उनके गुण भी नित्य है, वे भी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ करते हैं। क्योंकि मुख्यतया द्रव्योंका और गौणतया द्रव्योंके आश्रित रहनेवाले गुणोंका अस्तित्व ध्रुव है।

दूसरे प्रश्नका उत्तर अवस्थित शब्दके द्वारा दिया है। अर्थात् द्रव्योंकी संख्या अवस्थित है। वह न कभी कम होती है और न अधिक। क्योंकि सभी द्रव्य अनादिनिघन है, और उनका परिणमन परस्परमें कभी भी एकका दूसरे रूप नहीं हुआ करता। सभी द्रव्य लोकमें अवस्थित रहकर परस्परमें सम्बन्ध रहते हैं। सम्बद्ध होनेपर भी कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत नहीं होता, और न दूसरे द्रव्यको अपने रूप ही परिणमाता है। अतएव अस्तिकायोंकी पाँच संख्या अवस्थित है।

तीसरे प्रश्नका उत्तर अरूप शब्दके द्वारा दिया है। यह विशेषण वास्तवमें धर्म अधर्म आकाश और जीव इन चारका ही है, पुद्गलका नहीं है। यही कारण है, कि अग्रिम सूत्रके द्वारा धर्मादिककी रूपवत्ताका निषेध किया जायगा। यहाँपर रूप शब्दका अर्थ मूर्ति है। रूप रस गन्ध स्पर्श इन गुणोंको और इन गुणोंसे युक्त द्रव्यको भी मूर्ति कहते हैं।

१—काल द्रव्यका आगे चलकर वर्णन करेंगे, अतएव उसका यहाँपर ग्रहण नहीं किया है। कालको सम्मिलित करनेसे छह द्रव्य होते हैं। इस अपेक्षासे छहों द्रव्योंके विषयमें यह नियम नमझना चाहिये। २—“नेधुवे त्यप्” (सिद्ध० अ० ६ पा० १ सूत्र १७) इति नित्यानि ध्रुवाणीत्यर्थः।

३ कालको साथ गिनेसे छह द्रव्य है। कोई कोई नित्यावस्थित ऐसा एक ही शब्द रखकर और नित्य शब्दको अवस्थितका विशेषण मानकर उसका अर्थ ऐसा करते हैं, कि जैसे किसीसे कहा जाय, कि यह मनुष्य नित्य प्रजापति है, उसका अर्थ यह होता है, कि यह प्रायः बोलता ही रहता है, इसी प्रकार नित्यावस्थित शब्दका भी यही अर्थ है, कि ये द्रव्य नित्य अवस्थित रहने हैं। अर्थात् नित्य शब्दका अर्थ आभीक्ष्य है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। ऐसा माननेपर भाष्यकी संगति नहीं होती।

४—लपिण पुद्गल। इस सूत्रके द्वारा। इसके अर्थकी निषेधपरता आगे माध्यम होंगी। बिना विधिके निषेध नहीं हो सकता, अतएव यहाँपर पाँचों ही द्रव्योंका अरूपाणि ऐसा विशेषण दिया है। कोई कोई अरूपाणि ऐसा पाठ करते हैं, और कोई कोई इन् प्रत्यय न करके मत्वर्थाय मनुप् प्रत्ययको मानते हैं।

५—“गुणा रूपादयः पुंसि गुणि लिङ्मास्तु तद्वति।” कोई कोई यहाँपर रूप शब्दसे केवल रूप को ही लेते हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि चारों गुणोंका साहचर्य है। इनमेंसे कोई भी एक गुण शेष तीन गुणोंको छोड़कर नहीं रह सकता।

उपर्युक्त सूत्रमे नित्य अवस्थित और अरूप ऐसे तीन विशेषण दिये हैं, वे सामान्यतया पाँचों ही विशेष्यरूप द्रव्योंके सिद्ध होते हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है, अतएव सामान्य विधिके अपवादरूप कथनको कटनेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र-रूपिणः पुद्गलाः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—पुद्गला एव रूपिणो भवन्ति । रूपमेवामस्त्येषु वास्तीति रूपिण ।

अर्थ—उक्त धर्मादिक पाँच द्रव्योंमेंसे एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसे है, कि जो रूपी हैं । रूपी शब्दका अर्थ रूपवाला है । इस शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे बताई है—एक तो सम्बन्ध की अपेक्षासे दूसरी अधिकरणकी अपेक्षासे । सम्बन्धकी अपेक्षामें रूप और रूपवान्में कथचित् भेद दिखाया है, और अधिकरणकी विवक्षामें कथचित् इनमें अभेद है, ऐसा अभिप्राय प्रकट किया है । क्योंकि जिनेन्द्रभगवान्के प्ररूपित तत्त्वज्ञानात्मक नहीं अनेकान्तरूप हैं, और इसी लिये कथचित् सम्बन्ध अथवा अधिकरण दोनोंमेंसे किसी भी अपेक्षामें दोनों अर्थ भी सङ्गत हो सकते हैं । क्योंकि रूपादि गुण द्रव्यसे भिन्न न बसाहुए न हैं, और न होंगे, और इनका भेद व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध ही है, जैसे कि आमका पीला रंग, पीले आमका मीठा रस, मीठे आमकी सुगन्ध, सुगन्धित आमका स्निग्ध स्पर्श इत्यादि ।

भावार्थ—इस सूत्रके द्वारा दो अर्थ व्यक्त होते हैं । एक तो धर्मादिकके साथ साथ पुद्गल भी अरूपी सिद्ध होते थे, उसकी निवृत्ति, दूसरा अनन्त पुद्गलोंके साथ रूपित्वका नित्यतादात्म्य । पहला अर्थ करते समय रूपिण पुद्गला एव अर्थात् रूपी द्रव्य पुद्गल ही है, अन्य नहीं ऐसा अवधारणरूप अर्थ करना चाहिये । दूसरा अर्थ करते समय पुद्गला रूपिण एव अर्थात् सब पुद्गल रूपी ही हैं, ऐसा अवधारण करना चाहिये । क्योंकि वैशेषिकादि मत वालोंने रूपादि रहित भी पुद्गल माने हैं । उसके निराकरणके लिये ऐसा अवधारण आवश्यक है । वास्तवमें कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है, जो कि रूप रस गन्ध स्पर्श युक्त न हो, सभीमें चारों गुण पाये जाते हैं । यह दूसरी बात है, कि जिसमें कोई गुण व्यक्त हो, जिसमें अव्यक्त ।

१—उत्पत्ति क्षण द्रव्य क्षण निर्गुण निष्क्रिय च तिष्ठति, ऐसा उनका सिद्धान्त है । तथा उन्होंने पृथ्वीमें चारों गुण, जलमें तीन गुण अग्निमें दो गुण और वायुमें एक ही गुण माना है । पृथ्वी आदिके परमाणु भी भिन्न भिन्न ही माने हैं । २—जिनमें जो गुण दिखाई नहीं पड़ता, उनके अस्तित्वका ज्ञान अनुमान द्वारा उसमें हो जाता है । जैसे कि वायु स्पर्श स्पर्शवत्त्व चटादिवत् । अतएव प्रत्येक पुद्गलमें रूप रस गन्ध स्पर्श चारों ही गुण मानने चाहिये । ३—यदि यह बात नहीं मानी जायगी, और एक गुणवाला दो गुणवाली तान गुणवाली द्रव्य भी यदि मानी जायगी, तो प्रत्यक्ष विरोध भी आवेगा । देखा जाता है कि वायुमें तत्त्वकी उत्पत्ति होती है जलसे मोती आदि पृथ्वीकी और धूँपासे अमिरी उत्पत्ति होती है । वायु आदिद्रव्य जो गुण नहीं होंगे, वे जलादिक कार्यद्रव्योंमें कैसे आसक्त हैं ? क्योंकि यह सिद्धान्त है कि “कारणगुणा कार्यगुणानाभवन्ते ।”

तथा पृथिवी जल अग्नि और वायुको भिन्न भिन्न द्रव्य और उनके परमाणुओंको सर्वथा भिन्न भिन्न जो बताया है, सो भी ठीक नहीं है । ये सब एक पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याय हैं ।

इस सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग जो किया है, सो बहुत्व संख्याको दिखानेके लिये है । क्योंकि मूलमें पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं, अणु और स्कन्ध । इनके भी उत्तरेभेद अनेक हैं, जैसा कि आगेके कथनसे मालूम होगा । परन्तु कोई भी भेद ऐसा नहीं है, जो रूपादि युक्त न हो । रूपादिके साथ पुद्गल द्रव्यका नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है ।

उक्त द्रव्योंकी और भी विशेषता दिखानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र-आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ५ ॥

भाष्यम्—आ आकाशाद् धर्मादीन्येकद्रव्याण्येव भवन्ति । पुद्गलजीवास्त्यनेकद्रव्याणि इति ॥

अर्थ—पूर्वोक्त सूत्रमें धर्मादिक द्रव्य जो गिनाये हैं, उनमेंसे धर्मसे लेकर आकाश पर्यन्त धर्म अधर्म और आकाश ये तीन जो द्रव्य हैं, वे एक एक हैं । बाकीके पुद्गल और जीव अनेक द्रव्य हैं ।

भावार्थ—धर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाला एक है । जो लोककी बराबर असंख्यातप्रदेशी होकर भी अखण्ड है । उसकी समान जातिका—गतिमें सहकारी दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है । इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी एक ही है । वह भी लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाला एक ही अखण्ड द्रव्य है । उसकी भी समान जातिका—स्थितिमें सहकारी और कोई दूसरा द्रव्य नहीं है । सामान्यसे आकाश एक अखण्ड अनन्त प्रदेशी है । विशेष अपेक्षासे उसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश । लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है, अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है । वास्तवमें ये दो भेद आकाशके उपचारसे हैं । आकाश एक अखण्ड द्रव्य ही है, और उसके समान भी अवगाहन देनेवाला दूसरा कोई द्रव्य नहीं है । इस प्रकार ये तीनों द्रव्य एक एक ही हैं । किंतु जीव और पुद्गल द्रव्यमें यह बात नहीं है । जीव भी अनन्त है, और पुद्गल भी अनन्त है, तथा प्रत्येक जीव और प्रत्येक पुद्गलकी सत्ता स्वतन्त्र और भिन्न भिन्न है ।

१—रूपादिगुणवत्ता अथवा मूर्ति (रूपादि चारों गुणोंके समूहको मूर्ति कहते हैं) यह पुद्गलका सामान्य लक्षण है । लक्षण अपने लक्ष्यको छोड़कर कभी नहीं रह सकता । अन्यथा वह लक्षण ही नहीं माना जा सकता । पुद्गलमें चारों गुणोंका अस्तित्व किस तरह सिद्ध होता है, सो पहले बता चुके हैं । २—यहाँपर अनन्तसे मतलब अक्षयानन्तका है, क्योंकि जीव पुद्गल आकाश कालके समय आदि अक्षयानन्तरागिमें ही गिने गये हैं । अक्षयानन्तका लक्षण इस प्रकार है—सत्यपि व्ययसद्भावे, नवीनवृद्धेरभाववत्त्वं चेत् । यस्य क्षयो न नियत, सोऽनन्तो जिनमते भणित ॥ जैन-सिद्धान्तमें अद्वैतादि मत-वालोंकी तरह एक ही जीव या उसको विभु नहीं माना है, और न अणुरूप ही माना है ।

उक्त द्रव्योंकी और भी विशेषताको उतानेके लिये सूत्र करते हैं —

सूत्र—निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥

भाष्यम्—आ आकाशादेव धर्मादीनि निष्क्रियाणि भवन्ति । पुद्गलजीवास्तु क्रियायन्तः । क्रियेति गतिकमाह ॥

अर्थ—धर्मादिक—आकाशपर्यन्त तीनों ही द्रव्य निष्क्रिय हैं । किन्तु पुद्गल और जीव ये दोनों द्रव्य क्रियावान् हैं । यहाँपर क्रिया शब्दमें गति कर्मको लिया है ।

भावार्थ—क्रिया दो प्रकारकी हुआ करती है । एक तो परिणामलक्षणा दृग्गी परिस्पन्दलक्षणा । अस्ति भवति आदि क्रियाएँ जोकि वस्तुके परिणमनमात्रको सिद्धाती हैं, उनको परिणामलक्षणा कहते हैं । जो एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रतक वस्तुको लेनानेमें अथवा उसका आकारान्तर बनानेमें कारण है, उसको परिस्पन्दलक्षणा क्रिया कहते हैं । यदि प्रकृतम परिणामलक्षणा क्रिया छी जाय, तो धर्मादिक द्रव्योंके अभावका प्रमद्व आन है । त्वारि कोई भी द्रव्य व्युत्पन्नित्य नहीं हो सक्ता । तदनुसार धर्मादिकमें भी कोई न कोई परिणमन पाया ही जाता है । अस्ति भवति गत्युपग्रह करोति आदि क्रियाओंका सभय व्यवहार धर्मादिकमें भी होता ही है । अनन्य परिस्पन्दलक्षणा क्रियाका ही धर्मादिकमें निषेध समझना चाहिये । जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय हैं, क्योंकि ये गतिमान् हैं, और इनके अनेक आकाररूप परिणमन होते हैं । धर्मादिक द्रव्योंका जो आकार है, वह अनादिकाग्रे है और अनन्तराल तक वही रहेगा । अर्थात् जीव पुद्गलके समान धम अधर्म और आकाश द्रव्यका न तो आकारान्तर ही होता है, और न क्षेत्रान्तरमें गमन ही होता है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता प्रदेशाययवगुह्य कायसदामिति । तत्र य एव धर्मादीनां प्रदेशाययवपत्तिरिति । अत्रोच्यते ।—सत्त्वा प्रवृत्ता सन्ति अन्यत्र परमाणो । अवयवास्तु रक्त्वाधामेव । अयमेति द्वि—'अणव' रक्त्वाधाम । सत्त्वातमदेव्य उपपद्यन्ते ।

अर्थ—प्रश्न—आपने इसी अध्यायकी आदिमें काय मन्त्राके द्वारा प्रदेश और आकाशको बतलाया है । अनन्य इस विषयमें यह जाननेकी आवश्यकता है, कि धर्मादिक द्रव्योंके प्रदेश और कायोंके लिये नियम क्या और कैसा है । उत्तर—एक परमाणुके विषय

सभी द्रव्योंके प्रदेश हुआ करते हैं । किन्तु अवयव स्कन्धोंके ही हुआ करते हैं । जैसा कि “अणवः स्कन्धाश्च” और “सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते” इनके द्वारा अभिप्राय स्पष्ट करेंगे ।

भा.वार्थ—इसी अध्यायके प्रारम्भके—पहले ही सूत्रमें “अजीवकाया” शब्दका प्रयोग किया है, और उसमें काय शब्दका अर्थ—“प्रदेशावयववहुत्व” ऐसा किया है, जिसका अभिप्राय प्रदेशोंका बहुत्व और अवयवोंका बहुत्व होता है । परन्तु प्रदेश और अवयवोंके विषयमें कोई भी अभीतक नियम नहीं बताया है । अतएव पूँछनेवालेका आशय यह है, कि प्रदेश किसको कहते हैं, और अवयव किसको कहते हैं ? तथा धर्मादिक द्रव्योंमेंसे किसके कितने किस प्रकारसे समझना ? उत्तर—धर्म अधर्म आकाश और जीव तथा पुद्गल द्रव्यके भी प्रदेश हुआ करते हैं । परमाणुके प्रदेश—निषेधका अभिप्राय यह है, कि उसके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं होते, क्योंकि निरवयव पुद्गल द्रव्यांशको एकप्रदेशी माना है^१ । जितनेमें एक मूर्तिमान् द्रव्य—परमाणु आ जाय, उतने भागको प्रदेश कहते हैं । जो स्वभावसे ही पृथक् पृथक् हो सकें, अथवा प्रयोगपूर्वक जो पृथक् पृथक् किये जा सकें, या हो सकें, उनको अवयव कहते हैं । धर्म अधर्म आकाश और जीव इनमें प्रदेश हैं, परन्तु अवयव नहीं हैं, क्योंकि ये अखण्ड द्रव्य हैं । पुद्गल द्रव्य दो प्रकारके हैं—अणु और स्कन्ध । अणु भी दो प्रकारके हैं—द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु । स्कन्धके द्व्यणुकादिके भेदसे अनेक भेद है । इनमेंसे परमाणुके लिये भाष्यकारने प्रदेशका निषेध किया है, इसका यह अर्थ नहीं है, कि स्कन्धोंके प्रदेश होते हैं । क्योंकि ऊपरके कथनसे यह बात तो स्पष्ट ही हो चुकी, कि प्रदेश अखण्ड द्रव्यके हुआ करते हैं । और स्कन्धोंमें भेद तथा संघात दोनों बातें पाई जाती हैं । अतएव स्कन्धोंके लिये अवयव शब्दका प्रयोग हुवा करता है, और धर्मादिकके लिये प्रदेश शब्दका प्रयोग हुआ करता है, जो द्रव्यपरमाणु है, उसके प्रदेश नहीं है, ऐसा ही कहा जाता है, क्योंकि उसके एक ही प्रदेश माना है, दो आदिक नहीं । भावपरमाणुके लिये यह नियम नहीं है ।

इस कथनसे धर्मादिकके बहुत प्रदेश हैं, यह बात मालूम हुई, परन्तु वे कितने कितने हैं, सो नहीं मालूम हुवा । अतएव उनकी इयत्ता बतानेके लिये सूत्र करते हैं ।—

१—यहाँपर पर्यायाश परमाणुका ग्रहण नहीं समझना । क्योंकि इन्हींने प्रणमरति श्लोक २०८ में लिखा है, कि “परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीय ।” २—“निरवयवः खलु देश स्वस्य क्षेत्रप्रदेश इति दृष्टः,” ३—पुद्गल द्रव्यके सबसे छोटे खण्डको द्रव्यपरमाणु और उसके रूपादि पर्यायाशोंको भाव परमाणु कहते हैं । दिगम्बर सम्प्रदायमें परमाणुके दो भेद नहीं माने हैं । गुणाश्योंको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं ।

४—“नाणो” इस सूत्रके द्वारा अणुके प्रदेशोका जो निषेध किया है, उसका तात्पर्य पूर्वसूत्रमें उल्लिखित प्रदेशोंके निषेध करनेका है । पहले सूत्रमें संख्यात असंख्यात और अनन्तका उल्लेख है । किन्तु एक प्रदेश तीनोंमेंसे किसीमें भी नहीं आता, क्योंकि संख्यात राशि दोसे शुरु होती है । एकको संख्यामें न लेकर सख्याके वाच्यमें लिया है । ५—जैसा कि प्रणमरतिका वाक्य पहले दिया गया है ।

सूत्र—असहस्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयो ॥ ७ ॥

भाष्यम्—प्रदेशो नामापेक्षिकः सवस्त्वस्तु परमाणोरवगाह इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त पाँच द्रव्योंमेंसे धर्म और अधर्म द्रव्योंके असह्यता प्रदेश हैं अर्थात् प्रत्येक द्रव्यके असह्यता असह्यता प्रदेश हैं । धर्मद्रव्य भी असह्यता प्रदेशी है, और अधर्म द्रव्य भी असह्यता प्रदेशी ही है । प्रदेश शब्दसे आपेक्षिक और सबसे सूक्ष्म परमाणुका अवगाह समझना चाहिये ।

भार्यार्थ—परमनिष्ठ निरयय देशको प्रदेश कहते हैं । इसका स्वरूप समझनेमें द्रव्यपरमाणुकी अपेक्षा है । क्योंकि उसकी अपेक्षासे ही प्रदेशका स्वरूप आगममें बनाया है । जितने देशको एक द्रव्य परमाणु राजता है, उसको प्रदेश कहते हैं । सबसे सङ्ग रहनेका अभिप्राय यह है, कि जितने क्षेत्रमें एक द्रव्यपरमाणुका अवगाहन होता है, उतने ही क्षेत्रमें अनेक परमाणुओंका तथा तमय स्वरूपका भी अवगाहन हुआ करता है, और हो सक्ता है । परन्तु कोई भी एक परमाणु ऐसा नहीं है, कि वो प्रदेशोंका अवगाहन करता हो । अतएव परमाणुके सबसे सूक्ष्म अवगाहको ही प्रदेश समझना चाहिये । दूसरी बात यह भी है, कि धर्म अधर्म आकाश और जीवोंके प्रदेश आपेक्षिक होकर भी सूक्ष्म ही हैं न कि स्थित ।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि अवगाह गुण और अवगाहन देनेका कार्य आकाश ही है, अतएव प्रदेश भी आकाशमें आकाशके ही हो सकते हैं, न कि धर्माधर्मों के । तो ठीक है । यदि ऐसा भी माना जाय, तो भी कोई आपत्ति नहीं है । प्रदेशका स्वरूप मात्र हो जानेपर धर्मधर्मके प्रदेशोंकी भी इयत्ता मायूम हो सकती है । क्योंकि लोकानुशासने जितने प्रदेश हैं, उन्हींमें धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्योंके भी प्रदेश व्यक्त होकर अवगाह कर रहे हैं—रह रहे हैं । अतएव धर्म और अधर्म दोनों ही द्रव्योंके प्रदेश बराबर हैं, यहाँ का यहाँपर व्यक्त हो गई है ।

अतएव प्रदेशका प्रमाण उपस्थित है, और जहाँ भी उतने ही प्रदेश माने हैं जितने कि धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्योंके हैं, अतएव उन्हींके भी प्रदेशोंका मायुका निदान मतानेके नियम सूत्र करते हैं —

सूत्र—जीवस्य ॥ ८ ॥

भाष्यम्—एकानिदस्य आकाशदेशः प्रदेशो मत्तधीति ॥

अर्थ—ज्ञान इन्द्रिय उदयोग परमाणुके क्षेत्रमें अन्तर्गत है । उन्हींके प्रदेशों

जीवके प्रदेश कितने हैं ? तो उनका भी प्रमाण असंख्यात ही है । जितने प्रदेश लोकाकाश और धर्म तथा अधर्म द्रव्यके हैं, उतने ही प्रदेश एक एक जीव द्रव्यके भी हैं ।

भावार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि धर्म और अधर्म द्रव्यके अनंतर पठित क्रमके अनुसार आकाश द्रव्यके प्रदेश बताने चाहिये, सो न बताकर उससे पहले जीव द्रव्यके प्रदेशोंको बतानेका क्या कारण है ? उत्तर—इस क्रम-भंगका कारण यह है, कि इसके द्वारा पहले समान संख्यावाले द्रव्यके प्रदेशोंको बता दिया जाय ।
प्रश्न—यदि यही बात है, तो एक योग करना ही उचित था—पूर्वसूत्रमें ही धर्म अधर्मके साथ एक जीव द्रव्यका भी पाठ कर देना चाहिये था, सो न करके पृथक् क्यों किया ?
 उत्तर—इसका कारण यह है, कि इस सामर्थ्यसे आचार्यका अभिप्राय जीव द्रव्यके एक संकोच विकास स्वभावको भी साथमें बतानेका है । अन्यथा यह भ्रम हो सकता था, कि धर्म अधर्मके समान जीव द्रव्यके प्रदेश भी सम्पूर्ण लोकमें सतत फैले हुए ही रहते होंगे । परन्तु यह बात नहीं है, धर्म और अधर्म द्रव्यके प्रदेश सतत लोकमें विस्तृत ही रहते हैं—जैसे हैं वैसे ही बने रहते हैं—न घटते हैं न बढ़ते हैं । किन्तु जीवके प्रदेश संकुचित और विस्तृत हुआ करते हैं । क्योंकि जीव शरीरप्रमाण रहा करता है । जब हाथीके शरीरमें जीव रहता है, तब उसके वे सम्पूर्ण प्रदेश हाथीके शरीरके बराबर हो जाते हैं, और जब जीव उस शरीरसे निकलकर चीटीके शरीरमें पहुँचता है, तब उसके वे ही सब प्रदेश संकुचित होकर चीटीके शरीरके आकार और प्रमाणमें हो जाते हैं । यदि चीटीके शरीरसे निकलकर हाथीके शरीरमें जाता है, तब वे ही प्रदेश विस्तृत होकर हाथीके शरीरप्रमाण हो जाते हैं । इसी तरह सम्पूर्ण जीवोंके विषयमें समझना चाहिये ।

कमानुसार आकाश द्रव्यके प्रदेशोंकी इयत्ता बताते हैंः—

सूत्र—आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—लोकालोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः । लोकाकाशस्य तु धर्माधर्मैकजीं वैस्तुल्याः ॥

अर्थ—सूत्रमें आकाश शब्दका सामान्यतया पाठ किया है । अतएव लोक या अलोक दोनोंके पृथक् पृथक् प्रदेशोंको न बताकर दोनोंके समुदायरूपमें ही बताते हैं, कि लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोंके मिलकर अनन्त प्रदेश है । यदि विभागकी अपेक्षा रखकर

१—समुद्रघात अवस्थामें शरीरके बाहर भी जीवके प्रदेश निकल जाते हैं । फिर भी जीवको शरीरप्रमाण ही कहा जाता है, क्योंकि समुद्रघातके अनंतर प्रदेशोंके संकुचित होकर शरीरप्रमाण हो जानेपर ही मरण हुआ करता है । २—यहाँपर अनन्त शब्दसे अक्षयानन्त राशि ही लेनी चाहिये ।

देवा जाय, तो लोकाशाशने प्रवेश धर्म द्रव्यके अथवा अधर्म द्रव्यके यद्वा एक जीव द्रव्यके प्रवेशोक्ती करावर है ।

भावार्थ—विशेष दृष्टिमे यदि देवा जाय, तो जीव और अजीव द्रव्यका आधारभूत लोकाशाश अस्यायान प्रवेशी है । अर्थात् बाकीरा अलोकाशाश अनन्त-अपर्यवमान है, क्योंकि अनन्तमेंम अमस्यायानके कम हो जानेपर भी अनन्त ही शेष रहते है । धर्म अधर्म एक जीव द्रव्य और लोकाशाश इन चारोंके प्रवेश विन्युक्त समान है, किन्ती भी न कुछ कम हैं न अधिक ।

क्रमानुसार पुद्गल द्रव्यके प्रदेशाती सरया बताते है—

सूत्र—सख्येयासरयेयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

भाष्यम्—सख्येया असख्येया अनन्ताश्च पुद्गलानां प्रदेशा भवन्ति । अनन्ता इति घटन ।

अर्थ—इस सूत्रमें परिसूत्रसे अनन्त शब्दकी अनुगुति आती है । अतएव हमरा आशय यह है, कि पुद्गल द्रव्यके प्रदेश सम्प्राप्त अमस्यायान और अनन्त हम तरह तीना ही प्रकारके होते हैं ।

भावार्थ—निममें पूर्ण गठन स्वभाव पाया जाय, उससे पुद्गल कहते हैं । इनकी परमाणुमे डेरत महान्द्रव्य पर्यन्त अनेक विभिन्न आम्पाण हैं । सरयात परमाणुओंत सख्य सम्प्राप्त प्रदेशी, असख्यत परमाणुआरा स्वयं असख्यत प्रदेशी, और अनन्त परमाणुअवका स्वयं अनन्त प्रदेशी कहा जाता है । यद्यपि सूत्रमें अनन्त प्रदेशिताय उल्लेख नहीं किया है, परन्तु च शब्दसे द्वारा परिसूत्रमे अनन्त शब्दका अनुवर्णन होता है ।

अणु और स्वयं इस तरह पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं । जब कि अणु भी पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि वह भी पूर्ण गठन स्वभावसे कारण करनेवाला है, तो पुद्गल द्रव्यके प्रसरणन उभों भी प्रदेशा बनाने चाहिये । किन्तु यहाँपर स्वयंके ही प्रदेशा बताये हैं । सो क्या अणुके प्रदेशा ही नहीं है ? यदि यही बात है, तब तो उससे असम्भव कहना चाहिये । यदि हैं तो कितने हैं ? सम्प्राप्त असम्प्राप्त और अनन्त प्रदेशोंके होनेपर वह अणु नहीं कहा जा सकता । किन्तु पुद्गल द्रव्यके प्रदेशा तब ही प्रसरते बताये हैं, सो तबनेमें मे क्या सिद्ध भी प्रसरके प्रदेशा नहीं माने जाते, तो अणुके पुद्गलद्रव्यके असम्प्राप्त प्रदेशा अणुके । उससे—अनेक द्रव्य सम्प्राप्त अणुके द्वारा निम प्रसरण घटित पुद्गलद्रव्य बनता है, उस प्रकार सम्प्राप्त नहीं है, । वह किम प्रसरण है, सो स्वयंके सिद्ध होत्र गते हैं—

सूत्र—नाणोः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—अणोः प्रदेशा न भवन्ति । अनादिरमध्योऽप्रदेशो हि परमाणुः ।

अर्थ—परमाणुके प्रदेश नहीं होते । उसके आदि मध्य और प्रदेश इनमेंसे कुछ भी नहीं है ।

भावार्थ—यहाँपर प्रदेशोंका जो निषेध किया है, सो द्रव्यरूप प्रदेशोंका ही है, तथा इसका भी अभिप्राय यह है, कि परमाणु स्वयं प्रदेशरूप है—एक प्रदेशवान् है, उसके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं है । अर्थात् द्वितीयादिक प्रदेशोंका ही निषेध है, न कि एक प्रदेशात्मकताका । इसी लिये उसके आदि और मध्यका भी निषेध किया है । क्योंकि जो अनेक प्रदेशी होगा उसीमें आदि मध्य विभाग हो सकते हैं । जो एक प्रदेशी है, वह अपना एक प्रदेश ही रखता है, फिर उसमें आदि मध्यका विभाग कैसे हो सकता है ?

धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य आकाशके समान आत्मप्रतिष्ठ—निराधार हैं, अथवा आधारकी अपेक्षा नहीं रखते हैं ? उत्तर—निश्चयनयमे सभी द्रव्य आत्मप्रतिष्ठ हैं,—आधारकी अपेक्षा नहीं रखते । अतएव धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य भी वास्तवमें अपने आधारपर ही स्थित हैं । किन्तु व्यवहारनयसे देखा जाय तो—

सूत्र—लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—अवगाहिनामवगाहो लोकाकाशे भवति ॥

अर्थ—प्रवेश करनेवाले पुद्गलादिकोंका अवगाह—प्रवेश लोकाकाशमें होता है ।

भावार्थ—कहींपर भी समा जानेको या स्थान-लाभ करनेको अवगाह कहते हैं, सभी द्रव्य लोकाकाशमें ठहरं हुए हैं । परन्तु उनका ठहरना दो प्रकारका है ।—सादि और अनादि । सामान्यतया सभी द्रव्य अनादिकालसे लोकाकाशमें ही समये हुए हैं । किन्तु विशेष दृष्टिसे जीव और पुद्गलका अवगाह सादि कहा जा सकता है । क्योंकि ये दोनों ही द्रव्य सक्रिय-गतिशील हैं, इनमें क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर हुआ करता है । अतएव इनका लोकाकाशके भीतर ही कभी कहीं और कभी कहीं अवगाह होता है । परन्तु धर्म अधर्म द्रव्य ऐसे नहीं हैं । वे नित्य-व्यापी हैं । अतएव उनका अवगाह सम्पूर्ण लोकमें सदा तदवस्थ रहता है—नित्य है ।

धर्मादिक द्रव्य लोकमें किस प्रकार व्याप्त है, और कितने भागमें व्याप्त हैं, यह बात सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इसी बातको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

भाष्यम्—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाहो भवतीति ॥

अर्थ—धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यका अवगाह पूर्ण लोकाकाशमें है ।

भावार्थ—अवगाह दो प्रकारसे सम्भव हो सकता है—एक तो पुरुषके मनकी तरह, दूसरा दूध पानीकी तरह । इनमेंसे दूध पानीकासा अवगाह प्रकृतमें अभीष्ट है, यह बात कृत्स्न शब्दके द्वारा बताई है । अथवा जिस प्रकार आत्मा शरीरमें व्याप्त होकर रहता है, उसी प्रकार धर्म अधर्म भी लोकाकाशमें व्याप्त होकर अनादिकालसे रह रहे हैं । ऐसा कोई भी लोकका प्रदेश नहीं है, जहाँपर धर्म या अधर्म द्रव्य न हो ।

पुद्गल द्रव्यके अवगाहका स्वरूप बताते हैं —

सूत्र—एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अप्रदेशसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां पुद्गलानामेकादिष्वाकाशप्रदेशेषु भाज्योऽवगाहः । भाज्यो विभाष्यो विकल्प्य इत्यनर्थान्तरम् । तद्यथा—परमाणोरिकस्मिन्नेव प्रदेशे, द्व्यणुकस्यैकस्मिन् द्वयोश्च । त्र्यणुकस्यैकस्मिन् त्र्योस्त्रिषु च, पञ्च चतुरणुकादीनां सरयेयासंख्येयप्रदेशस्यैकादिषु संख्येयेषु असंख्येयेषु च, अनन्तप्रदेशस्य च ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य चार प्रकारके हैं—अप्रदेश, संख्येयप्रदेश, असंख्येयप्रदेश और अनन्तप्रदेश । इनका लोकमें अवगाह जो होता है, सो एकसे लेकर संख्यात अथवा असंख्यात प्रदेशोंमें यथायोग्य समझ लेना चाहिये । भाज्य विभाष्य और विकल्प्य इन शब्दोंका एक ही अर्थ है, कि एकसे लेकर असंख्यात पर्यन्त जितने प्रदेशोंके भेद सम्भव हैं, और अप्रदेशसे लेकर अनन्त प्रदेशतक जितने स्वन्धोंके भेद सम्भव हैं, उनका यथायोग्य अवगाह अवगाहन समझ लेना चाहिये । यथा—जो परमाणु—अप्रदेश है, उसका अवगाह एक ही प्रदेशमें होता है, क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेशरूप ही है । अतएव उसका अवगाह दो आदिक प्रदेशोंमें नहीं हो सकता । द्व्यणुकका अवगाह एक प्रदेशमें भी हो सकता है, और दो प्रदेशोंमें भी हो सकता है । त्र्यणुकका अवगाह एक प्रदेशमें भी हो सकता है, दोमें भी हो सकता है और तीनमें भी हो सकता है । इसी प्रकार चतुरणुकादिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये । किन्तु इतनी विशेषता है, कि जो संख्यात या असंख्यात प्रदेशवाले स्वन्ध हैं, वे एकमे लेकर यथायोग्य संख्यात या असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाहन करते हैं, संख्यात प्रदेशी स्वन्ध असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाहन नहीं कर सकता है । अनन्त प्रदेशवाला स्वन्ध एकसे लेकर अमल्यात तक प्रदेशोंमें आ सकता है । वह अनन्त प्रदेशोंमें अवगाहन नहीं करता । क्योंकि लोकके प्रदेश असंख्यात ही हैं न कि अनन्त ।

भावार्थ—पुद्गल द्रव्यमें जो अणु द्रव्य है उनका एक ही प्रदेशमें, किन्तु स्वन्धोंका योग्यतानुसार एकसे लेकर असंख्यात तक प्रदेशोंमें अवगाहन हुआ करता है । इस विषयमें यह शक हो सकती है, कि एक प्रदेशमें संख्यात असंख्यात या अनन्त प्रदेशवाले स्वन्धोंका समावेश किस तरह हो सकता है । अथवा लोक जब असंख्यात प्रदेशी ही है, तब उसमें अनन्तानन्त

पुद्गल प्रभृति द्रव्य किम नरह मया सक्तं है । छोटे क्षेत्रमें अधिक प्रमाणवाली वस्तु कैसे आ सकती है । क्या एक घटमें सम्पूर्ण समुद्रोंका जल आ सकता है ! परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि परिणामन विशेषके हाथ ऐसा भी संभव हो सकता है, कि छोटे क्षेत्रमें अधिक प्रमाण-वाली वस्तु आ जाय । जैसे कि एक मन नट की चमटमें कई मन गेहूँ या पत्तार आ सकता है । अथवा एक ही कमरेमें अनेक दीपकोंका प्रकाश मया सकता है, उसी तरह प्रकृष्टमें भी समग्रता चाहिये ।

जीव द्रव्यका अवगाह कितने क्षेत्रमें होता है, सो बताते हैं:—

सूत्र—असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्—लोकाकाशप्रदेशानामसंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति, आ सर्वलोकादिति ॥

अर्थ—लोकाकाशों के जितने प्रदेश हैं, उनमें अमंन्यातवें भागोंमें लोका सम्पूर्ण लोक पर्यन्तमें जीवोंका अवगाह हुआ करता है ।

भावार्थ—यह कथन प्रत्येक जीवकी अपेक्षासे है । प्रत्येक जीवका अवगाह-क्षेत्र कमसे कम लोकका असंख्यातवाँ भाग और व्यापक से व्यापक सम्पूर्ण लोक तक हो सकता है । सूत्रमें “ जीवानाम् ” ऐसा बहुवचन जो दिया है, सो जीव अनन्त हैं, इसलिये दिया है । कोई एक जीव एक समयमें लोकके एक असंख्यातवें भागको रोक्ता है, तो वही जीव दूसरे समयमें अथवा कोई दूसरा जीव लोकके दो असंख्यातवें भागोंको रोक्ता है, कभी तीन चार आदि भागोंको या संख्येय भागोंको अथवा सम्पूर्ण लोकको भी रोक्ता है । सम्पूर्ण लोकमें व्याप्ति समुद्रातकी अपेक्षासे है । क्योंकि जब केवली भगवान् समुद्रात करते हैं, उस समय उनकी आत्माके प्रदेश कमसे दंड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण हुआ करते हैं^१ ।

भाष्यम्—अत्राह—का हेतुरसंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवतीति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जब कि जीवके प्रदेश लोकाकाशकी बराबर हैं, तब उसको भी धर्म द्रव्यकी तरह पूर्ण लोकमें ही रहना चाहिये । समान संख्यावाले प्रदेश जिन द्रव्योंके हों, उनके

१—क्योंकि अगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीरकी जघन्य अवगाहना मानी है ।

२—पहले दण्ड समुद्रातमें केंद्रीके प्रदेश ऊर्ध्व और अधो दिशाकी तरफ निरुलकर लोकके अन्ततक और विक्कम्भमे शरीर प्रमाण ही फैलकर दण्डान्तर परिणत होते हैं । दूसरे समयमें वे ही प्रदेश चौड़े होकर चातव-ल्यको छोड़कर लोकके अन्ततक जाकर कपाटके आकारमें बन जाते हैं । तीसरे समयमें वे ही प्रदेश चातवल्यके मिवाय पूर्ण लोकमें फैल जाते हैं, उसको प्रतर कहते हैं । चौथे समयमें जब वे ही प्रदेश फैलकर सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हो जाते हैं, तब लोकपूर्ण समुद्रात कहा जाता है । पीछे उसी कमसे चार ही समयमें संकुचित होते हैं, लोकपूर्णसे प्रतर, प्रतरसे कपाट, कपाटमें दण्ड, और दंडसे शरीरान्तर हो जाते हैं । आयुर्कर्मकी स्थितिके बराबर शेष कर्मोंकी स्थितिको करने के लिये यह समुद्रात होना है ।

क्षेत्रको विषम सख्यावाला क्यों होना चाहिये ? अतएव जीवका अवगाह लोकके असख्या तबें भाग आदिमें होता है, इसका क्या कारण है ?

सूत्र-प्रदेशसहारविसर्गाभ्या प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

भाष्यम्—जीवस्य हि प्रदेशाना सहारविसर्गाविष्टी प्रदीपस्येव । तद्यथा—तेलवत्यग्न्युपा-
दानवृद्ध प्रदीपो महतीमपि कूटागारशाला प्रकाशयत्यण्वीमपि । माणिकावृत माणिका द्रोणा
वृतो द्रोणमादकावृतआदक प्रस्थावृत प्रस्थ पाण्यावृत पाणिमिति । एवमेव प्रदेशाना सहार-
विसर्गाभ्या जीवो महान्तमणु वा पञ्चविध शरीरस्कन्ध धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवप्रदेशसमुदायं
व्याप्नोतीत्यवगाहत इत्यर्थः । धर्माधर्माकाशजीवाना परस्परेण पुद्गलेषु च वृत्तिर्न विरुध्यतेऽभू-
त्तत्वात् ।

अर्थ—दीपकके समान जीव द्रव्यके प्रदेशोंमें सहार और विसर्ग अर्थात् सकोच और
विस्तारका स्वभाव माना हैं, यही कारण है, कि उसका अवगाह लोकके असख्यातबें भाग
आदिमें भी हो सकता है ।

भावार्थ—तेल बत्ती और अग्निरूप उपादान कारणोंके द्वारा उत्पन्न और वृद्धिको प्राप्त
हुआ जो दीपक घरकी बड़ी बड़ी शालाओंको प्रकाशित करता है, वही छोटे छोटे कमरोंको भी
प्रकाशित करता है । मानीसे आभूत मानीको, द्रोणसे आच्छादित द्रोणको, आदकसे दका
हुआ आदक को, और प्रस्थसे आवृत प्रस्थ को, तथा हाथसे दका हुआ हाथ को प्रकाशित
करता है । इसी प्रकार जीव भी अपने प्रदेशोंके सहार विसर्ग—सकोच विस्तारके कारण मोटे
और छोटे पञ्चविध शरीर स्कन्धको व्याप्त किया करता है—धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और
जीवके प्रदेश समूहका अवगाहन किया करता है । धर्म अधर्म आकाश और जीव द्रव्य परस्पर-
में भी अवगाहन कर सकते हैं, और इन सबका अवगाह पुद्गलोंमें भी हो सकता है । इनकी
यह अवगाहवृत्ति विरुद्ध—प्रमाणवाधित या असंगत नहीं हैं, क्योंकि ये अमूर्त द्रव्य हैं ।

भावार्थः—जीवका स्वभाव ही ऐसा है, कि अवगाहके योग्य जितने बड़े शरीरानुसार
क्षेत्रको वह पाता है उतनेमें ही अवगाह कर लेता है । जब वह शरीर रहित हो जाता है, तब
उसका प्रमाण अन्त्य शरीरसे तीसरे भाग कम रहता है । किंतु सशरीर अवस्थामें असख्यातबें
भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकतन्त्रमें निमित्तके अनुसार व्याप्त हुआ करता है । कभी तो महान्
अवकाशको छोड़कर थोड़े अवकाशको सुवचित होकर घेरता है । और कभी थोड़े अवकाशको
छोड़कर महान् अवकाशको विमृत्त होकर घेरता है । जब यह अवकाशका प्रमाण लोकका
असख्यातबें भाग और उत्कृष्ट प्रमाण सम्पूर्ण लोक है । इसके मध्यकी अवस्थाएँ अनेक हैं ।

दीपकका दृष्टान्त जो लिया है, सो सकोचविस्तार स्वभावको दिखानेके लिये है, उसका
यह अभिप्राय नहीं है, कि जिस प्रकार दीपक सम्पूर्ण लोकको व्याप्त नहीं कर

सकता, उसी प्रकार आत्मा भी नहीं कर सकता, अथवा जिस प्रकार दीपक अनित्य है, उसीप्रकार आत्मा भी अनित्य है, इत्यादि । क्योंकि दृष्टान्तमें और दार्ष्टान्तमें सर्वथा समानता नहीं हो सकती । अन्यथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्तका भेद ही नहीं रह सकता । अथवा स्याद्वाद—सिद्धान्तके अनुसार दीपकादिक भी सर्वथा अनित्य ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता । जिस प्रकार आकाश सर्वथा नित्य नहीं है, उसी प्रकार दीपक सर्वथा अनित्य नहीं है । क्योंकि जैनधर्ममें सभी वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक मानी है ।

भाष्यम्—अत्राह—सति प्रदेशसंहारविसर्गसम्भवे कस्मादसंख्येयभागाविषु जीवानामवगाहो भवति नैकप्रदेशादिष्विति ? अत्रोच्यते—सयोगत्वात्संसारिणाम्, चरमशरीरत्रिभागहीनावगाहत्वाच्च सिद्धान्तमिति ॥

अर्थ—प्रश्न—जब कि जीव द्रव्यके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारका संभव है, फिर लोकके असंख्यातवें भागादिकमें ही उनके अवगाहका क्या कारण है ? एक प्रदेशादिकमें भी उनका—जीवोंका अवगाह क्यों नहीं हो सकता ? उत्तर—इसका कारण यह है, कि जितने संसारी जीव हैं वे, सब सयोग—शरीर हैं, और जो सिद्ध जीव हैं, वे चरम शरीरसे त्रिभागहीन अवगाहको धारण करनेवाले हैं ।

भावार्थ—जब जीवका स्वभाव संकुचित और विस्तृत होनेका है, और विस्तृत होकर लोकपर्यन्त विस्तृत हो भी जाता ही है, तो उसका संकोच भी अन्त्यपरिमाण—एक प्रदेशतक क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर—यह है, कि यद्यपि जीवमें संकुचित विस्तृत होनेका स्वभाव है, फिर भी उस स्वभावकी अभिव्यक्ति परनिमित्तसे ही हुआ करती है, और वह परनिमित्त पंचविध शरीर है । संसारी जीव इन शरीरोंसे आक्रान्त हैं । शरीरप्रमाण ही उसका अवगाह हो सकता है । शरीर पौद्गलिक होनेपर भी स्कन्धरूप है, वह एक दो तीन आदि प्रदेशोंमें नहीं रह सकता । वह कमसे कम अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्रमें ही रह सकता है । क्योंकि शरीरकी अवगाहनाका जघन्य प्रमाण अंगुलके असंख्यातवें भाग ही है । सिद्ध जीवोंका आकार जिस शरीरसे उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, उससे त्रिभाग कम रहता है । क्योंकि सिद्ध जीव कर्म और नोकर्मसे सर्वथा रहित है । फिर उनके लिये ऐसा कोई कारण शेष नहीं रहता, कि जिसके वश उनके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार हो सके, इसी लिये शरीरसे छूटते समय उनका जितना प्रमाण होता है, उतना ही तदवस्थ बना रहता है । बिना निमित्तके फिर संकोच विस्तार हो भी कैसे सकता है । अतएव जीवोंका अवगाह एक आदि प्रदेशोंमें नहीं, किंतु असंख्येय भागादिकमें ही संभव है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता धर्मादीनस्तिकायान् परस्ताल्लक्षणतो वक्ष्याम इति । तत् किमेषां लक्षणमिति ? अत्रोच्यते ॥

१—शरीरके भीतर जो पोलका भाग है, जिसमें कि वायु भरी रहती है, उतना भाग संकुचित होकर कम हो जाता है ।

अर्थ—प्रश्न—आपने पहले कहा था, कि धर्मादिक द्रव्योंका लक्षण आगे चलकर कहेंगे । सो अब कहिये कि उनका क्या लक्षण है ?

उत्तरः—

सूत्र—गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—गतिमता गते स्थितिमतां स्थितेरुपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारो यथा सद्वयम् । उपग्रहो निमित्तमपेक्षा कारणम् हेतुरित्यनर्थान्तरम् । उपकार प्रयोजन गुणोऽर्थ इत्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—गतिमान् पदार्थोंकी गतिमें और स्थितिमान् पदार्थोंकी स्थितिमें उपग्रह करना—निमित्त बनना—सहायता करना क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है । उपग्रह निमित्त अपेक्षा कारण और हेतु ये पर्यायवाचक शब्द हैं । तथा उपकार प्रयोजन गुण और अर्थ इन शब्दोंका एक ही अर्थ है ।

भावार्थ—जीव और पुद्गल द्रव्य गतिमान् हैं । जिस समय ये गमनरूप क्रियामें परिणत होते हैं, उस समय इनके उस परिणममें बाह्य निमित्त कारण धर्म द्रव्य हुआ करता है, और जिस समय ये स्थित होते हैं, उस समय इनकी स्थितिमें अधर्म द्रव्य बाह्य सहायक हुआ करता है । ये दोनों ही द्रव्य उदासीन कारण हैं, न कि प्रेरक । प्रेरणा करके किसी भी द्रव्यको ये न तो चलाते हैं, न ठहराते हैं । यदि ये प्रेरक कारण होते, तो बड़ी गड़बड़ उपस्थित होती । न तो कोई पदार्थ गमन ही कर सकता था, न ठहर ही सकता था । क्योंकि धर्म द्रव्य यदि गमन करनेके लिये प्रेरित करता, तो उसका प्रतिपक्षी अधर्म द्रव्य उन्हीं पदार्थोंको ठहरानेके लिये प्रेरित करता ।

इसी प्रकार यदि ये द्रव्य लोक मात्रमें व्याप्त न होते, तो युगपत् सम्पूर्ण लोकमें जो पदार्थोंका गमन और अवस्थान हुआ करता है, सो नहीं बन सकता था । तथा ये द्रव्य आजा शके समान अनन्त भी नहीं हैं । यदि अनन्त होते, तो लोक और अलोकका विभाग नहीं बन सकता था । तथा लोकज्ञ प्रमाण और आकार ठहर नहीं सकता था ।

धर्म और अधर्म द्रव्य अतीन्द्रिय हैं, फिर भी उनके उपकार प्रदर्शनके द्वारा आपने

१—गद परिणयान् धर्मो पुमलजीवाण गमणसहयारी । तोय जह मच्छाण अच्छणाण सो गेहे ॥ १८ ॥

२—ठाणनुदाय अधम्मो पुमलजीवाण ठाणसहयारी । छाया जह पहियाण मच्छन्ता गेव सो धरहे ॥ १९ ॥ (द्रव्यसंग्रह)

३—लोकलोकविभागी स्त लोकस्य सान्तत्वात् लोक सान्त मूर्तिमद्द्रव्योपचिन्त्वात् प्राप्तादादिवत् । इय भुमान परम्पराय लोकरी सान्तता और सान्त लोकके सिद्ध होनेसे लोकलोकका विभाग सिद्ध होता है । परन्तु लोकका सान्ततामें और उसके प्रमाण तथा आकारके बने रहनेमें कोई न कोई बाह्य निमित्त भी अवश्य चाहिये । वे ही धर्म और अधर्म द्रव्य हैं ।

उनका अस्तित्व जो बताया सो ठीक है । इसी प्रकार इनके अनन्तर जिसका पाठ किया है उस आकाशका भी उपकार क्या है, सो बताना चाहिये । अतएव सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

भाव्यम्—अवगाहिनां धर्माधर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकारः । धर्माधर्मयोरन्तः प्रवेशस्तस्मैवेन पुद्गलजीवानां संयोगविभागश्चेति ।

अर्थ—अवगाह करनेवाले धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य हैं । इनको अवगाह देना आकाशका उपकार है । इनमेंसे धर्म और अधर्म द्रव्यके अवगाहमें उपकार अन्तःप्रवेशके द्वारा किया करता है, और पुद्गल तथा जीवोंके अवगाहमें संयोग और विभागोंके द्वारा भी उपकार किया करता है ।

भावार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य पूर्ण लोकमें इस तरहसे सदा व्याप्त बने रहते हैं कि उनके प्रदेशोंका लोकाकाशके प्रदेशोंसे कभी भी विभाग नहीं होता । अतएव इनके अवगाहमें आकाश जो उपकार करता है, सो अन्तः अवकाश देकर करता है, किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्यमें यह बात नहीं है । क्योंकि ये अल्पक्षेत्र—असंख्येय भागको रोकते हैं, और क्रियावान् हैं ।—एक क्षेत्रसे हटकर दूसरे क्षेत्रमें पहुँचते हैं । अतएव इनके अवगाहमें संयोग विभागोंके द्वारा आकाश उपकार किया करता है । तथा अन्तः अवकाश देकर भी उपकार किया करता है । च शब्दके द्वारा जीव पुद्गलोंका उपकार दोनों प्रकारका होता है, यह सिद्ध किया है ।

यद्यपि “लोकाकाशेऽवगाहः” इस सूत्रमें आकाशका स्वरूप या लक्षण पहले बता चुके हैं, कि सम्पूर्ण पदार्थोंको अवगाह देना उसका कार्य है । अतएव पुनः यहाँ उसके बतानेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी यहाँपर उसके उल्लेख करनेका कारण है, और वह यह कि “लोकाकाशेऽवगाहः” इस सूत्रमें तो अवगाही पदार्थोंका प्राधान्य है, जिसका आशय यह है, कि जीव पुद्गलोंका अवगाह कहाँपर है? तो लोकाकाशमें । इससे यह सिद्ध नहीं होता, कि अवगाह स्वभाव आकाशका ही है । अतएव यही बात यहाँपर इस सूत्रके द्वारा बताई है, कि आकाशका स्वभाव पदार्थोंको अवगाह देना है, और यही उसका लक्षण है ।

बहुतसे लोग आकाशका लक्षण शब्द मानते हैं^१ । कोई प्रधानके विकारको आकाश कहते हैं^२ । परन्तु ये सभी कल्पनाएं मिथ्या हैं । शब्द पुद्गलकी पर्याय है, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा, और जैसा कि उसके गुण स्वभावसे सिद्ध होता है । शब्द यदि आकाशका गुण होता, तो इन्द्रिय द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता था, और न मूर्त पदार्थके द्वारा रुक सकता था । एवं न मूर्त पदार्थके द्वारा उत्पन्न ही हो सकता था । अतएव वह पुद्गलकी

ही पर्याय है । जो प्रधानका विकार मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य निरवयव और निष्क्रिय प्रधानका अनित्य सावयव और सक्रिय शब्दरूप परिणमन कैसे हो सकता है ।

यहाँपर यह शका भी हो सकती है, कि अवगाह द्विष्ट धर्म है । अतएव जिस प्रकार आकाशमें वह कहा जाता है, उसी प्रकार अवगाही जीव पुद्गलों में भी कहा जा सकता है, परन्तु यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँपर अवेयकी प्रधानता नहीं है, आधार ही की प्रधानता है । अतएव आकाशका ही लक्षण मानना उचित है ।

क्रमानुसार पुद्गल द्रव्यका उपकार बताते हैं —

सूत्र—शरीरवाह्मनः प्राणापाना पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

भाष्यम् । पञ्चविधानि शरीराण्योदारिकादीनि बाह्यमनः प्राणापानाविति पुद्गलानां उपकारः । तत्र शरीराणि यथोक्तानि । प्राणापानो च नामकमाणि व्याख्यातौ । द्वीन्द्रियादयो जिह्वेन्द्रियसंयोगात् भाषात्वेन गृह्णन्ति नान्ये, सन्निश्चयमनस्त्वेन गृह्णन्ति नान्ये इति । वक्ष्यते हि—“सकपायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति ॥

अर्थ—शरीर वचन मन और प्राणापान यह पुद्गल द्रव्यका उपकार है । औदारिक आदि शरीर पाँच प्रकारके हैं, इनका स्वरूप पहले बता चुके हैं । प्राणापानका नामकर्मके प्रकरणमें व्याख्यान किया है । द्वीन्द्रिय आदि जीव जिह्वा इन्द्रियके द्वारा भाषारूपसे पुद्गलोंको ग्रहण करते हैं, और दूसरा कोई ग्रहण नहीं करता । जो सज्ञी जीव हैं, वे मन रूपसे उनको ग्रहण करते हैं, और दूसरा कोई ग्रहण नहीं करता । यह बात आगे चलकर भी कहेंगे, कि स्रुपायताके कारणसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है ।

भावार्थ—पुद्गल स्कंधोंके सामान्यतया २२ भेद है । जिनमेंसे ५ भेद ऐसे हैं, जोकि खासकर जीवके ग्रहण करनेमें आते हैं । वे पाँच भेद दो भागोंमें विभक्त हैं कर्माणवर्गणा—और नोर्कर्मवर्गणा । जिनसे ज्ञानावरणादिक आठ कर्म बनते हैं, उनको कर्माणवर्गणा कहते हैं, जिनसे शरीर पर्याप्ति और प्राण बनते हैं, उनको नोर्कर्मवर्गणा कहते हैं । इसके चार भेद हैं—आहारवर्गणा भाषावर्गणा मनोवर्गणा और तैजसवर्गणा । कर्माणवर्गणाओंको योगमें प्रवृत्त स्रुपाय जीव ग्रहण किया करता है, यह बात आगे चलकर लिखेंगे । शरीरके योग्य पुद्गल वर्गणाओंका ग्रहण सप्तरी जीवमात्रके हुआ करता है । प्राणापान पर्याप्त जीवोंमें ही पाया जाता है । भाषावर्गणाका ग्रहण द्वीन्द्रियादिक जीव ही किया करते हैं । जिससे हृदयस्थ अष्टदल कमलके आकारका द्रव्य मन बना करता है, उन मनोवर्गणाओंका ग्रहण सज्ञी जीवों ही हुआ करता है । इन कर्म और नोर्कर्मोंके

१—अमृगं सन्दीपं खेदकत्वं यथा समादत्ते । आदाय शरीरतया परिणमयति चायं तत्सहम् । तद्वत् शरीराणि स्वयोगवत्साम्यदीप आदत्ते । स्कन्धानादाय तथा परिणमयति तांश्च कर्मतया ॥ १—नोर्कर्मके विषय में औदारिक वैश्विक और आहारक इन तीन ही कर्मोंकी प्रधानता है । वे तर्जनी शरीर और प्राणापान आहार वर्गणके द्वारा बना करते हैं ।

ऊपर ही संसारके कार्यमात्र निर्भर है, और इनकी सिद्धि पुद्गल द्रव्यसे ही होती है। अतएव यह पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। यहाँपर उपकारका मतलब कारणपना बतानेका है। परन्तु धर्मादिककी तरह पुद्गल द्रव्य उदासीन कारण नहीं है, प्रेरक भी है।

भाष्यम्—किञ्चान्यत्—

अर्थ—ऊपर जो पुद्गल द्रव्यका उपकार बताया है, उसके सिवाय और भी उसके उपकार है। अर्थात् शरीरादिकके सिवाय और और आकार या प्रकारके द्वारा भी पुद्गल द्रव्य निमित्त बना करता है। किस किस प्रकारसे बनता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

भाष्यम्—सुखोपग्रहो दुःखोपग्रहो जीवितोपग्रहश्च मरणोपग्रहश्चेति पुद्गलानामुपकारः। तद्यथा—इष्टाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः सुखस्योपकाराः। अनिष्टा दुःखस्य। स्थानाच्छादनानुलेपनभोजनादीनि विधिप्रयुक्तानि जीवितस्यानपवर्तनं चायुष्कस्य। विषयशस्त्राग्न्यादीनि मरणस्य, अपवर्तनं चायुष्कस्य।

अर्थ—सुखमें निमित्त बनना, दुःखमें निमित्त बनना, जीवनमें निमित्त बनना, और मरणमें निमित्त बनना यह सब भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। यथा—इष्ट रूप स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द सुखके निमित्त है। ये ही विषय यदि अनिष्ट हों, तो दुःखके निमित्त हुआ करते हैं। विधिपूर्वक जिनका सेवन किया गया है, ऐसे स्नान आच्छादन अनुलेपन और भोजन आदि जीवनके निमित्त हैं, और आयुका अनपवर्तन भी उसका निमित्त है। इसी प्रकार विषय शस्त्र अग्नि आदि पदार्थ और आयुका अपवर्तन मरणका निमित्त है।

भावार्थ—संसारमें कोई भी पदार्थ इष्ट ही हो, या अनिष्ट ही हो यह बात नहीं है। एक ही पदार्थ किसीको इष्ट प्रतीत होता है, तो किसीको अनिष्ट। अथवा किसी एक व्यक्तिको जो पदार्थ कभी इष्ट मालूम होता है, उसीको वही पदार्थ कालान्तरमें अनिष्ट भी प्रतीत होता है। अतएव यह निश्चय है, कि स्वभावसे कोई भी पदार्थ न इष्ट है, और न अनिष्ट। जो पदार्थ रागके विषयभूत हुआ करते हैं, उनको इष्ट कहते हैं, और जो द्वेषके विषय हुआ करते हैं उनको अनिष्ट कहते हैं। यही कारण है, कि जीवके ग्रहणमें आनेवाले पाँचों ही इन्द्रियोंके विषय—स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इष्ट और अनिष्ट दोनों ही प्रकारके माने हैं, तथा बताये हैं, और क्रमसे सुख तथा दुःखके निमित्त कहे गये हैं।

यदि स्नानादिका विधिपूर्वक सेवन न किया जाय, तो वे ही कदाचित् अपायके कारण भी हो जाते हैं, परन्तु देश काल मात्रा और अपनी प्रकृतिके अनुरूप जो स्नान भोजन गमन शयन

आसन आदि किया जाता है, वह प्राण-धारणमें उपकारी होता है, और इसीलिये वह जीवनका निमित्त बनता है। आयुर्कर्मकी लम्बी स्थितिका विष शस्त्र अग्नि-प्रहार मन्त्र-प्रयोग आदिके द्वारा कम हो जानेको अपवर्तन कहते हैं। जिस आयुका बन्धनी विशेषताके कारण अपवर्तन नहीं हो सकता, वह भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। एव च जिसका अपवर्तन हो सकता है, उसमें भी पुद्गलका ही उपकार है। जीवनमें जो सहायक है, उनसे विरुद्ध स्वभाव रखनेवाले पुद्गल मरणके उपकारक समझने चाहिये।

पहले सूत्रमें शरीरादिके द्वारा पुद्गल द्रव्यका उपकार बताया है, और इस सूत्रमें सुखादिके द्वारा बताया है। इस प्रकार विभाग करनेका कारण यह है, कि सुखादिकमें कर्मके उदय की अपेक्षा है, और शरीरादिकमें पुद्गलोंके ग्रहणमात्रकी अपेक्षा है। जैसे कि सुखमें साता वेदनीयकर्मके उदयकी ओर दुःखमें असातावेदनीयकर्मके उदयकी अपेक्षा है। जीवनमें आयुर्कर्मके उदयकी ओर मरणमें उसके अभावकी अपेक्षा है।

भाष्यम्—अत्राह—उपपन्न तावदेतत् सोपक्रमाणापवर्तनीयायुषाम् । अयानपवर्त्या-
शुभा कथमिति । अत्रोच्यते—तेषामपि जीवितमरणोपग्रह पुद्गलानामुपकारः । कथमिति
चेत् तदुच्यते—कर्मण स्थितिक्षयाभ्याम् । कर्म हि पौद्गलमिति । आहारश्च त्रिविध स्वेपा
मेवोपकुर्वते । किं कारणम् ? शरीरस्थित्युपचयबलवृद्धिर्भीत्यर्थं श्लाहार इति ॥

अर्थ—प्रश्न—जिनके आयुर्कर्मका अनशन अथवा रोग आदिकी बाधासे अपक्षय होता हो, या अन्य किन्हीं कारणोंसे अपवर्तन होता हो, उनके लिये पुद्गल द्रव्यका उपकार माना जाय, यह तो ठीक है, परन्तु जिनकी आयु अनपवर्त्य है, ऐसे देव नारक चरमशरीरी उत्तम पुरुष और भोग भूमियोंके जीवन और मरणमें पुद्गलका उपकार किस तरह माना जा सकता है ? उत्तर—जो अनपवर्त्य आयुके धारक हैं, उनके जीवन और मरणमें भी पुद्गल द्रव्यका उपकार है।

प्रश्न—जब उनकी आयु न बढ़ सकती है, और न घट सकती है, फिर पुद्गल द्रव्य उसमें क्या उपकार करते हैं ? उत्तर—कर्मकी स्थिति और क्षयके द्वारा उनके भी पुद्गल उपकार किया करते हैं। क्योंकि ज्ञानावरणादिक सभी कर्म पौद्गलिक हैं। आयुर्कर्म भी पौद्गलिक ही है। देवादिकोंका जीवन मरण कर्मके उदय और क्षयकी अपेक्षासे ही हुआ करता है। अतएव उनके

१—टीकाकारने विभागका कारण यही दिया है। यथा—“सुखादीनामुदयापेक्षत्वात् प्राचानां ग्रहणमात्र विपर्ययात् ।” परन्तु यह हेतु हमारी समझमें ठीक नहीं आया, क्योंकि कर्मका उदय दोनोंमें ही निमित्त है। सुखादिक में यदि वेदनीयादिके उदयकी अपेक्षा है तो शरीर योग्य पुद्गलोंके ग्रहणमें भी शरीरनामकम और बधन सपातादिके उदयकी अपेक्षा है। श्लेश्वातिकाकार श्रीविश्वनाथ आचार्य ने इस विभागका कारण ऐसा बताया है, कि शरीरादिकमें पुद्गलविभागी कर्मोंके उदयका अभाव है और सुखादिकमें जब विभागी कर्मोंकी अपेक्षा है, तथा आयुर्कर्मको भी उन्होंने कर्षविन् जीवविभागी माना है।

भी पुद्गलोंका उपकार सिद्ध है। इसके सिवाय तीन प्रकारका आहार जो माना है, वह तो प्राणिमात्रके लिये उपकारक है। इसका कारण? कारण यह है, कि शरीरकी स्थिति रक्षा और वृद्धि तथा बलकी वृद्धि और प्रीति आदि आहारके द्वारा ही सिद्ध हुआ करते हैं।

भाषार्थ—वास्तवमें जीव अमूर्त है, और इसीलिये अदृश्य है। संसारी जीवोंका एक क्षेत्रावगाह कर्मनोकर्मरूप पुद्गलके माथ हो रहा है, और उसके निमित्तसे ही सब कार्य होते हैं। संसारी प्राणियोंको सुख दुःखका अनुभव जो होता है, वह भी पुद्गलश्रित ही है, क्योंकि उनको जो सुख अथवा दुःख होता है वह कर्मजनित और संन्द्रिय तथा शरीराधीन होता है न कि आत्मसमुत्थ। सुखादिके होनेमें अन्तरङ्ग कारण कर्मोदय और बाह्य कारण नोकर्म तथा तीन प्रकारका आहार प्रभृति है। अतएव सुखादिकमें भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार मानना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—गृह्णीमस्तावद्धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवद्रव्याणामुपकुर्वन्तीति। अथ जीवानां क उपकार इति? अत्रोच्यते।—

अर्थ—प्रश्न—धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल जीवोंका उपकार करते हैं, यह बात समझे, परन्तु जीव द्रव्य किस तरह उपकार करते हैं? वे दूसरे जीवोंका ही उपकार करते हैं, या क्या? अथवा धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल निरन्तर पर पदार्थोंका अनुग्रह करते हैं सो समझे। सभी धर्मादिक द्रव्य जीवोंका उपकार करते हैं, धर्म अधर्म और आकाश पुद्गल द्रव्यका उपकार करते हैं, आकाश द्रव्य धर्म अधर्म और पुद्गलका उपकारक है। इस प्रकार ये द्रव्य पर पदार्थोंका जो अनुग्रह करते हैं, सो हमारी समझमें आया, परन्तु जीव द्रव्य क्या उपकार करता है सो अभीतक नहीं मालूम हुआ। अतएव उसीको कहिये कि उसका क्या उपकार है? उत्तर—

सूत्र—परस्परपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—परस्परस्य हितहितोपदेशाभ्यामुपग्रहो जीवानामिति ॥

अर्थ—जीवोंका उपकार परस्परमें—एक दूसरेके लिये हित और अहितका उपदेश देनेके द्वारा हुआ करता है।

१—ओज—आहार लोमाहार और प्रक्षेपाहार। जिस तरह धीमें पडा हुआ पूरा मद्य तरफसे धीको खींचता है, उसी प्रकार गत्यन्तरसे गर्भमें आया हुआ जीव अपर्याप्त अवस्था और जन्मकालमें सभी प्रदेशोंके द्वारा शरीर योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है, इसको ओज—आहार कहते हैं। पर्याप्त अवस्थामें त्वगिन्द्रियके द्वारा जो ग्रहण होता है, उसको लोमाहार कहते हैं। ग्रास लेकर जो भोजनरूपसे ग्रहण होता है, उसको कवलाहार या प्रक्षेपाहार कहते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें छह प्रकारका आहार माना है।—नोऋम आहार, कर्म आहार, कवलाहार, लेप्याहार ओज—आहार, और मानस—आहार। यथा—णोऋम कम्महारो, कवलाहारो य लेप्पमाहारो। ओजमणोविद्य कमलो, आहारोऽब्धिहोणेओ ॥ २—स्थितिका अर्थ अवस्थान, रक्षाका अर्थ बाधक कारणोंकी निवृत्ति, वृद्धिका अर्थ आरोहण—बढ़ना है, उपचयका अर्थ माम मज्जाका पोषण, बलका अर्थ उत्साह शक्ति, प्राणका अर्थ सामर्थ्य, और प्रीतिका अर्थ मानसिक प्रसन्नता है।

भावार्थ—भविष्यमें और वर्तमानमें जो शक्य है, युक्त है और न्याय्य है, उसको हित समझना चाहिये, और जो इसके विपरीत है, उसको अहित समझना चाहिये । प्रत्येक जीव परस्परको हितहितका उपदेश देकर अनुग्रह किया करता है । जैसा उपदेशके द्वारा जीवोंका उपकार होता है, वैसा धनदानादिके द्वारा नहीं हो सकता । अतएव उसीको यहाँ पर मुख्यतया उपकाररूपसे बताया है । यहाँपर उपकारका अर्थ निमित्त है, इसलिये अहितोपदेश अथवा अहितानुष्ठानको भी यहाँ उपकार शब्दसे ही कहा है । पहले यद्यपि उपयोग जीवका लक्षण बताया जा चुका है, परन्तु वह अन्तरङ्ग लक्षण है, और यह परस्परोपकारिता उसका बाह्य लक्षण है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथ कालस्योपकार इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पचास्ति कायरूप धर्मादिक द्रव्योंका उपकार क्या है, सो मालूम हुआ । परन्तु अकार्यरूप जो काल द्रव्य माना है, उसका अभीतक उपकार नहीं बताया । अतएव कहिये कि उसका क्या उपकार है ?

भावार्थ—अभीतक सूत्रद्वारा निम्नका उद्देश्य किया गया है, वे धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव ये पाँच ही द्रव्य हैं । जबकि काळको अभीतक द्रव्यरूपसे बताया ही नहीं है, तब उसके उपकारके विषयमें प्रश्न करना युक्तिसंगत कैसे कहा जा सकता है । यह ठीक है, परन्तु आगे चलकर “कालश्च” ऐसा सूत्र भी कहेंगे । उस सूत्रके द्वारा जिसका उद्देश्य किया जायगा उस कालका जबतक असाधारण लक्षण या उपकार नहीं बताया जाय, तबतक यह नहीं मालूम हो सकता, कि वह धर्मादिकमें ही अन्तर्भूत है, अथवा पदार्थान्तर है । और इसी लिये यह प्रश्न किया गया है, कि कालका क्या उपकार है ? उत्तर —

सूत्र—वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

भाष्यम्—तद्यथा—सर्वमायानां वर्तना कालाभ्या धृतिः । धतना उत्पत्तिः, स्थितिरप्य गतिः प्रथमसमयाभ्येत्यर्थः । परिणामो द्विविधः—अनाविरादिमांश्च । तं परस्ताद् ध्यायाम । क्रिया गतिः सा त्रिविधा—प्रयोगगति विभ्रसागति मिधिकेति । परत्वापरत्वे द्विविधे—प्रदोसाकृते, क्षेप्रकृते, कालकृते इति । तत्र प्रदोसाकृते परो धम पर हानमपरोऽधम अपरमहानमिति । क्षेप्रकृते एकविंशकालापरिचयतयोर्विप्रकृष्टं परो भवति, ससिद्धोऽपरः । कालकृते द्विरष्टवर्षाद् वर्षशक्तिः परोभवति, षषदातिकाद्द्विरष्टवर्षाऽपरो भवति । तत्रेयं प्रदोसाक्षेप्रकृते परत्वापरत्वं वजयित्वा वर्तनादीनि कालकृतानि कालस्योपकार इति ॥

अर्थ—जो कार्यरत द्वारा अनुमानमें मिद्ध है, और जिसका उद्देश्य आगे चलकर किया जायगा, उस कालका उपकार वर्तना परिणाम क्रिया और परत्वापरत्व है । यह इस प्रकारमें है, कि—प्रथम समयमें आश्रयमें होनेवाली गति स्थिति उत्पत्ति और वर्तना ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । पहले आश्रयमें सम्पूर्ण पदार्थोंका

जो वर्तन होता है, उसको वर्तना कहते हैं। परिणाम दो प्रकारका है—अनादि और आदिमान्। इसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा। क्रिया शब्दसे यहाँपर गति ली गई है। वह तीन प्रकार की है—प्रयोगगति, विस्त्रसागति, और मिश्रगति। परत्वापरत्व तीन प्रकारका है—प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत, और कालकृत। धर्म महान् है, ज्ञान महान् है, अधर्म निकृष्ट है, अज्ञान निकृष्ट है, इसी प्रकारसे किसी भी वस्तुकी प्रशंसा या निन्दा करनेको प्रशंसाकृत परत्वापरत्व समझना चाहिये। एक समयमें एक ही दिशामें ठहरे हुए दो पदार्थोंमेंसे जो दूरवर्ती है, उसको पर कहा जाता है, और जो निकटवर्ती है, उसको अपर कहा जाता है। इसका नाम क्षेत्रकृत परत्वापरत्व है। सोलह वर्षकी उमरवालेसे सौ वर्षकी उमर वाला पर—बड़ा कहा जाता है, और सौ वर्षकी उमरवालेसे सोलह वर्षकी उमरवाला अपर—छोटा समझा जाता है। इसीको कालकृत परत्वापरत्व कहते हैं। इनमेंसे प्रशंसाकृत और क्षेत्रकृत परत्वापरत्वको छोड़कर बाकीका कालकृत परत्वापरत्व और वर्तना परिणाम तथा क्रिया यह सब कालद्रव्यका उपकार है।

भावार्थ—सभी पदार्थ अपने अपने स्वभावके अनुसार वर्त रहे हैं, और सदा वर्तते हैं। किंतु इसको वर्तानेवाला काल द्रव्य है। कालकी यह प्रयोजक शक्ति ही वर्तना शब्दके द्वारा यहाँ बताई है। किन्तु धर्मादिक द्रव्य जिस तरह उदासीन कारण माने हैं, उसी प्रकार काल द्रव्य भी उदासीन प्रयोजक है। किन्तु पदार्थोंके वर्तनमें वह बाह्य निमित्त कारण है अवश्य। यदि काल कारण न माना जायगा, तो बड़ी गड़बड़ उपस्थित होगी। क्योंकि हर एक पदार्थके क्रमभावी परिणामन युगपत् उपस्थित होंगे। अन्तरङ्ग और कालके सिवाय बाकी सब बाह्य कारणोंके मिल जानेपर फिर कौन ऐसी शक्ति है, कि जो भविष्य परिणमनोंको नहीं होने देती। अतएव काल भी एक कारणभूत द्रव्य मानना पड़ता है।

वर्तना आदिक कालके उपकार है—असाधारण लक्षण है। क्योंकि यदि काल न हो, तो द्रव्योंका वर्तन ही नहीं हो सकता, और न उनका परिणामन हो सकता, न गति हो सकती और न परत्वापरत्वका व्यवहार ही बन सकता है।

भात बनानेके लिये चावलोंको बटलोईमें डाल दिया, बटलोईमें पानी भरा हुआ है, नीचे अग्नि जल रही है, इत्यादि सभी कारणोंके मिल जानेपर भी पाक प्रथम क्षणमें ही सिद्ध नहीं होता, योग्य समय लेकर ही सम्पन्न हुआ करता है। फिर भी यदि प्रथम क्षणमें भी उस पाकका कुछ भी अंश सिद्ध हुआ नहीं माना जायगा, तो द्वितीयादिक क्षणोंमें भी वह नहीं माना जा

१—वर्तन्ते पदार्थाः, तेषां वर्तयिता कालः। स्वयमेव वर्तमाना पदार्था वर्तन्ते यथा सा कालाश्रया प्रयोजिका वृत्तिः वर्तना। वृत्तयतो. “प्याश्रयोयुच्” (पा० अ० ३ पाद ३ सूत्र १०७) इत्युच। अथवा वृत्तिवर्तनशीलता अनुदात्तेतश्च हलादे.” (पा० अ० ३ पाद २ सूत्र १४९) इत्युच। अर्थात्—प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्णीतैक समयस्वसत्ताभूतिः वर्तना।

सकता । अतएव पाककी वृत्ति—वर्तना प्रथम क्षणसे ही होती है । इसी लिये वर्तनाको प्रथम समयाश्रया कहा है । इसी प्रकार प्रतिक्षणकी वर्तनाके विषयमें समझना चाहिये । क्षणवर्ती पर्याय या परिवर्तन इतना सूक्ष्म है, कि वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, और इसी लिये उसके आकार आदिका कोई वर्णन भी नहीं कर सकता, जैसा कि पहले कहा भी जा चुका है, किन्तु स्थूल परिवर्तनको देखकर उसका अनुमान होता है । वह अनुमानागम्य परिवर्तन अपनी सत्ताका अनुभव करनेमें एक ही क्षण लगाता है । अतएव वर्तनाको अन्तर्नीतैकसमया कहा है ।

कोई कोई कहते हैं, कि वस्तुक्रिया अथवा पदार्थोंका वर्तन सूर्यकी गतिके आधीन है । उसीसे काल नामका सम्पूर्ण व्यवहार सिद्ध होता है । कालनामका कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है । सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सूर्यकी गतिक्रियामें भी कालकी ही अपेक्षा है । अन्यथा उसका भी प्रतिसमय परिवर्तन क्रमसे नहीं हो सकता । इसके सिवाय अहाँपर सूर्यकी गति क्रिया नहीं पाई जाती, ऐसे स्वर्गादिकोंमें कालकृत व्यवहार किसतरह सिद्ध होगा ? अतएव काल भी एक द्रव्य मानना ही चाहिये ।

परिणामका स्वरूप आगे चलकर “तद्भाव परिणाम ” इस सूत्रके प्रसङ्गमें कहेंगे । उसके सादि और अनादि में दोनों तथा तीनों प्रकारकी गतिमें और कालकृत परत्वापरत्वमें जो कालकी अपेक्षा पड़ती है, वह स्पष्ट ही है । अतएव उसके विषयमें विशेष आगम-अर्थोसे जानना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता शरीरादीनि पुद्गलानामुपकार इति । पुद्गला इति च तन्त्रान्तरीया जीवान् परिभाषन्ते । स्पर्शादिरहिताश्चान्ये । तत्कथमेतदिति ? अत्रोच्यते—
एतदादिप्रतिपत्तिप्रतिषेधार्थं विशेषवचनविवक्षयाचेदमुच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने शरीरादिक पुद्गल द्रव्यके उपकार हैं, ऐसा कहा है, परन्तु किन्तने ही मत-वाले पुद्गल शब्दसे जीवको कहते हैं । उनके मतमें जीव और पुद्गल दो स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं । या यों कहिये कि जिस प्रकारका जीव द्रव्य उपयोग लक्षणवाला पुद्गलसे भिन्न आपने माना है, वैसा वे नहीं मानते । इसके सिवाय किसी किसीके मतमें जीव और पुद्गल दो माने तो हैं, परन्तु उन्होंने पुद्गलोंमें स्पर्शादि गुणोंसे रहित भी माना है* । अतएव कहिये कि यह किस प्रकारसे है ? पुद्गलका स्वरूप कैसा माना जाय ? उत्तर—तुमने जिस विप्रतिपत्तिका उल्लेख किया है, उसका और उसी तरहकी और भी जो विप्रतिपत्ति इस विषयमें हैं, उन सभ्य निषेध करनेके लिये और पुद्गल द्रव्यका विशेषतया स्वरूप बतानेकी इच्छासे ही आगेका सूत्र किया जाता है—

*—यद्यप्यप्यादी नास्तिक अथवा बाह्यस्थसिद्धान्तवाले । २—विशेषितोंने पृथ्वी आदिको क्रमसे चार गुण तीन गुण दो गुण और एक गुणवाले माना है ।

सूत्र—स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

भाष्यम्—स्पर्शः रसः गन्धः वर्ण इत्येवंलक्षणा पुद्गला भवन्ति । तत्र स्पर्शोऽष्टविधः—कठिनो मृदुर्गुरुर्लघुः शीत उष्णः स्निग्धो रूक्ष इति । रसः पञ्चविधः—तिक्तः कटुः कषायोऽम्लो मधुर इति । गन्धो द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च । वर्णः पञ्चविधः—कृष्णो नीलो लोहितः पीतः शुक्ल इति ॥

अर्थ—सभी पुद्गल स्पर्श रस गन्ध वर्णवान् हुआ करते हैं । कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है, कि जिसमें इन चारोंमेंसे एक भी गुण न पाया जाता हो । अतएव यह पुद्गल द्रव्यका लक्षण समझना चाहिये । जिसमें यह लक्षण नहीं पाया जाता, उसको पुद्गल भी नहीं कह सकते । जीवमें यह लक्षण नहीं रहता, अतएव जीव और पुद्गल दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं ।

इन चार गुणोंके उत्तरभेद अनेक है, फिर भी उन सबका जिनमें अन्तर्भाव हो सकता है, ऐसे मूलभेद इस प्रकार हैंः—स्पर्श आठ प्रकारका है, कठिन मृदु (कोमल) गुरु (भारी) लघु (हलका) शीत उष्ण स्निग्ध (चिकना) रूक्ष (रूखा) । रस पाँच प्रकारका है—तिक्त (चरपरा) कटु (कड़ुआ) कषाय (कसेला) अम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा) । गंध दो प्रकारकी है—सुरभि (सुगंध) और (असुरभि) दुर्गंध । वर्ण पाँच प्रकारका है—कृष्ण नील रक्त पीत और शुक्ल । इस प्रकार चार गुणोंके २० भेद अथवा पर्याय है । हर एक समयमें इनसे से चारों गुणोंके यथासम्भव भेद प्रत्येक पुद्गल द्रव्यमें पाये जाते हैं । कठिनादिक भेदोंका अर्थ प्रसिद्ध है, अतएव उसके यहाँ बतानेकी आवश्यकता नहीं है ।

भाष्यम्—किञ्चान्यत्—

अर्थ—पुद्गल द्रव्यके गुण ऊपर जो बताये हैं, उनके सिवाय उसके और भी धर्म प्रसिद्ध हैं । उन्हींकी अपेक्षासे सूत्र करते हैंः—

सूत्र—शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योत- वन्तश्च ॥ २४ ॥

भाष्यम्—तत्र शब्दः षड्विधः—ततो विततो घनः शुषिरः संघषा भाषा इति । बन्ध-
स्त्रिविधः—प्रयोगबन्धो विस्रसाबन्धो मिश्रबन्ध इति । स्निग्धरूक्षत्वाद् भवतीति वक्ष्यते ।
सौक्ष्म्यं द्विविधं—अन्त्यमापेक्षिकं च । अन्त्यं परमाणुष्वेव, आपेक्षिकं च द्व्यणुकादिषु सङ्घा-
तपरिणामापेक्षम् भवति । तद्यथा—आमलकाद् बदरमिति । स्थौल्यमपि द्विविधम्—अन्त्य-
मापेक्षिकं च । संघातपरिणामापेक्षमेव भवति । तत्रान्त्यम् सर्वलोकव्यापिनि महास्कन्धे
भवति, आपेक्षिकं बदरादिभ्य आमलकादिष्विति । संस्थानमनेकविधम्—दीर्घह्रस्वाद्यनित्यं
न्त्वपर्यन्तम् । भेदः पञ्चविधः—औत्कारिकः चौर्णिकः खण्डः प्रतरः अनुतट इति । तमश्छा-
यातपोद्योताश्च परिणामजाः । सर्व एवैते स्पर्शादयः पुद्गलेष्वेव भवन्तीत्यतः पुद्गलास्तद्वन्तः ।

अर्थ—शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्यौल्य सस्थान भेद तत्र छाया आतप और उद्योत ये दश भी पुद्गल द्रव्यके ही धर्म हैं । शब्दादिवक्ता स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है—निसके द्वारा अर्थका प्रतिपादन हो, अथवा जो धनिरूप परिणत हो, उसको शब्द कहते हैं । सामान्यतया यह छह प्रकारका होता है—तत् वितत धन शुषिर सवर्ष और भाषा । मृदङ्ग भेरी आदि चर्मके वाद्यों द्वारा उत्पन्न हुए शब्दको तत् कहते हैं । सितार सारङ्गी आदि तारके निमित्तसे बजनेवाले वाद्योंके शब्दको वितत कहते हैं । मजीरा झालर घटा आदि कासेके शब्दको धन कहते हैं । बोन शख आदि फूक अथवा वायुके निमित्तसे बजनेवाले वाद्योंके शब्दको शुषिर कहते हैं । काष्ठा दिके परम्पर सद्व्याप्तसे होनेवाले शब्दको सद्वर्ष कहते हैं । वर्ण पट वाक्य रूपसे व्यक्त अक्षर रूप मुखद्वारा बोले हुए शब्दको भाषा कहते हैं ।

अनेक पदार्थोंका एक क्षेत्रावगाहरूपमें परस्पर सम्बन्ध हो जानेको बन्ध कहते हैं । यह तीन प्रकारका है—प्रयोगबन्ध वित्तसाबन्ध और मिश्रबन्ध । जीवके व्यापारसे होनेवाले बन्धको प्रायोगिक कहते हैं, जैसे कि औद्योगिक शरीरवाली बन मत्तियोंके काष्ठ और लाखना हो जाया करता है । जो प्रयोगकी अपेक्षा न करके स्वभावसे ही हो, उसको वित्तसाबन्ध कहते हैं । यह दो प्रकारका हुआ करता है—सादि और अनादि । बिमली में ३ द्रव्यपुष्पादिके रूपमें परिणत होनेवालोंकी सादि वित्तसाबन्ध कहते हैं । धर्म अधर्म आकाशका जो बन्ध है, उसको अनादि वित्तसाबन्ध कहते हैं । जीवके प्रयोगका साहचर्य रखकर अचेतन द्रव्यका जो परिणमन होता है, उसको मिश्रबन्ध कहते हैं, जैसे कि स्तम्भ कुम्भ आदि ।

सूक्ष्मताका अर्थ पतंगपन या लघुता आदि है । यह दो प्रकारका होता है, अन्त्य और आपेक्षिक । परमाणुओंमें अन्त्य सूक्ष्मता पाई जाती है और द्रव्यणुकादिमें आपेक्षिक सूक्ष्मता रहती है । आपेक्षिक सूक्ष्मता सत्रातरूप चक्रोंके परिणमनकी अपेक्षासे हुआ करती है, जैसे कि आमड़ेकी अपेक्षा बन्सीफूलमें सूक्ष्मता पाई जाती है । अतएव यह सूक्ष्मता अनेक भेदरूप है ।

स्थूलताका अर्थ मोटापन अथवा गुरुता है । इसके भी दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक । आपेक्षिक स्थूलता सद्व्याप्तरूप पुद्गल स्थलोंके परिणमन विशेषकी अपेक्षामें ही हुआ करती है । अन्त्य स्थूलता सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाले महास्थूलमें रहा करती है, और आपेक्षिक स्थूलता अपेक्षाकृत होती है, जैसे कि बन्सीफूलकी अपेक्षा आमड़ेमें स्थूलता पाई जाती है । अतएव सूक्ष्मताके समान इसके भी बहुत भेद हैं ।

१—हिन्दी भी दो शब्दोंका साध्यधमन् बन्ध पदका अर्थ नहीं मिलता नहीं है । तब पुनः उक्त का प्रयोग है अतएव हममें यह बन्ध नहीं प्रत्यक्ष करना चाहिये । जैसा कि टीकाकारने भी लिखा है ।

संस्थान नाम आकृतिका है । यह दो प्रकारकी है—आत्मपरिग्रह और अनात्म-परिग्रह । आत्मपरिग्रह संस्थान अनेक प्रकारका है । यथा—पृथिवीकायिक जीवोंके शरीरका आकार मसूर अन्नके समान हुआ करता है^१ । जलकायिक जीवोंके शरीरका आकार जल-विन्दुके समान होता है । अग्निकायिक जीवोंके शरीरका आकार सूचीकलापके समान हुआ करता है । वायुकायिक जीवोंके शरीरका आकार पताकाके समान होता है । और वनस्पति-कायिक जीवोंके शरीरका आकार कोई निश्चित नहीं होता । अतएव उसको अनित्यभूत कहते हैं । द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंके शरीरका आकार हुंडक होता है । पञ्चेन्द्रिय जीवोंके शरीरका आकार संस्थाननामकर्मके उदयके अनुसार छह प्रकारका हुआ करता है ।—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुञ्जक, वामन और हुण्डक^२ ।

अनात्मपरिग्रह आकार भी अनेक प्रकारका है—गोल त्रिकोण चतुष्कोण आदि । सामान्यतया पुद्गलके आकार दीर्घ ह्रस्वसे लेकर अनित्यन्त्व पर्यन्त बहु भेदरूप है । तथा उनके उत्तरभेद भी अनेक हैं । उनका यथासम्भव अन्तर्भाव मूल भेदों में कर लेना चाहिये ।

भेद शब्दका अर्थ विश्लेष है । परस्परमें संयुक्त हुए अनेक पदार्थोंके पृथक् पृथक् हो जानेको भेद कहते हैं । यह पाँच प्रकारका होता है—औत्कारिक—चौर्णिक—खण्ड—प्रतर—अणुचटन । लकड़ी वगैरहके चीरनेसे या किसीके आघातसे जो भेद होता है, उसको औत्कारिक कहते हैं । गेहूँ वगैरहको दलने या पीसनेसे जो भेद होता है, उसको चौर्णिक कहते हैं । मट्टी वगैरहको फोड़कर जो भेद किया जाता है, उसको खण्ड कहते हैं । मेघपटलकी तरह बिखरकर भेद हो जानेको प्रतर कहते हैं, और ईख वगैरह या फल वगैरहके ऊपरसे छिल का उतार कर भेद करनेको अणुचटन कहते हैं ।

प्रकाशके विरोधी और दृष्टिका प्रतिबन्ध करनेवाले पुद्गल परिणामको तम—अन्धकार कहते हैं । किसी भी वस्तुमें अन्य वस्तुकी आकृतिके अंकित हो जानेको छाया कहते हैं । यह दो प्रकार की हुआ करती है—प्रकाशके आवरणरूप और प्रतिबिम्बरूप । जिसकी प्रभा उष्ण हो, ऐसे प्रकाशको आतप कहते हैं । जिसकी प्रभा ठंडी—आल्हादक हो, उसको उद्योत कहते हैं^३ ।

१—मसूराम्बुपृषत् सूचीकलापञ्चजसंनिभाः । धरासेजो मस्तकायाः नानाकारास्तस्मिन्साः ॥ ५, ७ ॥ -तत्त्वार्थ-सार २—जिस शरीरके आद्गोपाद्ग किसी नियत आकार और नियत परिमाणमें न हों । ३—छह संस्थानोका लक्षण इस प्रकार है—“तुलं वित्यडवहुलं, उस्सेह वहुं च मडहकोटं च । हिङ्गिकाय मडहं, सब्बत्थासंठियं हुंडं ॥” जिसके आद्गोपाद्ग सामुद्रिक—शास्त्रके अनुसार यथाप्रमाण हो, उसको समचतुरस्र कहते हैं । जो ऊपरसे भारी नीचे हलका हो उसको न्यग्रोधपरिमण्डल कहते हैं । जो ऊपर हलका नीचे भारी हो, उसको स्वाति कहते हैं । जिसकी पीठपर कुछ भाग निकला हो, उसको कुञ्जक कहते हैं । लघु शरीरको वामन कहते हैं । जिसका आकार अनियत हो, उसको हुंडक कहते हैं । ४—मल्लुहपहा आभी आदावो होदि ज्हसहियपहा । आडच्चे तेरिन्चे उण्णपहावो उज्जोवो ॥

तम छाया आतप और उद्योत पुद्गल द्रव्यके परिणमन विशेषके द्वारा ही निपन्न हुआ करते हैं। अतएव ये भी उसीके घर्म हैं। न भिन्न द्रव्य हैं, और न भिन्न द्रव्यके, परिणाम है। शब्दादिकके समान ये भी पुद्गल ही है, क्योंकि उक्त स्पर्शादिक सभी गुण पुद्गलोंमें ही रहा करते हैं, और इसीलिये पुद्गलोंको तद्वान्-रूप रस गन्ध स्पर्शवान् कहा गया है।

भावार्थ—रूपादिक पुद्गलके लक्षण हैं। जो जो पुद्गल होते हैं, वे वे रूपादिवान् अवश्य होते हैं, और जो जो रूपादिवान् होते हैं, वे वे पुद्गल हुआ करते हैं। अतएव शब्दादिक या तम आदिकको भी पुद्गलका ही परिणाम बताया है। क्योंकि इन विषयोंमें अनेक मतवालोंका मतभेद है। कोई शब्दको आकाशका गुण, कोई विज्ञानका परिणाम, और कोई ब्रह्मका विवर्त मानते हैं। किन्तु यह सब कल्पना मिथ्या है। न्याय-शास्त्रोंमें इस विषयपर अच्छी तरह विचार किया है। शब्द मूर्त है, यह बात युक्ति अनुभव और आगमके द्वारा सिद्ध है। यदि वह आकाशका गुण होता, तो नित्य व्यापक होता, और मूर्त इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता था, न दीवाल आदि मूर्त पदार्थोंके द्वारा रूक सकता था। इससे और आगमके कथनसे सिद्ध है, कि शब्द अमूर्त आकाशका गुण नहीं, किन्तु मूर्त पुद्गलका ही परिणाम है।

इसी प्रकार तमके विषयमें भी मतभेद है। कोई कोई तमको द्रव्यरूप न मानकर अभावरूप मानते हैं। सो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार तमको प्रकाशके अभावरूप कहा जा सकता है, उसी प्रकार प्रकाशको तमके अभावरूप कहा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है, कि तुच्छाभाव कोई प्रमाणसिद्ध विषय नहीं है। अतएव प्रकाशके अभावरूप भी यदि माना जाय, तो भी किसी न किसी वस्तुस्वरूप ही उसको कहा जा सकता है। उसके नील वर्णको देखनेसे प्रत्यक्ष द्वारा ही उसकी पुद्गल परिणामता सिद्ध होती है। अतएव तम भी पुद्गलका ही परिणाम है, यह बात सिद्ध है। इसी प्रकार अन्य परिणमनोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—किमर्थं स्पर्शादीनां शब्दादीनां च पृथक् सूत्रकरणमिति ! अत्रोच्यते—स्पर्शादियं परमाणुषु स्कन्धेषु च परिणामजा पृथक् भवन्ति । शब्दादयस्तु स्कन्धेष्वेव भयन्त्यनेकानिमित्ताश्चेत्यतः पृथक् करणम् ॥ त एते पुद्गलासमासतो द्विविधा भवन्ति ॥ तद्यथा—

अर्थ—प्रश्न—स्पर्शादि गुणोंसे युक्त पुद्गलोंको, और शब्दादि रूपमें परिणत होने वाले पुद्गलोंको पृथक् पृथक् सूत्रके द्वारा बतानेका क्या कारण है? अर्थात् दोनों विषयोंका उद्देश

१—आजुल लोकमें भी देखा जाता है, कि वादकी गति इच्छानुसार चाहे विपरको की जा सकती है, और आवश्यकता मयवा निमित्तके अनुसार उसको रोक कर भी रक्खा जा सकता है। जैस कि प्रमोकोनकी चूनीमें चाहे जैसा शब्द रोककर रख सकते हैं, और उसको चाहे जरा धक्का कर सकते हैं। टेढ़ीप्राम या बायरलेख-वे सरके सारके द्वारा इच्छित दिशा और स्थानकी तरफ उसकी गति भी हो सकती है।

करनेवाला यदि एक ही सूत्र कर दिया जाता, तो क्या हानि थी ? अथवा एक सूत्र न करके पृथक् पृथक् सूत्र करनेमें क्या लाभ है ? उत्तर—स्पर्शादिक गुण परमाणुओंमें और स्कन्धोंमें दोनोंमें ही रहा करते हैं, परन्तु वे अनेक प्रकारके परिणमनोंकी उत्पत्तिके अनुसार ही प्रादुर्भूत हुआ करते हैं । किन्तु शब्दादिक स्कन्धों में ही रहा करते हैं, परमाणुओंमें नहीं रहते । तथा इनकी प्रादुर्भूति अनेक निमित्तोंसे हुआ करती है । अर्थात् शब्दादिक द्व्यणुकादिक स्कन्धोंमें न होकर अनन्त परमाणुओंके स्कन्धोंमें ही रहा करते हैं, और अनेक निमित्तोंसे उनकी प्रादुर्भूति हुआ करती है । इस भेदको दिखानेके लिये ही पृथग्योग किया है—मिन्न मिन्न दो सूत्र किये हैं । उक्त सूत्रोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी पुद्गल संक्षेपमें दो प्रकारके हैं । वे दो भेद कौनसे हैं, सो बतानेके लिये सूत्र करते हैंः—

सूत्र—अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

भाष्यम्—उक्तं च—“कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसगन्धवर्णो द्विःस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥” इति तत्राणवोऽव्यङ्गाः, स्कन्धास्तु वद्वा एवेति ॥

अर्थ—पुद्गल दो प्रकारके हैं—अणु और स्कन्ध । अणुका लक्षण पूर्वाचार्योंने इस प्रकार किया है—“कारणमेव तदन्त्यम्” इत्यादि । अर्थात् वस्तु दो भागोंमें विभक्त हो सकती है—कारणरूपमें और कार्यरूपमें । जिसके होनेपर ही किसीकी उत्पत्ति हो, और न होनेपर नहीं ही हो, उसको कारण कहते हैं, और जो इसके विपरीत है, उसको कार्य कहते हैं । तदनुसार परमाणु कारणरूप ही है; क्योंकि उसके होनेपर ही स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं । यदि परमाणु न हो, तो स्कन्ध—रचना नहीं हो सकती है । किन्तु परमाणुसे छोटा और भाग नहीं होता । अतएव परमाणु कारण द्रव्य ही है, और द्व्यणुकसे लेकर अचित्त महास्कन्ध पर्यन्त जितने भेद हैं, वे सब कार्य द्रव्य हैं । परमाणु सबसे अन्त्य है । परमाणुके अनन्तर और कोई भेद नहीं होता । वह इतना सूक्ष्म है, कि हम लोग उसको आगमके द्वारा ही जान सकते हैं । उसके आकारका कभी विनाश नहीं होता, न वह स्वयं कभी नष्ट होता है, द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे उसका आकार तदवस्थ रहता है, अतएव उसको नित्य माना है, उससे छोटा और कुछ भी नहीं होता, इसलिये उसको परमाणु कहते हैं । उक्त पाँच प्रकारके रसोंमेंसे कोई भी एक प्रकारका रस, दो प्रकारके गन्ध में से

१—दिग्ध्वर—सम्प्रदायमें परमाणुको कार्यरूप भी माना है । क्योंकि स्कन्धोंके भेदसे उसकी उत्पत्ति होती है । उससे स्कन्ध होते हैं, इसलिये कारणरूप भी है । यथा—“स्कन्धस्यारम्भका यद्वदणवस्तद्वदेव हि । स्कन्धोऽणूना भिदारम्भनियमस्यानभीक्षणात् ॥” परमाणूना कारणद्रव्यत्वनियमादसिद्धमेवेति चेन्न तेषा कार्यत्वस्यापि सिद्धे । ... नहि स्कन्धस्यारम्भकाः परमाणवो न पुनः परमाणोः स्कन्ध इतिनियमो दृश्यते । तस्यापि भिद्यमानस्य सूक्ष्मद्रव्यजनकत्वदर्शनात् भिद्यमानपर्यन्तस्य परमाणुजनकत्वसिद्धे ॥” (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक) । इस बातको टीकाकार सिद्धसेनगर्णीने भी स्वीकार किया है । “भेदादणु” इस सूत्रकी टीकामें लिखा है, कि द्रव्यनय और पर्यायनयसे कोई विरोध नहीं है ।

कौनसी भी एक गन्ध, पाँच प्रकारके वर्णमेंसे कोई भी एक वर्ण, और शेष चार प्रकारके स्पर्शोंमेंसे दो प्रकारके स्पर्श—शीत उष्णमेंसे एक और स्निग्ध रूक्षमेंसे एक, ये गुण उस परमाणुमें रहा करते हैं । हमारी दृष्टिके विषय होनेवाले जितने भी स्थूल कार्य हैं, उनको देखकर उसका बोध होता है, क्योंकि यदि परमाणु न होते, तो इन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती थी । अतएव कार्यको देखकर कारणका अनुमान होता है । परमाणु अनुमेय है, और उसके कार्य छिन्न साधन है । इसी लिये परमाणुको काय-रिंग कहा है ।

पुद्गलके इन दो भेदोंमेंसे जो अणु है, वे अवद्ध हुआ करते हैं, वे परस्परमें असंश्लिष्ट रहा करते हैं । जब उन परमाणुओंका सङ्गेश होकर सघात बन जाता है, तब उसको स्कन्ध कहा करते हैं । स्कन्ध भी दो प्रकारके हैं—बादर और सूक्ष्म । बादर स्कन्धोंमें आठों प्रकारका ही स्पर्श रहा करता है, परन्तु सूक्ष्म स्कन्धोंमें उक्त चार प्रकारका ही स्पर्श रहता है ।

भाष्यम्—अत्राह—कथं पुनरेतद् द्वेविध्यं भवतीति ? अत्रोच्यते—स्कन्धास्तावत्—

अर्थ—प्रश्न—जब सभी पुद्गल द्रव्यपनेकी अपेक्षा समान हैं, तब उनमें ये दो भेद—परमाणु और स्कन्ध होते किस कारण से हैं ? उत्तर—इसका कारण यह है, कि इनमें से जो स्कन्धरूप पुद्गल हैं वे—

सूत्र—सघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भाष्यम्—सङ्घाताद् भेदात् सङ्घातभेदादित्येतेभ्यस्त्वभ्यं कारणेभ्यं स्कन्धा उत्पद्यन्ते द्विप्रदेशावयं । तथा—द्वयो परमाण्वो सङ्घातात् द्विप्रदेश, द्विप्रदेशस्याणोश्च सङ्घातात् त्रिप्रदेश, पञ्च सत्त्वयानामसंख्येयानां च प्रदेशानां सङ्घातात् तावत्प्रदेशा । एषामेव भेदात् द्विप्रदेशपर्यन्ता । एत एव च सघातभेदाभ्यामेकसामाधिक्या द्विप्रदेशावयं स्कन्धा उत्पद्यन्ते । अन्यसघातेनान्यतो भेदेनेति ॥

अर्थ—स्कन्धोंकी उत्पत्तिमें तीन कारण हैं—सङ्घात भेद और सघातभेद । इन तीन कारणोंसे द्विप्रदेशादिक स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है । यथा—दो परमाणुओंके सङ्घातसे द्विप्रदेश स्कन्ध उत्पन्न होता है, द्विप्रदेश स्कन्ध और अणुके सङ्घातसे त्रिप्रदेशस्कन्ध उत्पन्न होता है । इसी प्रकार सख्यात या असख्यात प्रदेशोंके सघातसे उतने ही प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न हुआ करते हैं । इसी प्रकार भेदके विषयमें समझना चाहिये । बड़े स्कन्धका भेद होकर छोटा स्कन्ध उत्पन्न होता है, और इस तरहसे भेदके द्वारा सबसे छोटे द्विप्रदेश स्कन्ध पर्यन्त उत्पन्न हुआ करते हैं । कभी कभी एक ही समयमें सघात

१—स्पर्श गुणके ८ भेद बताये हैं । उनमेंसे ४ सत्पर्यायरूप हैं और ४ आपेक्षिक हैं । जो सत्पर्यायरूप हैं उनमेंसे—शीत उष्ण स्निग्ध रूक्षमेंसे अविच्छेद दो धर्म युगपत् परमाणुमें रहते हैं, और जो आपेक्षिक धर्म हैं उनकी कोई विवक्षा नहीं है । इल्लम भारी नरम कठार ये चार धर्म अपेक्षाकृत हैं, परमाणुमें ये नहीं रहते ।

२—एकशब्द समानार्थ । तथा—“तेनैकदिक्” (पा अ ४ पा ३ सूत्र ११२)

और भेद दोनोंके मिल जानेसे—संयुक्त कारणके द्वारा द्विप्रदेशादिक स्कन्धोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। क्योंकि कभी कभी ऐसा भी होता है, कि एक तरफसे भेद होता है, और उसी समयमें दूसरी तरफसे संघात भी होता है इस तरह एक ही समयमें दोनों कारणोंके मिल जानेसे जो स्कंध बनते हैं, वे संघात भेद मिश्रकारणजन्य कहे जाते हैं।

भाष्यम्—अत्राह—अथ परमाणुः कथमुत्पद्यते इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने स्कन्धोंकी उत्पत्ति किस तरह होती है, सो बताई परन्तु परमाणुके विषयमें अभीतक कुछ भी नहीं कहा। अतएव कहिये कि उनकी उत्पत्ति किस तरहसे होती है ? जिन कारणोंसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति बताई, उन्हीं कारणोंसे परमाणुओंकी भी उत्पत्ति होती है, अथवा किसी अन्य प्रकारसे होती है ? उत्तर—

सूत्र—भेदादणुः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—भेदादेव परमाणुस्तपद्यते, न सङ्घातादिति ॥

अर्थ—स्कन्धोंकी उत्पत्तिके लिये तीन कारण जो बताये हैं, उनमेंसे परमाणुकी उत्पत्ति भेदसे ही होती है, न कि सङ्घातसे।

भावार्थ—पहले परमाणुको कारणरूप ही कहा है। परन्तु वह कथन द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे है। पर्यायनयकी अपेक्षासे वह कार्यरूप भी होता है। क्योंकि उसकी द्व्यणुकादिकसे भेद होकर उत्पत्ति भी होती है। अतएव इसमें कोई भी पूर्वापर विरोध न समझना चाहिये। जब द्व्यणुकका भेद होकर दोनों परमाणु जुड़े जुड़े होते हैं, तब पहली अवस्था नष्ट होती है, और परमाणुरूप दूसरी अवस्था प्रकट होती है। उस अवस्थान्तरको किसीन किसी कारणसे जन्य अवश्य ही मानना पड़ेगा, उसका कारण भेद ही है। नियमरूप अर्थ पृथक् सूत्र करनेसे ही सिद्ध होता है।

“संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते” इस सूत्रमें स्कन्धोंकी उत्पत्तिके जो तीन कारण बताये, सो ठीक, परन्तु स्कन्ध दो प्रकारके होते हैं—चाक्षुष और अचाक्षुष। दोनों ही प्रकारके स्कन्धोंकी कारणता समान है, अथवा उसमें कुछ अन्तर है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। अचाक्षुषास्तु यथोक्ताव सङ्घातात् भेदात् सङ्घातभेदाच्चेति ॥

अर्थ—दो प्रकारके स्कन्धोंमेंसे जो चाक्षुष है, वे भेद और संघात दोनोंसे निष्पन्न होते हैं। बाकीके जो अचाक्षुष है, वे पूर्वोक्त तीनों ही कारणोंसे उत्पन्न होते हैं—संघातसे होते, भेदसे होते, और संघातभेदके मिश्रसे भी होते हैं।

भावार्थ—जो चक्षुरिन्द्रियके विषय हो सकते हैं, उनको चाक्षुष कहते हैं। जो जो भेद और सघातसे उत्पन्न होते हैं, वे सब चाक्षुष ही होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि अनन्तानन्त परमाणुओंके संयोगविशेषसे बद्ध होकर बननेवाले ऐसे अचाक्षुष स्कन्ध भी हुआ करते हैं, जिनकी कि उत्पत्ति भेद और सघात दोनोंसे ही हुआ करती है। अतएव नियम यह है, कि स्वतः ही परिणमन विशेषके द्वारा चाक्षुषत्वरूप परिमाण मन करनेवाले जो बादर स्कन्ध हैं, वे भेदसघातसे ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि सूक्ष्मरूप परिणत अचाक्षुष स्कन्धमेंसे जब कुछ परमाणु मिला होकर निकल जाते हैं, और कुछ नवीन आकर मिलते हैं, तभी परिणति विशेषके द्वारा वह सूक्ष्मतासे उपरत होकर स्पृष्टताको धारण किया करता है। बन्धनकी विशेषता स्निग्ध रूक्ष गुणके अविभागाप्रतिच्छेदोंके तारतम्यके अनुसार हुआ करती है। जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

भाष्यम्—अत्राह—धर्मादीनि सन्तीति कथं गृह्यत इति ! अत्रोच्यते—लक्षणतः । किञ्च सतो लक्षणमिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पहले आपने धर्मादिक द्रव्योंका उल्लेख किया है, और उनका उपकार बताकर पुद्गलके भेद तथा स्कन्धोंकी उत्पत्तिके कारण भी बताये हैं। परन्तु अभीतक यह नहीं मालूम हुआ, कि उनकी सत्ताका ग्रहण कैसे हो ? अर्थात्—धर्मादिक द्रव्य हैं, यह कैसे मालूम हो ? अथवा प्रत्येक द्रव्यका उपकार बताकर विशेष लक्षण तो बताया, परन्तु अभीतक सब द्रव्योंमें व्याप्त होकर रहनेवाला सामान्य लक्षण नहीं बताया, सो कहिये कि वह क्या है ? यद्वा धर्मादिक द्रव्य सत्तामात्र हैं ? या विकारमात्र हैं ? अथवा उभयरूप हैं ? मतलब यह कि धर्मादिक द्रव्योंका सामान्य सत् स्वरूप कैसे मालूम हो ? उत्तर—लक्षणके द्वारा उसका परिज्ञान हो सकता है। प्रश्न—यदि यही बात है। तो उस लक्षण को ही कहिये कि जिसके द्वारा सामान्य सत् स्वरूपका बोध हो सक्ता हो। अर्थात् द्रव्यमात्रमें व्याप्त सामान्य सत्का बोधक लक्षण क्या है, सो ही कहिये। उत्तर—

सूत्र—उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत् ॥ २९ ॥

भाष्यम्—उत्पादव्ययौ धौव्य च सतो लक्षणम् । यद्विह मनुष्यत्वादिना पर्यायेण द्ययत्त आत्मनो वेद्यत्वादिना पर्यायेणोत्पाद एकान्तधौव्ये आत्मनि तत्तथैकस्वभावतयाऽवस्थाभेदानुपपत्तेः । एव च ससारापधर्गमेवाभाव । कल्पितत्वेऽस्य निस्वभावतयानुपलब्धिप्रसङ्गात् । सस्वभावत्वेत्येकान्तधौव्याभावस्तस्यैव तथा भवनादिति । तत्तत्स्वभावतयाविरोधाभावाच्चयोपलब्धिसिद्धेः । तद्विभ्रान्तत्वे प्रमाणाभावः । योगिज्ञानप्रमाणाभ्युपगमे त्विभ्रान्तस्तद्व्यवस्थाभेदः । इत्थं चैतत् । अन्यथा न मनुष्यादेर्वैवत्वादीति । एव यमादिपालनानर्थक्यम् । एव च सति “अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिमहा यमा” “शौचसतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधा

नानि नियमाः” इति आगमवचनं वचनमात्रम् । एवमेकान्ताऽध्रौव्येऽपि सर्वथातदभावापत्तेः-
तत्त्वतोऽहेतुकत्वमेवावस्थान्तरमिति सर्वदा तद्भावाभावप्रसङ्गः अहेतुकत्वाविशेषात् । न हेतु
स्वभावतयोर्ध्वं तद्भावः तत्स्वभावतयैकान्तेन ध्रौव्यसिद्धेः । यदा हि हेतोरेवासौस्वभावो
यत्तदनन्तरं तद्भावस्तदा ध्रुवोऽन्वयस्तस्यैव तथाभवनात् । एवं च तुल्योन्नामावनामवन्देत्तु-
फलयोर्युगपद्व्ययोत्पादसिद्धिरन्यथा तत्तद्वातिरिक्ततरविकल्पाभ्यामयोगात् । तन्न । मनुष्या
देर्देवत्वमित्यायातं मार्गवैफल्यमागमस्येति । एवं सम्यग्दृष्टिः सम्यक्संकल्पः सम्यग्वाक् सम्यग्-
मार्गः सम्यगार्जवः सम्यग्व्यायामः सम्यक्संस्मृतिः सम्यक्समाधिरिति वार्गवैयर्थ्यम् । एवं घट
व्ययवत्या मृदःकपालोत्पादभावात् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति । एकान्तध्रौव्ये तत्तथैकस्वभाव
तयावस्थाभेदानुपपत्तेः । समानं पूर्वेण । एवमेतद्वचनहारतः तथा मनुष्यादिस्थितिद्रव्यमधिकृ-
त्यदर्शितम् निश्चयतस्तु प्रतिसमयमुत्पादादिमत्तया भेदसिद्धेः अन्यथातदयोगात् यथाहः—

सर्वव्यक्तियु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।

सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥ १ ॥

नरकादिगतिविभेदो भेदः संसारमोक्षयोश्चैव ।

हिंसादिस्तद्धेतुः सम्यक्त्वादिश्च मुख्य इति ॥ २ ॥

उत्पादादियुते खलु वस्तुन्येतदुपपद्यते सवम् ।

तद्रहिते तदभावात् सर्वमपि न युज्यते नीत्या ॥ ३ ॥

निरुपादानो न भवत्युत्पादो नापि तादवस्थ्येऽस्य ।

तद्विक्रियाऽपि तथा त्रितययुतेऽस्मिन् भवत्येषः ॥ ४ ॥

सिद्धत्वेनोत्पादो व्ययोऽस्य संसारभावतो ज्ञेयः ।

जीवत्वेन ध्रौव्यं त्रितययुतं सर्वमेवं तु ॥ ५ ॥

अर्थ—सत्का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य है । अर्थात् जिसमें ये तीनों बातें पाई
जाँय, उसको सत् समझना चाहिये । जैसा कि देखनेमें भी आता है, कि जिस आत्माका मनु-
ष्यत्वकी अपेक्षासे व्यय होता है, उसीका देवत्व आदि पर्यायकी अपेक्षासे उत्पाद हुआ
करता है । इससे सिद्ध है, कि प्रत्येक वस्तुमें व्यय उत्पाद और ध्रौव्य हर समय
पाया जाता है । आत्मत्वका ध्रौव्य मनुष्यत्वका व्यय और देवत्वका उत्पाद
तीनोंका समय एक ही है । अतएव सत्का लक्षण ही उत्पाद व्यय और ध्रौव्य है । यदि
आत्मामें एकान्तरूपसे ध्रौव्य ही माना जायगा तो, जो उसका स्वभाव है, उस एक स्वभावमें ही
वह सदा स्थित रह सकता है, उसकी अवस्थामें भेद नहीं हो सकता, और अवस्थामें भेद हुए
बिना संसार और मोक्षका भेद भी नहीं बन सकता । यदि इस भेदको कल्पित माना जायगा, तो
जीवको निःस्वभाव ही कहना पड़ेगा । क्योंकि संसार और मोक्ष ये जीवके ही तो स्वभाव है । जब
इन स्वभावोंको या इनके भेदको कल्पित कहा जायगा तो, स्वभाववान्—जीवको भी कल्पित—

१—यह भाष्यका व्याख्यान श्रीहरिभद्रसूरिकी वृत्तिमें है, सिद्धसेनगर्णिकी व्याख्यामें नहीं । क्योंकि
इस सूत्रके भाष्यका पाठ दो तरहसे पाया जाता है । इस भाष्यका कुछ पाठ सिद्धसेनकी वृत्तिमें भी मिलता
है, तथा भाष्यके आदि वाक्यके पाठमें कुछ कुछ अंतर भी मिलते हैं, परन्तु उसके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है ।

नि स्वभाव ही कहना पड़ेगा । जीवके नि स्वभाव माननेपर उसकी उपलब्धिका भी अभाव मानना पड़ेगा । यदि जीवको सत्स्वभाव मानोगे तो, एकान्तरूपसे उसका ध्रौव्य स्वभाव ही नहीं बन सकता । क्योंकि जीव ही तो अपने स्वभावके अनुसार तत्तत् अवस्थारूप हुआ करता है—ससार और मोक्षरूप परिणत हुआ करता है । उस उस स्वभावके द्वारा जीवकी उपलब्धि होनेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उस उस प्रकारसे उपलब्धिका होना सिद्ध है । यदि उसको भ्रान्त कहा जाय, तो इसके कोई प्रमाण नहीं है । योगिज्ञानके प्रमाण माननेपर तो जीवकी अवस्थाका यह भेद भी अभ्रान्त ही मानना पड़ेगा । अतएव वह अवस्थारूप भेद अभ्रान्त ही सिद्ध होता है, और इसी प्रकार मानना चाहिये । अथवा मनुष्य आदि पर्यायोंसे देवत्व आदि पर्यायका धारण नहीं बन सकता, और इसी लिये यम नियमादिका पालन करना भी निरर्थक ही ठहरता है, और इनके निरर्थक सिद्ध होनेपर औगमके ये वचन भी वचनमात्र ही ठहरते हैं ।—व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं कि—“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा ।” “शौचसतोपतप स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः” । अर्थात् अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनको यम कहते हैं, और शौच सतोप तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इनको नियम कहते हैं । यदि वस्तु ध्रौव्य स्वरूप ही है, ऐसा माना जाय तो, आत्माकी अवस्थासे अवस्थान्तर तो हो ही नहीं सकती, फिर इन यम नियमरूप कारणोंका उल्लेख किस लिये है ? अतएव सिद्ध है, कि आत्मा ध्रौव्यस्वरूप ही नहीं है । पर्यायस्वरूप—उत्पाद व्ययात्मक भी है । अतएव देव मनुष्य सिद्ध ससारी आदि अवस्थाओंका होना भी कल्पित नहीं है, प्रमाणतः सिद्ध है ।

इसी प्रकार एकान्ततः ध्रौव्यता यदि अभाव माना जायगा—केवल ध्रौव्य रहित उत्पाद व्ययात्मक ही सन् है, ऐसा माना जाय, तो सर्वथा सत्के अभावका ही प्रसङ्ग आता है, और तत्त्वतः एक अवस्थासः दूसरी अवस्थाका होना निर्वैतुक ही ठहरता है, अर्थात् ध्रौव्य स्वभावके बिना सत्के अभाव और असत्की उत्पत्तिका प्रसङ्ग आता है । अथवा सर्वदा तद्भाव और अभावका ही प्रसङ्ग आता है, क्योंकि निर्वैतुकता दोनों ही जगह समान है । हेतुस्वभावाका कारण यदि मनुष्यसे देवत्वादिका होना माना जाय, तो वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि हेतु स्वभाव माननेपर एतान्ततः ध्रौव्यकी सिद्धि हो जाती है । एकके अनन्तर दूसरे भावके होनेका स्वभाव जब हेतुपूर्वक मान लिया, तो अन्यथा भी ध्रौव्य ही सिद्ध हुआ । क्योंकि वही तो उत्तर पर्यायरूप परिणत हुआ करता है, इस कथनसे व्यय और उत्पादकी भी युगपत् सिद्धि होती है । जिस प्रकार तरानूरा उन्नाम और अवनाम एक साथ ही हुआ करता है—एक तरफसे तरानूकी ढढी जिस समय ऊँची होती है, उसी समय दूसरी तरफसे वह नीची भी होती है । एक तरफसे जब नीची होती है, उसी समय दूसरी तरफसे ऊँची भी हुआ ही करती है । इसी प्रकार व्यय और उत्पादके

विषयमें समझना चाहिये । एकके मात्र ही हमरा भी जन्म होता है । क्योंकि ये दोनों परस्परमें हेतु और फल है । पूर्वपर्यायके न्ययके बिना उत्तरपर्यायरा उत्पाद नहीं मिल सकता । अनप्य दोनोंको एकक्षणवर्ती ही मानना चाहिये । अन्यथा इनमें फल या मनुष्य उसकी अवस्थाएं भिन्न हैं ! अथवा सर्वथा अभिन्न हैं ! इन दोनों ही पक्षोंमें अनेक दोषोंकी सम्भावना है । इसलिये मनुष्यादिमें देवत्वादिका होना बन नहीं सकता, और इसलिये आगममें देवगर्भिके समनियमादिरूप मार्गका जो वर्णन किया है, सो न्यय ही उद्धरता है । इमं सङ्गमे "सम्यग्दृष्टिः सम्यक्-संकल्पः सम्यग्चाग् सम्यग्दुर्माग्ः सम्यगार्जवः सम्यगन्तर्यामः सम्यग्भूमृतिः सम्यग्यमाविः" इम वचनको भी धैर्यही ही आना है । क्योंकि मनुष्य अवस्थाओंका सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद ही माननेपर कार्य कारणका भेद ही जब नहीं बनता, तो किसीभी पदान्त पक्षके लिये इन कारणोंका उल्लेख करना निरर्थक ही उद्धरता है । इसलिये मानना चाहिये, कि मन उत्पाद व्यय धैर्यसे प्रतिक्षणयुक्त रहा करता है । घट पर्यायके व्ययमें युक्त मृत्तिरूप ही कालरूपमें उत्पाद हुआ करता है, अतएव घटके न्यय कपालके उत्पाद और मृत्तिके धैर्यका एक ही क्षण है, और इसी लिये सत्की युगपत् उत्पाद व्यय धैर्यात्मकता सिद्ध है । एकान्तमें धैर्य स्वभावको माननेपर सत्का जैसा भी एक स्वभाव कहा जायगा, उसी स्वभावमें वह सदा अवस्थित रहेगा, उसकी अवस्थाओंमें भेदका होना नहीं बन सकता, और हमरे एकान्त पक्षके नियमों ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना चाहिये । यहाँपर मनुष्य देव आदिका स्थिति द्रव्यकी अपेक्षा लेकर जो सत्के अनुसार स्वभावको दिखाया है, सो मन व्यवहारनयकी अपेक्षामें है । निश्चयनयमें देखा जाय, तो वस्तुमें प्रतिक्षण उत्पादादिक हुआ करते हैं, और वैसा होनेपर ही अवस्थामें अवस्थान्तरका होना सिद्ध हो सकता है । अन्यथा—प्रतिक्षण उत्पादादिके माने बिना न तो वस्तुता वस्तुत्व ही सिद्ध हो सकता है, और न व्यक्त-व्यवहारही पटित हो सकता है । जैसा कि कहा जा है कि—

सम्पूर्ण व्यक्ति—पदार्थ मात्रमें क्षण क्षणमें अन्यत्व हुआ करता है, और फिर भी कोई विशेषता नहीं होती, यह बात निश्चित है । क्योंकि चित्ति और अपाचित्ति—वृद्धि और ह्रास अथवा उत्पाद और व्यय दोनोंका सदा सद्भाव रहनेसे उनमें आकृति—आकार विशेषरूप व्यक्ति और जाति—सामान्य आकार दोनों घटकोंका सदा अवस्थान सिद्ध है ॥ १ ॥ इस वस्तु—स्वभावके अनुसार ही नरकादिक गतियोंका भेद और संसार मोक्षका भी भेद सिद्ध है । इनके कारण मुख्यतया क्रमसे हिंसादिक और सम्यक्त्वादिक है । अर्थात् नरकादि गतियोंके मुख्य कारण हिंसा आदिक हैं, और मोक्षके मुख्य कारण सम्यक्त्व आदि है ॥ २ ॥ वस्तुको उत्पादादि स्वभावसे युक्त माननेपर ही ये सब भेद आदिक अथवा कारणोंका वर्णन निश्चितरूपसे बन सकता है, अन्यथा नहीं । उत्पादादिसे रहित वस्तुके माननेपर वस्तुका ही अभाव सिद्ध होता है । अत एव ये सब भेद और कारण

भी निश्चयसे नहीं बन सकते ॥ ३ ॥ बिना उपादान कारणके वस्तुका उत्पाद नहीं हो सकता, और न वस्तुको सर्वथा तदवस्थ—ध्रौव्यस्वभाव माननेपरही वह बन सकता है । उत्पादादि विकृतिके एकान्त पक्षमें भी यही बात समझनी चाहिये । अतएव वस्तुको त्रयात्मक ही मानना चाहिये, क्योंकि ऐसा होनेपर ही उत्पादादिक हो सकते हैं ॥ ४ ॥ एक ससारी जीव सिद्ध पर्यायको धारण करता है, इसमें सिद्ध पर्यायका उत्पाद और ससार भावका व्यय समझना चाहिये, और जीवत्व दोनों अवस्थाओंमें रहा करता है, अतएव उसकी अपेक्षासे ध्रौव्य भी है । इस प्रकार जीवमें या सिद्ध अवस्थामें त्रयात्मकता सिद्ध है । इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके विषयमें त्रयात्मकताको घटित कर लेना चाहिये ॥ ५ ॥

भाष्यम्—उत्पादव्ययो ध्रौव्य चेतत्रितययुक्त सतो लक्षणम् । अथवा युक्त समाहित त्रिस्वभाव सत् । यद्वत्पद्यते यद्वत्येति यच्च ध्रुव तत्सत्, अतोऽन्यदसदिति ॥

अर्थ—उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त रहना ही सत्का लक्षण है । अथवा युक्त शब्दका अर्थ समाहित—समुदित करना चाहिये । अर्थात् सत्का लक्षण त्रिस्वभावता ही है । जो उत्पन्न होता है, और जो विलीन होता है, तथा जो ध्रुव—सदा स्थिर रहा करता है, उसको सत् कहते हैं । यही सत्का लक्षण है । इस स्वभावसे जो रहित है, उसको असत् समझना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—गृह्णामस्तावदेव लक्षण सदिति, इदं तु वाच्यं तत् किं नित्यमाहोस्त्विदमित्यम् । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—यहाँपर सत्का लक्षण जो बताया है, सो तो समझे, परन्तु यह तो कहिये कि वह सत् नित्य है, अथवा अनित्य ?

भावार्थ—जब कि युगपत् तीनों धर्मोंमें सत् का लक्षण बता दिया, फिर नित्या नित्यात्मकताके लिये प्रश्न शेष नहीं रहता । परन्तु पूछनेवालेका आशय यह है, कि पहले द्रव्योंके तीन सामान्य स्वरूप बताये हैं—नित्य अस्थित और अरूप, और यहाँपर प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन स्वरूप बताये हैं । तथा नेचनेमें आता है, कि कोई द्रव्य—सत् तो नित्य है, जैसे कि आकाश, और कोई सत् अनित्य होते हैं, जैसे कि घटादिक । अतएव सन्देह होता है, कि सत्को कैसा समझा जाय, नित्य अथवा अनित्य ? यदि नित्यानित्यात्मक माना जाय, तो पहले जो नित्यस्वरूप कहा है, उसका क्या अर्थ है ? उत्तर—

सूत्र—तद्वावाग्ययं नित्यम् ॥ ३० ॥

भाष्यम्—यत् सतो भावाच्च द्येति न द्येप्यति तन्नित्यमिति ॥

१—हो (भद्रसूत्रकी) दृष्टिमें जो भाव पाया जाता है उसका अनुसार यहाँ तक अर्थ दिया गया है ।

२—निद्रादेकालीनी दृष्टिमें त्रिविध भाष्यकी व्याख्या का यह है वह इन प्रकार है

अर्थ—नित्य शब्दका अर्थ है, सत्के भाव-भवन-परिणमनका अन्यय-अविनाश ।

जो सत्के भावसे न नष्ट हुआ है और न होगा, उसको नित्य कहते हैं ।

भावार्थ—नित्य शब्दकी सिद्धि पहले बता चुके हैं । इस सूत्रमें तत् शब्दमे सत् लिया है, और भाव शब्दसे परिणमन । यदि नित्यमें मतलब सर्वथा अविनाशका होता, तो तदन्ययं नित्यम् " ऐसा ही सूत्र कर दिया जाता । परन्तु भाव शब्दके प्रयोगसे मालूम होता है, कि परिणमनका अविनाश ही नित्य शब्दमे अभीष्ट है । इस कथनसे कूटस्थनित्यता अथवा सर्वथा अविकारिताका निराकरण हो जाता है । अथवा कथंचित् अनित्यात्मकता भी सिद्ध हो जाती है ।

अथवा भाव शब्दका अर्थ स्वात्मा भी होना है । वस्तुका जो भाव है—निजस्वरूप है, उसके न छोड़नेको नित्य कहते हैं । पर यह शुद्ध द्रव्यास्तिकनयका विषय है, जोकि संपूर्ण अवस्थाओंमें निर्विकाररूप है ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि उत्पाद न्यय और ध्रौन्य ये परस्परमें विस्वभाव हैं । जो अनित्य है, उसीको नित्य अथवा जो नित्य है, उसीको अनित्य कैसे कहा सकता है ? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि ये धर्म परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं । लोक-व्यवहारमें भी यह बात देखी जाती है, कि जिसका एक अपेक्षासे सत् या नित्य कहकर व्यवहार करते हैं, तो उसीका दूसरी अपेक्षामे असत् अथवा अनित्य कहकर व्यवहार करते हैं । अथवा द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिकनयकी युक्तिसे भी यह बात सिद्ध है, कि ये धर्म—सत्त्व और असत्त्व अथवा नित्यत्व अनित्यत्व अपेक्षासे सिद्ध हैं । इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—अर्पितानर्पितसिद्धेः । सच्च त्रिविधमपि नित्यं चोभे अपि अर्पितानर्पितसिद्धेः । अर्पितव्यावहारिकमनर्पितव्यावहारिकं चेत्यर्थः । तत्र सच्चतुर्विधं, तद्यथा—द्रव्यास्तिकं, मातृकापदास्तिकं, उत्पन्नास्तिकं, पर्यायास्तिकमिति । एषामर्थपदानिद्रव्यं वा द्रव्ये वा द्रव्याणि वा सत् । असन्नाम नास्त्येव द्रव्यास्तिकस्य । मातृकापदास्तिकस्यापि मातृकापदं वा मातृकापदे वा मातृकापदानि वा सत् । अमातृकापदं वा अमातृकापदे वा अमातृकापदानि वाऽसत् । उत्पन्नास्तिकस्य उत्पन्नं वा उत्पन्ने वा उत्पन्नानि वा सत् । अनुत्पन्नं वाऽनुत्पन्ने वाऽनुत्पन्नानि वाऽसत् । अर्पितेऽनुत्पन्नाते न वाच्यं सदित्यसदिति वा । पर्यायास्तिकस्य सद्भावपर्याये वा, सद्भावपर्याययोर्वा सद्भावपर्यायेषु वा आदिष्टं द्रव्यं वा, द्रव्ये वा, द्रव्याणि वा सत् । असद्भावपर्याये वा, असद्भावपर्याययोर्वा, असद्भावपर्यायेषु वा, आदिष्टं द्रव्यं वा, द्रव्ये वा, द्रव्याणि वाऽसत् । तदुभयपर्याये वा, तदुभयपर्याययोर्वा, तदुभयपर्यायेषु वा, आदिष्टं द्रव्यं वा, द्रव्याणि वा, न वाच्यं सदसदिति वा । देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति ।

१ “नेर्त्वे त्यप्” । (मि० अ० ६ पाद ३ मूल १७) २—स चासौ भावश्च तद्भावस्तस्याव्ययम् । अथवा ऐसा भी अर्थ होता है, कि त्रयो—गमनं, विन्दोऽयो व्ययः, न व्ययोऽव्ययः । अर्थात् तद्भावेके विरुद्ध गमनका निषेध ।

अर्थ—अर्पित और अनर्पित अपेक्षाओंसे उन धर्मोंकी—सत् और असत्की अपवा
त्यत्व अनित्यत्वकी सिद्धि होती है, अतएव उनके युगपत् एक वस्तुमें रहनेमें कोई विरोध
ही है । निर्दिष्ट परिग्रहीत या विवक्षित धर्मको अर्पित कहते हैं, और उससे जो विपरीत
, उसको अनर्पित कहते हैं । उक्त धर्मोंमेंसे एक समयमें एक विवक्षित रहता है, और दूसरा
विवक्षित रहता है, अतएव कोई विरोध न आकर वस्तु-तत्त्वकी सिद्धि होती है ।

सत् तीन प्रकारका बताया है—उत्पाद व्यय ध्रौव्य । नित्यके दो भेद हैं—अनाद्यनन्त
नित्यता और अनादि सान्त नित्यता । ये तीनों ही प्रकारके सत् और दोनों ही प्रकारके
नित्य, अर्पित और अनर्पितके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं । क्योंकि विवक्षा और अविवक्षा
प्रयोजनके अधीन है । कभी तो प्रयोजनके वश उक्त धर्मोंमेंसे किसी भी एक धर्मकी विवक्षा
जाती है, और कभी प्रयोजन न रहनेके कारण उसीकी अविवक्षा हो जाती है । अतएव एक
कालमें वस्तु सदसदात्मक नित्यानित्यात्मक और भेदामेदात्मक आदि सप्रतिपक्ष धर्मोंसे युक्त
रहती है । जिस समयमें सदसदात्मक है, उसी समयमें वह नित्यानित्यात्मक आदि
शेषधर्मोंसे भी विशिष्ट है । जो सत् है, वह असत् आदि विकल्पोंसे शून्य नहीं है, और जो
असत् है, वह सदादि विकल्पोंसे रहित नहीं है । क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही सप्रतिपक्ष धर्मसे
विशिष्ट है । प्रतिपक्षी धर्मसे शून्य सर्वथा माना जाय, तो मूल विवक्षित धर्मकी भी सिद्धि नहीं
हो सकती है । परन्तु उन धर्मोंका व्यवहार विवक्षाधीन है । कभी किसी धर्मकी विवक्षा
जाती है, कभी नहीं होती । जब होती है, तब वही धर्म प्रधान हो जाता है, शेष धर्म गौण
हो जाते हैं । प्रधान—विवक्षित धर्मके वाचक शब्दके द्वारा उस वस्तुका निरूपणादि व्यवहार
हुआ करता है । उस समयमें गौण धर्मका व्यवहार नहीं हुआ करता । जब गौण धर्म विवक्षित
रहता है, तब वह प्रधान हो जाता है, और उसके सिवाय अन्य समस्त धर्म अविवक्षित हो
जाते हैं । उस समयमें उस धर्मके वाचक शब्दके द्वारा वस्तुका व्यवहार हुआ करता है । प्रधान—
विवक्षित धर्मके सिवाय शेष सम्पूर्ण गौण धर्म गम्यमान हुआ करते हैं । किन्तु एक धर्मके द्वारा
वस्तुका व्यवहार करते समय शेष धर्मोंका अभाव नहीं माना जाता, न उनका अपलाप ही किय

१—दूसरे व्यक्तिके लिये उसी समयमें वह गौण धर्म ही प्रधान हो सकता है ।—उदाहरण—तीन व्यक्ति एक समयमें
एक सोनेवालेकी दुकानपर पहुँचे । एक सोनेका घट लेनेके लिये, दूसरा मुकुट लेनेके लिये तीसरा सुवर्ण लेनेके
लिये । दुकानदारके पास एक सोनेका घट रखवा हुआ था । इसको उसने जिस समय तोहमर मुकुट बनाना शुरू
किया, उसी समय तीनों प्राहक उसकी दुकानपर पहुँच । घट हटने और मुकुट बननेकी अवस्थाको देखकर
तीनोंके हृदयमें एक साथ तीन भाव पैदा हुए शोक—मोह और माध्यस्थ्य । इन भावोंकी उत्पत्ति निहेंद्रुक नहीं हो
सकती । अतएव सिद्ध होता है कि वस्तुमें युगपत् तीनों धर्म—उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाये जाते हैं । अतएव भगवान् सम
तमद आचार्यने आसमीमांसामें कहा है कि—

“ घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वय । शोऽप्रमोहमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥ ” तु० ५०

जा सकता है। अतएव वस्तुको सप्रतिपक्षधर्मात्मक माना है, और इसीलिये उसके दो प्रकार भी किये हैं कि—अर्पितव्यावहारिक और अनर्पितव्यावहारिक। एक धर्मका त्याग दूसरे धर्मके त्यागको भी बताता है, तथा एक धर्मका ग्रहण दूसरे धर्मकी भी सत्ताका बोधक होता है।

ऊपर दो धर्मोंकी अपेक्षा है—सत् और नित्य। इनके दो धर्म प्रतिपक्षी हैं—असत् और अनित्य। इनमेंसे सत् चार प्रकारका है—द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, उत्पन्नास्तिक, और पर्यायास्तिक। इनमेंसे पहले दोनों भेद द्रव्यास्तिक नयके विषय हैं, और अन्तके दोनों भेद पर्यायास्तिक नयके विषय हैं। जिसमें दूसरे स्वभावोंका साङ्कर्य नहीं पाया जाता, और जो न दूसरी समस्त विशेषताओंको ग्रहण ही करता है, ऐसे एक अभिन्न शुद्धप्रकृतिक संग्रह नयके विषय-भूत द्रव्यमात्रको ही जो अस्तिरूपसे मानता है, उसको द्रव्यास्तिक कहते हैं। अतएव द्रव्यास्तिकको शुद्धप्रकृतिक कहा जा सकता है। परन्तु यह नैगमनयके विषयको भी ग्रहण करता है, और नैगममें संग्रह व्यवहार दोनोंका प्रवेश है, अतएव उसको शुद्धाशुद्धप्रकृतिक भी कह सकते हैं। किंतु जो संग्रह नयका अभिप्राय है, उसको द्रव्यास्तिक और जो व्यवहार-नयका अभिप्राय है, उसको मातृकापदास्तिक ग्रहण करता है। द्रव्यास्तिकके द्वारा प्रायः लोक-व्यवहार सिद्ध नहीं हुआ करता। क्योंकि उसका विषय अभिन्न द्रव्य है। लोकव्यवहार प्रायः भेदके आश्रयसे ही हुआ करता है। इसी लिये प्रायः लोक-व्यवहारकी सिद्धि मातृकापदास्तिकके द्वारा ही हुआ करती है।

धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव ये पाँचो ही अस्तिकाय द्रव्यत्वकी अपेक्षा समान हैं। तो भी इनके स्वभाव परस्परमें भिन्न हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो सकता। तथा भिन्न रहकर ही ये लोक-व्यवहारके साधक हैं। अभिन्न शुद्ध द्रव्य व्यवहार—साधनमें समर्थ नहीं हो सकती। अतएव मातृकापदास्तिक कुछ स्थूल व्यवहारयोग्य विशेषताको प्रधानरूपसे ग्रहण करता है।

जिस प्रकार वर्ण पद वाक्य प्रकरण आदिका जन्मस्थान मातृका है, उसी प्रकार समस्त सामान्य और विशेष पर्यायोंके आश्रय धर्मादिक अस्तिकाय हैं, जोकि व्यवहारसिद्धिमें मूल-कारण हैं। अतएव उनको ही मातृका कहते हैं। व्यवहार योग्य होनेसे इन मातृकापदोंको ही जो अस्तिरूपसे मानता है, उसको मातृकापदास्तिक कहते हैं।

उत्पन्नास्तिक और पर्यायास्तिक दोनों पर्यायनयके भेद है, यह बात ऊपर कह चुके हैं। पर्यायनय भेदको ही प्रधान मानकर वस्तुका बोध और व्यवहार कराती है। भ्रौव्यसे अविशिष्ट रहते हुए भी उत्पाद और व्यय, भेद अथवा पर्यायके विषय है। उनमेंसे स्थूल अथवा सूक्ष्म सभी उत्पादोंको विषय करनेवाला उत्पन्नास्तिक है। कोई भी उत्पाद विना विनाशके नहीं हो सकता, न रह सकता है। दोनोंका परस्परमें अविनाभाव है। क्योंकि यह नियम है, कि जो उत्पत्तिमान् है, वह नियमसे विनश्वर भी है, अथवा जितने उत्पाद है, उतने ही विनाश भी है।

अतएव उत्पन्नको ही जो विनष्टरूपसे ग्रहण करता है, पर्याय-भेद-विनाशलक्षण है, ऐसा मान कर ही जो वस्तुका व्यवहार करता है, उसको पर्यायास्तिक कहते हैं ।

अब क्रमसे इनके अर्थपदोंको कहते हैं ।—द्रव्यास्तिकका विषयभूत सत् तीन तरहसे कहा जा सकता है—एकत्व सत्त्या विशिष्ट द्रव्य, द्वित्व सत्त्या विशिष्ट द्रव्य, अथवा बहुत्व सत्त्या विशिष्ट द्रव्य । क्योंकि जब द्रव्यसे शुद्ध प्रकृतिमात्रको ही लेते हैं, तो वह एक ही है । अतएव एकत्व विशिष्ट कहा है । परन्तु यह बात ऊपर बता चुके हैं, कि अभिन्न द्रव्य व्यवहारका साधन नहीं हो सकता । व्यवहार-भेदके ही आश्रित है । भेदका कारण द्वित्वादि सत्त्या है । इसके लिये यदि यहाँकेवल द्वित्व सत्त्या ही दिखायी जाती, तो भी काम चल सकता था, परन्तु यहाँ द्वित्व सत्त्याके साथ साथ बहुत्व सत्त्या भी दिखाई है, उसका कारण यह है, कि अचननयके द्वारा जिसका प्रतिपादन हो जाय, उस द्रव्यसे फिर कोई भी सत् शेष नहीं रहता । द्रव्यार्थिकका विषय असन्नाम नहीं है । क्योंकि जो नाम है, वह सत्की अपेक्षासे ही होता है, और जो सत् है, उसका कोई न कोई नाम अश्वय होता है । सज्ञा और सज्ञी परस्परमें सापेक्ष हैं । उनमेंसे कोई भी एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकता,

मातृकापदास्तिकके अर्थपद भी इसी तरहसे समझ लेने चाहिये । एकत्व विशिष्ट मातृकापद, द्वित्व विशिष्ट मातृकापद, और बहुत्व विशिष्ट मातृकापद सत् हैं, तथा एकत्व विशिष्ट अमातृकापद, द्वित्व विशिष्ट अमातृकापद और बहुत्व विशिष्ट अमातृकापद असत् हैं ।

भाषार्थ—मातृकापदास्तिकका लक्षण धर्मास्तिकायादिकका उद्देश मान है । क्योंकि वह व्यवहारानयका अनुसरण करता है, और व्यवहारानय कहता है, कि सज्ञा लक्षण आदि भेदसे शून्य द्रव्यमात्र लौकिक जीवोंके लिये बुद्धिगोचर नहीं हो सकता । अतएव भेदका आश्रय लेना ही पड़ता है । द्रव्यास्तिकके वर्णनमें भी वह छूट नहीं जाता । द्रव्यमात्र ही सत् है, ऐसा कहते हुए एकत्वादि सङ्ख्याका वैशिष्ट्य भी बताना ही पड़ता है । अतएव भेदको मानकर धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकायमात्र सज्ञा सत्त्या लक्षण प्रयोजन आदिकी विवक्षा दिखाते हुए वर्णन करना मातृकापद ही सत् है । इन अस्तिकायोंमेंसे जब एककी विवक्षा हो, तब एकत्व विशिष्ट मातृकापद सत् है, जब दोकी विवक्षा हो, तब द्वित्व विशिष्ट मातृकापद सत् है, और जब तीन आदिकी विवक्षा हो, तब बहुत्व विशिष्ट मातृकापद सत् है, ऐसा समझना चाहिये ।

कोई भी वस्तुमात्र धर्म प्रतिपक्ष भावको छोड़कर नहीं रह सकता, यह बात ऊपर बता चुके हैं । तदनुसार धर्मास्तिकायादिके भेदको विषय करनेवाले मातृकापदके विपक्षको अमातृकापद दिखाता है । वह कहता है, कि धर्मास्तिकाय है, इतना कहनेसे ही काम नहीं चलता, इसके साथ यह भी कहना चाहिये, कि जो धर्मास्तिकाय है, वह अधर्मास्तिकाय नहीं हो सकता,

।र जो अधर्मास्तिकाय है, वह धर्मास्तिकाय नहीं हो सकता । क्योंकि ये परस्परमें व्यावृत्त-भावको रखते हैं । अथवा धर्मास्तिकायादिसे भिन्न और कुछ भी नहीं है, यह कहना भी मातृकापद है । क्योंकि अमातृकापद व्यावृत्तिको प्रकट करता है । धर्मादिक सभी अस्तिकाय मान्य विशेषरूप अनेक धर्मात्मक हैं, और इसी लिये वे कथंचित् अनपोहरूप तथा कथंचित् पोहरूप है, और वे सभी मातृकापदास्तिक कहे जाते हैं ।

इस प्रकार द्रव्यास्तिक और मातृकापदास्तिकके द्वारा द्रव्यार्थिकनयका अभिप्राय ताया । अब क्रमानुसार पर्यायार्थ नयका आशय क्या है, सो बताते हैं:—

उत्पन्नास्तिक और पर्यायास्तिक ये दोनों ही पर्यायार्थ नयके आशयका अनुसरण करते हैं, यह पहले बता चुके हैं । पर्यायार्थका मूल ऋजुसूत्र है । ऋजुसूत्र नय वर्तमान क्षणमात्र ही धर्मादि व्यक्तिको मानता है, उसकी दृष्टिमें भूत भविष्यत् असत् है । वर्तमान क्षण अनेक हैं । उनमेंसे जहाँ एककी विवक्षा हो, वहाँ एकत्वविशिष्ट उत्पन्नास्तिक सत् है, जहाँ दो की विवक्षा हो वहाँ द्वैत्व विशिष्ट उत्पन्नास्तिक सत् है, और जहाँ तीन आदिकी विवक्षा हो, वहाँ बहुत्व विशिष्ट उत्पन्नास्तिक सत् है । इसके सिवाय भूत या भविष्यत् जो अनुत्पन्न द्रव्यास्तिक अथवा मातृकापदास्तिक है, वे सत् असत् हैं । वे भी क्रमसे एकत्व संख्याविशिष्ट, द्वैत्व संख्याविशिष्ट और बहुत्व संख्याविशिष्ट हैं, और वे सभी अनुत्पन्न असत् हैं ।

इस उपर्युक्त कथनसे यह सूचित हो जाता है, कि धर्मादिक द्रव्य स्यात् सत् हैं, स्यात् असत् है, स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य हैं । यह सब द्रव्यार्थ और पर्यायार्थनयकी मुख्यता तथा गौणताकी विवक्षानुसार सिद्ध हो जाता है । जिस नयकी विवक्षा होती है, वह नय और उसका विषय सत् हुआ करता । परन्तु जब वही विवक्षित नहीं होता, तब असत् समझा जाता है । अतएव दोनों ही नय और उनके विषय कथंचित् सत् और कथंचित् असत् है ।

जिस समयमें सत् और असत्—अस्तिस्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंसे युक्त वस्तु है, यह बात तो विवक्षित हो, परन्तु उन दोनोंका क्रमसे वर्णन करना विवक्षित न हो, उस समयमें उस वस्तुको न सत् कह सकते हैं, न असत् ही कह सकते हैं । उस समय सप्तभंगीका तीसरा विकल्प—अवक्तव्य प्रवृत्त होता है । उसकी अपेक्षासे वस्तु अवक्तव्य है ।

१—अनेकान्तवादको सूचित करनेवाला यह निपातशब्द है । “अनेकान्ते च विद्यादौ स्यादभिपातः शुचे क्वचित् ॥” (धनञ्जयनाममाला) २—“प्रश्नवशादेकस्मिन्वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी ।” (तत्त्वार्थ राजवार्तिक) मूलभंग अस्तित्व धर्मकी अपेक्षा एक और उसके प्रतिपक्षी नास्तित्वधर्मकी अपेक्षा दूसरा तथा दोनों धर्मोंका एक कालमें वर्णन न कर सकनेकी अपेक्षा तीसरा अवक्तव्य भंग प्रवृत्त होता है । इन तीनोंके चार सयोगी भंगोंको मिलाकर सात भंग हो जाते हैं । किसी भी वस्तुका वर्णन इन सात भंगोंके द्वारा ही हो सकता है । अर्थात् वस्तु सप्तभंगका विषय है । वस्तु अनन्त धर्मात्मक है । उनमेंसे जब जो धर्म विवक्षित हो, उसके आश्रयसे उपस्थित प्रश्नके वशसे एक ही वस्तुमें अवरोधरूपसे विधिप्रतिषेधकी कल्पनाको सप्तभंगी कहते हैं । इसका विशेष वर्णन सप्तभंगोत्तरांगिणी आदिमें देखना चाहिये ।

इस प्रकार ऊपर सप्तभगीके पहले तीन विकल्प बताये हैं—सत् असत् और अवक्तव्य । ये तीनों ही विकल्प द्रव्य और पर्याय दोनों ही अपेक्षासे घटित हो सकते हैं । द्रव्य—नयका अभिप्राय रखनेवाले द्रव्यास्तिक और मातृकापदास्तिकका आश्रय लेकर तीनों विकल्पोंका स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार समझना चाहिये । पर्यायका स्वरूप पहले कह चुके हैं, कि—“सद्भाव परिणाम ।” अर्थात् द्रव्यके—सत्के भवनको परिणाम कहते हैं । पर्यायके मूल भेद दो हैं—सहभावी और क्रमभावी । इनके उत्तरेभेद अनेक हैं । देव मनुष्य आदिक अथवा ज्ञानदर्शनादिक आत्माकी सद्भाव पर्याय है, शेष धर्मादिक द्रव्योंमें होनेवाली पर्यायोंको असद्भाव पर्याय कहते हैं । इसी प्रकार वर्तमान कालसम्बन्धी पर्यायोंको सद्भाव पर्याय और मृत भविष्यत कालसम्बन्धी पर्यायोंको असद्भाव पर्याय समझना चाहिये । आत्मादिक पदार्थ पर्यायोंके समूह रूप हैं । इनमेंसे कभी अनन्त स्वरूप पर्याय स्वभाव द्रव्य सत्त्वरूपसे एक विवक्षित होता है, कभी चेतन अचेतनके भेदसे दो भेदरूप विवक्षित होता है, तो कभी बहु भेदरूप विवक्षित होता है, क्योंकि शक्ति अनन्त हैं । विवक्षित भगकी अपेक्षा सत् और शेष भगकी अपेक्षा असत् समझना चाहिये । अतएव उक्त तीनों विकल्पोंमेंसे पहले विकल्प सत्का स्वरूप पर्यायास्तिककी अपेक्षासे इस प्रकार है कि—एक रूपसे विवक्षित सद्भाव पर्यायके विषयमें या दो भेदरूपसे विवक्षित सद्भाव पर्यायोंके विषयमें अथवा बहु भेदरूपसे विवक्षित सद्भाव पर्यायोंके विषयमें आदिष्ट—अर्पित एकत्व विशिष्ट द्रव्य या द्वित्वविशिष्ट द्रव्य अथवा बहुत्व सत्त्वा विशिष्ट द्रव्य सत् होता है । दूसरे विकल्प—असत्का स्वरूप असद्भाव पर्यायकी अपेक्षा इस प्रकार है एक भेदरूपसे विवक्षित असद्भाव पर्यायके विषयमें या दो भेदरूपसे विवक्षित असद्भाव पर्यायोंके विषयमें अथवा बहु भेदरूपसे विवक्षित असद्भाव पर्यायोंके विषयमें आदिष्ट—अर्पित एकत्व विशिष्ट द्रव्यको या द्वित्व विशिष्ट द्रव्यको अथवा बहुत्व विशिष्ट द्रव्यको असत् समझना चाहिये । इसी प्रकार तीसरे अवक्तव्य विन्ययके सम्बन्धमें समझना चाहिये । यथा—जातिकृत एकत्वकी अपेक्षा उक्त सद्भावपर्याय और असद्भावपर्याय इन दोनोंके विषयमें, अथवा स्वरूप पर्यायभेदकृत द्वित्वकी अपेक्षा उक्त दोनों पर्यायोंके विषयमें, यद्वा पर्याय विशेषकृत बहुत्वकी अपेक्षा उक्त उभय पर्यायोंके विषयमें आदिष्ट—अर्पित एकत्व विशिष्ट द्रव्यको या द्वित्व विशिष्ट द्रव्योंको अथवा बहुत्व विशिष्ट द्रव्योंको एक कालमें न सत् कह सकते हैं, और न असत् कह सकते हैं ।

इस प्रकार सप्तभगीके यह पहले तीन विकल्पोंका स्वरूप है । यह सत्त्वदेशकी अपेक्षासे है । शेष चार विकल्पोंको विकल्पदेशकी अपेक्षासे स्वयं समझ लेना चाहिये । क्योंकि वे

१—“सत्त्वदेशः प्रमाणाधीन, एकगुणमुरवेनाद्येवस्तु कथं सत्त्वदेशः ।” एक गुण अथवा पर्यायके द्वारा समस्त वस्तुके प्रमाण करनेको प्रमाण अथवा सत्त्वदेश कहते हैं । और “विकल्पदेशो न्यायाधीन ।” अर्थात् अक्षररूपसे वस्तुके प्रमाण करनेको विकल्पदेश अथवा नय यद्वा देशदेश कहते हैं । अतएव सप्तभगी दो प्रकारकी मानी है—प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभगी । वह भी तीन तीन प्रकारसे प्रकृत हुआ करती है—गानरूपसे, वचनरूपसे और ध्वनिरूपसे ।

इन तीन विकल्पोंके ही संयोगरूप हैं । यथा—स्यादस्तिनास्ति १, स्यादस्त्यवक्तव्यः २, स्यान्नास्त्यवक्तव्यः ३ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यः ४ ।

भावार्थ—द्रव्यार्थ और पर्यायार्थनयकी गौण मुख्य प्रवृत्तिके द्वारा प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व नास्तित्वादि धर्म अविरोध रूपसे सिद्ध हो सकते हैं । तदनुसार जीवादिक सभी द्रव्योंके सामान्य विशेष स्वरूपके विषयमें नयोंको विधिपूर्वक अर्पित या अनर्पित करके सब धर्मोंको यथासम्भव सिद्ध करलेना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता संघातभेदेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्ते इति । तत् किं संयोगमात्रादेव संघातो भवति, आहोस्विदस्ति कश्चिद्विशेष इति ? अत्रोच्यते—सति संयोगे बद्धस्य संघातो भवतीति ॥ अत्राह—अथ कथं बन्धो भवतीति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पहले आपने स्कन्धोंकी उत्पत्तिके कारणोंको बताते हुए कहा था, कि संघात भेद और संघातभेदके द्वारा स्कन्धोंकी उत्पत्ति हुआ करती है । उसमें यह समझमें नहीं आया, कि संघात किस तरह हुआ करता है । पुद्गलोंके संयोगमात्रसे ही हो जाया करता है अथवा उसमें कुछ विशेषता है ? उत्तर—संयोग होनेपर जो पुद्गल बद्ध हो जाते हैं—जो कि एक क्षेत्रावगाहको प्राप्तकर एकत्वरूप परिणमन करानेवाले संश्लेष विशेषको प्राप्त हो जाते हैं, संघात उन्हींका हुआ करता है । संयोगमात्रसे संघात नहीं हुआ करता । प्रश्न—जिन पुद्गलोंका बन्ध हो जाता है, उन्हींका यदि संघात होता है, तो फिर यह भी बताना चाहिये कि वह बंध किस तरह हुआ करता है ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—स्निग्धरुक्षत्वादन्यः ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—स्निग्धरुक्षयोः पुद्गलयोः स्पृष्टयोर्वन्धो भवतीति ॥ अत्राह—किमेव एकान्त इति, अत्रोच्यते—

अर्थ—जब स्निग्ध अथवा रुक्ष पुद्गल आपसमें स्पृष्ट होते हैं, तब उनका बन्धरूप परिणमन हुआ करता है ।

भावार्थः—पहले पुद्गलके स्पर्शादिक गुणोंको बताते हुए स्पर्शके आठ भेद बतला चुके हैं । उन्हींमें एक स्नेह और एक रुक्ष भेद भी है । चिक्कणताको स्नेह और उसके विपरीत परिणामको रुक्ष कहते हैं । अंशोंके तारतम्यकी दृष्टिसे इनके अनन्त भेद हो सकते हैं । एक गुणस्नेहसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त और अनन्तानन्त गुणस्नेहवाले पुद्गल हुआ करते हैं । इसी प्रकार रुक्षगुणके विषयमें भी समझना चाहिये । इन गुणोंके कारण पुद्गल आपसमें मिलनेपर—केवल संयोगमात्र नहीं, किन्तु परस्परमें प्रतिघातरूप होनेपर बन्ध पर्यायको प्राप्त हुआ

करते हैं । जिनमें पूरण और गलन पाया जाय, उनको ही पुद्गल कहते हैं । पूरकत्व-पूरणधर्मकी अपेक्षा सघात, और गलन धर्मकी अपेक्षा भेद हुआ करता है । इस प्रकारसे जत्र परिणति निशेष पैदा करनेवाला सर्वात्म सयोगरूप उनका बन्ध होता है, तभी उनका सघात कहा जाता है ।

प्रश्न—पुद्गलोंके बन्धमें आपने उनके क्षिप्तत्व और रूक्षत्व गुणों कारण बताया तो ठीक, परन्तु क्या यह एकान्त है, कि जहाँपर ये गुण होंगे, वहाँपर नियमसे बन्ध हो ही जायगा ? या इसमें भी कोई विशेषता है ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेके सूत्र द्वारा विशेषताका प्रतिपादन करते हैं—

सूत्र—न जघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—जघन्यगुणस्निग्धानां जघन्यगुणरूक्षाणां च परस्परेण बन्धो न भवति ॥

अर्थ—जिनमें स्नेहका जघन्य गुण पाया जाता है, अथवा जो रूक्षके जघन्य गुणको धारण करनेवाले हैं उन पुद्गलोंका, परस्परमें बन्ध नहीं हुआ करता ।

भावार्थ—जघन्य शब्दसे एक सख्या और गुण शब्दसे शक्तिका अंश लेना चाहिये । जो पुद्गल ऐसे हैं, कि जिनमें एक ही अंश स्नेहका अथवा रूक्षता पाया जाता है, उनका परस्परमें बन्ध नहीं हुआ करता । परस्परमें यहाँ मतलब सजातीयका है । किन्तु आगे चलकर विसदृशका भी बन्ध होता है ऐसा कहेंगे । तदनुसार एक गुणवाले परमाणुका किसी भी स्निग्ध या रूक्षगुणवाले के साथ बन्ध नहीं हो सकता । अर्थात् एक स्नेहगुणवालेका न तो दो तीन चार आदि सख्यात अथवा असख्यात या अनन्त गुण स्निग्ध पुद्गलके साथ ही बन्ध होगा और न ऐसे ही रूक्ष गुणवाले पुद्गलके साथ बन्ध होगा ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता जघन्यगुणवर्जानां स्निग्धानां रूक्षेण रूक्षाणां च क्षिग्धेन सह बन्धो भवतीति । अथ तुल्यगुणयोः किमत्यन्तप्रतिषेध इति ? अत्रोच्यते—न जघन्यगुणानामित्यधिकृत्येदमुच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जघन्य गुणवालेकी छोटकर बाकी स्नेह गुणवाले पुद्गलोंका रूक्ष पुद्गलोंके साथ और इसी प्रकार जघन्यगुणके सिवाय शेष रूक्ष गुणवाले पुद्गलोंका क्षिग्ध पुद्गलोंके साथ बन्ध होता है, यह बात आपने कही है । तो क्या तुल्य गुणवालोंके बन्धका सर्वथा प्रतिषेध ही है ? उत्तर—तुल्य गुणवाले क्षिग्धाधिरूक्ष और रूक्षाधिरूक्षके बन्धका एकान्तरूपसे निषेध ही है । और यह निषेध “ न जघन्यगुणानाम् ” सूत्रके अविचारसे ही सिद्ध है । इसी सम्बन्धको लेकर आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—गुणसाम्ये सति सदृशानां बन्धो न भवति । तद्यथा—तुल्यगुणक्षिग्धस्य तुल्य गुणक्षिग्धेन, तुल्यगुणरूक्षस्य तुल्यगुणरूक्षेणेति ।

अत्राह—सदृशग्रहणं किमपेक्षत इति । अत्रोच्यते—गुणवैषम्ये सदृशानां बन्धो भवतीति ।

अर्थ—स्निग्ध रूक्ष गुणोंकी समानताके द्वारा जो सदृश है, उनका बन्ध नहीं हुआ करता । यथा—तुल्य गुणस्निग्धका तुल्य गुणस्निग्धके साथ एवं तुल्य गुणरूक्षका तुल्य गुणरूक्षके साथ बन्ध नहीं होता ।

भावार्थ—यहाँपर सदृशता क्रियाकृत समताकी अपेक्षासे नहीं, किन्तु गुणकृत समताके निमित्तसे समझनी चाहिये । तथा यह सामान्योपन्यास है, अतएव सभी समगुणवालोंके पारस्परिक बन्धका निषेध समझना चाहिये । जिस प्रकार एक स्निग्ध गुणवालेके साथ एक स्निग्ध गुणवालेका बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार दो स्निग्ध गुणवालेका दो स्निग्ध गुणवालेके साथ बन्ध नहीं होता, और तीन स्निग्ध गुणवालेका तीन स्निग्ध गुणवालेके साथ बन्ध नहीं होता । इसी तरह अनन्तगुण स्निग्ध पर्यन्त सभी समान संख्यावालोंके विषयमें समझना चाहिये । तथा यही क्रम रूक्षके विषयमें भी घटित कर लेना चाहिये ।

प्रश्न—इस सूत्रमें गुणसाम्य और सदृश इस तरह दो शब्दोंका प्रयोग किया है । परन्तु जिनमें समान गुण होंगे, वे नियमसे सदृश होंगे ही, फिर व्यर्थ ही सूत्रमें सदृश शब्दका प्रयोग करनेकी क्या आवश्यकता है ? उत्तर—यहाँपर सदृश शब्दके प्रयोग करनेका दूसरा ही अभिप्राय है । वह इस बातको दिखाता है, कि गुणकृत वैषम्यके रहनेपर भी जो सदृश है, उनका परस्परमें बन्ध हुआ करता है ।

भाष्यम्—अत्राह—किमविशेषेण गुणवैषम्ये सदृशानां बन्धो भवतीति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने कहा है, कि गुण वैषम्यके होनेपर सदृश पुद्गलोंका बन्ध होता है । सो यह अविशेषरूपसे होता ही है, या इसका कोई विशेष अपवाद है । अर्थात्—जहाँ जहाँ सदृशोंमें गुणवैषम्य पाया जाय, वहाँ वहाँ बन्ध हो ही जाय, ऐसा नियम है, अथवा कहीं बन्ध नहीं भी होता ? उत्तर—सभी सदृश पुद्गलोंका बन्ध नहीं हुआ करता । किनका होता है सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—द्व्यधिकादिगुणानां तु सदृशानां बन्धो भवति । तद्यथा—स्निग्धस्य द्विगुणाद्याधिकास्निग्धेन, द्विगुणाद्याधिकास्निग्धस्य स्निग्धेन । रूक्षस्यापि द्विगुणाद्याधिकरूक्षेण, द्विगुणाद्याधिकरूक्षस्य रूक्षेण । एकादिगुणाधिकयोस्तु सदृशयोर्वन्धो न भवति । अत्र तुशब्दो व्यावृत्तिविशेषणार्थः प्रतिषेधं व्यावर्तयति बन्धं च विशेषयति ॥

अर्थ—जो सदृश पुद्गल दो अधिक गुणवाले हुआ करते हैं, उनका बन्ध हुआ करता है । यथा स्निग्धका दो गुण अधिक स्निग्धके साथ, दो गुण अधिक स्निग्धका स्निग्धके साथ बन्ध

हुआ करता है^१। रूक्षका भी दो गुण अधिक रूक्षके साथ, और दो गुण अधिक रूक्षका रूक्षके साथ बघ होता है। जिनमें एक आदि गुण अधिक पाये जाते हैं, उन सदृशोंका बघ नहीं हुआ करता ।

इस सूत्रमें जो तु शब्द है, वह दो प्रयोजनोंको सिद्ध करता है—व्यावृत्ति और वैशिष्ट्य । अर्थात् वह प्रतिषेधकी तो व्यावृत्ति करता है, और बघकी विशेषताको दिखाता है ।

भाषार्थ—पहले दो सूत्रोंके द्वारा जो बघका प्रतिषेध किया गया है, उसका यह निषेध करता है^२, और बघका विशेषण बनकर बताता है कि, गुणवैषम्य होते हुए भी जो दो गुण अधिक हैं, उन सदृशोंका बघ हुआ करता है^३।

भाष्यम्—अत्राह—परमाणुषु स्कन्धेषु च ये स्पर्शादयो गुणास्ते किं व्यवस्थितास्तेषु आहोस्विदव्यवस्थिता इति ? । अत्रोच्यते—अव्यवस्थिता । कुत ? परिणामात् । अत्राह—द्वयोरपि बध्यमानयोगुणधत्ते सति कथं परिणामो भवतीति ? उच्यते—

अर्थ—परमाणुओंमें तथा स्कन्धोंमें जो स्पर्शादिक गुण रहते हैं, या पाये जाते हैं, वे व्यवस्थित हैं, अथवा अव्यवस्थित ? अर्थात् नित्य है या अनित्य ? उत्तर—वे सब अव्यवस्थित हैं । परमाणुओंमें पाये जानेवाले स्पर्शादिक और स्कन्धोंमें पाये जानेवाले स्पर्शादिक तथा शब्दादिक सभी अनवस्थित हैं । प्रश्न—ऐसा कैसे ? अर्थात् आपका यह कथन केवल प्रतिज्ञामान समझना चाहिये, अथवा युक्तिसिद्ध ? यदि युक्तिसिद्ध है, तो वह युक्ति क्या है ? उत्तर—कारण यह है, कि पुद्गलपरमाणु अथवा स्कन्ध अपने द्रव्यत्वादि जातिस्वभावको न छोड़कर प्रतिक्षण परिणमन विशेषको प्राप्त हुआ ही करते हैं, और तदनुसार स्पर्शादिक सामान्य धर्मको न छोड़ते हुए भी वे स्पर्शादिनी उक्त विशेष अवस्थाओंको धारण किया ही करते हैं । इस परिणामनी दृष्टिसे उन स्पर्शादि गुणोंको अथवा शब्दादिकोंको अनवस्थित ही कहा जा सकता है । प्रश्न—जब बध्यमान दोनों पुद्गलोंमें गुणवत्ता समान है, तब परिणाम किस तरह होता है ? अर्थात् जिन दो पुद्गलोंका स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्वके कारण बघ होता है, उननी गुणवत्ता जब समान है, उस अवस्थामें किसको परिणम्य और जिसको परिणामक कहा जा सकता है ? कल्पना कीजिये, कि एक स्निग्ध परमाणुका दूसरे रूक्ष परमाणुके साथ बघ हुआ । इनमेंसे कौन परिणमन करेगा और कौन धरावेगा ? स्निग्ध परमाणु रूक्षको अपने रूप परिणाम लेगा अथवा रूक्ष परमाणु स्निग्धको रूक्ष बना लेगा ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

१—एक ही बातको दो बार कहनेमें कोई विशेषता नहीं है परन्तु विशेष अर्थ में रहते हुए भी पृथक्ता और तृतायात् इस तरह वाक्यके प्रयोग दो तरहसे हो सकते हैं, इस बातको दिखानेके लिये ही आचार्यने दो प्रकारसे एक बातको कहा है । २—निषेधका निषेध सद्भावका क्षापक होता है अतएव यह भी बघके अधिकारको सूचित करता है । ३—‘निदस्स निद्वेण दुआधिण, दुअस्स दुअखेण दुआधिण । निदस्स उनखेण उवेति बघो जहणवत्ता विस्से सेवेवा ॥ (प्रज्ञा० गाथा २०) अथवा देखो गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा-६१४ ।

सूत्र—बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—बन्धे सति समगुणस्य समगुणः परिणामको भवति, अधिकगुणो हीनस्येति ॥

अर्थ—बन्ध होनेपर जो समान गुणवाला होता है, वह अपने समान गुणवालेका परिणामक हुआ करता है, और जो अधिक गुणवाला हुआ करता है, वह अपनेसे हीन गुणवालेका परिणामक हुआ करता है ।

भावार्थ—कल्पना कीजिये, कि द्वि गुण स्निग्धका और द्वि गुण रूक्षका परस्परमें संघट्ट हुआ । यहाँपर कदाचित् स्निग्ध अपने स्नेह गुणके द्वारा रूक्ष गुणको आत्मसात् करता है^१, तो कदाचित् रूक्ष गुण अपने रूक्ष गुणके द्वारा सम गुणवाले स्निग्धको आत्मसात् कर सकता है । तथा जो अधिक गुणवाला होता है, वह अपनेसे हीनको अपनेरूप परणमा लेता है । जैसे कि त्रिगुण स्निग्ध अपनेसे हीन—एक गुणस्निग्धको अपनेरूप परणमा ले सकता है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता द्रव्याणि जीवाश्चेति । तत् किमुद्देशत एव द्रव्याणां प्रसिद्धिराहोस्विल्लक्षणतोऽपीति ? अत्रोच्यते—लक्षणतोऽपि प्रसिद्धिः तदुच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने इसी अध्यायके प्रारम्भमें “द्रव्याणि जीवाश्च” इस सूत्रके द्वारा धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव इन पाँच द्रव्योंका या अस्तिकायोका उल्लेख किया है, सो यह उल्लेख उद्देशमौत्र ही है, अथवा लक्षणद्वारा भी है । अर्थात् उक्त द्रव्योंकी प्रसिद्धि—स्वरूपका परिज्ञान सामान्यतया नाममात्रके द्वारा ही समझना चाहिये, अथवा इसके लिये कोई असाधारण लक्षण भी है ? उत्तर—लक्षणके द्वारा भी इन द्रव्योंकी प्रसिद्धि होती है । वह लक्षण क्या है, जिसके कि द्वारा उनका परिज्ञान हुआ करता है, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—गुणान् लक्षणतो वक्ष्याम । भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः । तदुभयं यत्र विद्यते तद् द्रव्यम् । गुणपर्याया अस्य सन्त्यस्मिन् वा सन्तीति गुणपर्यायवत् ।

१—सम गुणका बन्ध होता नहीं, फिर न मालूम ऐसा कथन भाष्यकारने कैसे किया । इसी शंकाका उत्तर देते हुए टीकाकारने लिखा है कि—“ गुणसाम्ये तु सदृशानां बन्धप्रतिषेधः, इमौ तु विसदृशावेको द्विगुणस्निग्धोऽन्यो द्विगुणरूक्षः, स्नेहरूक्षयोश्च भिन्नजातीयत्वान्नास्ति सादृश्यम् । ” अर्थात् सजातीयमें समगुणवालेके बन्धका निषेध है, न कि भिन्न जातीयमें । परन्तु बन्धका नियम दो गुण अधिकका है, और वह सजातीय विजातीय दोनोंमें ही होता है, जैसा कि “ निद्वस्त निद्वेण दुआहिण ” आदि उक्त गाथाके द्वारा भी सिद्ध होता है । तदनुसार दो गुण अधिकका ही बंध होता है, चाहे वे वध्यमान दोनों पुद्गल, स्निग्ध स्निग्ध या रूक्ष रूक्ष हो, अथवा स्निग्ध रूक्ष हो । अतएव यह उदाहरण किस तरह दिया, या सम गुणकी परिणामकता किस तरह बताई, सो समझने नहीं आती । २—“ न जघन्यगुणानाम् ” इस कथनके अनुसार एक गुणवालेका बंध नहीं होता, फिर भी यहाँपर उसका उल्लेख किया है, सो क्या आशय रखता है, कह नहीं सकते । ३—नाममात्रकथनमुद्देशः ।

अर्थ—शक्तिविशेषोंका ही नाम गुण है। परन्तु इनका लक्षण वाक्यके द्वारा वर्णन आगे चलकर "द्रयाश्रया निर्गुणा गुणा" इस सूत्रके व्याख्यानके अवसरपर करेंगे। भावान्तर और सज्ञान्तरको पर्याय कहते हैं। ये दोनों जिसमें रहें, उसको द्रय कहते हैं। अपञ्च गुण और पर्याय जिसके हों या जिसमें हों, उसको गुणपर्यायवत्-द्रय समझना चाहिये।

भावार्थ—द्रयका एक लक्षण कहा जा चुका है—"उत्पादव्ययधोव्ययुक्त सत्" फिर भी दूसरा लक्षण जो यह बताया है, उसका प्रयोजन द्रय और उसके धर्मोंका विशेष परिज्ञान कराना है।

"गुणपर्यायवत्" इसमें मतुप् प्रत्ययको देखकर अथवा 'गुणपर्याया अस्य सन्त्यस्मिन्वा' इसमें पष्ठी सप्तमी निर्देशको देखकर यह नहीं समझना चाहिये, कि गुण और पर्यायसे द्रय कोई सर्वा भिन्न चीज है, जिसमें कि ये दोनों वस्तु रहती हैं, जैसे कि घड़े में पानी रहा करता है। क्योंकि अभितमें भी मतुवादि प्रत्यय या पष्ठी आति निर्देश हुआ करता है, जैसे कि यह वृक्ष सारवान् है, सोनेकी अगूठी, इत्यादि।

गुण और पर्याय ऐसा भेद कथन भी आगममें जो पाया जाता है वह भी व्यवहारनयनी अपेक्षासे है। वास्तवमें देखा जाय, तो पर्याय और गुण एक ही हैं^१। द्रव्य की परिणतिविशेषको ही गुण अथवा पर्याय कहते हैं। जो परिणति द्रव्यसे युगपदवस्थायी—सहभावी है, उसको गुण और जो उसमें अयुगपदवस्थायी—असहभावी है, उसको पर्याय कहते हैं। जैसे कि पुट्ट^२के रूप रस गंध स्पर्श आदि गुण हैं, और हरित पीत आदि तथा मधुर अम्ल आदि पर्याय हैं। पिट घट कपाठ आदि भी उसमें पर्याय हैं। क्योंकि ये सहभावी नहीं हैं। एक सज्ञासे दूसरी सज्ञा होनेमें कारण एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका होना है, अनप्य सज्ञान्तर और उसका निमित्त कारण भावान्तर दोनों पर्यायसे ही स्वरूप हैं।

इस प्रकार द्रव्यका लक्षण बताया। यहाँ तक उपनिर्दिष्ट धर्माति पाँच द्रव्योंका अनेक अपेक्षाओंसे वर्णन किया है। इसमें सबसे उपकारका वर्णन करते हुए कान्द्रव्यसे उपकारका भी वर्णन किया है। परन्तु वह बात भी द्रव्य है, ऐसा अभी तक कहा नहीं है। अनप्य यह शङ्का हो सकती है, कि यह पाँच द्रव्योंसे भिन्न कोई छठा द्रव्य है, अपना पाँचों में ही अनर्भूत है, या और कोई वान है। अतएव इस शङ्कासे दूर करनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

१—'दो पक्षों में गुणित सत्ता उल्लास दृष्टान्तः।' (अन्य दृष्टान्तद्वयम् १४) तथा संलक्षितं विज्ञा, अत्रत्ये द्रव्ये विज्ञा।' [अन्य विज्ञा १९४] एवं "दृष्टान्तमत्र द द्रव्य, न द्रव्य-वत् दृष्टान्तः।' (अन्य विज्ञा १९३)

सूत्र—कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—एके त्वाचार्या व्याचक्षते—कालोऽपि द्रव्यमिति ॥

अर्थ—कोई कोई आचार्य कहते हैं कि—काल भी द्रव्य है ।

भावार्थ—पहले वर्तना आदि उपकार जो बताया है, वह किसी उपकारकके विना नहीं कहा जा सकता या हो सकता । इसी प्रकार समय घड़ी घंटा आदि जो व्यवहार है, वह भी किसी उपादान कारणके विना नहीं हो सकता, तथा पदार्थोंके परिणमनमें क्रमवर्तित्वका कोई कारण भी होना चाहिये, और आर्गममें छह द्रव्योंका उल्लेख भी है । इत्यादि कारणोंसे ही कुछ आचार्योंका कहना है, कि काल भी एक द्रव्य है ।

इसका विशेष स्वरूप बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—स चैव कालोऽनन्तसमयः । तत्रैक एव वर्तमानसमयः । अतीतानागतयो-
स्त्वानन्त्यम् ॥

अर्थ—ऊपर जिस कालद्रव्यका उल्लेख किया है, वह अनन्त समयरूप है । जिनमेंसे वर्तमान समय तो एक ही है, परन्तु भूत और भविष्यत् समयोंका प्रमाण अनन्त है ।

भावार्थ—अनन्त है, समय अर्थात् पर्याय या भेद जिसके उसको अनन्त पर्याय कहते हैं । उपर्युक्त काल द्रव्य, जोकि उपचरित नहीं, किन्तु पारमार्थिक है, अनन्त परम निरुद्ध पर्यायोंवाला है । इसी लिये उसमें उक्त द्रव्यका लक्षण “ गुणपर्यायवत् ” यह अच्छी तरह घटित होता है । उसमें सत्त्व ज्ञेयत्व द्रव्यत्व कालत्व आदि अनन्त अर्थपर्याय और वचनपर्याय पाये जाते हैं । और भूत भविष्यत् वर्तमान शब्दोंके द्वारा कहे जानेवाले वर्तना आदि परिणामविशेष भी पाये जाते हैं ।

अनन्त शब्द संख्यावाची है, और समय शब्द परिणमनको दिखाता है । अतएव काल द्रव्य अनन्त परिणामी है, ऐसा समझना चाहिये । किन्तु वर्तमान परिणमन या समय एक ही कहा जा सकता है, और भूत भविष्यत्के अनन्त कहे जा सकते हैं । भूत समय अनादि सान्त है, और भविष्यत् समय साद्यनन्त है । यद्यपि अनन्तत्व दोनोंमें समान है, फिर भी अल्प बहुत्वकी अपेक्षा दोनोंमें अन्तर है । क्योंकि आगममें वह इस प्रकार बताया है, कि अभव्योसे अनन्तगुणी सिद्ध राशि है, सिद्धोंसे असंख्यातगुणा भूतसमयोंकी राशिका प्रमाण है । भूतसमयोंकी राशिके प्रमाणसे अनन्तगुणी भव्यराशि है, और भव्यराशिसे अनन्तगुणा भविष्यत् समयोंकी राशिका प्रमाण है । यह अनन्तता सन्ततिकी अपेक्षासे है, और यह वर्तमानमें नहीं पाई जा सकती, इसलिये वर्तमान समय एक ही है ।

१—“कति णं भंते । दब्बा पणत्ता ? गोयमा । छ दब्बा पणत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगामत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवात्थिकाए, अद्दासमए ।” इत्यादि ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता गुणपर्यायवद् द्रव्यमिति । तत्र के गुणा इति ? अत्रोच्यते —

अर्थ—प्रश्न—आपने द्रव्यका लक्षण बताते हुए कहा है, कि जिसमें गुण और पर्याय पाये जाँय, उसको द्रव्य कहते हैं । परन्तु यह नहीं मालूम हुआ, कि गुण जिसको कहते हैं । अतएव कहिये कि वे गुण कौनसे हैं ?

भावार्थ—द्रव्यके लक्षणमें आये हुए गुणपर्याय शब्दोंका स्वरूप बतानेकी आवश्यकता है । पर्याय और गुण एक ही है, यह बात पहले बता चुके हैं, अतएव गुण शब्दके ग्रहणसे पर्यायका ग्रहण भी हो ही जाता है । इसीलिये पर्यायके विषयमें प्रश्न न करके गुणके विषयमें यहाँपर प्रश्न किया है । अथवा भेद विवक्षामें गुण और पर्याय भिन्न भी है । इस दृष्टिसे उसका भी प्रश्न होना चाहिये । परन्तु उसका स्वरूप भी आगेके सूत्रद्वारा बतावेंगे । क्रमानुसार पहले गुणका स्वरूप बताना चाहिये । इस बातको लक्ष्यमें लेकर ही प्रश्न उपस्थित किया गया है । अत्र ग्रन्थकार उसका उत्तर देनेके लिये गुणका लक्षण बतानेवाला सूत्र करते हैं —

सूत्र—द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा ॥ ४० ॥

भाष्यम्—द्रव्यमेवामाश्रय इति द्रव्याश्रया, निर्वा गुणा सन्तीति निर्गुणा ॥

अर्थ—जिनका आश्रय द्रव्य है—जो द्रव्यमें रहते हैं, और जिनमें गुण नहीं रहते, स्वयं निर्गुण हैं, उनको गुण कहते हैं ।

भावार्थ—यहाँपर आश्रय शब्द आधारको बतानेवाला नहीं है, किन्तु परिणामीको बताता है । स्थित्यश्रय द्रव्य परिणामी है, क्योंकि वह अनेक परिणाम विशेषोंका कारण है । द्रव्य परिणामन करता है, इसलिये गुण और पर्याय परिणाम है, तथा द्रव्य परिणामी है । गुण स्वयं निर्गुण है । क्योंकि उनमें और गुण नहीं रहते । ज्ञानादिक या रूपादिन्में अथ कोई भी गुण नहीं रहता ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता बन्धे समाधिको पारिणामिकाधिति । तत्र क पारिणाम इति ? अत्रोच्यते —

अर्थ—यह बात आप कह चुके हैं, कि बंध होनेपर समगुण अपने समगुणका परिणामन करा देता है, और अधिक गुणवाला हीन गुणवालेका परिणामन करा देता है । इसमें परिणाम शब्दसे क्या समझना चाहिये ? वे पुद्गल अपनेसे भिन्न परिणाम नामकी किसी वस्तुको उत्पन्न करते हैं । अथवा स्वयं ही अपने स्वरूपको न छोड़ते हुए किसी विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं । इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

१—पहले अध्यायके पाँचवें सूत्र द्वारा नामादि निक्षेपोंका वर्णन करते हुए भाष्यकारने कहा था कि “भावता द्रव्याणि धर्मादीनि सगुणपयायाणि प्राप्तिरक्षणानि वक्ष्यते ।” इसमें भी प्राप्ति शब्दका अर्थ परिणाम ही है । अतएव इसका स्वरूप भी प्रतिपादित करनेवाला आवश्यक है । सो यह हेतु भी आगेके सूत्रद्वारा सिद्ध होता है ।

सूत्र—तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः ॥
स द्विविधः ।—

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश पुद्गल जीव और काल इन पूर्वोक्त द्रव्योंके और उनके गुणोंके, जिनका कि लक्षण ऊपर बता चुके हैं, स्वभाव—स्वतत्त्वको परिणाम कहते हैं ।

भावार्थ—तत् शब्दसे छहों द्रव्य और उनके गुणोंको समझना चाहिये । तथा भाव शब्दका अर्थ भवन—भूति—उत्पत्ति—आत्मलाभ या अवस्थान्तरको प्राप्त करना है । इसीको परिणाम कहते हैं । यह परिणाम द्रव्यसे या गुणसे सर्वथा भिन्न कोई वस्तु नहीं है, किन्तु उसीका स्वभाव है, अथवा स्व—निज तत्त्व ही है । क्योंकि द्रव्य ही अपने स्वरूपको न छोड़ता हुआ विशिष्ट अवस्थाको धारण किया करता है । जैसा कि लोकमें प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है ।

यह परिणाम दो प्रकारका है—इसके दो भेद हैं । इन दो भेदोंको बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—अनादिरादिमांश्च ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—तत्रानादिरूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्विति ॥

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश और जीव इन अरूपी द्रव्योंका परिणाम अनादि है^१ ।

रूपी—मूर्त पदार्थोंका परिणाम अनादि है, या आदिमान्, इस बातके बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिरिति ॥

अर्थ—जिसमें रूप रस गन्ध स्पर्श पाया जाय, उसको रूपी कहते हैं । अर्थात् पुद्गल द्रव्योंमें आदिमान् परिणाम पाया जाता है, और वह अनेक प्रकारका है । अनेक भेद स्पर्श-परिणामादिकी अपेक्षा समझने चाहिये । स्पर्शके आठ भेद हैं, रस पाँच प्रकारका है, गन्ध दो तरहका है, और वर्णके पाँच प्रकार हैं, सो पहले गिना चुके हैं । इन भेदोंकी अपेक्षा तथा तरतम भावकी अपेक्षा यह आदिमान् परिणाम अनेक प्रकारका है ।

भावार्थ—जन्मसे लेकर विनाश पर्यन्त विशेषताको रखनेवाला और स्वरूपके सामान्य—विशेष धर्मोंके अधिकारी तद्भावको आदिमान् परिणाम कहते हैं । भाष्यकार ने “ तु ” शब्दका

१—सूत्रमें जो च शब्द पड़ा है, उससे कालका भी ग्रहण होता है । अर्थात् कालमें भी अनादि परिणाम होता है । तथा अरूपी द्रव्योंमें अनादि परिणाम ही हो ऐसा नियम नहीं है । यह बात आगेके सूत्रकी व्याख्यासे मालूम हो जायगी, कि अरूपी द्रव्योंमें आदिमान् परिणाम भी होता है ।

उसकी विशेषता दिखाने लिये हां उल्लेख किया है । यह दिखाता है, कि पुद्गलोंमें सत्त्व द्रव्यत्व मूर्तत्व आदि अनादि परिणाम भी पाये जाते हैं । यदि कोई यह शका करे, कि जब रूपी द्रव्योंमें अनादि परिणाम भी रहता है, तो अरूपी द्रव्योंमें आदिमान् परिणाम भी क्यों नहीं पाया जा सकता ? तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा भी माना ही है । जैसे जीवमें योग और उपयोगरूप आदिमान् परिणाम होता है, उसी प्रकार अय धर्मादिक द्रव्योंमें भी उसके रहनेको कौन रोक सकता है ।

ऊपर परिणामके दो भेद गिनाये हैं—अनादि और आदिमान् । उनमेंसे केवल अमूर्त द्रव्यना उद्देश करके उनमें आदिमान् परिणामको भी दिखानेके अभिप्रायसे आगे सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—योगोपयोगौ जीवेपु ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—जीवेष्वरूपिष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामावदिमन्तो भवत । स च पचवशमेव । स च द्वादशविधः । तत्रोपयोगः पूर्वोक्तः । योगस्तु परस्ताद् वक्ष्यते ॥

इति श्रीतत्त्वार्थसंग्रहे अहत्प्रवचने पञ्चमोऽध्यायः ॥

अर्थ—जीव यद्यपि अरूपी हैं, तो भी उनमें योग और उपयोग रूप आदिमान् परिणाम हुआ करते हैं । योगके पद्म भेद है, और उपयोग बारह प्रकारका है । इनमेंसे उपयोगका स्वरूप पहले बताया जा चुका है, और योगका वर्णन आगे चलकर करेंगे ।

भावार्थ—योग दो प्रकारका है—भावयोग और द्रव्ययोग । आत्माकी शक्ति विशेषको भावयोग कहते हैं, और मन वचन कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका जो परिस्पन्दन होता है, उसको द्रव्ययोग कहते हैं । प्रकृतमें योग शब्दसे द्रव्ययोगको ही समझना चाहिये । इसके पद्म भेद हैं, यथा—औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रीयिककाययोग, वैक्रीयिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग, और कर्मणकाययोग, इस प्रकार सात काययोग और चार वचनयोग—सत्य असत्य उभय और अनुभय, तथा चार मनोयोग—सत्य असत्य उभय और अनुभय । उपयोग बारह प्रकारका है । यथा—पाँच सम्यग्ज्ञान—मति श्रुत अवधि मन पर्यय और केवल, तीन मिथ्याज्ञान—कुमति कुश्रुत और विभङ्ग । तथा चार प्रकारका दर्शन, यथा—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन । इस प्रकार ये योग और उपयोग दोनों ही प्रकारके परिणाम आदिमान् हैं । फिर भी अमूर्त जीवमें पाये जाते हैं । क्योंकि आत्माका इस तरहका परिणमन करनेका स्वभाव है । भाष्यकारने अपि शब्दका प्रयोग करके समानताका बोध कराया है । अर्थात्—नित्य प्रसार अणु आदिकमें आदिमान् परिणाम होता है, उसी प्रकार जीवमें भी होता है ।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका पचम अध्याय समाप्त हुआ ॥

१—तु शब्दको समुच्चयायक माननेसे भी यह अर्थ प्रकट हो सकता है । २—अध्याय २ सूत्र ८, ९ । ३—छठे अध्यायके प्रारम्भमें । ४—पुगलविनाइदहोदयेण मणवयणकायजुतस्य । जीवस्य आहु सती कम्पाय मकारण योगो ॥ गो० जा० का० ॥ २१५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही मोक्षमार्ग-रत्नत्रयके विषयभूत सात तत्त्व गिनाये थे । अब उनमेंसे क्रमानुसार तीसरे आस्रवतत्त्वका इस अध्यायमें वर्णन करेंगे । इसीके लिये भाष्यकार प्रथम सूत्रकी उत्पत्तिका कारण प्रकट करते हैंः—

भाष्यम्—अत्राह—उक्ता जीवाजीवाः । अथास्रवः क इत्यास्रवप्राप्तिद्वयर्थमिदं प्रक्रम्यतेः—

अर्थ—प्रश्न—जीव और अजीवका वर्णन तो हुआ । अब यह कहिये, कि आस्रव किसको कहते हैं ? इसके उत्तरमें आस्रवतत्त्वकी सिद्धिके लिये ही इस प्रकरणका प्रारम्भ करते हैं ।

भावार्थ—पहले अध्यायमें जीवादिक सात तत्त्व जो बताये थे, जिनके कि सम्बन्धसे ही इस ग्रन्थका नाम तत्त्वार्थाधिगम रक्खा गया है, उनमेंसे पहले जीवतत्त्वका वर्णन आदिके चार अध्यायोंमें किया गया है, और दूसरे अजीवतत्त्वका व्याख्यान पाँचवें अध्यायमें हो चुका है । अब दोनोंके अनन्तर क्रमानुसार आस्रवतत्त्वका निरूपण करना आवश्यक है । जीवका कर्मके साथ जो बंध होता है, उसके कारणको आस्रव कहते हैं । उसका स्वरूप क्या है ? इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

भाष्यम्—कायिकं कर्म वाचिकं कर्म मानसं कर्म इत्येष त्रिविधो योगो भवति । स एकशो द्विविधः ।—शुभश्चाशुभश्च । तत्राशुभो हिंसास्तेयाव्रह्मादीनि कायिकः, सावधानृतपुरुषपिशुनादीनि वाचिकः, अभिध्याव्यापादेर्घ्यासूयादीनि मानसः । अतो विपरीतः शुभ इति ॥

अर्थ—शरीर वचन और मनके द्वारा जो कर्म—क्रिया होती है, उसको योग कहते हैं । अतः एव यह योग तीन प्रकारका हो जाता है—कायिक किर्यारूप, वाचिक किर्यारूप, और मानस किर्यारूप । इनमें भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं—एक शुभ दूसरा अशुभ । हिंसामें प्रवृत्ति करना अथवा हिंसामय प्रवृत्ति करना, चोरी करना, कुशील (मैथुन) सेवन करना आदि^१ अशुभ कायिक कर्म—अशुभ योग हैं । पापमय या पापोत्पादक वचन बोलना, मिथ्या भाषण करना, मर्मभेदी आदि कठोर वचन बोलना, किसीकी चुगली बुराई आदि करना, इत्यादि अशुभ वाचिक कर्म—अशुभ वचनयोग है । दुर्ध्यान या खोटा चिन्तन, किसीके मरने मारनेका विचार, किसीको लाभ आदि होता हुआ देखकर मनमें उससे डाह करना—जलना, किसीके महान् और उत्तम गुणोंमें

१—हिंसा झूठ चोरी कुशील आदिका लक्षण आगे चलकर बतावेंगे । २—हिंसा कर, अमुको मार डालो चोरी कियाकर, इत्यादि पापमें प्रेरित करनेवाले सभी वचन सावक्य कहे जाते हैं ।

भी दोष प्रकट करनेका विचार करना, इत्यादि अशुभ मानसकर्म—अशुभ मनोयोग हैं। इनसे विपरीत जो क्रिया होती है, वह सब शुभ कही जाती है। जैसे कि पंचपरमेष्ठिको नमस्कार करना, उनकी स्तुति करना और उनके निरूपित तत्त्वोंका चिन्तन करना आदि।

यहाँपर आश्रयतत्त्वका व्याख्यान करनेके लिये इस प्रकरणका प्रारम्भ किया है, परंतु उसको न बताकर योगका लक्षण कहा है, अतएव आश्रय किसको समझना यह बतानेके लिये आगेका सूत्र करते हैं —

सूत्र—स आश्रयः ॥ २ ॥

भाष्यम्—स एष त्रिविधोऽपि आश्रयस्तद्विधो भवति । शुभाशुभयोः कर्मणोराश्रयणा द्वाश्रयः सार सलिलायाहिनिर्वाहिलोतोवत् ॥

अर्थ—पूर्वसूत्रमें जिसका वर्णन किया गया है, वह तीनों ही प्रकारका योग आश्रय नामसे कहा जाता है। क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मोंके आनेसे आश्रय हुआ करता है। जैसे कि तालाबका जल जिनके द्वारा बाहरको निकलकर जाता है, या बाहरसे उसमें आता है उस छिद्र या नालीके समान ही आश्रयको समझना चाहिये।

भावार्थ—कर्मोंके आनेके द्वारको अथवा बंधके कारणको आश्रय कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारके योगों द्वारा ही कर्म आते और बंधको प्राप्त हुआ करते हैं, अतएव उन्हींको आश्रय कहते हैं। यहाँपर यह शका हो सकती है, कि पहले सूत्रके द्वारा तो योगका स्वरूप बताया और फिर इस दूसरे सूत्रके द्वारा उसी योगको आश्रय कहा, ऐसा करनेका क्या कारण है? ऐसा न कर यदि दोनोंकी जगह एक ही सूत्र किया जाता, तो क्या हानि थी? परन्तु यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि सभी योग आश्रय नहीं कहे जाते। कायादि वर्गणाके आलम्बनसे जो योग होता है, उसीको आश्रय कहते हैं। अथवा केवली भगवान्‌के समुद्घातको भी आश्रय कहना पड़ेगा। इसके सिवाय सैद्धान्तिक उपदेशके अपायरा भी प्रसङ्ग आसक्तता है, तथा अनेक जीवोंको उसके अर्थ समझनेमें सन्देह भी हो सकता है। इत्यादि कारणोंको लक्ष्यमें लेकर अर्थही स्पष्ट प्रतिपत्ति करानेके लिये दो सत्र करना ही उचित है।

ऊपर योगके दो भेद बताये हैं—शुभ और अशुभ। इसमेंसे पहले शुभयोगका स्वरूप बताते हैं।

सूत्र—शुभः पुण्यस्य ॥ ३ ॥

भाष्यम्—शुभो योगः पुण्यस्याश्रयो भवति ॥

अर्थ—शुभयोग पुण्यका आश्रय है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंमें दो भेद हैं—पुण्य और पाप। जिन कर्मोंका फल जीवको अभीष्ट हो, उनको पुण्य और जिनका फल अनिष्ट हो, उनको पाप कहते हैं। अतः

एव उन कर्मोंका कारण—आस्रव भी दो प्रकारका है, और वह अपने अपने कार्यका कारण हुआ करता है। हिंसा आदि पापोंसे रहित प्रवृत्ति, सत्यवचन और शुभमनोयोगसे पुण्य कर्मोंका बन्ध होता है। सातावेदनीय, नरकके सिवाय ३ आयु, उच्चगोत्र और शुभ नामकर्म—मनुष्यगति देवगति पंचेन्द्रिय जाति आदि ३७, इस तरह कुल मिलाकर ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं। शेष सम्पूर्ण कर्म पाप है, जैसा कि आगे चलकर बतावेंगे।

क्रमानुसार दूसरे अशुभयोगका स्वरूप बताते हैं—

सूत्र—अशुभः पापस्य ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तत्र सद्देयादि पुण्यं वक्ष्यते। शेषं पापमिति ॥

अर्थ—अशुभ योग पापका आस्रव है। ऊपर जो तीन प्रकारके हिंसा प्रवृत्ति प्रभृति अशुभ काययोग आदि गिनाये हैं, उनसे पाप कर्मका आस्रव होता है। इस विषयमें यह बात समझ लेनी चाहिये, कि आगे चलकर अध्याय ८ सूत्र ३६ के द्वारा सातावेदनीयादि पुण्य कर्मोंको गिनावेंगे उनसे जो बाकी बचें, वे सब ज्ञानावरणादि पाप हैं।

योगके शुभ और अशुभ ये दो भेद स्वरूपभेदकी अपेक्षासे हैं। किन्तु स्वामिभेदकी अपेक्षासे भी उसके भेद होते हैं। उन्हींको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—स एव त्रिविधोऽपि योगः सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोराल्लवो-
भवति यथाङ्गस्य यथासम्भवं च। सकषायस्य योगः साम्परायिकस्य अकषायस्येर्यापथस्यैवै-
कसमयस्थितेः ॥

अर्थ—पूर्वोक्त तीनों ही प्रकारका योग सकषाय और अकषाय दो प्रकारके जीवोंके हुआ करता है, वह यथाक्रमसे तथा यथासंभव सकषाय जीवके सांपरायिककर्मका आस्रव कहा जाता है, और अकषाय जीवके ईर्यापथकर्मका आस्रव कहा जाता है। इनमेंसे सकषाय जीवका योग जो सांपरायिककर्मका आस्रव होता है, उसकी स्थिति अनियत है। परन्तु अकषाय जीवके जो ईर्यापथकर्मका आस्रव होता है, उसकी स्थिति एक समयकी ही होती है।

भावार्थ—युगपत् कर्मोंका चार प्रकारका बंध हुआ करता है—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदर्श। इनमेंसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंधका कारण योग है, और स्थितिवंध तथा अनुभागबंधका कारण कर्षाय है। जो सकषाय जीव हैं, उनका योग भी कषाययुक्त ही रहा करता है, अतएव उसके द्वारा जो कर्म आते हैं, उनकी स्थिति एक समयसे बहुत अधिक

१—“समंततः पराभूति संपरायः परामव। जीवस्य कर्मभिः प्रोक्तस्तदर्थं सांपरायिकम् ॥ (तत्त्वार्थ-
श्लोकवार्तिक) २—इनका स्वरूप आगे चलकर आठवें अध्यायमें बताया जायगा। ३—“जोगा पयडिपदेसा
ठिदिअणुभागा कसायदो हेंति” (द्रव्यसंग्रह)।

पडा करती है । कर्मोंकी जगह और उत्कृष्ट जो स्थिति बताई है, उसमेंसे जिसके जितनी समझ हो, उतनी ही स्थिति कषायाध्ययसायस्थानके अनुसार पढ जाती है । जैसे कि आर्द्र चर्म आदि किसी भी गीली वस्तुपर पड़ी हुई धूलि उससे चिपक जाती है । किन्तु जो अक्षय जीव है, उनका योग भी कषाय रहित हुआ करता है, अतएव वह स्थितिबधका कारण नहीं हुआ करता । उसके द्वारा जो कर्म आते हैं, उनमें एक समयसे अधिक स्थिति नहीं पडती । जैसे कि किसी शुष्क दीवालपर पत्थर आदि फेंका जाय, तो वह उससे चिपकता नहीं, किन्तु उसी समय गिर पडता है । इस प्रकार जो जीव कषायरहित होते हैं, उनके योगके निमित्तसे कर्म आते अवश्य हैं । परन्तु उनमें स्थिति नहीं पडती । वे आत्म-लामको प्राप्त करके ही निर्जीर्ण हो जाते हैं । इस स्वामिभेदके कारण फलमें भी भेद करनेवाले आत्मवर्गके नाम भी क्रमसे भिन्न भिन्न हैं । सकषाय जीवके आत्मवर्गो सापरायिकआत्मव और अक्षयजीवके आत्मवर्गो ईर्ग्यापिआत्मव कहते हैं ।

उक्त दो भेदोंमेंसे पहले साम्परायिकआत्मवर्गके भेद गिनाते हैं—

सूत्र—अत्रतकषायेन्द्रियक्रिया पञ्चचतु पञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वस्येति सूत्रमप्रामाण्यात्साम्परायिकस्याह । साम्परायिकस्यात्मवमेवाः पञ्च चत्वारः पञ्च पञ्चविंशतिरिति भवन्ति । पञ्च हिंसावृत्तस्तैयाग्रहपरिमहा । “प्रमत्तयो गात्राण्यपरोपण हिंसा,” इत्येवमादयो वक्ष्यन्ते । चत्वार क्रोधमानमायालोभा अनन्ता नुबन्धादयो वक्ष्यन्ते । पञ्च प्रमत्तस्येन्द्रियाणि । पञ्चविंशति क्रिया । तत्रेभे क्रियाप्रत्यया ययासहस्रय प्रत्येतद्या । तद्यथा—सम्यक्त्वमिष्यात्वप्रयोगसमादानेयापथा, कायाधिकरण प्रदोपरितापनप्राणातिपाता, दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानामोगा, स्वहस्तनिसर्गविश्वारणानयनानवकाङ्क्षा, आरम्भपरिमहमायामिध्यादर्शनप्रत्यारव्यानक्रिया इति ॥

अर्थ—सूत्रमें जिस क्रमसे पाठ पाया जाता है, उसके अनुसार पहला—साम्परायिक-आत्मव है । उसके उत्तरभेद १९ हैं । यथा—पाँच अत्रत, चार कषाय, पाँच इन्द्रियों और पञ्चीस क्रिया । हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पाँच अत्रत हैं । इनमेंसे हिंसाका लक्षण इस प्रकार है—“प्रमत्तयोगात्राण्यपरोपण हिंसा” । अर्थात् प्रमादके योगसे जो प्राणोंका व्यपरोपण—विराधन होता है, उसको हिंसा कहते हैं । इसका स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे । इसके साथ ही झूठ चोरी आदि भी लक्षण उसी प्रकरणमें लिखा जायगा । कषाय चार प्रकारकी है—क्रोध मान माया और लोभ । इनके भी अनन्तानुबन्धी आदि जो उत्तरभेद हैं, उनका स्वरूप आगे चलकर बतावेंगे । इन्द्रियों पाँच हैं—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और

१—कर्म मिष्याहगादीनामादचर्चनि रणवर । कषायपिच्छले जीवे स्थितिमाप्नुवदुच्यते । २ ईर्गो योगमति रोध यथा यस्य तदुच्यते । कर्मैर्ग्यापिअस्याप्तु शुष्कदुष्टपद्मवधिरम् ॥

श्रोत्र-। परन्तु प्रकृतमें इन्द्रिय शब्दसे प्रमादयुक्त जीवकी ही इन्द्रियोंको समझना चाहिये ।
 यथा—सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया, प्रयोगक्रिया, समादानक्रिया, और ईर्यापथक्रिया ये पाँच,
 तथा कायक्रिया, अधिकरणक्रिया, प्रादोषिकीक्रिया, परितापनक्रिया, और प्राणातिपातक्रिया ये
 पाँच, दर्शनक्रिया, स्पर्शनक्रिया, प्रत्ययक्रिया, समंतानुपातक्रिया, और अनाभोगक्रिया ये पाँच,
 स्वहस्तक्रिया, निसर्गक्रिया, विदारणक्रिया, आनयनक्रिया, और अनवकाङ्क्षाक्रिया ये पाँच, और
 आरम्भक्रिया, परिग्रहक्रिया, मायाक्रिया, मिथ्यादर्शनक्रिया, तथा अप्रत्यारव्यानक्रिया ये पाँच,
 इस तरह पाँच पंचकोंकी मिलाकर कुल पच्चीस क्रिया होती हैं । जोकि साम्परायिककर्मके
 बन्धमें कारण हैं ।

भावार्थ—देव गुरु शास्त्रकी पूजा स्तुति आदि ऐसे कार्य करना, जोकि सम्यक्त्वकी
 उत्पत्ति वृद्धि आदिमें कारण हैं, उनको सम्यक्त्वक्रिया कहते हैं । इसके विपरीत कुदेव कुगुरु
 कुशास्त्रकी पूजा स्तुति प्रतिष्ठा आदि करना मिथ्यात्वक्रिया है । किसी भी अच्छे या बुरे कामको
 सिद्ध करनेके लिये शरीरादिके द्वारा दूसरेको गमन आदि करनेमें प्रवृत्त करना इसको प्रयोग-
 क्रिया कहते हैं । संयमीकी असंयमकी तरफ चारित्रका घात करनेवाली अभिमुखता हो जानेको
 समादानक्रिया कहते हैं । ईर्यापथकर्मको प्राप्त करनेके लिये जो तन्निमित्तक क्रिया की जाती
 है, उसको ईर्यापथक्रिया कहते हैं । दोषयुक्त पुरुषके उद्यमको कायिकीक्रिया कहते हैं ।
 हिंसाके उपकरणोंको देना अधिकरणक्रिया है । क्रोधके आवेशमें आना प्रादोषिकीक्रिया है ।
 दुःखोंके उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त होना परितापनक्रिया है । आयु इन्द्रिय आदि प्राणोंके दियुक्त
 करनेको प्राणातिपातक्रिया कहते हैं । प्रमादी पुरुषका रागके वशीभूत होकर रमणीयरूपको
 देखनेका जो भाव होता है, उसको दर्शनक्रिया कहते हैं । इसी प्रकार स्पर्श योग्य वस्तुके
 स्पर्श करनेकी अभिलाषा होना स्पर्शनक्रिया है । प्राणिघातके अपूर्व उपकरण या अधि-
 करणकी प्रवृत्ति करना प्रत्ययक्रिया है । जहाँपर स्त्री पुरुष या पशु आदि बैठते हैं, उस जगह
 मलोत्सर्ग करनेको समंतानुपातक्रिया कहते हैं । विना देखी शोधी भूमिपर शरीरादिके रखनेको
 अनाभोगक्रिया कहते हैं । जो क्रिया दूसरेके द्वारा की जानी चाहिये, उसको स्वयं अपने हाथसे करना
 स्वहस्तक्रिया है । पाप-प्रवृत्तिमें दूसरोंको उत्साहित करने अथवा आलस्यके वश प्रशस्त कर्म न करनेको
 निसर्गक्रिया कहते हैं । किसीके किये गये सावद्यकर्मको प्रकाशित कर देना विदारणक्रिया
 है । आवश्यक आदिके विषयमें अहैतदेवकी जैसी आज्ञा है, उसका अन्यथा निरूपण
 करनेको आनयनक्रिया कहते हैं । मूर्खता या आलस्यके वश आगमोक्त विधिमें अनादर
 करनेको अनाकाङ्क्षाक्रिया कहते हैं । छेदन भेदन आदि क्रिया करनेमें चित्तके आसक्त
 होनेको अथवा दूसरा कोई उस क्रियाको करे, तो हर्ष माननेको आरम्भक्रिया कहते हैं ।
 चेतन अचेतन परिग्रहके न छूटनेके लिये प्रयत्न करनेको परिग्रहक्रिया कहते हैं । ज्ञान दर्शन

आदिमें वचना (उगाई) करनेको मायाक्रिया कहते हैं । मिथ्यादर्शन क्रियाके करनेमें प्रवृत्त जीवको प्रशंसा आदिके द्वारा दृढ करनेको मिथ्यादर्शनक्रिया कहते हैं । सयमका घात करनेवाले कर्म-चारित्र्यमोहके उदयसे खोटी क्रियाओंके न छोड़नेको अप्रत्यास्त्यानक्रिया कहते हैं ।

ये जो साम्प्रत्यिकआत्मवक्के भेद गिनाये हैं, उनमें कोई शुभ है और कोई अशुभ । शुभसे पुण्यका और अशुभसे पापका बध होता है, यह बात पहले कहे अनुसार अच्छी तरह घटित कर लेनी चाहिये । यहाँपर यह शका हो सकती है, कि कर्म मूलमें आठ हैं, उनके उत्तर भेद १४८ है । तथा विशेष दृष्टिसे उनके असख्यात भेद भी बताये हैं । परन्तु यहाँपर साम्प्रत्यिकआत्मवक्के ३९ भेद ही गिनाये हैं । सो इनका कार्यकारण सम्बन्ध किस तरह बनता है ? साम्प्रत्यिकआत्मवक्का एक एक भेद अनेक अनेक कर्मोंके बधके लिये कारण है ? अथवा इनके भी किन्हीं कारणोंसे अनेक उत्तरभेद होते हैं ? इस शकाको दूर करनेके लिये साम्प्रत्यिकआत्मवक्के भेदोंमें भी जिन जिन कारणोंसे विशेषता आती है, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—तीव्रमन्दज्ञातज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेष ॥७॥

भाष्यम्—साम्प्रत्यिकआत्मवक्काणामेवामेकोनचत्वारिंशत्साम्प्रत्यिकाणां तीव्रमाद्यात् मन्दभावाज्ज्ञातभावादज्ञातभावाद्वीर्यविशेषादधिकरणविशेषाच्च विशेषो भवति । लघुलघु तरोलघुतमस्तीव्रस्तीव्रतरस्तीव्रतम इति । तद्विशेषाच्च बन्धविशेषो भवति ॥

अर्थ—साम्प्रत्यिकवचनमें जो कारण हैं, ऐसे उपर्युक्त इन उन्तालीस साम्प्रत्यिक-आत्मवक्के भी तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव और वीर्य तथा अधिकरणकी विशेषतासे विशेष भेद हुआ करते हैं, अतएव वह वही लघु वही लघुतर वही लघुतम तथा वही इसके विपरीत तीव्र तीव्रतर तीव्रतम हुआ करता है, और इसीकी विशेषतासे बचनमें भी विशेषता होती है ।

भावार्थ—सकपाय जीवोंके अन्त आदि स्वरूप जो मन वचन वायकी प्रवृत्ति अथवा योगप्रवृत्ति हुआ करती है, वह सब जीवोंके एकसी नहीं हुआ करती । उसमें परस्पर अनेक-प्रकारसे तारतम्य है । इस तारतम्यके कारण तीव्रादिक भाव और वीर्य तथा अधिकरण हैं । क्रोधादि कपायोंके उद्वेगरूप परिणामोंको तीव्रभाव और इससे विपरीत होनेवाले भावोंको मन्दभाव कहते हैं । जाननेको अथवा जानकर प्रवृत्ति करनेको ज्ञातभाव और इसके विपरीत अज्ञान को अथवा मद् या प्रमात्के वशीभूत होकर बिना सोचे समझे किसी कामके कर डालने-को अज्ञानभाव कहते हैं । वस्तुकी सामर्थ्यको वीर्य तथा प्रयोजनके आश्रयभूत पदार्थको

अधिकरण कहते हैं । ये कारण सब जीवोंके एकसे नहीं हुआ करते । अतएव इन कारणोंके तारतम्यसे आस्रवमें तारतम्य और आस्रवके तारतम्यसे बन्धमें भी तारतम्य हुआ करता है ।

भाष्यम्—अत्राह—तीव्रमन्दादयो भावा लोकप्रतीताः, वीर्यं च जीवस्य क्षायोपशमिकः क्षायिको वा भाव इत्युक्तम् । अथाधिकरणं किमिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—तीव्रभाव मन्दभाव ज्ञातभाव और अज्ञातभाव लोकमें प्रसिद्ध है । अतएव इनका अर्थ स्वयं समझमें आ सकता है—इनकी व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है । तथा वीर्य शब्दका अर्थ पहले बताया ही जा चुका है, कि वह वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम अथवा क्षयसे उत्पन्न होनेवाला भाव है । किन्तु अधिकरण शब्दका अर्थ अप्रसिद्ध है । लोकमें उसका सामान्यतया अर्थ आधार होता है, और कोई विशेष अर्थ आपने अभी तक बताया नहीं है, अतएव कहिये, कि इस प्रकरणमें अधिकरण शब्दसे क्या समझें ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—अधिकरणं द्विविधम् ।—द्रव्याधिकरणं भावाधिकरणं च । तत्र द्रव्याधिकरणं छेदनभेदनादि शस्त्रं च दशविधम् । भावाधिकरणमष्टोत्तरशतविधम् । एतदुभयं जीवाधिकरणमजीवाधिकरणं च ॥ तत्र—

अर्थ—अधिकरण के दो भेद हैं—१ द्रव्याधिकरण २ भावाधिकरण । छेदन भेदन आदि करनेको अथवा दश प्रकारके शस्त्रोंको द्रव्याधिकरण कहते हैं । भावाधिकरणके एक सौ आठ भेद हैं^१ । इन दोनोंको ही जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण भी कहते हैं ।

भावार्थ—प्रयोजनके आश्रयको अधिकरण कहते हैं । वे दो ही प्रकारके हो सकते हैं । या तो जीवरूप या अजीवरूप । सामान्य जीव द्रव्य या अजीव द्रव्य हिंसादिका उपकरण होनेसे साम्परायिकआस्रवका कारण है, और इसलिये उसीको जीवाधिकरण या अजीवाधिकरण समझा जाय, सो बात नहीं है । यदि ये दो सामान्य द्रव्य अधिकरणरूपसे विवक्षित होते, तो सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग होता । परन्तु प्रकृतमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है । इससे स्पष्ट होता है कि—पर्यायकी अपेक्षासे ही अधिकरणको बताना अभीष्ट है । क्योंकि पर्यायशून्य द्रव्य अधिकरण नहीं हो सकता । वह जब अधिकरण होगा, तो किसी न किसी पर्यायसे युक्त ही होगा, जो जीवके भाव हिंसादिके उपकरण या आश्रय होते हैं, उनको जीवाधिकरण और जो बाह्य अजीव द्रव्य रूप होते हैं, उनको अजीवाधिकरण कहते हैं ।

दो प्रकारके अधिकरणोंमें जो द्रव्याधिकरण या अजीवाधिकरण है, वह हिंसा आदिरूप अथवा उसके साधनस्वरूप है, और जीवाधिकरण जीवके परिणामरूप है, यह ठीक

है, परन्तु इससे इनका विशेष स्वरूप समझमें नहीं आता, अतएव क्रमानुसार दसरे भावाधिकरण या जीवाधिकरणका जो स्वरूप अस्पष्ट है, पहले उसको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मूत्र—आद्यसंरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषेस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश ॥ ९ ॥

भाष्यम्—आद्यमिति मूत्रम् प्रामाण्याज्जीवाधिकरणमाह । तत्समासतस्त्रिविधम् ।—सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ इति । एतत्पुनरेकश कायवाङ्मनोयोगविशेषात् त्रिविध भवति तद्यथा—कायसरम्भ, वाङ्सरम्भ, मनसरम्भ कायसमारम्भ, वाङ्समारम्भ, मन समारम्भ कायारम्भ, वागारम्भ, मनआरम्भ इति । एतदप्येकश कृतकारितानुमतविशेषात् त्रिविध भवति । तद्यथा—कृतकायसरम्भ, कारितकायसरम्भ, अनुमतकायसरम्भ, कृतवाङ्सरम्भ, कारितवाङ्सरम्भ, अनुमतवाङ्सरम्भ, कृतमन सरम्भ, कारितमन सरम्भ, अनुमतमन सरम्भ, एव समारम्भारम्भावापि । तदपि पुनरेकश कषायविशेषाच्चतुर्विधम् ॥ तद्यथा—क्रोधकृतकायसरम्भ, मानकृतकायसरम्भ, मायाकृतकायसरम्भ लोभकृतकायसरम्भ, क्रोधकारितकायसरम्भ, मानकारितकायसरम्भ, मायाकारितकायसरम्भ लोभकारितकायसरम्भ, क्रोधानुमतकायसरम्भ, मानानुमतकायसरम्भ, मायानुमतकायसरम्भ, लोभानुमतकायसरम्भ, एव वाङ्मनोयोगाभ्यामपि वक्तव्यम् । तथासमारम्भारम्भौ । तदेव जीवाधिकरण समासेनेकश षट्त्रिंशद्विकल्प भवति । त्रिविधमप्यष्टोत्तरशतविकल्प भवतीति ॥

सरम्भ सकषाय, परितोपनया भवेत्समारम्भ ।

आरम्भ प्राणिवध, त्रिविधो योगस्ततो ह्येव ॥

अर्थ—पहले सूत्रमें अधिकरणके जो दो भेद गिनाये हैं, उनमें पहला भेद जीवाधिकरण है । अतएव इस सूत्रमें आद्य शब्दसे उसीको समझना चाहिये । क्योंकि सूत्रमें पठित क्रमके प्रामाण्यसे उसीका ग्रहण हो सकता है । जीवाधिकरणके एकसौ आठ भेद हैं । वह इस प्रकारसे क्रि—संश्लेषमें मूलमें उसके तीन भेद हैं—सरम्भ समारम्भ और आरम्भ । इनमें भी प्रत्येकके योग्यरी अपेक्षामें—शारीरिक शारीरिक और मानसिक योग्यरी विशेषतासे तीन तीन भेद होते हैं । यथा कायसरम्भ वाङ्मसरम्भ मन सरम्भ कायसमारम्भ वाङ्ममारम्भ मन समारम्भ कायारम्भ वागारम्भ मनआरम्भ । इनमेंसे भी प्रत्येकके कृत करित और अनुमोदनारी विशेषतासे तीन तीन भेद होते हैं । यथा कृतकायसरम्भ कारितकायसरम्भ अनुमतकायसरम्भ कृतवाङ्सरम्भ कारितवाङ्सरम्भ अनुमतवाङ्सरम्भ कृतमन सरम्भ कारितमन सरम्भ अनुमतमन सरम्भ । इस प्रकार सरम्भके ९ भेद हैं । इसी तरह समारम्भ और आरम्भके भी नौ नौ भेद समझ लेने चाहिये । इनमें भी प्रत्येकके क्रोधाग्नि वाग्नायोंकी विशेषनामे चार चार भेद होते हैं । यथा—क्रोधकृतकायसरम्भ मायाकृतकायसरम्भ मानकृतकायसरम्भ लोभकृतकायसरम्भ क्रोधकारित कायसरम्भ मानकारितकायसरम्भ मायाकारितकायसरम्भ लोभकारितकायसरम्भ क्रोधानुमत

कायसंरम्भ मानानुमतकायसंरम्भ मायानुमतकायसंरम्भ लोभानुमतकायसंरम्भ । इस प्रकार काययोगकी अपेक्षा संरम्भके भेद गिनाये, इसी तरह वचनयोग और मनोयोगकी अपेक्षासे भी संरम्भके भेद समझ लेने चाहिये, और संरम्भके समान ही समारम्भ तथा आरम्भके विकल्प भी घटित कर लेने चाहिये । इस प्रकारसे जीवाधिकरणके संक्षेपसे मूलमें तीन भेद जो बताये थे, उनमेंसे एकके ३६ विकल्प होते हैं । तीनों भेदोंके सम्पूर्ण विकल्प मिलकर १०८ होते हैं ।

योग तीन प्रकारका है । उनमेंसे जो केवल सक्रिय हो, उसको संरम्भ कहते हैं, और जो परितापना-पीड़ा देने आदिके द्वारा प्रवृत्त हो, उसको समारम्भ कहते हैं, तथा प्राणिवधरूप प्रवृत्तिको आरम्भ कहते हैं ।

भावार्थ—प्रमादी पुरुषको प्राणव्यपरोपण आदि कर्म करनेके विषयमें जो आवेश प्राप्त होता है, उसको संरम्भ कहते हैं । उस क्रियाके साधनोका अभ्यास करनेको समारम्भ कहते हैं । तथा उस क्रियाकी प्रथम प्रवृत्तिको आरम्भ कहते हैं । ये तीनों भाव मन वचन और काय इन तीनोंके ही द्वारा हो सकते हैं । अतएव तीनोंका परस्परमें गुणा करनेपर ९ भंग होते हैं । तथा ये नौ हूँ भंग कृत कारित और अनुमोदनाँ इस तरह तीनों प्रकारसे संभव हैं । अतएव ९ को ३ से गुणा करनेपर २७ भंग होते हैं । ये सत्ताईसों भंग क्रोधादि चारों कषायोंके द्वारा हुआ करते हैं । अतएव २७ को ४ से गुणा करनेपर १०८ भंग होते हैं । अथवा हिंसादिरूप प्रवृत्ति मन वचन कायके भेदसे तीन प्रकारकी है, और वह तीन तरहसे—कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा हो सकती है, अतएव ३ का ३ से गुणा करनेपर ९ भंग होते हैं । तथा ये नौ हूँ भंग चारों कषायसे होनेके कारण ९ को ४ से गुणा करनेपर ३६ भंग होते हैं । इस तरह ३६ भंग संरम्भके ३६ समारम्भके और ३६ आरम्भके हैं । तीनोंके मिलकर १०८ विकल्प होते हैं । ये ही जीवाधिकरणके १०८ भेद हैं^१ । तीव्र मंद आदि भावोंकी अपेक्षा इनके भी उत्तरभेद अनेक-असंख्यात हो सकते हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—अथाजीवाधिकरणं किमिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—साम्प्रदायिकआस्रवके भेदोंमेंसे जीवाधिकरणके भेद आपने गिनाये, परन्तु अधिकरणका दूसरा भेद जो अजीवरूप बताया था, उसके भेद अभीतक नहीं बताये और न उसका स्वरूप ही अभीतक मालूम हुआ है । अतएव कहिये कि अजीवाधिकरण शब्दसे क्या समझें, और उसके कितने भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

१ हिंसादि कर्मको स्वयं करना कृत, दूसरेसे कराना कारित, दूसरेके द्वारा किये गयेकी प्रशंसा करना अनुमोदना है । २—अर्थात् जीवकी इस तरहसे १०८ भेदरूप प्रवृत्ति हमेशा रहा करती है । इन साम्प्रदायिकआस्रवोंके द्वारा कर्मका बंध भी हमेशा हुआ करता है । इन १०८ प्रकारोंसे नित्य बँधनेवाले कर्मोंकी निवृत्तिके लिये ही १०८ मनका की माला फेरी जाती है, यह पापके संवर और निर्जराका एक उपाय है ।

सूत्र—निर्वर्तनानिक्षेपसयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदापरम् ॥१०॥

भाष्यम्—परमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यादजीवाधिकरणमाह । तत्समासतश्चतुर्विधम् । तद्यथा—निर्वर्तना निक्षेप सयोगो निसर्ग इति । तत्र निर्वर्तनाधिकरण द्विविधम् ।—मूल-गुणनिर्वर्तनाधिकरणमुत्तरगुणनिवर्तनाधिकरणम् च । तत्र मूलगुणनिर्वर्तना पञ्च,—शरीराणि वाङ्मन प्राणापानाश्च । उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठपुस्तचित्ररूपादीनि । निक्षेपाधिकरण चतुर्विधम् । तद्यथा—अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दु प्रमार्जितनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणमनाभोगनिक्षेपाधिकरणमिति । सयोगाधिकरणं द्विविधम् । भक्तपानसयोजनाधिकरणं उपकरणसयोजनाधिकरणम् च । निसर्गाधिकरणं त्रिविधम् ।—कायनिसर्गाधिकरणं वाङ्मनिसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणमिति ॥

अर्थ—इस सूत्रम पर शब्द जो आया है, वह उक्त सूत्र (अ० ६ सूत्र ८) में पठित पाठक्रमके प्रामाण्यसे क्रमानुसार अजीवाधिकरणको बताता है । अतएव सक्षेपसे उस अजीवाधिकरणके ४ भेद है । यथा—निर्वर्तना निक्षेप सयोग और निसर्ग । इनमेंसे पहले निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद हैं—मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण । इनमेंसे मूलगुणनिर्वर्तना पाँच प्रकारकी है—शरीर वचन मन प्राण और अपान । उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठ पुस्त चित्ररूप आदि अनेक प्रकारकी हैं । निक्षेपाधिकरणके चार भेद हैं । यथा अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दु प्रमार्जितनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण । सयोगाधिकरण दो प्रकारका है ।—भक्तपानसयोजनाधिकरण और उपकरणसयोजनाधिकरण । निसर्गाधिकरणके तीन भेद हैं—कायनिसर्गाधिकरण वाङ्मनिसर्गाधिकरण और मनोनिसर्गाधिकरण ।

भावार्थ—निर्वर्तना शब्दका अर्थ रचना करना अथवा उत्पन्न करना है । शरीर मन वचन और इन्द्रादिसंज्ञासंज्ञाके उत्पन्न करनेको मूलगुणनिर्वर्तना कहते हैं । काष्ठपर किसी मनुष्यादिके आकारके उकेरनेको या मिट्टी पत्थर आदिकी मूर्ति बनानेको या वस्त्रादिके ऊपर चित्र खींचनेको उत्तरगुणनिर्वर्तना कहते हैं । निक्षेप शब्दका अर्थ रखना है, बिना देखे ही किसी वस्तुके छेद देनेको अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप कहते हैं । दुष्टतासे अथवा यत्नाचारको छोटकर उपकरणोंके रखने या ढाल देने आदिको दु प्रमार्जितनिक्षेप कहते हैं । शीघ्रता वशा शरीर उपकरण या मलादिके सहसा-गृहीतों आदिको बिना देखे शोषे ही जोड़ देनेको सहसानिक्षेप कहते हैं । जल्दी न रहते हुए भी यहाँ कोई जीव जन्तु है, या नहीं इसका विचार न कर उक्त शरीरादिको बिना देखी शोषी भूमिपर रख देनेको अनाभोगनिक्षेप कहते हैं । किसी दो वस्तुओंके जोड़ने अथवा परस्परमें मिलानेको सयोग कहते हैं । खाने पीनेकी ठंडी चीजोंमें और भी गरम दूसरी चीजोंके मिलानेको अथवा गरममें ठंडी मिलानेको भक्तपानसयोजन कहते हैं । शीत

१—निवर्तनाके दो भेद इस तरहसे भी हैं—१—देह दु प्रयुक्तनिवर्तना (शरीरसे कुचेष्टा उत्पन्न करना), २—उपकरणनिवर्तना (हिसाके साधनभूत यन्त्रादिको तयार करना) ।

उपकरणादिको उष्ण पीछी आदिसे अथवा उष्ण स्पर्शयुक्त उपकरणादिकोंको शीत पीछी आदिसे शोधनेको उपकरणसंयोजन कहते हैं । निसर्ग नाम स्वभावका है । शरीर वचन और मनकी जैसी कुछ स्वभावसे ही प्रवृत्ति होती है, उसके विरुद्ध दूषित रीतिसे उनके प्रवर्तनको कायनिसर्गाधिकरण वाङ्निसर्गाधिकरण और मनोनिसर्गाधिकरण कहते हैं ।

यद्यपि ये अजीवाधिकरण भी जीवके द्वारा ही निष्पन्न होते हैं, परन्तु इनमें बाह्य द्रव्य-क्रियाकी प्रधानता है, और उससे असंबद्ध भी रहते हैं, अतएव इनको द्रव्याधिकरण या अजीवाधिकरण कहते हैं । जीवाधिकरण जीवपर्यायरूप ही है । यह दोनोंमें अन्तर है ।

भाष्यम्—अत्राह उक्तं भवता सकषायकषाययोर्योगः साम्परायिकेर्यापथयोरास्त्रव इति । सांपरायिकं चाष्टविधं वक्ष्यते । तत् किं सर्वस्याविशिष्ट आस्त्रव आहोस्वित्प्रतिविशेषोऽस्तीति । अत्रोच्यते—सत्यपि योगत्वाविशेषे प्रकृतिं कृतिं प्राप्यास्त्रवविशेषो भवति । तद्यथा

अर्थ—प्रश्न—सामान्यतया आस्त्रवके भेदोंको बताते हुए आपने कहा है, कि सकषाय जीवके योगको साम्परायिकआस्त्रव और अकषाय जीवके योगको ईर्यापथआस्त्रव कहते हैं । साम्परायिकआस्त्रव आठ प्रकारका है, ऐसा आगे चलकर कहेंगे । सो क्या वह सबके एकसा ही होता है ? अथवा व्यक्तिभेदके अनुसार उसमें कुछ विशेषता भी है ? उत्तर—यद्यपि योगत्व सबमें समानरूपसे ही रहता है, फिर भी प्रकृतिबंधरूप कर्मोंको पाकर उस आस्त्रवके अनेक भेद भी हो जाते हैं ।

भावार्थ—सामान्य दृष्टिसे देखा जाय, तो सभी योग समान है । परन्तु विशेष दृष्टिसे देखा जाय, तो उसके अनेक उत्तरभेद भी होते हैं । क्योंकि वह अनेक कर्म प्रकृतियोंके बन्धमें कारण है । जहाँ कार्यभेद है, वहाँ कारणभेद भी रहता ही है । कर्मोंका बंध सामान्य-तया चार प्रकारका है—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश । इनमेंसे प्रकृतिबंध ज्ञानावरणादिके भेदसे आठ प्रकारका है । आस्त्रवके विशेष भेदोंको दिखानेके लिये आगे क्रमसे आठों प्रकृतियोंके कारणोंको बताते हैं । उनमेंसे सबसे पहले ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मके कारणभूत आस्त्रवके विशेष भेदोंको दिखानेवाला सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—तत्प्रदोषनिह्वमात्सर्यान्तरायासादनोपघाताज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आस्त्रवो ज्ञानस्य ज्ञानवतां ज्ञानसाधनानां च प्रदोषो निह्वो मात्सर्यमन्तराय आसादन उपघात इति ज्ञानावरणास्त्रवा भवन्ति । एतेहि ज्ञानावरणं कर्म वध्यते । एवमेव दर्शनावरणस्येति ।

अर्थ—ज्ञान यद्वा ज्ञानवान् अथवा ज्ञानके साधनोंका प्रयोग निह्न मात्सर्य अन्तराय आसादन और उपघात ज्ञानावरणकर्मका आस्रव होता है । अर्थात् इन कारणोंसे ज्ञानावरणकर्म बन्धको प्राप्त हुआ करता है । इसी प्रकार दर्शनावरणकर्मके विषयमें समझना चाहिये ।

भावार्थ—प्रदोषादिक छह कारण ऐसे हैं, कि जिनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका बन्ध हुआ करता है । ये छह यदि ज्ञान ज्ञानवान् और ज्ञानके साधनोंके विषयमें हों, तो ज्ञानावरणके बन्धके कारण होते हैं, और दर्शन द्रष्टा तथा उसके साधनोंके विषयमें हों, तो दर्शनावरणके बन्धके कारण हुआ करते हैं ।

तत्त्वज्ञानकी प्रशस्त कथनीको सुनकर भी उसकी प्रशंसा न करने या द्वेषवश मौन धारण करलेने आदि दूषित परिणामोंको प्रदोष कहते हैं । ज्ञानके छिपानेको निह्नव कहते हैं—जैसे कि किसी बुभुत्सुके पूछनेपर पूछे हुए तत्त्वका स्वरूप मालूम होनेपर भी कह देना, कि “मैं नहीं जानता” । ये भी पढ जायगा तो मेरे बराबर हो जायगा, और फिर मेरी कीर्ति कम हो जायगी, इत्यादि दुरभिप्रायसे किसीको पढाना नहीं, और यदि कोई पढता हो, तो उससे डाह करना आदि मात्सर्य है । ज्ञानाभ्यासमें विघ्न करना, पुस्तक फाड़ देना, अध्यापनसे लड़ाई झगडा करके उसको हटा देना, स्थानका विच्छेद कर देना, जिससे ज्ञानका प्रसार होता हो उसका विरोध करना, आदि अन्तराय कहा जाता है, दूसरेके द्वारा प्रकाशित होते हुए ज्ञानके रोक देनेको आसादन कहते हैं, और प्रशस्त ज्ञानमें भी दूषण लगा देनेको उपघात कहते हैं ।

इन छह कारणोंका स्वरूप यहाँपर ज्ञानके सम्बन्धों लेकर बताया गया है, इसी प्रकार दर्शनके सम्बन्धसे भी उहाँका स्वरूप समझ लेना चाहिये ।

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके अनन्तर वेदनीयकर्मके बन्धके कारणोंको बताना चाहिये । वेदनीयकर्मके दो भेद हैं—असाता और साता । अतएव इनमेंसे क्रमानुसार पहले असद्वेद्य बन्धके कारणोंको बतते हैं—

सूत्र—दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

भाष्यम्—दुःख शोकस्ताप आक्रन्दन वध परिदेवनमित्यात्मसंस्थानि परस्य किय माणान्युभयोश्च कियमाणान्यसद्वेद्यस्याश्रया भवन्तीति ।

अर्थ—दुःख शोक ताप आक्रन्दन वध और परिदेवन ये छह कारण आत्मसंस्थ हों, अपनेमें होनेपड़े हों, या परमें किये गये हों, अथवा दोनोंमें किये जाँय असद्वेद्यकर्मके आश्रय हुआ करते हैं । अर्थात् इन कारणोंके निमित्तसे असाता वेदनीयकर्मका बन्ध हुआ करता है ।

भावार्थ—पीड़ारूप परिणामको अथवा जिसके होनेपर सुख शान्तिका अनुभव न होकर आकुलता या व्यग्रता उत्पन्न हो, उसको दुःख कहते हैं। इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर जो चित्तमें मलिनता या खेद उत्पन्न होता है, उसको या चिन्ता करनेको शोक कहते हैं। किसी बुरे कामके वन जानेपर जब निन्दा आदि होने लगे, या निन्दा न होनेपर भी उसके भयसे पीछेसे क्रोधादिका विशेष उदय होनेपर तीव्र अनुशय—संतापके होनेको ताप कहते हैं। परितापपूर्वक इस तरहसे रोना या विलाप करना, कि जिसमें अश्रुपात होने लगे, उसको आक्रन्दन कहते हैं। दश प्रकारके प्राणोंमेंसे किसीके भी नष्ट करनेवाली प्रवृत्ति करना या किसीको भी नष्ट करना इसको वध कहते हैं। तथा ऐसा रुदन करना, कि जिसको सुनते ही दूसरेके हृदयमें दया उत्पन्न हो जाय, उसको परिदेवन कहते हैं। ये छहों कारण तीन प्रकारसे हो सकते हैं—स्वयं किये जाय—अपने में ही उत्पन्न हों, या परमें हों, अथवा दोनोंके मिश्ररूप हों। परन्तु तीनोंमेंसे किसीभी तरहके क्यों न हों, इनसे असातावेदनीयकर्मका बन्ध हुआ करता है।

कमानुसार सद्देयकर्मके बन्धके कारणोंको दिखाते हैं—

सूत्र—भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्देयस्य ॥ १३ ॥

भाष्यम्—सर्वभूतानुकम्पा अगारिष्वनगारिषु च व्रतिष्वनुकम्पाविशेषो दानं सरागसंयमः संयमासंयमोऽकामनिर्जरा बालतपो योगः क्षान्तिः शौचमिति सद्देयस्यास्त्वैवा भवन्ति ॥

अर्थ—चारों ही गतिके प्राणिमात्रपर दया या कृपा रखनेको सर्वभूतानुकम्पा कहते हैं। अगारी-गृहस्थ—श्रावक—देशयति और अनगार अर्थात् ऋषि मुनि यति आदि सम्पूर्ण परिग्रहके त्यागी इस तरह दोनों ही प्रकारके व्रतियोंपर विशेषरूपसे दया करनेको व्रत्यनुकम्पा कहते हैं। स्व और परका अनुग्रह करनेके लिये अपनी वस्तुका वितरण करना इसको दान कहते हैं। सरागसंयम नाम रागसहित संयमका है। पाँचों इन्द्रियों और छठे मनको वश करना तथा छह कायके जीवोंकी विराधना न करनेको संयम कहते हैं। मोक्षकी इच्छासे अथवा रागसहित इसके पालन करनेको सरागसंयम कहते हैं। प्रयोजनीभूत विषयोंके सिवाय सम्पूर्ण विषयोंके त्यागको देशव्रत या संयमासंयम कहते हैं। विना इच्छाके अथवा व्रत धारण किये विना ही परार्थिता आदिके वश भोग या उपभोगरूप विषयोंके लृट जानेपर संक्लेश परिणामोंका न होना अर्थात् समपरिणामोंसे कष्टोंके सहन करनेको अकामनिर्जरा कहते हैं। मिथ्यादृष्टियोंके पंचाग्नि तप आदिको बालतप कहते हैं। शरीर और वचनकी क्रियाका लोकसम्मत रूपसे समीचीन अनुष्ठान करनेको योग कहते हैं। प्रतीकारकी शक्ति रहते हुए भी दूसरेके आक्रोश गाली आदिको सुनकर क्रोध न करना, इसको क्षान्ति कहते हैं। लोभ कषायके छोड़ने अथवा क्रान्त्यादिके द्वारा होनेवाली पवित्रताको शौच कहते हैं।

ये सप्त कारण या इनमेंसे एकादिके भी होनेपर सातावेदनीय कर्मका बध हुआ करता है । मल सूत्रमें छह कारणोंका ही उल्लेख है—भूतत्रत्यनुकम्पा, दान, सारागसयमादि, योग, शान्ति और शोच । भूतों—चारों गतियोंके प्राणियोंमें त्रितियोंका भी समावेश होजाता है, फिर भी उनका जो विशेषरूपसे नामोल्लेख किया है, सो साधारण प्राणियोंकी अपेक्षा उनको विशेषरूपसे अनुकम्पाका विषय बतानेके लिये है । आदि शब्दसे सयमासयम अकामनिर्जरा और बाल्यतप आदिमा ग्रहण समझना चाहिये ।

वेदनीयकर्मके अनन्तर मोहनीयकर्म है । इसके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्र मोह । इनमेंसे क्रमानुसार पहले दर्शनमोहके बधके कारणोंको बताते हैं —

सूत्र—केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१४॥

भाष्यम्—भगवता परमर्षीणा केवलिनामहर्षोक्तस्य च साङ्गोपाङ्गस्य श्रुतस्य चातुर्व प्यस्य सङ्घस्य पञ्चमहाव्रतसाधनस्य धर्मस्य चतुर्विधाना च देवानामवर्णवादो दर्शनमोहस्यास्त्विति ॥

अर्थ—परमर्षी भगवान् केवली, अर्हन्त भगवान्का प्ररूपित साङ्गोपाङ्ग श्रुत, चातुर्वर्ण्य सङ्घ, पञ्च महाव्रतोंका साधनरूप धर्म, तथा चार प्रकारके देव, इनका अवर्णवाद करना दर्शनमोहकर्मके बधका कारण है ।

भावार्थ—जिनकी क्लेश-राशि नष्ट हो चुकी है, उनको ऋषि कहते हैं । तेरहवें गुण स्थानस्ती परमात्मा परमर्षि है । सम्पूर्ण ऐश्वर्य वैराग्य आदि अनेक महान् गुणोंके धारण करनेवालेको भगवान् कहते हैं । जिनके केवलज्ञान प्रकट हो चुका है, उनको केवली कहते हैं । जिनके चार धातियार्कर्म नष्ट हो चुके हैं, उनको अर्हन्त कहते हैं, उन्होंने अपनी दिव्यध्वनिसे द्वारा जो मोक्षमार्गका तथा उसके विषयभूत तत्त्वोंका उपदेश दिया है, उसको श्रुत कहते हैं । इसके प्रकृतमें दो भेद हैं—अङ्ग और उपाङ्ग । अङ्गके नारह भेद हैं—आचाराङ्गादि । अङ्गोंसे शेष बचे हुए अक्षरोंके आश्रयसे अथवा अङ्गोंकी ही उद्धृत करके इतर आचार्योंके द्वारा जिनकी रचना हुई है, उन शास्त्रोंको उपाङ्ग कहते हैं । दोनोंका समूहरूप श्रुत साङ्गोपाङ्ग कहा जाता है । ऋषि मुनि यति और अनगार इस तरह चार प्रकारके मुनियोंके समूहको अथवा मुनि आर्थिक आचरक आचिका इन चारोंके समूहको चातुर्वर्ण्य सङ्घ कहते हैं । धर्म शब्दसे प्रकृतमें हिंसादि पाँच महापापोंके सर्वथा त्यागरूप महाव्रतोंके अनुष्ठानको कहते हैं । देवोंके चार भेद भवनवासी

१—रेपणान्कसाराणीनामृषिमाहुमनायिण । (यास्तिस्त्र) २—भग शब्दके अनेक अर्थ हैं, यथा—ऐश्वर्यस्य धनप्रस्य वायस्य दानस्य त्रिय । वेदस्यस्यावधेयस्य दानाभय इतिस्त्वन ॥ (धाजय नाममाला) । ३—भगवासी दिव्यध्वनि छद् छद् घटीके श्रिय चार समर्थोंके प्रकट हुआ करती है यथा—गुण्यस्य मन्त्रस्ये धारणे मन्त्रिमाय रतीण । छच्छमपडियणिगवद दिग्गुणी कहः सुस्थे ॥ उनका स्वभाव इस प्रकार है—'यत्नात्माहितं न वर्गमस्ति न स्पन्दितोऽप्ययं नो बाधो बलिन' इत्यादि ।

आदि पहले बता चुके हैं । इन सबके या इनमेंसे किसीके भी अवर्णवाद करनेसे दर्शनमोह-कर्मका आस्रव हुआ करता है । असद्भूत दोषोंका आरोपण करनेको अवर्णवाद कहते हैं ।

क्रमानुसार चारित्रमोहकर्मके बन्धके कारणोंको बताते हैं:—

सूत्र—कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१५॥

भाष्यम्—कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्यास्रवो भवति ॥

अर्थ—कषायके उदयसे जो आत्माके तीव्र परिणाम होते हैं, उनसे चारित्रमोह-कर्मका आस्रव होता है ।

भावार्थ—राग द्वेष अथवा क्रोध मान माया लोभके वशीभूत होकर कभी कभी जीवके ऐसे ऐसे परिणाम हो जाते हैं, कि जिनसे वह धर्मको या उसके साधनोंको भी नष्ट करने लगता है, या उसके साधनमें अन्तराय उत्पन्न कर देता है, व्रती पुरुषोंको व्रतोंके पालनमें शिथिल बना देता है, अनर्थ या मद्यपान मांसभक्षण सरीखे महान् पापोंका भी समर्थन करने लगता है । ऐसे ऐसे काम करनेमें प्रवृत्त करानेवाले भाव ही तीव्र परिणाम कहे जाते हैं । इनके होनेपर चारित्रमोहकर्मका बन्ध हुआ करता है ।

मोहकर्मके अनन्तर आयुर्कर्म है । उसके चार भेद हैं । जिनमेंसे क्रमानुसार पहले नरक आयुके आस्रवके कारणोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः ॥ १६॥

भाष्यम्—बह्वारम्भता बहुपरिग्रहता च नारकस्यायुष आस्रवो भवति ।

अर्थ—बहुत आरम्भ करना और बहुत परिग्रह धारण करना, इससे नरक आयुका आस्रव हुआ करता है ।

भावार्थ—बहुत्व दो प्रकारका होता है—संख्यारूप और वैपुल्यरूप । प्रकृतमें कोई विशेष उल्लेख नहीं है, अतएव दोनों प्रकारका लिया जा सकता है । “ये मेरा हैं” इस तरहके ममकाररूप संकल्पको परिग्रह कहते हैं, और इस तरहके संकल्पवश अनेक भोगोप-भोग सामग्रीके इकट्ठे करने या उसके साधनोंमें प्रवृत्त होनेको आरम्भ कहते हैं, इनकी अत्यधिकता नरकायुके बंधका कारण है ।

तिर्यगायुके बंधके कारणोंको बताते हैं:—

सूत्र—माया तैर्यग्योनस्य ॥ १७ ॥

भाष्यम्—माया तैर्यग्योनस्यास्रवो भवति ।

अर्थ—मायाचार करना तैर्यग्योन आयुके बंधका कारण हुआ करता है । मनुष्य आयुके आस्रवको बताते हैं:—

सूत्र—अल्पारम्भपरिग्रहत्व स्वभावमार्द्वार्जव च मानुषस्य ॥१८॥

भाष्यम्—अल्पारम्भपरिग्रहत्व स्वभावमार्द्वार्जव च मानुषस्यायुष आस्रवो भवति ।

अर्थ—अल्प आरम्भ करना और अल्प ही परिग्रह रखना तथा स्वभावनी मृदुता-
कोमलता और आर्जव-सरलता ये सब मनुष्य आयुके वषके कारण है —

भार्य—यहाँपर अल्प शब्दसे प्रयोजनीभूतको लिया है, जितनेसे अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाय, उतना आरम्भ करना और उतना ही परिग्रह रखना । मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है । इसी प्रकार मार्द्व और आर्जव भी उसके कारण है । मानके अभावको मार्द्व और मायाचारके न करनेको आर्जव कहते हैं ।

सामान्यसे सभी आयुओंके आस्रवके कारणोंको बताते हैं —

सूत्र—निःशीलव्रतत्व च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्—निःशीलव्रतत्व च सर्वेषा नारकतेर्यग्योनमानुषाणामास्रवो भवति । यद्यो
क्तानि च ॥

अर्थ—नारक आयु तैर्यग्योन आयु और मनुष्य आयुके आस्रवके कारण ऊपर बता
चुके हैं, उन कारणोंसे उन उन आयुओंका आस्रव होता है । परन्तु उनसे सिवाय एक
सामान्य कारण शीलरहित व्रतोंका पालन करना है । इससे सभी आयुओंका आस्रव होता है ।

भार्य—सर्व शब्दसे चारों आयुओंका ग्रहण होना चाहिये, परन्तु प्रकृतमें ऊपर
कही हुई तीन ही आयुओंकी अपेक्षा ही गई है । किन्तु यह अर्थ इस तरह सूत्रके न करनेपर
भी सिद्ध हो सकता था । अतएव इससे एक विशेष ज्ञापनसिद्ध अर्थ भी प्रकट होता है ।
वह यह कि भोगभूमिजोंकी अपेक्षा निःशील व्रतोंका पालन करना देवायुके आस्रवका भी
कारण है ।

भाष्यम्—अथ दैवस्यायुष क आस्रव इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आयुर्म्मके चार भेद हैं । उनमेंसे तीनके आस्रवके कारण आपने ऊपर
बताये । परन्तु देवायुके आस्रवको अभी तक नहीं बताया । अतएव कहिये कि उसका आस्रव
क्या है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सरागसयमसयमासंयमाकामनिर्जरावालतपासि दैवस्य ॥२०॥

भाष्यम्—सयमो विरतिर्व्रतमित्यनर्थान्तरम् । तिसानृतस्तेयाग्रद्वपरिग्रहेभ्यो विरति
व्रतामिति वक्ष्यते । सयमासयमो वेशचिरतिरेणुव्रतामित्यनर्थान्तरम् । वेशसर्वतोऽणुमहती ।
इत्यपि वक्ष्यते । अकामनिर्जरा परार्थानतयानुरोधाद्याकुशलनिवृत्तिराहारादिनिरोधश्च ।
वालतपः । शालो मूढ इत्यनर्थान्तरम्, तस्य तपो बालतपः । तद्यातिप्रवेगमकृत्प्रपातजल
मवेशादि । तदेवं सरागसंयम सयमासयमादीनि च दैवस्यायुष आस्रवा भवतीति ॥

अर्थ—संयम विरति और व्रत ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। इसका लक्षण आगे चलकर “हिंसानृतस्तेयाव्रह्मपग्निहेभ्यो विरतिव्रतम्” (अ० ७ सूत्र १) इस सूत्रके द्वारा बतावेंगे, कि हिंसा आदि पापोंसे उपरति होनेको व्रत कहते हैं। इस व्रतके राग सहित धारण करनेको सरागसंयम कहते हैं। संयमासंयम देशविरति और अणुव्रत ये तीनों शब्द पर्याय-वाचक हैं। इस विषयमें भी आगे चलकर “देशसर्वतोऽणुमहती” (अ० ७ सूत्र २) इस सूत्र द्वारा बतावेंगे, कि हिंसादिके, एक देश—आंशिक त्यागको देशव्रत और सर्वथा त्यागको सर्वव्रत अथवा महाव्रत कहते हैं। परार्थानता—किसीके वशमें पड़कर अथवा किसीके अनुरोध—दबावसे आहारादिका निरोध होना और अकुशल निवृत्ति—आहारादिके छूट जानेसे दुःख न माननेको अकामनिर्जरा कहते हैं। बाल और मूढ़ शब्द भी समानार्थ हैं। उसके तपको बालतप कहते हैं। अर्थात् अग्निमें प्रवेश करना, वायुभक्षण करके रहना, पर्व-तसे गिरना, नदी नद समुद्रादिमें प्रवेश करना आदि मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानहीन तप करनेको बालतप कहते हैं। इस प्रकारसे ये सब—सरागसंयम और संयमासंयम आदि देव आयुके आस्त्रव हुआ करते हैं।

भावार्थ—इनमेंसे किसी भी कारणके मिलनेपर देवायुका आस्त्रव हो सकता है।

भाष्यम्—अथ नाम्नः क आस्त्रव इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—आयुके अनन्तर नामकर्म है। अतएव क्रमके अनुमार उसके आस्त्रव वताने चाहिये। इसलिये कहिये कि किन किन कारणोंसे नामकर्मका आस्त्रव होता है ? उत्तर—नाम-कर्मके दो भेद हैं—अशुभ और शुभ। इनमेंसे अशुभनामकर्मके बंधके कारण इस प्रकार हैं—

१. सूत्र—योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—कायवाङ्मनोयोगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः आस्त्रवो भवतीति ॥

अर्थ—शरीर वचन और मन इनके द्वारा होनेवाले योगकी वक्रता—कुटिलता या विषमता, और विसंवाद ये अशुभनामकर्मके आस्त्रव हैं।

भावार्थ—मन वचन कायकी सरल—एकसी क्रिया न होकर विषम हो, मनके विचार कुछ और हों, और वचनसे कहे कुछ और, तथा शरीरसे कुछ और ही चेष्टा करे तो ऐसा करनेसे तथा विसंवाद—साधर्मियोंके साथ झगड़ा करने, या अन्यथा प्रवृत्ति करनेसे अशुभनाम-कर्मका बंध हुआ करता है।

क्रमानुसार शुभ नामकर्मके आस्त्रवोंको बताते हैं—

सूत्र—विपरीतं शुभस्य ॥ २२ ॥

भाष्यम्—एतदुभयं विपरीतं शुभस्य नाम्नः आस्त्रवो भवतीति । किं चान्यत्—

अर्थ—ऊपर अशुभ नामकर्मके आस्त्रवके दो कारण जो बताये हैं, उनसे ठीक विपरीत दो प्रकारकी प्रवृत्ति शुभनामकर्मका आस्त्रव हुआ करती है । अर्थात् मन वचन कायकी सरल-एकसी वृत्ति और अविस्वाद-अयथा प्रवृत्ति न करनेसे शुभनामकर्मका आस्त्रव हुआ करता है ।

इस प्रकार शुभ और अशुभ नामकर्मके आस्त्रव बताये । किन्तु नामकर्मकी प्रवृत्तियोंमें तीर्थकरकर्म सबसे उत्कृष्ट और प्रधान है । जिसका कि उदय होनेपर अर्हन्त भगवान् मोक्षमार्ग-की दिशनामें प्रवृत्त हुआ करते हैं । अतएव उस कर्मकी उत्कृष्टता दिखानेवाले उसके बधके कारणोंको भी पृथक् रूपसे बतानेकी आवश्यकता है । इसी लिये आगेके सूत्रद्वारा ग्रन्थकार तीर्थ करकर्मके आस्त्रवके कारणोंको बताते हैं—

**सूत्र—दर्शनविशुद्धिर्विनयसपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारो-
ऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगसवेगो शक्तितस्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिर्वैया-
वृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिमार्गप्रभा-
वना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्वस्य ॥ २३ ॥**

भाष्यम्—परमप्रकृष्टा दर्शनविशुद्धि, विनयसपन्नता च, शीलव्रतेष्वनतिक्रान्तिको भूशम प्रमादाऽनतिचार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग सवेगश्च । यथाशक्तितस्यागस्तपश्च, सङ्घस्य साधूनां च समाधिर्नैवावृत्यकरणम् अर्हत्वाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च परमभावविशुद्धियुक्ता भक्ति, सामायिकादीनामावश्यकानां भावतोऽनुष्ठानस्यापरिहाणि सम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गस्य निवृत्त्य मान करणोपदेशाभ्या प्रभावना, अहङ्गासन्नानुष्ठायिना श्रुतधराणा बालवृद्धतपस्विदीक्षग्लानादीनां च सद्ग्रहोपग्रहानुयत्कारित्य प्रवचनवत्सलत्वमिति, पते गुणा समस्ता व्यस्ता या तीर्थकरनाञ्जआस्त्रवा भवन्तीति ॥

अर्थ—अत्यन्त प्रवर्ध अस्याको प्राप्त हुई दर्शनविशुद्धि—सम्यग्दर्शनकी विशेष शुद्धावस्था, विनयगुणकी पूर्णता, शील और व्रतोंमें अतीचार रहित प्रवृत्ति—पुन पुन और अतिशयिताके साथ इस तरहसे प्रवर्तन करना कि, जिसमें प्रमादना सम्बन्ध न पाया जाय । निरन्तर ज्ञानोपयोगका रखना, और सवेगगुणको धारण करना, ससार और उसके कारणोंसे सदा भयभीत रहना, यथाशक्ति—अपनी सामर्थ्यके अनुसार—सामर्थ्यसे न कम न ज्यादा त्याग और तप करना—दान देना और तपश्चरण करना, सर्व और साधुआ की समीधि तथा वेद्यानृत्य करना, अरिहत आचार्य बहुश्रुत और प्रवचनसे विषयमें उत्कृष्ट भावोंकी विशुद्धिसे युक्त भक्तिका होना, सामायिक आदि आवश्यकताका कभी भी परित्याग

१—‘मन्त्रैर्न वयस्येक कर्मण्येक महारमनाम् ॥’ २—चानुर्गम्य समुद्रो सय कहते हैं । ३—मुनियोंके तपकी रक्षा करनेको साधु—समाधि कहते हैं । ४—गुणी पुरुषोंके ऊपर दुष्ट या विपक्षि आत्रानेपर उगरी व्यावृत्ति करना, वेद्यानृत्य नामका गुण है । क्योंकि व्यावृत्तेर्भावा वेद्यानृत्यम् ।

न हो इस तरहसे भावपूर्वक अनुष्ठान करना, सम्यग्दर्शन आदि जो मोक्षके मार्ग बताये हैं, उनका अच्छी तरह सन्मान करना, और दूसरोंको भी उपदेश देकर वैसा करनेके लिये समझाना, तथा हर तरहसे शारीरिक चेष्टा और उपदेशके द्वारा मोक्षमार्गके माहात्म्यको प्रकट करना, अरिहंत भगवान्‌के शासनका पालन करनेवाले श्रुतधर आदिके विषयमें प्रवचनवात्सल्यका पालन करना—अर्थात् श्रुतधर वाल वृद्ध तपस्वी शैक्ष ग्लान गण आदिके साथ गौ का अपने बच्चेके साथ जैसा प्रेम हुआ करता है, उसी प्रकार प्रेम रखना, ये सोलह गुण हैं, जोकि सबके सब मिलकर अथवा इनमेंसे एक दो तीन चार आदि मिलकर भी तीर्थकरनामकर्मके आस्त्रव हुआ करते हैं ।

भावार्थ—इन सोलह कारणोंको ही षोडशकारणभावना भी कहते हैं, क्योंकि इनके निमित्तसे तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है । इनमें पहला कारण—दर्शनविशुद्धि प्रधान है । उसके रहते हुए ही शेष १५ कारणोंमेंसे एक दो आदि जितने भी कारण होंगे, वे तीर्थकर बंधके निमित्त हो सकते हैं । परन्तु दर्शनविशुद्धिके बिना कोई भी कारण—गुण—तीर्थकरनामकर्मके बन्धका कारण नहीं बन सकता । क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव ही उसके बन्धका प्रारम्भक माना गया है ।

नामकर्मके अनन्तर गोत्रकर्म है, उसके दो भेद हैं—नीचगोत्र और उच्चगोत्र । इनमेंसे पहले नीचगोत्रके आस्त्रव बताते हैं—

सूत्र—परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावनं च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २४ ॥

भाष्यम्—परनिन्दात्मप्रशंसा सद्वृणाच्छादनमसद्गुणोद्भावनं चात्मपरोभयस्थं नीचैर्गोत्रस्यास्त्रवा भवन्ति ॥

अर्थ—दूसरेकी निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरेके समीचीन भी गुणोंका आच्छादन करना, अपने असद्गुणोंका भी उद्भावन करना, अथवा सदगुणोंका आच्छादन और असद्गुणोंका उद्भावन अपने विषयमें हो या दूसरेके विषयमें हो, यद्वा दोनोंके विषयमें हो, नीचगोत्रका आस्त्रव हुआ करता है ।

भावार्थ—अपने अयोग्य गुणों—दोषोंको भी लोकमें समीचीन गुण बतानेका प्रयत्न करना, इसके विपरीत दूसरेके समीचीन गुणोंको भी मिथ्या अथवा दोषरूप जाहिर करना, तथा इसकी मिश्ररूप—दोनों तरहकी प्रवृत्ति करना नीचगोत्रका आस्त्रव है ।

१—प्रवचन शब्दका अर्थ दो प्रकारसे होता है—एकतो प्रकृष्टं च तद्वचनं च प्रवचनम् । दूसरा प्रकृष्टं वचनं यस्य स प्रवचनः । इसी लिये प्रवचन—श्रुत और श्रुतधर आदि दोनोंके विषयमें वात्सल्य रखना प्रवचनवात्सल्यगुण बताया है । श्रुतधर—उपाध्याय, तपस्वी—महान् उपवास आदि करनेवाला, शैक्ष—शिक्षाग्रहण करनेवाला, ग्लान—रोग आदिसे सं-
 क्लिष्ट, गण—स्वविरसतति । “ वत्सलत्वं पुनर्वत्से धेनुवत्संप्रकीर्तितम् । जैन प्रवचने सम्यक् श्रद्धानज्ञानवत्त्वपि ॥ ”
 २—“ दग्धिशुद्धपादयो नात्रस्तीर्यकृत्वस्यहेतवः । समस्ततृपावाहग्विशुद्ध्या समन्विता ॥ ”

क्रमानुसार उच्चगोत्रकर्मके आश्रवोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥

भाष्यम्—उत्तरस्येति सूत्रक्रमप्रामाण्यादुच्चैर्गोत्रस्याह । नीचैर्गोत्रास्तवविपर्ययो नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकश्चोच्चैर्गोत्रस्याश्रवा भवन्ति ।

अर्थ—सूत्रमें उत्तर शब्द जो आया है, उससे उच्चैर्गोत्रकर्मका ग्रहण समझना चाहिये । क्योंकि सूत्रमें पठित क्रम प्रमाण है । अतएव ऊपरके सूत्रमें जो नीचैर्गोत्रकर्मके आश्रव बताये हैं, उनसे विपरीत भाव और नीचैर्वृत्ति तथा अनुत्सेक ये उच्चगोत्रकर्मके आश्रव हैं ।

भावार्थ—अपनी निन्दा करना, दूसरेकी प्रशंसा करना, दूसरेके असद्गुणोंका आच्छादन करना, अपने सद्गुण भी गुणोंका गोपन करना, दूसरेके सद्गुणोंको प्रकट करना, नीचैर्वृत्ति रखना—सबके साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार करना, किसीके भी साथ उद्धतताका व्यवहार न करना—गर्व रहित प्रवृत्ति रखना, ये गुण उच्चैर्गोत्रकर्मके बाधके कारण हैं ।—

क्रमानुसार अन्तरायकर्मके आश्रवोंको बताते हैं—

सूत्र—विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २६ ॥

भाष्यम्—दानादीना विघ्नकरणमन्तरायस्याश्रवो भवतीति । एतेसाम्परायिकस्याष्टविधस्य पृथक् पृथगाश्रवाविशेषा भवन्तीति

॥ इति तत्त्वाध्याधिगमेऽर्हत्प्रवचनसमष्टे पष्ठोऽध्याय समाप्त ॥

अर्थ—दानादिकमें विघ्न करना अन्तरायकर्मका आश्रव है ।

भावार्थ—अन्तराय कर्म ५ प्रकारका है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय । दान लाभ भोग उपभोग और वीर्यमें जिस कर्मके उदयसे सफलता न हो, वह अन्तरायकर्म है, उसका बाध भी इन विषयोंमें विघ्न उपास्थित करनेसे हुआ करता है । किसी दाताको दानसे रोकना, दाता और दानकी निन्दा करना, दानके साधनोंको नष्ट करना छिपाना, या पात्रका संयोग न होने देना आदि दानान्तरायका आश्रव है । इसी प्रकार किसीके लाभमें विघ्न डालना लाभान्तरायका, भोगोंमें विघ्न करना भोगान्तरायका, उपभोगमें विघ्न करना उपभोगान्तरायका, और वीर्य-शक्तिसम्प्राप्तमें विघ्न उपास्थित करना वीर्यान्तरायका आश्रव है ।

ऊपर आठ प्रकारके ज्ञानावरणादि कर्मोंके साम्परायिक आश्रवके भेद क्रमसे बताये हैं । क्योंकि यह सामान्य वचन है । अतएव इनके जो अवान्तर भेद हैं, उनके बाधके कारण भी इसी नियमके अनुसार यथायोग्य समझ लेने चाहिये ।

भावार्थ—कार्माणवर्गणाओंका आत्माके साथ जो एकक्षेत्रावगाह होकर कर्मरूप परिणमन होता है, उसका कारण योग और कषाय है । योग और कषायके निमित्तसे जीवके

मन वचन कायकी जैसी जैसी परिणति होती है, वह वह अपनी अपनी योग्यताके अनुसार आठ प्रकारके कर्मोंमेंसे जिस जिसके बन्धके लिये योग्य है, उस उसके होनेपर उसी उसी कर्मका बंध भी हो जाता है। किन्तु कमसे कम सात कर्मोंका और कदाचित् आठ कर्मोंका भी जीवोंके साम्परायिकबन्ध हमेशा हुआ करता है। अतएव यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब यहाँपर तत्तत्कर्मके आस्त्रव बताये हैं, तो उनसे तो यही बात सिद्ध होती है, कि इन इन आस्त्रव-कारणोंके होनेपर उन्हीं उन्हीं कर्मोंका बन्ध हो सकता है, जिनका कि यहाँपर उल्लेख किया गया है, दूसरे कर्मोंका नहीं। जैसे कि ज्ञानका प्रदोष या निन्हव होनेपर ज्ञानावरणकर्मका ही बन्ध हो सकता है, शेष कर्मोंका नहीं। ऐसी दशामें युगपत् सम्पूर्ण कर्मोंका बन्ध कैसे माना जा सकता है? उत्तर—यह साम्परायिकबन्धका प्रकरण है, साम्परायिकबन्धमें स्थितिकी प्रधानता है, क्योंकि स्थितिवन्ध कषायके आधीन है। अतएव इन आस्त्रवकारणोंको भी स्थितिके ही साथ सम्बद्ध करना चाहिये। अर्थात् इन इन कारणोंके होनेपर उन उन कर्मोंमें स्थितिवन्ध विशेष पड़ता है, जिनका कि यहाँपर उल्लेख किया गया है। आस्त्रव और बन्ध सामान्यतया शेष कर्मोंका भी हो सकता है, इसमें किसी भी तरहकी आपत्ति नहीं है।

यहाँपर जो आस्त्रवके कारण गिनाये हैं, वे प्रतीक मात्र अथवा उपलक्षणमात्र हैं, अतएव इनके समान और भी जो जो कारण शास्त्रोंमें बताये हैं, वे भी उन उन कर्मोंके बन्धमें कारण समझ लेने चाहिये।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका छटा अध्याय समाप्त हुआ ॥



१—आयुर्कर्मके बन्धके योग्य आठ अपकर्षकाल माने हैं। उसका बन्ध उन्हीं समयोंमें हुआ करता है शेष समयमें बाकी सात कर्मोंका ही बंध हुआ करता है।

सप्तमोऽध्यायः ।



भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता सद्बोधस्यास्त्रयेण “भूतव्रत्यनुकम्पेति ?” तत्र किं व्रत को वा व्रतीति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने पहले गत छंदे अध्यायके १२ वें सत्रमें “भूतव्रत्यनुकम्पा” शब्दका प्रयोग किया है । जिसका अभिप्राय यही था, कि भूत-प्राणिमात्रपर और खासकर व्रतियोंपर अनुरूपता करनेसे सद्बोधकर्मका आस्वय होता है । नती शब्दका अर्थ व्रतोंको धारण करनेवाला होता है । अतएव यह भी बतानेकी आवश्यकता है, कि वे व्रत कौन हैं, कि जिनको धारण करनेवाला व्रती कहा जाता है, तथा व्रती भी किसको समझना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं —

सूत्र—हिंसानृतस्तेयाव्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—हिंसाया अनृतप्रचनान्त्येयाव्रह्मस्य परिग्रहाच्च कायवाङ्मनोभिर्विरतिर्व्रतम् । विरतिर्नाम ह्यात्माभ्युपेत्याकरणम् । अकरण निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—हिंसा, अनृत वचन—मिश्रा मापण, स्तेय—चोरी, अन्न—कुशील, और परिग्रह, इन पाँच पापोंसे मन वचन और कायके द्वारा जो विरति होती है, उसको व्रत कहते हैं । विरतिना अर्थ होता है, कि जानकर और प्राप्तकरके इन कार्योंको न करना । न कराना, निवृत्ति, उपरम, और विरति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भावार्थ—जो विषय मालूम ही नहीं है, या जिस विषयमें बालकवत् अज्ञान है, उसका त्याग भी कैसे किया जा सकता है । इसी प्रकार जो विषय प्राप्त ही नहीं हो सकता, उसका त्याग भी किस प्रयोजनका ? अतएव जिसको हम प्राप्त कर सकते हैं, ओर जानते हैं, फिर भी उसका छोड़ना, इसको व्रत कहते हैं ।

त्याग पापकर्मका ही हो सकता है, और करना चाहिये । प्रकृत में पाप पाँच गिनाये हैं, जिनका कि त्याग व्रत कहा जाता है । इन पाँचों पापोंका लक्षण आगे चलकर लिखा जायगा । इसके पहले त्यागरूप व्रत किन्ने प्रकारका है, और उसका स्वरूप क्या है ? सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—देवसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

भाष्यम्—एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रत सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति ॥

अर्थ—उपर जो हिंसा शूद्र चोरी आदि पाँच पाप गिनाये हैं, उनका एकदेश त्याग करना अणुव्रत, और सर्वात्मना त्याग करना महाव्रत कहा जाता है ।

भानार्थ—एकेन्द्रिय स्थावर जीव और त्रस जीवोंकी प्रयोजनके विना हिंसा न करना आदि, अथवा हिंसा आदिके सूक्ष्म भेदोंको छोड़कर वाकी स्थूल भेदोंका परित्याग करना अणुव्रत है। यह व्रत गृहस्थ श्रावकके हुआ करता है, और इन पापोंके सभी भंगोंका—सभी सूक्ष्म स्थूल भेदोंका परित्याग करना महाव्रत कहा जाता है। यह गृहनिवृत्त मुनियोंके हुआ करता है।

इन व्रतोंके धारण कर लेनेपर भी अनभ्यस्त जीव उनसे च्युत हो सकता है। अतएव उनकी स्थिरताका क्या उपाय है, सो वतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रम्—तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तस्य पञ्चविधस्य व्रतस्य स्थैर्यार्थमेकैकस्य पञ्च पञ्च भावना भवन्ति। तद्यथा—अहिंसायास्तावदीर्यासमितिर्मनोगुप्तिरेषणासमितिरादाननिक्षेपणसमितिरालोकितपानभोजनामिति ॥ सत्यवचनस्यानुवीचिभाषणं क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानमभीक्ष्णं हास्यप्रत्याख्यानमिति ॥ अस्तेयस्यानुवीच्यवग्रहयाचनमभीक्ष्णावग्रहयाचनमेतावदित्यवग्रहावधारणं समानधार्मिकेभ्योऽवग्रहयाचनमनुज्ञापितपानभोजनमिति ॥ ब्रह्मचर्यस्य स्त्रीपशुपण्डकसंशक्तशयनासनवर्जनं रागसंयुक्तस्त्रीकथावर्जनं स्त्रीणां मनोहरेन्द्रियावलोकनवर्जनं पूर्वरतानुस्मरणवर्जनं प्रणीतरसभोजनवर्जनमिति ॥ आकिञ्चनस्य पञ्चानामिन्द्रियार्थानां स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दानां मनोज्ञानां प्राप्तौ गाढ्यवर्जनममनोज्ञानां प्राप्तौ द्वेषवर्जनमिति ॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार पाँच पापोंका त्यागरूप व्रत भी पाँच प्रकारका ही है। अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन व्रतोंमेंसे प्रत्येक व्रतकी स्थिरताके लिये पाँच पाँच प्रकारकी भावनाएं हैं, जिनके कि निमित्तसे ये व्रत स्थिर रह सकते, या रहा करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, और आलोकितपान भोजन, ये पाँच अहिंसा व्रतकी भावनाएं हैं। अपने शरीरप्रमाण ३॥ हाथ भूमिको देखकर जिससे कि किसी भी जीवकी विराधना न हो, चलनेको ईर्यासमिति कहते हैं^१। मनोयोगके रोकनेको अथवा रौद्रध्यानादि दुष्ट विचारोंके छोड़नेको मनोगुप्ति कहते हैं^२। शास्त्रोक्त भोजनकी शुद्धिके पालन करनेको एषणासमिति कहते हैं^३। देखकर और शोधकर किसी भी वस्तुके उठाने और रखनेको आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। सूर्यके प्रकाशमें योग्य समयपर दृष्टिसे देख शोधकर भोजन पान करनेको आलोकितपान भोजन कहते हैं। इन पाँचोंका पालन करनेसे अहिंसा व्रत स्थिर रहता है।

१—सगुणो उबलो गालं वण सुद्धिहि इरियदो मुणिणो । सुत्ताणुवीचिभाणि या इरियासमिदो पवयणमिहि ॥ अथवा—स्यादीर्यासमिति। श्रुतार्थविदुषो देशान्तरप्रेप्सतः, श्रेयःसाधनसिद्ध्ये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते । मार्गे कौक्कुटिकेऽस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः, कारुष्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयात्यङ्गिनः ॥ २—विहाय सर्वसंस्कारान् रागद्वेषावलम्बितान् । स्वाधीनं कुर्वतश्चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥ सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शस्त्रप्रेरयतोऽयदा, भवत्यविकलानाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः ॥ ३—दिगम्बर-सम्प्रदायमें एषणासमितिके बदले वाग्गुप्ति मानी है। भैक्ष्य-शुद्धिको अचौर्यव्रतकी भावनाओंमें गिनाया है ॥

अनुवीचिमापण—क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, निर्भयता, और हास्यका परित्याग, ये पाँच सत्यवचन व्रतकी भावनाएँ हैं । शास्त्रोक्त और व्यवहारसे अविरुद्ध वचन बोलनेको अनुवीचिमापण कहते हैं । बाकी चारोंका अर्थ स्पष्ट है । क्रोध लोभ भय और हास्यके निमित्तसे असत्य भाषा बोलनेमें प्राय आती है । अतएव इनका त्याग करनेसे सत्य व्रत स्थिर रहता है ।

निरवद्य—हिंसा आदिसे अनुत्पन्न या निर्दोष अनिष्ट पदार्थका ही ग्रहण करना, अथवा उसीकी याचना करना, निरन्तर उसी प्रकारसे ग्रहण याचन करना, हमारे लिये इतना ही पर्याप्त है, ऐसा समझकर उतने ही पदार्थको ग्रहण करना अथवा याचना करके धारण करना, जो अपने सधर्मा हैं, उन्हींसे याचना करना और उन्हींके पदार्थको ग्रहण करना, अनुज्ञा—स्वीकारता प्राप्त होजानेपर ही पान—भोजन करना—दाताने जिस वस्तुकी आज्ञा दे दी है, उसीका ग्रहण करना, ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं । इनका पालन करनेसे अचौर्य व्रत स्थिर रहता है ।

स्त्री पशु और नपुंसक इनका ससर्ग जिसमें पाया जाता है, ऐसे शयन आसनका त्याग करना । अर्थात् स्त्री आदिक जिनपर या जहाँपर सोते उठते बैठते हैं, उन वस्तुओंपर या शय्या आदिपर नहीं बैठना चाहिए । रागपूर्वक स्त्रियोंकी कथा नहीं करना—स्त्रीविकथाका परित्याग करना । स्त्रियोंके मनोहर अङ्ग उपाङ्गोंको अथवा कटाक्षपातादि विकारोंकी नहीं देखना—रागके बशीभूत होकर स्त्रियोंकी तरफ दृष्टि नहीं डालना । पहले जो रतिसभोग आदि किये थे, उनका स्मरण न करना । गरिष्ठ तथा कामोद्दीपक पदार्थोंका या रसादिकका सेवन न करना । ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ हैं । इनका निरन्तर पालन करनेसे षतुर्थ—ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर रहता है ।

पाँच इन्द्रियोंके विषय भी पाँच हैं—स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द । पाँचों ही दो दो प्रकारके हुआ करते हैं—मनोज्ञ और अमनोज्ञ । मनोज्ञ विषयोंकी प्राप्तिके लिये चिन्तन न करना अथवा प्राप्त हो जानेपर उनकी गृह्ण न करना । तथा अमनोज्ञ विषयोंकी प्राप्तिके विषय में द्वेष नहीं करना । ये पाँच अपरिग्रह व्रतकी भावनाएँ हैं । इनके निरन्तर चिन्तन करनेसे परिग्रहत्याग व्रत स्थिर रहा करता है ।

इस प्रकार पाँचो व्रतोंकी क्रमसे ये पाँच भावनाएँ हैं, जिनका कि पुन पुन याचन करनेसे ये व्रत स्थिर रहा करते हैं । ये एक एक व्रतकी विशेष विशेष भावनाएँ हैं । इनके सिवाय सब व्रतोंकी सामान्य भावनाएँ भी है या नहीं ? इस शंकाको दूर करनेके अभिप्रायसे और अग्रिम सूत्रकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग करनेके लिये भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—किं चान्यत्—

अर्थ—ऊपर प्रत्येक व्रतकी जो भावनाएं बताई हैं, उनके सिवाय सामान्यतया सभी व्रतों-को स्थिर करनेवाली भी भावनाएं हैं। उन्हींको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—हिंसादिषु पंचस्वास्त्रवेष्विहामुत्र चापायदर्शनमवद्यदर्शनं च भावयेत् । तद्यथा हिंसायास्तावत् हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयो नित्यानुबद्धवैरश्च । इहैव बधवन्धपरिक्लेशादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान् । तथानृतवाद्य-श्रद्धेयो भवति । इहैव जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्यारव्यानदुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यस्त-दधिकान् दुःखहेतून् प्राप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीत्यनृतवचनाद् व्युपरमः श्रेयान् । तथा स्तेनः परद्रव्यहरणप्रसक्तमतिः सर्वस्योद्वेजनीयो भवतीति । इहैव चाभिघातबधवन्धन-हरतपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणवध्ययातनमारणादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति स्तेयाद् व्युपरमः श्रेयान् । तथाऽब्रह्मचारी विभ्रमोद्भ्रान्तचित्तः विप्रकीर्णोन्द्रियो मदान्धो गज इव निरङ्कुशः शर्म नो लभते । मोहाभिभूतश्च कार्याकार्या-नभिज्ञो न किञ्चिदकुशलं नारभते । परदाराभिगमनकृतांश्च इहैव वैरानुबन्धालिङ्गच्छे-दनबधवन्धनद्रव्यापहारादीन् प्रतिलभतेऽपायान् प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीत्यब्रह्मणो व्युपरमः श्रेयान् इति । तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव मांसपेशीहस्तोऽन्येषां क्रव्यादशकुनाना-मिहैव तस्करादीनां गम्यो भवति । अर्जनरक्षणक्षयकृतांश्च दोषान् प्राप्नोति । न चास्य वृत्तिर्भवतीन्धनैरिवाग्नेर्लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति । प्रेत्य चाशुभां गतिं प्राप्नोति, लुब्धोऽयमिति च गर्हितो भवतीति परिग्रहाद् व्युपरमः श्रेयान् ॥

अर्थ—हिंसा आदि पाँच पाप कर्मरूप जो ऊपर आखव बताये हैं, उनके विषयमें इस लोक और परलोकमें निरन्तर अपायदर्शन और अवद्यदर्शनका विचार करना चाहिये । अर्थात् इनके विषयमें सदा इसी प्रकारका विचार करते रहना चाहिये, कि ये हिंसादि पाँचों ही पाप कर्म इस लोकमें और परलोकमें भी अपाय तथा अवद्यके कारण हैं । इनके निमित्तसे इस लोकमें ही अनेक प्रकारके अपाय—क्लेश सहन करने पड़ते हैं, और परलोकमें भी इनके ही निमित्तसे बँधे हुए पाप कर्मके उदयसे दुर्गनियोंके नाना दुःख भोगने पड़ते हैं । इत्यादि । जैसे कि हिंसाके विषयमें प्रत्यक्ष ही लोकमें देखा जाता है, कि हिंस्र—हिंसा करनेवाला जीव नित्य ही श्लानिका पात्र रहा करता है—उससे सब लोग उद्विग्न रहा करते हैं, अथवा स्वयं वह भी सदा भयसे कम्पित और अस्थिर तथा उद्विग्न चित्त रहा करता है । उससे अनेक जीवोंका वैर बँध जाता है, और वे उसके शत्रु बन जाते हैं । किसीको भी मारनेवाला यहाँका यहाँका बध—बन्धन आदि दुःखोंको प्राप्त हुआ करता है । फांसीपर लटकाया जाता है, बाँधकर जेलखानेमें डाल दिया जाता है, और अनेक तरहके भूख प्यास आदिक क्लेशोंको भी भोगता है । इस पापके निमित्तसे जो दुष्कर्म बँधता है, उसके उदयसे अशुभ गतियोंमें भी भ्रमण करना पड़ता है, और इस लोकके समान उन गतियोंमें भी निन्दाका पात्र बनना

पड़ता है। अतएव इस लोक और परलोकमें निन्दा दुष्कर्म और क्लेशोंकी कारणभूत हिंसाका व्युत्पन्न—त्याग करना ही कल्याणका कारण है।

मिथ्या वचन बोलनेसे जीव श्रद्धाका पात्र नहीं रहता। इसी लोकमें जिह्वा—छेदन आदि अनेक अशुभ दुःखमय फलोंको प्राप्त हुआ करता है। जिसके विषयमें झूठ बोला जाता है, उस व्यक्तिको महान् दुःख होता है, और वह उससे दुःखित होकर बद्धवैर—सदाके लिये वैर बाँध लेता है, अतएव उस झूठ वचनसे जितना उसको दुःख हुआ था, उससे भी अधिक दुःखके कारण कालान्तरमें उस जीवसे झूठ बोलनेवालेको प्राप्त हुआ करते हैं। इस मिथ्या भाषणके फलस्वरूप परलोकमें अशुभ गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है, और वहाँके दुःख भी भोगने पड़ते हैं। तथा इस लोक और परलोक दोनों ही जगह निन्दाका पात्र बनना पड़ता है। अतएव इस महान् गर्हा अनृत वचनसे व्युत्पन्न होना ही श्रेयस्कर है।

दूसरेके द्रव्यका अपहरण करनेमें ही जिसकी बुद्धि आसक्त है—निरन्तर लीन रहती है, ऐसा चोर—चोरी करनेवाला मनुष्य सभीके लिये उद्वेगका पात्र बन जाता है। हर एक मनुष्य उससे डरता और सावधान रहा करता है। उसको राजा आदिसे भी अनेक प्रकारके क्लेश प्राप्त हुआ करते हैं। कभी मार पड़ती है, कभी बन्ध भी हो जाता है, कभी बन्धनमें डाल दिया जाता है, कभी हाथ पैर कान नासिका और ऊपरके ओष्ठसु छेदन कर दिया जाता है, कभी अङ्गोपाङ्गोंका विदारण भी किया जाता है, कभी उसके सर्वस्व—धन संपत्ति घर जमीन आदिको जप्त कर लिया जाता है। बन्ध यातनाओंको प्राप्त होता तथा कभी कभी मरणको भी प्राप्त हो जाया करता है। इस दुष्कृत्यके निमित्तसे सचित पापकर्मके उदयसे परलोकमें नाना दुर्गतिमें भ्रमण करना पड़ता है। तथा दोनों ही लोकमें निन्दाका पात्र बनना पड़ता है। अतएव चोरीसे उपरति होना ही कल्याणका मार्ग है।

जो अन्नद्वय—कुशीलका सेवन करनेवाला है, वह मनुष्य विशिष्ट चित्त बन जाता है—उसका हृदय अनेक प्रकारके विभ्रमोंसे उद्भ्रान्त रहा करता है। उसकी इन्द्रियाँ निर्वन्ध रह जाती हैं। वे लगाम घोड़ेकी तरह हर तरफको दौड़ा करती हैं, और इसीलिये वह मनुष्य हार्थीके समान निरङ्कुश हो जाता है। किन्तु उसको सुखही प्राप्ति नहीं हुआ करती। मोहसे वह इतना अभिमूढ़—आक्रान्त होजाता है, कि कर्तव्य और अमर्तव्यका कुछ भी विचार नहीं कर सक्ता, और इसी लिये ऐसा कोई भी अशुशल—मुरा काम नहीं है, जिसको कि वह न कर डालता हो। परस्त्रीसे गमन करनेवालोंको इसी लोकमें वैरानुबन्ध लिङ्गच्छेदन बन्ध बन्धन और सर्वस्वका अपहरण आदि अनेक क्लेश प्राप्त हुआ करते हैं। परलोकमें दुर्गतिमें भ्रमण करना पड़ता, और वहाँके दुःख भोगने पड़ते हैं। तथा दोनों ही लोकमें व्यभिचारीको निन्दाका पात्र बनना पड़ता है। इत्यादि कारणोंसे इस कुशीलका त्याग ही श्रेयस्कर है।

जिस प्रकार गृद्ध आदि कोई भी पक्षी जिसके कि पंजमें मांसका टुकड़ा लगा हुआ है, वह दूसरे मांसभक्षी पक्षियोंका शिकार बन जाता है—उससे वे पक्षी उस मांस—खण्डको लूट लेते हैं, और उसके लिये उसे अनेक प्रकारके त्रास भी देते हैं। उसी प्रकार परिग्रहवान् मनुष्य भी प्रत्यक्ष इसी लोकमें चोर डाकू आदिका निशान बन जाता है। धनके अर्जन—संचय और रक्षण तथा क्षय—नुकसान आदिके द्वारा जो दोष प्राप्त होते हैं, वे उसे सहन करने पड़ते हैं। फिर भी जिस प्रकार अश्विको ईधनसे तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार परिग्रहीको भी धनसे संतोष नहीं होता। लोभसे इतना आक्रान्त हो जाता है, कि उसको यह कार्य है या अकार्य सो नजरमें ही नहीं आता। वह विवेकशून्य होजाता है। इन दुर्भावोंके निमित्तसे संचित पाप कर्मके उदयानुसार परलोकमें अनेक दुर्गतियोंमें प्राप्त हुआ करता है। तथा यह लोभी है, कंजूस है, इस तरहके वचन कह कह कर लोक उसकी निन्दा—अपकीर्ति भी किया करते हैं। अतएव इस दुःखद परिग्रहसे उपरम विरत होना ही कल्याणका मार्ग है।

इस प्रकारका निरन्तर विचार करनेसे अहिंसादि व्रत स्थिर रहा करते हैं, अतएव इनका हमेशा चिन्तन करना चाहिये।

भाष्यम्—किं चान्यत् ।

अर्थ—उपर जो भावनाएं बताई हैं, उनके सिवाय और भी भावनाएं हैं, कि जिनके निमित्तसे उपर्युक्त व्रत स्थिर रहा करते हैं। उन्हींको बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—दुःखमेव वा ॥ ५ ॥

भाष्यम्—दुःखमेव वा हिंसादिषु भावयेत् । यथा समाप्रियं दुःखमेव सर्वसत्त्वानामिति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान् । यथा मम मिथ्याभ्याख्यानेनाभ्याख्यातस्य तीव्रं दुःखं भूतपूर्वं भवति च तथा सर्वसत्त्वानामिति अनृतवचनान् व्युपरमः श्रेयान् । यथा ममेष्टद्रव्यावियोगे दुःखं भूतपूर्वं भवति च तथा सर्वसत्त्वानामिति स्तेयाद्व्युपरमः श्रेयान् । तथा रागद्वेषात्मकत्वान्मैथुनं द्वन्द्वमेव । स्यादेतत् स्पर्शनसुखमिति तन्न न । कुतः ? व्याधिप्रतीकारत्वात् कण्डूपरिगतवज्राव्रह्म-व्याधिप्रतीकारत्वादसुखे ह्यस्मिन् सुखाभिमानो मूढस्य । तद्यथा तीव्रया त्वक्छोणितमांसानु-गतया कण्डूा परिगतात्मा काष्ठशकललोष्ठशर्करानखशुक्तिभिर्विच्छिन्नगात्रो रुधिरार्द्रः कण्डू-यमानो दुःखमेव सुखमिति मन्यते । तद्वन्मैथुनोपसेवीति मैथुनाद् व्युपरमः श्रेयान् । तथा परि-ग्रहवान्प्राप्तप्राप्तनष्टेषु कांक्षारक्षणशोकोद्भवं दुःखमेव प्राप्नोतीति परिग्रहाद् व्युपरमः श्रेयान् । इत्येवंभावयतो व्रतिनो व्रते स्थैर्यं भवति ।

अर्थ—उपर हिंसादिके विषयमें यह भावना करते रहनेको बताया है, कि ये इस लोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखके कारण हैं। सो उस प्रकारका विचार पुनः पुनः करना चाहिये। अब यहाँ कहते हैं, कि इन उपर्युक्त हिंसादिक पाँच पापोंके विषयमें दुःखकी कारणताका ही नहीं किन्तु दुःखरूपताका भी विचार करना चाहिये। निरन्तर इस प्रकारकी भी भावना करनी चाहिये, कि, ये हिंसादिक साक्षात् दुःखरूप ही हैं। जिस प्रकार दुःख मुझे अप्रिय है, उसी प्रकार सभी प्राणि-

योंको वह अनिष्ट है। प्राणोंका व्युपरम-घात-पृथक् करना मुझे ही नहीं जीवमात्रको अनिष्ट है। मेरे समान कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता, कि मुझे दुःखकी प्राप्ति हो, अथवा मेरे प्राणोंका घात हो। अतएव हिंसासे व्युपरति—हिंसाका त्याग ही कल्याणका कारण है।

मिथ्या भाषणसे जिस प्रकार मुझे दुःख होता है। यदि कोई मेरे विषयमें मिथ्या भाषण करता है, या किसीने किया है, तो उससे मुझे अति तीव्र दुःख होता है, और भूतजालमें भी हो चुका है, जिसका कि मुझे अनुभव है। इसी प्रकार प्राणिमात्रको मिथ्या भाषणसे दुःख हुआ करता है। मिथ्या भाषण मेरे समान जीवमात्रके लिये दुःखरूप है। अतएव अनृत वचनसे व्युपरम उपरति होना ही कल्याणका मार्ग है। यदि मेरी किसी इष्ट वस्तुका वियोग हो जाय, तो उससे मुझे महान् दुःख होता है। इसी प्रकार प्राणिमात्रके विषयमें संमनना चाहिये। सभीको अपनी अपनी प्रिय-इष्ट वस्तुका वियोग-अपहरण होजानेपर-चोरीमें चले जानेपर मर्मभेदी पीड़ा हुआ करनी है। अतएव चोरीसे उपराम लेना ही श्रेयस्कर है।

मैथुन-कर्म-अब्रह्मका सेवन भी दुःखरूप ही है। क्योंकि वह राग द्वेपरूप है। तीव्र रागसे प्रेरित हुआ-रागाघ मनुष्य ही इस तरहके दुष्कर्म करनेमें प्रवृत्त हुआ करता है। अतएव इस दुःखसे दूर रहना सुखरूप समझना चाहिये। प्रश्न-मैथुनकर्मको जो आपने दुःखरूप कहा सो ठीक नहीं है, क्योंकि वह स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुखरूप ही है। जो स्त्री और पुरुष मैथुनमें परस्पर प्रवृत्त होते हैं, वे उसको प्रिय अथवा इष्ट मानकर ही होते हैं, तथा उससे वे अपनेको सुखी भी मानते ही हैं, अतएव उसको दुःख किस तरह कहा जा सकता है? उत्तर-यह शका ठीक नहीं है। क्योंकि अब्रह्म वास्तवमें दुःख ही है। जो विवेकी हैं-विचारशील हैं, वे उसकी दुःखरूपताका ही अनुभव करते हैं, किन्तु जो मूढ़-अज्ञानी हैं, वे उसको दुःखरूप होते हुए भी सुखरूप ही मानते हैं। वे उसको प्राप्त कर उसमें सुखका अनुभव किया करते हैं। इस प्रकारका भ्रम भी उन्हें जो होता है, उसका कारण यह है, कि यह मैथुन-कर्म ऊपरसे दुःखरूप नहीं मालूम होता। विवेकी पुरुष जब विचार करते हैं, तब उन्हें मालूम होता है, कि इसका वास्तविक स्वरूप क्या है। यह अब्रह्म एक प्रकारकी व्याधिका प्रतीकारमान है। जिस प्रकार कोई दाढ़ या खाजका रोगी खुजाते समय सुखका अनुभव करता है, परन्तु पीछे उसीसे उसको दुःखका भी अनुभव होता है। उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। देखते हैं कि जब खानना सम्बन्ध त्वचासे रक्षित और रक्षितसे भी मासतक पहुँच जाता है, तब वह अत्यन्त तीव्र हो उठती है, ऐसे खानसे पीडित मनुष्य काष्ठखण्ड अथवा पत्थर या कण्ड अथवा नख शुक्ति सीप आदिके द्वारा उसका ऐसा घर्षण करता है कि जिससे उसका शरीर ही विच्छिन्न हो जाता, और रक्षितसे गीन्ध हो जाया करता है। फिर भी निम समय वह खुजाता है, उस समय उस दुःखको भी वह

सुखरूप ही मानता है । परन्तु उसका खानके खुजानेको सुख समझना अज्ञान है । इसी प्रकार मैथुन सेवन करनेवालेके विषयमें समझना चाहिये । अन्तरङ्गमें वेदकर्मके उदयसे पीड़ित और बाह्यमें द्रव्यवेदके विकारोंसे त्रस्त हुआ जीव उसके प्रतीकारकी इच्छासे मैथुन कर्ममें प्रवृत्त हुआ करता है, और मैथुन करते समय सुखका अनुभव करता है । परन्तु अन्तमें उसकी विरसताका ही अनुभव होता है । अतएव विवेकीजन इस लोक और परलोक दोनों ही भवमें दुःखके कारणभूत इस मैथुन कर्मसे उपरत होनेको ही श्रेयस्कर समझते हैं ।

परिग्रहवान् जीव जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक तो उसकी प्राप्तिकी इच्छासे दुःखी रहा करता है । प्राप्ति हो जानेपर यह नष्ट न हो जाय, इस अभिप्रायसे उसकी रक्षा करनेमें चिन्तित रहा करता है । यदि कदाचित् वह नष्ट हो जाय, तो उसके वियोगसे उत्पन्न शोकके द्वारा दग्धचित्त हो जाया करता है । इस प्रकार परिग्रहकी अप्राप्ति प्राप्ति और वियोग ये तीनों ही अवस्थाएं दुःखरूप ही हैं । परिग्रहासक्त मनुष्यको इसकी प्रत्येक अवस्थामें दुःखकी ही प्राप्ति हुआ करती है । अतएव परिग्रहसे विरत होना ही कल्याणका मार्ग है ।

इस प्रकार हिंसादिक पाँचों पापोंके विषयमें निरन्तर दुःखरूपताका भावन-विचार करते रहनेवाले व्रती पुरुषके व्रतोंमें स्थिरता हुआ करती है ।

भाष्यम्—किञ्चान्यत् ।

अर्थ—ऊपर अहिंसादिक व्रतोंको स्थिर करनेवाली दो प्रकारकी भावनाएं बताई हैं । एक तो हिंसादिकमें दोनों भवके लिये दुःखकी कारणताका पुनः पुनः विचार और दूसरी साक्षात् दुःखरूपताकी भावना । इनके सिवाय और भी भावनाएं हैं, कि जिनके निमित्तसे उपर्युक्त व्रत स्थिर रहा करते हैं । उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि—

सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ६ ॥

भाष्यम्—भावयेद्द्रव्यथासङ्ख्यम् ।—मैत्रीं सर्वसत्त्वेषु ।—

क्षमेऽहं सर्वसत्त्वानाम्, क्षमयेऽहं सर्वसत्त्वान् ।

मैत्री मे सर्वसत्त्वेषु, वैरं मम न केनचिद् ॥ इति ।

प्रमोदं गुणाधिकेषु । प्रमोदो नाम विनयप्रयोगो वन्दनस्तुतिवर्णवादवैयावृत्त्यकरणादिभिः सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यतपोऽधिकेषु साधुषु परात्मोभयकृतपूजाजनितः सर्वेन्द्रियाभिव्यक्तो मनःप्रहर्ष इति । कारुण्यं क्लिश्यमानेषु । कारुण्यमनुकम्पा दीनानुग्रह इत्यर्थः । तन्महामोहाभिभूतेषु मतिश्चतुर्विधाज्ञानपरिगतेषु विषयतर्षाग्निना दग्धमानमानसेषु हिताहितप्राप्तिपरिहारविपरीतप्रवृत्तिषु विविधदुःखादितेषु दीनकृपणानाथबालमोमुहवृद्धेषु सत्त्वेषु भावयेत् । तथाहि भावयन् हितोपदेशादिभिस्ताननुगृह्णातीति ॥ माध्यस्थ्यमाविनेयेषु । माध्यस्थ्यमौदासीन्यमुपेक्षेत्यनर्थान्तरम् । अविनेया नाम मृत्पिण्डकाष्ठकुड्यभूता ग्रहणधारणाविज्ञानोहापोहवियुक्ता महामोहाभिभूता दुष्टावग्राहिताश्च । तेषु माध्यस्थ्यं भावयेत् । न हि तत्र वक्रुर्हितोपदेशसाफल्यं भवति ॥

अर्थ—सत्त्व गुणाधिक क्लिश्यमान और अविनेय इन चार प्रकारके जीवोंके विषयमें कमसे चार प्रकारकी भावना करनी चाहिये । अर्थात् सर्व—प्राणिमात्रके विषयमें मैत्रीभावना, गुणाधिकोंके विषयमें प्रमोदभावना, क्लिश्यमानोंके विषयमें कारुण्यभावना, और अविनेय जीवोंके विषयमें मध्यास्थभावना रखनी चाहिये ।

किसीसे भी वैरभाव न रखनेको मैत्री कहते हैं । यथा—

क्षमेऽह सर्वसत्त्वानाम्, क्षमयेऽह सर्वसत्त्वान् ।

मैत्री मे सर्वसत्त्वेषु, वैर मम न केनचित् ॥

अर्थात् मैं प्राणिमात्रपर क्षमा करता हूँ, और सभी प्राणियोंसे मैं क्षमा कराता हूँ, सभी प्राणियोंके विषयमें मेरा मैत्रीभाव है, मेरा किसीके भी साथ वैरभाव नहीं है । इस प्रकार अपने या परके अपराधोंका दृश्य करके अथवा बिना अपराधके भी जो अनेक जीव किसीके साथ द्वेषभाव धारण कर शत्रुता उत्पन्न कर छेते हैं, वह इस लोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखरूप या दुःखता कारण है, ऐसा समझकर उसको छोड़ना और पुन पुन वीतद्वेषता—निर्वैरताके उभय लोकसम्बन्धी गुणोंका चिन्तन करना, इसको मैत्रीभावना कहते हैं ।

जो अपनेसे गुणोंमें अधिक हैं, उनको देखकर या उनका विचार करके हृदयमें प्रमोद—हर्ष होना चाहिये । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और समीचीन तप इन गुणोंके धारण पालन करनेमें जो अधिक है, ऐसे साधुओंके विषयमें मनमें ऐसे अतिशयित हर्षको धारण करना, जोकि समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टाको देखकर प्रकट होता हो, तथा स्वयं की गई या दूसरेके द्वारा की गई अथवा दोनोंके द्वारा की गई पूजाके द्वारा उत्पन्न हो, एव उनकी बन्धना स्तुति वर्ण-वाद्य-वर्णनीय गुणोंका निरूपण—प्रशंसा और वैयावृत्य करने आदिके द्वारा विनयगुणका प्रयोग करना इसको प्रमोद कहते हैं । यह प्रमोदभावना निरन्तर करनी चाहिए, कि ऐसे साधुपुरुषोंका कब समागम हो, कि जिनकी सेवामें मैं रहूँ और अपनेको धन्य बनाऊँ । तथा समागम प्राप्त होनेपर इस गुणसे प्रयुक्त होना चाहिये ।

जो क्लिश्यमान जीव हैं, उनमें कारुण्यभावना होनी चाहिये । जो दुःखित हैं, अनेक प्रकारके क्लेशोंको भोग रहे हैं, उनको देखकर हृदयमें करुणामाव जागृत होना चाहिये । कारुण्य अनुसम्पा और दीनानुग्रह ये शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । जो महान् मोहसे ग्रस्त हैं, कुमति कुश्रुत और विभगरूप अज्ञानसे परिपूर्ण हैं, विषयोंके सेवनकी तीव्र तृष्णारूप अग्निसे जिनका मन अत्यन्त दग्ध हो रहा है, वास्तविक हितकी प्राप्ति और अहितके परिहार करनेसे

१—अनादिकर्मबन्धनवशात्तीदन्तिर्इति सत्त्वा । २—सम्यग्ज्ञानादिवि प्रकृत्य गुणाधिरा । ३—असद्वैद्योदया पादितक्लेशा क्लिश्यमाणा ॥ ४—तीव्रमोहिनी गुणशून्या दुष्परिणामा ॥ ५—प्रेषादुन्मत्तानुत्पन्नमभिलाषो मैत्री, ऐसा भी लक्ष्य बताया है । कितने ही मोले अज्ञानी नेक इस मैत्रीभावनाका अर्थ जीवमात्रके साथ माने गीनेका समान व्यवहार करने समेत हैं, सो मिथ्या है ।

जो विररीत हैं—अज्ञान अथवा कषायके कारण जिनकी प्रवृत्ति वास्तविक हितके प्राप्त और आहितके परिहार करनेमें विमुख हैं, और इसी लिये जो नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित हो रहे हैं, ऐसे दीन कृपण अनाथ बाल और अत्यंत मुग्ध वृद्धोंके विषयमें अथवा किसी भी तरहके क्लेशमें जो संक्लिष्ट हैं, उन प्राणिमात्रोंपर दयाभाव रखना चाहिये। अपने मनमें निरन्तर इस प्रकारका विचार करना चाहिये, कि ये प्राणी कब और किम तरहसे दुःखसे उन्मुक्त हों छूट जावें। जो प्रतिक्षण इस प्रकारकी भावना रखता है, वह जीव शक्त्यनुसार हितोपदेशादिके द्वारा उनका अनुग्रह भी करता है।

जो अविनेय है, उनके विषयमें माध्यस्थ्यभावना रखनी चाहिये। माध्यस्थ्य औदासीन्य और उपेक्षा ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं—एक ही अर्थको सूचित करते हैं। जो मृत्पिण्डके समान अथवा काष्ठ भीति आदिके समान जड़-अज्ञानी हैं, जो वस्तुस्वरूपके ग्रहण करने-समझनेमें और धारण करनेमें तथा विवेक शक्तिके द्वारा हिताहितका विवेचन करनेमें अथवा विशिष्ट बुद्धि प्रतिभा और ऊहापोह-तर्कशक्तिमें काम लेनेमें असमर्थ हैं, महान् मोहसे आक्रान्त हैं—वृद्ध विपरीत श्रद्धानी हैं, जिन्होंने द्वेषादिके वश होकर वस्तुस्वरूपको अन्यथा ग्रहण कर रक्खा है, अथवा जिनको दुष्ट भावोंका ग्रहण कराया गया है, वे सब अविनेय समझने चाहिये। ऐसे जीवोंके विषयमें माध्यस्थ्यभावना होनी चाहिये। उनमें न राग करना चाहिये और न द्वेष। क्योंकि यदि ऐसे व्यक्तियोंको हितोपदेश भी दिया जाय, तो भी वक्ताका वह श्रम सफल नहीं हो सकता।

इस प्रकार सत्त्व गुणाधिक हिंस्यमान और अविनेय प्राणियोंमें क्रमसे मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्यभावना रखनेसे उपर्युक्त अहिंसादिक व्रत स्थिर रहते हैं, और रागद्वेष कम होकर वीतरागता तथा हितोपदेशकताकी मात्रा बढ़ती है।

भाष्यम्—किं चान्यत् ।

अर्थ—ऊपर अहिंसादिक व्रतोंको स्थिर रखनेके लिये जो भावनाएं बताई हैं, उनके सिवाय और भी भावनाएं हैं, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जगत्कायस्वभावौ च भावयेत् संवेगवैराग्यार्थम् । तत्र जगत्स्वभावो द्रव्याणां मनोधादिमत्परिणामयुक्ताः प्रादुर्भावतिरोभावस्थित्यन्यतानुग्रहविनाशाः । कायस्वभावोऽनित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारताऽशुचित्वमिति । एवं ह्यस्य भावयतः संवेगो वैराग्यं च भवति । तत्र संवेगो नाम संसारभीसृत्वमारम्भपरिग्रहेषु दोषदर्शनाद्वरतिर्घर्मे बहुमानो धार्मिकेषु च धर्मश्रवणे धार्मिकदर्शने च मनःप्रसाद उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तौ च श्रद्धेति । वैराग्यं नाम शरीरभोगसंसारनिर्वेदोपशान्तस्य बाह्याभ्यन्तरेषु पाधिष्वनभिध्वङ्ग इति ॥

अर्थ—सवेग और वैराग्यको सिद्ध करनेके लिये जगत्-लोक और शरीरके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये । क्योंकि इनके स्वभावही पुन पुन भावना करनेसे मनोको स्थिर रखने वाले सवेग और वैराग्य गुण प्रकट हुआ करते हैं, अतएव इन दोनोंके स्वभावही भी भावना करनेकी आवश्यकता है । सम्पूर्ण द्रव्योंके समूहको जगत् या लोक कहते हैं । द्रव्योंके प्रादुर्भाव तिरोभाव स्थिति—उत्पाद व्यय धौव्य, और भेद करना या भिन्न होना, अथवा भिन्न रहना, अनुग्रह करना या अनुग्रहीत बनना, दूसरेका विनाश करना अथवा स्वयं विनष्ट होना, आदि स्वभाव हैं । किन्तु वे कथञ्चित् अनादि और कथञ्चित् आदिमान् परिणामसे युक्त हैं । यही जगत्का स्वभाव है । इसका पुन पुन विचार करना चाहिये । अनित्यता—सदा एवसा न रहना अथवा नश्वरता, दुर्ज्ञेयता हेतु—कारण बनना, नि सारता और अशुनित्व ये शरीरके स्वभाव हैं । क्योंकि कितना भी प्रयत्न किया जाय, शरीर स्थिर रहनेवाला नहीं है, तथा सप्तारी प्राणियोंको जो नाना प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं, वे इसीके निमित्तसे प्राप्त होते और भोगनेमें आते हैं, शरीरके समस्त अङ्ग और उपाङ्गोंको तथा धातु उपधातुओंको यदि पृथक् पृथक् करके देखा जाय, तो इसमें सारमूल पदार्थ कुछ भी दृष्टिगत नहीं हो सक्ता । शरीरका प्रत्येक अंश अशुचि—अपवित्र है । इस प्रकार जगत् और शरीरके स्वभावही भावना करनेसे सवेग और वैराग्य सिद्ध हुआ करते हैं ।

सत्सारासे सदा भयभीत रहना, आरम्भ और परिग्रहके दोषोंको देखकर उनके विषयमें अस्वस्थ रहना—उनके ग्रहण सेवनही प्रीति न होना, धर्मके विषयमें अत्यन्त आन्तर भावना होना, धार्मिक पुरुषोंके विषयमें तथा धर्मके स्वरूपका श्रवण करनेमें एव धर्मात्माओंका दर्शन करनेपर चित्तमें हर्ष—प्रसन्नता होना, और उत्तरात्तर गुणों—रत्नत्रयकी प्रतिपत्तिमें—प्राप्तिमें अपना धर्मात्माओंके विशिष्ट गुण मालूम होनेपर उनके विषयमें तद्वा बुद्धिका होना सवेग कहा जाता है । तथा शरीर भोग और सत्सारासे ग्राहि होजानेके कारण जो उपशम भावोंको प्राप्त हो जाता है, ऐसे पुरुषका नाश और अभ्यन्तर उपधि—परिग्रहोंके विषयमें अभिप्रेत—असन्तुष्टि न होना इसको वैराग्य कहते हैं ।

भावार्थ—जगत्का स्वरूप मालूम हो जानेपर और उसका पुन पुन विचार करनेसे सत्सारासे भय होता है, क्योंकि वह जन्ममरणद्विरूप नाना दुःखोंसे आरिणी है । एव शरीरके स्वरूपका पुन पुन विचार करनेसे वैराग्य होता है । क्योंकि जिन भोग उपभोग और उनके भावनाके विषयमें जीवको राग भाव हुआ करता है, वे शरीराश्रित हैं, और शरीर अनित्य दुःख-हेतु नि सार तथा अशुचि है । अतएव शरीरमेंसे आसक्ति हट जानेपर समस्त भोगोपभोगमेंसे ही राग भाव हट जाता है । इसलिये जगत्—व्यभवही भावना सवेगही और वयम्—स्वभावही भावना वैराग्यही बननी है । इन दोनों गुणोंके प्रकट होनेमें भी अहिंसादिन मत्त स्थिर रहा करते हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता हिंसादिभ्योविरतिर्त्रतमिति, तत्र का हिंसा नामेति । अत्रोच्यते—
 अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपर कहा था, कि हिंसादिक पाँच पापोंसे जीवकी जो निवृत्ति होती है, उसको त्रत कहते हैं । परन्तु जिनसे निवृत्ति होनी चाहिये, उन पापोंका स्वरूप जब तक मालूम न हो जाय, तबतक उनसे जीवकी निवृत्ति वास्तवमें कैसे हो सकती है । किन्तु उक्त हिंसा आदि पापोंका लक्षण अभीतक आपने बताया नहीं है । अतएव कहिये कि हिंसा किसको कहते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें हिंसा आदि पाँचों पापोंका क्रमसे लक्षण बतानेके अभिप्रायसे सबसे पहले हिंसाका लक्षण बतानेवाला सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—प्रयत्नयोगात्प्रणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥

भाष्यम्—प्रमत्तो यः कायवाङ्मनोयोगैः प्राणव्यपरोपणं करोति सा हिंसा । हिंसा मारणं प्राणातिपातः प्राणवधः देहान्तरसंक्रामणं प्राणव्यपरोपणमित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—जो कोई भी जीव प्रमादसे युक्त होकर काययोग वचनयोग या मनोयोगके द्वारा प्राणोंका व्यपरोपण करता है, उसको हिंसा कहते हैं । हिंसा करना, मारना, प्राणोंका अतिपात—त्याग या वियोग करना, प्राणोंका वध करना, देहान्तरको संक्रम कर देना—भवान्तर—गत्यन्तरको पहुँचा देना, और प्राणोंका व्यपरोपण करना, इन सब शब्दोंका एक ही अर्थ है ।

भावार्थ—यदि कोई जीव प्रमादी होकर ऐसा कार्य करता है—अपने या परके प्राणोंका व्यपरोपण करनेमें प्रवृत्त होता है, तो वह हिंसक—हिंसाके दोषका भागी समझा जाता है । प्रमाद छोड़कर प्रवृत्ति करनेवालेके शरीरादिके निमित्तसे यदि किसी जीवका वध हो जाय, तो वह उस दोषका भागी नहीं समझा जाता । क्योंकि इस लक्षणमें प्रमादका योग मुख्य रूपसे बताया है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथानृतं किमिति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने हिंसाका लक्षण तो बताया । परन्तु उसके अनन्तर जिसका पाठ किया गया है, उस अनृत—असत्यका क्या लक्षण है ? उत्तर—

सूत्र—असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

भाष्यम्—असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च । तत्र सद्भावप्रतिषेधो नाम सद्भूतनिहिवोऽभूतोद्भावनं च । तद्यथा—नास्त्यात्मा, नास्ति परलोक इत्यादि भूतनिहिवः । श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा अङ्गुष्ठपर्वमात्रोऽयमात्मा आदित्यवर्णो निःक्रिय इत्येवमाद्यमभूतोद्भावनम् । अर्थान्तरम् यो गां ब्रवीत्यश्वमश्वं च गौरिति । गर्हेति हिंसापारुष्यपैशुन्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गर्हितमनृतमेव भवतीति ॥

१—प्रमाद नाम असावधानताका है—इसके मूलभेद १५ हैं ।—५ इन्द्रिय, ४ विकथा, ४ कपाय, १ निद्रा १ प्रणय । उत्तरभेद ८० हैं । विशेष स्वरूप जाननेके लिये देखो, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३४-४४ । २—इसका लक्षण आदि पहले बता चुके हैं ।

अर्थ—इस सूत्रमें असत् शब्दके तीन अर्थ हैं—सद्भावका प्रतिषेध और अर्थान्तर तथा गर्हा—निन्द्य । वस्तुके स्वरूपका अपलाप करनेको सद्भावका प्रतिषेध कहते हैं । यह दो प्रकारसे हुआ करता है—सद्भूत पदार्थका निषेध करके तथा असद्भूत पदार्थका निरूपण करके । जैसे कि—“ नास्ति आत्मा ”—आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, अथवा “ नास्ति परलोक ”—परलोक—मरण करके जीवका भव धारण करना वास्तविक नहीं है, इत्यादि भूतनिह्व है । क्योंकि इससे सद्भूत पदार्थका अपलाप होता है । आत्मा और परलोक—जीवका भवान्तर धारण वास्तविक सिद्ध पदार्थ हैं—युक्तियुक्त और अनुपपन्नगम्य है । इनका निषेध करना सद्भूतका अपलाप नामका मिथ्या वचन है । आत्माको इयामाकतण्डुल—समाके चावड़की बरा—बर छोटे प्रमाणका बताना, अथवा अङ्गुष्ठके पर्वकी बराबर बताना, अथवा कहना, कि वह आदित्य वर्ण है, निष्क्रिय है, इत्यादि सब वचन अभूतोद्भावन नामके असत्य हैं । क्योंकि इस तरहके वचनोंके द्वारा आत्माका जो वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसका उल्लेख किया जाता है ।

अर्थान्तर शब्दका अर्थ है, मित्र अर्थको सूचित करना । जो पदार्थ है, उसको दूसरा ही पदार्थ बताना—वास्तविक न कहना अर्थान्तर है । जैसे कि कोई गौको बहे कि यह घोडा है, अथवा घोडेको रहे कि यह गौ है । तो इस तरहके वचनको अर्थान्तर नामका असत्य कहते हैं ।

गर्हा नाम निन्दाका है । अतएव जितने भी निन्द्य वचन हैं, वे सब गर्हित नामके असत्य वचन समझने चाहिये । जैसे कि “ इसको मार डालो ” “ मर जा ” “ इसे कसाईको दे दो ” इत्यादि हिंसाविधायक वचन बोलना, तथा मर्मभेदी अपशब्द बोलना, गाली देना, कठोर वचन कहना, आदि परप—लक्ष शब्दोंका उच्चारण करना, एवं पैशुय—क्रिमीकी चुगली करना आदि गर्हित वचन है । जो गर्हित वचन हैं, वे कदाचित् सत्य भी हों, तो भी उनको असत्य ही मानना चाहिये । क्योंकि वे निन्द्य है ।

भावार्थ—पहले हिंसाका लक्षण बताते हुए सूत्रमें “ प्रमत्तयोगात् ” शब्दका पाठ किया है । उसकी अनुवृत्ति असत्यादिका लक्षण नतानेवाले सूत्रोंमें भी जाती है । अतएव प्रमाद्युक्त जीवके जो वचन है, वे सभी असत्य समझने चाहिये । प्रमादपूर्वक कहे गये सत्य वचन भी असत्य हैं और प्रमादको छोड़कर कहे गये असत्य वचनभी सत्य हैं ।

सत् शब्दके दो अर्थ हैं—विद्यमान और प्रशस्ता । अतएव असत् शब्दसे अविद्यमानता और अप्रशस्तता दोनों ही अर्थ लेने चाहिये । सद्भूतनिह्व अभूतोद्भावन और अर्थान्तर ये अविद्यमान अर्थको सूचित करनेवाले होनेसे असत्य हैं, और जो गर्हित वचन हैं, वे अप्रशस्त होनेसे असत्य हैं । तथा प्रमादका सम्बन्ध दोनों ही स्थानोंपर पाया जाता है ।

१—जैसे कि ऊपर उदाहरण दिया गया है । २—जैसे किमी बीमार बालकको बतातेमें दवा रखकर देते हैं, और कहते हैं, कि यह बतासा है, इसमें दवा नहीं है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथ स्तेयं किमिति । अत्रोच्यते ।

अर्थ—क्रमानुसार चोरीका लक्षण बताना चाहिये, अतएव प्रश्न उपस्थित होता है, कि स्तेय किसको कहते हैं ? इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १० ॥

भाष्यम्—स्तेयबुद्ध्या परैरदत्तस्य परिग्रहीतस्य तृणादेर्द्रव्यजातस्यादानं स्तेयम् ॥

अर्थ—स्तेय बुद्धिसे—चोरी करनेके अभिप्रायसे जिनका वह द्रव्य है, उनके बिना दिये ही—उन की बिना मंजूरीके तृण आदि कुछ भी वस्तु क्यों न हो, उसका परिग्रहण करलेना—उसको अपना लेना, अथवा ले लेना इसको चोरी कहते हैं ।

भावार्थ—इस सूत्रमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है । अतएव प्रमादपूर्वक यदि किसीकी अदत्त वस्तुको ग्रहण करे, तो वह चोरी है । अन्यथा राजमार्गपर चलनेसे अथवा नदी बरना आदिका जल और मिट्टी भस्म आदिके ग्रहण करलेनेपर महान् मुनियोंको भी चोरीके दोषका प्रसङ्ग आवेगा ।

भाष्यम्—अत्राह—अथाब्रह्म किमिति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—स्तेयके अनन्तर अब्रह्म—कुशीलका ग्रहण किया है । अतएव क्रमानुसार स्तेयके बाद उसका भी लक्षण बताना चाहिये, कि अब्रह्म कहते किसको है ? इसका उत्तर सूत्र द्वारा देते हैं:—

सूत्र—मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

भाष्यम्—स्त्रीपुंसयोर्मैथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनं तदब्रह्म ॥

अर्थ—स्त्री और पुरुष दोनोंके मिथुन-भाव अथवा मिथुन-कर्मको मैथुन कहते हैं, उसीका नाम अब्रह्म है ।

भावार्थ—मिथुन नाम युगलका है । प्रकृतमें स्त्री पुरुषका ही युगल लिया गया है, अथवा लेना चाहिये । दोनोंका परस्परमें संयोग या संभोगके लिये जो भाव विशेष होता है, अथवा दोनों मिलकर जो संभोग किया करते हैं, उसको मैथुन कहते हैं, और मैथुन ही अब्रह्म है । इस सूत्रमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है । अतएव उस अभिप्रायसे जो भी क्रिया की जायगी, फिर चाहे वह परस्परमें दो पुन्त्र या दो स्त्री मिल कर ही क्यों न करें, अथवा अनङ्गक्रीड़ा आदि ही क्यों न हो, वह सब अब्रह्म ही है, और जो प्रमादको छोड़ कर क्रिया होती है, उसको मैथुन नहीं कहते । जैसे कि पिता भाई आदि लड़की बहिन आदिको गोदीमें लेते हैं, प्यार करते हैं, तो भी वह अब्रह्म नहीं कहा जाता । क्योंकि वहाँपर प्रमत्तयोग नहीं है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथ परिग्रहः क इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जिसका अन्तमें पाठ किया है, उस परिग्रहका क्या स्वरूप है ? इसका उत्तर सूत्र द्वारा देते हैं।—

सूत्र—मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—चेतनात्स्वचेतनेषु च ग्राह्याभ्यन्तरेषु द्रव्येषु मूर्च्छा परिग्रहः । इच्छा प्रार्थना कामोभिलाष काङ्क्षा ग्राह्यार्थं मूलेत्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—चेतनायुक्त अथवा चेतनरहित जो ग्राह्य तथा अभ्यन्तर द्रव्य—पदार्थ हैं, उनके विषयमें जो मूर्च्छामान होता है, उसमें परिग्रह कहते हैं । इच्छा प्रार्थना काम भिलाषा काङ्क्षा गृद्धि और मूर्च्छा ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भावार्थ—यहाँपर प्रमत्तयाग शब्दका सम्बन्ध रहनेके कारण जो रत्नत्रयके साधन हैं, उनके ग्रहण रक्षण आदिमें परिग्रहता नहीं मानी जाती । जो उसके साधन नहीं हैं, उन वस्तुओंके ग्रहण रक्षण करनेमें मूर्च्छा—परिग्रह समझना चाहिये । वे वस्तु चाहे सचेतन हों, चाहे अचेतन ।

स्त्री पुत्र दासी दास ग्राम गृह क्षेत्र वन वान्यादि बाह्य परिग्रह हैं, और मिश्रयात्त्व वेद कषाय आदि अन्तरङ्ग परिग्रह हैं । बाह्य पदार्थ अन्तरङ्ग मूर्च्छाके कारण हैं, इसलिये उनमें भी परिग्रह ही कहा है ।

मूर्च्छा शब्द लोकमें वेदोक्तिके त्रिभिः प्रसिद्ध है, अतएव उसका विशिष्ट अर्थ बनानेके लिये ही पर्यायवाचक शब्दोंका उल्लेख किया है, जिससे मालूम होता है, कि इच्छा प्रार्थना कामना आदिमें मूर्च्छा कहते हैं ।

भाष्यम्—अगाह-गृह्णीमरतायद् व्रतानि । अथ व्रती क इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने व्रतोंका जो स्वरूप बताया, वह हमारा समझमें आ गया—उसमें हम ग्रहण करते हैं । अब यह कहिये, कि व्रती जिसमें कहते हैं ? व्रताके धारण करने मात्रसे ही व्रती कहा जा सकता है, या और कोई विशेषता है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥

भाष्यम्—भाषानिदानमिध्यादशाल्योस्त्रिभिर्विद्युक्तो निःशल्यो व्रती भवति व्रतान्यस्य सतीति व्रती । तदेव निःशल्यो व्रतवान् व्रती भवतीति ॥

अर्थ—मायाशक्त्य निःशल्य और मिश्रार्थशक्त्य इन तीनोंमें जो रहित है उसको निःशल्य कहते हैं । जो निःशल्य है, वही व्रती है । व्रती शब्दका अर्थ है, कि जो व्रतोंको धारण करता है । इस त्रिभिः अर्थ यही समझना चाहिये कि जो निःशल्य है, और व्रतोंको भी धारण करनेवाला है, वही व्रती है ।

भावार्थ—शल्य शब्दका अर्थ कण्टक होता है । जो काँटे की तरहसे हृदयमें चुभने-वाला हो, उसको भी शल्य कहते हैं । माया निदान और मिथ्यात्व ये तीनों शल्य हैं । क्योंकि शल्य—काँटेकी तरहसे सदा हृदयमें गड़कने रहते हैं । अतएव जबतक इनका त्याग नहीं किया जाय, तबतक ब्रतोंके धारण कर लेनेपर भी ब्रती नहीं माना जा सकता । जो माया निदान या मिथ्यात्वपूर्वक ब्रतोंको धारण करता है, वह वास्तवमें ब्रती नहीं है । इसी प्रकार केवल शल्यका परित्याग कर देने मात्रसे भी ब्रती तबतक नहीं हो सकता, जबतक कि ब्रतोंको धारण न किया जाय । अतएव जो शल्य रहित होकर ब्रतोंको पाछता है, वही ब्रती है, ऐसा समझना चाहिये ।

ब्रतीके कितने भेद हैं, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥

भाष्यम्—स एष ब्रती द्विविधा भवति । अगारी अनगारश्च । श्रावकः श्रमणश्चेत्यर्थः ॥

अर्थ—ऊपर जिसका उल्लेख बनाया गया है, उस ब्रतीके दो भेद हैं—एक अगारी दूसरा अनगार । इन्हींको क्रमसे श्रावक और श्रमण भी कहते हैं । अर्थात् अगारी और श्रावक एक बात है, तथा अनगार और श्रमण एक बात है ।

भाष्यम्—अत्राह—कौऽनयोः प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते ॥—

अर्थ—प्रश्न—आपने ब्रतीके जो ये दो भेद बताये—अगारी और अनगार इनमें अन्तर—विशेषता किस बातकी है ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—अणुब्रतोऽगारी ॥ १५ ॥

भाष्यम्—अणून्यस्य ब्रतानीत्यणुब्रतः । तदेवमणुब्रतधरः श्रावकोऽगारब्रती भवति ॥

अर्थ—जिसके उपर्युक्त ब्रत अणुरूपमें—थोड़े प्रमाणमें हों, उसको अणुब्रत या अणुब्रती कहते हैं । इस प्रकार जो अणु—छुट्टे प्रमाणवाले ब्रतोंको धारण करनेवाला है, उस श्रावकको अगारी ब्रती समझना चाहिये ।

भावार्थ—उपर्युक्त अहिंसादिक ब्रत दो प्रकारसे पाळे जाते हैं । एक तो पूर्णरूपसे—एकेन्द्रियमे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवमात्रकी हिंसाका मन वचन कायके सम्पूर्ण भंगोंसे परित्याग करना आदि, और दूसरा एक देगरूपसे । अर्थात् प्रयोजनीभूत हिंसा आदिके सिवाय सम्पूर्णका परित्याग करना । जो हिंसा आदिका एकदेश रूपसे—स्थूल हिंसा आदिका त्याग करने-वाला है, उसको श्रावक अथवा अगारी ब्रती, अणुब्रती, देगसंयत, देशयति आदि कहते हैं ।

भाष्यम्—किं चान्यत् ।—

अर्थ—अगारी और अनगारमें एक विशेषता बताई । इसके सिवाय उसमें और भी विशेषता है । उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

१—अगारं गृहम् तत्रस्ति वस्यामौ अगारी गृहीत्यर्थः । २—न अगारम् गृहम् यस्य स—गृहविरतो यतिरित्यर्थः ।

सूत्र—दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोग- परिभोगातिथिसविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ १६ ॥

भाष्यम्—एभिश्च दिग्भ्रतादिभिरुत्तरव्रतैः सपञ्चोऽगारी व्रती भवति । तत्र दिग्भ्रत नाम तिर्यगूर्ध्वमधो वा दशाना दिशां यथाशक्ति गमनपरिमाणाभिग्रह । तत्परतश्च सर्वभूतेष्वयतोऽन्यतश्च सर्वसावद्ययोगीक्षेप । देशघ्नत नामापवरकगृहग्रामसीमादिषु यथाशक्ति प्रविचाराय परिमाणाभिग्रह । तत्परतश्च सर्वभूतेष्वर्थतोऽनर्थतश्च सर्वसावद्ययोगीक्षेप ॥ अर्थदण्डो नामोपभोगपरिभोगावस्थागारिणो व्रतिनोऽर्थः । तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः । तद्व्याप्यदण्डोऽनर्थदण्डः । तद्विरतिव्रतम् ॥ सामायिक नामाभिगृह्य काल सर्वसावद्ययोगीक्षेप ॥ पौषधोपवासो नाम पौषधे उपवासः पौषधोपवासः । पौषध पयस्यनथान्तरम् । सोऽष्टमीं चतुर्विंशीं पञ्चदशीमन्यतमा वा तिथिमभिगृह्य चतुर्थ्यानुपवासिना व्यपगतस्नानालेपनगन्धमाह्यालकारेण न्यस्तसर्वसावद्ययोगेन कुशसस्तरफलकादीनामन्यतम सस्तरमास्तीर्य स्थानधीरासननिपद्याना वान्यतममास्थाय धर्मजागरिकापरेणानुष्ठेयो भवति ॥ उपभोगपरिभोगव्रत नामाशनपानरवाद्यव्ययगन्धमाह्यादीनामाच्छुद्धनप्रावरणालकारशयनासनगृहयानवाहनादीनां च बहुसावधानां वर्जनम् । अल्पसावधानामपि परिमाणकरणमिति ॥ अतिथिसविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयानामक्षपानादीनां द्रव्याणां देशकालाद्व्याप्तासत्कारक्रमोपेत पर्यात्मानुग्रहबुद्ध्या सयतेभ्यो दानमिति ॥

अर्थ—दिग्भ्रत, देशभ्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिकव्रत, पौषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगव्रत, और अतिथिसविभागव्रत, ये सात उत्तरव्रत हैं । उपर्युक्त अगारी—श्रावक इन सात व्रतोंसे भी सपन्न—युक्त हुआ करता है । इनके लक्षण क्रमसे इस प्रकार हैं ।—तिर्यक्—तिरछी—पूर्वादि आठों दिशाओंमें तथा ऊर्ध्व और अधो दिशामें अपनी शक्तिके अनुसार गमनादि करनेका परिणामरूप नियम कर लेना, और उस मर्यादित क्षेत्रप्रमाण—दिग्मर्यादासे बाहर जीवमात्रके विषयमें सार्पक अथवा निरर्थक—अर्थ—प्रयोजनके अनुसार यद्वा नि प्रयोजन समस्त सावद्य योगोंको छोड़ना यह दिग्भ्रत है । अपवरक—कोठा या कमरा आदि एव गृह ग्रामकी सीमा आदिके विषयमें शक्त्यनुसार गमनगमनके लिये परिणामका नियम करलेना, इसको देशभ्रत कहते हैं । दिग्भ्रतके समान इसमें भी मर्यादित क्षेत्रके बाहर प्राणिमात्रके विषयमें अर्थ अथवा उसके बिना सम्पूर्ण सावद्ययोगका परिहार हुआ करता है । इस श्रावक व्रतके धारण करनेवालेके जो उपभोग परिभोग होते हैं, उनको अर्थ कहते हैं । और उनके सिवाय जितने विषय हैं, वे सब अनर्थ समझने चाहिये । इस अनर्थके लिये जो दण्ड प्रवृत्ति हो उसको अनर्थदण्ड कहते हैं । तथा अनर्थदण्डसे विरति—उपरति होनेको अनर्थदण्ड व्रत कहते हैं । काउरी मर्यादा करके उतने समयके लिये समस्त सावद्य योगोंको जोड़ देनेका नाम सामायिक है । निन्द्य दोषयुक्त या पापवर्धक कार्यको अथवा आरम्भ परिग्रहरूप या भोगोपभोगरूप क्रियाओंको अग्र्यमर्म कहते हैं, और इस तरहके कार्यके लिये जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति होती है, उसको सारथयोग कहते हैं ।

सामायिकके लिये जितने कालका प्रमाण किया हो, उतने कालतक सावद्ययोगका सर्वथा परित्याग करके आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिन्तन और विधिपूर्वक सामायिक पाठका उच्चारण आदि करना चाहिये ।

पौषध नाम पर्व—कालका है । पौषध और पर्व दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । आहारका परित्याग करके धर्म-सेवन करनेके लिये धर्मार्थतन या निगृह्य स्थानपर निवास करनेको उपवास कहते हैं । पौषध—पर्वकालमें जो उपवास किया जाय, उसको पौषधोपवास कहते हैं । अष्टमी चतुर्दशी अमावस्या और पूर्णिमा पर्व-तिथियाँ हैं । पौषधोपवासकी विधि इस प्रकार है, कि जो चैतुर्थ आदि उपवास करनेवाला हो, उस श्रावकको इन पर्वतिथियोंमें से अन्यतम—किसी भी एक तिथिको अथवा सम्पूर्ण तिथियोंको आहारादिके त्यागका नियम करना चाहिये । स्नान उवटन गन्ध माला अलंकारका त्याग करके और समस्त सावद्ययोगको छोड़कर कुशासन—दर्भासन—चटाई अथवा लकड़ीके पट्टे आदिसे किसी भी एक प्रकारके आसनपर वीरासन पद्मासन स्वास्तिकासन आदि अनेक आसनोंमेंसे रुचि और शक्तिके अनुसार किसी भी आसनसे बैठकर धर्म—सेवन करते हुए—पूजा जप स्वाध्यायमें रत रहकर जागरणके द्वारा—रात्रिको निद्रा न लेकर धर्म—सेवनके द्वारा ही पौषधकालको व्यतीत करना चाहिये ।

भोजन पान आदि खाद्य पेय पदार्थोंका, स्वाद्य—ताम्बूल—भक्षण आदिका, एवं गन्ध-माला आदि और भी उपभोगरूप मनोहर इष्ट विषयोंका, तथा आच्छादन पहरने योग्य वस्त्र अलंकार—भूषण, गन्ध, आसन, मकान, यान—हाथी घोड़ा ऊँट आदिकी सवारी अथवा विमान आदि, और वाहन—बैलगाड़ी आदि सामान ढोनेवाली सवारी, इत्यादि परिभोगरूप पदार्थोंका जो कि अति सावद्यरूप हैं, त्याग करना, और जो अल्प सावद्य हैं, उनका परिमाण कर लेना इसको उपभोगपरिभोगव्रत कहते हैं ।

न्यायपूर्वक कमाये हुए अथवा संचित और देने योग्य अन्नपान आदि पदार्थोंका देश कालके अनुसार श्रद्धापूर्वक सत्कारके साथ क्रमसे आत्म-कल्याण करनेकी उत्कृष्ट बुद्धि—भावनासे संयत—साधुओंको वितरण—दान करना इसको अतिथिसंविभाग कहते हैं ।

भावार्थ—ऊपर जो अहिंसादिक पाँच व्रत बताये हैं, उनको मूलव्रत कहते हैं, और उनके पोषक तथा उनमें निर्मलता आदि गुणोंको उत्पन्न करनेवाले इन दिग्व्रत आदिको उत्तरव्रत कहते हैं । उत्तरव्रत सात हैं, जिनका कि यहाँपर लक्षण बताया गया है ।

१—एक दिनकी दो भुक्ति हुवा करती है । अतएव पर्व दिनकी दो और पारणक तथा धारणक दिवसोंकी एक एक इस तरह चार भुक्तिका जिसमें त्याग हो, उसको चतुर्थ कहते हैं । इसी तरह वेला तैला आदिको पष्ठ अष्टम आदि कहते हैं । २—पहले तीनको गुणव्रत और अतके चारको निश्चव्रत कहते हैं ।

दिग्गतमें यावज्जीवनके लिये दशों दिशाओंका परिमाण कर लिया जाता है, कि मैं अमुक स्थानसे परे अपने भोगोपभोग अथवा आरम्भ आर्जाविका आदिके लिये नहीं जाऊँगा । अतएव परिमित क्षेत्रसे बाहरका उसको किसी भी प्रकारका पाप नहीं लगता । दिग्गतके भीतर प्रतिदिन अथवा कुछ दिनके लिये जो इस प्रकारका परिमाण कर लिया जाता है, कि आज अथवा इतने समय तक अथवा इतने दिन तक इतने क्षेत्रसे बाहर नहीं जाऊँगा, इसको देशवकाशिक कहते हैं । अनर्थदण्डव्रतका अर्थ ऐसा भी है, कि जिससे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध होता नहीं, ऐसे पापत्रयके निमित्तभूत कार्यको करना अनर्थदण्ड है, और उसके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं । समय नाम एकत्वका है । विधिपूर्वक एक आत्मस्वरूपका चिन्तन करना, या एकत्वकी सिद्धिके लिये जो विधिविशेष किया जाता है, वह सब सामायिक है । पौषघोषनासके दिन स्नानादि सभी सस्कारोंका त्याग किया जाता है, इसका प्रयोजन यही है, कि ऐसा करनेसे निर्विकारता जागृत होती है, और धर्म-सेवनमें चित्त अप्रमत्त रहता है । जो एक बार भोगनेमें आवें, भोगनेमें आवें ऐसे भोजन पान इत्र माला आदि पदार्थोंको उपभोग और जो बार बार भोगनेमें ऐसे स्त्री गृह शय्या वस्त्र वाहन-सवारी आदि पदार्थोंको परिभोग कहते हैं । इनमेंसे जो अति सावद्य हैं, उनका सर्वथा त्याग और जो अल्प सावद्य हैं, उनका परिमाण भोगोपभोगव्रतमें किया जाता है । इसको भोगोपभोगपरिमाणव्रत भी कहते हैं । जिसरी कोई तिथि निश्चित नहीं है, अथवा जिनके किसी तिथिका प्रमाण नहीं है, अथवा जिन्होंने स्वयं गृह आरम्भ आदिका परित्याग कर दिया है, और इसी लिये जो स्वयं आहारके बनाने आदिमें प्रवृत्त न होकर गृहस्थोंके घरोंमें उसके लिये गमन करते हैं, उनको अतिथि कहते हैं । उनके आत्म-कल्याण-रत्नत्रय-धर्मको सिद्ध करनेके लिये और अपना भी कल्याण करनेके लिये न्यायोपार्जित और उनके योग्य वस्तुका दान करना, इसको अतिथिसविभाग कहते हैं । इस व्रतके धारण करनेवालेको प्रतिदिन दानमें प्रवृत्त होना चाहिये ।

इन सातों ही व्रतोंको सप्तशील भी कहते हैं । इनके निमित्तसे मूछन्त स्थिर होते, विशुद्ध होते और सगुण बनते हैं । अतएव अगारी व्रती-श्रावकोंको इनका भी पालन करना चाहिये ।

भाष्यम्—किं चान्यत् ।—

अर्थ—अगारी व्रतीको जिनका पालन करना चाहिये, ऐसे मूछन्त और उत्तर-व्रतोंका स्वरूप बताया । किन्तु इनके सिवाय भी जिसका उसे अवश्य आराधन करना चाहिये, उसका वर्णन करनेके लिये सूत्र करते हैं ।—

सूत्र-मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ॥ १७ ॥

भाष्यम्—कालसंहननद्वैर्वल्योपसर्गदोषान्द्वर्मवश्यकपरिहाणि वाभितो ज्ञात्वावमौर्दर्य-
चतुर्थपष्टममभक्तादिभिरात्मानं संलिख्य संयमं प्रतिपद्योत्तमव्रतसम्पन्नश्चतुर्विधाहारं
प्रत्याख्याय यावज्जीवं भावनानुपेक्षापरः स्मृतिसमाधिवहुलो मारणान्तिकीं संलेखनां
जोषिता उत्तमार्थस्याराधको भवतीति ॥

अर्थ—काल संहनन दुर्बलता और उपसर्ग आदिके दोषसे जब अच्छी तरह यह बात
मालूम हो जाय, कि अब धर्मके पालन करनेमें तथा आवश्यक कार्योंके करनेमें हर तरहसे
क्षति उपस्थित होनेवाली है, तो अवमौर्दर्य चतुर्थभक्त पष्टभक्त या अष्टमभक्त आदि उप-
वासोंके द्वारा आत्माका संलेखन-संशोधन करना चाहिये, और संयमको धारण करके उत्तम
व्रत-संलेखनके द्वारा अपनेको पूर्ण करना चाहिये । इसके लिये यावज्जीवन चतुर्विध आहार
खाद्य स्वाद्य लेह्य पेयका परित्याग करके अनित्यादि वारह भावनाओंका निरन्तर चिन्तन करनेमें रत
होना चाहिये । तथा देव गुरु शास्त्रादिके समीचीन पवित्र गुणोंका स्मरण करने और प्रायः समाधि-
धारण करनेमें परायणता रखकर मारणान्तिकी संलेखनाका सेवन करना चाहिये । जो अगारी
व्रती इसका सेवन करता है, वह उत्तमार्थका आराधक समझा जाता है ।

भावार्थ—इसको संलेखनाव्रत या संलेखनामरण कहते हैं । किंतु इसमें समाधि-
की प्रधानता है, अतएव इसका नाम समाधिमरण भी है । यह व्रत समस्त व्रतोंका फल-
स्वरूप-सबको सफल बनानेवाला है । अतएव इसका अवश्य आराधन करना चाहिये ।
सूत्रकारने इसके लिये जोषिता शब्द दिया है । इसका आशय यह है, कि इस व्रतका प्रीति-
पूर्वक सेवन करना चाहिये^१ । जिस समय यह मालूम हो जाय, कि अब हमारा मरण अवश्य-
म्भावी है, अथवा दुष्काल या अन्य किसी प्रकारके काल-दोषसे यद्वा शारीरिक शक्ति-वीर्य
और बल पराक्रमके कम हो जानेसे या किसी प्रकारके उपसर्ग आदिके होनेपर धर्मापराधन
और आवश्यक कार्योंके साधनमें क्षति पड़ती नजर पड़े, तो आत्माका संलेखन-संशोधन करके
विधिपूर्वक समाधिके साथ अथवा अरिहंतादि पंचपरमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करते हुए, प्राणोंका
परित्याग कर देना चाहिये । इसीको समाधिमरण कहते हैं ।

इस व्रतके करनेवालेको यावज्जीवनके लिये क्रमसे चतुर्विध आहारका त्याग करना
चाहिये । पहले अवमौर्दर्य और उसके बाद क्रमसे शक्तिके अनुसार चतुर्थभक्त आदि उपवास
धारण करना चाहिये, जिससे कि आत्माका कषायादि दोषोंके दूर हो जानेसे संशोधन हो जाय ।
पुनः संयमको धारण करके भावनाओंको भाते हुए परमेष्ठिस्मृति और समाधिमें प्रवृत्त होना
चाहिये । इसकी विशेष विधि आगम-ग्रन्थोंसे जाननी चाहिये ।

इसके अन्तमें नियमसे मरण होता है, अतएव इसको मारणान्तिकी कहते हैं, और
इसके करनेमें काय तथा कषायका परित्याग किया जाता है, इसलिये इसका नाम संलेखना है ।

दिग्धत आदिके साथ इसको भी पहले ही सूत्रमें यदि गिना देते, तो भी काम चल सकता था, परन्तु वैसा न करके पृथक् सूत्र करनेका आशय यह है, कि इसकी विशेषता प्रकट हो, और यह भी मालूम होजाय, कि समाधिमरण केवल अगारी-श्रावक ही नहीं करते, किन्तु अनगार भी किया करते हैं । तथा आगार भी सभी करते हो यह बात भी नहीं है । किसीके कचिन् कदाचित् होता है, और किसीके कदाचित् नहीं भी होता ।

भाष्यम्—एतानि दिग्धतादीनि शीलानि भवन्ति । निःशल्यो व्रतीति वचनादुक्तं भवति व्रती नियतं सम्यग्दृष्टिरिति ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें दिग्धत आदि जो बताये हैं, उनमें शील कहते हैं । उन सातोंकी शील-सप्तशील ऐसी सज्ञा है ।

ऊपर यह बात भी बता चुके हैं, कि जो निःशल्य होता है, वही व्रती माना जाता है । इस कथनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि जो व्रती होता है, वह नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होता है ।

उपर्युक्त व्रतोंका श्रावकको अतीचार रहित पालन करना चाहिये । इसके लिये यह जाननेकी आवश्यकता है, कि सम्यग्दर्शनसे लेकर सलेखना तकके कौन कौनसे अतीचार हैं । अतएव भाष्यकार कहते हैं, कि—

भाष्यम्—तत्र ।—

अर्थ—उक्त सम्यग्दर्शन तथा व्रतोंमेंसे—

सूत्र—शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशसासस्तवा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ १८ ॥

भाष्यम्—शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशसा सस्तव इत्येते पञ्च सम्यग्दृष्टेरतीचारा भवन्ति । अतिचारो व्यतिक्रमः स्वरूपमतिव्यन्यान्तरम् । अधिगतजीवाजीवादित च्यस्यापि भगवतः शासनं भावतोऽभिपन्नस्यासहार्थमते सम्यग्दृष्टेरर्हत्प्रोक्तेषु अत्यन्त-सम्भेद्यतीन्द्रियेषु केवलागममाहोष्ययेषु यः सदेहो भवति एव स्यादेव न स्यादिति सा शङ्का । ऐतल्लौकिकपारलौकिकेषु विषयेष्वज्ञाशसा काङ्क्षा । सोऽतिचारः सम्यग्दृष्टेः । कुतः ? काङ्क्षितो ह्यविचारितगुणदोषः समयमतिक्रामति ॥ विचिकित्सा नाम हृदमप्यस्तीदमपीति मतिविप्लुतिः । अन्यदृष्टिरित्यर्हच्छासनव्यतिरिक्ता दृष्टिमाह । सा द्विविधा । अभिमृष्टीता अनभिमृष्टीता च । तदुक्तानां क्रियावादिनामक्रियावादिनामहानिकानां वैनयिकानां च प्रशसासस्तवो सम्यग्दृष्टेरतीचार इति । अज्ञात-प्रशसासस्तवयो कः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते-ज्ञानदर्शनगुण-प्रकर्षोद्भावनं भावतः प्रशसा । सस्तवस्तु सोपध निरुपधं मृतामृतगुणवचनीमिति ॥

अर्थ—शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशसा, और अन्यदृष्टिसत्त्व ये पाँच सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं । अतीचार व्यतिक्रम और स्वरूप ये शब्द एक ही अर्थके याचक हैं ।

जो भगवान् अरहत्त्वदेवके शासनको भाव-अन्तरङ्गसे स्वीकार करनेवाला है, और उनके उपदिष्ट जीव अजीव आदि तत्त्वोंके स्वरूपका जिसको ज्ञान है, किन्तु जिसरी मति अन्य दर्श-

नोमें बताये हुए पदार्थोंकी तरफसे सर्वथा हटकर जिनोक्त पदार्थोंकी तरफ ही दृढरूपसे स्थिर नहीं हुई है, ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुषको भी अर्हत् भगवानके उपदिष्ट अत्यन्त सूक्ष्म और ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें कि जिनको केवल आगमके द्वारा ही जाना जा सकता है, इस तरहका संदेह हो जाया करता है, कि ऐसा हो सकता है या नहीं, जो जिनभगवानने कहा है, वही ठीक है, अथवा अमुक प्रकारसे जो अमुक दर्शनकारने कहा है सो ठीक है, इत्यादि । इस तरहके संदिग्ध विचारको ही शंका कहते हैं । यह सम्यग्दर्शनका पहला अतीचार है ।

इस लोकसम्बन्धी—स्त्री पुत्र धन धान्यादि और परलोकसम्बन्धी स्वर्गादि विभूति स्वरूप विषयोंकी अभिलाषा करनेको काङ्क्षा कहते हैं । यह भी सम्यग्दर्शनका अतीचार है । क्योंकि काङ्क्षा रखनेवाला मनुष्य गुण दोषके विचारसे रहित हो जाया करता है, और विचारशून्य जीव समय—आगम—शासनका अतिक्रम—उल्लंघन कर दिया करता है ।

यह भी ठीक है, और यह भी ठीक है, अर्थात् जिनभगवान्ने जो पदार्थोंका स्वरूप कहा है, वह भी यथार्थ है, और अन्य दर्शनकारोंने जो कहा है, वह भी यथार्थ है, इस तरहका जो मति—बुद्धिमें विप्लव—विभ्रम हो जाया करता है, उसको विचिकित्सा कहते हैं^१ । इस तरहके भ्रान्त विचारोंका होना भी सम्यग्दर्शनका अतीचार है ।

अर्हद् भगवानके शासनसे भिन्न जितने भी दर्शन हैं, वे सब अन्यदृष्टि शब्दसे समझने चाहिये । अन्यदृष्टि दो प्रकारकी हुआ करती है ।—अभिगृहीत और अनभिगृहीत । इसके धारक जीव सामान्यतया चार प्रकारके हैं ।—क्रियावादी अक्रियावादी अज्ञानी और वैनायिक । इनकी प्रशंसा करना अन्यदृष्टिप्रशंसा नामका अतीचार है, और इनका संस्तव करना अन्य, दृष्टिसंस्तव नामका अतीचार है ।

प्रश्न—प्रशंसा और संस्तव इनमें क्या विशेषता है ? उत्तर—अन्यदृष्टियोंके ज्ञान दर्शन गुणमें भावसे—केवल मनसे प्रकर्षताका उद्भावन करना इसको प्रशंसा कहते हैं । तथा सोपध—अभिगृहीत और निरुपध—अनभिगृहीत सद्भूत अथवा असद्भूत गुणोंकी वचनके द्वारा प्रकर्षताका उद्भावन करना, इसको संस्तव कहते हैं ।

भावार्थ—अंशतः भङ्ग हो जानेको अतीचार कहते हैं^२ । सम्यग्दर्शन जो तत्त्वार्थके श्रद्धानुरूप है, उसका यदि प्रतिपक्षी कर्मका अन्तरङ्गमें उदय होनेपर अंशतः भंग हो जाय, तो उसको अतीचार समझना चाहिये । चार अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहकी एक, मिथ्यात्व अथवा मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व इस तरह तीन मिलाकर कुल पाँच अथवा सात

१—दिगम्बर—सम्प्रदायमें विचिकित्साका अर्थ ग्लानि किया है । साधुओंके बाह्य शरीरको धूलिधूसरित अथवा रोगादिसे ग्रस्त देखकर उनके आत्मिक गुणोंमें ग्लानि करना, इसको विचिकित्सा नामका अतीचार कहते हैं ।

२—अतिक्रमो मानसशुद्धिद्वानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः । देशस्थ भोगोद्यतिचार उक्तः भङ्गोद्यतिचार इह व्रतानाम् ॥

प्रकृति सम्यक्त्वकी घातक हैं। इनका उपशम क्षय क्षयोपशम होनेपर क्रमसे औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ करता है। औपशमिक और क्षायिकसम्यग्दर्शनके होने पर प्रतिपत्ती कर्मका अशमात्र भी उदय नहीं हुआ करता। किन्तु क्षायोपशमिकमें सम्यक्त्व-प्रकृतिका उदय रहा करता है। अतएव उसके शका आदिक दोष-अतीचार भी लगते हैं-सम्यग्दर्शनका अशत भग हो जाया करता है। यह सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें तक रहा करता है। शका आदि अतीचारोंका भी अर्थ अतत्त्व श्रद्धानके सम्यग्वशो लेकर ही करना चाहिये।

पदार्थोंमें शका दो कारणोंसे हुआ करती है—एक तो ज्ञानावरणकर्मके उदयसे दूसरी दर्शनभोहके उदयसे। जो दर्शनभोहके उदयसे शका होती है, वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है। इसी प्रकार काङ्क्षा आदिके विषयमें भी घटित कर लेना चाहिये।

इस तरह सम्यग्दर्शनके अतीचारोंको बताकर क्रमसे पाँच अहिंसादिक व्रत और सात शीलके भी अतीचारोंकी सख्याको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

माप्यम्-व्रतेषु पञ्चसु शीलेषु च सप्तसु पञ्च पञ्चातीचारा भवन्ति यथाक्रममिति ऊर्ध्वं यद्वक्ष्यामः ।-तद्यथा-

अर्थ—अहिंसा आदि पाँच व्रत और निग्रह आदि सप्तशील इनके विषयमें भी इसी प्रकार क्रमसे पाँच पाँच अतीचार हुआ करते हैं। इन अतीचारोंका हम आगे चल्कर क्रमसे वर्णन करेंगे। यथा—

प्रथम अहिंसा व्रतके अतीचारोंको बताने लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बन्धवधविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधा ॥ २० ॥

माप्यम्—व्रतस्यावराणां अविनां बन्धवधौ त्वक्छेदं काष्ठादीनां पुरुषहत्यादीनां महापापीनां चातिभारारोपणं तेषामेव चान्नपाननिरोधः अहिंसाव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—व्रत और स्थावर जीविका बंध तथा वध करना, त्वचाका छेदन—यूसरी छात्र आदिना उपायना, पुरुष हाथी घोड़ा बन्धु भैया आदिके ऊपर प्रमाणमे ज्यादा-जितना वजन उनमें लेनानेकी शक्ति है, उससे अधिक लदना, और उन्दीके-पुरुष पशु आदिके अनपानना निरोध कर देना—समयपर उनको खानेको या पीनेको नहीं देना—अपना कम देना, ये पाँच अहिंसा व्रतके अतीचार हैं।

भारार्थ—अभिमत स्थानमें निमित्तके निमित्तमे गमन न कर सके, उसको वध कहते हैं। जैसे कि गी भैंस घोड़ा हाथी आदिको बाँधकर रक्ता जाता है, अपना बन्धु वीरहको बाँधेमें

रोककर रखा जाता है, यद्वा तोता मैना आदि पक्षियोंको पिंजड़ेमें बंद करके रक्खा जाता है। जिससे प्राणीको पीड़ा हो, उसको वध कहते हैं। जैसे कि चाबुकसे या बेंतसे किसीको पीटना। वधका अर्थ यहाँपर प्राणापहार नहीं है। क्योंकि ऐसी अवस्थामें वध अतीचार न होकर अनाचार हो जायगा। शरीरके किसी अंग या उपांगको शरीरसे पृथक् करनेको छेद कहते हैं। जैसे कि वृक्षकी छाल उपाट ली जाती है। इस अतीचारसे अभिप्राय केवल वृक्षकी छाल उपाटनेका ही नहीं समझना, बहुतसे लोग कुत्तेकी पूँछ कान या घोड़ेकी पूँछ कटवा देते हैं, ये भी छेद नामका ही अतीचार है। अतिमारारोपण शब्दका अर्थ है, न्याय्य—भारसे अधिक बोझा लदना। जैसे कि इक्का आदिमें अधिक सवारियोंका बैठना। समयपर खानेको अन्न, पीनेको पानी न देना अन्नपाननिरोध नामका अतीचार है। इन पाँचोंको अहिंसागुणव्रतका अतीचार इसलिये कहा है, कि इनके करते हुए अहिंसागुणव्रतका सर्वथा भंग नहीं होता। क्रोधादि कषायके बश होकर इन क्रियाओंको करते हुए भी व्रतकी रक्षाका भी ध्यान रखता है। तथा अन्तरङ्ग और बाह्यमें क्रिया करनेमें भी इतनी सावधानी रखता है, कि कहीं मेरा व्रत भंग न हो जाय। यदि व्रतरक्षाकी अपेक्षाको छोड़कर और प्राणापहारके लिये ही इन क्रियाओंको करे, तो इन्हीं क्रियाओंको भंग अथवा अनाचार भी कहा जा सकता है।

सत्यागुणव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—एते पञ्च मिथ्योपदेशादयः सत्यवचनस्यातिचारा भवन्ति। तत्र मिथ्योपदेशो नाम प्रमत्तवचनमयथार्थवचनोपदेशो विवादेष्वतिसंधानोपदेश इत्येवमादिः। रहस्याभ्याख्यानं नाम स्त्रीपुंसयोः परस्परेणान्यस्य वा रागसंयुक्तं हास्यक्रीडासङ्गादिभी रहस्येनाभिज्ञंसनम्। कूटलेखक्रिया लोकप्रतीता। न्यासापहारो विस्मरणकृतपरनिक्षेपग्रहणम्। साकारमन्त्रभेदः पैशुन्यं गुह्यमन्त्रभेदश्च ॥

अर्थ—इस सूत्रमें गिनाये गये मिथ्योपदेशादि पाँच सत्यागुणव्रतके अतीचार हैं। प्रमादयुक्त वचन बोलना, अयथार्थ वस्तुके निरूपण करनेवाले वचन कहना, विवादके समय अतिसंधान करना इत्यादि, ये सब मिथ्योपदेश हैं। दूसरोंको ऐसा करनेके लिये उपदेश देना भी मिथ्योपदेश है। स्त्री पुरुष अथवा अन्य कोई व्यक्ति परस्परमें रहस्य—क्रिया कर रहे हों, तो उसका रागयुक्त होकर हास्य क्रीडा सङ्गादिके द्वारा रहस्य किर्यारूपसे प्रकट कर देना, रहस्याभ्याख्यान नामका अतीचार है। कूटलेखक्रिया शब्दका अर्थ लोकमें प्रसिद्ध है। जैसे कि झूठा जमाखर्च करना, जाली तमस्सुख—टीप वगैरः लिखा लेना, किसीकी झूठी बुराई करना, छापना, इत्यादि। भूलसे रह जानेवाली दूसरेकी धरोहरको ग्रहण कर लेना, न्यासापहार नामका अती-

चार है, चुगली खाना, गुप्त मन्त्रका निस्फोट—मढाफोड कर देना, आदि साकारमन्त्रभेद नामका अतीचार है ।

भावार्थ—अहिंसाशुभ्रतके अतीचारोंके विषयमें जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उसी प्रकार इन अतीचारोंके विषयमें भी अशुभका अर्थ घटित कर लेना चाहिये । अर्थात् अन्तरङ्गमें दर्शनमोहका उदय होनेपर यदि अनन्तानुबन्धी और अप्रत्यास्थानाकरण कषायमेंसे किसीका भी उदय होनेपर तत्पूर्वक यदि प्रमत्त वचनादिक होंगे, तभी वे अतीचार कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं । नहीं तो चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थान तक सभी मनुष्योंके हरएक वचन प्रमत्त वचन कहने होंगे, और क्षीणमोहगुणस्थान तन्त्रके जीवोंके समस्त वचन अयथार्थ वचन कहने होंगे, क्योंकि जबतक केवलज्ञान नहीं होता, तबतक—बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंके असत्य वचन माना है ।

अतिसधानका अभिप्राय यह है, कि आगमके अर्थका उल्लघन करना, और फिर उसके छिये दुराग्रह करना, अथवा असम्बद्ध बोलना या हठ करके प्रकरण विरुद्ध बोलना ।

रहस्याभ्याख्यान और साकारमन्त्रभेद इनमें शारीरिक चेष्टा और मानसिक भावोंकी अपेक्षा भेद है । एका तमें किये गये गुह्य कार्यको हास्यादिके वश जाहिर कर देना, रहस्याभ्याख्यान है । आकार—इन्द्रित चेष्टा आदिके द्वारा दूसरेके विचारोंको जान करके कि इन्होंने यह सलाह की है, उसको जाहिर कर देना साकारमन्त्रभेद है । जैसे कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके मन्त्रका निस्फोट कर देता है । तथा स्वरूपकी अपेक्षा भी दोनोंमें अन्तर है, और विषयकी अपेक्षा भी भेद है ।

अस्तेय—अचर्याशुभ्रतके अतीचार बताते हैं—

सूत्र—स्तेनप्रयोगतदाहतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहारा ॥ २२ ॥

भाष्यम्—एते पञ्चास्तेयव्रतस्यातिचारा भवन्ति । तत्र स्तेनेषु हिरण्यादिप्रयोग । स्तेनेरा हृतस्य द्रव्यस्य मुधकुर्येण वा ग्रहणं तदाहतादानम् । विरुद्धराज्यातिक्रमश्चास्तेयव्रतस्यातिचारः । विरुद्धे हि राज्ये सयमेव स्तेययुक्तमावाप्तं भवति । हीनाधिक्रमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहार कूटतुला कूटमानवस्त्रनादियुक्तः क्रयो विक्रयो वृद्धिप्रयोगश्च । प्रतिरूपकव्यवहारो नाम स्ववर्णरूप्यादीनां द्रव्याणां प्रतिरूपकक्रिया व्याजीकरणानि धेत्येते पञ्चास्तेयव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—स्तेनप्रयोग आदि जो इस सूत्रमें गिनाये हैं, वे पाँच अस्तेयाशुभ्रतके अतीचार हैं । इनका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है ।

अर्थ—ऊर्ध्व व्यतिक्रम—ऊर्ध्व दिशामें जितना प्रमाण किया है, उसको बिना बढ़ाये ही^१ कार्यवश उससे परे भी गमन करना, इसको ऊर्ध्वव्यतिक्रम नामका अतीचार कहते हैं। इसी-तरह अधो दिशामें जितना प्रमाण किया है, उससे परे भी गमन करना अधोव्यतिक्रम नामका अतीचार है। पूर्वादिक आठ दिशाओंमेंसे किसी भी दिशामें नियत सीमासे आगे गमन करना तिर्यग्व्यतिक्रम नामका अतीचार है। पहले जितना प्रमाण किया है, उसको फिर रागवश बढ़ा लेना, क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार है। यह अतीचार दो प्रकारसे हो सकता है, एक तो एक दिशाके नियत प्रमाणको घटाकर दूसरी तरफ बढ़ा लेनेसे, दूसरे किधरके भी प्रमाणको बिना घटाये ही इच्छित दिशाके प्रमाणको बढ़ा लेनेसे। नियत सीमाको भूल जाना—कहाँ तक या कितना प्रमाण किया था, सो प्रमाद अथवा अज्ञानादिके वश याद न रहना, इसको स्मृत्यन्तर्धान नामका अतीचार कहते हैं।

देशव्रतके अतीचारोंको बतानेकेलिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आनयन प्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः॥२६॥

भाष्यम्—द्रव्यस्यानयनं प्रेष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेप इत्येते पञ्च देशव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—नियत सीमासे बाहरकी वस्तुको किसी भी उपायसे—ऐसे उपायसे जोकि आगेके चार अतीचारोंमेंसे किसीमें भी अन्तर्भूत नहीं हो सकता, मँगा लेना आनयन नामका अतीचार है। प्रेष्य—नौकर अथवा मजूर आदिके द्वारा सीमासे बाहर कोई भी कार्य करवाना, वहाँकी वस्तुको मँगवाना, अथवा कोई वस्तु या संदेश पहुँचाना आदि प्रेष्यप्रयोगनामका अतीचार है। केवल अपने शब्दको सीमाके बाहर पहुँचाकर—चिल्लाकर अथवा टेलीफोन तार आदिके द्वारा अपना काम निकालना शब्दानुपात नामका अतीचार है। अपना रूप दिखाकर सीमाके बाहर स्थित व्यक्तिको यह बोध करा देना, कि मैं यहाँपर हूँ, या यहाँसे गमन नहीं कर सकता, आदि, और इस तरहसे अपना काम चला लेना, रूपानुपात नामका अतीचार है। सीमाके बाहर चिट्ठी तार भेजकर अथवा डेला आदि फेंककर किसीको बोध कराकर काम चलाना, पुद्गलक्षेप नामका अतीचार है। इस तरह देशव्रतके ये पाँच अतीचार हैं।

अनर्थदण्डव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

सूत्र—कन्दर्पकौकुव्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि ॥ २७ ॥

१—क्योंकि सीमा बढ़ा लेनेपर क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार हो जायगा। २—स्मृतेरन्तर्धानं तिरोभाव इत्यर्थः। ३—इसका नाम देशावकाशिक भी है। ४—कौकुव्यमिति वा पाठः।

भाष्यम्—कन्दर्पं कौकुच्य मौत्सर्यमसमीक्ष्याधिकरणमुपभोगाधिकत्वमित्येते पञ्चानर्थ
दण्डविरतिव्रतस्यातिचारा भवन्ति । तत्र कन्दर्पो नाम रागसंयुक्तोऽसम्यो वाक्प्रयोगो
हास्य च । कौकुच्य नाम पतदेवोभय दुष्टकायप्रचार संयुक्तम् । मौत्सर्यमसम्यद्धवहुप्रलापि
त्वम् । असमीक्ष्याधिकरण लोकप्रतीतम् । उपभोगाधिकत्व चेति ।

अर्थ—अनर्थदण्डविरतिव्रतके पाँच अतीचार हैं—कन्दर्प, कौकुच्य, मौत्सर्य, असमी-
क्ष्याधिकरण, और उपभोगाधिकत्व ।

रागयुक्त असम्य हास्यके वचन बोलना इसको कन्दर्प कहते हैं । इन्हीं दोनों
बातोंको—हास्य और सम्यताके विरुद्ध रागपूर्ण भाषण को ही कौकुच्य कहते हैं,
यदि वह शरीरकी दूषित चेष्टासे भी संयुक्त हो । बिना सम्बन्धके अति प्रचुर बोलने—बड़बड़ा
नेत्रो मौत्सर्य कहते हैं । असमीक्ष्याधिकरण शब्दका अर्थ लोकमें सबको मालूम है । उपभोगाधि-
त्वका अर्थ भी प्रसिद्ध है ।

भावार्थ—बिना विचारके प्रयोजनसे अधिक क्रिया करनेको असमीक्ष्याधिकरण
कहते हैं । यह तीन प्रकारसे हुआ करता है—मन वचन और कायके द्वारा । मनमें निरर्थक
सकल्य विकल्प करना या मनोराज्यकी कल्पना करना, बेमतलब हरजगह कुछ
न कुछ बोलना और शरीरसे निरर्थक कुछ न कुछ चेष्टा करते रहना । भोग या
उपभोगरूप वस्तुओंका जितना प्रमाण किया है, उसके भीतर ही, परन्तु आवश्यकतासे अधिक
संग्रह करना उपभोगाधिकत्व नामका अतीचार है । इस प्रकार अनर्थदण्डविरति नामक व्रतके
पाँच अतीचार हैं, जो कि उसका अशत घात करनेवाले दूषण समझकर छोड़ने चाहिये ।

सामायिकव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं—

सूत्र—योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २८ ॥

भाष्यम्—कायदुष्प्रणिधानं वाग्दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानमनादरः स्मृत्यनुपस्थाप-
नमित्येते पञ्च सामायिकव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—सामायिकव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान,
मनोदुष्प्रणिधान, अनादर, और स्मृत्यनुपस्थापन ।

सूत्रमें योग शब्दका प्रयोग किया है, जिसका कि अर्थ पहले बता चुके हैं, कि मन वचन
कायकी नियामो योग कहते हैं । अतएव इसके तीन भेद हैं—मन वचन और काय । दुष्प्रणिधान
शब्दका अर्थ है, दुरुपयोग करना, अथवा इनका जिस तरह उपयोग करना चाहिये, उस तरहसे
न करके अन्य प्रकारसे या दूषितरूपसे उपयोग करना । अतएव योगोंके इस उपयोगकी
अपेक्षासे तीन अतीचार हो जाते हैं—कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, और मनोदुष्प्रणिधान ।

सामायिकके समयमें शरीरको निम प्रकारसे रक्षना चाहिये, उस तरहसे न रक्षना, कायदुष्प्र-
णिधान है, इसी तरह वचनका जिस प्रकार विमर्ग करना चाहिये, उस प्रकार न करना, वाग्दुष्प्रणिधान है,

तथा मनमें जो चिन्तवन आदि करना चाहिये, सो न करके अन्य रागादियुक्त दूषित विचारोंका अथवा संकल्प विकल्पोंका होना मनोदुष्प्रणिधान है । सामायिकमें आदर—भक्ति—रुचिका न होना, अतएव उसको ज्यों त्यों करके बेगारकी तरह पूरा कर देना, अनादर नामका अतीचार है । सामायिककी विधि या समय अथवा उसके पाठादिको भूल जाना, यद्वा सामायिक करनेकी ही याद न रहना, या आज सामायिक की है या नहीं, सो स्मरण न रहना, स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है । इस प्रकार सामायिकके पाँच अतीचार हैं, जिनको कि टालकर सामायिक करना चाहिये, जिससे कि उसका एक अंशतः भी भंग न हो ।

पौषधोपवासव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २९ ॥

भाष्यम्—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जिते उत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यादाननिक्षेपौ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितः संस्तारोपक्रमः अनादरः स्मृत्यनुपस्थानमित्येते पञ्च पौषधोपवास-स्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—अप्रत्यवेक्षित—दृष्टिके द्वारा जिसको अच्छी तरहसे देखा नहीं है, और अप्रमार्जित—जिसको पिच्छी आदिके द्वारा भले प्रकार शोध नहीं है, ऐसे स्थानपर मलमूत्रादिका परित्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग नामका अतीचार है । इसी प्रकार विना देखे शोधे स्थानपर अथवा विना देखी शोधी वस्तुको यों ही रख देना, या उठा लेना अथवा पटक देना, या फेंकना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेप नामका अतीचार है । शयनासनके आश्रयभूत स्थानको या विस्तर आदिको विना देखे शोधे ही काममें ले लेना, उसपर बैठ जाना, छेद जाना या सो जाना, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तारोपक्रम नामका अतीचार है । पौषधोपवासके करनेमें भक्तिभावका न होना अनादर नामका अतीचार है । पौषध—पर्व दिनको भूल जाना, अथवा उस दिन उपवासकी याद न रहना, या उस दिनके विशेष कर्त्तव्यको याद न रखना स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है । इस तरह पौषधोपवास व्रतके पाँच अतीचार हैं ।

भावार्थ—उपवास आदि जो किया जाता है, सो प्रमाददि दोषोंको नष्ट कर रत्नत्रय-धर्मको जागृत करनेके लिये ही किया जाता है । अतएव पर्वके दिन उपवास धारण करनेवालेको अप्रमत्त होकर रुचिपूर्वक उत्साहके साथ विधियुक्त सम्पूर्ण कार्य करने चाहिये । प्रमाद अरुचि अथवा विधिके भूल जानेसे उसका अंशतः भंग हो जाता है । इसीसे ये पाँच अतीचार—दोष उपस्थित होते हैं । अर्थात् पौषधोपवास करनेवालेको भूमिको देख शोध करके ही मलोत्सर्ग करना चाहिये, अन्यथा—प्रमादवश वैसा न करनेपर पहला अतीचार होता है । इसी तरह पाँचों अतीचारोंके विषयमें समझना चाहिये ।

भोगोपभोगव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

सूत्र—सचित्तसम्बद्धसंमिश्राभिपवदुष्पकाहाराः ॥ ३० ॥

भाष्यम्—सचित्ताहारः सचित्तसम्बद्धाहारः सचित्तसंमिश्राहारः अभिपवाहारः दुष्पकाहार इत्येते पञ्चोपभोगव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके पाँच अतीचार हैं, जो कि आहार करनेवाले हैं। यथा—सचित्ताहार, सचित्तसम्बद्धाहार, सचित्तमिश्राहार, अभिपवाहार, और दुष्पकाहार ।

चित्त सहित—सजीव—हरितकृप्य वनस्पतिका भक्षण करना, जिसके भक्षणका त्याग कर दिया है, उसको कचित् कदाचित् प्रमाद या अज्ञानके वशसे ग्रहण कर लेना, सचित्ताहार नामका अतीचार है । सचित्तसे जिसका सम्बन्ध हो रहा है, उसका भक्षण करना, जैसे कि हरितकाय केलेके पत्र आदिपर रखी हुई, या उससे ढँरी हुई वस्तुओं ग्रहण करना, सचित्तसम्बद्ध नामका अतीचार है । अचित्तके साथ साथ मिली हुई सचित्त वस्तुओं भी भक्षण कर लेना, सचित्तमिश्राहार नामका अतीचार है । गरिष्ठ पुष्ट और इन्द्रियोंसे बलवान करनेवाला रसयुक्त पदार्थ अभिपव कहा जाता है । इस तरहके पदार्थोंका सेवन करना, अभिपवाहार नामका अतीचार है । जो योग्य रीतिसे पका न हो, ऐसे भोजनको दुष्पक कहते हैं । जैसे कि जली हुई या अर्धपक रोटी ढाल आदि । इस तरहके पदार्थका भक्षण करना दुष्पकाहार नामका अतीचार है ।

भावार्थ—प्रमादके योगसे इस तरहके छोटे हुए अपवा परिमित पदार्थोंका ग्रहण कर लेना—भक्षण करना उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका अतीचार है । ये पाँच भेदरूप हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है । इनके निमित्तमे उनकी भगामग अवस्था होती है । अतएव इनको अतीचार कहा है । क्योंकि वह व्रतको भग करनेके लिये उसका भक्षण नहीं करता, किन्तु भोगमें आनानेपर कदाचित् प्रमादसे उसका ग्रहण हो जाता है । अनएव उसकी प्रवृत्ति व्रतमापेक्ष है ।

अतिथिमविभागव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

सूत्र—सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—अक्रोद्धर्द्रव्यजातस्य सचित्ते निक्षेपः सचित्तपिधान परस्वयंमिति परव्यपदेशः सात्सर्यं कालातिक्रम इत्येते पञ्चातिथिसविभागस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—अतिथिसविभागव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, सात्सर्य, और कालातिक्रम ।

अन आदि देने योग्य जो कोई भी वस्तु हो, उसको सचित्त पदार्थ—पत्र आदिसे ऊपर रखकर देना, सचित्तनिक्षेप नामका अतीचार है । इसी तरह उस देय आहार्य—सामर्थ्यको सचित्त पत्र आदिसे ढँक कर देना, सचित्तपिधान नामका अतीचार है । यह हमारा नहीं है, दूसरेका है, ऐसा कहना, अथवा स्वयं तनम् प्रवृत्त न होकर दूसरेसे कहना कि तुम दान करो, यदा भी

पुत्र नौकर आदिसे दान देनेको कहना, परन्तु स्वयं न देना, परव्यपदेश नामका अतीचार है । दूसरे दाताओंसे ईर्ष्या करना मात्सर्य नामका अतीचार है । जो दानका समय है, उस समय न देकर—उस समयका उल्लंघन करके दानमें प्रवृत्त होना कालातिक्रम नामका अतीचार है । इस प्रकार अतिथिसंविभाग व्रतके पाँच अतीचार हैं ।

पाँच अणुव्रत और सप्तशीलके अतीचारोंको कहनेके लिये जो पहले सूत्र द्वारा प्रतिज्ञा की थी, सो पूर्ण हुई । क्योंकि उनका वर्णन हो चुका । किन्तु उन व्रतोंके अन्तमें संलेखनाका भी वर्णन किया था, और यह अतीचारोंका प्रकरण है, अतएव उसके भी अतीचारोंको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैंः—

**सूत्र—जीवितमरणाशंसा मित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकर-
णानि ॥ ३२ ॥**

भाष्यम्—जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुरागः, सुखानुबन्धो, निदानकरणमित्येते मारणान्तिकसंलेखनायाः पञ्चातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—मारणान्तिकी संलेखनाके भी पाँच अतीचार हैं—जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, और निदानकरण ।

भावार्थ—अपनी विभूति ऐश्वर्य या सुख—साधनको देखकर अथवा समाधिमरण करानेवाले आचार्य प्रभृति महान् पुरुषोंको अपनी सेवा करते हुए देखकर अधिक कालतक जीनेकी इच्छा रखना, यद्वा पुत्रादिकोंको असमर्थ देखकर अभी कुछ दिन और न मरता, तो अच्छा था, ऐसा भाव रखना, आदि जीविताशंसा नामका अतीचार है । इसके प्रतिकूल सामग्री उपस्थित होनेपर—दरिद्रता बीमारी अपकीर्ति या अन्य दुःखके साधन उपस्थित होनेपर जल्दी ही मर जाऊँ तो ठीक है, ऐसा विचार करना मरणाशंसा नामका अतीचार है । इष्ट बन्धु वान्धव या स्नेहीजनोंमें अनुराग होना, अथवा अनुपस्थित होनेपर उनको देखनेकी इच्छा करना, मित्रानुराग नामका अतीचार है । भोगे हुए विषयोंका स्मरण करना, अथवा वर्तमान परिचारक आदिकी सेवामें सुखका अनुभव करना आदि सुखानुबन्ध नामका अतीचार है । आगामी विषयभोग या स्वर्गादिकी सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो, इस आशासे उसीके लिये समाधिमरण करना निदानकरण नामका अतीचार है ।

इसप्रकार संलेखनामरणके पाँच अतीचार हैं । इन दोषोंसे रहित होकर उसका पालन करना चाहिये ।

भाष्यम्—तदेतेषु सम्यक्त्वव्रतशीलव्यतिक्रमस्थानेषु पञ्चषष्ठिवातिचारस्थानेषु अप्रमादो न्याय्य इति ॥

अर्थ—ऊपर जो सम्यक्त्व व्रत और शीलोंने अशको खण्डित करनेवाले अतीचारोंके भेद बताये हैं, उाकी सख्या पैसठ (६९) है । इन सभी अतीचार स्थानोंमें गृही नृतिरु श्रावकको प्रमाद रहित होना चाहिये ।

भावार्थ—इनके रहते हुए सम्यक्त्वादिक पूर्ण नहीं हो सकते, और उनके पूर्ण हुए बिना श्रुतिरुक्ता पूर्णपद या पूर्ण फल प्राप्त नहीं हो सकता । अतएव सागार यतिको यही उचित है कि वह सदा इतनी सावधानी रखे, और प्रमादरहित प्रवृत्ति करे, कि जिससे इन ६९ अतीचारोंमेंसे कोई भी अतीचार लगने न पावे ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तानि व्रतानि व्रतिनश्च । अथ दान किमिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने व्रतोंका और उनके पालन करनेवाले व्रतियोंका जो ऊपर स्वरूप बताया है, सो हमारी समझमें आगया है । अब यह कहिये, कि आपने कई स्थानोंपर दान शब्दका जो उल्लेख किया है, वह क्या है ? उसका क्या स्वरूप है ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—आत्मपरानुग्रहार्थ स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानवस्त्राद्यै पात्रेऽतिसर्गो दानम् ॥

अर्थ—अपना और परका अनुग्रह—कल्याण करनेके लिये अपनी किसी भी अन्नपान वस्त्र आदि वस्तुका पात्रोंके लिये अतिसर्ग—त्याग करना इसको दान कहते हैं ।

भावार्थ—रचाति लाभ पूजा आदिको सिद्ध करनेके लिये नहीं, किन्तु पुण्य-सञ्चय अथवा कर्मोंकी निर्जराके द्वारा आत्म-कल्याण करनेके लिये तथा पात्रके रत्नत्रय—धर्मकी रक्षा और पुष्टिके लिये जो दिया जाता है, उसको दान कहते हैं । तथा वह देय—वस्तु योग्य और अपनी ही होनी चाहिये, अयोग्य या परकी वस्तुका दान नहीं हुआ करता ।

दानमें निम्न निम्न कारणोंसे विशेषता उपस्थित होती है, उनको बतानेके लिये सूत्र करते हैं ।—

सूत्र—विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—विधिविशेषाद् द्रव्यविशेषाद् दातृविशेषपात्रविशेषाच्च तस्य दानधर्मस्य विशेषो भवति । तद्विशेषाच्च फलविशेषः ॥ तत्र विधिविशेषो नाम देशकालसप्तच्छब्दास्तत्कारकमा कल्पनीयत्वमित्येवमादि ॥ द्रव्यविशेषोऽन्नादीनामेव सारजातिगुणोत्कषेययोगः ॥ दातृविशेष प्रतिग्रहतृप्त्यनसूया, त्यागेऽविषाद, अपरिमाविता, क्लृप्ततो दक्षतो वृत्तवत्तश्च प्रीतियोग, कुशलामिसाधिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपपत्त्वमनिदानत्वमिति ॥ पात्रविशेषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यतपःसम्पन्नता इति ॥

तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्त्ववचनसमष्टे सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥

१—संलेखनाके ५ भेद जोड़नेसे ७० अतीचार होते हैं । परंतु संलेखनाको व्रतोंमें और इसीलिये यहाँ उनके अतीचारोंको भी गिनना नहीं है, ऐसा मान्य होता है । किन्तु ऐसी हाज्जतमें यह कथन संलेखनाके अतीचारोंसे फल ही होना चाहिये था ।

अर्थ—दान धर्ममें विशेषता चार कारणोंसे हुआ करती है—विधिकी विशेषतासे, द्रव्यकी विशेषतासे, दाताकी विशेषतासे, और पात्रकी विशेषतासे । इन विशेषताओंके कारण दानके फलमें भी विशेषता हुआ करती है । यहाँपर विशेषताका अर्थ अधिकता ही नहीं है, किन्तु तारतम्य है । अर्थात् विधि आदिकमें जैसा अन्तर पड़ता है, वैसा ही दानमें और उसके फलमें भी अन्तर पड़ता है—विधि आदिके अनुसार दान और उसका फल न्यूनाधिक हुआ करता है ।

देश काल सम्पत्ति श्रद्धा और सत्कार, इनके क्रममें जो कुछ भेद हुआ करता है, उसके अनुसार विधिकी विशेषता हुआ करती है । वह अनेक प्रकारकी हो सकती है, जोकि स्वयं कल्पना करके समझी जा सकती है । अन्नपान आदि जो देय—सामग्री है, उसमें सारजातीय तथा अनेक गुणोंके उत्कर्षके सम्बन्धसे द्रव्यमें विशेषता हुआ करती है । दान ग्रहण करनेवाले पात्रमें असूयाका न होना—पात्रके दोष ढूँढ़ने या उससे स्पर्धा करनेकी दृष्टिका न होना, दान देनेमें विषाद—खेद—शोक आदिका न होना, तिरस्कारकी बुद्धि न होकर आदर अथवा प्रीतिका भाव होना, जो दान करना चाहता है, या दे रहा है, अथवा जिसने पहले दान किया है, उससे भी प्रीतिका करना, अपने उद्देश्यमें और दान देते समय जो भाव हों, उनमें निर्मलता—विशुद्धि रखना, दृष्टफल इस लोकसम्बन्धी—अथवा लौकिक विषयोंकी पूर्तिकी इच्छासे दानमें प्रवृत्त न होना, उपाधियोंसे रहित तथा निदानको छोड़कर दान करना, ये सब दाताकी विशेषताएं हैं । इनमें न्यूनाधिकता होनेसे दाता भी न्यूनाधिक दर्जेका समझा जाता है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इनके पालन करनेके कारण पात्रमें विशेषता हुआ करती है ।

भावार्थ—पात्रको दान देनेकी जो रीति है, उसको विधि कहते हैं । नवधा भक्ति आदिके द्वारा जो दान दिया जाता है, उसका एकसरीखा सभी मनुष्य पालन नहीं कर सकते । ज्ञानके तारतम्य अथवा देश कालकी परिस्थितिमें अन्तर पड़ जानेसे उसमें भी अन्तर पड़ता ही है । यही विधिकी विशेषता है । इसी प्रकार किसी देशमें कोई व्यक्ति कुछ दे सकता है, कहीं कोई उस वस्तुको नहीं दे सकता, अतएव देश कालकी परिस्थितिबश अथवा शक्तिकी अयोग्यता आदिके कारण देय—सामग्रीमें जो अन्तर है, वही द्रव्यकी विशेषता है । दातामें मुख्यतया सात गुणोंका होना बताया है, उनमें न्यूनाधिकताका होना दाताकी विशेषता है, और रत्नत्रय—धर्मके धारण पालन या तपश्चरणादिमें जो अन्तर होता है, उसीसे पात्रकी विशेषता हुआ करती है । ये चारों ही विशेषताएं दान और उसके फलमें अनेक भेदोंको उत्पन्न करनेवाली हैं ।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।



आस्रव—तत्त्वका व्याख्यान गत दो अध्यायों में हो चुका । उसके अनंतर क्रमानुसार वधका वर्णन होना चाहिये । इस बातको लक्ष्यमें रखकर भाष्यकार कहते हैं कि—

भाष्यम्—उक्त आस्रव, वध वक्ष्याम तत्रसिद्धचर्यमिदमुच्यते—

अर्थ—आस्रव—तत्त्वका निरूपण हो चुका । अब यहाँसे वध—तत्त्वका वर्णन करेंगे । अतएव उसको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सूत्र—मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

भाष्यम्—मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कपाया योगा इत्येते पञ्च बन्धहेतवो भवन्ति । तत्र सम्यग्दर्शनाद्विपरीत मिथ्यादर्शनम् । तद्विधिवमभिगृहीतमनभिगृहीत च । तत्राभ्युपेत्या सम्यग्दर्शनपरिग्रहोऽभिगृहीतमज्ञानिकादीना त्रयाणां त्रिपद्धानां कुवाद्दशतानाम् । शेषानभिगृहीतम् । यथोक्ताया विरतेर्विपरीताविरति ॥ प्रमादः स्मृत्यनवस्थानकुत्रालेख्यनादरो योगदुष्प्रणिधान चैव प्रमादः । कपाया मोहनीये वक्ष्यन्ते । योगस्त्रिविधः पूर्वोक्तः । एषा मिथ्यादर्शनादीना बन्धहेतूनां पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सति नियतमुत्तरेषा भावः । उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियमः इति ॥

अर्थ—वधके कारण पाँच हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कपाय, और योग । पहले सम्यग्दर्शनका स्वरूप बता चुके हैं, कि तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । उससे जो विपरीत अवस्था हो, उसको मिथ्यादर्शन कहते हैं । अर्थात् मिथ्यादर्शन नाम अतत्त्व श्रद्धानका है । वह दो प्रकारका होता है, एक अभिगृहीत और दूसरा अनभिगृहीत । आज्ञानिक आदि तीन और तीनसौ साठ कुठ मिलाकर तीन सौ त्रैसठ कुवादियों—मिथ्यादृष्टियोंको जो प्राप्त होकर—अतत्त्वोपदेशको प्राप्त असम्यग्दर्शनका ग्रहण होता है, उसको अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं । अर्थात् दूसरेके उपदेशको सुनकर और ग्रहण करके जो अनन्व श्रद्धान होता है, उसको गृहीत अथवा अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं । इसके विनाश जो उपदेशसे प्राप्त नहीं होता, अथवा जो अनादिकालसे जीवोंके लगा हुआ है, ऐसे अनन्व श्रद्धानको अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं ।

पहले विरतिका स्वरूप बना चुके हैं । उसके न होनेको अविरति कहते हैं । अर्थात् हिंसा आदिरूप परिणति होना, या इसके त्यागका न होना अविरति है । मोक्षमार्गसम्बन्धी विषयस्य स्मरण न रहना, उत्तम कार्योंके विषयमें अपना उत्तम पुरुषोंके विषयमें अनादर भाव होना, उनमें भक्तिभाव का न होना, और मन वचन कायरूप योगोंका ठीक उपयोग न होना—उनका अनुचित अथवा अयोग्य उपयोग करना, इत्यादि सब प्रमाद कहा जाता है ।

रूपायोंका स्वरूप आगे चलकर मोहनीयकर्मके स्वरूप और भेदोंका नहीं व्याख्यान



किया जायगा, वहीं बतावेंगे । योगका स्वरूप पहले बता चुके हैं । वह तीन प्रकारका है—मानसिक, वाचनिक, और कायिक ।

ये जो पाँच मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारण बताये हैं, उनमें पूर्व पूर्व कारणके होने-पर आगे आगेके कारणका सद्भाव नियत है—अवश्य रहता है । परन्तु उत्तरोत्तर कारणके रहनेपर पूर्व पूर्वके कारणोंका रहना नियत नहीं है । यथा—जहाँपर मिथ्यादर्शन है, वहाँपर अविरति आदि चार कारण भी अवश्य रहेंगे, तथा जहाँपर अविरति है, वहाँपर आगेके प्रमाद कषाय और योग ये तीन हेतु भी अवश्य रहेंगे । किन्तु अविरतिके साथ यह नियम नहीं है, कि मिथ्यादर्शन भी रहे ही । इसी प्रकार प्रमादके साथ कषाय और योग तो अवश्य रहते हैं, परन्तु मिथ्यादर्शन और अविरतिके रहनेका नियम नहीं है इत्यादि । अर्थात् अविरति आदि उत्तरोत्तर कारणोंके साथ साथ मिथ्यादर्शनादि पूर्व पूर्वके कारण रहते भी है, और नहीं भी रहते । इसी तरह सर्वत्र समझ लेना चाहिये ।

इस प्रकार बन्धके कारणोंको बताकर बंध किसका होता है, किस तरहसे होता है, और उसका स्वामी कौन है, इन बातोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते ॥२॥

भाष्यम्—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते । कर्मयोग्यानि अष्टविधपुद्गलग्रहणकर्मशरीरग्रहणयोग्यानित्यर्थः । नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषादिति वक्ष्यते ॥

अर्थ—कर्मके योग्य पुद्गलोंको कषाय सहित होनेके कारण संसारी जीव ग्रहण किया करता है । कर्मके योग्य ऐसा कहनेका आशय यह है, कि आठ प्रकारके पुद्गलोंका ग्रहण कर्मशरीर—कामीणकायके ग्रहण करनेके योग्य हुआ करता है । जैसा कि आगे चलकर इसी अध्यायके सूत्र २५ की व्याख्यामें बतावेंगे, कि योग विशेषके निमित्तसे और जिनका कि कारण सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियाँ हैं, ऐसे अनन्तानन्त प्रदेश सब तरफसे आते हैं, और वे आत्माके प्रत्येक प्रदेशपर अवस्थित रहा करते हैं ।

भाषार्थ—अध्याय ८ सूत्र २५ में बताई हुई रीतिसे जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, वह कर्मके योग्य समझना चाहिये । इस ग्रहणका स्वामी कषायसहित जीव हुआ करता है, और उक्त पुद्गलोंमें जो कर्मरूप होनेकी योग्यता रखते हैं, उन्हींका जीवकी सकषायताके कारण ग्रहण हुआ करता है । यही कारण है, कि सूत्रमें सकषाय शब्दको जीव शब्दके साथ न जोड़कर पृथक् रखा है, और उसका हेतुरूपसे निर्देश किया है । इसी तरह 'कर्मयोग्यान्' ऐसा पाठ न करके 'कर्मणो योग्यान्' ऐसा जो पृथक् पृथक् निर्देश किया है, उसका भी कारण यह है, कि कर्म शब्दका दोनों तरफ सम्बन्ध हो जाता है, जिससे यह अभिप्राय निकलता है, कि जीव कर्मके निमित्तसे सकषाय हुआ करता है, और पुनः उस सकषायताके कारण कर्मके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण किया करता है ।

पुद्गलोंके भेद अनेक हैं । उनमेंसे जिनमें यह योग्यता है, कि अष्टविध कर्मरूप परिणत हो सकते हैं, उन्हींको स्रग्पाय-जीन ग्रहण किया करता है, और इस तरहके ग्रहणको ही प्रकृतमें बन्ध कहते हैं । इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—स बन्धः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स एष कर्मशरीर पुद्गलग्रहणकृतो बन्धो भवति ॥

अर्थ—ऊपर कर्मणशरीरके योग्य जो पुद्गलोंका ग्रहण करना बताया है, उसीको बन्ध कहते हैं । भावार्थ—ऊपर लिखे अनुसार वक्ष्यमाण रीतिसे ससारी-जीवना कर्मणवर्गणाओंके ग्रहण करनेको प्रकृतमें बन्ध समझना चाहिये । सामान्यतया यह बन्ध एक ही प्रकारका है, किन्तु विशेष अपेक्षासे कितने भेद है, सो बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं कि—

भाष्यम्—स पुनश्चतुर्विधः ॥

अर्थ—उक्त कर्मणवर्गणाओंका ग्रहणरूप बन्ध चार प्रकारका है । यथा —

सूत्र—प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, प्रदेशबन्ध इति । तत्र —

अर्थ—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध, इस तरह बन्धके कुल चार भेद हैं ।

भावार्थ—प्रकृति नाम स्वभावका है । जैसे कि नीमकी प्रकृति कटु-कड़वी और ईखकी प्रकृति मधुर होती है, उसी प्रकार कर्मोंकी भी प्रकृति होती है । ग्रहण की हुई कर्मणवर्गणाओंमें अपने अपने योग्य स्वभावके पड़नेको प्रकृतिबन्ध कहते हैं । जिस कर्मकी जैसी प्रकृति होती है, वह उसीके अनुसार आत्माके गुणोंको घातने आदिका कार्य किया करता है । एक समयमें बँधनेवाले कर्मपुद्गल आत्माके साथ कबतक सम्बन्ध रखेंगे, ऐसे कालके प्रमाणको स्थिति और उसके उन बँधनेवाले पुद्गलोंमें पड़ जानेको स्थितिबन्ध कहते हैं । बँधनेवाले कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिके तारतम्य पड़नेको अनुभागबन्ध कहते हैं, और उन कर्मोंकी वर्गणाओं अथवा परमाणुओंकी हीनाधिकताको प्रदेशबन्ध कहते हैं ।

जिस समय कर्मका बन्ध हुआ करता है, उस समयपर चारों ही प्रकारका बन्ध होता है । इनका विशेष स्वरूप और उत्तर भेदोंको बतानेके लिये आचार्य वर्णन करनेके अभिप्रायसे प्रथम प्रकृतिबन्धके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—आद्यो ज्ञानदर्शनावरणभेदनीयमोहनी-

यायुष्कनामगोत्रान्तराया ॥ ५ ॥

भाष्यम्—आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्प्रकृतिबन्धमाह, सोष्टविधः । तद्यथा—ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीयम् आयुष्क नाम गोत्रम् अन्तरायमिति । किंचान्यत्—

अर्थ—यहाँपर सूत्रमें आद्य शब्दका जो पाठ किया है, उससे प्रकृतिबन्धका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि पूर्व सूत्रमें चार प्रकारके बन्धोंका जो उल्लेख किया है, उसमें सबसे पहले प्रकृति शब्दका ही पाठ है । अतएव उस क्रमके अनुसार पहला प्रकृतिबन्ध ही लिया जा सकता है । तदनुसार पहला प्रकृतिबन्ध आठ प्रकारका है । यथा—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र, और अन्तराय ।

भावार्थ—जो ज्ञानको आवृत—आच्छादित करे, उसको ज्ञानावरण और जो दर्शनको आवृत करे, उसको दर्शनावरण कहते हैं । अर्थात् जिस कर्मकी प्रकृति ही ऐसी है—बन्धके समय उसमें ऐसा ही स्वभाव पड़ गया है, कि वह आत्माके ज्ञानगुणको आवृत करे, उसको ज्ञानावरण कहते हैं । इसी प्रकार दर्शनावरण आदिके विषयमें समझना चाहिये^१ । जो सुख दुःखका वेदन—अनुभव कराता है, उसको वेदनीय कहते हैं, जो आत्माको मोहित करता है, उसको मोहनीय कहते हैं । जो परभव तक आत्माके साथ जाता है, अथवा जो आत्माको परलोकमें लेजानेवाला है, उसको आयु अथवा आयुष्क कहते हैं । जिसके निमित्तसे जीवके अनेक संज्ञाकर्म हों, उसको नाम कहते हैं । जिसके निमित्तसे जीवका प्रशस्त अथवा अप्रशस्त व्यवहार हो, उसको गोत्र कहते हैं, और जो विघ्न डालनेवाला है, उसको अन्तराय कहते हैं ।

इनके उत्तरभेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्विपंचभेदा यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्—स एष प्रकृतिबन्धोऽष्टविधोऽपि पुनरेकशः पञ्चभेदः नवभेदः द्विभेदः अष्टाविंशतिभेदः चतुर्भेदः द्विचत्वारिंशद्भेदः द्विभेदः पञ्चभेद इति यथाक्रमं प्रत्येतद्व्यम् ॥ इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । तद्यथा—

अर्थ—ऊपर जो आठ प्रकारका प्रकृतिबन्ध बताया है, उनमेंसे प्रत्येकके उत्तरभेद क्रमसे इस प्रकार है ।—ज्ञानावरणके पाँच भेद, दर्शनावरणके नौ भेद, वेदनीयके दो भेद, मोहनीयके अट्ठाईस भेद, आयुष्कके चार भेद, नाम कर्मके व्यालीस भेद, गोत्रकर्मके दो भेद, और अन्तरायके पाँच भेद । इस प्रकार आठों कर्मोंके क्रमसे ये उत्तरभेद हैं । इन भेदोंको स्पष्टरूपसे बतानेके लिये आगे जैसा कुछ वर्णन करेंगे तदनुसार उनका विशेष स्वरूप समझना चाहिये । जैसे कि ज्ञानावरणके पाँच भेद कौनसे हैं? तथा दर्शनावरणके नौ भेद कौनसे हैं? इत्यादि । क्रमसे इस बातको बतानेके लिये पहले ज्ञानावरणके पाँच भेदोंको बतानेवाला सूत्र कहते हैं ।—

१—सबका अर्थ नामके अनुसार समझ लेना चाहिये । यथा—ज्ञानमावृणोति, दर्शनमावृणोति, वेदयति इति वेदनीयम्, मोहयतीति मोहनीयम्, एति परभवमिति आयुः, नमतीति नाम, गूयते शब्दयते इति गोत्रम्, अन्तः मध्ये एति इति अन्तरायम् । इनका विशेष खुलासा गोम्मटसार कर्मकाण्डमें देखना चाहिये ।

सूत्र—मत्यादीनाम् ॥ ७ ॥

भाष्यम्—ज्ञानावरण पञ्चविध भवति । मत्यादीनां ज्ञानानामावरणानि पञ्चविकल्पाश्चे
कदा इति ॥

अर्थ—पहले प्रकृतिबन्ध-ज्ञानावरणकर्मके पाँच भेद हैं । क्योंकि ज्ञानके पाँच भेद—
मति श्रुत अवधि मन पर्यय और केवल पहले अयायमें बता चुके हैं । अतएव
उनको आतृत करनेवाले कर्म भी पाँच ही हैं । अतएव ज्ञानके पाचक प्रत्येक मत्यादिक
शब्दके साथ आवरण शब्दको जोड़ देना चाहिये । यथा—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अव
धिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण, और केवलज्ञानावरण ।

इसप्रकार ज्ञानावरणके पाँच भेदोंको बताकर क्रमानुसार दर्शनावरणके नौ भेदोंको बता
नेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला- प्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ॥ ८ ॥

भाष्यम्—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवाधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण,
निद्रावेदनीयम्, निद्रानिद्रावेदनीयम्, प्रचलावेदनीयम्, प्रचलाप्रचलावेदनीयम्, स्त्यानगृद्धि-
वेदनीयमिति दर्शनावरण नवभेद भवति ॥

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ भेद हैं ।—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवाधिदर्श
नावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रावेदनीय, निद्रानिद्रावेदनीय, प्रचलावेदनीय, प्रचलाप्रचलावेदनीय,
और स्त्यानगृद्धिवेदनीय ।

भावार्थ—इस सूत्रमें दो वाक्य हैं । पहले वाक्यके साथ दर्शनावरण शब्दका प्रयोग
करना चाहिये । किंतु दूसरे वाक्यके साथ उसका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि
उसके अन्तमें वेदनीय शब्दका प्रयोग लिया है । इसके अन्तमें पठित वेदनीय शब्दको वाक्यके
प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ देना चाहिये । जैसे कि निद्रावेदनीय आदि ।

अब क्रमानुसार वेदनीय कर्मके दो भेदोंको बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सदसद्वेद्ये ॥ ९ ॥

भाष्यम्—सद्वेद्य असद्वेद्य च वेदनीय द्विभेद भवति ॥

अर्थ—वेदनीय कर्मके दो भेद हैं ।—सद्वेद्य—सातवेदनीय और असद्वेद्य—असात
वेदनीय । भावार्थ—जिसके उदयसे स्वरूप अनुभव होता है, उसको सद्वेद्य कहते हैं, और
जिसके उदयसे दु स्वरूप अनुभव हो, उसको असद्वेद्य कहते हैं । सप्तासत्ता कोई भी पदार्थ न
इष्ट है और न अनिष्ट । परन्तु ज्ञानावरणकर्मके उदयमें अज्ञानी हुआ और मोहनीयकर्म

के उदयसे मोहित हुआ जीव किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानता है । तथा वेदनीय-कर्मके उदयसे इष्टके लाभमें सुखका और अनिष्टके लाभमें दुःखका अनुभव करता है ।

क्रमानुसार मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेदोंको गिनाते हैं :—

**सूत्र—दर्शनचारित्रमोहनीयकपायनोकपायवेदनीयाख्यास्त्रि-
द्विपोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कपायनोकपायावन-
न्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रो-
धमानमायालोभाःहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः१०**

भाष्यम्—त्रिद्विपोडशनवभेदा यथाक्रमम् । मोहनीयबन्धो द्विविधो दर्शनमोहनीया-
ख्यश्चारित्रमोहनीयाख्यश्च । तत्र दर्शनमोहनीयाख्यस्त्रिभेदः । तद्यथा—मिथ्यात्ववेदनीयम्,
सम्यक्त्ववेदनीयम्, सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयमिति । चारित्रमोहनीयाख्यो द्विभेदः कपायवेदनी-
यम् नोकपायवेदनीयं चेति । तत्र कपायवेदनीयाख्यः पोडशभेदः । तद्यथा—अनन्तानुबन्धी
क्रोधो मानो माया लोभ एवमप्रत्याख्यानकपायः प्रत्याख्यानवरणकपायः संज्वलनकपाय
इत्येकशः क्रोधमानमायालोभाः पोडश भेदाः ॥ नोकपायवेदनीयं नवभेदम् । तद्यथा—हास्यं
रतिः अरतिः शोकः भयं जुगुप्सा पुरुषवेदः स्त्रीवेदः नपुंसकवेद इति नोकपायवेदनीयं नव
प्रकारम् । तत्र पुरुषवेदादीनां तृणकाष्ठकरीपाशयो निदर्शनानि भवन्ति । इत्येवं मोहनीय
मष्टाविंशतिभेदं भवति ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मके उत्तरभेद क्रमसे तीन दो सोलह और नव हैं । क्योंकि मोह-
नीयकर्मके दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय कपायवेदनीय और नोकपायवेदनीय इन चार
भेदोंका चारों संख्याओंके साथ यथाक्रम है ।

मूलमें मोहनीयकर्म दो प्रकारका है—एक दर्शनमोहनीय दूसरा चारित्रमोहनीय ।
इनमेंसे पहले दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं ।—मिथ्यात्ववेदनीय सम्यक्त्ववेदनीय
और सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय । चारित्रमोहनीयके दो भेद हैं ।—एक तो कपाय-
वेदनीय और दूसरा नोकपायवेदनीय । इनमेंसे कपायवेदनीयके सोलह भेद हैं ।
वे इस प्रकार हैं कि—अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ । इसी तरहसे अप्रत्याख्यान-
कपाय, प्रत्याख्यानवरणकपाय, और संज्वलनकपाय, इनके भी प्रत्येकके क्रोध मान माया
और लोभ इस तरह चार चार भेद हैं । चारोंके मिलाकर सोलह भेद होते हैं । क्योंकि मूलमें
कपाय चार प्रकारका है—क्रोध मान माया और लोभ । इनमेंसे प्रत्येकके अनन्तानुबन्धी
आदि चार चार भेद हैं । अतएव सब मिलकर सोलह भेद हो जाते हैं । यथा—अनन्तानु-
बन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ । अप्रत्याख्यान
क्रोध अप्रत्याख्यान मान, अप्रत्याख्यान माया, अप्रत्याख्यान लोभ । प्रत्याख्यानवरण क्रोध,

प्रत्याख्यानवरण मान, प्रत्यास्त्यानवरण माया, प्रत्याख्यानवरण लोम, सज्जन कोष, सज्जन मान, सज्जन माया, सज्जन लोम ।

नोकपायवेदनीय के नो भेद हैं ।—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-वेद, पुरुषवेद, और नपुंसक वेद । इन नौ प्रकारोंमें से वेत्तर्क जो पुरुषवेद स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इस तरह तीन प्रकारका बताया है, उनके क्रमसे तृणाग्नि काष्ठाग्नि और कारीपाग्नि ये तीन उदाहरण हैं । जिसके उदयसे स्त्राके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसको पुरुषवेद कहते हैं, और जिसके उदयसे पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसको स्त्रीवेद कहते हैं । तथा जिसके उदयसे दोनों सखिभे भाव हो, अथवा दोनों भावोंसे रहित हो उसको नपुंसकवेद कहते हैं । इनमेंसे पुरुषवेदके भाव तृणकी अग्निके समान हुआ करते हैं, और स्त्रीवेदके भाव काष्ठकी अग्निके समान होते हैं । तथा नपुंसक वेदके भाव कारीपा अग्निके समान हुआ करते हैं ।

इस तरह सन मिलाकर मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेद होते हैं । ३ दर्शनमोहनीय, १६ क्पायवेदनीय, और ९ नोक्पायवेदनीय ।

भाष्यम्—अनन्तानुबन्धी सम्यग्दशनोपघाती । तस्योदयाद्धि सम्यग्दशनं नोत्पद्यते ।
पूर्वात्पक्षमपि च प्रतिपतति । अप्रत्याख्यानकपायोदयाद्विरतिर्न भवति । प्रत्याख्यानधरण
कपायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारिजलाभस्तु न भवति । सज्वलनकपायोदयाधराया
तचारिजलाभो न भवति ।

अर्थ—उपर्युक्त कथायोंमेंसे अनन्तानुबन्धी कथाय सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली है। जिस जीवके अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया या लोभमेंसे किसीका भी उदय होता है, उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ करता। यदि पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया हो, और पीछेसे अनन्तानुबन्धी कथायका उदय हो जाय, तो वह उत्पन्न हुआ भी सम्यग्दर्शन छूट जाता है—नष्ट हो जाता है। अप्रत्याख्यान कथायके उदयसे किसी भी तरहकी—एकदेश या सर्वदेश विरति नहीं हुआ करती। इस कथायके उदयसे संयुक्त जीव महाव्रत या ब्रह्मचर्यके व्रत जो पहले बताये हैं, उनको धारण नहीं कर सकता। प्रत्याख्यानानावरणरूपायके उदयसे विरतानिरति—ब्रह्मचर्यके व्रत—एकदेश सयमरूप तो होते हैं, परन्तु उत्तम चारित्र्य—महाव्रतका लाभ नहीं हुआ करता। तथा सज्जन कथायके उदयसे यथा स्वतन्त्राचारिका लाभ नहीं हुआ करता।

माप्यम्—क्रोध कोषो रोषो द्वेषो मण्डनं भाम इत्यनर्थान्तरम् । तस्यास्य क्रोधस्य तीव्रमध्यथिमध्यमन्दभावाश्रितानि निर्वर्णनानि भवन्ति । तद्यथा—पञ्चतराजिसदृशं भूमिरा

१—जेवित्थं नेण पुमं षट्ठसमा उद्दयत्थिगविदिरितो । इशकागिमग्गाम्भेदणमग्गो वट्टुववित्ता ॥ २७४ ॥
निगच्छोपिद्विगमिममरितुपत्तिं ण्वेद्वेदुमुम्भुत्ता । अवयययेदं जीवा ममसमं चत्तवसेत्ता ॥ २७५ ॥ गोमम्मग्गं जीववत्ता ॥

३—सम्मतदेवसमस्तविरितजडसमाद्वयवर्णशेषणम् । यादनि वा कथया चक्षुःअध्वरवेणमिदा ॥१८१॥ गोमन्तगार जीवकाद ॥

जिसदृशः बालुकाराजिसदृशः उदकराजिसदृश इति । तत्र पर्वतराजिसदृशो नाम ।— यथा-प्रयोगविस्त्रसामिश्रकाणामन्यतमेन हेतुना पर्वतराजिरूपेणा नैव कदाचिदपि संरोहति एव-मिष्टवियोजनानिष्टयोजनाभिलषितालाभादीनामन्यतमेन हेतुना यस्योत्पन्नः क्रोधः आमरणान्न व्ययं गच्छति जात्यन्तरानुबन्धी निरनुनयस्तीव्रानुशयोऽप्रत्यवमर्गश्च भवति स पर्वतराजि-सदृशः । तादृशं क्रोधमनुमृता नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । भूमिराजिसदृशो नाम ।—यथा भूमेर्भास्कररश्मिजालान्तस्नेहाया वाय्वभिहताया राजिरूपेणा वर्षापेक्षसंरोहा परमप्रकृष्टा-ष्टमासस्थितिर्भवति एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधोऽनेकविधस्थानीयो दुरनुनयो भवति स भूमिराजिसदृशः । तादृशं क्रोधमनुमृतास्तिर्यग्येनानुपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । बालुकाराजिसदृशो-नाम ।—यथा बालुकायां काष्ठशलाकाशर्करादीनामन्यतमेन हेतुना राजिरूपेणा वाय्वीरणाद्य-पेक्षसंरोहार्वागमासस्य रोहति एवं यथोक्तनिमित्तोत्पन्नो यस्य क्रोधोऽहोरात्रं पक्षं मासं चातुर्मास्य सम्प्रसरं वावतिष्ठते स बालुकाराजिसदृशो नाम क्रोधः । तादृशं क्रोधमनुमृता मनुष्येषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति ॥ उदकराजिसदृशो नाम—यथोदके दण्डशलाकाद्गुल्यादीनामन्यत-मेन हेतुना राजिरूपेणा द्रवत्वादपासुत्पत्यनन्तरमेव संरोहति । एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधो विदुषोऽप्रमत्तस्य प्रत्यवमर्शेनोत्पत्यनन्तरमेव व्यपगच्छति स उदकराजिसदृशः । तादृशं क्रोधमनुमृता देवेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । येषां त्वेव चतुर्विधोऽपि न भवति ते निर्वाणं प्राप्नुवन्ति ॥

अर्थ—उक्त चार प्रकारके कषायमें सबसे पहला क्रोध है । अतएव सबसे पहले उसीका यहाँपर खुलासा किया जाता है ।—क्रोध कोप रोष द्वेष भण्डन और भाम ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । इन शब्दोंके द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है, उस कषायके—क्रोधके तरतम भावकी अपेक्षा चार स्थान हैं । यथा तीव्र, मध्यम, विमध्यम, और मन्द । इनके स्वरूपका बोध करानेके लिये क्रमसे चार दृष्टान्तरूप वाक्य है ।—यथा—पर्वतराजिसदृश, भूमिराजिसदृश, बालुकाराजिसदृश, और उदकराजिसदृश । इनमेंसे पर्वतराजिसदृशका अभिप्राय यह है, कि जिस प्रकार प्रयोगपूर्वक अथवा स्वाभाविक रीतिसे या दोनों तरहसे, इनमें से किसी भी प्रकारसे पत्थरके ऊपर यदि रेखा हो जाय, तो फिर वह कभी भी नहीं सरीखी नहीं होती—वह ज्योंकी त्यों ही बनी रहती है । इसी प्रकार इष्टका वियोग या अनिष्टका संयोग अथवा अभिलषित वस्तुका लाभ न होना, आदि निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर जिस जीवके ऐसा क्रोध उत्पन्न हुआ हो, जो कि मरणके समयतक भी न छूटे—नष्ट न हो, बल्कि दूसरे भवतक भी साथ ही जाय, किसी भी उपायसे दूर न हो सके, या न शान्त किया जा सके, तथा न क्षमाभाव धारण करनेके ही योग्य हो, ऐसे विलक्षण जातिके क्रोधको पर्वतराजिसदृश—पत्थरकी रेखाके समान समझना चाहिये । ऐसे क्रोधके साथ मरणको प्राप्त होनेवाले जीव मरकर नरकोंमें जन्म—धारण किया करते हैं ।

भूमिराजिसदृशका तात्पर्य यह है, कि जिस प्रकार किसी गीली भूमिपर सूर्यकी किरणें पड़ीं और उससे उसकी आर्द्रता—गीलापन नष्ट हो गया, साथ ही वह वायुसे भी ताड़ित हुई तो उस भूमिमें कदाचित् ऐसी रेखा पड़ जाती है, जोकि वर्षाकाल तक नहीं जाती । सामान्यतया

ऐसी रेखाकी स्थिति ज्यादा से ज्यादा आठ मास तककी कही जा सकती है, क्योंकि वर्षाऋतुके आनेपर वह नष्ट हो सकती है, और भूमि फिर ज्योंकी त्यों अपने स्वरूपमें आ जा सकती है । इसी प्रकार पूर्वोक्त निमित्तोंमें से किसी भी निमित्तको पाकर जिस जीवके ऐसा क्रोध उत्पन्न हुआ हो, जोकि स्थितिकी अपेक्षा अनेक स्थानवाला कहा जा सके, जो एक वर्ष दो वर्ष तीन वर्ष या चार वर्ष आदि कुछ वर्षोंतक रहनेके योग्य हो, और जिसका प्रतीकार अतिक्रमसे किया जा सके, उसको भूमिराजिसदृश क्रोध कहते हैं । इस तरहके क्रोधपूर्वक मरणको प्राप्त हुए जीव मरकर तिर्यगगतिको प्राप्त हुआ करते हैं ।

बालुकाराजिसदृश क्रोधना आशय ऐसा है, कि बालुमें उत्पन्न हुई रेखाके समान जो क्रोध हो । जिस प्रकार दूधकी आदि काठके प्रयोगसे अथवा किसी लोहेकी सलाई आदिके निमित्तसे यद्वा ककड पत्थर आदिके सयोगसे इनमें से किसी भी निमित्तसे बालुमें जो रेखा हो जाय, तो वह केवल वायुके झरोरोंको पाकर या दूसरे किसी कारणसे नष्ट हो जाती है । और फिर वह बालु ज्योंकी त्यों अपने पूर्वरूपमें आजाती हैं । यह कार्य एक महीनाके भीतर ही हो जाता है । इसी प्रकार जिस जीवके पूर्वोक्त निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर उत्पन्न हुआ क्रोध ऐसा हो, जोकि दिनरात्रि पक्ष महीना चार महीना या वर्ष दिनतक ठहरनेवाला हो, उसको बालुकाराजिसदृश क्रोध समझना चाहिये । इस तरहके क्रोधपूर्वक जो मरणको प्राप्त होते हैं, वे जीव मरकर मनुष्य-भवको प्राप्त हुआ करते हैं ।

उदकराजिसदृश उसको कहते हैं, जोकि जलकी रेखाके समान हो । जिस प्रकार दण्डके द्वारा या लोहकी सलाई अथवा अङ्गुलि आदिके द्वारा अर्थात् इनमेंसे किसी भी निमित्तके द्वारा यदि जलमें रेखा उत्पन्न हो जाय, तो उसके विहीन होनेमें कुछ भी देर नहीं लगती । क्योंकि जलका स्वभाव द्रवरूप है—बहनेवाला है, अतएव उसमें रेखाके उत्पन्न होते ही वह स्वभावसे ही अनन्तर क्षणमें ही रेखा नष्ट हो जाती है, और जल ज्योंका त्यों हो जाता है । इसी प्रकार पूर्वोक्त निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर विद्वान्-विचारशील और अप्रमत्त जिस जीवके उत्पन्न हुआ क्रोध ऐसा हो, जो कि उत्पन्न होनेके अनन्तर ही नष्ट हो जाय या क्षमा के द्वारा विहीन-शान्त हो जाय, उसको जलकी रेखाके समान समझना चाहिये । इस प्रकारके क्रोधपूर्वक मरणको प्राप्त हुए जीव देवगतिमें जन्म-धारण किया करते हैं ।

इस प्रकार क्रोधके चार प्रकारोंका स्वरूप और फल बताया । किन्तु जो जीव इनमेंसे किसी भी तरहके क्रोधसे युक्त नहीं है—जिनका क्रोध कषाय सर्वथा नष्ट हो चुका है, वे जीव नियमसे निर्वाणपद-मोक्षको ही प्राप्त हुआ करते हैं ।

१—२४ पद्य । अतोमुहुत पस्त्र छम्मास संखडसखणतमव । सजलणमादिवाण वासणकाणे दु गियमेण ॥४६॥ गोम्मटसार ६० २—सिलपुत्रविभेदधृतीजलराइसमाणओ इवे कोहो । पारयतिस्त्रिणरामरगईधु उपायओ क्कमो ॥ २८३ ॥ गो जी०

भाष्यम्—मानः स्तम्भो गर्व उत्तेकोऽहंकारो दर्पो मदः स्मयः इत्यनर्थान्तरम् । तस्यास्य मानस्य तीव्रादिभावाश्रितानि निर्दग्गानि भवन्ति । तद्यथा—शैलस्तम्भसदृशः, अस्थिस्तम्भसदृशः, दारुस्तम्भसदृशः, लतास्तम्भसदृश इति । एषामुपसंहारो निगमनं च क्रोधनिर्दग्गनैर्व्याख्यातम् ॥

अर्थ—मान, स्तम्भ, गर्व, उत्तेक, अहंकार, दर्प, मद, और स्मय ये समस्त शब्द पर्यायवाचक हैं । इनके अर्थमें अन्तर नहीं है—एक ही अर्थके निरूपक हैं । क्रोधकी तरह इस मान कषायके भी तरतम भावकी अपेक्षा चार स्थान हैं ।—तीव्र, मध्यम, विमध्यम, और मन्द । इनको भी चार दृष्टान्तोंके द्वारा बताया है । यथा शैलस्तम्भसदृश, अस्थिस्तम्भसदृश, दारुस्तम्भसदृश, और लतास्तम्भसदृश । ऊपर क्रोधके जो दृष्टान्त दिये हैं, उन्हींके अनुसार मान कषायके इन चारों भेदोंके उपसंहार और निगमनको समझ लेना चाहिये ।

भावार्थ—क्रोधके दृष्टान्तोंमें यथावस्थ होने तककी काष्ठकी मर्यादाको बताया है, और यहाँपर कठोरताको दिखाया है । मान कषायसे युक्त जीवमें नम्रता नहीं हुआ करती है । इसी भावको चार दृष्टान्तोंके द्वारा बताया है ! जिस प्रकार पत्थरका स्तम्भ सबसे अधिक कठोर होता है । वह टूट जाता है, परन्तु बिल्कुल भी नम्र नहीं होता । इसी प्रकार जिस मान कषायके उदयसे जीव इतना कठोर हो जाय, कि किसी भी उपायसे नम्रताको धारण ही न करे, उसके शैलस्तम्भसदृश मान समझना चाहिये । इस तरहके मानसे युक्त मृत्युको प्राप्त हुआ जीव नरकमें जाकर उत्पन्न होता है । पत्थरकी अपेक्षा कुछ कम कठोरता हड्डीमें पाई जाती है । जिस जीवके हड्डीके स्तम्भके समान अभिमान हो, वह कुछ नम्रताको प्राप्त हो सकता है । ऐसे मानसे युक्त मृत्युको प्राप्त हुआ जीव तिर्य-न्धोनिमें जन्म-धारण किया करता है । लकड़ीमें हड्डीसे अधिक नम्र होनेकी योग्यता है । इसी प्रकार कुछ महीनोंमें ही जो मानको छोड़कर नम्रता धारण कर सके, उसके दारुस्तम्भसदृश मान समझना चाहिये, इस तरहके मानसे युक्त मृत्युको प्राप्त हुए जीव, मनुष्यगतिमें जन्म-धारण किया करते हैं । लता—वेडमें सबसे अधिक नम्रता होती है । इसी प्रकार जो कुछ दिनोंमें ही दूर हो सके, उस मानको लतास्तम्भसदृश समझना चाहिये । इस तरहके मानसे संयुक्त मृत्युको प्राप्त होनेवाले जीव देवगतिमें जन्म-धारण किया करते हैं ।

इन चारों प्रकारके मान कषायकी वासनाका काल क्रोधके समान ही समझना चाहिये । तथा ऊपर क्रोधके जो उदाहरण दिये हैं, उन्हींके अनुसार प्रकृत विषयके उपसंहार और निगमनकी व्याख्या समझनी चाहिये । क्रोधके समान ही मान कषाय है । वह जिस दर्जेका जिस जीवके होगा, उमीके अनुमार उस जीवको फल प्राप्त होगा, और जो उस कषायसे सर्वथा रहित हैं, वे नियमसे निर्वाणको प्राप्त हुआ करते हैं ।

१—सैलदृक्कद्वेसे नियमयेणपुद्गलतां माणो । गारयतिरियणरामगईषु उपाययां कमसो ॥२८४॥ गो० जी०

२—फलितार्थको दिखानेके लिये प्रतिज्ञा—वाक्यके दुहरानेको निगमन कहते हैं ।

भाष्यम्—माया प्रणिधिरुपधिर्निकृतिरावरण वञ्चना दम्भ कूटमतिसधानमनाजव-
मित्यनर्थान्तरम् । तस्या मायायास्तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति । तद्यथा—वश
कुणसदृशी, मेपविपाणसदृशी, गोमूत्रिकासदृशी, निर्लेखनसदृशीति । अत्राप्युपसंहारानिगमने
क्रोधनिदर्शनेव्याख्याते ॥

अर्थ—माया, प्रणिधि, उपधि, निकृति, आवरण, वञ्चना, दम्भ, कूट, अतिसधान, और
अनार्जव, ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं । क्रोध और मान कषायकी तरह इस माया कषायके
भी तीव्र आदि भावोंकी अपेक्षा—तीव्र मध्यम विमध्यम और मन्दभावोंको प्रकट करनेवाले
चार दृष्टान्तरूप वाक्य हैं ।—यथा—वशकुणसदृशी, मेपविपाणसदृशी, गोमूत्रिकासदृशी, और
निर्लेखनसदृशी । इस विषयके भी उपसंहार और निगमनकी व्याख्या क्रोधके दृष्टान्तोंसे ही
समझ लेनी चाहिये ।

भावार्थ—मन वचन कायका प्रयोग जहाँपर विपरमरूपसे किया जाय, वहाँ माया कषाय
समझना चाहिये । दूसरेको धोखा देने या ठगनेके अभिप्रायसे अपने मनके अभिप्रायको
छिपाकर दूसरा आशय प्रकट करनेवाले वचन बोलना या शरीरसे वैसी कोई चेष्टा
करना तथा इसी प्रकार वचन और कायमें भी वैपरम रखने को माया कहते हैं । यह
रूपाय भी तरतम भावकी अपेक्षा अनेक प्रकारकी है, फिर भी सामान्यतया दृष्टान्तों द्वारा
उसके चार भेद कहे जा सकते हैं, जोकि क्रमसे उसके तीव्रभाव, मध्यमभाव, विमध्यमभाव,
और मन्दभावको प्रकट करनेवाले हैं । किसी भी तरह जिसका अंत न पाया जा सके, ऐसी
बाँसकी जड़के समान अत्यन्त जटिल वञ्चनाको वशकुणसदृशी समझना चाहिये । जिसमें मेढरे
सींग सरीखी कुटिलता पाई जाय, उसको मेपविपाणसदृशी, और जिसमें गोमूत्रके समान वक्रता
रहे, उसको गोमूत्रिकासदृशी, तथा जिसमें खुरपी आदिके समान टेढ़े रहे, उसको निर्लेखनसदृशी
माया समझना चाहिये । इनकी स्थिति फल आदिका व्याख्यान सब क्रोधकी तरहसे ही
कर लेना या समझलेना चाहिये । इस कषायसे जो सर्वथा रहित है, वे निर्गुण पदके भागी होते हैं ।

भाष्यम्—लोभो रागो गाद्व्यभिच्छा मूर्त्ता स्नेहः काक्षाभिष्वङ्ग इत्यनर्थान्तरम् ।
तस्यास्य लोभस्य तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति । तद्यथा—लाक्षारागसदृश
कर्दमरागसदृश, कुसुम्भरागसदृशो हरिद्रारागसदृश इति । अत्राप्युपसंहारानिगमने क्रोध
निदर्शनेव्याख्याते ॥

अर्थ—लोभ, राग, गाद्वर्च, इच्छा, मूर्च्छा, स्नेह, काङ्क्षा, आर अभिष्वङ्ग ये सब शब्द
पर्यायवाचक हैं । इस लोभ कषायके भी तीव्रादि भावोंकी अपेक्षामें चार दृष्टान्त हैं ।
यथा—लाक्षारागसदृश, कर्दमरागसदृश, कुसुम्भरागसदृश, और हरिद्रारागसदृश । इस विषयमें भी
उपसंहार और निगमनकी व्याख्या क्रोधके जो दृष्टान्त दिये हैं, उन्हींके द्वारा समझ लेनी चाहिये ।

१—येणुसमूहोत्पन्नवसिष्ठो गोमुत्पन्न गोरप्ये । सरिसा माया णारयतिरिण्यणमरमुत्तिवदि त्रिय ॥२८५॥ गो जी

२—किमिरामवचनशुमलहरिसणसरिसओ लेहो । णारयतिरिण्यमाणुसदेवमुष्णयओ कमयो ॥२८६॥ गो जी

भावार्थ—इष्ट वस्तुको प्राप्त करनेकी आशा तथा प्राप्त वस्तुके वियोग न होनेकी अभिलाषाको लोभ कहते हैं। यह कषाय पर—पदार्थमें समत्व बुद्धिके रहनेको सूचित करती है। इसके भी तरतम भावोंको बतानेके लिये चार दृष्टान्तोंके द्वारा जो चार स्थान बताये हैं, उनका आशय यह है कि—जिस प्रकार लाखका रंग सबसे अधिक पक्का होता है, और वह कपड़ेके फटनेतक भी दूर नहीं होता, उसी प्रकार परम प्रकृष्ट स्थानको प्राप्त लोभ लाक्षारागसदृश समझना चाहिये। इससे कम स्थितिवाला और जो कदाचित् किसी उपायसे दूर हो सकता है, वह कर्दमरागसदृश है। जिस प्रकार कीचड़का रंग कपड़ेमें लग जानेपर कष्टसे छूटता है, उसी प्रकार इस लोभको समझना चाहिये। कीचड़के रंगकी अपेक्षा कुसुमका रंग जल्दी छूट सकता है, उसी प्रकार जो लोभ कुछ ही कालके बाद विलीन हो जाय, उसको कुसुम्भरागसदृश समझना चाहिये, और जो हल्दीके रंगके समान हो, उसको हरिद्रासदृश कहना चाहिये। इन चारों प्रकारके लोभका फल भी क्रमसे नरक तिर्यग्गति मनुष्यगति और देवगति है। जो चारों ही प्रकारके लोभसे रहित हैं, वे निर्वाण—पदको प्राप्त किया करते हैं।

भाष्यम्—एषां क्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां प्रत्यनीकभूताः प्रतिघातहेतवो भवन्ति। तद्यथा—क्षमा क्रोधस्य मार्दवं मानस्यार्जवं मायायाः संतोषो लोभस्येति ॥

अर्थ—इन उपर्युक्त क्रोधादिक चार कषायोंके प्रतिपक्षी—विरोधी चार धर्म हैं, जोकि इन चारों कषायोंके प्रतिघातके कारण हैं। यथा क्रोधका प्रतिपक्षी क्षमा है, मानका प्रतिपक्षी मार्दव, मायाका प्रतिपक्षी आर्जव, और लोभका प्रतिपक्षी संतोष है।

भावार्थ—क्रोधादिक कषाय कर्मजन्य—भाव है—वे वास्तवमें आत्माके नहीं है। मोहनीय कर्मका स्वभाव आत्माको मोहित—मूर्च्छित करना है, ऐसा पहले बता चुके हैं। उसीके उत्तरभेदरूप इन कषायोंके उदयसे आत्मा, जब विपरिणत होता है, तब उस उस कषायरूप कहा जाता है। क्षमा आदिक आत्माके भाव हैं। जो कि इन कषायोंके नाशसे प्रकट होते हैं। क्योंकि क्रोधादिक और क्षमादिक दोनों ही भाव परस्परमें प्रतिपक्षी है। अतएव जहाँ एक रहेगा वहाँ उसका प्रतिपक्षी दूसरा नहीं रह सकता। क्रोधके रहते हुए क्षमा नहीं रह सकती, और क्षमाके रहते हुए क्रोध नहीं रह सकता। अतएव क्रोधादिके विनाशके कारण क्षमादिक चार धर्म हैं।

क्रोधोत्पत्तिके कारण मिलनेपर भी क्रोध न होने देना, उसको सहन करना क्षमा है। मार्दवका अर्थ कोमलता और नम्रता है। आर्जव नाम सरलता अथवा कपट रहित प्रवृत्ति करनेका है, इष्ट वस्तुके अलभमें भी तृप्ति रहनेको संतोष समझना चाहिये।

मोहनीयके अनन्तर क्रमानुसार आयुष्क—कर्मके उत्तरभेदोंको गिनाते हैंः—

सूत्र—नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आयुष्कं चतुर्भेदं नारक तैर्यग्योऽमानुष दैवमिति ॥

अर्थ—आयुष्क नामक प्रकृतिवर्षके चार भेद है—नारक, तैर्यग्योन, मानुष, और देव ।

भावार्थ—आयुर्कर्मका स्वरूप पहले बता चुके हैं, कि जिसके उदयसे जीवको भवान्तरमें अवश्य ही जन्म धारण करना पड़ता है । मर-गति चार ही है, अतएव आयुके भी चार ही भेद हैं । एक साथ दो आयुर्कर्मका उदय नहीं हुआ करता । एक आयु जब पूर्ण हो जाती है, तब दूसरी आयुका जिसका कि अपकर्षकालमें बध होगया हो, उदय हुआ करता है । अतएव मरणके अनन्तर विग्रहगतिमें भी परमव सम्बन्धी आयुका ही उदय रहा करता है । आयुर्कर्म जो बँध जाता है, वह अपना फल दिये बिना नहीं छूटता । नियमसे जीवको अपने योग्य भवमें बध ले जाता है । जैसे कि अपकर्ष कालमें नरकायुका बध हुआ, तो उस जीवको मरणके अनन्तर नियमसे नरकमें ही जाना पड़ेगा । देवोंके देवायु और नरकायुका तथा नारकोंके नरकायु और देवायुका बध नहीं हुआ करता, शेष मनुष्य और तिर्यचोंके चारों ही आयुका बध होता है । परन्तु एक जीवके एक ही परमवसम्बन्धी आयुका बध होता है । उदय भी एक समयमें एक जीवके एक ही आयुका होता है । इसकी स्थितिके उत्कर्षण अपकर्षण उदीरणा आदि सम्बन्धी नियम ग्रन्थान्तरोंमें देखना चाहिये । बधके लिये आठ अपकर्षकाल ही योग्य है । शेष समयोंमें आयुर्कर्मका बध नहीं होता ।

नामकर्मके व्याप्ति भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणवधनसघातसस्थान-
सहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वास-
विहायोगतय प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेय-
यशासि सेतराणि तीर्थकृत्त्व च ॥ १२ ॥

भाष्यम्—गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम, वन्धननाम,
सघातनाम, सस्थाननाम, सहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, गन्धनाम, वर्णनाम, आनुपूर्वीनाम,
अगुरुलघुनाम, उपघातकनाम, परघातकनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम,
विहायोगति नाम, प्रत्येकशरीरादीनां सेतराणां नामानि । तद्यथा—प्रत्येकशरीरनाम, साधा-
रणशरीरनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सुभगनाम, दुःभगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, शुभनाम,
अशुभनाम, सूक्ष्मनाम, वादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, आदेय-
नाम, अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम, तीर्थनाम, तीर्थकरनाम इत्येतद्विचत्वारिंशद्विध-
मूलभेदतो नामकम् भवति । उत्तरनामानेकविधम् । तद्यथा—गतिनाम चतुर्विधं नरकगतिनाम,

तिर्यग्योनिगतिनाम, मनुष्यगतिनाम, देवगतिनाम । जातिनाम्नो मूलभेदाः पञ्च । तद्यथा—एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, पञ्चेन्द्रियजातिनामेति । एकेन्द्रियजातिनामानेकविधम् । तद्यथा—पृथिवीकायिकजातिनाम, अप्कायिकजातिनाम, तेजःकायिकजातिनाम, वायुकायिकजातिनाम, वनस्पतिकायिकजातिनामेति । तत्र पृथिवीकायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा—शुद्धपृथिवी शर्करा बालुकोपल शिलालवणायस्त्रपु-ताम्र-सीसक-रूप्य-सुवर्ण-वज्र-हरिताल-हिङ्गुलक-मनःशिलासस्यकाञ्चन प्रवालकाभ्रपटलाभ्रवालिकाजातिनामादि गोमेदक-रुचकाङ्क-रफटिक लोहिताक्षजलावभास-वैडूर्यचन्द्रप्रभ-चन्द्रकान्तसूर्यकान्त-जलकान्त-मसारगल्लाश्मगर्भ-सौगन्धिकपुलकारिष्ट काञ्चनमणिजातिनामादि च । अप्कायिकजातिनामानेकविधम्—तद्यथा—उपक्लेदावश्यायनीहारहि मघनोदक शुद्धोदकजातिनामादि । तेजःकायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा—अङ्गार-ज्वाला-लातार्चिर्मुर्मु-शुद्धाग्निजातिनामादि । वायुकायिक जातिनामानेकविधम् । तद्यथा—उत्कालिका मण्डालिका झञ्झकायनसंवर्तक जातिनामादि । वनस्पतिकायिक जातिनामानेकविधम् । तद्यथा—कन्द-मूल-स्कन्ध-त्वक्-काष्ठ-पत्र-प्रवाल-पुष्प-फल-गुल्मगुच्छलतावल्लीतृण पर्वकायशेवाल-पनक-बलक-कुहनजातिनामादि । एवं द्वीन्द्रियजातिनामानेकविधम् । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामादीन्त्यपि ॥

शरीरनाम पञ्चविधम्—तद्यथा—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियशरीरनाम, आहारकशरीरनाम, तैजसशरीरनाम, कर्मणशरीरनामेति । अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविधम् । तद्यथा—औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियशरीराङ्गोपाङ्गनाम, आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम । पुनरेकैकमनेकविधम् । तद्यथा—अङ्गनाम तावत् शिरोनाम, उरोनाम, पृष्ठनाम, बाहुनाम, उदरनाम, पादनाम । उपाङ्गनामानेकविधम् । तद्यथा—स्पर्शनाम रसनाम, घ्राणनाम, चक्षुर्नाम, श्रोत्रनाम । तथा मस्तिष्ककपालकुकाटिकाशंखललाटतालुकपोलहनुचिवुकदशनौष्ठभ्रूनयनकर्णनासाद्युपाङ्गनामानि शिरसः । एवं सर्वेषामङ्गानामुपाङ्गानां नामानि । जातिलिङ्गाकृतिव्यवस्थानियामकं निर्माणनाम । सत्यां प्रातौ निर्मितानामपि शरीराणां बन्धकं बन्धननाम । अन्यथा हि बालुकापुरुषवद्वानि शरीराणि स्युरिति । बद्धानामपि च संघातविशेषजनकं प्रचयविशेषात्संघातनाम दारुमृष्टिषाद्यः संघातवत् । संस्थाननाम पङ्क्तिधम् । तद्यथा—समचतुरस्त्रनाम, न्यग्रोधपरिमण्डलनाम, साचि नाम, कुब्जनाम, वामननाम, हुण्डनामेति । संहननाम पङ्क्तिधम् । तद्यथा—वज्रर्षभनाराचनाम, अर्धवज्रर्षभनाराचनाम, नाराचनाम, अर्धनाराचनाम, कीलिकानाम, सृपाटिकानामेति । स्पर्शनामाष्टविधं कठिननामादि । रसनामानेकविधम् तिक्तनामादि । गन्धनामानेकविधं सुरभिगन्धनामादि । वर्णनामनेकविधं कालकनामादि । गतावुत्पत्तुकामस्यान्तर्गतौ वर्तमानस्य तदभिमुखमालुपूर्व्यां तत्प्रापणसमर्थमानुपूर्वीनामेति । निर्माणनिर्मितानां शरीराङ्गोपाङ्गानां विनिवेशक्रमनियामकमानुपूर्वीनामेत्यपरे अगुरुलघुपरिणामनियामकमगुरुलघुनाम । शरीराङ्गोपाङ्गोपघातकमुपघातनाम, स्वपराक्रमविजयाद्युपघातजनकं वा । परत्रासप्रतिघातादिजनकं परघातनाम । आतपसामर्थ्यजनकमातपनाम । प्रकाशसामर्थ्यजनकमुद्योतनाम । प्राणापानपुद्गलग्रहणसामर्थ्यजनकमुच्छ्वासनाम । लब्धिशिक्षार्थिप्रत्ययस्याकाशगमनस्यजनकं विहायोगतिनाम ।

पृथक्शरीरनिर्वर्तकं प्रत्येकशरीरनाम । अनेकजीवसाधारणनिर्वर्तकं साधारणशरीरनाम । त्रसभावनिर्वर्तकं त्रसनाम । स्थावरभावनिर्वर्तकं स्थावरनाम । सौभाग्यनिर्वर्तकं सुभगनाम । दौर्भाग्यनिर्वर्तकं दुर्भगनाम । सौस्वर्थनिर्वर्तकं सुस्वरनाम । दौस्वर्थनिर्वर्तकं

दुस्वरनाम । शुभभावशोभामादगत्यनिवर्तक शुभनाम । तद्विपरीतनिवर्तकमशुभनाम । सूक्ष्म-
शरीरनिवर्तक सूक्ष्मनाम । वादरशरीरनिवर्तक वादरनाम । पर्याप्ति पचविधा । तद्यथा आहारप-
याप्ति, शरीरपयाप्ति, इन्द्रियपयाप्ति, प्राणापानपयाप्ति, भाषापयाप्तिरिति । पर्याप्ति क्रियापरि-
समाप्तिरात्मन । शरीरेन्द्रियवाह्मन प्राणापानयोग्यदलिकद्रव्याहरणाक्रियापरिसमाप्तिराहार-
पयाप्ति । गृहीतस्यशरीरतया सस्थापनक्रियापरिसमाप्ति शरीरपयाप्ति । सस्थापन रचना
घटनमित्यथ । त्वगादीन्द्रियनिवर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपयाप्ति । प्राणापानक्रियायोग्य
द्रव्यग्रहणनिसर्गशक्तिनिवर्तनक्रियापरिसमाप्ति प्राणापानपयाप्ति । भाषायोग्यद्रव्यग्रहणानि
सर्गशक्तिनिवर्तनक्रियापरिसमाप्तिभाषापयाप्ति । मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहणनिसर्गशक्तिनिवर्तन
क्रियापरिसमाप्तिर्मनःपयाप्तिरित्येके । आत्मा युगपदारब्धनामपि ऋमेण समाप्तिरुत्तरोत्तर
सूक्ष्मत्वात् सूत्रादार्थादिकर्तनघटनम् । यथासरय च निदर्शयानि गृहदलिकग्रहणस्तम्भस्थूणा
द्वारप्रवेशनिर्गमस्थानशयनादिक्रियानिवर्तनातीति । पर्याप्तिनिवर्तकपर्याप्तिनाम । अपयाप्तिनि-
वर्तकमपयाप्तिनाम । अपर्याप्तिनाम तत्परिणामयोग्यदलिकद्रव्यमात्मनोपाप्तिमित्यर्थ ॥

स्थिरत्वानिवर्तक स्थिरनाम । विपरीतमस्थिरनाम । आर्येयभावनिवर्तकमादेयनाम ।
विपरीतमनादेयनाम । यशोनिवर्तक यशोनाम । विपरीतमयशोनाम । तीर्थकरत्वनिवर्तक तीर्थ-
करनाम । तांस्तान्भाषाज्ञामयतीति नाम । एव सोत्तरभेदो नामकर्मभेदोऽनेकाविध प्रत्येतव्य ॥

अर्थ—प्रकृतिवधका छद्मभेद नामकर्म है । उसके मूलभेद ४२ है । जोकि इस प्रकार
है—गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम, बन्धननाम, सप्तातनाम, सत्याननाम,
सहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, गन्धनाम, वर्णनाम, आनुषर्षनाम, अगुरुत्तुनाम, उपप्रातनाम,
परघातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम, विहायोगतिनाम । यहाँतक २१ भेद हुए ।
यहाँसे आगे प्रत्येक शरीरादिकके भेद हैं जोकि सप्रतिपत्त हैं । सूत्रमें जिनका नामोद्धरण किया
गया है, वे भी नामकर्मके भेद हैं, और उनके विपरीत भी नामकर्मके भेद हुआ करते हैं ।
जैसे कि प्रत्येकशरीरनाम, साधारणशरीरनाम, नसनाम, स्थावरनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वर
नाम, दुस्वरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सूक्ष्मनाम, वादरनाम, पर्याप्तिनाम, अपर्याप्तिनाम, स्थिरनाम,
अस्थिरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम । इस तरह २० भेद हैं । पूर्वोक्त
२१ और २० ये इस प्रकार कुल मिलकर ४१ भेद हुए । एक भेद तीर्थनाम है, इसीको
तीर्थकरनाम भी कहते हैं । अतएव सब मिलकर नामकर्मके मूलभेद ४२ होते हैं ।

नामकर्मके उत्तरभेद अनेक हैं । जोकि इस प्रकार हैं—गतिनाम चार प्रकारका है,
यथा नरक गतिनाम, तीर्थगोनिगति नाम और देवगति नाम । जातिनाम कर्मके मूल उत्तरभेद
पाँच हैं ।—एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, और
पञ्चिन्द्रियजातिनाम । इनमेंसे एकेन्द्रियजातिनामके भी अनेक भेद हैं । यथा—पृथिवीकायिक जातिनाम,
अपृथिवीकायिक जातिनाम, तेज कायिकजातिनाम वायुकायिकजातिनाम, और वनस्पतिकायिकजातिनाम ।

इनमेंसे पृथिवीकायिकजातिनामकर्मके अनेक भेद हैं । जैसे कि शुद्ध पृथिवी^१, शर्करा, वालुका, उपल, शिला, लवण, लोह, पारद, तांबा, सीसा, चांदी, सोना, हीरा, हड़ताल, हिङ्गुल, मेन-शिल, सस्यकाञ्चन, प्रवाल, मूंगा, अभ्रपटल, अभ्रवालिका, इत्यादि । इसी तरह और भी अनेक भेद हैं । यथा—गोमेदक, रुचक, अर्द्ध, स्फटिक, लोहिताक्ष, जलावभास, वैडूर्य, चन्द्रप्रभ, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, जलकान्त, मसारगर्ह, अश्मगर्भ, सौगन्धिक, पुलक, अरिष्टं, काञ्चनमणि, ईत्यादि । इसी तरह जलकायिकजातिनामकर्मके भी अनेक भेद हैं । जैसे कि—उपक्लेद, अवश्याय, नीहार, हिम, घनोदक, तथा शुद्धोदक इत्यादि । अग्निकायिकजातिनामकर्म भी अनेक प्रकारका है । जैसे कि—अङ्गार, ज्वाला, घात (स्फुलिंग), अर्चि, मुर्मुर, और शुद्धाग्नि । इसी प्रकार और भी अनेक अवान्तर भेदोंको समझ लेना चाहिये । तथा वायुकायिकजातिनामकर्मके भी अनेक भेद हैं । यथा—उत्कलिका, मण्डलिका, झञ्झकायन, संवर्तक, इत्यादि । वनस्पतिकायिकजातिनामकर्मके भी अनेक अवान्तर भेद हैं । जैसे कि कन्द, मूल, स्कन्ध, त्वक्, काष्ठपत्र, प्रवाल, पुष्प, फल, गुल्म, गुच्छ, लता, वल्ली, तृण, पर्वकाय, शेवाल, पनक, वलक, और कुहन । इत्यादि अनेक भेद हैं । ये सब एकेन्द्रियजातिनामकर्मके अवान्तर भेद हैं । इसी तरह द्वीन्द्रिय प्रभृति जातिनामकर्मके उत्तरभेदोंको समझ लेना चाहिये । जैसे कि पेटमें जो कीड़े पड़ जाते हैं—पेटरे, तथा शंख, सीप, गिंडोले, जोंक, और लट आदि जीव द्वीन्द्रिय हैं । इनके स्पर्शन और रसन ये दो ही इन्द्रियाँ रहती हैं । कुंथु, चींटी, जूं, खटमल, विच्छू और इन्द्रगोप आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके भेद हैं । मच्छड़ पतङ्ग, डांस, मक्खी, भ्रमर, वर् ततैया आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके अवान्तर भेद हैं । हाथी घोड़ा ऊंट आदि पशु और मयूर, कपोत, तोता, मैना आदि पक्षी सर्प मृसक आदि जीव, तथा मत्स्य, मकर, कच्छप आदि जलचर जीव और देव नारक तथा मनुष्य ये सब पंचेन्द्रिय जीवोंके अवान्तर भेद हैं । अतएव इन जातिनामकर्मोंके उत्तरभेदोंको समझना चाहिये ।

शरीर नामकर्मके पाँच भेद हैं । यथा—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियशरीरनाम, आहारक-

१—जिसके अवान्तर भेद हैं, उस शब्दको प्रत्येक भेदके साथ जोड़कर बोलना चाहिये, जैसे कि शुद्धपृथिवी-कायिकजातिनामकर्म, शर्करापृथिवीकायिकजातिनामकर्म, इत्यादि । इसी तरह जलकायिकादिके भेदोंके विषयमें भी समझना चाहिये । २—अभ्रकके पटल । ३—अभ्रककी वालु । ४—इसको कर्कतन भी कहते हैं । इसका रंग गोरोचन सरीखा होता है । ५—इसका दूसरा नाम राजावर्तमणि भी है । इसका रंग अलसीके फूल सरीखा होता है । ६—इसका रंग प्रवाल सरीखा होता है । ७—पद्मरागमणि । ८—इसका रंग खूंगाकासा होता है । ९-१०—मणिविशेष । ११—गैरिक, चन्दन, वर्वर, वक, मोच प्रभृति रत्नविशेष और चिन्तामणिरत्न तथा अनेकविध पृथिवी, मेरु आदि पर्वत, द्वीप, विमान, भवन, वेदिका, प्रतिमा, तोरण, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शास्त्रमलिवृक्ष, घातकीवृक्ष, और कल्पवृक्ष आदि पृथिवीके भेदोंमें ही अन्तर्भूत हैं । दिगम्बर-सम्प्रदायमें पृथिवीके ३६ भेद गिनाये हैं, जिनमें कि इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है । इसी प्रकार जलादिकके भेद भी समझ लेने चाहिये । जैसे कि श्रीअमृतचन्द्रसूरीने तत्त्वार्थसारमें गिनाये हैं ।

शरीरनाम, तैजसशरीरनाम और कामर्णशरीरनाम । अङ्गोपाङ्गनामकर्मके तीन भेद हैं । जोकि इस प्रकार हैं—औदारिकाङ्गोपाङ्ग, वक्रियशरीराङ्गोपाङ्ग आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग । इनमें भी एक एकके अनेक अवान्तर भेद हैं । जैसे कि अङ्गनामकर्मके उत्तर-भेद इस प्रकार है—शिरोनाम उरोनाम पृष्ठनाम बाहुनाम उदरनाम और पादनाम । उपाङ्गनामकर्मके भी अनेक भेद हैं । जैसे कि—स्पर्शनाम, रसनाम, घ्राणनाम, चक्षुर्नाम, और श्रोत्रनाम, । मास्तिष्क, कपाल, कृन्ताटिका, शङ्ख, ललाट, तालु, कपोल, हनु, चिवुरु, दशन, ओष्ठ, भ्रू, नेत्र, कर्ण, और नासिका आदि शिरके उपाङ्ग हैं । इसी तरह और भी समस्त अङ्गों तथा, उपाङ्गोंके नाम समझ लेने चाहिये । जिसके उदयसे शरीर और उसके अङ्गोपाङ्ग की ऐसी आकृति विशेष नियमित रूपसे बने, जोकि उस उस जातिका लिङ्गरूप हो, उसको निर्माणनामकर्म कहते हैं । प्राप्ति हो जानेपर रचित शरीरोंका परस्परमें जिस कर्मके उदयसे बन्धन हो, उसको बन्धननामकर्म कहते हैं । अर्थात् जिस कर्मके निमित्तसे औदारिकादि शरीरोंके योग्य आकारको प्राप्त हुए पुद्गलस्वर्णोंका आपसमें ऐसा सश्लेषविशेषरूप सम्बन्ध हो जाय, जोकि प्रदेशावगाह अथवा एकत्व बुद्धिके जनक आविर्भूतावरूप हो, उसको बन्धननामकर्म समझना चाहिये । यदि इस तरहका शरीरोंका परस्परमें बन्धन न हो, तो बालूके बने हुए पुरपत्नी तरह मनुष्यमात्रके शरीर अमृद्व ही रहें ।—जीवमात्रके शरीरोंके पुद्गलस्वन्ध बद्धरूप न रहकर विशीर्ण ही हो जाँय । अतएव उनके बन्धनविशेषकी आवश्यकता है । सो यही कार्य बन्धननामकर्मके उदयसे हुआ करता है । शरीर योग्य पुद्गलस्वर्णोंका बन्धनविशेष हो जानेपर भी जबतक ऐसा दृढ और प्रचयविशेषरूप सश्लेष न हो जाय, जैसा कि काष्ठ—लकड़ी अथवा मृत्पिण्ड—कण्ड पत्थर या कपाल और लोहेके पुद्गलस्वर्णोंमें हुआ करता है, तबतक शरीर स्थिर नहीं रह सकता । अतएव जिस कर्मके उदयसे सघातविशेषका जनक प्रचयविशेष हो, उसको सघातनामकर्म कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे शरीरकी आकृतिविशेष बने, उसको सस्थाननामकर्म कहते हैं । उसके छह भेद हैं ।—समचतुरस्रनाम, न्यग्रोधपरिमण्डलनाम, साचिनाम, कुञ्जनाम, वामननाम, और हुण्टकनाम । जिस कर्मके उदयसे शरीर और उसने अङ्ग उपाङ्ग सामुद्रिक—शास्त्रके अनुसार यथाप्रमाण हों, उसको समचतुरस्र कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे न्यग्रोध—वटवृक्षकी तरह शरीरका आकार नीचे हल्ला—पतला और ऊपर भारी—मोटा हो, उसको न्यग्रोधपरिमण्डल कहने हैं । जिस कर्मके उदयसे शरीर स्वाति नभत्रक समान नीचे भारी और उपर हल्ला बने, उसको साचि अपत्रा स्वाति कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे कुञ्ज—कूजडसहित शरीर प्राप्त हो, उसको कुञ्जनाम कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे छोटा शरीर प्राप्त हो, उसको वामननामकर्म कहते हैं । जिस

१—शरीरके आठ अंग प्रसिद्ध हैं । यहाँपर छह नाम गिनाये हैं किन्तु षड् दो और पाद दो गिननेसे आठ अंग पूरे हो जाते हैं ।

कर्मके उदयसे शरीर तथा उसके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्ग विष्णु या अनियत आकारका बनें उसको हुण्टकनामकर्म कहते हैं । संहनन नाम हट्टी अथवा शरीरकी हट्टी आदिकी दृढ़ताका है । जिस कर्मके उदयसे वह प्राप्त हो, उसको संहनननामकर्म कहते हैं, उसके भी छह भेद हैं । यथा—वज्रर्पभनाराच, अर्धवज्रर्पभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, और सृपाटिका । जिस कर्मके उदयमे वज्रकी हट्टी वज्रका वेष्टन और वज्रकी ही कीली हो, उसको वज्रर्पभनाराच संहनन कहते हैं । जिसकर्मके उदयसे वज्रकी हट्टी और वज्रका वेष्टन तथा वज्रकी कीली आधी प्राप्त हो, उसको अर्धवज्रर्पभनाराचसंहनन कहते हैं । जिसके उदयसे हट्टियोंके ऊपर वेष्टन प्राप्त हो, उसको नाराचसंहनन कहते हैं । जिसके उदयसे आधा वेष्टन प्राप्त हो, उसको अर्धनाराचसंहनन कहते हैं । जिसके उदयसे हट्टियोंमें कीलियाँ प्राप्त हों, उसको कीलिकासंहनन कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे हट्टियाँ न वेष्टित हों, और न कीलितहों, केवल नसोंके द्वारा बंधी हों, उसको नृपाटिकासंहनन कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे शरीरमें स्पर्शान्द्रियके विषयभूत गुण प्राप्त हों, उसको स्पर्शनामकर्म कहते हैं । इसके आठभेद हैं । यथा—कठिन, कोमल, गुरु, लघु, स्निग्ध, नृक्ष, शीत, और उष्ण । जिसके उदयसे शरीरमें रसना इन्द्रियका विषयभूत गुण प्राप्त हो, उसको रसनामकर्म कहते हैं । उसके पाँच भेद हैं । यथा—तिक्त मधुर अम्ल कटु और कषाय । जिसके उदयसे शरीरमें घ्राणान्द्रियका विषयभूत गुण प्राप्त हो, उसको गन्धनामकर्म कहते हैं । उसके दो भेद हैं, मुराभि और असुराभि ।—सुगन्ध और दुर्गन्ध । जिसके उदयसे शरीरमें चक्षुरिन्द्रियका विषयभूत गुण उत्पन्न हो, उसको वर्णनामकर्म कहते हैं । उसके पाँच भेद हैं ।—काला पीला छाल द्यौत हरित । मरणके अनन्तर यथायोग्य गतिमें उत्पन्न होनेके लिये गमन करते समय जन्तक योग्य जन्मस्थानमें पहुँचा नहीं है, तबतक जिस कर्मके उदयसे जीव उस गतिके जन्मस्थानकी तरफ उन्मुख रहता और उस स्थानको प्राप्त होता है, उसको आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं । यह कर्म जीवको मृत्युके बाद भवान्तरमे पहुँचानेके लिये समर्थ है । कोई कोई कहते हैं, कि निर्माणकर्मके द्वारा जिनका योग्य निर्माण हो चुका है, ऐसे शरीरके अंग और उपाङ्गोंका जिसके निमित्तसे विनिवेश—क्रमका नियमन हो—नियमबद्ध योग्य स्थानोंपर ही वे निवेशित हों, उसको आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं । जिसके

१—दिगम्बर—सम्प्रदायमें छह भेद इस प्रकार हैं—वज्रर्पभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन अर्धनाराचसंहनन कीलिकासंहनन और नृपाटिकासंहनन । २—भाष्यकारने स्पर्शादिकके भेदोंको बताते समय आदि शब्दका प्रयोग किया है, जिससे ऐसा मालूम होता है, कि इस लिखित प्रमाणसे स्पर्श रस वर्ण और गन्धके अधिक भी भेद होंगे । परन्तु ऐसा नहीं है, इन गुणोंके भेद इतने ही होते हैं । जैसा कि स्वयं भाष्यकारने भी अध्याय ५ सूत्र २३ की टीकामें दिखाया है । ३—दिगम्बर—सम्प्रदायमे इसका अर्थ ऐसा माना है, कि इसके उदयसे विप्रहगतिमे जीवका आकार त्यक्त—छोड़े हुये शरीरके आकार रहा करता है । जैसे कि कोई पशु मरकर देव हुआ, तो उस जीवका विप्रहगतिमें आकार उस पशु सीखा रहेगा । ४—दिगम्बर—सम्प्रदायमें यह कार्य निर्माणकर्मका है । क्योंकि उसके दो भेद हैं ।—स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण ।

उदयसे शरीर न तो रुई सरीखा हलका और न लेहे सरीखा भारी बने, उसको अगुल्लघु-
नामकर्म कहते हैं । जिसके निमित्तसे अपने ही शरीरके अङ्ग और उपागोंका घात हो, अथवा
जिसके द्वारा अपने ही पराक्रम विजय आदिका उपघात हो, उसको उपघातनामकर्म कहते हैं^१ ।
जिसके निमित्तसे दूसरेको ज्ञास हो, अथवा दूसरेका घात हो, उसको पराघातनामकर्म कहते
हैं । जिसके निमित्तसे शरीरमें आतपपैरी सामर्थ्य प्राप्त हो, उसको आतपनामकर्म कहते हैं ।
जिसके उदयसे शरीरमें प्रकाशकी सामर्थ्य प्रकट हो, उसको उद्योतनामकर्म कहते हैं ।
जिसके उदयसे द्वासोद्वासके योग्य पुद्गलस्कन्धोंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो, उसको
उच्चद्वासनामकर्म कहते हैं । जिसके निमित्तसे आनाशमें गमन करनेकी योग्यता प्राप्त हो,
उसको विहायोगतिनामकर्म करते हैं । यह योग्यता तीन प्रकारकी हुआ करती है—लब्धि
प्रत्यय, शिंसाप्रत्यय, और नद्धिप्रत्यय ।

नामकर्मकी सप्रतिपक्ष प्रकृतियोंका अभिप्राय इस प्रकार है—

जिसके उदयसे प्रत्येक जीवका शरीर भिन्न भिन्न बने, उसको प्रत्येकशरीरनामकर्म कहते
हैं । जिसके उदयसे अनेक जीवोंका एक ही शरीर बने, उसको साधारणशरीरनामकर्म कहते हैं ।
जिसके उदयसे द्वीन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रियतककी अवस्था प्राप्त हो, उसको त्रसनामकर्म कहते हैं ।
जिसके उदयसे पूर्वोक्त पाँच स्थावरों—पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पतिकी दशा प्राप्त हो,
उसको स्थावरनामकर्म कहते हैं । जिसके निमित्तसे सौभाग्य प्राप्त हो, उसको सुभगनामकर्म
कहते हैं । जिसके निमित्तसे दार्भाग्य प्राप्त हो, उसको दुर्भगनामकर्म कहते हैं । जिसके
निमित्तसे अच्छा स्वर प्राप्त हो, उसको सुस्वर और जिसके निमित्तसे अशुभ स्वर प्राप्त
हो, उसको दुस्वरनामकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे शुभ भाव और शोभा तथा भाङ्गल्य
प्राप्त हो, उसको शुभनामकर्म कहते हैं । इसके विपरीत अवस्था जिससे प्राप्त हो, उसको
अशुभनामकर्म कहते हैं । जिससे ऐसा शरीर प्राप्त हो, जो न दूसरेको रोक सके, या न दूसरेसे
रुक सके, उसको सूक्ष्मनामकर्म और जिसके निमित्तसे इसके विपरीत स्वभाववाला शरीर प्राप्त
हो, उसको वाटरनामकर्म कहते हैं । जिसके निमित्तसे आत्माकी क्रिया समाप्ति हो, उसको
पर्याप्तिनामकर्म कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति,
प्राणापानपर्याप्ति, और भाषापर्याप्ति । शरीर इन्द्रिय वचन मन और द्वासोद्वासके योग्य स्कन्ध
रूप पुद्गल द्रव्यका जिसके द्वारा आहरण—ग्रहण हो, ऐसी क्रियाकी जिसके द्वारा परिसमाप्ति
हो, उसको आहारपर्याप्ति कहते हैं । गृहीत पुद्गलस्कन्धोंको शरीररूपमें स्थापित करनेवाली

१—जिसके उदयसे ऐसे अगोप्य बने, कि जिससे अपना ही घात हो । २—जिसके उदयसे, ऐसे
अगोपाद्य बने जो दूसरेका घात करें । ३—जिसका मूल टडा हो, और प्रमा उण हो, उसको आतप कहते
हैं । ४—जिसका मूल भी ठ है । हो और प्रमा भी ठ है, उसको उद्योत कहते हैं । ५—दिगम्बर—सम्प्रदायमें
एह भेद ही माने हैं । एक मन पर्याप्ति भी मानी है । जैसा कि भाष्यकारने भी एकीयमतसे स्पष्ट किया है ।
इसके अर्पण विरोधता योग्यताके पर्याप्ति अधिकार में देखनी चाहिये ।

क्रियाकी परिसमाप्ति जिसके निमित्तसे हो, उसको शरीरपर्याप्ति कहते हैं । संस्थापन शब्दका आशय यह है, कि शरीररूप रचना या घटन । स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी रचना जिसके द्वारा सिद्ध हो, उस क्रियाकी जिससे परिसमाप्ति हो जाय, उसको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं । व्यासो-द्धास क्रियाके योग्य पुद्गलस्कन्धोंको ग्रहण करने या छोड़नेकी शक्ति जिससे सिद्ध हो, ऐसी क्रियाकी परिसमाप्ति जिससे हो, उसको प्राणापानपर्याप्ति कहते हैं । भाषा-वचनके योग्य पुद्गल द्रव्यको ग्रहण करने या छोड़नेकी शक्तिकी जिससे निवृत्ति हो, उस क्रियाकी जिससे परिसमाप्ति हो, उसको भाषापर्याप्ति कहते हैं । कोई कोई आचार्य एक दृष्टी मन-पर्याप्ति भी बताते हैं, जिसका कि अर्थ इस प्रकार करते हैं, कि मन-द्रव्यमनके योग्य पुद्गल द्रव्यको ग्रहण और विसर्ग-त्यागकी शक्तिको निष्पन्न करनेवाली क्रियाकी जिससे परिसमाप्ति होजाय, उसको मन-पर्याप्ति कहते हैं । जिस प्रकार सूतका जो कपड़ा बुना जाता है, उसमें समस्त क्रियाओंका प्रारम्भ एक साथ ही होजाता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रमसे होती है । इसी प्रकार लकड़ीके कतरने आदिके विषयमें सब कामका प्रारम्भ युगपत् और उनकी समाप्ति क्रमसे होती है, इसी तरह पर्याप्तियोंके विषयमें भी समझना चाहिये । इनका भी आरम्भ युगपत् और पूर्णता क्रमसे होती है । जिस जीवके जितनी पर्याप्ति संभव हैं, उसके उनका आरम्भ एक साथ ही हो जाता है, किन्तु पूर्णता क्रमसे होती है । क्योंकि ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । इनके क्रमसे ये दृष्टान्त है—गृह-निर्माणके योग्य वस्तुओंका ग्रहण, स्तंभ, स्तूणा-थूनी और द्वार, तथा जाने आनेके स्थान एवं शयन आदि क्रिया । ये जिस प्रकार क्रमसे हुआ करते हैं, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । ऊपर जो पर्याप्तिके भेद गिनाये हैं, उनकी जिससे निवृत्ति हो, उसको पर्याप्तिनामकर्म कहते हैं, और जिससे इनकी निवृत्ति न हो, उसको अप-र्याप्तिनामकर्म कहते हैं । तत्तत्परिणमनके योग्य स्कन्धरूप पुद्गलद्रव्यको जीव ग्रहण नहीं करता, यही अपर्याप्तिका तात्पर्य है । जिसके निमित्तसे शरीरके अङ्गोपाङ्ग और धातु उपधातु स्थिर रहें—अपने रूपमें अथवा यथास्थान रहें, उसको स्थिरनामकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे इसके विपरीत क्रिया हो, उसको अस्थिरनामकर्म कहते हैं । जिसके निमित्तसे कान्तियुक्त शरीर हो, उसको आदेय और इसके विपरीत जिसके निमित्तसे कान्तिरहित शरीर हो, उसको अनादेय-नामकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे जीवकी कीर्ति हो, उसको यशोनाम और इसके विपरीत जिसके निमित्तसे जीवकी अपकीर्ति हो, या कीर्ति न हो, उसको अयशोनामकर्म कहते हैं ।

अन्तिम भेद तीर्थकरनामकर्म है । उसका अभिप्राय यही है, कि जिसके उदयसे तीर्थ-करत्व सिद्ध हो । तीर्थकी प्रवृत्ति और समवसरणकी विभूति आदिकी रचना तथा कल्याणकों-की निष्पत्ति आदि इसी कर्मके फल है । इसी अंतरङ्ग कारणके उदयसे समवसरणमें स्थित अरिहंत भगवान्की दिव्यदेशना प्रवृत्त हुआ करती है ।

इम प्रकार नामधर्मके ४२ मूलभेद और उनके उत्तरभेदोंका स्वरूप बताया । तत्त्व भागोंको जो बनावे उसको नामधर्म कहते हैं । नामधर्मके उत्तरभेद और उत्तरोत्तर भेद अनेक हैं, जैसा कि ऊपर लिखाया जा चुका है ।

कमानुसार सातवें प्रकृतिबन्ध-गोत्रधर्मके दो भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—उच्चैर्नीचैश्च ॥ १३ ॥

भाष्यम्—उच्चैर्गोत्रम् नीचैर्गोत्रम् च । तत्रोच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसत्कारेक्षणपु-
त्कपनिवर्तकम् । विपरीत नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्ट्रिण्यधमत्स्यगन्धदास्यादिनिवर्तकम् ॥

अर्थ—गोत्रधर्मके दो भेद हैं ।—उच्चैर्गोत्र और नीचैर्गोत्र । इनमेंसे उच्चैर्गोत्र उसको कहते हैं, जोकि देश जाति कुल स्थान मान सत्कार और ऐश्वर्य आत्मीय अपेक्षा उत्कर्षका निर्वर्तक हो । नीचैर्गोत्र इसके विपरीत चण्डाल-नट-न्याय-पारिधी मत्स्यगन्ध-धीवर और दाम्य-दास अथवा दासीकी सत्तान इत्यादि नीच भावना निर्वर्तक है ।

भावार्थ—जिसके उदयमे जीव छोरपणित कुटुम्बमें उत्पन्न हो, उसको उच्च गोत्र और जिसके उदयमे इससे विपरीत लोचनिय कुटुम्बमें जन्म ग्रहण करे, उसको नीचगोत्र कहते हैं । पूज्यता देश कुल जाति आदि अनेक कारणोंसे हुआ करती है । इसी प्रकार निच्यताके भी अनेक कारण हैं । सामान्यतया गोत्रके दो ही भेद हैं । परन्तु पूज्यता और निच्यताके सारत-
म्यकी अपेक्षा इससे अवान्तर भेद अनेक हैं ।

अन्तमें आठवें प्रकृतिबन्ध-अन्तरायधर्मके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—दानादीनाम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अन्तरायं पञ्चविधं । तद्यथा—दानस्यान्तरायं लाभस्यान्तरायं भोगस्या-
न्तरायं, उपभोगस्यान्तरायं, धीर्यान्तराय इति ॥

अर्थ—अन्तरायधर्मके पाँच भेद हैं । जो कि इस प्रकार हैं—दानश अन्तराय-
दानान्तराय, लाभश अन्तराय—लाभान्तराय, भोगश अन्तराय—भोगान्तराय, उपभोगश
अन्तराय—उपभोगान्तराय, और धीर्यान्तराय ।

भावार्थ—अन्तराय और त्रि शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । अन्तराय शब्दका
अर्थ ऐसा होता है, कि जो बीचमें आकर उपस्थित हो जाय । यथा निम बाजे उदयमे दान
आदि कर्मोंमें वित्र पड़ जाय—दानादि काय मित्र न हो सके, उसको अन्तरायधर्म कहते हैं ।
विपरीत अपेक्षामें इसके पाँच भेद हैं ।

जिसके उदयसे दानकी इच्छा रहते हुए और देय—सामग्रीके रहते हुए भी दान न कर सके, उसको दानान्तराय कहते हैं । जिसके उदयसे निमित्त मिलनेपर भी लाभ न हो सके, उसको लाभान्तराय कहते हैं । भोग्य—सामग्रीके उपस्थित रहनेपर भी जिसके उदयसे उसको भोग न सके, उसको भोगान्तराय कहते हैं । उपस्थित उपभोग्य सामग्रीका भी जिसके उदयसे जीव उपभोग न कर सके उसको उपभोगान्तराय कहते हैं । इसी प्रकार जिसके उदयसे वीर्य-उत्साह शक्तिका घात हो, अथवा वह प्रकट ही न हो, उसको वीर्यान्तराय कहते हैं ।

भाष्यम्—उक्तः प्रकृतिबन्धः । स्थितिवन्धं वक्ष्यामः ।

अर्थ—इस अध्यायकी आदिमें बन्धके चार भेद बताये थे । उनमेंसे पहले भेद—प्रकृति-बन्धका वर्णन हो चुका । उसके अनन्तर स्थितिवन्धका वर्णन समयप्राप्त है । अतएव क्रमानुसार अब उसीका वर्णन यहाँसे करेंगे ।

स्थिति दो प्रकार की है,—उत्कृष्ट और जघन्य । दोनोंके मध्यके भेद अनेक हैं, जोकि दोनोंके मालूम हो जानेपर स्वयं समझमें आ जाते हैं । अतएव दो भेदोंमेंसे पहले उत्कृष्ट स्थितिको बताते हैं । तथा उपर्युक्त अष्टविध प्रकृतियोंमेंसे किस किसकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी कितनी होती है—बँधती है, इस बातको बतानेके लिये भूत्र कहते हैंः—

सूत्र—आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—आदितस्तिसृणां कर्मप्रकृतीनां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेद्यानामन्तरायप्रकृतेश्च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य परा स्थितिः ॥

अर्थ—आदिसे लेकर तीन कर्मप्रकृतियोंकी—जिस क्रमसे ऊपर जिन आठ प्रकृतियोंको गिनाया है, उस क्रमके अनुसार उनमेंसे प्रथम द्वितीय और तृतीय प्रकृति अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण और वेदनीयकर्मकी तथा आठवें अन्तरायकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटीकोटी सागरकी है ।

भावार्थ—प्रतिक्षण जो कर्मोंका बन्ध होता है, उसमें स्थितिका भी बँध होता है । सो इन चार कर्मोंमेंसे प्रत्येककी स्थिति ज्यादासे ज्यादा ३० कोटीकोटी सागर तककी एक क्षणमें बँध सकती है । अर्थात् इन चार कर्मोंमेंसे एक क्षणका बँधा हुआ कोई भी कर्म जीवके साथ ३० कोटीकोटी सागर तक रह सकता है ।

मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैंः—

सूत्र—सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १६ ॥

भाष्यम्—मोहनीयकर्मप्रकृतेः सप्तति सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥

१— एक कोटीको एक कोटीसे गुणा करनेपर जो गुणनफल हो, उसको कोटीकोटी कहते हैं । सागर उपमानके भेदोंमेंसे एक भेद है ।

अर्थ—मोहनीयर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटीकोटी सागरकी है ।

भावार्थ—प्रत्येक कर्मका बच प्रति समय होता है, ऐसा पहले कह चुके हैं । उनमें मोहनीयका भी बच होता है । अब यहाँपर स्थितिका प्रकरण है, अतएव उस बचकी स्थिति बताते हैं, कि एक क्षणमें बँधनेवाला मोहनीयकर्म ७० कोटीकोटी सागर तक आत्माके साथ सम्बद्ध रह सकता है । यह स्थिति मोहनीयके दो भेदोंमें से दर्शनमोहनीयकी है ।

नामकर्म और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—नामगोत्रयोर्विंशति ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नामगोत्रप्रकृत्योर्विंशति सागरोपमकोटीकोट्य परा स्थिति ॥

अर्थ—नामकर्मप्रकृति अथवा गोत्रकर्मप्रकृतिका जो बच हुआ करता है, उसमें स्थिति बच उपाद से उपाद बीस कोटीकोटी सागर तकका हो सकता है ।

आयुर्कर्मकी स्थिति बताते हैं—

सूत्र—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ॥ १८ ॥

भाष्यम्—आयुष्कप्रकृतेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परा स्थिति ॥

अर्थ—आयुर्कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति केवल ३३ सागरकी है ।

इस प्रकार आठों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बताया, अब नवम स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये लावणार्थ पहले वेदनीयकर्मकी स्थिति दिखानेवाला सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १९ ॥

भाष्यम्—वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादश मुहूर्ता स्थितिरिति ॥

अर्थ—वेदनीयकर्मकी जन्य स्थितिका प्रमाण बारह मुहूर्त है । अर्थात् एक क्षणमें बँधनेवाले वेदनीयकर्मका स्थितिबच कमसे कम होगा, तो बारह मुहूर्तका अनश्य होगा, इससे कम वेदनीयका स्थितिबच नहीं हो सकता ।

नामकर्म और गोत्रकर्मकी जन्य स्थिति बताते हैं—

सूत्र—नामगोत्रयोरष्टौ ॥ २० ॥

भाष्यम्—नामगोत्रप्रकृतेरष्टौ मुहूर्ता अपरा स्थितिर्मवति ॥

अर्थ—नामकर्म और गोत्रकर्मकी जन्य स्थितिका प्रमाण आठ मुहूर्त है, अर्थात् इनका स्थितिबच इतनेसे कम नहीं हो सकता ।

बाकीके कर्मोंकी जन्य स्थिति किनकी है : उत्तर—

सूत्र—शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—वेदनीयनामगोत्रप्रकृतिभ्यः शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयायुष्का-
न्तरायप्रकृतीनामपरा स्थितिरन्तर्मुहूर्त भवति ॥

अर्थ—शेष शब्दसे ऊपर जिन प्रकृतियोंकी जवन्य स्थिति बता चुके हैं, उनसे बाकी प्रकृतियोंकी ऐसा अर्थ समझना चाहिये । अतएव वेदनीय नाम और गोत्रको छोड़कर बाकी ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय आयुष्क और अन्तराय इन कर्मोंका जवन्य स्थितिवंध अन्तर्मुहूर्तका हुआ करता है । अर्थात् इन कर्मोंका स्थितिवंध एक समयमें कमसे कम होगा, तो अन्तर्मुहूर्तका होगा, इसमें कम इनका स्थितिवंध नहीं हुआ करता ।

भावार्थ—यह वधका प्रकरण है, और कर्मोंका बंध प्रतिक्षण हुआ करता है । एक आयुर्कर्मको छोड़कर शेष सातों कर्म संमारी जीवके प्रतिप्रत्यय बंधको प्राप्त हुआ करते हैं । अतएव स्थितिवंधके जवन्य उत्कृष्ट प्रमाण बतानेका अभिप्राय भी यही समझना चाहिये, कि इस एक क्षणके बंधे हुए कर्मोंमें कमसे कम इतने काल तक या ज्यादासे ज्यादा इतने कालतक साथ रहनेकी योग्यता पड़ चुकी है । किंतु आयुर्कर्मकी स्थितिका प्रमाण बंधके समयसे नहीं लिया जाता, वह जीवके मरणके समयसे गिना जाता है ।

भाष्यम्—उक्त स्थितिवन्धः । अनुभागवन्धं वक्ष्यामः ॥

अर्थ—बंधके दूसरे भेदरूप स्थिति बंधका प्रकरण और वर्णन पूर्ण हुआ, अब क्रमानुसार यहाँसे अनुभागबंध—तीसरे भेदका वर्णन करेंगे । अतएव अनुभागका अर्थ अथवा लक्षण बतानेवाला सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—विपाकोऽनुभावः ॥ २२ ॥

भाष्यम्—सर्वासां प्रकृतीनां फलं विपाकोदयोऽनुभावो भवति । विविध पाको विपाकः । स तथा चान्यथा चेत्तथः । जीवः कर्मविपाकमनुभवन् कर्मप्रत्ययमेवानासोगवीर्यपूर्वकं कर्मसंक्रमं करोति । उत्तरप्रकृतिषु सर्वास्तु मूलप्रकृत्यभिज्ञास्तु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो विद्यते, वन्धविपाकनिमित्तान्यजातीयकत्वात् । उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययोः सम्यग्मि-
थ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च जात्यन्तरानुबंधविपाकनिमित्तान्यजातीयकत्वादेवसंक्रमो न विद्यते । अपवर्तनं तु सर्वासां प्रकृतीनां विद्यते । तदायुष्केण व्याख्यातम् ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियोंका जो फल होता है, उसको विपाक अथवा विपाकोदय कहते हैं । इसीका नाम अनुभाव अथवा अनुभागवन्ध है । वि शब्दका अर्थ है, विविध—अनेक प्रकारका और पाक शब्दका अर्थ है, परिणाम या फल । बंधे हुए कर्मोंका फल अनेक प्रकारका हुआ करता है, अतएव उसको विपाक कहते हैं । क्योंकि बंधके समय कर्मोंमें जैसी अनुभव-शक्तिका बंध होता है, उसका फल उस प्रकारका भी होता है और उसके प्रतिकूल अन्य प्रकारका भी हुआ करता है । जिस समय जीव कर्मोंके इस विपाकका अनुभव करता है, उसी समय वह उसको करता हुआ

ही कर्मोंका सक्रमण कर दिया करता है। इसका कारण कर्म ही है, और वह तभीतक होता है, जबतक कि पूर्वमें उसकी शक्तिका भोग नहीं किया गया हो। यह सक्रम मूल प्रकृतियोंसे अभिन्न सम्पूर्ण उत्तरप्रकृतियोंमें हुआ करता है, परन्तु मूलप्रकृतियोंमें नहीं होता। क्योंकि बन्धविपाक-के लिये जिस निमित्तकी आवश्यकता है, मूलप्रकृतियाँ उससे भिन्न जातिवाली हुआ करती हैं। उत्तरप्रकृतियोंमें भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका सक्रम नहीं होता। इसी प्रकार सम्पत्तिमयत्वात्वेदनीयका भी सक्रम नहीं होता, तथा आयुष्कर्ममें भी परस्पर सक्रम नहीं होता। क्योंकि जात्यन्तरसे सम्बन्ध रखनेवाले विपाकके लिये जिस निमित्तकी आवश्यकता है, ये उस जातिके नहीं हैं। ये उससे भिन्न जातिके हैं। अपवर्तन सभी प्रकृतियोंका हो सकता है। इस बातको आयुष्कर्मके द्वारा उसके सम्बन्धको लेकर पहले बता चुके हैं।

किस कर्मका विपाक किस रूपमें होता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—स यथानाम ॥ २३ ॥

भाष्यम्—सोऽनुभावो गतिनामादीनां यथानाम विपश्यते ।

अर्थ—गतिनामादि कर्मोंका अनुभाव उन प्रकृतियोंके नामके अनुसार ही हुआ करता है। उक्त सम्पूर्ण कर्मोंकी जैसी सज्ञा है, और उसके अनुसार जैसा उनका अर्थ होता है, उसीके अनुसार उन कर्मोंका विपाक भी होता है।

नामके अनुरूप विपाक होजानेके अनन्तर उन कर्मोंका क्या होता है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥

भाष्यम्—ततश्चानुभावात्कर्मनिर्जरा भवतीति । निर्जरा क्षयो वेदनेत्येकार्थः । अत्र च शब्दो हेत्वन्तरमपेक्षते-तपसा निर्जरा चेति वक्ष्यते ॥

अर्थ—जब उपर्युक्त कर्मोंका विपाक हो चुकता है—जब वे अपना फल दे छेते हैं, उसके अनन्तर ही उनकी निजरा होजाती है—आत्मासे सबध छोड़ कर वे निर्गोचर होजाते हैं—मिट जाते हैं। निर्जरा क्षय और वेदना ये शब्द एक ही अर्थके वाक्य हैं, इस सूत्रमें च शब्द जो दिया है, वह निर्जराके दूसरे भी हेतुका बोध करानेके लिये है। अर्थात् विपाकपूर्वक भी निर्जरा होती है, और दूसरी तरहसे अथवा अन्य कारणसे भी होती है। क्योंकि आगे चट्थर अध्याय ९ सूत्र ३ के द्वारा यह कहेंगे कि “तपसा निर्जरा च” अर्थात् तपसे निर्जरा भी होती है।

भादार्थ—निर्जरा शब्दका अर्थ बंधे हुए कर्मोंका क्रमसे आत्मासे सम्बन्ध छूट जाना है। यह दो प्रकारसे होती है। एक तो यथाकाल और दूसरी प्रयोगपूर्वक। कर्म अपना जब फल दे चुकते हैं, उसके अनन्तर ही वे आत्मासे सम्बन्ध छोड़ देते हैं, यह यथाकाल निर्जरा है। इस तरहकी निर्जरा सभी संसारी जीवोंके और सदाकाल हुआ करती है, क्योंकि बंधे हुए कर्म अपने अपने समयपर फल देकर निर्जीर्ण होते ही रहते हैं। अतएव इसको निर्जरा-तत्त्वमें नहीं समझना चाहिये। दूसरी तरहकी निर्जरा तप आदिके प्रयोग द्वारा हुआ करती है। यह निर्जरा-तत्त्व है, और इसी लिये मोक्षका कारण है। इस प्रकार दोनोंके हेतुमें और फलमें अन्तर है, फिर भी वे दोनों ही एक निर्जरा शब्दके द्वारा ही कही जाती हैं। अतएव च शब्दके द्वारा हेत्वन्तरका बोध कराया है।

भाष्यम्—उक्तोऽनुभावबन्धः। प्रदेशबन्धं वक्ष्यामः।

अर्थ—इस प्रकार अनुभावबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ। अब क्रमानुसार चौथे प्रदेशबन्धका वर्णन होना चाहिये। अतएव उसका ही वर्णन करते हैं।—

सूत्र—नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढ-स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—नामप्रत्ययाः पुद्गला बध्यन्ते। नाम प्रत्यय एषां ते इमे नामप्रत्ययाः। नाम-निमित्ता नामहेतुका नामकारणा इत्यर्थः। सर्वतस्तिर्यग्ध्वमधश्च बध्यन्ते। योगविशेषात् कायवाङ्मनः कर्मयोगविशेषाच्च बध्यन्ते। सूक्ष्मा बध्यन्ते न वादराः। एकक्षेत्रावगाढा बध्यन्ते न क्षेत्रान्तरावगाढाः। स्थिताश्च बध्यन्ते न गतिसमापन्नाः। सर्वात्मप्रदेशेषु सर्वप्रकृति-पुद्गलाः सर्वात्मप्रदेशेषु बध्यन्ते। एकैको ह्यात्मप्रदेशोऽनन्तैः कर्मप्रदेशैर्बद्धः। अनन्तानन्त-प्रदेशाः कर्मग्रहणयोग्याः पुद्गला बध्यन्ते न सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशाः। कुतोऽग्रहण-योग्यत्वात् प्रदेशानामिति एष प्रदेशबन्धो भवति ॥

अर्थ—जो पुद्गल कर्मरूपसे आत्माके साथ बंधको प्राप्त होते हैं, उन्हींकी अवस्था विशेषको प्रदेशबंध कहते हैं। अतएव इस सूत्रमें उसी अवस्थाविशेषको दिखाते हैं।—बंधको प्राप्त होनेवाले पुद्गल नामप्रत्यय कहे जाते हैं। नाम ही है प्रत्यय—कारण जिनका उनको कहते हैं नामप्रत्यय। अतएव नामप्रत्यय नामनिमित्त नामहेतुक और नामकारण ये सभी शब्द समानार्थके बोधक हैं। नाम शब्दसे सम्पर्ण कर्मप्रकृतियोंका ग्रहण होता है। क्योंकि प्रदेश-बंधमें कर्म कारण है। कर्म रहित जीवके उसका बंध नहीं हुआ करता। तथा ये पुद्गल तिर्यक् ऊर्ध्व और अधः सभी तरफसे बंधते हैं, न कि किसी भी एक ही नियत दिशासे। और बंधका-कारण योगविशेष है। योगका लक्षण पहले बता चुके हैं, कि मन वचन और कायके निमित्तसे जो कर्म—आत्मप्रदेशोंको परिस्पन्दन होता है, उसको योग कहते हैं। इसी योगकी विशेषता—

तरतमताके अनुसार ही प्रदेशबध होता है । योग रहित जीवोंके वह नहीं होता । तथा ये बँधनेवाले सभी पुद्गल सूक्ष्म हुआ करते हैं, न कि बाहर । इसी प्रकार वे एक ही क्षेत्रमें अवगाह करनेवाले होते हैं, न कि क्षेत्रान्तरमें भी अवगाह करनेवाले । तथा स्थितिशील हुआ करते हैं, न कि गतिमान् । एव सभी कर्मप्रकृतियोंके योग्य पुद्गल जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंपर बँधने हैं । ऐसा नहीं है, कि जीवके कुछ प्रदेशोंपर ही बध होता हो और कुछ बिना बधके भी रहते हों, और न ऐसा ही है, कि किसी प्रदेशपर किसी प्रकृतिका बध हो, और दूसरे प्रदेशोंपर दूसरी दूसरी प्रकृतियोंके योग्य पुद्गलोंका बध हो । किन्तु सभी प्रदेशोंपर सभी प्रकृतियोंके योग्य पुद्गलोंका बध हुआ करता है । इस हिसाबसे यदि देखा जाय, तो आत्माका एक एक प्रदेश अनन्त कर्मप्रदेशोंके द्वारा बद्ध है । कर्म ग्रहणके योग्य जो पुद्गल बँधते हैं, उनकी सत्त्वा अनन्तान्त है । सम्भवेय असत्त्वेय आर अनन्त प्रदेश बधको प्राप्त नहीं हुआ करते । क्योंकि उनमें ग्रहणशी योग्यता नहीं है । इस प्रकारसे जो कर्मग्रहणके योग्य पुद्गल प्रदेशोंका जीव प्रदेशोंके साथ बध होता है, इसीको प्रदेशबध कहते हैं ।

भावार्थ—प्रतिक्षण बँधनेवाले अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओंके सम्बन्धविशेषको प्रदेश-बध कहते हैं । इसका विशेष स्वरूप और इसके कारण आदि ऊपर लिखे अनुसार हैं । इसप्रकार उधके चौथे भेदका स्वरूप बताया ।

भाष्यम्—सर्वं चेतव्यप्रविध कर्म पुण्य पाप च ॥ तत्र—

अर्थ—ऊपर सम्पूर्ण कर्मोंके आठ भेद बताये हैं । इनके सामान्यतया दो भेद हैं—एक पुण्य और दूसरा पाप । अर्थात् आठ प्रकारके कर्मोंमेंसे कोई पुण्यरूप हैं, और कोई पापरूप हैं । पुण्यरूप कौन कौन हैं ? और पापरूप कौन कौन हैं ? इस बातको बनानेके लिये सूत्र रहते हैं ।—

सूत्र—सद्वैद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् २६

भाष्यम्—सद्वैद्य भूतव्रत्यनुकम्पाविदेतुक, सम्यक्त्ववेदनीयम् केचलिधृतादीनां वर्णाश्रमादिदेतुकम्, हास्यवेदनीय रतिवेदनीय, पुरुषवेदनीय शुभमायुष्क मानुष देव च, शुभनाम गतिनामादीनां, शुभ गोत्रमुत्रैगोत्रमित्यर्थः । इत्येतदष्टविध कर्म पुण्यम्, अतोऽन्यत्पापम् ॥

इति सत्त्वाध्यागमेऽर्हत्प्रवचनसमग्रेऽष्टमोऽध्याय समाप्तः ।

अर्थ—भूत-प्राणिमात्रपर अनुकम्पा करनेमें और कृती पुरुषोंपर विशेषतया अनुकम्पा करनेमें तथा इनके सिवाय और भी जो दान आदि कारण बताये हैं, उन कारणोंके द्वारा निस्सरा बध होता है, ऐसा सद्वैद्यकर्म, और केवलीभगवान् तथा श्रुत आदिकी स्तुति भक्ति प्रशंसा

पूजा आदि करनेसे जो निर्वृत्त होता है, ऐसा सम्यक्त्ववेदनीयकर्म, तथा नोकपायके भेदोंमेंसे तीन हास्यवेदनीय, रतिवेदनीय, और पुरुषवेदनीय, एवं शुभ आयु—मनुष्यआयु और देवायु, और शुभनाम—गतिनामकर्म आदिमेंसे जो शुभरूप हों, तथा शुभगोत्र अर्थात् उच्चगोत्र कर्म । ये आठ कर्म पुण्यरूप हैं । इनके सिवाय पूर्वोक्त कर्मोंमेंसे जो बाकी रहे, वे सब पाप-कर्म हैं ।

भावार्थ—ऊपर जो आठ कर्म बताये हैं, वे प्रकृतिबंधके भेद हैं । तथा वे मूलभेद हैं । उनके उत्तरभेदोंमेंसे कुछ कर्म तो ऐसे हैं, जोकि पुण्य हैं, उनका फल जीवोंको इष्ट है । और कुछ इसके प्रतिकूल है । जो पुण्यरूप हैं उनके भी आठ भेद हैं । जैसा कि इस सूत्रमें गिनाया गया है । इनमें भी शुभ आयु और शुभ नाम ये दो प्रकृति तो पिंडरूप हैं—अनेक प्रकृतियोंके समूहरूप हैं, और बाकी छह अपिंडरूप हैं—एक एक भेदरूप ही हैं । शुभ आयुसे देवायु और मनुष्यायुका ही ग्रहण है । किन्तु शुभ नाम शब्दसे गति जाति शरीरादिकमेंसे जो जो शुभरूप हैं, उन सभीका आगमके अनुसार ग्रहण करलेना चाहिये ।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका जिसमें बंध-तत्त्वका वर्णन किया गया है,
ऐसा आठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

१—सम्यक्त्वप्रकृति दर्शनमोहनीयका एक भेद है । इसका बंध नहीं होता, किन्तु सम्यग्दर्शन होनेपर मिथ्यात्व-प्रकृतिके ही तीन भाग हो जाते हैं । अतः ऐसा कहा गया है । २—दिगम्बर-सम्प्रदायमें तिर्यगायुको भी पुण्य ही माना है, परन्तु तिर्यग्गतिको पाप कहा है, क्योंकि किसी भी तिर्यक्को मरना इष्ट नहीं है । परन्तु किसी जीवको तिर्यक् होना भी पसंद नहीं है । ३—यह पिंडरूप एक भेद है । जो जो नामकर्मकी शुभप्रकृति हैं, उन सबका इस एक ही भेदमें अन्तर्भाव हो जाता है । ४—दिगम्बर-सम्प्रदायमें धातिकर्मका कोई भी भेद पुण्य नहीं माना है, अतएव वे ऐसा सूत्रपाठ करते हैं—“ सद्देयशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ ”

नवमोऽध्यायः ।

भाष्यम्—उक्तो बन्ध । सवर वक्ष्याम ।

अर्थ—ऊपर आठवें अध्यायमें बन्धनत्वका वर्णन हो चुका । उसके अनन्तर सवरका वर्णन होना चाहिये । अतएव क्रमानुसार अब उसीका वर्णन करते हैं । उसमें सबसे पहले सवरका लक्षण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आस्रवनिरोधः सवर ॥ १ ॥

भाष्यम्—यद्योक्तस्य काययोगादेर्द्विचत्वारिंशद्विधस्य निरोधः सवरः ।

अर्थ—पहले काययोग आदि आस्रवके व्यालीम भेद गिनाये हैं । उनके निरोधको सवर कहते हैं ।

भावार्थ—कर्मोंके आनेके मार्गको आस्रव कहते हैं । जिन जिन कारणोंसे कर्म आते हैं, वे पहले बताये जा चुके हैं । आस्रवके मूल ४२ भेदोंको भी उठे अध्यायमें दिखा चुके हैं । यहाँ पर सवरका प्रकरण है । आस्रवका ठीक प्रतिपक्षी सवर होता है, अतएव जिनसे कर्म आते हैं, उनसे प्रतिकूल कार्य करनेपर सवरकी सिद्धि होती है, और इसी लिये किन किन कारणोंसे कर्मोंका आना रुकता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीपहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

भाष्यम्—स एष सवरः एभिर्गुण्यदिभिरभ्युपायेर्भवति । किं चान्यत्—

अर्थ—उपर्युक्त आस्रवके निरोधरूप सवरकी सिद्धि इन कारणोंसे हुआ करती है—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीपहजय, और चारित्र ।

भावार्थ—गुप्ति आदिके द्वारा कर्मोंका आना रुकता है । गुप्ति आदिका स्वरूप क्या है, सो आगे चलकर इसी अध्यायमें क्रमसे बतावेंगे ।

गुप्ति आदिके सिवाय और भी जो सवरकी सिद्धिका कारण है, उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तपो द्वादशविध वक्ष्यते । तेन सवरो भवति निर्जरा च ॥

अर्थ—तपके बारह भेद आगे चलकर इसी अध्यायके सूत्र १९-२० के द्वारा बतावेंगे । इस तपके द्वारा भी सवर होता है, किंतु तपम यह विशेषता है, कि इससे सवर भी होता है और निर्जरा भी होती है ।

भावार्थ—तप दो कार्योंका कारण है । अतएव उसका केवल संवरके कारणोंसे पृथक् उल्लेख किया है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता गुप्त्याविभिरभ्युपायैः सवरो भवतीति । तत्र के गुप्त्यादय इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—आपने ऊपर कहा है, कि गुप्ति आदि उपायोंसे संवरकी सिद्धि हुआ करती है । परन्तु यह नहीं मालूम हुआ, कि वे गुप्ति आदि क्या हैं ? उनका स्वरूप या लक्षण क्या है ? अतएव उसको बतानेके लिये ही सूत्र कहते हैं । उनमें से सबसे पहले गुप्तिका लक्षण बताते हैं—

सूत्र—सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—सम्यगिति विधानतो ज्ञात्वाभ्युपेत्य सम्यग्दर्शनपूर्वकं त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो गुप्तिः ।—कायगुप्तिर्वागुप्तिर्मनोगुप्तिरिति । तत्र शयनासनादाननिक्षेपरथानचक्रमणेषु कायचेष्टानियमः कायगुप्तिः । याचनपृच्छनपृष्टव्याकरणेषु वाङ्मनियमो मौनमेव वा वाग्गुप्तिः । सावद्यसंकल्पनिरोध कुशलसंकल्पः कुशलाकुशलसंकल्पनिरोध एव वा मनोगुप्तिरिति ॥

अर्थ—ऊपर योगका स्वरूप बता चुके हैं ।—उसके तीन भेद हैं—काययोग वचनयोग और मनोयोग । इन तीनों ही प्रकारके योगका भलेप्रकार—समीचीनतया निग्रह—निरोध होनेको गुप्ति कहते हैं । सूत्रमें सम्यक् शब्दका प्रयोग जो किया है, उसका तात्पर्य यह है, कि विधिपूर्वक, जानकरके, स्वीकार करके, और सम्यग्दर्शनपूर्वक । इस प्रकारसे जो योगोंका निरोध किया जाता है, तो वह गुप्ति है अन्यथा नहीं । विषयकी अपेक्षासे गुप्तिके तीन भेद हैं—कायगुप्ति, वाग्गुप्ति, और मनोगुप्ति ।

सोनेमें, बैठनेमें, ग्रहण करनेमें, रखनेमें, खड़े होनेमें, या घूमने फिरनेमें जो शरीरकी चेष्टा हुआ करती है, उसके निरोध करनेको कायगुप्ति कहते हैं । याचना करने—मँगनेमें या पूछनेमें अथवा पछे हुंका व्याख्यान करनेमें यद्वा निश्चित आदिके द्वारा उसका स्पष्टीकरण करनेमें जो वचनका प्रयोग होता है, उसका निरोध करना वाग्गुप्ति है । अथवा सर्वथा वचन निकालनेका त्याग कर मौन—धारण करनेको वाग्गुप्ति कहते हैं । मनमें जितने सावद्य संकल्प हुआ करते हैं, उनके त्याग करनेको अथवा शुभ संकल्पोंके धारण करनेको यद्वा कुशल और अकुशल—दोनों ही तरहके—संकल्पमात्रके निरोध करनेको मनोगुप्ति कहते हैं ।

भावार्थ—मन वचन और कायके द्वारा होनेवाले योगके निरोधको गुप्ति कहते हैं । परन्तु यह निरोध अविधि अज्ञान अस्वीकार और मिथ्यादर्शन पूर्वक हो, तो वह गुप्ति नहीं कहा जा सकता है । इस भावको दिखानेके लिये ही सूत्रमें सम्यक् शब्दका प्रयोग किया है । अन्यथा आत्मघात आदिको भी गुप्ति कहा जा सकता था । अथवा बालतप करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके मौन—धारणको भी वाग्गुप्ति कह सकते थे । इत्यादि ।

ये गुप्तियाँ सवरका मुरय उपाय हैं । अतएव मुमुक्षुओंको इनका भले प्रकार पालन करना चाहिये । किंतु जो इनके पालन करनेमें असक्त है, उन्हें समितियोंका पालन अवश्य करना चाहिये । अतएव गुप्तियोंके अनन्तर समितियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—ईर्याभाषेपणादाननिक्षेपोत्सर्गःसमितयः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेपणा, सम्यगादाननिक्षेपो, सम्यगुत्सर्ग इति पञ्चसमितयः । तत्रावश्यकार्थे सयमाय सर्वतो युगमात्रनिरीक्षणायुक्तस्य शनैर्न्यस्तपदा गतिरीर्या समितिः । हितमितासद्विधानाद्यर्थनियतभाषण भाषासमिति । अन्नपानरजो हरणपात्रचीवरादीना धर्मसाधनानामाश्रयस्य चोद्भूतोत्पादनैपणादोपवर्जनमेपणासमिति । रजोहरणपात्रचीवरादीना पीठफलकादीनां चावश्यकार्थ निरीक्ष्य प्रमृज्य चादाननिक्षेपो आदाननिक्षेपणासमिति । स्थण्डिले स्थावरजङ्गमजन्तुवर्जिते निरीक्ष्य प्रमृज्य च मूत्रपुरी-पादीनामुत्सर्ग उत्सर्गसमितिः ।

अर्थ—समिति पाँच प्रकारकी है ।—ईर्या, भाषा, एपणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग । पूर्वसूत्रमें जो सम्यक् शब्द दिया है, उसकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती है । उसका सम्बन्ध यहाँ पर प्रत्येक शब्दके साथ करना चाहिये । जैसे कि सम्यगीर्या सम्यग्भाषा, सम्यगेपणा, सम्यगादाननिक्षेप, और सम्यगुत्सर्ग । इन पाँचोंका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है —

आवश्यक कार्यके लिये ही समयको सिद्ध करनेके लिये सब तरफ चार हाथ भूमिको देख कर धीरे धीरे पैर रखकर चलनेवाले साधुकी गतिको ईर्यासमिति कहते हैं ।

भाषार्थ—मुनिजन निरर्थक गमन नहीं किया करते, वे या तो आवश्यक कार्यके लिये गमन करते हैं, अथवा समय विशेषकी सिद्धिके लिये विहार किया करते हैं । सो भी सब तरफ देखकर और सामनेकी भूमिको अपने शरीर प्रमाण देखकर धीरे धीरे पैर रखते हुए इस तरहसे सावधानीके साथ चन्ते हैं, कि जिससे किसी भी जीवकी विराधना न हो जाय, इस अप्रमत्त-गमन करनेको ही ईर्यासमिति कहते हैं ।

हित मित असद्विषय और अनवद्य अर्थके प्रतिपादन करनेमें जो नियत है, ऐसे वचनको बोलनेको भाषा समिति कहते हैं । मोक्ष पुरुषार्थका साधन करनेवाले समयमें साधु ऐसे वचन बोलनेको समिति—समीचीन—मोक्षकी साधक प्रवृत्ति नहीं समझते, जोकि आत्मकल्याणके लक्ष्यको लेकर प्रवृत्त नहीं हुए हैं, या जो निष्प्रयोजन अपरिमितरूपसे बोले गये हों, अथवा जो श्रोताओं की निश्चय करानेवाले न हों, या सदेहननक अथवा सशयपूर्वक बोले गये हों, यद्वा जो पापरूप है —पाप कार्यके समर्थक है । अतएव इन चारों बातोंका लक्ष्य रखकर ही वे भाषाका प्रयोग करते हैं, और इसी लिये उनकी ऐसी अप्रमत्त-भाषाको भाषासमिति कहते हैं ।

अन्न—खाद्य सामग्री, पान—पेय पदार्थ, रजोहरण—जीव जन्तुओंको झाड़कर दूर करनेके लिये जो ग्रहण की जाती है, ऐसी एक प्रकारकी झाड़ू, पात्र—मिक्षाधारण करने आदिके योग्य वर्तन, चीवर—घोती डुपट्टा आदि वस्त्र इसी प्रकार और भी जो धर्मके साधन हैं, उनके धारण करनेवाले साधुका उनके धारण करनेमें उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंके त्यागका नाम एषणासमिति है^१। आगममें जो उत्पादनादिक दोष बताये हैं, उनको टालकर धर्मके साधनोंको धारण करने और भोजन पानमें प्रवृत्ति करनेको एषणासमिति कहते हैं।

जब आवश्यक कार्य करना हो, तब उसकी सिद्धिके लिये जो चीज उठानी या रखनी हो, उसको अच्छी तरह देख शोध कर उठाने धरनेको आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। अर्थात् आवश्यक कार्यके लिये उपर्युक्त रजोहरण पात्र चीवर आदिको अथवा काष्ठासन आदिकी फली—लकड़ीके तख्ते आदिको मल प्रकार देखकर और शोधकर उठाने या रखनेका नाम आदाननिक्षेपणसमिति है।

जहाँपर स्थावर—पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके एकेन्द्रिय जीव और द्वीन्द्रियादिक व्रस या जड़म जीव नहीं पाये जाते, ऐसे शुद्ध स्थण्डिल—प्रासुक स्थानपर अच्छीतरह देख कर और उस स्थानको शोधकर मल मूत्रका परित्याग करनेको उत्सर्गसमिति कहते हैं।

इस प्रकार संवरके कारणोंमेंसे पाँच समितियोंका स्वरूप कहा। अब उसके बाद क्रमा नुसार दश प्रकारके धर्मका स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्च न्यव्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—इत्येव दशविधोऽनगारधर्मः उत्तमगुणप्रकर्षयुक्तो भवति। तत्र क्षमा तितिक्षा सहिष्णुत्वं क्रोधनिग्रह इत्यनर्थान्तरम्। तत्कथं क्षमितव्यमिति चेदुच्यते। क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावाभावाचिन्तनात्, परैः प्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तत्वात्मनि भावचिन्तनाद्भावचिन्तनाद्वा क्षमितव्यम्। भावचिन्तनात् तावद्विद्यन्ते मध्येते दोषाः किमत्रासौ मिथ्या ब्रवीति क्षमितव्यम्। अभावचिन्तनादपि क्षमितव्यम्, नैते विद्यन्ते मयि दोषाः यान्नानादसौ ब्रवीति क्षमितव्यम्। किं चान्यत्—क्रोधदोषचिन्तनाच्च क्षमितव्यम्। क्रुद्धस्य हि विद्वेषासादनस्मृतिभ्रंशव्रतलोपादयो दोषा भवन्तीति। किं चान्यत्—बालस्वभावचिन्तनाच्च परोक्षप्रत्यक्षाक्रोगताडनमारणधर्मभ्रंशानामुत्तरोत्तररक्षार्थम्। बाल इति मूढमाह। परोक्षमाक्रोशति बाले क्षमितव्यमेव। एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति विप्रया च मां परोक्षमाक्रोशति न प्रत्यक्षमिति लाभ एव मन्तव्य इति। प्रत्यक्षमप्याक्रोशति बाले क्षमितव्यम्। विद्यत एवैतद्वालेषु। विप्रया च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति न ताडयति। एतदप्यस्ति बालोऽपि लाभ एव मन्तव्यः। ताडय-

१—ज्येताम्बर—सम्प्रदाय में यह प्राय ऊनका ही होता है, दिगम्बर—सम्प्रदायमें ऊनको अशुद्ध मानते हैं, अतएव मयूरपिच्छ की पिच्छी ही धारण की जाती है। २—दिगम्बर साधु वस्त्र और पात्र आदि परिग्रह नहीं रखते। ३—इसके लिये देखो श्रीवद्वेत्स्वध्यावार्कृत मूलाचार और पं० श्रवर आगाधरकृत अनगारधर्मामृत आदि।

त्यपि बाले क्षमितव्यम् । एष स्वभावा हि जाला भवन्ति । दिष्ट्या च मा तादयति न प्राणैर्वियोजयतीति । एतदपि विद्यते बालेऽप्यिति । प्राणैर्वियोजयत्यपि बाले क्षमितव्यम् । दिष्ट्या च मा प्राणैर्वियोजयति न धर्माद् भ्रजयतीति क्षमितव्यम् । एतदपि विद्यते बालेऽप्यिति लाभ एव मन्तव्यः । किं चान्यत्—स्वकृतकर्मफलाभ्यागमात् । स्वकृतकर्म फलाभ्यागमोऽयं मम, निमित्तमात्रं पर इति क्षमितव्यम् । किं चान्यत्—क्षमागुणाद्यानायासा दाननुसृत्य क्षमितव्यमेवेति क्षमाधर्मः ॥ १ ॥

अर्थ—उपर्युक्त सत्त्वका कारणभूत धर्म दश प्रकारका हैं—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आर्ति-
हृय, और उत्तम ब्रह्मचर्य । पहले त्रितिकोंके भेद बताते हुए दो भेद बता चुके हैं—सागार और अनगार । उनमेंसे जो अनगार—गृहरहित साधु—पूर्ण सयत हैं, उनके ही ये दश प्रकारके धर्म उत्तम गुणसे युक्त और प्रकृततया—मुत्पद्यतया पाये जाते हैं । दश धर्मोंका स्वरूप क्या है, सो बतानेके लिये क्रमसे उनका वर्णन करनेकी इच्छासे सत्रसे पहले उनमेंसे क्षमा—धर्मका स्वरूप बताते हैं—

क्षमा तितिक्षा सहिष्णुता और क्रोधका निग्रह ये सब शब्द एक ही अर्थसे वाचक हैं । परन्तु यह क्षमा किम तरहसे धारण करनी चाहिये, तो उसकी रीति यह है, कि एक तो क्रोध उत्पन्न होनेके जो निमित्त कारण है, उनके सद्भावना और अभावका अपनेमें चिन्तन करना चाहिये । क्योंकि उन कारणोंके अपनेमें अस्तित्व या नास्तित्वका बोध हो जानेसे इस धर्मकी सिद्धि हो सकती है । यदि कोई दूसरा व्यक्ति ऐसे कारणोंका प्रयोग करे, कि जिनसे निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हो सकता है, तो अपनेमें उन बातोंका विचार करना चाहिये, कि ये बातें मुझमें हैं अथवा नहीं । विचार करते हुए यदि सद्भाव पाया जाय, तो भी क्षमा—धारण करनी चाहिये, और यदि अभाव प्रतीत हो, तो भी क्षमा धारण ही करनी चाहिये । सद्भावके पक्षमें तो क्षमा—धारण करनेके लिये सोचना चाहिये, कि जिन दोषोंका यह वर्णन कर रहा है, वे सब मुझमें हैं ही, इसमें यह मूढ़ क्या बोलता है ? कुछ भी नहीं । अतएव इसपर क्रोध करना व्यर्थ है, मुझे क्षमा—धारण ही करनी चाहिये । अभावके पक्षमें भी क्षमा—धर्मकी ही स्वीकार करना चाहिये । सोचना चाहिये, कि यह जिन दोषोंकी अज्ञानताके कारण मुझमें बता रहा है, वे दोष मुझमें हैं ही नहीं । अतएव क्रोध करनेकी क्या आवश्यकता है ? इसके अज्ञानपर क्षमा—धारण करना ही उचित है । इस प्रकार अपनेमें दूसरोंके दोष प्रयुक्त दोषोंके भाव और अभावका चिन्तन करनेसे क्षमा—धर्म धारण किया जाता है । इसके विनाय क्षमाके विपरीत जोषणायके दोषोंका विचार करनेसे भी क्षमाकी सिद्धि होती है । विचारना चाहिये, कि जो मनुष्य जोषी हुआ करता है, उसमें विद्वय आमादन स्मृतिभ्रश और मनलोप आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाया करते हैं । उसमें हर एक मनुष्य द्वेष करने लगता है, अन्याता या अनादर किया करता है । तथा उसकी स्मृति—शक्ति नष्ट हो जाती है, और इसी लिये कदाचित् वह उस कष्टोंके वश होकर मन भग भी कर बैयता है । क्योंकि जोषी जीवोंसे चिन्तन नहीं रहता ।—अपने

स्वरूप पद आदिका स्मरण नहीं रहता । इस प्रकार क्रोधके दोष चिन्तनसे क्षमा—धारण करनी चाहिये । इसके सिवाय बाल—स्वभावका विचार करनेसे भी क्षमाकी सिद्धि होती है । यहाँपर बालसे प्रयोजन मूढ़ पुरुषके बतानेका है । ऐसे मूढ़ पुरुषोंके कार्यों—परोक्ष और प्रत्यक्ष आक्रोश—क्रोध तथा ताड़न और मारण एवं धर्मभ्रंशके विषयमें उत्तरोत्तरकी रक्षाके सम्बन्धको लेकर क्षमा—धर्मकी सिद्धिके लिये विचारना चाहिये । यदि कोई मूढ़ जीव परोक्षमें आक्रोश वचन कहे, तो क्षमा ही धारण करनी चाहिये । सोचना चाहिये, कि मूढ़ पुरुषोंका ऐसा ही स्वभाव होता है । भाग्यसे यह अच्छा ही है, जोकि यह मेरे प्रति परोक्षमें ही ऐसे वचन निकाल रहा है, किन्तु प्रत्यक्षमें कुछ भी आक्रोश नहीं कर रहा है । यह उल्टा मेरे लिये लाभ ही है । कदाचित् कोई मूढ़ प्रत्यक्षमें भी आक्रोश करने लगे, तो भी क्षमा—धारण करनी चाहिये । क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति मूढ़ पुरुषोंमें हुआ ही करती है । सोचना चाहिये, कि यह उल्टा अच्छा ही हुआ है, जो केव प्रत्यक्षमें आक्रोश ही यह कर रहा है, मुझे पीट नहीं रहा है । क्योंकि मूढ़ पुरुषोंमें ऐसा भी देखा जाता है—वे पीटते भी हैं । मुझे पीट नहीं रहा है, यह मेरे लिये लाभ ही है । यदि कोई मूढ़ पुरुष पीटने भी लगे, तो भी साधुओंको क्षमा ही धारण करनी चाहिये । सोचना चाहिये, कि ऐसा मूढ़ पुरुषोंका स्वभाव ही होता है, कि वे पीटने भी लगते हैं । सौभाग्यसे यह ठीक ही हुआ है, जो यह मुझे पीट ही रहा है, किन्तु प्राणोंसे वियुक्त नहीं कर रहा है । क्योंकि मूढ़ पुरुषोंका तो ऐसा भी स्वभाव हुआ करता है, कि वे प्राणोंका भी अपहरण कर लेते हैं । सो यह प्राणोंका व्यपरोपण नहीं करता यह लाभ ही है । यदि कदाचित् कोई मूढ़ प्राणोंसे भी वियुक्त करने लगे, तो भी विचार कर क्षमा ही धारण करनी चाहिये । उस अवस्थामें विचारना चाहिये, कि यह सौभाग्यसे मेरे प्राणोंका वियोगमात्र ही कर रहा है, धर्मसे मुझे भ्रष्ट नहीं करता, यह अच्छा ही करता है । अतएव इसपर क्रोध करनेकी क्या आवश्यकता है ? किन्तु क्षमा ही धारण करनी चाहिये । कोई कोई मूढ़ पुरुष तो धर्मसे भी भ्रष्ट कर दिया करते हैं, सो यह नहीं कर रहा है, यह हमारे लिये उल्टा महान् लाभ ही है ।

इस प्रकार मूढ़ पुरुषोंके परोक्ष प्रत्यक्ष आक्रोश वचन और ताड़न मारण तथा धर्मभ्रंशके विषयमें क्रमसे उत्तरोत्तर विचार करनेपर क्षमा—धर्मकी सिद्धि हुआ करती है । इसके सिवाय अपने पूर्वकृत—कर्मके फलका यह आगमन—उदय—काल है, ऐसा विचार करनेसे भी क्षमाकी सिद्धि होती है । जब क्षमाके विरुद्ध क्रोधोत्पात्तिके निमित्त उपस्थित हों, उस समय ऐसा विचार करनेसे भी क्षमा—धर्म स्थिर रहा करता है, कि मैंने जो पहले कर्मोंका बन्ध किया है, उनके फलको भोगनेका यह समय है—अब वे फल देनेके लिये आकर उपस्थित—उद्यत हुए हैं । अतएव यह तो मेरे कर्मोंका ही दोष है, जो यह मूढ़ मेरी निन्दा आदि कर रहा है । क्योंकि निन्दा होनेमें मुख्य कारण तो मेरे कर्मोंका उदय ही है, यह मूढ़ या कोई भी पर पुरुष तो

केवल उसके उदयमें निमित्तमात्र ही हुआ करता है, अथवा हो सकता है। ऐसा विचार करके पर जीवोंपर क्षमा ही धारण करनी चाहिये ।

इसके सिवाय क्षमाके गुणोंका चिन्तन करनेसे भी उसकी सिद्धि हुआ करती है । यथा—क्षमा धारण करनेमें किसी भी प्रकारका श्रम नहीं करना पड़ता, न किसी प्रकारका श्रेय ही होता है, एव इसके लिये किसी परनिमित्तकी आवश्यकता भी नहीं है, इत्यादि । इसी प्रकार और भी क्षमाके गुणोंका पुन पुन विचार यदि किया जाय, तो उससे क्षमा—धर्म सिद्ध हुआ करता है । अतएव सबके अभिलाषी साधुओंको इन गुणोंका चिन्तन करके तथा उपर्युक्त उपायोंका अवलम्बन लेकर क्षमाकी सिद्धिके लिये अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये ॥१॥

भाष्यम्—नीचैवस्यस्तुत्सेकौ मार्दवलक्षणम् । मृदुभाव मृदुकम च मार्दव मदनमिहो मानविधातश्चेत्यर्थः । तत्र मानस्येमान्यष्टौ स्थानानि भवन्ति । तद्यथा—जाति कुल रूपमैश्वर्यं विज्ञानं श्रुतं लाभो वीर्यमिति । णभिर्जात्यादिभिरष्टाभिर्मदस्थानेभ्यस्त परात्मानिष्ठाप्रज्ञा साभिरतस्तीव्रावकारोपहतमतिरिहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपविश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते । तस्मादिषां मदस्थानानां निग्रहो मार्दवं धर्म इति ॥ १ ॥

अर्थ—बड़ोंका विनय करना—उनके समक्ष नम्रता धारण करना और उत्तेक—उद्वेगता—उद्धततासे रहित प्रवृत्ति करना मार्दव—धर्मका लक्षण है । मृदुभाव—कोमलता अधवा मृदुधर्म—नम्र व्यवहारको मार्दव कहते हैं । जिसका तात्पर्य मदका निग्रह अथवा मानकपायका विनाश—नाश है । अर्थात् मान कपायके अमान या त्यागको मार्दव—धर्म कहते हैं ।

मानकपायके आठ स्थान माने हैं, जोकि इस प्रकार हैं—जाति कुल रूप ऐश्वर्य विज्ञान श्रुत लाभ और वीर्य । अर्थात् इन आठ विषयोंकी अपेक्षा लेकर—इनके विषयमें मान कपाय उत्पन्न हुवा करता है । इनमेंसे मातृशत्रु जाति और पितृशत्रु कुल कहते हैं । शारीरिक सौन्दर्यको रूप और धनधायादि विभूतिको ऐश्वर्य कहते हैं । बुद्धिबल अथवा अनुमवरूप ज्ञानको विज्ञान और शास्त्रके आधारसे हुए पदार्थ—ज्ञानको श्रुत कहते हैं । यद्वा विज्ञान शब्दसे मतिज्ञानको और श्रुत शब्दसे श्रुतज्ञानको समझना चाहिये । इच्छित वस्तुकी प्राप्तिको लाभ और उत्साह शक्ति अथवा बल पराक्रमको वीर्य कहते हैं । ये जाति आदि आठों ही विषय मदकी उत्पत्तिके स्थान हैं । इनके निमित्तसे जीव मत्त होकर दूसरेकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करनेमें अत्यन्त रत हो जाया करता है, तथा तीव्र अहंकारके

१—स्वाकरणके अनुसार मार्दव शब्द दो प्रकारसे निश्चित होता है, सो ही यहाँ बताया है क्योंकि मृदु शब्दसे माव और कर्म अथमें तद्विपक्ष अणु प्रत्यय होकर यद शब्द बनता है । मृदोभाव मार्दवम्, तथा मृदोः कर्म मार्दवम् । २—दिग्भर-संप्रदायमें आठ भेद इस प्रकार माने हैं—ज्ञान पूयता कुल जाति वत् शब्दित तप और शरीर । यथा—“ज्ञान पूजा कुल जाति वत्तमदि तपो यपु । अष्टाभाषित्य मानिन्य मममाहुर्गोमत्या ” ॥ २५ ॥ —स्वामि समंतभद्राचार्य—रत्नचरित्रावध्याचार ।

निमित्तसे उसकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है । इसी कारणसे वह जीव इस लोक और परलोक-में अशुभ फलको देनेवाले पाप-कर्मका बंध किया करता है । तथा इस मानके वशीभूत होकर ही उपदिश्यमान—उपदेशके योग्य—वास्तविक कल्याणको प्राप्त नहीं हुआ करता, अभिमानी मनुष्यको यदि हितका उपदेश दिया जाय, तो वह उसको ग्रहण नहीं किया करता । अतएव इन आठों मद-स्थानोंका निग्रह—दमन करना ही मार्दव—धर्म है ॥ २ ॥

भाष्यम्—भावविशुद्धिरविसंवादनं चार्जवलक्षणम् । ऋजुभाव ऋजुकर्म वार्जवं भावदोष-वर्जनमित्यर्थः । भावदोषयुक्तो ह्युपधिनिवृत्तिसंयुक्त इहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचि-नोत्युपादिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते । तस्मादार्जवं धर्म इति ॥ ३ ॥

अर्थ—भाव—परिणामोंकी विशुद्धि और विसंवाद—विरोध रहित प्रवृत्ति—शुकाव-यह आर्जव—धर्मका लक्षण है । ऋजुभाव या ऋजुकर्मको आर्जव कहते हैं । इसका तात्पर्य भी भाव दोषोंका परित्याग करना ही है । भाव दोषको धारण करनेवाला उपधि (छल—कपट) निवृत्ति—मायाचाररूप अन्तरङ्ग परिग्रहसे युक्त होता है, जिससे कि वह इस लोक और परलोकमें अशुभ फलको देनेवाले पाप-कर्मका बंध किया करता है । तथा इस प्रकारका जीव उपदिश्यमान हितको प्राप्त नहीं हुआ करता । यदि कोई संदुरु उसको कल्याणके मार्गका उपदेश दे, तो वह उसको ग्रहण नहीं किया करता । वह विपरीत रुचिवाला हो जाता है । अतएव जो आर्जव है वही धर्म है ।

भावार्थ—आर्जव शब्द ऋजु शब्दसे भाव या कर्म अर्थमें अण् तद्धित प्रत्यय होकर बनता है । अतएव उसकी निरुक्ति इस प्रकार हुआ करती है, कि ऋजोर्भावः आर्जवम्, अथवा ऋजोः कर्म आर्जवम् । आर्जवका अर्थ सरलता—माया वञ्चना कपट आदिसे रहित भाव होता है । मायाचार अन्तरङ्ग परिणामोंका दोष है । अतएव उससे रहित अन्तरङ्ग भावको ही आर्जव—धर्म कहते हैं । भाव दोष—मायाचारसे कर्मबन्ध होता है । अतएव उसके प्रतिकूल आर्जव—धर्मसे संवरकी सिद्धि होती है ।

विसंवाद रहित प्रवृत्तिको भी आर्जव कहते हैं । साधर्मियोंसे झगड़ा करना, या कषायवश अयथार्थ तत्त्वका निरूपण करना, जिससे कि सुननेवालेको संशय या विपर्यास होजाय, उसको विसंवाद कहते हैं । इस कृतिका भी वञ्चनासे ही सम्बन्ध है । अतएव संवरके साधक साधु-जन सरलताको सिद्ध करनेके लिये इस विसंवाद दोषका संहार ही किया करते हैं ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अलोभः शौचलक्षणम् । शुचिभावः शुचिकर्म वा शौचम् । भावविशुद्धिः निष्कल्मषता धर्मसाधनमात्रास्वप्यनभिष्वङ्ग इत्यर्थः । अशुचिर्हि भावकल्मषसंयुक्त इहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपादिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते । तस्माच्छौचं धर्मः इति ॥

अर्थ—अलुब्धता—लोभकषायका परिहार—त्याग अथवा लोभ रहित प्रवृत्ति शौच—धर्मका लक्षण है । व्याकरणके अनुसार शौच शब्दका अर्थ शुचिभाव या शुचिकर्म होता है । अर्थात् भावो-

की विशुद्धि कल्मषताका अभाव और धर्मके साधनेमें भी आसक्ति न होना शौच-धर्म है । इस धर्मसे रहित—अशुचि जीव परिणामोंमें कल्मषतासे संयुक्त रहता है । अतएव वह इस लोक और परलोक दोनों ही भवोंमें अशुभ फलके देनेवाले पाप-कर्मका बन्ध किया करता है । तथा उसके परिणाम इतने सद्योप हो जाते हैं, कि यदि उसको कोई श्रेयोमार्गका उपदेश दे, तो वह उसको धारण नहीं किया करता । अतएव लोभरूप मलिनताके अभावको ही शौच-धर्म कहते हैं ।

भार्यार्थ—मलिनताके अभावको शौच या पवित्रता कहते हैं । शारीरिक मलिनताका अभाव गौण है । वास्तवमें शौच-धर्म आत्म परिणामोंमें मलिनता दूर होनेसे ही होता है । और वह मलिनता लोभ कषायरूप है । अतएव उसके दूर होनेपर ही आत्मा शुचि-पवित्र होता है । और सत्त्वको सिद्ध करके श्रेयोमार्गमें अग्रसर हुआ करता है । क्योंकि पवित्र-अलुब्ध परिणाम हितके ही साधक हुआ करते हैं । ऊपर जो धर्मके साधन बताये हैं—पात्र चीवर—कोपीन रजोहरण आदि उनमें भी आसक्ति न रहना अलुब्धता या शौच-धर्म समझना चाहिये ॥ ४ ॥

भाष्यम्—सत्यमेव भव वच सत्य सद्गुणो वा हित सत्यम् । तद्वृत्तमपरूपमपिशुनमन सम्यमचपलमनाविलमविरलमसभ्रान्त मधुरमभिजातमसद्विगंध स्फुटमोदाययुक्तमग्राम्य पदार्थाभिध्याहारमसीभरमरागद्वेषयुक्त सूत्रमार्गानुसारप्रवृत्तार्थमर्ध्यमर्थिजनभावग्रहणसमर्थ मात्मपरानुग्राहक निरुपध वेशकालोपपलमनवद्यमर्हच्छासनप्रशस्त यत मित याचन वृत्तजन प्रदग्वाकरणमिति सत्य धर्म ॥ ५ ॥

अर्थ—सत्-प्रशस्त पदार्थके विषयमें प्रवृत्त होनेवाले वचनको यद्वा जो सज्जनोंके लिये हितका साधक है, ऐसे वचनको सत्य कहते हैं । जो अनृत-मिथ्या नहीं है, परपता-रक्षता या कठोरतासे रहित है, चुगली आदि दोषरूप भी नहीं है, असम्यक्ताका द्योतक नहीं है, जो चपटना-चञ्चलतापूर्वक प्रयुक्त नहीं हुआ है, एवं जो मलिनता अथवा कल्पताका सूचक नहीं है, जिसका उच्चारण विरलता रहित है, और जो भ्रमरूप नहीं है, इसके सिवाय जो श्रोताओंको कर्णप्रिय मालूम होता है, उत्तम कुत्सालोंके योग्य है, अथवा स्पष्ट और विशद है, निश्चयरूप है, तथा जिसका उच्चारण स्फुट-प्रष्ट है, उदारता या उच्च विचारोंसे युक्त है, जो ग्राम्य दोषसे रहित है—जिसमें ग्राम्य-पदोंका प्रयोग नहीं किया गया है, और जो ग्रामीण विषयका प्रतिपादक भी नहीं है, जो अङ्गीकृताके दोषसे मुक्त है, एवं जो राग द्वेषके द्वारा न तो प्रयुक्त हुआ है, और न उसका साधक है, तथा न सूचक ही है, आचार्यपरम्पराके द्वारा जो सूत्र-परमागमका मार्ग चला आ रहा है, उसके अनुसार ही जिसका प्रतिपाद (जो भलीभाँति समझा लिया गया है ।) अर्थ प्रवृत्त हुआ करता है, जो विद्वानोंके समक्ष बहुमुख्य समझा जाता है—विद्वान् अथवा कोई भी सुनने और विचार करनेवाला जिसको कीमती समझता है, अधिननोंके भावको ग्रहण करनेमें जो समर्थ

है—तत्त्वके जिज्ञासुओंका जो तात्पर्य है—जिस अंश या विषयको वे समझना चाहते हैं, उसको लेकर ही जो प्रवृत्त होता है, अपना और परका—दोनोंका ही अनुग्रह करनेवाला है, वञ्चना आदि दोषोंसे जो रहित है, देश कालकी अनुकूलताको जो रखनेवाला है, जो अवद्यतासे—अधमतासे मुक्त और अरहंत भगवान्‌के शासनका अनुगामी होनेके कारण प्रशस्त है, तथा जो संयत परिमित याचन पृच्छन और प्रश्नव्याकरणरूप है^१ वह सत्य वचन ही सत्य-धर्म समझना चाहिये। ऐसे वचनसे ही संवरकी सिद्धि हुआ करती है।

भावार्थ—अनृत—असत्यका स्वरूप पहिले बता चुके हैं। उससे जो उल्टा है, वह सत्य है। उसको वहाँ व्रतरूपसे कहा है। यहाँपर धर्मरूपसे सत्यका व्याख्यान करते हैं। अतएव जो वचन उपर्युक्त दोषोंसे रहित है, और उक्त गुणोंसे युक्त है, वह चाहे उपदेशरूप हो, या अभिलाषाका द्योतक—प्रकाश करनेवाला हो, या प्रश्नरूप हो, अथवा प्रश्नके उत्तररूप हो, सभी धर्म है, और संवरका साधक है। सत्य शब्द सत् शब्दसे भव अथवा हित अर्थमें यत् प्रत्यय होकर बनता है। वचनरूप सत्यधर्म कैसा होता है, सो यहाँपर संक्षेपमें बताया है, विशेष जिज्ञासुओंको ग्रन्थान्तरोसे जानना चाहिये ॥ ५ ॥

भाष्यम्—योगनिग्रहः संयमः। स सप्तदशविधः। तद्यथा—पृथिवीकायिकसंयमः, अप्कायिक-संयमः, तेजस्कायिकसंयमः, वायुकायिकसंयमः, वनस्पतिकायिकसंयमः, द्वीन्द्रियसंयमः, त्रीन्द्रियसंयमः, चतुरिन्द्रियसंयमः, पञ्चेन्द्रियसंयमः, प्रेक्ष्यसंयमः, उपेक्ष्यसंयमः, अपहृत्य-संयमः, प्रमृज्यसंयमः, कायसंयमः, वाक्संयमः, मन संयमः, उपकरणसंयम इति संयमो धर्मः॥६॥

अर्थ—योगका लक्षण पहले बता चुके हैं, कि मन वचन कायके कर्मको योग कहते हैं। इस योगके निग्रह करनेको संयम कहते हैं^२। निग्रह नाम निरोधका है। अर्थात् मन वचन कायके वश न होना, किन्तु उनको अपने वशमें रखना, उसको संयम—धर्म कहते हैं। अथवा अवद्यकर्म हिंसा आदि या इन्द्रियोंके विषयोसे मन वचन कायको उपरत—उदासीन रखनेका नाम संयम है। इसके सत्रह भेद हैं। यथा—पृथिवीकायिकसंयम, अप्कायिकसंयम, तेजस्कायिकसंयम, वायुकायिकसंयम, वनस्पतिकायिकसंयम, द्वीन्द्रियसंयम, त्रीन्द्रियसंयम, चतुरिन्द्रियसंयम, पञ्चेन्द्रियसंयम, प्रेक्ष्यसंयम, उपेक्ष्यसंयम, अपहृत्यसंयम, प्रमृज्यसंयम, कायसंयम, वाक्संयम, मनःसंयम, और उपकरणसंयम।

१—जो संयमकी प्रधानता रखकर प्रवृत्त हो, उसको संयत, जो शब्दकी अपेक्षा संक्षिप्त हो, उसको परिमित, हे भगवन्, इसका स्वरूप कहिये, इस तरहसे जो प्रार्थनारूप हो, उसको याचन, और प्रश्नरूपको पृच्छन तथा प्रश्नके सम्बन्धको लेकर उत्तररूपमें किये गये व्याख्यानको प्रश्नव्याकरण कहते हैं। २—गुप्तिका भी यही लक्षण सूत्रकारने लिखा है। यथा—“सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः॥” दिगम्बर—सम्प्रदायमें संयमका लक्षण इस प्रकार लिखा है—“समितिष्ठ वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः।” तथा “वदसमिदिकसायाणं, दंढाण तर्हिदिंयाण पंचण्हं । धारणपालण-णिगहचागजओ संजमो भणिओ ॥ ४६४ ॥ गोम्मटसार जीवकांड.

भावार्थ—पृथिवीकायिक आदि सत्रह विषयायी अपेक्षासे समयके भी सत्रह भेद हैं। इन विषयोंसे मन वचन कायको उपरत रखना चाहिये। पृथिवीकायिकजीवकी विराघना हो जाय, ऐसा विचार न करना, और न उसके समर्थक वचन बोलना, तथा जिसमें विराघना होजाय, ऐसी शरीरकी चेष्टा न करना, अर्थात् हर तरहसे उसकी रक्षा करना, पृथिवीकायिकसमय है। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। जो इन्द्रियोंके द्वारा दीख सकता है, उसको प्रेक्ष्य कहते हैं। ऐसे पदार्थके विषयमें देखकर ही ग्रहण करने आदिकी प्रवृत्ति करनी सो प्रेक्ष्यसमय है। देश कालके अनुकूल विधानके ज्ञाता, शरीरसे ममत्वना परित्याग कर गुप्तियोंके पालनमें प्रवृत्ति करनेवाले साधुके राग द्वेषरूप परिणामोंका न होना, उपेक्ष्यसमय है। प्रासुक वसतिका आहार आदि बाह्य साधनोंके ग्रहण करनेको अपना शुद्धचष्टक आदिके पालन करनेको अपहृत्यसमय कहते हैं। शोधनीय पदार्थको शोधकर ही ग्रहण करनेका नाम प्रमृज्यसमय है। इसी प्रकार शरीर वचन मन और उपकरणके विषयमें आगमके अनुसार प्रवृत्ति करने और उसके विरुद्ध उनका प्रयोग या उपयोग न करनेको क्रमसे कायसमय, वारूसमय, मनसमय और उपकरणसमय कहते हैं ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तपो द्विविधम् । तत्परस्ताद्वक्ष्यते । प्रकीर्णक चेदमनेकाविधम् । तद्यथा-यद्य वज्रमध्ये चन्द्रप्रतिमे द्वे, कनकरत्नमुक्तावत्यस्तिस्र, सिंहविकीर्णिते द्वे, सप्तसप्तमिकाद्या, प्रतिमाश्चतस्र -भद्रोत्तरमाचाम्ल यद्यमान सर्वनोभद्रमित्येवमादि । तथा द्वादश भिक्षुप्रतिमा मासिकाद्या आसप्तमासिकया सप्त, सप्तरात्रिकया तिस्र, अहोरात्रिकी रात्रिकी चेति ॥ ७ ॥

अर्थ—तपके दो भेद हैं—नाष्ट और अभ्यन्तर । इनका वर्णन आगे चलकर किया जायगा । प्रकीर्णक तपके अनेक भेद हैं, जो यहाँ लिखाये जाते हैं । यथा—चन्द्रप्रतिम तपके दो भेद हैं—यय मध्य आरवज्रमध्य । आवज्रके तीन भेद हैं—कनकावली, रत्नावली, और मुक्तावली । सिंहविकीर्णितके दो भेद हैं, लघु और महान्, सप्तसप्तमिका अष्टअष्टमिका नवनवमिका दशदशमिका इस तरह चार । एवं प्रतिमा—तपके चार भेद हैं—भद्रोत्तर, आचाम्ल, वर्धमान और सर्वनोभद्र । भिक्षुप्रतिमा—तपके बारह भेद हैं—यथा—मासिकमे लेकर सप्तमासिकी तक सप्त भेद और सप्तरात्रिकी के तीन भेद तथा एक अहोरात्रिकी और एक रात्रिकी ।

भावार्थ—तपके सामान्यतया दो ही भेद हैं । नाष्ट और अभ्यन्तर । इनके उत्तरभेद बारह हैं । उन्हींमें सम्पूर्ण तपोंके भेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है, फिर भी प्रायश्चित्तादिके द्वारा दोष दूर करनेके लिये अपना आत्म-शक्तियोंको प्रकट करनेके लिये जो जो विशेष तप किये जाते हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं । प्रकीर्णक—तप अनेक प्रकारके हैं । उनमेंसे कुछके भेद यहाँ गिनाये हैं । विशेष जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको आगम-अग्र तथा पुत्राहसर्वाय श्रीनिममेन-सूरिहृत हरिवंशपुराणका ३४ वाँ सर्ग, श्रीआचारदिनकर, तपोरत्नमहोदधिरत्न तत्रावली प्रकरण देखकर जानना चाहिये ॥ ७ ॥

भाष्यम्—बाधाम्यन्तरोपधिशरीराक्षपानाद्याभयो भायनोपपरित्यागस्त्याग ॥८॥ शरीर-धर्मापकरणादिषु निमग्नमत्यमाकिञ्चन्यम् ॥९॥ तत्परिपालनाय ज्ञानाभिप्रेक्ष्ये कपायपरिपाकाय च गुरुकुलयासा ब्रह्मचर्यमस्यातन्त्य शुवधीनित्य शुविद्विद्वत्स्यादित्यमित्यर्थः च । पश्चात्पायाः

प्राक्ता प्रव्राजको दिगाचार्यः श्रुतोद्देष्टा श्रुतसमुद्देष्टा आम्नायार्थवाचक इति । तस्य ब्रह्मचर्य-
स्येमे विशेषगुणा भवन्ति । अब्रह्मविरतिव्रतभावना यथोक्ता इष्टस्पर्शरसरूपगन्धशब्दविभूषा-
नाभिनन्दित्वं चेति ॥ १० ॥

अर्थ—परिग्रहके मूलभेद दो है—वाह्य और अभ्यन्तर । वाह्य परिग्रह दश प्रकारका है—
क्षेत्र वास्तु आदि । अभ्यन्तर परिग्रह १४ प्रकारका है—मिथ्यात्व आदि । दोनों मिलाकर २४
प्रकारके परिग्रह और शरीर अन्न पान आदिके आश्रयसे होनेवाले भावदोषके परित्यागको बताई है,
त्याग—धर्म कहते हैं ॥८॥ शरीर और धर्मोपकरण—जोकि पहले धर्मकी साधन—सामग्री कमंडलु आदि
उनमें भी ममत्व भाव न होना, आकिञ्चन्य—धर्म है ॥९॥ व्रतोंका पालन करनेके लिये अथवा ज्ञानकी
सिद्धि या वृद्धिके लिये यद्वा कषायोंका परिपाक करनेके लिये—जिससे कि क्रोधादि कषाय अपना
फल देनेमें असमर्थ हो जाय, अथवा जल्दी ही उदयमें आकर मंद फल देकर, अथवा न देकर
आत्मासे सम्बन्ध छोड़ दें, इसके लिये गुरुकुलमें निवास करनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं ॥ १० ॥

ब्रह्मचर्यका आशय—उसके धारण करनेका प्रयोजन यह है, कि स्वतन्त्र न रहना
और सदा गुरुकी अधीनतामें ही निवास करना, तथा गुरुकी आज्ञाका पालन करनेमें सदा तयार
रहना, स्वच्छन्द विहारको छोड़कर जिनकी सेवामें रहते हुए और उनकी आज्ञाका पालन करते
हुए, ज्ञान चारित्र आदि गुणोंको सिद्ध किया जाता है, या करना चाहिये, वे गुरु आचार्य कहे
जाते हैं । उनके पाँच भेद है—प्रव्राजक, दिगाचार्य, श्रुतोद्देष्टा, श्रुतसमुद्देष्टा और आम्नायार्थवाचक ।
दीक्षा देनेवालोंको प्रव्राजक, अनुज्ञामात्र देनेवालोंको दिगाचार्य, आगमका प्रथम पाठ देनेवालोंको
श्रुतोद्देष्टा, आगमका विशेष प्रवचन करनेवाले और स्थिर परिचय करानेवालोंको श्रुतसमुद्देष्टा, तथा
आगमके उत्सर्ग या अपवादरूप रहस्यके बतानेवालोंको आम्नायार्थवाचक कहते हैं ।

अब्रह्मसे निवृत्ति, और व्रतोंकी भावना ये ब्रह्मचर्यके विशेष गुण हैं ।—इनका
स्वरूप पहले कह चुके हैं । अर्थात् अब्रह्मका और उसकी विरतिका तथा प्रत्येक व्रतकी
भावनाका भी वर्णन पहले किया जा चुका है, अतएव उसको फिर यहाँ दुहरानेकी आव-
श्यकता नहीं है । इन दो गुणोंके सिवाय इष्ट—मनोज्ञ या अभिलषित स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द
और आभूषण आदिसे आनन्दित न होना, भी ब्रह्मचर्यका एक विशेष गुण है ।

धर्मके अनन्तर संवरके कारणोंमें अनुप्रेक्षाओंका नामोल्लेख किया है, अतएव धर्मके
भेदोंका स्वरूप बताकर क्रमानुसार अब उन अनुप्रेक्षाओंका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

**सूत्र—अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनि-
र्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥**

भाष्यम्—एता द्वादशानुप्रेक्षाः । तत्र बाह्याभ्यन्तराणि शरीरशय्यासनवस्त्रादीनि
द्रव्याणि सर्वसंयोगाश्चानित्या इत्यनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतः तेष्वभिष्वङ्गो न
भवति, मा भून्मे तद्वियोगजं दुःखमित्यनित्यानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—अनुप्रेक्षा बारह हैं, जोकि यहाँ इस अनित्यानुप्रेक्षा आदि सत्रमें गिनाई गई हैं । अनुप्रेक्षा नाम पुन पुन चिन्तन करनेका है । चिन्तनके विषय अनित्यत्व आदि बारह यहाँपर गिनाये हैं । अतएव विषयभेदकी अपेक्षा अनुप्रेक्षाओंके भी बारह भेद होते हैं । विषयके वाचक अनित्य आदि शब्दोंके साथ अनुप्रेक्षा शब्द जोड़नेमें उनके नाम इस प्रकार हो जाते हैं— अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, ससारानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अयत्वानुप्रेक्षा, अशुचित्वानुप्रेक्षा, आस्रवानुप्रेक्षा, सवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, छोरानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा, और धर्मस्वात्त्या- तत्त्वानुप्रेक्षा ।

शरीर शय्या आसन वस्त्र आदि बाह्य और अभ्यन्तर द्रव्य तथा अन्य समस्त सयोगमात्र अनित्य है, ऐसा पुन पुन चिन्तन करना इसको अनित्यानुप्रेक्षा कहते हैं । सवरके अभिप्रायियोंसे सयोगमात्रके विषयमें इस प्रकार अनित्यत्वका चिन्तन अवश्य करना चाहिये । क्योंकि इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करनेसे उनमें—विषयभूत द्रव्योंमें अथवा सयोगमात्रमें अभिवृद्धि—आसक्ति नहीं हुआ करती, और उनका वियोग हो जानेपर तज्जय दुःख भी नहीं हुआ करता । अथवा जो इस प्रकार अनित्यत्वका चिन्तन करता है, उसके मनमें यह चिन्ता रूप अर्ति—पीड़ा नहीं हुआ करती, कि हाय मुझे कभी भी इन विषयोंके वियोगसे उत्पन्न दुःख न हो । क्योंकि वह सम्पूर्ण सयोगोंको अनित्य समझता है । अतएव उसके वियोगका भय नहीं होता और उसके सवरकी सिद्धि हुआ करती है ॥ १ ॥

भाष्यम्—यथा निराश्रये जनविरहिते घनस्थलीशृष्टे घलप्रता क्षुत्परिगतेनाभिपेपिणा सिद्धेनाभ्याहतस्य मृगशिशोः शरणं न विद्यते एव जन्मजरामरणव्याधिप्रियविषययोगाप्रियस्य प्रयोगेप्सितालाभशरीरशरीरमायुदोर्मनस्यमरणाविसमृत्येन दुर्लेखेनाभ्याहतस्य जन्तोः ससारं शरणं न विद्यत इति चिन्तयेत् । एव ह्यस्य चिन्तयतो नित्यमशरणोऽस्मीति नित्यो- द्विमस्य सांसारिकेषु भावेष्वाभिवृद्धौ भवति । अहंछासनोक्त एव विधी घटते तद्वि पर शरणमित्यशरणानुप्रेक्षा ॥ १ ॥

अर्थ—जहाँ किसी भी प्रकारका आश्रय नहीं पाया जाता—तुम्हें छिपकर बैठनेके योग्य जहाँपर कोई भी घर आदि दिखाई नहीं पड़ता और जो मनुष्योंके सार आवा—गमनमें रहित है—जहाँ कोई रक्षक मनुष्य दृष्टिगत नहीं होना, ऐसी अरण्यानी—उड़ी भारी वनी—अटवीमें अत्यन्त बग्यान् और सुधासे भ्रम—पीड़ित और इसी लिये मांससे अभिगपी किसी मिट्टके द्वारा आज्ञान्त—पकड़े हुए हिरणके पक्षिके लिये निम प्रकार कोई भी शरण नहीं होता—उमरा रक्षा करनेमें कोई भी समर्थ नहीं रहा करता, उसी प्रकार जन्म—उत्पत्ति, जरा—वृद्धावस्था, मरण—आयुसे पूर्ण होजानेमें शरीरका वियोग, व्याधि—अनेक प्रकारके शारीरिक रोग, किसी भी इष्ट वस्तु या प्राणीका वियोग, अनिष्ट वस्तु या किसी भी ही प्राणीका सयोग, अभिगपित—ताही हुई वस्तुका लाभ न होना, दारिद्र्य—गरीबी, दीर्घम्य—सौभाग्यहीनता, दीर्घम्य—मनम निन्ना आदिना रहना अथवा रागद्वेष आदि कषायोंकी अर्निमे

पीडित चित्त रहना, एवं आत्मघात या पराघातसे जन्य मृत्यु आदि अनेक कारणोंसे उत्पन्न दुःखोंसे आक्रान्त—ग्रस्त प्राणीका भी संसारमें कोई भी शरण नहीं है। कोई भी जीव इस प्राणीको इन दुःखोंसे बचानेके लिये समर्थ नहीं है। संवरके अभिलाषियोंको सदा इस प्रकारसे अशरणताका विचार करना चाहिये। क्योंकि जो निरन्तर इस प्रकार चिन्तन किया करता है, कि मैं नित्य ही अशरण हूँ—मेरा कहीं कभी कोई भी रक्षक—सांसारिक दुःखोंसे बचानेवाला नहीं है, वह उस भाव नामें दृढ़ होकर सदाके लिये उद्विग्न—विरक्त चित्त हो जाया करता है। वह संसारके किन्हीं भी विषयोंमें आसक्त नहीं हुआ करता। अनेक प्रिय—इष्ट वस्तुओंको पाकर भी उनमें उसकी रुचि अथवा प्रीति नहीं हुआ करती, और अप्रिय अनिष्ट वस्तुओंको पाकर उनमें द्वेष या अर-तिका भाव नहीं हुआ करता, तथा उनके लाभालाभकी चिन्ता भी नहीं हुआ करती। अशरणताका विचार करनेवाला अरहंत भगवानके शासनमें जिस विधिका वणन किया गया है, उसीके अनु-कूल चलनेकी चेष्टा किया करता है, और वह उसीको परम शरण समझता है। अर्थात् वह समझता है, कि जिन भगवानने संसारसे छूटनेका जो उपाय बताया है, वही जीवके लिये शरण है, अन्य कोई भी शरण नहीं है। अतएव वह सांसारिक विषयोंमें आसक्त भी नहीं होता, और तज्जन्य दुःखोंसे वह पीडित भी नहीं होता। क्योंकि कर्म—फलकी अवश्यभोग्यताका विचार करनेसे प्राप्त, इष्ट अनिष्ट वस्तुओंके संयोगमें वैराग्य भावना अथवा परिणामोंकी समता जागृत होती है, और सर्वज्ञ वीतराग अरिहंत भगवान्के प्ररूपित सत्य—सिद्धान्तमें श्रद्धा दृढ़ होती है ॥ २ ॥

भाष्यम्—अनादौ संसारे नरकतिर्यग्योनिमनुष्यामरभवग्रहणेषु चक्रवत्परिवर्तमानस्य जन्तोः सर्व एव जन्तवः स्वजनाः परजना वा। न हि स्वजनपरजनयोर्व्यवस्था विद्यते। माता हि भूत्वा भगिनी भर्त्या दुहिता च भवति। भगिनी भूत्वा माता भार्या दुहिता च भवति। भार्या भूत्वा भगिनी दुहिता माता च भवति। दुहिता भूत्वा माता भगिनी भार्या च भवति। तथा पिता भूत्वा भ्राता पुत्र पौत्रश्च भवति। भ्राता भूत्वा पिता पुत्रः पौत्रश्च भवति। पौत्रो भूत्वा पिता भ्राता पुत्रश्च भवति। पुत्रो भूत्वा पिता भ्राता पौत्रश्च भवति। भर्ता भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा भर्ता भवति। शत्रुभूत्वा मित्रं भवति। मित्रं भूत्वा शत्रुर्भवति। पुमान् भूत्वा स्त्री भवति, नपुंसकं च। स्त्री भूत्वा पुमान्नपुंसकं च भवति। नपुंसकं भूत्वा स्त्री पुमांश्च भवति। एवं चतुरशीतियोनिप्रमुखशतसहस्रेषु रागद्वेषमोहाभिभूतैर्जन्तुभिरनिवृत्ताविषयतृष्णै-रन्योन्यभक्षणाभिघातवधबन्धाभियोगाक्रोशादिजनितानि तीव्राणि दुःखानि प्राप्यन्ते। अहो द्वन्द्वाराम कष्टस्वभावः संसार इति चिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतः संसारभयोद्वि-शस्य निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय घटत इति संसारानुप्रेक्षा ॥ ३ ॥

अर्थ—संसार अनादि है। उसमें पड़ा हुआ जीव नरक तिर्यग्योनि मनुष्य और देवपर्या-यके ग्रहण करनेमें चक्रकी तरह परिवर्तन—परिभ्रमण करता रहता है। कभी नरकसे निकल-कर तिर्यञ्च अथवा मनुष्य हो जाता है, तो कभी तिर्यञ्च होकर नारकी तिर्यञ्च मनुष्य

या देव हो जाता है । कभी मनुष्य होकर नारकी तिर्यञ्च मनुष्य या देव हो जाता है, तो कभी देव होकर तिर्यञ्च अथवा मनुष्य हो जाता है । इसी प्रकार अनादि कालसे सप्तारी जीवका चारों गतियोंमें गादीके पहियेकी तरहसे परिभ्रमण हो रहा है । अतएव मभी सप्तारी जीव इसके स्वजन अथवा परजन कहे जा सकते हैं । अथवा इस परिवर्तनशील सप्सारमें स्वजन परजनकी कोई व्यवस्था भी तो नहीं बनती । क्योंकि एक ही जीव माता होकर बहिन भार्या या पुत्री हो जाता है, तो कोई बहिन होकर माता स्त्री या पुत्री हो जाता है । कोई स्त्री होकर बहिन पुत्री या माता हो जाता है, तो कोई पुत्री होकर माता बहिन स्त्री हो जाता है । तथा पिता होकर कोई भाई पुत्र या पौत्र—नाती बन जाता है, तो कोई भाई होकर पिता पुत्र अथवा पौत्र हो जाता है । कोई पौत्र होकर पिता भाई अथवा पुत्र बन जाता है, तो कोई पुत्र होकर पिता भाई अथवा पात्र हो जाता है । जो स्वामी है, वह जन्मांतरमें अपने सेवकका सेवक बन जाता है, और जो सेवक है, वह भ्रान्तरमें अपने स्वामी का स्वामी बन जाता है । अर्थात् अपने अपने कर्मके अनुसार चतुर्गतियोंमें भ्रमण करनेवाले जीवका किसके भी साथ कोई नियत सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता, कि अमुक जीवके साथ अमुकका सदाकाल यही सम्बन्ध रहेगा । क्योंकि जो इस जन्ममें शत्रु है, वह जन्मान्तरमें अपना मित्र होता हुआ भी देखा जाता है, और जो मित्र है, वही कदाचित् भवांतरमें अपना शत्रु बनता हुआ नजर पड़ता है । जो पुरुष है, वही मर कर स्त्री अथवा नपुंसक पर्याप्तिके धारण कर लेता है, और जो स्त्री है, वह मरकर पुरुष अथवा नपुंसक हो जाता है, अथवा जो नपुंसक है, वही मरकर स्त्री अथवा पुरुष हो जाता है । इस प्रकार अनादि कालसे ये सभी सप्तारी प्राणी मुख्य तथा चौरासी लाल येनियोंमें भ्रमण कर रहे हैं, और राग द्वेष तथा मोहसे अभिभूत—विह्वल रहनेके कारण विपर्ययी तृष्णाको छोड़ नहीं सकते, और इसी लिये परस्परमें एक दूसरेका भक्षण करने तथा ताड़न वगैरह अभियोग (दोषारोपण) और आक्रोश निंदा अथवा कटु भाषण आदि में प्रवृत्त हुआ करते हैं । तथा तज्जनित अति तीव्र दुखोंको भोग करते हैं । अतएव मुमुक्षु प्राणियोंको सप्सारके स्वरूपका पुन पुन इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये, कि अहो सप्सार यह द्वन्द्वाराम और स्वभावसे ही कष्टरूप है । अर्थात् यह सप्सार इष्ट और अनिष्ट सुख और दुःखरूप युगल धर्मका आश्रयभूत एक प्रकारका उपवन है, परन्तु वास्तवमें इसका स्वभाव दुःख ही है । क्योंकि जिसको सप्सारमें सुख या इष्ट विषय समझते हैं, वह भी वास्तवमें दुःख ही है । इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करनेवाले मुमुक्षु प्राणीको सप्सारसे भय उत्पन्न हो कर उद्देग—व्याकुलताकी प्राप्ति होती है । और उसमें पुन निर्वेद—वैराग्य सिद्ध हो जानेपर वह

१—दशमी गणना पहले अध्यायमें बता चुके हैं । मुख्य भेद ८४ लाख है, किन्तु उत्तरातरभेद अधिक है ।

२—यस्य । लौकिकी स्थिति परमायन " —यवध्यायी ।

जीव संसारका नाश करनेमें ही प्रयत्नशील होता है । इस प्रकार संसारके स्वरूपका पुनः पुनः विचार करनेको ही संसारानुप्रेक्षा कहते हैं ।

भावार्थ—संसार नाम संसरण—परिभ्रमणवा है । इसमें भ्रमण करनेवाले जीवको स्वभावसे ही हरएक प्रकारकी वस्तुकी प्राप्ति होती है । किन्तु मोह और अज्ञानके वशीभूत हुआ किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट समझता है, तथा इष्टकी प्राप्तिमें सुखका और अनिष्टकी प्राप्तिमें दुःखका अनुभव किया करता है । वास्तवमें न कोई वस्तु इष्ट और सुखका कारण है, और न कोई अनिष्ट और दुःखका ही कारण है । अतएव ज्ञानी जीव सम्पूर्ण पर वस्तुओंके संयोगमात्रको दुःखका ही कारण समझकर उद्वेग और वैराग्यको प्राप्त हुआ करता है, तथा विरक्त हो कर निर्वाणकी सिद्धिमें प्रयत्नशील होता है । इस प्रकार संसारके स्वरूपका पुनः पुनः विचार करना संसारानुप्रेक्षा है और संसारसे विरक्त होना ही उसका वास्तविक फल है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—एक एवाहं न मे कश्चित्स्वः परो वा विद्यते । एक एवाहं जाये । एक एव द्विये । न मे कश्चित्स्वजनसंज्ञः परजनसंज्ञो वा व्याधिजरा मरणादीनि दुःखान्यपहरति प्रत्यंशहारी वा भवति । एक एवाहं स्वकृतकर्मफलमनुभवामीति चिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतः स्वजनसंज्ञकेषु स्नेहानुरागप्रतिबन्धो न भवति परसंज्ञकेषु च द्वेषानुबन्धः । ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव यतत इत्येकत्वानुप्रेक्षा ॥ ४ ॥

अर्थ—इस संसारमें मैं अकेला ही हूँ । यहाँपर मेरा कोई न स्वजन है, और न कोई परजन । मैं अकेला ही उत्पन्न होता हूँ, और अकेला ही मृत्युको प्राप्त होता हूँ । जिसको यहाँपर मेरा स्वजनसंज्ञक अथवा परजनसंज्ञक कहा जाता है, वह भी कोई ऐसा नहीं है, जो कि मेरे व्याधि जरा और मरण आदि दुःखोंको दूर कर सके । सर्वथा दूर करना तो दूर रहा, उसके अंश अथवा अंशांशको दूर करने या बॉटनेमें भी कोई समर्थ नहीं हो सकता । जिन कर्मोंका बंध मैंने किया है, उनके फलका अनुभव करनेवाला मैं अकेला ही हूँ । इस प्रकार अपने एकाकीपनेका चिन्तन करना चाहिये । जो मुमुक्षु—मोक्षाभिलाषी निरन्तर इस प्रकारसे चिन्तन करता रहता है, उसको स्वजनसंज्ञक प्राणियोंमें स्नेह या अनुरागका प्रतिबन्ध नहीं होता । वह उनको अपना समझकर उनके विषयमें मोहित नहीं होता, और इसा लिये वह उनके निमित्तसे पापकर्म करनेसे पराङ्मुख रहता या विषयोंसे विरक्त रहा करता है । इसी प्रकार उसको परजनसंज्ञक प्राणियोंमें द्वेषका प्रतिबन्ध-रुकावट नहीं होती । उनको वह पर समझकर उनका अकल्याण आदि करनेमें भी प्रवृत्त नहीं होता, और इसी लिये वह सबसे वीतद्वेष या निर्वैर रहा करता है । फलतः एकत्वका चिन्तन करनेवाला जीव राग द्वेषसे रहित होकर निःसङ्गताको प्राप्त हो जाता है, और वह मोक्षके लिये ही प्रयत्न किया करता है । इसीको एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं ।

भावार्थ—संसारमें परिभ्रमण करते हुए भी अपनी आत्माकी एकाकिताका पुनः पुनः विचार करनेको एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं । क्योंकि जन्म मरण जरा और व्याधि आदि अवस्थाओंमें

जीव एक ही रहता है, और उसीको उनका फल भोगना पड़ता है । अपने सिवाय और कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो कि कर्म-फलके भोगनेमें एक सूक्ष्म अशक्ता भी भागीदार हो सके । अतएव ऐसी भावनाको निरन्तर रखनेवाला जीव किसी भी अवस्थामें हतशक्ति नहीं होता और न किसीसे राग द्वेषका अनुबध ही करता है । किन्तु पूर्ण और शुद्ध एकता-निर्वृत्तिके लिये ही प्रयत्नशील हुआ करता है । इस प्रकारकी अपनी एकाकितिके चिन्तनको एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं, और उसका फल निःसन्देहाङ्गी सिद्धि तथा मोक्ष-पुरुषार्थका साधन ही है ॥ ४ ॥

माध्यम्—शरीरव्यतिरेकेणात्मानमनुचिन्तयेत् । अन्यच्छरीरमन्योऽहम् । ऐन्द्रियक शरीरमतीन्द्रियोऽहम्, अनित्य शरीर नित्योऽहम्, अज्ञ शरीर ज्ञोऽहम्, आद्यन्तयच्छरीरम नाद्यन्तोऽहम् । बहूनि च मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि सप्तारे परिभ्रमत । स एवायमहम न्यस्तेभ्य इत्यनुचिन्तयेत् । ए० ह्यस्य चिन्तयत शरीरप्रतिबन्धो न भवतीति । अन्यश्च शरीराक्षित्योऽहमिति नि श्रेयसे सघटत इत्यन्यत्वानुपेक्षा ॥ ५ ॥

अर्थ—अयत्नानुप्रेक्षाया आशय यह है, कि शरीरसे अपनी आत्माकी भिन्नताका चिन्तन करना । यथा—मैं शरीरसे सर्वथा भिन्न हूँ । क्योंकि शरीर ऐन्द्रिय-इन्द्रियगोचर मूर्त है, और मैं अनिन्द्रिय-अमूर्त हूँ, शरीर अनित्य है—आयुपूर्ण होते ही विघटित हो जाता है, अथवा उसके पहले भी अनेक प्रकारसे विशीर्ण होता रहता है, और मैं नित्य हूँ—कभी नष्ट अथवा विशीर्ण नहीं होता, शरीर अज्ञ-ज्ञानशून्य है, और मैं ज्ञ-ज्ञान दर्शनरूप हूँ, शरीर आदि और अन्तसे युक्त है—क्योंकि वह उत्पन्न होता और नष्ट भी होता है, किन्तु मैं इन दोनों ही धर्मोंसे रहित हूँ—मे अनादि और अनन्त हूँ । सप्तारमें परिभ्रमण करते हुए मेरे न मालूम कितने इस शरीर बीत गये, किन्तु मैं यह वही उन सबसे भिन्न बना हुआ हूँ । इस प्रकार शरीरसे अपनी भिन्नताका बार बार विचार करना चाहिये । इस तरहसे विचार करनेको अयत्नानुप्रेक्षा कहते हैं । जो जीव निरन्तर इस प्रकारका चिन्तन किया करता है, उसको शरीरमें प्रतिबन्ध-ममत्वभाव नहीं होता, और वह ऐसा समझ करके कि अनित्य शरीरसे नित्य मैं सर्वथा भिन्न ही हूँ, नि श्रेयस-पदकी सिद्धिके लिये ही प्रयत्न किया करता है । यह अन्यत्वानुप्रेक्षाका वास्तविक फल है । यह सब अन्यत्वानुप्रेक्षाया स्वरूप समझना चाहिये ।

माध्यम्—अशुचि खल्विदं शरीरमिति चिन्तयेत् । तत्कथमशुचीति चेदाद्युत्तरकारणाशुचित्वादशुचिमाजनत्वादशुच्युद्भवत्वादशुभपरिणामपाकानुबध्वादशक्यप्रतीकारत्वाच्चेति । तत्राद्युत्तरकारणाशुचित्वासावच्छरीरस्याद्य कारणशुभशोणित च तदुभयमत्यन्ताशुचीति उत्तरमाहारपरिणामादि । तद्यथा—फललाहारे हि मस्तमात्र एव श्लेष्माशय प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतोऽत्यन्ताशुचिर्भवति । तत पिप्ताशय प्राप्य पच्यमानोऽम्लीकृतोऽशुचिरेव भवति । पक्वो वाय्वाशय प्राप्य वायुना विमज्जते पृथक्कृतः पृथक्कृतः । खलान्मूत्रपुरीषादयो मला प्रादुर्भवन्ति, रसाच्छोणित परिणमति, शोणितान्मासम्, मासान्मेदः, मेदसोऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जाभ्यः शुक्रमिति सर्वधृतचक्षुःश्लेष्मादिशुक्रान्तमशुचिर्भवति तस्मादाद्युत्तरकारणा-

शुचित्वाद्दशुचि शरीरमिति । किं चान्यत्-अशुचिभाजनत्वात् अशुचीनां खल्वपि भाजनं शरीरं कणनासाक्षिदन्तमलस्वेदश्लेष्मपित्तमूत्रपुरीषादीनामवस्करभूतं तस्मादशुचीति । किं चान्यत्-अशुच्युद्भवत्वात् । एषामेव कर्णमलादीनामुद्भवः शरीरं, तत् उद्भवन्तीति । अशुचौ च गर्भे संभवतीति अशुचि शरीरम् । किं चान्यत्—अशुभपरिणामपाकानुबन्धादार्त्तवे विन्दोराधानात्प्रभृति खल्वपि शरीरं कललार्बुदपेगीघनव्यूहसंपूर्णगर्भकौमारयौवनस्थविरभावजनकेनाशुभपरिणाम-पाकेनानुबद्धं दुर्गन्धि पूतिस्वभावं दुरन्तं तस्मादशुचि । किं चान्यत्—अशक्यप्रतीकारत्वात् । अशक्यप्रतीकारं खल्वपि शरीरस्याशुचित्वमुद्घर्तनरूक्षणस्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासशुक्तिं माल्यादिभिरप्यस्य न शक्यमशुचित्वमपनेतुमशुच्यात्मकत्वाच्छुच्युपघातकत्वाच्चेति । तस्मादशुचि शरीरमिति । एवं ह्यस्य चिन्तयतः शरीरे निर्वेदो भवति । निर्विण्णश्च शरीर-प्रहाणाय घटत इति अशुचित्वानुपेक्षा ॥ ६ ॥

अर्थ—अशुचित्वानुपेक्षाका अभिप्राय यह है, कि शरीरकी अपवित्रताका विचार करना । संवर और निर्जराके अभिलाषी मुमुक्षु भव्योंको शरीरके विषयमें निरन्तर यह चिन्तन करना चाहिये, कि यह शरीर नियमसे अशुचि—अपवित्र है । अशुचि किस प्रकारसे है ? किन किन कारणोंसे यह अपवित्र है ? ऐसी जिज्ञासा कदाचित् हो, तो उसका उत्तर यही है, कि इसकी अपवित्रताके अनेक कारण हैं । सबसे पहला कारण तो यह है, कि जिन कारणोंसे इसकी उत्पत्ति होती है, वे इसके पूर्व और उत्तर कारण अपवित्र हैं । दूसरा कारण यह है, कि यह अपवित्र पदार्थोंका भाजन—आश्रय है । तीसरा कारण है, कि यह शरीर अशुचि पदार्थोंका उद्भव—उत्पत्ति—स्थान है । कारण कि अशुभ परिणामोंके द्वारा संचित पाप—कर्मके उदयसे यह अनुबद्ध रहता है, और पाँचवाँ कारण है, कि इसकी अपवित्रता किसी भी उपायके द्वारा दूर नहीं की जा सकती । इस प्रकार अनेक कारणोंसे शरीरकी अपवित्रता सिद्ध है । इन सबका सारांश यह है किः—

शरीरका आदि—कारण शुक्र और शोणित है, क्योंकि इन्हींके द्वारा मनुष्य—शरीर उत्पन्न हुआ करता है । गर्भज शरीरमात्रके मूल उपादान कारण ये दो पदार्थ ही हैं, और ये दोनों ही अत्यन्त अशुचि हैं । अतएव आदि कारणकी अपेक्षा शरीर अपवित्र है । शरीरका उत्तर—कारण आहार परिणाम है । सो इस अपेक्षासे भी शरीर अशुचि ही है । क्योंकि जिसको यह जीव—मनुष्य प्राणी ग्रासरूपसे ग्रहण करता है, वह कवलाहार खानेके बाद ही-गलेके नीचे उतरते ही श्लेष्माशय—आमाशय को प्राप्त होकर उसके—श्लेष्मके द्वारा द्रवीभूत हो जाता है । क्या वह अवस्था अपवित्र नहीं है ? अत्यन्त अपवित्र है । इसके अनन्तर वह आहार पित्ताशयको प्राप्त हो कर जब पकने लगता है, उस समयमें वह अम्लरूप अवस्थाको धारण किया करता है । वह अवस्था भी अत्यन्त अपवित्र ही है । पक जानेके बाद वह आहार वाय्वाशयको प्राप्त होता है । उस समय वह वायुके द्वारा विभक्त हुआ करता है । उस के खल भाग और रस भाग इस तरह दो पृथक् पृथक् भाग हो जाते हैं । खल भागके द्वारा मूत्र और पुरीष—विष्टा आदि,

मल वनते हैं, और रस भागके द्वारा शोणित—रक्त तयार हुआ करता है। इसके अनन्तर क्रमसे इसकी कार्यकारण—पद्धति इस प्रकार है—रक्तसे मास, माससे मेदा, मेदासे अस्थि—हड्डी, अस्थिसे मज्जा, और मज्जासे शुक्र—वीर्य तैयार होता है। श्लेष्म से लेकर शुक्र पर्यन्त आहार के सभी विपरिणाम अशुचि ही हैं। ये ही सब शरीरके उत्तरकारण हैं। अतएव इनको अशुचित्ताके कारण ही शरीर अशुचि है। इस प्रकार शरीरकी अपवित्रताको बतानेके लिये पहला कारण जो बताया है, सो ठीक ही है, कि आदि और उत्तर कारणोंकी अपवित्रताके कारण यह अपवित्र है।

दूसरे कारणका तात्पर्य यह है, कि जितने भी अशुचि पदार्थ हैं, उन सबका आधार शरीर ही है। कान नासिका आँख और दाँतके मल शरीरके आश्रयसे ही रहते हैं, और स्वेद—पसीना श्लेष्म—ख़लार पित्त मूत्र और पुरीष—विष्टा आदि अपवित्र पदार्थोंका अवस्कार—कूड़ादान शरीर ही है। अतएव यह अपवित्रताको ही धारण करनेवाला है।

तीसरे कारणका आशय इस प्रकार है—वर्णमल आदि जितने अशुचि पदार्थ हैं, उन सबका आधार ही नहीं उत्पत्ति—स्थान भी शरीर ही है। शरीरके द्वारा ही ये सब मल उत्पन्न हुआ करते हैं। नन द्वारासे बहनेवाले सभी मलोंकी उत्पत्ति शरीरसे ही होती है। तथा गर्भके अशुचि होनेसे ही शरीर उद्भूत—पैदा होता है, इसलिये भी शरीर अशुच्युद्भव है—अपवित्र है।

चौथा कारण—यह शरीर अशुभ परिणामोंके द्वारा संचित पापकर्मोंके उदयसे अनुबद्ध है, इसलिये अशुचि है। माताके ऋतु—मालमें पिताके वीर्य त्रिंदुओंके आधान—गर्भाधानके समयसे ही लेकर यह शरीर क्रमसे उन अनेक अवस्थाओंसे अनुबद्ध हुआ करता है, जो कि कल्ल—जरायु (गर्भको आच्छादन—ढाँकनेवाला चर्म) अर्जु—पेशी घन—व्यूह संपूर्ण गर्भ कोंमार यौवन और स्थिर भावोंको उत्पन्न करनेवाले अशुभ परिणामोंके उदयरूप हैं। इसके सिवाय यह शरीर स्वभावसे ही दुर्गंधियुक्त और सड़ने गलनेवाला है, तथा इसका अंत दुःखरूप ही है। इस कारणसे भी शरीर अपवित्र है।

पाँचवाँ कारण—यह है, कि इसकी अशुचित्ताका प्रतीकार अशक्य है। कोई भी ऐसा उपाय नहीं है, कि जिससे शरीरकी अपवित्रता दूर की जा सके। अनेक प्रकारके उद्धर्तन—उत्पन्न करके भी निर्मल नहीं बनाया जा सकता। नाना तरहके रक्षण प्रयोगोंको करके भी उसकी छिग्रता दूर नहीं कर सकते। यथायोग्य ध्यान करके भी इसको स्वच्छ नहीं बना सकते। चन्दन वस्त्रों के शरीर आदि उत्तमोत्तम पदार्थोंका अनुलेप—स्नेह करके भी इसको कान्तियुक्त नहीं बना सकते। अनेक प्रकारके पदार्थोंकी सुगंधित धूप देकर भी इसको सुगंधित नहीं बना सकते। पुन पुन धिस धिस कर धोनेसे भी इसको व्याप्ययुक्त नहीं बना सकते। इतर

फुलेल आदि सुगन्ध द्रव्य लगाकर और पुष्पमाला आदिको धारण करके भी सुगन्धित नहीं बना सकते । इस तरह कोई भी उपाय करके इसकी अशुचिता दूर नहीं की जा सकती क्योंकि स्वभावसे ही यह शरीर अशुचिरूप है, और शुचिताका उपवातक—नाशक है । इस कारणसे भी शरीर अशुचि ही है ।

इस तरह अनेक प्रकारसे शरीरकी अपवित्रताके चिन्तन करनेको अशुचित्वानुपेक्षा कहते हैं । निरंतर इस तरहकी भावना करनेवाला जीव शरीरके विषयमें निवेद—वैराग्यको प्राप्त हो जाता है, और निर्विण्ण होकर शरीरका नाश—मोक्षको प्राप्त करनेके लिये ही चेष्टा किया करता है । इस प्रकार अशुचित्वानुपेक्षाका वर्णन किया ॥ ६ ॥

भाष्यम्—आस्रवानिहामुत्रापाययुक्तान्महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णानकुशलागमकुशलनिर्गमद्वारभूतानिन्द्रियादीनवद्यतश्चिन्तयेत् । तद्यथा—स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्ताचित्तः सिद्धोऽनेकविधया वलसम्पन्नोऽप्याकाशगोऽष्टाङ्गनिमित्तपारगो मार्ग्यः सत्यकिर्निधनमाजगाम । तथा प्रभृतयदत्तोदकप्रमाथावगाहादिगुणसम्पन्नवनविचारिणश्च मदोत्कटा बलवन्तोऽपि हस्तिनो हस्तिवन्धकीषु स्पर्शनेन्द्रियसक्तचित्ता ग्रहणमुपगच्छन्ति । ततो बन्धवधदमनवाहनाङ्गुष्ठापाणिप्रतोदाभिघातादिजनितानि तीव्राणि दुःखान्यनुभवन्ति । नित्यमेव स्वयूथस्य स्वच्छन्दप्रचारसुखस्य वनवासस्यानुस्मरन्ति । तथा मैथुनसुखप्रसङ्गादाहितगर्भाश्वतरी प्रसवकाले प्रसवितुमशक्नुवन्ती तीव्रदुःखाभिहताऽवगा मरणसंभ्युपैति । एवं सर्व एव स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्ता इहामुत्र च विनिपातमृच्छन्तीति । तथा जिह्वेन्द्रियप्रसक्ता मृतहस्तिशरीरस्थस्रोतोवेगोदवायसवत् हैमनघृतकुम्भप्रविष्टमूपिकवत् गोष्ठप्रसक्तहृद्वासिकर्मवत् मांसपेशीलुब्धश्चैनवत् वडिगामिपगृद्धमत्स्यवच्चेति । तथा घ्राणेन्द्रियप्रसक्ता ओषधिगन्धलुब्धपन्नगवत् पललगन्धानुसारिमूपिकवच्चेति । तथा चक्षुरिन्द्रियप्रसक्ताः स्त्रीदृग्गनप्रसङ्गादर्जुनकचोरवत् दीपालोकलोलपतद्भवाद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत् । तथा श्रोत्रेन्द्रियप्रसक्तास्तिरिक्तकपोतकपिञ्जलवत् गीतसंगीतध्वनिलोलमृगवाद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत् । एवं चिन्तयन्नास्रवनिरोधाय घटत इति आस्रवानुपेक्षा ॥ ७ ॥

अर्थ—सातवीं भावनाका नाम आस्रवानुपेक्षा है । कर्मोंके आनेके मार्गको आस्रव कहते हैं । आस्रवोंके भेद पहले वृत्ता चुके हैं । फलतः ये सभी आस्रव इस लोक तथा परलोक दोनों ही भवमें अपायपूर्ण—दुःखदायी हैं । दुःखोंके कारण तथा आत्माको कल्याणसे वंचित रखनेवाले हैं । जिस प्रकार बड़ी बड़ी नदियोंके प्रवाहका वेग अति तीक्ष्ण होता है, और अकुशल—अकल्याणके आगमन—प्रवेश और कुशल—कल्याणके निर्गम—बाहर निकलनेका कारण—द्वार हुआ करता है । उसी प्रकार ये इन्द्रिय आदि आस्रव भी जीवोंको अकल्याणसे युक्त कराने और कल्याणसे वंचित रखनेके लिये मार्ग हैं । इस प्रकार संवरके अभिलाषी साधुओंको इनकी अवयता—अधमताका विचार करना चाहिये । जिनके द्वारा कर्मोंका आस्रव होता है, उनमें इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष दीखनेवाले ऐसे कारण हैं, कि जिनसे जीवको इसी भवमें क्लेश सहन करना पड़ता है । परलोकके लिये भी इनसे अशुभ

कर्मका सचय होता है । इन्द्रियाँ पाँच हैं । उनमेंसे प्रत्येकका विचार करने योग्य स्वरूप इस प्रकार है—

स्पर्शन—जिसको अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं, अनेक नदी बड़ी और छोटी छोटी विद्याओंके बरतसे परिपूर्ण था, तथा जो आकाशमें गमन करनेवाला, और जो अष्टाङ्ग महानिमित्तशास्त्रोंका पारगामी था, ऐसा गार्ग्य गोत्रम उत्पन्न हुआ सात्यकि—महादेव इस इन्द्रियमें आसक्त—तीनचित्त रहनेके कारण ही मृत्युको प्राप्त हुआ । शास्त्रोंमें इसका स्पष्ट वर्णन है । इसमें स्पर्शनेन्द्रियकी आसक्तिका दोनों ही भवोंमें अवद्यस्वरूप (गर्हित—त्याज्य) जो फल प्राप्त होता है, वह सिद्ध होता है । इसके सिवाय प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है, कि जिस वनमें घास तृण वृक्ष आदि खाद्य-सामग्री और जल प्रचुररूपमें पाया जाता है, और इसी छिये उस वनमें यथेच्छ अन्नाहार करने आदि गुणोंसे सम्पन्न—परिपूर्ण रहकर स्वतन्त्र विहार करनेवाले मदनोन्मत्त और बलवान् भी हस्ती इस स्पर्शनेन्द्रियमें आसक्तचित्त होकर हस्तिचर्याकियोंमें फँस जाते हैं, और पकड़े जानकर बधनको प्राप्त हो जाते हैं । तथा इसके अनन्तर बधन वध दमन वाहन-सवारी और अक्रुशके द्वारा दोनों भागोंमें व्यथित होने तथा अभिघात—मार प्रभृति अनेक कारणोंसे उत्पन्न तीव्र दुःखोंका अनुभव किया करते हैं, और जिसमें कि अपने मृण्डके साथ साथ स्वच्छन्द धूमनेके सुखका अनुभव किया करते थे, उस वनवासको सत्ता याद किया करते हैं ।

तथा खिचरी मैथुन सुखके लोभमें फँसकर जन गर्भवती हो जाती है, तब वह प्रसवके समय बच्चेको पैदा नहीं कर सकती, और उसकी तीव्र यदनासे अभिहत होकर विषश हुई मृत्युको प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियमें अत्यासक्ति रखनेवाले सभी प्राणियोंको इस लोक तथा परलोकमें विनिपात—विनाशको प्राप्त होते हुए ही देला जाता है ।

रसनेन्द्रिय—इस इन्द्रियके वशमें पड़े हुए प्राणी भी दोनों भवोंमें हेतुको ही प्राप्त होते हैं । इस लोभमें उनका हेतु प्रत्यक्ष सिद्ध है । जिस प्रकार मरे हुए हाथीके शरीरपर बैठा हुआ

१—जैनधर्ममें ११ छद माने हैं जोकि षडुपधात्मके हो चुके हैं । उनमेंसे अतिरिक्त छहका नाम सात्यकी है । इनकी कथा सायबोमें वर्णित है । यदास्तिलक चम्पू, आराधनाकथाकोष आदि ग्रंथोंमें इसकी उक्तियाँ आदिका गुणाका वर्णन किया है सो बर्णन का अर्थ क्या—गुणा—अर्थोंमें दखना कहिये । उक्तका अर्थ यही है कि यमुनि और आदिकाके भ्रष्ट हो जानने उत्पन्न होते हैं । दीक्षा—धारण करने ११ अथ १ पूरा करने पड़ी श्रावण है । अथ सायबन कर चुकते हैं सब ५०० महाविष्णु और ७०० कृष्ण—छोटी विद्याएँ आकर उनमें अरुणा नामा बनेदेही प्रयत्ना किया करती है । ये भी उनके लोभमें आकर लग्न्यास भ्रष्ट हो जाते हैं, और इसलिये इसके विषयमें ११ श्रावण आमुने अन्तमें दुर्गति को जना करते हैं । अष्टाङ्ग महानिमित्त शास्त्रोंमें अन्त इस प्रकार है—१ अतीत २ भोग ३ भोग ४ श्रावण ५ श्रावण ६ श्रावण ७ श्रावण ८ श्रावण । १—पंच गुण आदिसे उत्पत्त्या, अथ । उत्तर उत्पत्तर श्रावण सेना, उनका उगमाला तो श्रावण केवल और अन्तमें दिनेश्वर—मदन आदि काय । २—द्विदिनेश्वर वदन्तः श्रावण एक श्रावण बनाया जाता है और दिनेश्वर हाथियों का हाथियोंके द्वारा उन्मत्त कर कर अन्तमें हाथी पैदाया जाता है । उत्पत्त्या हाथियोंकी बहान है ।

किन्तु नदीके वेगमें पड़ा हुआ कौआ, अतिरुश अथवा मरणको प्राप्त होता है, अथवा हेमन्त या शीत ऋतुमें धीके घड़में प्रविष्ट—चुसा हुआ चूहा, तथा सरोवरमें मदा निवास करनेवाला कलुआ गौँके बोड़में फँसकर जिम दशाको प्राप्त हुआ करता है, इसी तरह मांमकी डलीमें लोभके बरा फँसा हुआ चाजपक्षी या कटिया—लोहेके कोटमें लगे हुए मांस—खण्डके भक्षणकी गृद्धि—अतिशय लुब्धताको रखनेवाला मच्छ जिस दशाको प्राप्त हुआ करता है, उसी दशाको जिन्हा इन्द्रियके सभी लम्पटी प्राप्त हुआ करते हैं, यह बात इन उदाहरणोंमें सिद्ध होती है।

घ्राणेन्द्रिय—सर्पको पकड़नेवाले ऐसी औषधको सर्पके निवासस्थानके पास रख देते हैं, कि जिसकी गंध उसको अति प्रिय मालूम होती है। सर्प उस गंधके लोभसे वहाँ आता है, और पकड़ा जाता है। इस तरह नासिका इन्द्रियके वर्गीभूत हुए सर्पकी जो दशा होती है, अथवा मांसके गंधका अनुसरण करनेवाले चूहेको जो अवस्था भोगनी पड़ती है, वही दशा सम्पर्ण नासिका इन्द्रियके लम्पटियोंकी हुआ करती है।

चक्षुरिन्द्रिय—इस इन्द्रियके विषयमें आसक्त प्राणी भी स्त्री—दर्शनके निमित्तसे अर्जुन चोरके समान अथवा दीपकके प्रकाशको देखकर चञ्चल हो उठनेवाले पतङ्ग—कीड़की तरह विनिपात—पतितदशा या मृत्युको प्राप्त होते हुए ही देखे जाते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय—इस इन्द्रियके लम्पटी भी तीतर कपोत और कपिञ्जल चातक—पपीहाकी तरह अथवा गाये गये गीतकी ध्वनिको सुनते ही चञ्चल चित्त हो उठनेवाले हरिणकी तरह विनिपात—नाशको ही प्राप्त होते हैं।

इस तरह संवरके अभिलाषियोंको इन आत्मवद्वाररूप इन्द्रियोंकी अवद्यता—निकृष्टताका विचार करना चाहिये। जो निरंतर इस प्रकार चिन्तन करता रहता है, वह भव्य साधु सम्पूर्ण अपाय—नाशके कारणभूत इन आत्मवद्वारोंका निरोध करनेके लिये ही चेष्टा करनेमें दत्तचित्त हो जाता है। तथा मोक्षका साधन किया करता है। इस प्रकार आत्मवानुपेक्षाका स्वरूप समझना चाहिये ॥७॥

भाष्यम्—संवरांश्च महाव्रतादिगुण्यादिपरिपालनादुणतश्चिन्तयेत्। सर्वे ह्येते यथोक्तास्त्वदोषाः संवृतात्मनो न भवन्तीति चिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतो मातिसंवराद्यैव घटत इतिसंवरानुपेक्षा ॥ ८ ॥

अर्थ—संवरका स्वरूप पहले बता चुके हैं, कि आत्मवके निरोध—रोकने—रुकावटको संवर कहते हैं। यह संवर पंच महाव्रतादिरूप तथा तीन गुप्ति आदि स्वरूप है। जब कि आत्मव सम्पूर्ण अपाय—नाशका कारण है, और संवर उसका प्रतिपक्षी है, तो यह बात स्वयं ही सिद्ध हो जाती है, कि संवर सम्पूर्ण कल्याणोंका कारण है। अतएव संवरकी गुणवत्ता—महत्ताका चिन्तन करना चाहिये। विचार करना चाहिये, कि ऊपर जो आत्मवके दोष बताये हैं, वे संवर सहित जीवको कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते। इस प्रकार संवरकी गुणवत्ताका विचार करते रहनेवाले जीवकी बुद्धि संवरको सिद्ध करनेके लिये ही प्रवृत्त—तैयार हुआ करती है। इस प्रकार संवरानुपेक्षाका वर्णन किया ॥९॥

भाष्यम्—निर्जरा वेदना विपाक इत्यनथान्तरम् । सद्बुद्धिबोधोऽबुद्धिपूर्व कुशलमूलश्च । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाका योऽबुद्धिपूर्वकस्तमुद्यतोऽनुचिन्तयेदकुशलानुबन्ध इति । तप परीपहजयकृत कुशलमूल । त गुणतोऽनुचिन्तयेत् । शुमानुबन्धो निरनुबन्धो वेति । एवमनुचिन्तयन्कमनिजराणायैव घटत इति निर्जरानुपेक्षा ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्जरा वेदना और विपाक ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । निर्जरा दो प्रकारकी हुआ करती है ।—एक अबुद्धिपूर्वक दूसरी कुशलमूल । इनमें से नरकादिक गतियोंमें जो कर्मोंके फलका अनुभवन बिना किसी तरहके बुद्धिपूर्वक प्रयोगसे हुआ करता है, उसको अबुद्धिपूर्वक कहते हैं । इस निर्जराके प्रति उद्यत जीवको कुशलानुबन्ध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । तपके करनेसे तथा परीपहोंके जीतनेसे जो कर्मोंकी निर्जरा होती है, उसको कुशलमूल निर्जरा कहते हैं । यह निर्जरा ही कार्यकारी है । इस प्रकार इसकी गुणवत्ताका पुन पुन विचार करना चाहिये । अथवा इसकी शुमानुबन्धता या निरनुबन्धताका भी चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकार पुन पुन विचार करनेवाला मुमुक्षु कर्मोंकी निर्जरा करनेकी तरफ ही प्रवृत्त हुआ करता है ।

भावार्थ—आत्माके साथ लगे हुए पौद्गलिक कर्मोंका आत्मासे एकदेश बियोग होनेको—कर्मोंके एकदेश—आशिक क्षयको निर्जरा कहते हैं । आत्माके साथ बँधे हुए कर्म अपनी स्थितिको पूर्ण करके आत्मासे सम्बन्ध स्वयं ही छोड़ देते हैं । इसके लिये कोई खास प्रयत्न असाधारण कारणस्वरूप आवश्यक नहीं है । स्थिति पूर्ण होनेपर स्वयं ही कम आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर झड़ जाते हैं । इसीको अबुद्धिपूर्वकनिर्जरा कहते हैं । क्योंकि इसमें कर्मोंको निर्जरीकरण करनेके लिये कोई भी बुद्धिपूर्वकनिर्जराके कारणका प्रयोग नहीं किया जाता । यह अनादिशालसे ही होती चली आ रही है । इसका फल कुछ भी आत्म-कल्याण नहीं है । अतएव इसके विषयमें अकुशलानुबन्धताका ही विचार किया जाता है । क्योंकि ऐसा विचार करनेसे आत्म-कल्याणकी कारणभूत निर्जराकी तरफ प्रवृत्ति होती है ।

तप करने और परीपहोंके जीतनेसे कर्मोंकी स्थिति पूर्ण होनेके पहले ही निर्जरा हो जाती है । अतएव इसके निमित्तसे जीव मोक्षके मार्गमें अग्रसर बनता है, और इसी लिये इसको कुशलमूल कहते हैं । इसकी गुणवत्ताका चिन्तन भी मोक्ष-मार्गको सिद्ध करनेवाला है । इसलिये मुमुक्षुओंको अवश्य ही इसका पुन पुन विचार करना चाहिये । इस प्रकार निर्जरानुपेक्षाका वर्णन किया ॥ २ ॥

भाष्यम्—पञ्चास्तिकायात्मक विविधपरिणाममुत्पत्तिस्थित्यन्यतानुग्रहप्रत्यययुक्त लोक चित्रस्वभावमनुचिन्तयेत् । एव ह्यस्य चिन्तयतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवतीति लोकांनुपेक्षा ॥ १० ॥

अर्थ—लोकका स्वरूप पहले भी बता चुके हैं, कि यह पञ्चास्तिकायरूप है। जीव पुद्गल धर्म अवर्म और आकाशके समूहस्वरूप हैं। नाना प्रकारमें परिणमन करनेवाला, उत्पत्ति स्थिति भेद अनुग्रह और प्रत्यय भावका धारण करनेवाला, तथा विचित्र—आदम्यकारा स्वभावमें युक्त है। इस प्रकार लोकके स्वरूपका बार बार चिन्तन करना चाहिये। जो साधु इस प्रकार चिन्तन करता है, उसके तत्त्वज्ञानमें विशुद्धि हुआ करती है।

भावार्थ—लोकका चिन्तन करनेसे तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। क्योंकि वह तत्त्वोंके और उनके परिणमनादिके समुदायरूप ही है। इनके सिवाय परोक्ष इष्ट पदार्थोंकी तरफ श्रद्धा दृढ़ होती है, जिससे कि सिद्धिके साधनकी तरफ समुत्सु-साधुजन अग्रसर हुआ करते हैं ॥ १० ॥

भाष्यम्—अनादी संसारे नरकादिषु तेषु भवग्रहाणेष्वनन्तकृत्व परिवर्तमानस्य जन्तोर्विविधदुःखाभिहतस्य मिथ्यादर्शनाद्युपहतमन्तर्दानिर्दर्शनावरणमोहान्तराद्योदयाभिभूतस्य सम्यग्दर्शनादि विशुद्धा बोधिदुर्लभो भवतीत्यनुचिन्तयेत् । एव ह्यस्य बोधिदुर्लभत्वमनुचितयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न भवतीति बोधिदुर्लभत्वानुपेक्षा ॥ ११ ॥

अर्थ—यह चतुर्गतिरूप संसार अनादि है। अतएव मंसारि—प्राणी भी नरकादिक चारों गतियोंमें अनादिकालसे ही परिभ्रमण कर रहा है। नारक आदि भोगके पुनः पुनः ग्रहण करनेमें ही सदासे प्रवृत्त है। एक भवको छोड़कर दूसरे भवको धारण कर पुनर्गति पहले ही भवोंको धारण करने—रूप परिवर्तन यह प्राणी अनादि संसारमें अनन्त बार कर चुका है। संसारकी चारों गतियोंमें अनन्त बार परिवर्तन करनेके कारण नाना प्रकारके दुःखोंसे अभिहत—पीड़ित है, और हो रहा है। इस अनादि परिभ्रमणका कारण मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शनके उदयसे इस जीवकी मति—समीचीन—व्यर्थ ब्रुद्धि नष्ट हो चुकी है, और इसके साथ ही यह जीव ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातियाक्रमोंके उदयसे अभिभूत—व्याकुल हो रहा है, जिससे कि इसकी ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व और वीर्यशक्ति लुप्तप्राय हो गई है, तथा विपरीत बन गई है। अतएव इस जीवको सम्यग्दर्शनादिके द्वारा अत्यन्त विशुद्ध बोधि—सम्यग्ज्ञानका लाभ दुःशक्य—दुःसाध्य है। इस प्रकार साधुओंको बोधिकी दुर्लभताका पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिये। जो इस प्रकारमें बोधिदुर्लभताका चिन्तन करता रहता है, वह जीव बोधिको पाकर प्रमादी नहीं बनता।

भावार्थ—अनादि कालसे कर्मके पराधीन इस प्राणीको परिभ्रमण करते हुए एक रत्नत्रयके सिवाय सभी वस्तुओंका लाभ अनन्त बार हुआ, किन्तु रत्नत्रयकी प्राप्ति एक बार भी नहीं हो सकी। अतएव सबसे अधिक यही दुर्लभ है। इसके बिना जीव नाना दुःख-परम्पराओंसे पीड़ित ही बन रहा है। इसलिये सम्पूर्ण सुखका साधन रत्नत्रयका लाभ हो जानेपर विवेकी साधु प्रमादी कैसे बन सकते हैं? वे उसको पाकर उसकी रक्षा और पुष्टिमें ही प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस प्रकार बोधिदुर्लभत्वानुपेक्षाका वर्णन हुआ ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनद्वार पञ्चमहाव्रतसाधनो द्वादशाङ्गोपदिष्टतत्त्वो गुप्त्याविविशुद्धव्यवस्थान सत्सारानिर्वाहको नि श्रेयस प्रापको भगवता परमर्षिणार्हतादी ध्यारयातो धर्म इत्येवमनुचिन्तयेत् । पय ह्यस्य धर्मस्वाख्याततत्त्वमनुचिन्तयतो मार्गाच्यवने तदनुष्ठाने च व्यवस्थान भवतीति धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनानुपेक्षा ॥ १२ ॥

अर्थ—परमर्षि भगवान् अरहत्तदेवने निस्सङ्गा व्याख्यान किया है, अहो वही एक ऐसा धर्म है, कि जो जीवोंको ससारसे पार उतारनेवाला और मोक्षको प्राप्त करानेवाला है । उसका द्वार सम्यग्दर्शन है । सम्यक्त्वका स्वरूप पहले बता चुके हैं । उसके द्वारा ही धर्मकी सिद्धि होती है । उसके विशेष साधन पाँच महाव्रत हैं । हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रहका सर्वात्मना त्याग, उसके पर्ण स्वरूपको सिद्ध करनेवाला है । धर्मका तत्त्व—वास्तविक स्वरूप द्वादशाङ्गमें बताया है । उसकी निर्दोष—निर्मल व्यवस्था—स्थिति गुप्ति आदिके द्वारा हुआ करती है । इस प्रकार आर्हतधर्मकी महत्ताका पुन पुन चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकार धर्मके उपदिष्ट तत्त्वका जो साधुजन बार बार विचार करते हैं, वे मोक्षके मार्गसे च्युत नहीं होते, और उसके पालन करनेमें व्यवस्थित हो जाते हैं । इस प्रकार धर्मस्वाख्याततत्त्वभावनाका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ १२ ॥

भाष्यम्—उक्ता अनुपेक्षा, परीपटाव वक्ष्याम ॥

अर्थ—इस प्रकार बारह भावनाओंका वर्णन किया । इस अध्यायकी आदिमें सवरके साधनोंका जो उल्लेख किया है, तदनुसार गुप्ति समिति और धर्मके अनन्तर क्रमसे बारह अनुपेक्षाओंका इस सूत्रमें व्याख्यान किया । अब क्रमानुसार भावनाओंके अनन्तर सवरका साधन जो परीपहजय बताया है, उसका स्वरूप बतानेके लिये यहाँपर परीपहोंका वर्णन करनेके पूर्व उनका सहन क्यों करना चाहिये, सो बतानेको मत्र कहते हैं ।

सूत्र—मार्गाच्यवननिर्जरार्थ परिपोढव्याः परीपहाः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनादिमाक्षमार्गादच्यवनार्थ कम निर्जरार्थ च परिपोढव्या परीपहा इति । तद्यथा—

अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष-मार्गसे च्युत न होनेके लिये और कर्मोंकी निर्जरा हो इसके लिये परीपहोंका भले प्रकार सहन करना चाहिये ।

भाष्यार्थ—जो परीपहोंसे मय खाता है, वह मोक्ष मार्गको भेदप्रकार सिद्ध नहीं कर सकता, और न तपश्चरणमें इतनी दृढताके बिना वह कर्मोंको निर्जर्ण ही कर सकता है । अतएव इन दो प्रयोजनोंको सिद्ध करनेके लिये सम्पूर्ण परीपह सर्वात्मना सहन करनेके योग्य ही बनाई हैं ।

परीपह शब्द अन्वर्थ ह ।—परीपश्यते इति परीपहा । अतएव इनके जीतनेमें ही महत्त्व है । यद्यपि यहाँपर परीपहोंके जीतनेके दो प्रयोजन बताये हैं—एक मोक्षमार्गसे अप्रचय और

दूसरा कर्मोकी निर्जरा । किन्तु संवरकी साधनत्वरूप भी इसका प्रयोजन है, जोकि प्रकरणगत होनेसे स्वयं ही समझमें आता है ।

जिनके निमित्तसे धर्माराधनमें—मोक्ष—मार्गके साधनमें अथवा कर्मोकी निर्जराके उपायभूत तपश्चरणमें विघ्न उपस्थित हो सकता है, ऐसी पीड़ा विशेषको परीपह समझना चाहिये । यद्यपि ऐसी पीड़ाएं अनेक हो सकती हैं, परन्तु उन सबका जिनमें समावेश हो जाय, ऐसी पीड़ाएं कितनी हैं ? वे बाईस हैं । उनका ही नामोल्लेख करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

**सूत्र—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिप-
द्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञा-
ज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥**

भाष्यम्—क्षुत्परीपहः, पिपासा, शीतम्, उष्णम्, दंशमशकं, नाग्न्यम्, अरतिः, स्त्रीपरीपहः चर्यापरीपहः, निपद्या, शय्या, आक्रोशः वधः, याचना, अलाभः, रोगः, तृणस्पर्शः, मलम्, सत्कारपुरस्कारः, प्रज्ञाज्ञानेऽदर्शनपरीपह इत्येते द्वाविंशतिर्धर्मविघ्नहेतवो यथोक्तं प्रयोजनमभिसंधाय रागद्वेषौ निहत्य परीपहाः परिपोढव्या भवन्ति ॥

पञ्चानामेव कर्मप्रकृतीनामुदयादेते परिपहाः प्रादुर्भवन्ति । तद्यथा—ज्ञानावरणवेदनीय-दर्शनचारित्र्यमोहनीयान्तरायाणामिति ॥

अर्थ—परीपह बाईस हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निपद्या, शय्यक, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन ।

इन बाईसों परीपहोंको धर्ममें विघ्न उपस्थित करनेका कारण समझना चाहिये । क्योंकि इनके न जीतनेसे या इनके अधीन हो जानेपर रत्नत्रयरूप धर्मके आराधन करनेमें विघ्न उपस्थित होता है । अतएव जिस जिस परीपहके जीतनेका जो जो प्रयोजन बताया है, उसको ध्यानमें रखकर—लक्ष्य करके इन सभी परीपहोंको राग द्वेष छोड़कर जीतना चाहिये ।

भावार्थ—इष्ट विषयमें राग भावकी एकान्त प्रवृत्ति और उसी प्रकार अनिष्ट विषयमें द्वेषकी प्रवृत्ति भी मुमुक्षुओंके लिये हेय—छोड़ने योग्य ही है । अतएव प्रकृत विषयमें भी यह बात ध्यानमें रखकर परीपहोंको वीतरागताके साथ सहन करना चाहिये । यथा क्षुधाको अनिष्ट समझकर उसके शमन करनेमें भी प्रवृत्त न होना—उससे द्वेष करना अथवा उसको इष्ट मानकर उसके शमन करनेमें राग भावके वशीभूत होकर अयोग्य उपायका भी आश्रय लेना अनुचित है । अतएव दोनों भावोंका परित्याग होनेसे ही वास्तवमें परी-पहजय कहा जा सकता है । इसी लिये विधिपूर्वक क्षुधाका शमन करना किन्तु योग्य उपाय न मिलनेपर उसके वशीभूत न होना—मनमें तलमलहट—गृद्धि—चिन्ता आदिका न

होना, क्षुत्परीपहका जय कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिये । इसी प्रकार पिपासा-प्यास परीपह आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये ।

इन परीपहोंके होनेमें कारण क्या है ? तो ज्ञानावरण वेदनीय दर्शनमोहनीय चारित्र मोहनीय और अन्तराय इन पाँच प्रवृत्तियोंका उदय ही इनका अन्तरङ्ग कारण है ।

इन पाँच कर्मोंके उदयकी अपेक्षासे ही यहाँपर परीपहोंका वर्णन किया गया है । अतएव जहाँतक जिस कर्मका उदय पाया जाता है, वहाँतक उस कर्मके उदयसे कही जानेवाली परीपहोंका भी उल्लेख किया गया है, ऐसा समझना चाहिये । किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीपह होती हैं, इस बातको बतानेके पूर्व उनके स्वामियोंको बताते हैं, कि कितनी कितनी परीपह किस किस गुणस्थानकर्त्ता जीवके पाई जाती हैं । अब इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सूक्ष्मसपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

भाष्यम्—सूक्ष्मसपरायसयते छद्मस्थवीतरागसयते च चतुर्दश परीपहा भवन्ति ।—
क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकचर्याप्रज्ञाज्ञानालाभशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलानि ।

अर्थ—सूक्ष्मसपराय गुणस्थानवाले और छद्मस्थ वीतराग स्यामियोंके उपर्युक्त बाईस परीपहोंमेंसे चौदह परीपह पाई जाती हैं, जोकि इस प्रकार है—क्षुधापरीपह, पिपासापरीपह, शीतपरीपह, उष्णपरीपह, दशमशकपरीपह, चर्यापरीपह, प्रज्ञापरीपह, अज्ञानपरीपह, अलामपरीपह, शय्यापरीपह, वधपरीपह, रोगपरीपह, तृणस्पर्शपरीपह, और मलपरीपह ।

भावार्थ—सपराय नाम कषायका है । जहाँपर लोभकषाय अत्यन्त मद रह जाती है—धुले हुए कुसुमके रंगके समान जहाँपर उसका उदय विन्कुल ही हलका पाया जाता है, उसको सूक्ष्मसपराय कहते हैं । यह दशवें गुणस्थानकी सज्ञा है । इसी प्रकार जहाँतक केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु राग द्वेषरूप मोहकर्म वीत चुका है—शान्त या क्षीण हो चुका है, ऐसे ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानको छद्मस्थ वीतराग कहते हैं । इन तीनों ही गुणस्थानोंमें चौदह परीपह पाई जाती है । क्योंकि परीपहोंके कारणभूत कर्मका उदय इन गुणस्थानों तत्र पाया जाता है । क्योंकि यह बात ऊपर ही कह चुके हैं, कि प्रतिपत्ती कर्मोंके उत्पत्ती अपेक्षासे ही परीपहोंका प्रादुर्भाव समझना चाहिये ।

सूत्र—एकादश जिने ॥ ११ ॥

भाष्यम्—एकादश परीपहा समवन्ति जिने वेदनीयाश्रया । तद्यथा—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरीपहा ॥

अर्थ—वेदनीयकर्मके आश्रयसे जिन भगवान्—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवालोंके ग्यारह परीपह समव हैं । जोकि इस प्रकार हैं—क्षुधापरीपह, पिपासापरीपह, शीतपरीपह,

उष्णपरीपह, दंशमशकपरीपह, चर्यापरीपह, शय्यापरीपह, वधपरीपह, रोगपरीपह, तृणस्पर्शपरीपह, और मलपरीपह ।

भावार्थ—ये ग्यारह परीपह वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करती हैं, और वेदनीय, कर्मका उदय तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन भगवान् के भी पाया जाता है, इस अपेक्षासे इन परीपहोंकी अरिहंतके भी संभवता बताई गई है^१ ।

सूत्र—वादरसंपराये सर्वे ॥ १२ ॥

भाष्यम्—वादरसंपरायसंयते सर्वं द्वाविंशतिरपि परीपहाः सम्भवन्ति ॥

अर्थ—वादरसंपराय—नववें गुणस्थान तक सभी—वाइसों परीपह संभव है ।

भावार्थ—वादर नाम स्थूल कषायका है । जहाँतक स्थूल कषायका उदय पाया जाता है, उस नववें गुणस्थानको वादरसंपराय कहते हैं । वहाँतक सभी परीपहोंका संभव है ।

वाइसों परीपहोंकी संभवता नाना जीवोंकी अपेक्षासे है, न कि एक जीवकी अपेक्षा । अथवा एक जीवके भी भिन्न कालकी अपेक्षा सब परीपह संभव हैं । क्योंकि एक कालमें एक जीवके १९ से अधिक परीपह नहीं हो सकती, ऐसा आगे चलकर वर्णन करेंगे ।

इस प्रकार परीपहोंके स्वामियोंको बताकर साधनको बतानेके लिये अब यह बताते हैं, कि किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीपह होती हैं ।—

सूत्र—ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

भाष्यम्—ज्ञानावरणोदये प्रज्ञाज्ञानपरीपहो भवतः ॥

अर्थ—प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीपह ज्ञानावरणकर्मके उदयसे हुआ करती हैं ।

भावार्थ—ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञानका अभाव होता है । इसलिये उसके उदयसे अज्ञान परीपहका बताना तो ठीक है, किन्तु प्रज्ञापरीपह उसके उदयसे किस तरह कही जा सकती है ? क्योंकि प्रज्ञा तो ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होती है । अतएव ज्ञानभावको ज्ञानावरणके उदयसे बतानेका क्या कारण है ?

उत्तर—प्रज्ञा और प्रज्ञापरीपहमें अन्तर है । ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे अभिव्यक्त—प्रकट हुई बुद्धि विशेषको प्रज्ञा कहते हैं, और अपनी बुद्धि या ज्ञानका मद होना, इसको प्रज्ञापरीपह कहते हैं । ज्ञानका मद वहींतक होता है, जहाँतक कि अल्पज्ञता है, और अल्पज्ञताका कारण ज्ञानावरणकर्मका उदय ही है । अतएव प्रज्ञापरीपहको उसके उदयका कार्य बताना उचित और युक्त ही है ।

१—दिगम्बर—सम्प्रदायमें इस सूत्रका दो प्रकारकी क्रिया लगाकर दो तरहसे अर्थ किया है । एक तो सन्ति क्रिया लगाकर कारणकी अपेक्षा ग्यारह परीपह जिन भगवान् के हैं, यह अर्थ, और दूसरा न संति क्रिया लगाकर कार्य रूपमें ग्यारह परीपह नहीं है, यह अर्थ ।

सूत्र—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

भाव्यम्—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनमोहोदयसमय दर्शनमोहोदयेऽदर्शनापरी-
पह लाभा—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनमोहोदयसमय दर्शनमोहोदयेऽदर्शनापरी-
पह लाभा—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनमोहोदयसमय दर्शनमोहोदयेऽदर्शनापरी-

नय—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनमोहोदयसमय दर्शनमोहोदयेऽदर्शनापरी-
पह लाभा—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनमोहोदयसमय दर्शनमोहोदयेऽदर्शनापरी-
पह लाभा—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनमोहोदयसमय दर्शनमोहोदयेऽदर्शनापरी-

भावार्थ—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनमोहोदयसमय दर्शनमोहोदयेऽदर्शनापरी-
पह लाभा—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनमोहोदयसमय दर्शनमोहोदयेऽदर्शनापरी-
पह लाभा—दर्शनमोहान्तरापरदर्शनमोहोदयसमय दर्शनमोहोदयेऽदर्शनापरी-

सूत्र—चारित्र्यमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिपत्याकोशभावनासत्कार- पुरस्कारा ॥ १५ ॥

भाव्यम्—चारित्र्यमोहोदये पति नाग्न्यापत्त्या सातपरीपक्षा भवन्ति ॥

अर्थ—नाग्न्यपरीपह, अरतिपरीपह, स्त्रीपरीपह, निपत्यापरीपह, आकाशपरीपह, भाव-
नापरीपह, और सत्कारपुरस्कारपरीपह, ये सातपरीपह चारित्र्यमोह विषयार्थके उदयसे हुआ करती हैं।

भावार्थ—निर्गन्ता विद्वान्, भारण करनेवाले और उताही भावों, छिपे जाई हुई विपत्ति
योंको नाग्न्यपरीपह कहते हैं। अनिष्ट पदार्थोंके संयोगमें अपासित्य भावके होनेसे अरतिपरी-
पह कहते हैं। प्रहर्षयुक्त भोग करने भाविनी भोगसे त्रिष्योग द्वारा होनेवाले आश्रमणयो-
गपरीपह कहते हैं। ध्यान या सामाग्नियोग छिपे हुए भासनसे स्तिर होनेपर आकाशी कठिनाताके
अनुभवको निपत्यापरीपह कहते हैं। गहर्वाग्राह, गान्धर्वार्थ विवाह आभोरहे, पापीहे, दुष्टहे, इत्यादि
अज्ञानियोंके द्वारा किये गये मिथ्या आश्रय को या उनके द्वारा बोझे गये दुर्बध्नाय। आकाशपरी-
पह कहते हैं। सहेदा या विपत्ति के समय उसमें घबराकर उमड़ना पर उठने छिपे मिमी भी
वस्तुको अपने छिपे भागनेके भाव होना या धनपरीपह कहते हैं। अथवा कहते योग्य रहने
हुए भी प्रगल्भ आत्मा या व्यक्त का न
स्वापरीपह कहते हैं।

यह उन परीषहोंका स्वरूप है, जोकि चारित्रमोहकर्मके उदयसे हुआ करती हैं। कर्मोंका संवर तथा क्षपण करनेके लिये प्रवृत्त हुए साधुजन इन परीषहोंके वशीभूत नहीं हुआ करते। उनको जीतकर मोक्ष-मार्गमें अग्रेसर हुआ करते हैं।

ऊपर जिन जिन परीषहोंके कारण बताये हैं, उनके सिवाय बाकी रहीं ग्यारह परीषहोंके कारणका उल्लेख करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

भाष्यम्—वेदनीयोदये शेषा एकादश परीषहा भवन्ति ये जिने संभवन्तीत्युक्तम् । कुतः शेषाः ? एभ्यः प्रज्ञाज्ञानादर्शनालभनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारेभ्य इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त परीषहोंसे जो बाकी रहती है, वे ग्यारह परीषह वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करती हैं, जिनके लिये पहले कहा जा चुका है, कि ये जिन भगवानके संभव हैं। वे कौनसी परीषह हैं, कि जिनसे शेष ये वेदनीय कर्मजन्य ग्यारह परीषह मानी जाती हैं ? तो उनके नाम इस प्रकार हैं—प्रज्ञापरीषह, अज्ञानपरीषह, अदर्शनपरीषह, अलामपरीषह, नाग्न्य-परीषह, अरतिपरीषह, स्त्रीपरीषह, निषद्यापरीषह, आक्रोशपरीषह, याचनापरीषह, और सत्कार-पुरस्कारपरीषह।

भावार्थ—उक्त ग्यारहसे शेष रहनेवाली ग्यारह परीषहोंके नाम इस प्रकार हैं—क्षुधा-परीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह, दंशमशकपरीषह, चर्यापरीषह, शय्यापरीषह, वधपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, और मलपरीषह। इनका अर्थ स्पष्ट है। ये परीषह कारणके अस्तित्वकी अपेक्षासे जिन भगवान्के संभव कही गई हैं।

उक्त बाईस परीषहोंमेंसे एक जीवके एक कालमें कमसे कम कितनी और अधिकसे अधिक कितनी परीषह आकर उपस्थित हो सकती हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—एषां द्वाविंशतेः परीषहाणामेकादयो भजनीया युगपदेकस्मिन् जीवे आ एकोनविंशतेः । अत्र शीतोष्णपरीषहौ युगपन्न भवतः । अत्यन्तविरोधित्वात् । तथा चर्याशय्यानिषद्यापरीषहाणामेकस्य संभवे द्वयोरभावः ॥

अर्थः—उक्त बाईस परीषहोंमेंसे एक जीवके एक कालमें एकसे लेकर उन्नीस परीषह तक यथासंभव समझ लेनी चाहिये। अर्थात् किसी जीवके एक किसीके दो किसीके तीन किसीके चार और किसीके पाँच इसी तरह क्रमसे किसी जीवके उन्नीस परीषह भी एकसाथ हो सकती हैं। युगपत् बाईसों परीषह क्यों नहीं हो सकती ? यही बात यहाँपर समझनी चाहिये। इसका कारण यही है, कि एक तो शीत और उष्ण परीषह युगपत् नहीं हो सकती। क्योंकि

शीत और उष्ण दोनों परस्परमें अत्यन्त विरुद्ध हैं । जहाँ शीतपरीपह होगी, वहाँ उष्ण परीपह नहीं होगी, और जहाँ उष्णपरीपह होगी, वहाँ शीतपरीपह नहीं हो सकती । अत एव एक परीपह घट जाती है । इसी तरह चर्या शय्या निषद्या इन तीन परीपहोंमें से एक कालमें एक्का ही सम्भव हो सकता है, तीनोंका नहीं । क्योंकि चलना शयन करना और स्थित रहना ये तीनों क्रियाएँ भी परस्परमें विरुद्ध हैं, अतएव इनमें से एक कालमें एक ही हो सकती है, दोका अभाव ही रहेगा ।

भावार्थ—शीत उष्णमेंसे एक और चर्या शय्या निषद्यामेंसे दो इस तरह तीन परीपहोंका एक कालमें अभाव रहता है । अतएव बाईस परीपहमेंसे तीनके घटजानेपर शेष परीपह उक्रीप्त रहती हैं । सो ही एक जीवके एक समयमें हो सकती हैं ।

इस प्रकार सत्त्वकी कारणभूत परीपहजयके प्रकरणानुसार उनके भेद आदिका वर्णन किया । अब उसके अनन्तर क्रमानुसार चारित्रिका वर्णन करना चाहिये, अतएव उसके ही भेदोंको मतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—सामायिकछेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपरायय-
थास्यातानि चारित्र्यम् ॥ १८ ॥**

भाष्यम्—सामायिकसयम छेदोपस्थाप्यसयम परिहारविशुद्धिसयम सूक्ष्मसंपराय सयम यथास्यातसयम इति पञ्चविध चारित्र्यम् । तत्पुलाकाविषु विस्तरेण वक्ष्याम ॥

अर्थ—चारित्र्य पाँच प्रकारका है—सामायिकसयम, छेदोपस्थाप्यसयम, परिहारविशुद्धि सयम, सूक्ष्मसंपरायसयम, और यथास्यातसयम । इसका विशेष वर्णन आगे चलकर करेंगे, जब कि पुलाक आदि निर्गन्ध मुनियोंके भेदोंका उल्लेख किया जायगा ।

भावार्थ—सत्त्वके कारणभूत कर्मोंके बन्धके लिये योग्य जो क्रियाएँ उनका निरोध कर शुद्ध आत्म-स्वरूपका लाभ करनेके लिये जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रयुक्ति होती है, उसको चारित्र्य अथवा सयम कहते हैं । प्रकृतमें उसके सामायिक आदि पाँच भेद हैं, जिनके कि निर्देश स्वामित्व आदिका वर्णन आगे चलकर इसी अध्यायमें किया जायगा ।

यहाँ क्रमानुसार चारित्र्यके अनन्तर तपसा वर्णन करते हैं । क्योंकि ऊपर सत्त्वके कारणोंमें तपसो भी गिनाया है । तप दो प्रकारका है—एक बाह्य दूसरा अन्तरात्म । इनमेंसे पहले बाह्य तपके भेदोंको मतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—अनशनानामौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-
शय्यासनकायकेशा बाह्य तप ॥ १९ ॥**

भाष्यम्—अनशनम्, अर्थात् वृत्तिपरिसंख्यानम्, रसपरित्यागः, सनता, कायकेशा इत्येतत्त्वचिर्ब

सम्यग्योगनिधहोगुतिरित्यतः प्रभृति सम्यगित्यनुवर्तते । संयमरक्षणार्थं कर्मनिर्जरार्थं च चतुर्थपष्टाष्टमादि सम्यगनशनं तपः ॥ १ ॥

अर्थ—वाह्यतपके छह भेद हैं ।—अनशन, अवमौर्दर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासनता, और कायक्लेश ।

गुप्तिका लक्षण बतानेके लिये पहले यह सूत्र लिखा जा चुका है, कि “सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः” । इस सूत्रमें जो सम्यक् शब्द आया है, उसकी वहीसे लेकर अनुवृत्ति चली आती है । अतएव अनशन आदि प्रत्येक शब्दके साथ सम्यक् शब्द को जोड़ लेना चाहिये, सम्यगनशन सम्यगवमौर्दर्य इत्यादि ।

संयमकी रक्षाके लिये और कर्मोंकी निर्जराके लिये जो चतुर्थ पष्ट या अष्टम आदिका धारण करना इसको सम्यगनशन नामका तप कहते हैं ।

भावार्थ—अशन—भोजनके त्यागको अनशन अथवा उपवास कहते हैं । इस तरह का अनशन रोग निवृत्ति आदिके लिये भी किया जाता है, परन्तु वह प्रकृतमें उपादेय नहीं माना है । संयमकी रक्षा और कर्मोंकी निर्जराको सिद्ध करनेके लिये जो आहारका परित्याग किया जाता है, उसीको प्रकृतमें अनशन कहते हैं । इस बातको दिखानेके लिये ही सम्यक् शब्द जोड़ा गया है ।

प्रोषधोपवासको चतुर्थ, वेलको पष्ट और तेलको अष्टम कहते हैं । क्योंकि आगममें एक दिनकी दो भुक्ति मानी गई है । एक प्रातःकालकी और दूसरी सायंकालकी । इनमेंसे एकके त्यागको प्रोषध और दोनेके त्यागको उपवास कहते हैं । अष्टमी चतुर्दशी आदिके अवसरपर पहले और पिछले दिनकी एक एक भुक्ति और मध्यके दिनकी दो भुक्ति इस तरह चार भुक्तियोंके त्यागको प्रोषधोपवास कहते हैं । जैसे कि सप्तमीको और नवमीको एक एक भुक्तिका और अष्टमीको दोनों भुक्तियोंका जो परित्याग किया जाय, तो वह अष्टमीका प्रोषधोपवास कहा जायगा । इसी तरह मध्यके दो दिनोंमें दो दो भुक्तियोंका त्याग करनेसे पष्ट, और तीन दिनकी दो दो भुक्तियोंका त्याग करनेसे अष्टम अनशन कहा जाता है । इसी प्रकार दशम आदिका भी स्वरूप समझ लेना चाहिये । इस तपमें इन्द्रियोंको जीतनेके लिये कपायका परिहार करनेके लिये निद्रा आदि प्रमादके वशीभूत न होनेके लिये तथा विकथा आदिके करनेमें प्रवृत्ति न हो, इसके लिये चतुर्विध आहारका परित्याग किया जाता है । इसीसे संयम और कर्मोंकी निर्जरा सिद्ध हुआ करती है ॥ १ ॥

भाष्यम्—अवमौर्दर्यम् अवममित्यूनाम । अवममुदरस्य अवमोदरः अवमोदरस्य भावः अवमौर्दर्यम् । उत्कृष्टावकृष्टौ वर्जयित्वा मध्यमेन कवलेन त्रिविधमवमौर्दर्यं भवति । तद्यथा—अल्पाहारावमौर्दर्यमुपाधौर्दर्यं प्रमाणप्राप्तात्किञ्चिद्दूनावमौर्दर्यमिति । कवलपरिसंख्यानं च प्राग्द्वात्रिंशद्भ्यः कवलेभ्यः ॥ २ ॥

अर्थ—अवम शब्द ऊन न्यून आदि शब्दोंका पर्यायवाचक है । जिसका अर्थ कम या खाली ऐसा होता है । अवम—खाली है, उदर—पेट जिसका उसको अपना खाली पेटको कहते हैं अवमोदर । अवमोदरका भाव—खाली पेट रहना इसको कहते हैं अवमौदर्य । उच्छृष्ट और जघनको छोड़कर मध्यम कवलकी अपेक्षासे अवमौदर्य तप तीन प्रकारका हुआ करता है । यथा—अल्पाहारवमौदर्य उपार्धावमौदर्य और प्रमाणप्राप्त से किंचिदून अवमौदर्य । कवलका प्रमाण यहाँपर बत्तीस कवलसे पहलेका ग्रहण करना चाहिये ।

भावार्थ—आगममें साधुओंके आहारका प्रमाण बताया है । मुमुक्षु साधुओंको उस हिसाबसे ही आहार ग्रहण करना चाहिये । वह प्रमाण इस प्रकार है, कि—पेटके चार भागों में दो भाग आहारके द्वारा एक भाग जलके द्वारा और शेष चतुर्थ भाग वायुके द्वारा पूर्ण करना चाहिये । साधुओंको ज्यादा से ज्यादा बत्तीस कवल—ग्रास आहार लेना चाहिये । एक ग्रासका प्रमाण एक हजार चावल है । इसी हिसाबसे एक ग्रास और बत्तीस ग्रासको जोड़कर मध्यमे दो से लेकर इक्कीस ग्रास तकका आहार लेना इसको अवमौदर्य तप कहते हैं । वह तीन भागोंमें विभक्त है । जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है । दो चार छह आदि अल्प ग्रास लेनेको अल्पाहारवमौदर्य कहते हैं । आधेके करीब पंद्रह सोलह ग्रास लेनेको उपार्धावमौदर्य कहते हैं । और बत्तीसके पहले पहले इक्कीस ग्रास तकके आहारको प्रमाण प्राप्तसे किंचिदून अवमौदर्य कहते हैं ॥ २ ॥

साध्यम्—वृत्तिपरिसंख्यानमनेकविधम् । तद्यथा—उत्क्षिप्तान्तप्रान्तचर्यादीना सक्त कुल्माषोदनादीनाचान्यतममभिगृह्यावशेषस्य प्रत्यारयानम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वृत्तिपरिसंख्यान तप अनेक प्रकारसे हुआ करता है । जैसे कि उत्क्षिप्त अन्त प्रान्तचर्या आदिमेंसे सन्नक्षिप्तके अनुसार मिलनेपर आहार ग्रहण करना अन्यथा नहीं, इसी प्रकार सक्त, कुल्माष—उर्द कानी—खट्टा मोंड आदिमेंसे किसी भी अभिगृहीत—स्वीकृत क्रियेका ग्रहण करना और अवशेषका त्याग करना इसको वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं ।

भावार्थ—आहारके लिये निकलते समय कोई भी अटपटा नियम लेनेको वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं । जैसे कि ऊपरको उठी हुई या शिरपर रखी हुई अमुक वस्तु दृष्टिगत होगी तो आहार ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं, अमुक अमुक दिशाकी तरफ जाते समय आहार मिलेगा तो लेंगे नहीं तो नहीं, अपना अमुक वस्तु आहारमें मिलेगी, तो लेंगे नहीं तो नहीं । इसी तरह वृत्तिपरिसंख्यान अनेक प्रकारसे हुआ करता है । इस तपके करनेवाला परिसंख्यात रीतिसे मिलनेपर आहारका ग्रहण करता है, शेषका परित्याग करता है ॥ ३ ॥

१—इस हिसाबसे करीब ४२ ताले आहारका उच्छृष्ट प्रमाण होता है । क्योंकि ८ चावलकी १ रत्ता, ८ रत्ताका १ मासा और १२ मासेका १ तोण होता है । २—अबनी रेंमें एक ग्रासका ग्रहण भी क्यों नहीं लिया सो धमसमें नहीं आता । क्योंकि पूरा आहार न करनेको अवमौदर्य कहते हैं ।

भाष्यम्—रसपरित्यागोऽनेकविधः । तद्यथा—मांसमधुनवनीतादीनां मद्यरसाविकृतीनां-
प्रत्याख्यानं विरसरूक्षाद्यभिग्रहश्च ॥ ४ ॥

अर्थ—चाँथे बाह्य तपका नाम रसपरित्याग है । यह भी अनेक प्रकारसे हुआ करता है । जैसे कि मद्य मांस मधु और नवनीत—मक्खन आदि जो जो रसविकृति हैं, उनका परित्याग करके आहार ग्रहण करना । अथवा विरस—नीरस रूक्ष आदि पदार्थ आहारमें ग्रहण करना इसको रसपरित्याग नामका तप कहते हैं ।

भावार्थ—रसविकृतियोंका अथवा एक दो आदि कुछ रसोंका यद्वा समस्त रसोंका त्याग करके आहार ग्रहण करनेको रसपरित्याग तप कहते हैं ।

रस शब्दसे कहींपर तो रसनाइन्द्रियके पाँच विषय ग्रहण किये जाते हैं । यथा—मधुर अम्ल कटु कषाय तिक्त । अथवा कहींपर घी दूध दही शक्कर तेल नमक ये छह चीजें ली जाती हैं । इनके यथा योग्य त्यागकी अपेक्षा अथवा मद्यादि विकृतियोंके त्यागकी अपेक्षासे रसपरित्याग तप अनेक प्रकारका है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—विविक्तशय्यासनता नाम एकान्तेऽनावाधेऽसंसक्ते स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते
शून्यागारदेवकुलसभापर्वतगुहादीनामन्यतमे समाध्यर्थं संलीनता ॥ ५ ॥

अर्थ—एकान्त और हरप्रकारकी बाधाओंसे शून्य तथा संसर्ग रहित और स्त्री पशु नपुंसकोंसे वर्जित शून्यगृह देवालय विमोचित—छोड़े हुए स्थान कुलपर्वत गुहा मन्दिर आदिमेंसे किसीभी स्थानमें समाधि—सिद्धिके लिये संलीनता होनेको विविक्तशय्यासनता कहते हैं ।

भावार्थ—एकान्तमें शयनासन करनेको विविक्तशय्यासनता कहते हैं । यदि यह समाधि-सिद्धिके लिये किया जाय, तो समीचीन यथार्थ तप कहा जासकता है, अन्यथा नहीं । जहाँपर ध्यान धारणा या समाधि की जाय, वह स्थान एकान्त अनावाध और असंसक्त होना चाहिये ॥ ५ ॥

भाष्यम्—कायक्लेशोऽनेकविधः । तद्यथा—स्थानवीरासनोत्कटुकासनैकपार्श्वदण्डाय-
तशयनातापनाप्रावृतादीनि सम्यक्प्रयुक्तानि बाह्यं तपः । अस्मात्पट्विधादपि बाह्यान्तपसः
संज्ञत्यागशरीरलाघवेन्द्रियविजयसंयमरक्षणकर्मनिर्जरा भवन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—कायक्लेश तप भी अनेक प्रकारका होता है । जैसे कि स्थान और वीरासन उत्कट आदि आसन तथा एक पार्श्व या दण्डाशयन एवं आतापनयोग या अप्रावृतके धारण करनेको और उसका भले प्रकार उपयोग करनेको समीचीन कायक्लेश नामका बाह्य तप कहते हैं ।

भावार्थ—जिससे समीचीनतया शरीरको क्लेश हो, उसको कायक्लेश नामका तप कहते हैं । वह अनेक प्रकारसे हुआ करता है । जैसे कि स्थानके द्वारा, जहाँपर शरीरको कष्ट होता हो, ऐसी जगहपर रहना या खड़े रहना आदि । अथवा वीरासन आदि आसनसे बैठकर उसी तरह बैठे रहना, और उसके क्लेशको सहन करना, रात्रिको

यथायोग्य समयमें निद्रा लेते समय एक पार्श्वसे या दण्डाकार छन्ने होकर शयन करना और उसी तरह सोते रहना, करवटको न बगलना, और उसके बटको सहन करना । रात्रिको रमशान-मरघट आदिमें या दिनको पर्वतादिके ऊपर प्रतिमायोगको धारण करके खड़े रहना और उसकी बाधाको सहन करना । तथा घूप वर्षा आदिमें रोकनेवाले पत्थरोंसे रहित-निरावरण जगहमें खड़े होकर ध्यानादि करना या बैठना आदि । इस तरह अनेक प्रकारसे शरीरको क्लेश देनेका नाम कायलेशतप है । यह भी समीचीन तभी समझा जा सकता है, जबकि ज्ञानपूर्वक और समय तथा समाधिशी सिद्धिके लिये किया जाय ।

ऊपर जो छह प्रकारके बाह्य तप बताये हैं, उनमें से प्रत्येकका फल सद्गत्याग, शरीरलाघव, इन्द्रियविनय संयम-रक्षण और कर्म-निर्भर है । अर्थात् इन तपोंके करनेसे शरीरमेंसे भी मर्च्छाका भाव दूर होता है, और अन्तरङ्ग बाह्य सभी परिग्रह छूटकर निर्मम निरहकार रूप परिणाम सिद्ध होते हैं । तप न करनेसे शरीर भारी रहता है, जिससे कि प्रमादकी वृद्धि होती है । अतएव इन तपोंके निमित्तसे शरीरमें लुपुता आती है, जिससे कि प्रत्येक कार्य प्रमाद रहित हुआ करता है । तथा इनके निमित्तसे इन्द्रियाँ भी उद्वेक को प्राप्त नहीं हुआ करती, जिससे कि समयकी रक्षा और कर्मोंकी निर्भरता हुआ करती है । क्रमानुसार अन्तरङ्ग तपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

भाष्यम्—सूत्रक्रमप्रामाण्यानुत्तरमित्यन्तरमाह । प्रायश्चित्त विनयो वैयावृत्यं स्वाध्यायो व्युत्सर्गो ध्यानमित्येतत्पङ्क्तिधमाभ्यन्तर तप ॥

अर्थ—सूत्र क्रमके अनुसार यहाँपर—इस सूत्रमें जो उत्तर शब्द आया है, उसका अर्थ अभ्यन्तर-अन्तरङ्ग समझना चाहिये । यह अन्तरङ्ग तप भी छह प्रकारका है—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ।

भावार्थ—बाह्य तपमें बाह्य-इन्द्रियगोचर होनेवाली वस्तुओंसे सम्बन्ध है । जैसे कि मोननका परित्याग करना या प्रमाणसे कम लेना, अथवा अटपटी आलस्यी लेकर ग्रहण करना, अथवा रसादिको छोड़कर ग्रहण करना इत्यादि । यह बात इन तपोंमें नहीं है । ये अपने मनकी प्रयानतासे-आत्म-परिणामोंकी मुख्यतासे ही सिद्ध हुआ करते हैं, अतएव इनको अन्तरङ्ग तप कहते हैं । प्रायश्चित्त आदिका अर्थ आगे चलकर क्रममें बताया जायगा ।

अन्तरङ्ग तपके उत्तरभेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं,—

सूत्र—नवचतुर्दशपचट्टिभेदं यथाक्रम प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—तदाभ्यन्तर तप नवचतुर्दशपचट्टिभेद भवति यथाक्रम प्राग्ध्यानात् । इत उत्तरं यद्वश्यामा तद्यथा—

अर्थ—ऊपर अन्तरङ्ग तपके जो छह भेद गिनाये हैं, उनमें ध्यानके पहले पहलेके पाँच तपोंके उत्तरभेद क्रमसे नौ चार दश पाँच और दो होते हैं । अर्थात् प्रायश्चित्तके नौ भेद, व्रित्तके चार भेद, वैयावृत्यके दश भेद, स्वाध्यायके पाँच भेद, और व्युत्सर्गके दो भेद है, निम्नवा क्रि आगे चल कर वर्णन किया जायगा ।

इन भेदोंको बतानेके अभिप्रायसे क्रमानुसार इनमेसे पहले प्रायश्चित्तके ९ भेदोंको गिना-नेके लिये सूत्र कहते हैंः—

**सूत्र—आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरि-
हारोपस्थापनानि ॥ २२ ॥**

भाष्यम्—प्रायश्चित्तं नवभेदम् । तद्यथा—आलोचनम्, प्रतिक्रमणम्, आलोचनप्रतिक्रमणे, विवेकः, व्युत्सर्गः, तपः, छेदः, परिहारः, उपस्थापनमिति ।

अर्थ—प्रायश्चित्त नामके प्रथम अन्तरङ्ग तपके नौ भेद बताये हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय (आलोचन प्रतिक्रमण), विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्थापन ।

इनका अर्थ बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैंः—

भाष्यम्—आलोचनं प्रकटनं प्रकाशनमाख्यानं प्रादुष्करणमित्यनर्थान्तरम् । प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतसंप्रवृत्तः प्रत्यवमर्शः प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गकरणं च । एतदुभयमालोचनप्रतिक्रमणे । विवेको विवेचनं, विशोधनं प्रत्युपेक्षणमित्यनर्थान्तरम् । स एव संसक्तान्नपानोपकरणादिषु भवति । व्युत्सर्गः प्रतिष्ठापनमित्यनर्थान्तरम् । एषोऽप्यनेषणीयान्नपानोपकरणादिष्वंशकनीयविवेकेषु च भवति । तपो बाह्यमनशनादि, प्रकीर्णं चानेकविधं चन्द्रप्रतिमादि । छेदोऽपवर्तनमपहार इत्यनर्थान्तरम् । स प्रवृज्यादिवसपक्षमाससंवत्सराणामन्यतमानां भवति । परिहारो मासिकादिः । उपस्थापनं पुनर्दीक्षणं पुनश्चरणं पुनर्ब्रतारोपणमित्यनर्थान्तरम् । तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशं कालं शक्तिं संहननं संयमविराधनां च कायेन्द्रियजातिशुणोत्कर्षकृतां च प्राप्य विशुद्ध्यर्थं यथाहं दीयते चार्चयते च । चित्ती संज्ञान-विशुद्ध्योर्धातुः । तस्य चित्तमिति भवति निष्ठान्तमौणादिकं च ।

एवमेभिरालोचनादिभिः कृद्भैस्तपोविशेषैर्जनिताप्रमादः तं व्यतिक्रमं प्रायश्चेतयति चेत-यंश्च न पुनराचरतीति । ततः प्रायश्चित्तम् । अपराधो वा प्रायस्तेन विशुध्यत इति । अतश्च प्रायश्चित्तमिति ।

अर्थ—अपनेसे कोई अपराध बन जानेपर उसको गुरुओंके समक्ष दश दोषः रहित होकर कह देने या प्रकट करनेको आलोचनप्रायश्चित्त कहते हैं । अतएव आलोचन प्रकटन प्रकाशन आख्यान और प्रादुष्करण ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं — पर्यायवाचक शब्द हैं । अपनेसे बने हुए दुष्कृत—पापके विषयमें “ यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, मिच्छा मे

दुक्कड" इस तरहके भावोंका सप्रयोग होनेसे—वचन द्वारा प्रयुक्त ऐसे विचारोंको प्रतिक्रमण कहते हैं । प्रतिक्रमण प्रत्यवमर्श प्रत्याख्यान और कायोत्सर्गकरण ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । जिसमें आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों ही करने पड़ें, उसको तदुभय नामका प्रायश्चित्त कहते हैं । विवेक विवेचन विशोधन और प्रत्युपेक्षण ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । मिली हुई वस्तुओंके पृथक् पृथक् करनेको विवेक कहते हैं । यह प्रायश्चित्त मिली हुई अन्न पान उपकरण आदि वस्तुओंके विषयमें प्रवृत्त हुआ करता है । अर्थात् मिले हुए अन्न पान आदिके पृथक् पृथक् करनेका नाम विवेकप्रायश्चित्त है । व्युत्सर्ग नाम प्रतिष्ठापनका है । यह प्रायश्चित्त अनेक णीय—एपणासे रहित अन्न पान उपकरणादिके विषयमें जिनका कि विवेक अशकनीय है, अथवा जिनका विवेक—पृथक्करण नहीं किया जा सकता, प्रवृत्त हुआ करता है । तपके भेद बताये जा चुके हैं, अनशन आदि बाह्य तपके भेद पहले लिख चुके हैं । इनके सिवाय प्रकीर्णक-तपके भी भेद चन्द्रप्रतिमा आदि अनेक हैं । छेद अपवर्तन और अपहार ये भी सब पर्यायवाचक शब्द हैं । दिवस पक्ष महीना और वर्ष इनमेंसे किसी भी एक आदिके प्रमाणानुसार प्रवृज्या—दीक्षाका अपहरण करनेको छेदप्रायश्चित्त कहते हैं । परिहार नाम पृथक्करणका है । महीना दो महीना अथवा कुछ भी परिमित कालके लिये तपसे पृथक् कर देनेको परिहारप्रायश्चित्त कहते हैं । उपस्थापन पुनर्दीक्षण पुनश्चरण पुनर्व्रता रोपण ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं, सम्पूर्ण दीक्षाको छेदकर फिरसे नवीन दीक्षा देनेको अथवा चारित्र्य धारण करनेको यद्वा नवीनतया व्रतोंके आरोपण करनेको उपस्थापन नामका प्रायश्चित्त कहते हैं ।

इस प्रकारसे प्रायश्चित्त तपके ९ भेद हैं । यह देश कालशक्ति सहनन और काय इन्द्रिय आति तथा गुणोत्कर्षकृत समयकी विराधनाके अनुसार उसकी शुद्धिके लिये योग्यतानुसार दिया जाता है, और शुद्ध किया जाता है । अर्थात् एक ही अपराधका प्रायश्चित्त देश काल आदिकी अपेक्षासे हल्का भारी अनेक प्रकारका होता है । समयकी विराधना भी तरतरूपसे अनेक प्रकारकी होती है । स्थावर कायकी विराधनासे द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रियकी विराधना उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती है । पचेन्द्रियोंमें भी पशु आदिकी विराधनासे मनुष्य आतकी विराधना अधिक दर्जेकी है, और मनुष्योंमें भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य आदि गुणोत्कर्षके धारण करनेवालेकी विराधना उत्तरोत्तर उत्कृष्ट दर्जेकी होती है । विराधनाके अनुसार ही प्रायश्चित्त भी हल्का भारी हुआ करता है । फिर भी देशकालादिकी योग्यतानुसार गुल्फे द्वारा हल्का भारी प्रायश्चित्त दिया जाकर अपराधोंको शुद्ध किया जा सकता है ।

प्रायश्चित्त शब्द प्राय ओर चित्त इस तरह दो शब्दोंके मेलसे बना है,

प्रायः शब्दका अर्थ बहुधा अथवा अपराध होता है, और चित्त शब्दका अर्थ संज्ञात अथवा शुद्ध किया हुआ होता है । क्योंकि यह शब्द चित्ती धातुसे जिसका कि अर्थ संज्ञान अथवा विशुद्धि होता है, भूत अर्थमें निष्ठाक्त प्रत्यय होकर अथवा औणादिक त प्रत्यय होकर बनता है । तात्पर्य यह है कि—पूर्वोक्त रीतिसे विधिपूर्वक किये गये कठिन आलोचन आदि विशिष्ट तपोंके करनेसे जिसका प्रमाद दूर हो गया है, ऐसा मुमुक्षु उस अपराधको प्रायः भले प्रकार जान जाता है, अच्छी तरह समझते हुए फिर वह वैसा नहीं करता । अतएव उसको प्रायश्चित्त कहते हैं । अथवा प्रायः शब्दका अर्थ अपराध होता है, और चित्ती धातुका अर्थ शुद्धि । अतएव जिसके करनेसे अपराधकी शुद्धि होती है, उसको भी प्रायश्चित्त कहते हैं ।

इस प्रकार प्रायश्चित्तके भेदोंको बताकर क्रमानुसार विनयतपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—ज्ञानदर्शनचारित्र्योपचाराः ॥ २३ ॥

भाष्यम्—विनयश्चतुर्भेदः । तद्यथा—ज्ञानविनयः दर्शनविनयः चारित्र्यविनयः उपचार-विनयः । तत्र ज्ञानविनयः पञ्चविधः मतिज्ञानादिः । दर्शनविनयः एकविध एव सम्यग्दर्शन-विनयः । चारित्र्यविनयः पञ्चविधः सामायिकविनयादिः । औपचारिकविनयोऽनेकविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यादिगुणाधिकेष्वभ्युत्थानासनभ्रदानवन्दनानुगमनादिः । विनीयते तेन तस्मिन्वा विनयः ॥

अर्थ—विनय तपके चार भेद हैं ।—ज्ञानविनय दर्शनविनय चारित्र्यविनय और उपचार-विनय । इनमेंसे पहला ज्ञानविनय मतिज्ञानादिके भेदसे पाँच प्रकारका है ।—मतिविनय श्रुतविनय अवधिविनय मनःपर्ययविनय और केवलविनय । दर्शनविनयका एक ही भेद है—सम्यग्दर्शन-विनय । चारित्र्यविनयके पाँच भेद हैं—सामायिकविनय छेदोपस्थापनविनय परिहारविशुद्धिविनय सूक्ष्मसंपरायविनय और यथारव्यातविनय । औपचारिकविनयके अनेक भेद हैं । क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य आदि गुणोंकी अपेक्षासे जो अपनेसे अधिक हैं, उनके लिये खड़े होना उसको आसन देना, वन्दना करना और उनका अनुसरण करना आदि औपचारिक-विनय कहा जाता है । यह गुणभेदकी अपेक्षा अथवा आश्रयभेदसे अनेक प्रकारका हो सकता है । जिसके द्वारा नम्रता प्राप्त हो, उसको विनय तप कहते हैं ।

भावार्थ—विनयका अर्थ आदर करना आदि है । यह दो प्रकारका हो सकता है, एक मुख्य दूसरा उपचरित । ज्ञान दर्शन और चारित्र्य गुणके धारण करनेको मुख्यविनय और उन गुणोंसे युक्त व्यक्ति आदिका आदर सत्कार करना इसको उपचरितविनय कहते हैं । जैसे कि

१—प्रायः शब्दका अर्थ लोक भी होता है । २—प्रायः शब्दका अर्थ लोक करनेपर प्रायश्चित्तका अर्थ ऐसा भी होता है, कि—प्रायो लोकस्तस्य चित्तं शुद्धिमियति यस्मात् तत्प्रायश्चित्तम् । जिस क्रियाके करनेसे लोगोंके हृदयमें अपराधोंके बावत् बैठी हुई ग्लानि दूर हो जाय, उसको प्रायश्चित्त कहते हैं ।

स्वयं ज्ञानको धारण करना—ज्ञानाभ्यास करना मुख्यज्ञानविनय है, और अपनेसे अधिक विद्वान् या बहुश्रुतको आता हुआ देखकर उनके लिए खड़े होना, उनको उच्चासन देना आदि उपचरितविनय है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदिके विषयमें भी समझना चाहिये। गुणाधिकोकी आज्ञानुसार अथवा इच्छानुसार प्रवृत्ति करना भी उपचरितविनय है।

वैयावृत्य तपके भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधु-
समनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥**

भाष्यम्—वैयावृत्य दशविधम् । तद्यथा—आचार्यवैयावृत्यम् उपाध्यायवैयावृत्यम् तपस्विवैयावृत्यम् शैक्षकवैयावृत्यम् ग्लानवैयावृत्यम् कुलवैयावृत्यम् गणवैयावृत्यम् सङ्घवैयावृत्यम् साधुवैयावृत्यम् समनोज्ञवैयावृत्यमिति । व्यावृत्तभावो वैयावृत्यम् व्यावृत्तकर्म च । तत्राचार्य पूर्वोक्त पञ्चविध । आचार्योपचरविनय स्वाध्याय वाचार्यादिषु तस्मादुपाधीयत इत्युपाध्याय । सङ्घग्रहोपग्रहानुग्रहार्थं चोपाधीयते सङ्घग्रहादीन् वास्योपाधीयत इत्युपाध्याय । द्विसङ्घग्रहो निर्ग्रन्थ आचार्योपाध्यायसङ्घग्रह, त्रिसङ्घग्रह निर्ग्रन्थी आचार्योपाध्यायप्रवर्तिनी सङ्घग्रह । प्रवर्तिनी विगाचायेण व्याख्याता । हिताय प्रवर्तते प्रवतयति चेति प्रवर्तिनी । विकृष्टो घतपोयुक्तस्तपस्वी । अचिरप्रव्रजित शिक्षयितव्य शिक्षा शिक्षामर्हतीतिशैक्षो वा । ग्लान प्रतीत । गण स्वविरसततिसस्थिति । कुलमाचार्यसंततिसस्थिति । सङ्घग्रहविध भ्रमणादि । साधव सयता । समोगयुक्ता समनोज्ञा । एवामसंपानवस्त्रपात्रप्रतिभ्रयपीठफलकसन्तारा विभिर्धर्मसाधनेरुपपन्न शुश्रूषा मेयजाक्रिया कान्तारविपमदुगोपसंगेष्वाभ्युपपत्तिरित्येतदादि वैयावृत्यम् ॥

अर्थ—वैयावृत्यके दश भेद हैं जो कि इस प्रकार हैं—आचार्यवैयावृत्य उपाध्याय वैयावृत्य तपस्विवैयावृत्य शैक्षकवैयावृत्य ग्लानवैयावृत्य कुलवैयावृत्य गणवैयावृत्य सङ्घवैयावृत्य साधुवैयावृत्य समनोज्ञवैयावृत्य । व्यावृत्त शब्दका अर्थ रहित होता है, और व्यावृत्तके भाव अथवा कर्मको वैयावृत्य कहते हैं । आचार्यके पाँच भेद हैं, जो कि पहले बताये जा चुके हैं, आचार्यविषयक विनय करनेको अथवा आचार्यके समीप स्वाध्याय पाठ आदि करनेको आचार्यविनय कहते हैं । जिनके निरुद्ध रहकर अध्ययन किया जाय उनको उपाध्याय कहते हैं । जो सग्रह उपग्रह और अनुग्रहके लिये सग्रहादिको पढ़ावे, अथवा जिनके पास सग्रहादिक पढ़ें, उनको उपाध्याय कहते हैं । आचार्यसग्रह और उपाध्यायसग्रह इस तरह द्विसग्रह निर्ग्रन्थ माने हैं, और आचार्यसग्रह उपाध्यायसग्रह तथा प्रवर्तिनीसग्रह इस प्रकार त्रिसग्रहानिर्ग्रन्थी मानी है । प्रवर्तिनीका आचार्यने दिङ्मात्र—एकदेशरूप ही व्याख्यान किया है । जो हितमार्गमें स्वयं प्रवृत्त हो, तथा औरोंको भी जो प्रवृत्त करे, उसको प्रवर्तिनी कहते हैं । उत्कृष्ट और उग्र तपके करनेवालेको तपस्वी कहते हैं । जो नवीन दीक्षित

हों, और शिक्षा देने योग्य हों, उसको शैक्ष कहते हैं। अथवा जो शिक्षा प्राप्त करते हों, उनको शैक्ष कहते हैं। ग्लान शब्दका अर्थ प्रसिद्ध है कि रोगादिसे संक्लिष्ट। अर्थात् जो वमिर है या बाधायुक्त है, उसको ग्लान कहते हैं। स्थविर—वृद्ध मुनियोंकी संततिके संस्थानको गण कहते हैं। आचार्य संततिके संस्थानको कुल कहते हैं। श्रमण आदि चारोंके समूहको संघ कहते हैं।—अर्थात् मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका इन चारोंको संघ कहते हैं। जो संयमको धारण करनेवाले हैं, उन सबको साधु कहते हैं। जो संभोगयुक्त है, उनको समनोज्ञ कहते हैं।

इनका अन्नपान वैश्र पात्र प्रतिश्रय—स्थान पीठ—आसन फलक—तखता संस्तर—विछोना आदिक धर्म—साधनोंके द्वारा उपकार करना चाहिये। उनकी शुश्रूषा—सेवा तथा चिकित्सा आदि करना अथवा कदाचित् वनमें या विषम दुर्गस्थानमें यद्वा उपसर्गसे आक्रान्त पीडित होनेपर उनकी सेवा करना आदि सब वैयावृत्य नामका तप माना गया है।

भावार्थ—व्यावृत्त अथवा व्यावृत्ति शब्दसे भाव या कर्म अर्थमें प्य प्रत्यय होकर वैयावृत्य शब्द बनता है। व्यावृत्ति नाम दूर करनेका है। दूर करनेको या दूर करनेके लिये जो क्रिया की जाय, उसको वैयावृत्य कहते हैं। अर्थात् आचार्य आदिके ऊपर आई हुई विपत्ति या बाधाको दूर करना और उनकी हरप्रकारसे सेवा करना तथा परीषह उपसर्ग आदिकी निवृत्ति करना इत्यादि सम्पूर्ण क्रियाएं वैयावृत्य हैं। जिनकी वैयावृत्य की जाती है, उनके दश भेद हैं, जो कि इस सूत्रमें गिनाये गये हैं, अतएव वैयावृत्यके भी दश भेद हैं, और इसी लिये इस सूत्रमें बताये गये आचार्य आदि प्रत्येक शब्दके साथ वैयावृत्य शब्द—जोड़नेसे उसके दश भेद हो जाते हैं।—आचार्यवैयावृत्य उपाध्यायवैयावृत्य तपस्विवैयावृत्य इत्यादि। आचार्योंकी सेवाको आचार्यवैयावृत्य और उपाध्यायोंकी सेवा—शुश्रूषाको उपाध्यायवैयावृत्य तथा तपस्वियोंकी सेवा आदिको तपस्विवैयावृत्य कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक शब्दका अर्थ समझ लेना चाहिये।

क्रमानुसार वैयावृत्यके अनंतर स्वाध्यायतपके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—स्वाध्यायः पञ्चविधः। तद्यथा—वाचना प्रच्छनं अनुप्रेक्षा आम्नायः धर्मोपदेश इति। तत्र वाचनम् शिष्याध्यापनम्। प्रच्छनं ग्रन्थार्थयोः। अनुप्रेक्षा ग्रन्थार्थयोरेव मनसाभ्यासः। आम्नायो घोषविशुद्धं परिवर्तनं गुणनं रूपदानमित्यर्थः। अर्थोपदेशो व्याख्यानमनुयोगवर्णनं धर्मोपदेश इत्यनर्थान्तरम् ॥

१—दिगम्बर—सम्प्रदायमें केवल मनोज्ञ शब्दका ही पाठ है, समनोज्ञ नहीं। जिसकी लोकमें मान्यता अधिक हो उसको मनोज्ञ कहते हैं। २—वन्न पात्र विछोना आदि दिगम्बर—सम्प्रदायमें साधुओंको नहीं दिया जाता।

अर्थ—स्वाध्याय नामक तपके पाँच भेद हैं, जो कि इस प्रकार हैं ।—वाचना, प्रच्छन्, शा, आम्नाय और धर्मोपदेश ।

शिष्योंको पढानेका नाम वाचना स्वाध्याय है । ग्रन्थके अर्थका अथवा शब्दपाठका इसको प्रच्छन्ना कहते हैं । ग्रन्थपाठ और उसके अर्थका मनके द्वारा अभ्यास करना अनुपेक्षा कहते हैं । आम्नाय घोषविशुद्ध परिवर्तन गुणन और रूपदान ये सब शब्द ही अर्थके वाचक हैं । शुद्धतापूर्वक पाठके बोखनेको—कठस्थ करनेको या पुन पुन पाठ को—पारायण करनेको आम्नाय कहते हैं । अर्थोपदेश व्याख्यान अनुयोगवर्णन और देश ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । अर्थात् तत्त्वार्थादिके निरूपण करनेको देश कहते हैं ।

भावार्थ—प्रज्ञाका अतिशय अथवा प्रशस्त अध्यवसायको सिद्ध करनेके लिये तप किया जाता है । जिससे आत्म-तत्त्वकी तरफ प्रवृत्ति हो, इस तरहकी कोई भी यनाध्यापन या उनके साधनोके दान प्रदान आदि क्रियामें प्रवृत्ति करना, इसको स्वाध्याय कहते हैं । जो समयका साधक या उससे अविरुद्ध हो, और जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती वही स्वाध्यायतप माना जा सकता है । जो राग कथारूप या ससारवर्षक अथवा सावद्य का समर्थक है, उसको तप नहीं कह सकते ।

क्रमानुसार व्युत्सर्गतपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—बाह्याभ्यन्तरोपधयो. ॥ २६ ॥

भाष्यम्—व्युत्सर्गो द्विविधः,—बाह्य आभ्यन्तरश्च । तत्र बाह्यो द्वादशरूपकस्योपधे यन्तरं शरीरं कपायाणां चेति ॥

अर्थ—पाँचवें आभ्यन्तरतपका नाम व्युत्सर्ग है । उसके दो भेद हैं—एक बाह्य आभ्यन्तर । बाह्य प्रसारके जो बाह्य परिग्रह आगममें बताये हैं, उनके त्याग करनेको व्युत्सर्ग कहते हैं, और शरीर तथा कपायोंसे सम्बन्ध छोड़नेको—ममत्वपरिहारको यन्तर व्युत्सर्ग कहते हैं ।

भावार्थ—व्युत्सर्ग नाम छोड़नेका अथवा त्यागका है । प्रकृतमें उपधिके त्यागको यन्तर व्युत्सर्ग कहते हैं । प्रायश्चित्तके भेदोंमें भी व्युत्सर्गका उल्लेख किया गया है । किन्तु दोनोंके स्वरूपमें

—दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार इनका लक्षण इस प्रकार है—निरवयव प्रथार्थोभयप्रदान वाचना, च्छेदशय निमित्तलाधानाय वा पराशरयोगं प्रच्छन्ना अधिगतायैस्व मनसाभ्यासोऽनुपेक्षा, शुद्धयोपणमात्राय, याचयुगलान धर्मोपदेश । २—द्वेन वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य द्विपद चतुष्पद इष्य और मांस इस तरह वर-सम्प्रदायमें दश भेद ही माने हैं ।

अन्तर है । क्योंकि कायोत्सर्गादि करनेको व्युत्सर्गप्रायश्चित्त कहते हैं, और परिग्रहके त्यागको व्युत्सर्गतप कहते हैं । इसके सिवाय एक यह भी कारण है, कि प्रायश्चित्त अपराधकी निवृत्तिके लिये किया जाता है, और गुरुका दिया हुआ होता है, तथा शुद्धताके अभिलाषियोंको उसका अवश्य ही पालन करना पड़ता है । किंतु तप शक्ति और इच्छाके अनुसार हुआ करता है । उसका करना स्वाधीन है ।

इस प्रकार आभ्यन्तरतपके छह भेदोंमेंसे आदिके पाँच भेदोंका वर्णन किया, अब अन्तिम भेद—ध्यानका वर्णन करनेके लिये उसके निर्देश स्वामित्वको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥ २७ ॥

भाष्यम्—उत्तमसंहननं वज्रर्षभमर्धवज्रनाराचं च । तद्युक्तस्यैकाग्रचिन्तानिरोधश्च ध्यानम् ॥

अर्थ—वज्रर्षभसंहनन और अर्धवज्रसंहनन तथा नाराचसंहनन इनको उत्तम संहनन कहते हैं । इन संहननोंसे युक्त जीवके एकाग्ररूपसे चिन्ताका जो निरोध होता है, उसको ध्यान कहते हैं ।

भादर्य—अग्र शब्दका अर्थ मुख है, और चिन्ता शब्दका अर्थ है, चिन्तन-विचार अर्थात् मनकी गति जो क्षण क्षणमें विषयसे विषयान्तरकी तरफ दौड़ती रहती है, उसको सब तरफसे रोककर किसी भी एक विवक्षित विषयकी तरफ जोड़े रहनेको अथवा सब तरफसे हटकर एक विषयकी तरफ विचारके लगनेको ध्यान कहते हैं । यह ध्यानका सामान्य लक्षण है । किंतु तपमें उसी ध्यानका ग्रहण करना चाहिये, जो कि साक्षात् अथवा परम्परया मोक्षका कारण हो—कर्मोंका संवर और निर्जरा होकर जिससे सर्वथा कर्मोंका क्षय हो जाय । जो संसारका कारण है, उस ध्यानको तपमें नहीं लिया जा सकता ।

ध्यानके कालका उत्कृष्ट प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—आमुहूर्तात् ॥ २८ ॥

भाष्यम्—तद्ध्यानमामुहूर्ताद्भवति परतो न भवति दुर्ध्यानत्वात् ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें जिसका लक्षण बताया जा चुका है, वह ध्यान ज्यादासे ज्यादा एक मुहूर्त तक हो सकता है, इससे अधिक कालतक नहीं हो सकता । क्योंकि अधिक काल हो जानेपर दुर्ध्यान हो जाता है ।

१—इस सूत्रमें 'उत्तमसंहननस्य' ऐसा क्यों कहा, सो समझमें नहीं आता । क्योंकि सामान्य ध्यान तो अनुत्तम-संहननवालेके भी होता है । दिगम्बर-सम्प्रदायमें २७ और २८ की जगह एक ही सूत्र है, जिससे ऐसा अर्थ होता है, कि यह ध्यान उत्तम संहननवालेके अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है । इस पृथक् योगके रहनेसे अनुत्तम संहननवालेके ध्यानको ध्यान नहीं कह सकते । श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें ऐसा ही माना भी है, किन्तु यह जँचता नहीं है ।

उक्त ध्यानके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि ॥ २९ ॥

भाष्यम्—तच्चतुर्विधं भवति । तद्यथा—आर्तं रौद्रं धर्मं शुक्लमिति । तेषाम्—

अर्थ—उपर्युक्त ध्यानके चार भेद हैं—यथा—आर्तध्यान रौद्रध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान । भावार्थ—अर्तिनाम दुःख अथवा पीड़ाका है । इसके सम्बन्धको लेकर जो ध्यान होता है, उसको आर्तध्यान कहते हैं । क्रोधादियुक्त क्रूर भावोंको रौद्र कहते हैं । इस तरहके परिणामोंसे युक्त जो ध्यान हुआ करता है, उसको रौद्रध्यान कहते हैं । जिसमें धर्मकी भावना या वासनाका विच्छेद न पाया जाय, उसको धर्मध्यान कहते हैं । क्रोधादिकी निवृत्ति होनेके कारण जिसमें शुचिता—पवित्रताका सम्बन्ध पाया जाय, उसको शुक्लध्यान कहते हैं । इन चार प्रकारके ध्यानोंमेंसे—

सूत्र—परे मोक्षहेतू ॥ ३० ॥

भाष्यम्—तेषां चतुर्णां ध्यानानां परे धमशुक्ले मोक्षहेतुं भवति । पूर्वे त्वार्तरौद्रे सत्सारहेतु इति ॥

अत्राह—किमेपां लक्षणमिति । अत्रोच्यते—

अर्थ—ऊपर ध्यानके जो चार भेद बताये हैं, उनमेंसे अतके दो ध्यान—धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हुआ करते हैं, और पूर्वके जो दो ध्यान हैं—आर्तध्यान और रौद्रध्यान वे सत्सारके कारण हैं ।

भावार्थ—आर्तध्यान और रौद्रध्यानमें मोक्षका प्रकर्ष—बन्ता जाता है किंतु, धर्मध्यानमें वह नहीं पाया जाता, अतएव वह भी मोक्षका ही हेतु माना है ।

ऊपर ध्यानके जो चार भेद बताये हैं, उनके लक्षण क्या हैं ? इसके उत्तरके लिये आगेका व्याख्यान करते हैं ।

भावार्थ—क्रमके अनुसार ध्यानके उक्त चार भेदोंमेंसे पहले आर्तध्यानका वर्णन करना चाहिये, आर्तध्यान भी चार प्रकारका है—अनिष्टसंयोग इष्टविशेष वेदनाधितन और निदान । इनमेंसे पहले अनिष्टसंयोग नामक आर्तध्यानका स्वरूप बताते हैं—

सूत्र—आर्तममनोज्ञाना सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—अमनोज्ञाना विषयाणां सम्प्रयोगे तेषां विप्रयोगार्थं य स्मृतिसमन्वाहारो भवति तदात्तध्यानमित्याचक्षते । किं चान्यत्—

अर्थ—नो अपने मनका हरण करनेवाले नहीं हैं, या अनिष्ट हैं, ऐसे अरमणीय अथवा अनिष्ट विषयोंका संयोग हो जानेपर उनका विप्रयोग होनेके लिये जो पुनः पुनः विचार किया जाता है, उसको पहला अनिष्टसंयोग नामक आर्तध्यान कहते हैं ।

भावार्थ—अमनोज्ञ पदार्थके संयोगके विषयमें उसके वियोगकी चिन्ता दो प्रकारसे हो सकती है, एक तो उसका संयोग हो जानेपर और दूसरा उसका संयोग होनेके पूर्वमें । संयोग हो जानेपर तो इसका कत्र वियोग हो, ऐसा चिन्तवन हुआ करता है, और संयोग होनेके पहले कहीं अमुक अनिष्ट वस्तुका संयोग न हो जाय, ऐसा चिन्तवन हुआ करता है ।

दूसरे आर्तध्यानका स्वरूप बताते हैं—

सूत्र—वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—वेदनायाश्चामनोज्ञायाः संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः आर्तमिति । किं चान्यत्—

अर्थ—अमनोज्ञ वेदनाका संयोग हो जानेपर उसके वियोगके लिये जो पुनः पुनः विचार या चिन्तवन हुआ करता है, उसको दूसरा वेदना नामका आर्तध्यान कहते हैं । अर्थात् वेदना—पीड़ासे छूटनेके लिये जो चित्तकी एकाग्रता होती है, उसका नाम पीड़ा-चिन्तन आर्तध्यान है । तीसरे आर्तध्यानका स्वरूप इस प्रकार है कि—

सूत्र—विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—मनोज्ञानां विषयाणां मनोज्ञायाश्च वेदनाया विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार आर्तम् । किं चान्यत्—

अर्थ—जो मनका हरण करनेवाले हैं, ऐसे प्रिय इष्ट रमणीय विषयोंका संयोग होकर वियोग हो जानेपर अथवा संयोग न होनेपर तथा इसी प्रकारकी मनोज्ञ वेदनाका भी वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये जो पुनः पुनः विचार करना, अथवा उसीकी तरफ चित्तका संलग्न रहना, इसको इष्टवियोग नामका तीसरा आर्तध्यान कहते हैं । चौथे आर्तध्यानका स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निदानं च ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—कामोपहतचित्तानां पुनर्भवविषयसुखगृह्णानां निदानमार्तध्यानं भवति ॥

अर्थ—जिनका चित्त कामदेवकी वासनासे उपहत—दूषित या पीड़ित हो रहा है, फिर भी जिनके संसारके विषयसुखोंकी गृह्णि-तृष्णा लगी हुई है, ऐसे जीवोंके निदान नामका चौथा आर्तध्यान होता है ।

भावार्थ—जिनका मन अभीतक काम-भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ है, ऐसे जीव धारण किये हुए व्रत चारित्रिके फलस्वरूप संसारिक विषयोंको ही चाहते हैं, अथवा उनके लिये ही संयमको धारण किया करते हैं । ऐसे जीवोंके यह भावना हुआ करती है, कि मुझको इस चारित्रिके प्रसादसे परलोकमें अमुक फल प्राप्त हो । ऐसे संकल्पको ही निदानआर्तध्यान कहते हैं ।

चारों आर्तध्यानोके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदविरतदेशविरतप्रमत्तसयतानाम् ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—तदेतद्वार्त्तध्यानमविरतदेशविरतप्रमत्तसयतानामेव भवति ॥

अर्थ—यह उपर्युक्त आर्तध्यान अविरत देशविरत और प्रमत्तसयत छट्टे गुणस्थानवर्ती जीवोंके ही हुआ करता है ।

भावार्थ—इस सूत्रमें चौथे पाँचवें और छट्टे गुणस्थानवर्तीका उल्लेख किया गया है । अतएव जैसा कि किया गया है, वैसा सूत्र न करके ऐसा कर दिया जाता कि “तत्प्रमत्तसयतान्तानामेव” तो भी काम चल सकता था । परन्तु वैसा न करके जो गौरव किया गया है, उससे विशिष्ट अर्थका ज्ञापन—बोध होता है, ऐसा समझना चाहिये । वह यह कि प्रमत्तसयतके निदानको छोड़कर बाकीके ३ आर्तध्यान हो सकते हैं । निदानके होनेपर छट्टा गुणस्थान छूट जाता है । तथा देशविरतके भी कदाचित् निदानआर्तध्यान होता है ।

कमानुसार रौद्रध्यानके भेद और उनके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—हिसानृतस्तेयविषयसरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयो ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—हिसार्थमनृतवचनार्थ स्तेयार्थ विषयसरक्षणार्थ च स्मृतिसमन्वाहारो रौद्रध्यान तदविरतदेशविरतयोरेव भवति ॥

अर्थ—हिसाकर्मके लिये और अनृतवचन—मिथ्याभाषण करनेके लिये, तथा स्तेयकर्म—चोरीके लिये एव विषयसरक्षण—पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी रक्षा या पुष्टिके लिये जो पुन पुन विचार करना अथवा इन्हीं विषयोंकी तरफ चित्तके लगाये रखनेको रौद्रध्यान कहते हैं । यह अविरत तथा देशविरतके ही हुआ करता है ।

भावार्थ—पाँचवें गुणस्थानसे ऊपरके जीवोंके रौद्रध्यान नहीं हुआ करता । तथा ऊपर कहे अनुसार देशविरत के भी कदाचित् हो सकता है, किंतु अविरतके समान नरकादिक गतिकका कारणभूत रौद्रध्यान उसके नहीं हो सकता । यह दोनोंमें अन्तर है ।

इस प्रकार अप्रशस्त ध्यानोके भेद आदि बताकर कमानुसार धर्मध्यानके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आज्ञापायविपाकसस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—आज्ञाविचयाय अपायविचयाय विपाकविचयाय सस्थानविचयाय च स्मृतिसमन्वाहारो धर्मध्यानम् । तदप्रमत्तसंयतस्य भवति । किं चान्यत—

अर्थ—आज्ञाविचयके लिये अपायविचयके लिये विपाकविचयके लिये और सस्थान

विचयके लिये जो पुनः पुनः विचार होता है, उसको—आज्ञा आदिके विषयमें ही चिन्ताके निरोध करनेको धर्मध्यान कहते हैं । इसका स्वामी अप्रमत्तसंयत है ।

भावार्थ—अप्रमत्त संयत—सातवें गुणस्थानवाले जीवके धर्मध्यानके सिवाय और कोई ध्यान नहीं होता । आज्ञा आदि विषयभेदकी अपेक्षा तद्विषयक ध्यानके भी चार भेद हैं । आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय ।

कोई भी कार्य करते समय इस विषयमें जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा क्या है, ऐसा विचार करनेको अथवा जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका प्रसार सर्वत्र किस प्रकारसे हो, उसका पुनः पुनः विचार करनेको आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं । संसारी प्राणी नाना प्रकारके दुःखोंसे आक्रान्त—घिरे हुए हैं, फिर भी वे उसीके पोषक मिथ्यामार्गपर चल रहे हैं, और सन्मार्गसे दूर ही रहते हैं, वे उससे हटकर सन्मार्गपर कब और किस प्रकारसे आसकते हैं, इस तरहके विचारका पुनः पुनः होना इसको अपायविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं । पीड़ाओंसे हरसमय घिरे हुए जीवोंको देखकर उनके विषयमें पुनः पुनः ऐसा विचार करना, कि विचारोंने जो कर्मोंका संग्रह किया है, उसका फल भोग रहे है, इसको विपाकविचयधर्मध्यान कहते हैं । लोकके आकारका जो विचार करना, उसको संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ।

इसी धर्मध्यानके विषयमें एक विशेष बात कहनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—उपशान्तकषायस्य क्षीणकषायस्य च धर्मं ध्यानं भवति । किं चान्यत्—

अर्थ—जिसके सम्पूर्ण कषाय उपशान्त हो चुके हैं, ऐसे ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवके और जिसके सम्पूर्ण कषाय सर्वथा निःशेष—क्षीण होगये हैं, ऐसे क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानवाले जीवके भी धर्मध्यान होता है^१ । इसके सिवाय—

सूत्र—शुक्ले चाद्ये ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—शुक्ले चाद्ये ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के चोपशान्तक्षीणकषाययोर्भवतः । आद्ये शुक्ले ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के पूर्वविदो भवतः ।

अर्थ—उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय नामके ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान वर्ती जीवोंके आदिके दोनों शुक्लध्यान—पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामके भी हुआ करते

१—रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थानतक और आर्तिध्यान छठेगुणस्थानतक कहा है, अतएव अप्रमत्तके धर्मध्यान ही होता है, ऐसा स्वयं ही समझमें आजाता है, इसके लिये अप्रमत्त शब्द सूत्रमें देनेकी क्या आवश्यकता है, सो समझमें नहीं आया । इसके सिवाय चौथे पाँचवें छठे गुणस्थानमें भी धर्मध्यान होता है । २—दिगम्बर—सम्प्रदायके अनुसार—श्रुतकेवलीके श्रेण्यारोहण करनेके पूर्व धर्मध्यान और श्रेण्यारोहण करनेपर शुद्धध्यान ही होता है ।

हैं । क्योंकि ये दोनों ही आदिके शुक्लध्यान—पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क पूर्वविद्-श्रुतकेवलीके ही हुआ करते हैं ।

भावार्थ—सूत्रमें जो च शब्दका ग्रहण किया है, उससे स्पष्ट होता है, कि उपशान्त कषाय और क्षीणरूपाय गुणस्थानमें धर्मध्यान भी होता है, और आदिके ये शुक्लध्यान भी होते हैं । यहाँपर पूर्वविद्का अर्थ श्रुतकेवली लेना चाहिये । तथा श्रुतकेवलीके आदिके दो शुक्लध्यान ही होते हैं, ऐसा अर्थ न करके दो शुक्लध्यान भी होते हैं, ऐसा करना चाहिये । अर्थात् शुक्लध्यानके स्वामी श्रुतकेवली ही होते हैं ।

अन्तके दो शुक्लध्यानोंके स्वामीको बताते हैं—

सूत्र—परे केवलिनः ॥ ४० ॥

भाष्यम्—परे द्वे शुक्लध्याने केवलिन एव भवता न छद्मस्यस्य ॥

अर्थ—अन्तके दोनों शुक्लध्यान—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति केवली भगवान्—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवालोंके ही होते हैं, छद्मस्यके नहीं होते । अर्थात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तेरहवें गुणस्थानमें और व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थानमें ही होता है । ये दोनों ध्यान उसके नहीं हो सकते, जिसके कि प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रकट न हुआ हो ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता पूरे ध्याने परे शुक्ले ध्याने इति तत्त्वानि तानीति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपरके दोनों सूत्रोंमें क्रमसे " आद्ये " और " परे " शब्दोंका पाठ किया है, निम्नार्थ होता है, कि आदिके दो शुक्लध्यान और अन्तके दो शुक्लध्यान, ऐसा कहनेसे मालूम होता है, कि शुक्लध्यानके चार भेद हैं, किन्तु ये भेद कौनसे हैं, सो अर्थात्क मालूम नहीं हुए । अतएव कहिये कि उनके क्या क्या नाम हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं —

सूत्र—पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ४१

भाष्यम्—पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क काययोगानां सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवृत्तीति चतुर्विधं शुक्लध्यानम् ॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इस तरह शुक्लध्यानके चार भेद हैं । इनमेंसे तीसरा शुक्लध्यान काय योगयाने जीवोंके ही होता है ।

१—इगद्य पूरा नाम पृथक्त्ववितर्कहीकार है, जेका कि आगे बन्दर मालूम होय । २—इस भावको आगे बन्दर सूत्रधर भी बतावेंगे । यहाँ भाष्यकारन बरोंके स्वामियोंको न बताकर एकके स्वामीको ही बताया है, आगे बन्दर सूत्रधर बारोंके स्वामियोंको बतावेंगे ।

ये चारों ध्यान विस किस प्रकारके जीवोंके हुआ करते हैं, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—तत्र्येककाययोगायोगानाम् ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—तदेतच्चतुर्विधं शुक्लध्यानं त्रियोगस्यान्यतमयोगस्य काययोगस्यायोगस्य च यथासंख्यं भवति । तत्र त्रियोगानां पृथक्त्ववितर्कमेकान्यतमयोगानामेकत्ववितर्कं काययोगानां सूक्ष्म क्रियाप्रतिपात्ययोगानां व्युपरतक्रियमनिवृत्तीति ॥

अर्थ—मनोयोग वचनयोग और काययोग ये योगके तीन भेद ऊपर बताये जा चुके हैं । जिन जीवोंके ये तीनों ही योग पाये जाते हैं, उनके पहला शुक्लध्यान-प्रथक्त्ववितर्क हो सकता है, और जिन जीवोंके इन तीनोंमेंसे एक ही योग पाया जाता है, उनके दूसरा शुक्लध्यान—एकत्ववितर्क हो सकता है । जो तीनोंमेंसे केवल काययोगको ही धारण करनेवाले हैं, उनके तीसरा शुक्लध्यान—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति हुआ करता है, और जो तीनों ही योगोंसे रहित हैं, उनके चौथा शुक्लध्यान—व्युपरतक्रियानिवृत्ति हुआ करता है । इस प्रकार क्रमसे चारों ध्यानोंके चारों स्वामियोंको समझना चाहिये । अब चारों ध्यानोंमेंसे आदिके दो ध्यानोंमें जो विशेषता है, उसको बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—एकद्रव्याश्रये सवितर्के पूर्वे ध्याने प्रथमद्वितीये । तत्र सविचारं प्रथमम्—

अर्थ—आदिके दोनों शुक्लध्यानों—पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्कका आश्रय एक ही द्रव्य है—ये पूर्वविद्-श्रुतकेवलीके ही होते हैं । तथा पहला और दूसरा ध्यान सवितर्क होता है । वितर्क शब्दका अर्थ आगे चलकर बतावेंगे । इसके सिवाय पहला पृथक्त्ववितर्क नामका शुक्लध्यान विचार सहित भी होता है । किन्तु—

सूत्र—अविचारं द्वितीयम् ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—अविचारं सवितर्कं द्वितीयं ध्यानं भवति ॥

अर्थ—दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान विचार रहित किन्तु वितर्कसहित हुआ करता है । विचार शब्दका अर्थ भी आगे चलकर स्वयं सूत्रकार बतावेंगे ।

भाष्यम्—अत्राह-वितर्कविचारयोः कः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—

१—अभीतक सूत्रकारने कहींपर भी यह नहीं लिखा है, कि अमुक अमुक ध्यान सवीचार होते हैं । अतएव ऐसा किये बिना ही एक प्रकृत भेदको अवीचार किस तरह कहते हैं, सो समझमें नहीं आता । दूसरा शुक्लध्यान विचार रहित होता है, यह कथन तभी ठीक जँचता है, जब कि पहले ध्यान सामान्यकी या उसके कुछ भेदोंकी सवीचारता बताई हो, ऐसा होनेसे ही दूसरे ध्यानमें सवीचारताका निषेध करना युक्त प्रतीत होता है । दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार पहले सूत्रमें सविचार शब्दका भी पाठ है । यथा—“ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ” इससे सविचारता सिद्ध होनेपर निषेध किया है, कि “ अवीचारं द्वितीयम् ” ।

अर्थ—प्रश्न—ऊपर वितर्क और विचार ये दो शब्द पड़े गये हैं, किन्तु इनका अर्थ अभी तक अज्ञात है, अतएव कहिये, कि इनका क्या अर्थ है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये क्रमानुसार पहले वितर्क शब्दका अर्थ बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वितर्कः श्रुतम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—यथोक्त श्रुतज्ञान वितर्को भवति ॥

अर्थ—पहले अध्यायमें श्रुतज्ञानका लक्षण और अर्थ बताया जा चुका है, उसी प्रकार वितर्क शब्दका अर्थ भी समझ लेना चाहिये । अर्थात् श्रुतज्ञानको ही वितर्क कहते हैं ।

विचार शब्दका क्या अर्थ है सो बताते हैं—

सूत्र—विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसक्रान्तिः ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—अर्थव्यञ्जनयोगसक्रान्तिविचार इति ॥

अर्थ—अर्थ व्यञ्जन और योग इनकी सक्रान्ति—पलटनको विचार कहते हैं ।

भावार्थ—इस सूत्रमें तीन विषय हैं—अर्थ व्यञ्जन और योग । ध्यानके विषयभूत—ध्येयको अर्थ कहते हैं । वह सामान्यसे दो प्रकारका है—एक द्रव्य दूसरा पर्याय । क्योंकि द्रव्य और पर्यायके समूहको ही अर्थ—पदार्थ कहते हैं । व्यञ्जन नाम श्रुतवचनका है । जिससे अर्थविशेष अभिव्यक्त होता है, ऐसे किसी भी श्रुतके वाक्यको व्यञ्जन कहते हैं । योग शब्द का अर्थ ऊपर बताया जा चुका है कि—“कायवाङ्मन उर्मयोग ” । मनवचन कायके द्वारा जो आत्मप्रदेशोंके परिस्मन्दनरूप किया होती है, उसको योग कहते हैं । जिसमें ध्येय अर्थ पलटता रहता है—विवासित एक द्रव्य या पर्यायको छोड़कर दूसरे द्रव्य या पर्यायकी तरफ प्रवृत्ति होती है, इसी प्रकार एक श्रुतवचनको छोड़कर दूसरे श्रुतवाक्यका आलम्बन लिया जाता है, एव जिसमें योगोंका भी पलटना जारी रहता है, उसको पहला पृथक्त्ववितर्क सविचार शब्दभ्यान कहते हैं । इस प्रकारका पलटना दूसरे शुक्लध्यानमें नहीं हुआ करता, अतएव उसको अविवार कहते हैं ।

भाष्यम्—तदाभ्यन्तरतप सवरत्वाद्भिनवकमापचयप्रतिषेधक निर्जरणफलत्वात्कर्म निर्जरकम् । अभिगच्छमापचयप्रतिषेधकत्वात्पूर्वोपचितकर्मनिर्जरकत्वाच्च निर्वोणमापकमिति ॥

अर्थ—ऊपर नाह्य तपसे अनन्तर निम आभ्यन्तरतपका उद्वेग किया गया है, यह सवर और निर्जराका कारण है । नवीन कर्मोंके साथसे रुक जानेको सवर कहते हैं । और जो पहले ही से संचित है, उन कर्मोंके एतद्वैशतया विच्छेद—नाश होनेसे निर्जरा कहते हैं । यह आभ्यन्तरतप दोनों ही कारणोंका माधक है । इन तपोंके करनेका उद्देश्य नवीन कर्मोंका साथ नहीं होना, और संचित कर्म आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर झट जाते हैं ।

और जब कि नवीन कर्मोंका आना रुक गया तथा संचित कर्मोंका भी अभाव होने लगा, तो निर्वाणकी प्राप्ति भी इसीसे सिद्ध हो जाती है, अतएव इस तपको निर्वाणका प्रापक या साधक भी कह सकते हैं ।

भावार्थ—ऊपर जिसका व्याख्यान किया गया है, उस आभ्यन्तरतपका फल—साक्षात्—फल संवर और उत्तर—फल निर्जरा तथा परम्परा—फल निर्वाण है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता परीषहजयात्तपसोऽनुभावतश्च कर्मनिर्जरा भवतीति । तर्त्तिकं सर्वे सम्यग्दृष्टयः समनिर्जरा आहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपर कहा था, परीषहोंके जय—जीतनेसे और तपके प्रभावसे कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है, इस विषयमें यह जानना बाकी है, कि जितने सम्यग्दृष्टि हैं, वे सभी इन परीषहजय और तपरूप कारणके मिलनेपर समान फलको प्राप्त होते हैं, अथवा असमान । सम्यग्दृष्टिमात्रके कर्मोंकी निर्जरा एक सरीखी होती है, अथवा उसमें भी कुछ विशेषता है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षप-
कोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाःक्रमशोऽसंख्येयगुणनि-
र्जराः ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दृष्टिः श्रावकः विरतः अनन्तानुबन्धिवियोजकः दर्शनमोहक्षपकः मोहोपशमकः उपशान्तमोहः मोहक्षपकः क्षीणमोहः जिन इत्येते दश क्रमशोऽसंख्येयगुण-
निर्जरा भवन्ति । तद्यथा—सम्यग्दृष्टेः श्रावकोऽसंख्येयगुणनिर्जरः श्रावकाद्विरतः विरतादन-
न्तानुबन्धिवियोजक इत्येवं शेषाः ॥

अर्थ—संचित कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके दश स्थान हैं । यथा—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशान्तमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह, और जिन । इनके कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है, किन्तु सबके समान नहीं होती । इन दश स्थानोंमें क्रमसे असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा हुआ करती है । जैसे कि—सम्यग्दृष्टिके जितनी कर्मोंकी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा श्रावकके होती है, और जितनी श्रावकके होती है, उससे असंख्यातगुणी विरतके होती है, तथा जितनी विरतके होती है, उससे भी असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा अनन्तानुबन्धीकषायका विसंयोजन करनेवालेके हुआ करती है । इसी क्रमसे आगेके स्थानोंकी निर्जराका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये । सबसे अधिक निर्जरा जिनभगवान्के हुआ करती है ।

भावार्थ—जिनके कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है, उन सभी सम्यग्दृष्टियोंके स्थान समान निर्जरावाले नहीं हैं, किन्तु कितनी कितनी निर्जरा होती है, सो इस सूत्रमें बताया

जा चुका है। सबसे पहला स्थान सम्यग्दृष्टिका है। उसके होनेवाली निर्जरा किस स्थानकी अपेक्षा असंख्यातगुणी है, सो यहाँपर नहीं बताया है। अतएव समझना चाहिये, कि सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके लिये सन्मुख हुए और इसी लिये अधकरणादिमें प्रवृत्त मिथ्यादृष्टिके जितनी कर्मोंकी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यग्दृष्टिके हुआ करती है। सम्यग्दृष्टिसे प्रयोजन असंयतसम्यग्दृष्टिका है, और श्रावक शब्दसे देशविरतको तथा विरत शब्दसे छठे सातवें गुणस्थानवर्तियोंको लिया है। अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनका अभिप्राय यह है, कि—अनादिमिथ्यादृष्टि जीव जो उपशमसम्यक्त्वको प्राप्त हुआ करता है, उसके अनन्तानुबन्धीकपाय सत्तामें रहता ही है। किन्तु ऐसा जीव श्रेणी आरोहण नहीं कर सकता, जिसके कि अनन्तानुबन्धीरूप सत्तामें बैठा हो। अतएव श्रेणी आरोहण करनेके लिये उन्मुख—तयार हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त सातिशय अप्रमत्त होकर अनन्तानुबन्धी कपायको अप्रत्याख्यावरण अथवा प्रत्याख्यानावरण या सज्जलनरूप परिणत कर देता है, इसी क्रियाको अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन कहते हैं। जो दर्शनमोहकर्मका क्षय करके क्षायिकसम्यक्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, उनके अनन्तवियोजनसे भी असंख्यगुणी निर्जरा होती है। क्षायिकसम्यग्दृष्टिसे भी उपशमश्रेणीके आठवें नौवें और दशवें गुणस्थानवालोंके और उनसे भी ग्यारहवें गुणस्थानवर्तीके तथा उपशान्तमोहसे भी क्षपकश्रेणीके आठवें नौवें और दशवें गुणस्थानवालोंके एक क्षपकसे बारहवें गुणस्थानवालोंके और उनसे तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्तियोंके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

उपर्युक्त सवर और निर्जराके कारणोंका पूर्णतया पालन वे ही कर सकते हैं, जोकि निर्ग्रन्थ है। वे निर्ग्रन्थ कितने प्रकारके होते हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्था ॥४८॥

भाष्यम्—पुलाको वकुश कुशीलो निर्ग्रन्थ स्नातक इत्येते पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा भवन्ति। तत्र सततमप्रतिपातिनो जिनीकादागमाभिर्ग्रन्थपुलाका। नैर्ग्रन्थ्य प्रति प्रस्थिता शरीरोपकरण विभूपातुवर्तिन रुद्धियशस्कामा सातगौरवाश्रिता अविचितपरिवाराऽऽवेवशत्रलयुक्ता निर्ग्रन्था वकुशा कुशीला द्विविधा प्रतिसेवनाकुशीला कपायकुशीलाश्च। तत्र प्रतिसेवना कुशीला नैर्ग्रन्थ्य प्रति प्रस्थिता अनियतेन्द्रिया कथञ्चित्किञ्चिदुत्तरगुणेषु विराधयन्तश्चरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीला। येषां तु सयतानां सता कथञ्चित्सज्जलनकपाया उदीर्यन्ते ते कपायकुशीला। ये यीतरागचउद्वेगस्था ह्यापयप्राप्तास्ते निर्ग्रन्था। ईया योग पन्था सयमयोगसयमप्राप्ता इत्यर्थः। सयोगाशिलेशीप्रतिपक्षाश्च केवलिन स्नातका इति ॥

अर्थ—सामान्यतया निर्ग्रन्थोंके पाँच विशेष भेद हैं—पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, और स्नातक। इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप इस प्रकार है—जो निनमगवान्के उपदिष्ट आगमसे कभी भी विचलित नहीं होते, उनको पुलाकनिर्ग्रन्थ कहते हैं। जो निर्ग्रन्थताके प्रति उद्युक्त हैं—

जो उसका भले प्रकार पालन करते हैं, किन्तु जो शरीर उपकरण और विभूषाका भी अनुवर्तन करते हैं—शरीर और उपकरणोंको सुसंस्कृत तथा विभूषित किया करते हैं—यद्वा शरीरादिका विभूषित रहना पसंद करते हैं, जो ऋद्धि और यशकी कामना रखते हैं, और जो सात गौरवको धारण करनेवाले हैं, जिन्होंने अभीतक परिचार—परिवारका परित्याग नहीं किया है, जो छेदचारित्रकी शत्रुता—कर्वुरतासे युक्त हैं, उन निर्ग्रन्थोंको वकुश कहते हैं । कुशील दो प्रकारके होते हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील । इनमेंसे जो निर्ग्रन्थताको तो अखण्डितरूपसे पालते हैं, किन्तु जिनकी इन्द्रियाँ अनियत हैं—अभी जिनके इन्द्रियोंकी लोलुपता लगी हुई है, अतएव जो कदाचित् किसी प्रकारसे किन्हीं किन्हीं उत्तरगुणोंमें विराघना उत्पन्न करते रहते हैं उनको प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं । जो अधस्तन समस्त कषायोंको जीत चुके हैं, और इसीलिये संयत अवस्थाओंको जो परिपूर्ण रखनेवाले हैं, फिर भी जिनके संज्वलनकषाय अभीतक उद्रेक—वदतीको प्राप्त हो जाती है, उनको कषायकुशील कहते हैं । जिनके राग द्वेष कषाय सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, किन्तु अभीतक जिनको केवलज्ञानका लाभ नहीं हुआ है, ऐसे ईर्यापथको प्राप्त वीतराग छद्मस्थको निर्ग्रन्थ कहते हैं । ईर्यानाम योगका है, और पंथा नाम संयमका है । अतएव योगसहित संयमको ईर्यापथ कहते हैं । ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानको वीतरागछद्मस्थ कहते हैं । सयोगकेवलीभगवान् और शैलेशिर्ताको प्राप्त—अयोगकेवलीभगवान्को स्नातक निर्ग्रन्थ कहते हैं । इस प्रकार निर्ग्रन्थोंके ये पाँच भेद हैं । सामान्यतया सभी निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं, फिर भी इनके भेदोंमें कुछ कुछ विशेषताएं हैं । उनको भाष्यकारने यहाँ बताया है । फिर भी किन किन कारणोंसे इनमें भेद सिद्ध होता है, उनको बतानेके लिये सूत्रकार स्वयं कहते हैं—

सूत्र—संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेदयोपपातस्थानविकल्पतःसाध्याः ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—एते पुलाकादयः पञ्च निर्ग्रन्थाविशेषा एभिः संयमादिभिरनुयोगविकल्पैः साध्या भवन्ति । तद्यथा—संयम-क कस्मिन् संयमे भवतीत्युच्यते—पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला द्वयोः संयमयोः—सामायिके छेदोपस्थाप्ये च । कषाय कुशीलो द्वयोः—परिहारविशुद्धी सूक्ष्मसंपराये च । निर्ग्रन्थस्नातकावेकस्मिन्यथारब्ध्यातसंयमे ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें निर्ग्रन्थोंके पुलाकादि जो पाँच विशेष भेद बताये हैं, उनमें जो जो विशेषता है, उसको संयम श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिङ्ग लेदया उपपात और स्थान के भेदसे सिद्ध करनी चाहिये ।

१—शीलके १८ हजार भेद हैं । उनकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें ही होती है । अतएव अयोगके वलियोंको शैलेशीप्राप्त कहते हैं । यथा—सीलेसि संपत्तो णिरुद्धाणिस्सेसआसवो जीवो । कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥ —गोम्मटसार जीवकांड ।

भावार्थ—इस सूत्रमें बताये गये सयमादि आठ कारणोंसे पुलाकादिका भेद सिद्ध होता है । उसीको यहाँपर क्रमसे बताते हैं—

सयम—पुलाकादिमेंसे कौनसा निर्ग्रन्थ किस सयमको धारण किया करता है, यह अनुयोग सयमकी अपेक्षा निर्ग्रन्थोंकी विशेषताको सिद्ध करता है । वह इस प्रकार है—पुलाक बकुश और प्रतिसेवनाकुशील दो सयमोंको ही धारण किया करते हैं ।—या तो सामायिक-सयमको अथवा उद्देष्टास्थाय्यसयमको । कषायकुशील भी दो ही सयमोंको धारण किया करते हैं,—या तो परिहारविशुद्धिसयमको अथवा सूक्ष्मसपरायसयमको । तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यातसयमको ही धारण किया करते हैं । इस प्रकार सयमकी अपेक्षा पाँचोंमें भेद है ।

भाष्यम्—श्रुतम्—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाभिजाक्षरदशपूर्वधरा । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थौ चतुर्दशपूर्वधरौ । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । बकुशकुशील निर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातर । श्रुतापगत केवली स्नातक इति ।

प्रतिसेवना—पञ्चाना मूलगुणानां रात्रिमोजनविरतियष्टानां परामियोगाद्बलात्कारेणान्यतम प्रतिसेवमान पुलाको भवति । मैथुनमित्येके । बकुशो द्विविधः उपकरणबकुश शरीर बकुशश्च । तत्रोपकरणाभिष्यक्तचित्तो विविधाविचित्रमहाधनोपकरणपरिमहदुक्तो बहुविधोपोपकरणकाक्षायुक्तो नित्यतत्प्रतिसेस्कारसेवी मिश्ररूपकरणबकुशो भवति । शरीरामिष्यक्तचित्तो विभूयार्थं तत्प्रतिसेस्कारसेवी शरीरबकुश । प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु काचिद्विराधना प्रतिसेवते । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति ॥

अर्थ—श्रुतका लक्षण और भेद पहले बता चुके हैं । उनमेंसे कौन कौन निर्ग्रन्थ किस किस भेदके धारक हुआ करते हैं, सो इस प्रकार है ।—पुलाक बकुश और प्रतिसेवनाकुशील ज्यादा से ज्यादा अभिजाक्षर दशपूर्वके धारक हुआ करते हैं । कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्टतया चौदह पूर्वके धारक हो सकते हैं । पुलाकका श्रुत जघन्य अपेक्षा आचारवस्तु प्रमाण हुआ करता है । कमसे कम इतना श्रुत उनके रहता ही है । बकुश कुशील और निर्ग्रन्थ इनका जगज्ज श्रुत आठ प्रवचनमातृकाप्रमाण होता है । केवलीमगवान् स्नातक निर्ग्रन्थ श्रुतसे रहित होते हैं । क्योंकि उनके प्रत्यक्ष केवलज्ञान रहा करता है ।

प्रतिसेवना—किसी विवक्षित विषयके सेवन करनेको प्रतिसेवना कहते हैं । पाँच मूलगुण और छठ्ठा रात्रिमोजनविरति नामका मत साधुओंको अखण्डित रखना चाहिये । किंतु दूसरोंके अभियोगसे या बलात्कार—जबर्दस्तीसे किसीका भी सेवन करने लगे—रात्रिमें भी मोनन कर ले, या किसी मूलगुणका भग्न कर ले, तो भी वह पुलाक जातिका निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है । तथा किसी किसी आचार्यके मतसे पुलाक जातिके निर्ग्रन्थ मैथुनका भी सेवन किया करते हैं ।

१ पाँच समिति और तीन गुप्तियोंको आठ प्रवचनमातृका कहते हैं । बकुश कुशील और निर्ग्रन्थको कमसे कम इतना ज्ञान अवश्य रहना चाहिये । २—दिग्दर्शक—सम्प्रदायमें पुलाक उसको कहते हैं, जिसके कि २८ मूलगुणोंमेंसे कच्चिद् कदाचित् किसीका भग्न हो जाय, रात्रिमोजन आदिमें प्रवृत्ति हो जानेपर विशेष आचारधेति ग्रहण करना पड़ता है ।

वकुश दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक उपकरणवकुश और दूसरे शरीरवकुश । इनमेंसे उपकरणवकुश उस भिक्षुको—साधुको कहते हैं, जो कि उपकरणोंमें आशक्ति रखनेवाला है—जिसका चित्त अच्छे अच्छे वस्त्र पात्र आदि उपर्युक्त उपकरणोंके ग्रहण करनेकी तरफ लगा रहता है, नानाप्रकारके और विचित्र विचित्र महान् मूल्यवान् उपकरणोंकी परिग्रहसे युक्त रहता है, अत्यधिक उपकरणोंकी कांक्षा रखनेवाला है, तथा जो नित्य ही उन उपकरणोंके संस्कारका सेवन करता है—गृहीत उपकरणोंको जो सदा परिमार्जित आदि करता रहता है । जो शरीरमें आसक्तचित्त रहा करता है, और उसको—शरीरको विभूषित करनेके लिये दत्तचित्त रहता है, तथा इसीके लिये जो अनेक उपायसे संस्कारोंका सेवन किया करता है, एवं शरीरको सुन्दर सुढौल दर्शनीय रखनेकी इच्छा रखता, और इसके उपायोका भी सेवन करता है, उस भिक्षुको शरीरवकुशनिर्ग्रन्थ कहते हैं । कुशील मुनियोंके दो भेद बताये हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कपायकुशील । इनमेंसे जो प्रतिसेवनाकुशील होते हैं, वह अपने मलगुणोंमेंसे किसीकी भी विराधना नहीं करते—सबको परिपूर्ण—अखण्डित रखते हैं, किंतु उत्तरगुणोंमेंसे किसी किसीकी विराधना कर दिया करते हैं । इस प्रकार पाँच तरहके निर्ग्रन्थोंमेंसे जिनके प्रतिसेवना पाई जाती है, उनका उल्लेख किया, शेष निर्ग्रन्थोंको प्रतिसेवना रहित समझना चाहिये । अतएव कहते हैं, कि कपायकुशीलनिर्ग्रन्थ और स्नातक इन तीनोंके प्रतिसेवना नहीं हुआ करती ।

भाष्यम्—तीर्थम्—सर्वे सर्वेषां तीर्थकरणां तीर्थेषु भवन्ति । एकेत्वाचार्या मन्यन्ते पुलाक वकुश प्रतिसेवनाकुशीलास्तीर्थे नित्यं भवन्ति गोपास्तीर्थे वास्तीर्थे वा ।

लिङ्गम्—लिङ्गं द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च । भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वं पञ्च निर्ग्रन्था भावलिङ्गे भवन्ति द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः ॥

अर्थ—तीर्थ—उपर्युक्त पाँचों ही प्रकारके निर्ग्रन्थ सम्पूर्ण तीर्थकरोंके तीर्थमें हुआ करते हैं । किन्तु किसी किसी आचार्यका ऐसा अभिमत या कहना है, कि पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थोंमेंसे पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील सदा तीर्थमें ही हुआ करते हैं, और बाकीके निर्ग्रन्थ कपायकुशीलनिर्ग्रन्थ और स्नातक तीर्थमें भी होते हैं और अतीर्थमें भी होते हैं ।

लिङ्ग—लिङ्ग दो प्रकारका होता है । एक द्रव्यलिङ्ग दूसरा भावलिङ्ग । भावलिङ्गकी अपेक्षासे सब—पाँचोंही निर्ग्रन्थ भावलिङ्गमें रहा करते हैं । द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षासे यथायोग्य विभाग कर लेना चाहिये । अर्थात् किसीके द्रव्यलिङ्ग होता है, किसीके नहीं होता । कोई द्रव्यलिङ्गमें रहता है, कोई नहीं रहता ।

१—दिगम्बर—सम्प्रदायमें वस्त्र पात्र रखना निषिद्ध है ।

२—छट्टे गुणस्थान और उससे ऊपरके परिणामोंको भावलिङ्ग और तदनुसार बाह्य वेशको द्रव्यलिङ्ग कहते हैं । यदि द्रव्यलिङ्ग अनियत और भावलिङ्ग नियत है, तो वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके छहों लक्ष्या किस तरह घटित होती हैं, सो समझमें नहीं आता ।

भाष्यम्—लेइयाः—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेइया भवन्ति । षड्दशप्रतिसेवनाकुशी-
लयोः सर्वाः षडपि । कपायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेस्तिष्ठ उत्तरा सूक्ष्मसपरास्य निर्ग्रन्थ-
ज्ञातकयोश्च शुद्धिं केवला भवति । अयोग शैलेशीप्रतिपन्नोऽलेइयो भवति ।

उपपात—पुलाकस्योत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे । बहुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंश
तिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयो । कपायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपम
स्थितिषुदेवेषु सर्वार्थसिद्धे । संवेपामपि जघन्या पत्योपमपृथक्त्वस्थितिषु सौधमे । ज्ञातकस्य
निर्वाणमिति ॥

अर्थ—लेइयाका अर्थ पहले बताया जा चुका है, कि कपायोदयसे अनुरजित
योगप्रवृत्तिको लेइया कहते हैं । इसके छह भेद हैं—कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल ।
इनमेंसे पुलाकनिर्ग्रन्थके अन्तकी तीन लेइयाएँ हुआ करती हैं । बकुश और प्रतिसे-
वनाकुशीलके सब—उहाँ लेइयाएँ होती हैं । परिहारविशुद्धिसयमको धारण करनेवाले कपाय
कुशीलके अन्तकी तीन लेइयाएँ हुआ करती हैं । सूक्ष्मसपरायसयमको धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ
और स्नातकरूपके केवल एक शुक्ललेइया ही हुआ करती है । किन्तु ऊपर लिखे अनुसार जो
शैलेशिताको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे अयोगकेवली भगवान्‌के कोई भी लेइया नहीं हुआ करती ।
वे अलेइय माने गये हैं ।

उपपात—यह उपपात शब्द नारक या देवपर्यायमें जन्म धारण करनेको बताता है, किन्तु
प्रकृतमें देवगतिमें जन्मधारण करनेका ही इससे अर्थ ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि निर्ग्रन्थोंका
नरकगतिमें जन्मधारण करना असंगत है । अतएव इस शब्दके द्वारा यहाँपर यही बताया है,
कि इन पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थोंमेंसे कौन कौनसा निर्ग्रन्थ आयुपूर्ण होनेपर कहाँ कहाँ जन्म—धारण
किया करता है, या कहाँपर पहुँचता है । सो इस प्रकार है कि—पुलाक जातिके निर्ग्रन्थ सहस्रार
स्वर्गमें उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं । बकुश और प्रतिसेवनाकुशील आरण
और अच्युतकल्पमें बाईस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें जाकर उत्पन्न हुआ करते हैं ।
कपायकुशील और निर्ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धके तृतीस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें जाकर उत्पन्न
हुआ करते हैं । तथा इन सभी निर्ग्रन्थोंका—स्नातकको छोड़कर बाँची चारों ही निर्ग्रन्थोंका
जघन्य अपेक्षासे उपपात पृथक्त्व पत्यप्रमाण स्थितिवाले सौधर्मरूपवासी देवोंमें हुआ करते
हैं । स्नातकनिर्ग्रन्थ उपपात रहित हैं, क्योंकि वे जन्म—धारण नहीं किया करते, वे जन्म मर-
णसे रहित निर्वाणपदको ही प्राप्त हुआ करते हैं ।

भाष्यम्—स्थानम्—असंख्येयानि सयमस्थानानि कपायनिमित्तानि भवन्ति । तत्र
सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककपायकुशीलयोः । ती युगपदसरयेयानि स्थानानि
गच्छन्ति । तत पुलाको व्युच्छिद्यते कपायकुशीलस्त्वसरयेयानिस्थानान्येकाकी गच्छन्ति । तत
कपायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसरयेयानि सयमस्थानानि गच्छन्ति । ततो

वकुशो व्युच्छिद्यते । ततोऽसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोऽसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थ-प्रतिपद्यते । सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमेकमेव स्थानं गत्वा निर्ग्रन्थत्वात्तको निर्वाणं प्राप्नोतीति एषां संयमलक्षिधरनन्तानन्तगुणा भवतीति ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ—कषायके निमित्तसे होनेवाले संयमके स्थान—दर्जे असंख्यात हैं । इनमेंसे सब से जघन्य लविवरूप संयमके स्थान पुलाक और कषायकुशीलके हुआ करते हैं । ये दोनों ही निर्ग्रन्थ जघन्य स्थानसे ऊपर असंख्यात संयम—स्थानों तक साथ साथ आरोहण किया करते हैं, आगे चलकर पुलाककी व्युच्छित्ति हो जाती है, किन्तु अकेला कषायकुशील वहाँसे भी आगे असंख्यात स्थानों तक आरोहण करता चला जाता है । इसके ऊपरके असंख्यात संयम—स्थान ऐसे हैं, कि जिनपर कषायकुशील प्रतिसेवनाकुशील और वकुश तीनों निर्ग्रन्थ साथ साथ ही आरोहण किया करते हैं । इनके ऊपर कुछ स्थान चलकर वकुशकी व्युच्छित्ति हो जाती है । उससे भी ऊपर असंख्यात स्थान चलकर प्रतिसेवनाकुशलकी व्युच्छित्ति हो जाती है, तथा इसके भी ऊपर असंख्यात स्थानतक आरोहण करके कषायकुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है । यहाँसे ऊपर सब अकषाय—स्थान ही है । उनको केवल निर्ग्रन्थ ही प्राप्त हुआ करते हैं । किन्तु वह भी असंख्यात स्थानोंतक आरोहण करके व्युच्छित्तिको प्राप्त हो जाया करते हैं । इसके ऊपर एक ही स्थान है, कि जहाँपर निर्ग्रन्थत्वात्तक पहुँचता है । इस स्थानपर पहुँचकर त्वात्तक निर्ग्रन्थ निर्वाण—पदको प्राप्त हुआ करते हैं । इन निर्ग्रन्थोंको जो संयमकी लविव हुआ करती है, उसकी विशुद्धि उत्तरोत्तर अनन्तानन्तगुणी हुआ करती है ।

इसप्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका नववाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥



दशमोऽध्यायः ।



ऊपर जीवादिक सात तत्त्वोंमेंसे निर्जरापर्यन्त छह तत्त्वोंका वर्णन हो चुका । अन्तिम तत्त्व मोक्षका वर्णन अवसरप्राप्त है । अतएव मोक्षका वर्णन करना चाहिये, किन्तु मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, अतएव पहले केवलज्ञान और उसके कारणका भी उल्लेख करते हैं ।—

सूत्र—मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

भाव्यम्—मोहनीये क्षीणे ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायेषु क्षीणेषु च केवलज्ञान-दर्शनमुत्पद्यते । आसा चतसृणा कर्मप्रकृतीना क्षयः केवलस्य हेतुरिति । तत्क्षयादुत्पद्यत इति हेतौ पञ्चमीनिवेशः । मोहक्षयादिति पृथक्करण क्रमप्रसिद्धयर्थं यथा गम्येत पृथं मोहनीय कृत्स्न क्षीयते ततोऽन्तर्मुहूर्तं छद्मस्थवीतरागो भवति । ततोऽस्य ज्ञानदर्शनावरणान्तराय प्रकृतीनां तिसृणां युगपत्क्षयो भवति । ततः केवलमुत्पद्यते ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मका क्षय हो जानेपर और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मका क्षय हो जानेपर केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ करता है । इसका अर्थ यह है, कि इन चारों कर्मप्रकृतियोंका क्षय केवलज्ञान तथा केवलदर्शनकी उत्पत्तिमें हेतु है । क्योंकि इस सूत्रमें क्षय शब्दके साथ जो पचमी विभक्तिका निर्देश किया है, वह हेतुको दिखाता है—हेतु अर्थमें ही पचमी विभक्तिका प्रयोग किया गया है । किन्तु चारों प्रकृतियोंका क्षय युगपत् न बताकर पृथक् पृथक् बताया है । “मोहक्षयात्” ऐसा एक पद पृथक् दिखाया है और “ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्” ऐसा दूसरा पद पृथक् दिखाया है । ऐसा न करके यदि “मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्” ऐसा कर दिया जाता, तो भी कोई हानि नहीं मालूम पड़ती । किन्तु वैसा न करके पृथक्करण जो किया है, उसका प्रयोजन यह है, कि क्रमकी सिद्धि हो जाय । जिससे यह मालूम हो जाय, कि पहले मोहनीयकर्मका पूर्ण तथा क्षय होता है । इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्ततः छद्मस्थवीतराग होता है । इसके अनन्तर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मप्रकृतियोंका एक साथ क्षय हो जाता है । इन तीनोंका क्षय होते ही केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हो जाता है ।

भावार्थ—चारों घातिर्मोहोंके क्षयसे केवलज्ञान प्रगट होता है । किन्तु चारों कर्मोंमें भी हेतुहेतुमद्भाव है, जो कि इस प्रकार है, कि चारोंमेंसे मोहनीयका क्षय होजानेपर शेष तीनोंका क्षय होता है, तथा मध्यमें अन्तर्मुहूर्तमाल छद्मस्थवीतरागतामा रहता है । इस क्रमसे दिवानेके लिये ही पृथक्करण किया है । इस क्रमसे चारों कर्मोंका क्षय हो जानेपर आर्हन्त्य अवस्था उत्पन्न होती है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलमिति । अथ मोहनीयादीनां क्षयः कथं भवतीति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपर कहा है, कि मोहनीयकर्मका क्षय होनेपर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायकर्मका क्षय होता है, और उससे केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, सो ठीक है । किन्तु इस विषयमें यह भी बताना चाहिये, कि मोहनीय आदि कर्मोंका क्षय होता किस तरहसे है ? इनके क्षय होनेमें क्या क्या कारण हैं ? अथवा किस प्रकारसे क्षय होता है ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—मिथ्यादर्शनादयो बन्धहेतवोऽभिहिताः । तेषामपि तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयाद्भावो भवति सम्यग्दर्शनादीनां चोत्पत्तिः । तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तच्चिसर्गादधिगमाद्वेत्युक्तम् । एवं संवरसंवृतस्य महात्मनः सम्यग्व्यायामस्याभिनवस्य कर्मण उपचयो न भवति पूर्वोपचितस्य च यथोक्तैर्निर्जराहेतुभिरत्यन्तक्षयः । ततः सर्वद्रव्यपर्यायविषयं परमैश्वर्यमनन्तं केवलं ज्ञानदर्शनं प्राप्य शुद्धो बुद्धः सर्वज्ञः सर्वदर्शी जिनः केवली भवति । ततः प्रतनुशुभचतुःकर्मावशेष आयुः कर्मसंस्कारवशाद्विहरति ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारणोंको पहले बता चुके हैं । उनका तत्तत् आवरणीयकर्मका क्षय हो जानेसे अभाव हो जाता है, और सम्यग्दर्शनादिककी उत्पत्ति होती है । सम्यग्दर्शनका लक्षण भी उपर बताया जा चुका है, कि तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । तथा यह भी कहा गया है, कि वह दो प्रकारसे उत्पन्न होता है—निसर्गसे और अधिगमसे । इस प्रकारसे संवरके द्वारा संवृत महात्माके जिसका कि आचरण—न्यवहार सम्यग्यपदेशको प्राप्त हो चुका है, नवीन कर्मोंका उपचय नहीं होता । तथा पहलेके उपचित कर्मोंका ऊपर बताये हुए निर्जराके कारणोंसे अत्यन्त क्षय हो जाता है । इसके होते ही सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण पर्यायोंको विषय करनेवाला परमैश्वर्यका धारक और अन्त रहित केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्रकट होता है, जिसके कि प्राप्त होते ही यह आत्मा शुद्ध बुद्ध सर्वज्ञ सर्वदर्शी, जिन और केवली कहा जाता है । इसके अनन्तर यह सकल परमात्मा जिसके कि अत्यन्त सूक्ष्म शुभ चारु कर्म अवशेष रह गये हैं, आयुर्कर्मके संस्कारवश जगत्में विहार किया करता है ।

भावार्थ—आठवें अध्यायकी आदिमें मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योगको बन्धका कारण बता चुके हैं । बन्धके कारणका अभाव हो जानेको संवर कहते हैं । सम्यक्त्वको आवृत करनेवाले मिथ्यात्व अथवा दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे मिथ्यादर्शनका संवर होता है, जिससे कि निसर्ग अथवा अधिगमसे तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका प्रादुर्भाव होता है । इसी प्रकार अविरति आदिके विषयमें भी समझना चाहिये । उन उन

कर्मप्रवृत्तियोंके सवरके कारण ऊपर बताये जा चुके हैं। उन कारणोंके मिलनेपर सवरकी सिद्धि होती है—बन्धके कारणोंका अभाव होता है। इसी लिये उस महात्माके नवीन कर्मोंका आगमन—संचय नहीं होता। इसके साथ ही निर्जराके कारणका निमित्त पाकर पूर्वसंचित कर्मोंका एकदेश क्षय भी होने लगता है। इस प्रकार नवीन कर्मोंका संचय और संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेपर केवलज्ञान प्रकट होता है। अर्थात् केवलोत्पत्तिमें दो कारण हैं—बन्धके कारणोंका संचय और निर्जरा। इनके होनेसे ही शुद्ध बुद्ध सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवली जिनभगवान्की अवस्था प्रसिद्ध होती है।

भाष्यम्—ततोऽस्य ।—

अर्थ—सवर और निर्जराके द्वारा क्रमसे कर्मोंका एकदेश क्षय होते होते उस केवली भगवान्के जो चार कर्म शेष रह जाते हैं, उनका भी क्या होता है, और सबसे अतमें किस अवस्थाकी सिद्धि होती है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भवति । पूर्वं क्षीणानि चत्वारि कर्माणि पञ्चाद्वे-
दनीयनाभगोत्रायुष्कक्षयो भवति । तत्क्षयसमकालमेवादारिकशरीरवियुक्तस्यास्य जन्मन
प्रहाणम् । हेत्वभावाच्चोत्तरस्या प्रादुर्भावः । एषावस्या कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष इत्युच्यते ॥
किं चान्यत्—

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं। आठ कर्मोंमें चार कर्म पहले ही क्षीण हो जाते हैं। उसके बाद—अरिहत अवस्था प्राप्त हो जानेपर चार कर्म जो शेष रह जाते हैं—वेदनीय नाम गोत्र और आयुष्क इनका भी क्षय होता है। जिस समय इन चार अघातिकर्मोंका भी पूर्णतया क्षय हो जाता है, उसी समयमें केवलीभगवान्का औदारिक शरीरसे भी वियोग हो जाता है, जिससे कि अतमें इस जन्मका ही अभाव हो जाता है। पुनः कारणका अभाव होनेसे—किसीभी कारणके न रहनेसे उत्तर जन्मका प्रादुर्भाव नहीं होता। यह अवस्था कर्मोंके सर्वथा क्षयरूप है, इसीको मोक्ष कहते हैं।

भावार्थ—आठ कर्मोंमें ४ घाति और ४ अघाति है। घातिचतुष्टयके नष्ट होनेपर पूर्वोक्त रीतिसे सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त होती है। सर्वज्ञ केवली भगवान्के जो ४ अघातिकर्म शेष रह जाते हैं, उनका भी जब सम्पूर्ण क्षय हो जाता है, तभी मोक्षकी प्रसिद्धि कही जाती है। क्योंकि सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयको ही मोक्ष कहते हैं। यही सातवें तत्त्वका स्वरूप है। सम्पूर्ण कर्मोंके नष्ट हो जानेसे वर्तमान शरीरकी स्थितिसे लिये कोई कारण शेष नहीं रहता, और न नवीन शरीरके लिये ही कोई कारण बाकी रहता है। अतएव वर्तमान शरीर विघटित हो जाता है, और नवीन शरीरका धारण नहीं हुआ करता। इस प्रकार मोक्षके होनेपर जन्म—मरण रहित

अवस्था सिद्ध होती है, इस तरह समस्त कर्मोंके क्षयसे मोक्ष—तत्त्वकी सिद्धि होती है। तथा इसके सिवाय और किस किसके अभावसे सिद्धि होती है, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्व-
ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥**

भाष्यम्—औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकादयिकपारिणामिकानां भावानां भव्य-
त्वस्य चाभावान्मोक्षो भवति अन्यत्र केवलसम्यक्त्वकेवलज्ञानकेवलदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ।
एते ह्यस्य क्षायिका नित्यास्तु मुक्तस्यापि भवन्ति ॥

अर्थ—ऊपर सम्पूर्ण कर्मोंके अभावसे मोक्षकी सिद्धि बताई है, इसके सिवाय औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारणामिकभावोंके अभावसे तथा भव्यत्वके भी अभावसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा समझना चाहिये। औपशमिकादि भावोंमें केवल सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन और सिद्धत्वभाव भी आ जाता है, अतएव इनके अभावसे भी मोक्ष होती होगी, ऐसा कोई न समझ ले, इसके लिये कहा गया है, कि इन चार भावोंके सिवाय औपशमिकादि भावोंका अभाव होनेपर मोक्ष—अवस्था सिद्ध होती है। क्योंकि इन केवलीभगवान्के ये क्षायिकभाव नित्य हैं, और इसी लिये ये मुक्त—जीवके भी पाये जाते—या रहा करते हैं।

भावार्थ—ऊपर जो जीवके औपशमिकादि स्वतत्त्व बताये हैं। उनमें से पारणामिक भावोंको छोड़कर शेष भाव कर्मोंकी अपेक्षासे हुआ करते हैं। मुक्त—अवस्था सर्वथा कर्मोंसे रहित है। अतएव कर्मोंके उपशम क्षयोपशम उदयसे उत्पन्न होनेवाले भाव वहाँपर नहीं रह सकते हैं, क्षायिकभावोंमेंसे चार ऊपर कहे हुए भावोंको छोड़कर बाकी भाव भी वहाँ नहीं रहा करते। क्योंकि उनके लिये वहाँ योग्य निमित्त नहीं है। पारणामिकभावोंमेंसे भव्यत्व-
भावका भी अभाव हो जाता है। क्योंकि उसका कार्य अथवा फल पूर्ण हो चुका।

इस प्रकार सकल कर्म और औपशमिकादिभावोंके अभावसे मोक्ष हो जानेपर उस जीवकी क्या गति होती है, या वह किस प्रकार परिणत होता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—तदनन्तरमिति कृत्स्नकर्मक्षयानन्तरमौपशमिकाद्यभावानन्तरं चैत्यर्थः । मुक्त ऊर्ध्व गच्छत्यालोकान्तात् । कर्मक्षये देहवियोगसिद्ध्यमानगतिलोकान्तप्राप्तयोऽस्य युगपदेकस-
मयेन भवन्ति । तद्यथा—प्रयोगपरिणामादिस्मृत्यस्य गतिकर्मण उत्पत्तिकार्यारम्भविनाशा युगपदेकसमयेन भवन्ति तद्वत् ॥

अर्थ—उसके अनन्तर जीव ऊर्ध्व—गमन करता है। कहाँ तक ? तो लोकके अन्ततक। यही सूत्रका सामान्यार्थ है। इसमें तदनन्तर शब्द जो आया है, उससे उपर्युक्त दोनों प्रकारके

क्षय अथवा अभावके अनन्तर ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि समस्त कर्मोंके क्षयके अनन्तर और ओपशमिकादि भागोंके अभावके अनन्तर मुक्त-जीव ऊर्ध्व-गमन करता है । कर्मोंका क्षय होते ही इस जीवको एक ही क्षणमें एक साथ तीन अवस्थाएँ प्राप्त हुआ करती हैं ।—शरीरका वियोग, और सिध्यमान-गति तथा लोकके अन्तमें प्राप्ति । जिस प्रकार किसी भी प्रयोग-परिणामादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाली गति, क्रियामें उत्पात्ति, कार्यारम्भ और विनाश ये तीनों ही भाव युगपत्-एक ही क्षणमें होते, या पाये जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । जिस क्षणमें कर्मोंका विनाश होता है, उसी क्षणमें यह जीव शरीरसे वियुक्त होकर सिध्यमान-गति और लोकके अन्तको प्राप्त कर लिया करता है । उस जीवकी तीनों ही अवस्थाएँ एकसाथ ओर एक ही क्षणमें हुआ करती है ।

भावार्थ—जैसा कि वस्तुका स्वरूप ही पहले बता चुका है, कि “ उत्पादययध्रौव्ययुक्त सत् । ” उसी प्रकार सत्सारावस्थाको छोड़कर मुक्तावस्थाको प्राप्त होनेवाले जीवमें भी तीनों बातें युगपत् पाई जाती हैं । ये तीनों बातें एक ही क्षणमें सिद्ध हो जाती हैं ।

भाष्यम्—अत्रोह—प्रदीणकर्मणो निरास्त्रस्य कथं गतिर्भवतीति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जिसके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो चुके हैं, और नवीन कर्मोंका आस्रव-आना भी रक गया है, उसका गमन किस तरह हो सकता है ?

भावार्थ—सत्सारमें कर्मसहित जीवका ही एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रको गमन होता हुआ देखनेमें आता है, और उसके नवीन कर्मोंका आस्रव भी हुआ करता है । किन्तु मुक्त-जीव दोनों बातोंसे रहित है, अतएव उसके ऊर्ध्व-गमन किस प्रकार हो सकता है ? इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्धन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः॥६॥

भाष्यम्—पूर्वप्रयोगात् । यथा हस्तदण्डचक्रसयुक्तसयोगात्पुरुषप्रयत्नतश्चाधिद्वं कुला लचक्रमुपरतेष्वपि पुरुषप्रयत्नहस्तदण्डचक्रसयोगेण पूर्वप्रयोगाद्धमत्येवासत्कारपरिक्षयात् । एव य पूर्वमस्य कर्मणा प्रयोगो जनित स क्षीणेऽपि कर्मणि गतिहेतुमवति । तत्कृता गति । किं चान्यत्—

अर्थ—कर्म और आस्रवसे रहित मुक्त-जीवकी ऊर्ध्व-गति होनेमें अनेक हेतु हैं । उनमेंसे पहला हेतु पूर्वप्रयोग है । जिसका आशय इस प्रकार है, कि कुम्भारका चक्र हस्त-कुम्भारका हाथ और दण्ड तथा चक्रके सम्मिलित संयोगको पार पुरुषके प्रयत्नसे आनिद्ध होकर भ्रमण किया करता है, आर वह उक्त पुरुष प्रयत्न तथा हस्त दण्ड चक्र संयोगरूप कारणोंके छूट जानेपर भी तत्तत्काल में रहता है, जबतक कि उसमें वह पहली धारका प्रयोग भोजन रहना है । पुरुषप्रयत्नसे एका धार जो सत्कार बना हो जाता है, वह जबतक नष्ट नहीं

होता, तत्काल वह चक्र हस्त दण्ड संयोगके न रहनेपर भी बराबर घूमता ही रहता है, इसी प्रकार कर्मके निमित्तको पाकर यह संसारी प्राणी कर्मके प्रयोगको पाकर संसारमें भ्रमण किया करता था, उस प्रयोगसे जो संस्कार पैदा हो गया हैं, उसके वशीभूत हुआ यह जीव भी कर्मका निमित्त छूट जानेपर भी गमन किया करता है। इसीको पूर्वप्रयोग कहते हैं। यही सिद्ध होनेवाले जीवकी गतिमें हेतु होता है, अथवा यों कहना चाहिये, कि इस पूर्वप्रयोगके द्वारा ही मुक्त जीवोंकी गति हुआ करती है। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि—

भाष्यम्—असङ्गत्वात् । पुद्गलानां जीवानां च गतिमत्त्वमुक्तं नान्येषां द्रव्याणाम् । तत्राधोगौरवधर्माणः पुद्गला ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवाः । एष स्वभावः । अतोऽन्यासङ्गादि-जनिता गतिर्भवति । यथा सत्स्वपि प्रयोगादिषु गतिकारणेषु जातिनियमेनाधस्तिर्यग्ध्वं च स्वाभाविक्यो लोष्ट्वाध्वशीनां गतयो दृष्टाः । तथा सङ्गविनिर्मुक्तस्योर्ध्वगौरवादूर्ध्वमेव सिध्य-मानगतिर्भवति । संसारिणस्तु कर्मसङ्गादधस्तिर्यग्ध्वं च । किं चान्यत् ।—

बन्धच्छेदात्—यथा रज्जुबन्धच्छेदात्पेढाया वीजकोशबन्धनच्छेदाच्चैरण्डवीजानां गतिर्दृष्टा तथा कर्मबन्धनच्छेदात्सिध्यमानगतिः । किं चान्यत् ।—

अर्थ—सङ्गका अभाव हो जाता है। इससे भी मुक्त—जीवोंकी गति सिद्ध होती है। सम्पूर्ण द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य ऐसे हैं, जिनको कि गतिमान् माना है, इनके सिवाय और कोई भी द्रव्य गतिमान् नहीं है। इनमें भी जो पुद्गल द्रव्य हैं, वे अधोगौरवधर्मके धारण करनेवाले हैं, और जो जीव—द्रव्य हैं, वे ऊर्ध्वगौरवधर्मको धारण करनेवाले हैं। यह इनका स्वभाव ही है। स्वभावके विरुद्ध गति सङ्गादि कारणोंसे हुआ करती है। जैसे कि विरुद्ध गतिके कारण प्रयोग आदिके रहते हुए विरुद्ध गति होती है, किन्तु उसके न रहनेपर लोष्ट वायु और अग्निकी गति उस उस जातिके नियमानुसार क्रमसे अधः तिर्यक् और ऊर्ध्व हुआ करती है। उसी प्रकार सङ्ग रहित मुक्त जीवकी भी सिध्यमान—गति ऊर्ध्व दिशाकी तरफ हुआ करती है, क्योंकि जीव स्वभावसे ही ऊर्ध्व—गौरवको धारण करनेवाला है।

भावार्थ—सङ्ग नाम सम्बन्धका है। बाल्य कारणविशेषका सम्बन्ध पाकर द्रव्यकी स्वभावके विरुद्ध भी गति हो सकती है, किन्तु वैसा सम्बन्ध न रहनेपर स्वभाविकी—गति ही होती है। पुद्गल द्रव्य सामान्यतया अधोगतिशील है, और जीव द्रव्य ऊर्ध्वगतिशील है। यदि इनके लिये स्वभावका प्रतिबन्धक कारण न मिले, तो अपनी अपनी जातिके नियमानुसार ही गमन किया करते हैं। जिस प्रकार वायु तिर्यग् गतिशील है। परन्तु उसके लिये यदि प्रति-बन्धक कारण मिल जाय, तो वह अधः और ऊर्ध्व दिशाकी तरफ भी गमन किया करती है, अन्यथा तिर्यक् ही गमन करती है, तथा जिस प्रकार अग्नि स्वभावसे ऊर्ध्व—गमन करनेवाली है, अतएव उसको यदि प्रतिबन्धक कारण मिल जाय, तो अधः अथवा तिर्यक् भी गमन किया करती है, नहीं तो ऊर्ध्व—गमन ही करती है। उसी प्रकार जीव द्रव्यके विषयमें समझना चाहिये।

कर्मके निमित्तको पाकर भी वह समस्त दिशाओंमें गमन किया करता है, किन्तु उस प्रतिबधक निमित्तके छूट जानेपर स्वाभाविक ऊर्ध्व-गमन किया करता है । इस प्रकार असङ्गता भी जीवकी ऊर्ध्व-गतिमें एक कारण है । इसके सिवाय एक कारण बधच्छेद है—

बधके छूट जाने अथवा उच्छेद होजानेको बधच्छेद कहते हैं । जिस प्रकार रस्सीका बन्धन छूटते ही पैदाकी गति हुआ करती है । अथवा बीज-कोशका बन्धन छूटनेपर एरण्डके बीजमें गति होने लगती है, उसी प्रकार धर्मोपा आत्माके साथ जो बधन हो रहा है, उसके छूटते ही सिध्यमान-जीवकी भी गति होने लगती है ।

भाषार्थ—बहुतसे पदार्थ ससारमें ऐसे देखनेमें आते हैं, जो कि किसी अन्य पदार्थसे बँधे रहनेके कारण ही एक जगह रुके रहते हैं, किन्तु बधनके छूटते ही उनमें निरुत्पन्नी या उच्छलने आदिकी क्रिया ऐसी होने लगती है, जोकि उस पदार्थको अन्य क्षेत्रमें लेजानेके लिये कारण होता है । जैसे कि एरण्डका कोश जनतक पँथा रहता है, तबतक उसका बीज-अर्द्ध भी उसमें बन्द ही रहता है । किन्तु कोशके फूटते ही भीतरका बीज-अर्द्ध एकदम उज्ज्वल कर बाहर आ जाता है—प्रायः वह ऊर्ध्व-गमन किया करता है । इसी प्रकार कर्म नोकर्मका बधन छूटते ही जीवन्मुक्त परमात्माकी भी स्वाभाविकी ऊर्ध्वगति हुआ करती है । अतएव सिध्यमान-गतिमें बधच्छेद भी एक कारण है । इसके सिवाय उसी तरहका गति परिणाम भी एक कारण है, जिसका तात्पर्य यह है कि—

भाष्यम्—तथागतिपरिणामाच्च । ऊर्ध्वगौरवात्पूर्वप्रयोगाविध्यञ्च हेतुभ्यः तथास्य गति-परिणाम उत्पद्यते येन सिध्यमानगतिर्भयति । ऊर्ध्वमेव भवति नाधस्तिर्यग्या गौरवप्रयोग परिणामासङ्गयोगाभावात् । तद्यथा-शुण्वयद्भूमिभागापेक्षितमृतकालजातं धीजोद्धेकादङ्गुलमवा लपणं पुष्पफलकालेऽप्यविमानितसेकदाहृदादिषोषणकर्मपरिणतं कालाच्छिन्नं शुष्कमलादप्यसु न निमज्जाति । तदेव शुक्रकृष्णमृत्तिकालेऽपेक्षनेर्बहुभिरालिप्तं घनमृत्तिकालेऽपेक्षनजनितान्-न्तुकगौरवमप्यसु प्रक्षिप्तं तज्जलप्रतिष्ठं भवति । यदा त्वस्याग्निं क्रिच्छी मृत्तिकालेऽपेक्ष्यगतो भवति तदा मृत्तिकालेऽपसङ्गविनिमुक्तं मोक्षानन्तरमेवाध्वं गच्छति आसलिलोर्ध्वतलात् । पयमूर्ध्वगौरवगतिधर्मा जीवोऽप्यष्टकर्ममृत्तिकालेऽपेक्षितं तत्सङ्घातसंसारमहापण्ये मयसलिले निमज्जो भवासक्तोऽधस्तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति । सम्यग्दर्शनादिसलिलेऽहंदात्महीणाष्टविधकर्ममृत्ति कालेऽप्य ऊर्ध्वगौरवात्ऊर्ध्वमेव गच्छत्यालोपान्तात् ।

अर्थ—ऊर्ध्वगौरव और पूर्वप्रयोग आदि कारणोंसे द्वारा मुक्ति-श्रम करनेवाले जीवकी गति का परिणाम ही ऐसा होता है, कि जिससे निमित्तसे सिध्यमान-जीवकी गति ऊर्ध्व दिशाकी तरफ ही होती है, अथोदिशा या तिर्यग्दिशाओंकी तरफ नहीं हुआ करती । क्योंकि ऊर्ध्व-गमनके लिये जो ऊर्ध्व-गौरव, पूर्वप्रयोग का परिणाम, सन्नत्याग, तथा योगाभाव-बधच्छेद का कारण ऊपर बताये हैं, वे सब यहाँपर पाये जाते हैं । यह बात अङ्गु-तूषाके उदाहरणमें भी प्रकार समझमें आ सकती है, सो इस प्रकार है—

गुणयुक्त—उत्पादकशक्ति—उर्वराशक्तिके धारण करनेवाले किसी भूमिभाग—पृथ्वीके हिस्सेमें तूँधेका बीज बो दिया । वह योग्य ऋतुका समय पाकर उत्पन्न हुआ । तथा बीजके फूटनेकी अवस्थासे लेकर अङ्कुर प्रवाल पर्ण—पत्ता पुष्प और फल आनेकी अवस्थातक उसका भले प्रकार जलसे सिंचन भी किया । फल आनेपर उसको किसी भी तरह खराब नहीं होने दिया, न कच्चा टूटने दिया और न बिगड़ने दिया—उसका खूब अच्छी तरहसे पालन—पोषण किया । अन्तमें वह फल स्वयं ही काल पाकर सूख गया और लतासे छूट गया । ऐसे तूँधफलको यदि जलमें छोड़ा जाय तो वह डूबता नहीं । किन्तु उसपर यदि काली भारी मट्टीका बहुत सा लेप कर दिया जाय, तो उसमें उस घने मृत्तिकाके लेप और वेष्टनसे आगन्तुक—नैमित्तिक गुरुता आजाती है, और इसी लिये जलमें छोड़ देनेपर वह जलमें ही बैठ जाता है—जलके तल भागमें ही रह जाता है । किन्तु वहाँ पड़े रहनेपर जब जलके निमित्तसे उसका वह मट्टीका लेप भीगकर—गीला होकर क्रमसे छूट जाता है, तो उसी समय—मृत्तिकाके लेपका सम्बन्ध छूटते ही—मोक्षके अनन्तर ही ऊर्ध्व—गमन किया करता है, और वह जलके ऊपरके तलभाग तक गमन करता ही जाता है, और अंतमें ऊपर आकर ठहर जाता है । इसी प्रकार जीवके विषयमें भी समझना चाहिये । ऊर्ध्वगौरव और गतिधर्मको धारण करनेवाला जीव भी संसारमें आठ प्रकारके कर्मरूपी मृत्तिकाके लेपसे वेष्टित हो रहा है । उसके सम्बन्धसे वह अनेक भव—पर्यायरूपी जलसे पूर्ण संसाररूपी महान् समुद्रमें निमग्न हो जाता है, और नाना गतियोंमें आसक्त हुआ अधः तिर्यक् तथा ऊर्ध्व दिशाकी तरफ गमन करता फिरता है । किन्तु जब सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी जलके निमित्तसे भीगकर अष्टविध कर्मरूपी मृत्तिकाका लेप छूट जाता है, तो उसी समय ऊर्ध्वगौरव स्वभावके कारण वह जीव ऊपरको ही गमन करता है, और लोकके अन्ततक गमन करता ही जाता है ।

भावार्थ—संसारावस्थामें अनेक विरुद्ध कारणोंके संयोगवश जीवकी स्वाभाविकी गति नहीं हो सकती । किन्तु उनके हटजानेपर ऊर्ध्व—गमनरूप स्वाभाविक परिणाम ही ऐसा होता है, कि जिसके निमित्तसे सिध्यमान—जीवकी लोकान्तप्रापिणी—गति हुआ करती है, और उससे तूँधफलके समान वह जीव लोकके अन्तमें जाकर ही ठहरता है ।

भाष्यम्—स्यादेतद् ।—लोकान्तादप्यूर्ध्वं मुक्तस्य गति किमर्थं न भवतीति ? अत्रोच्यते—धर्मास्तिकायाभावात् । धर्मास्तिकायो हि जीवपुद्गलानां गत्युपग्रहेणोपकुरुते । स तत्र नास्ति । तस्माद्गत्युपग्रहकारणाभावात्परतो गतिर्न भवत्यप्सु अलावुवत् । नाधो न तिर्यगित्युक्तम् । तत्रैवानुश्रेणिगतिलोकान्तेऽवतिष्ठते मुक्तो निःक्रियः इति ॥

अर्थ—आपने जो मुक्त—जीवकी सिध्यमान—गति लोकान्तप्रापिणी और स्वभावसे ही ऊर्ध्व दिशाकी तरफ होनेवाली बताई, सो ठीक है । परन्तु इस विषयमें शंका यह है, कि वह लोकके अन्ततक ही क्यों होती है ? सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित जीव अपने स्वभावसे ही जब ऊपरको गमन

करता है, तो वह लोकके अन्ततक ही क्यों करता है, लोकके ऊपर भी उसकी गति क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि—लोकके ऊपर धर्मास्तिकायका अभाव है । पाँच जो अस्तिकाय बताये हैं, उनमेंसे धर्मास्तिकायका यह कार्य है, कि वह जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्यकी गतिमें सहायता पहुँचानेका उपकार करे, किन्तु वह लोकके ऊपर नहीं रहता । अतएव गमन करनेके निमित्तकारणका अभाव होनेसे लोकान्तसे भी परे गति नहीं होती । जैसे कि जलमें मृत्तिका—मिट्टीके भारसे डूबी हुई तूथी मृत्ति-मार्के हट जानेपर जलके ऊपरके तलभाग तक ही गमन करती है, उससे भी ऊपर गमन नहीं कर सकती, क्योंकि उससे भी ऊपरको जानेके लिये निमित्त कारण जलका अभाव है । मुक्त—जीव की गति अथो दिशाकी तरफ और तिर्यग् दिशाकी तरफ नहीं होती, यह बात पहले ही बता चुके हैं । किन्तु उसकी गति श्रेणिबद्ध लोकान्तप्रापिणी ही हुआ करती है, और इसी लिये वह लोकके अन्तमें जाकर ठहर जाना है, तथा नि किय बना रहता है ।

भावार्थ—यद्यपि मुक्त—जीवका स्वभावात् उर्ध्व—गमन करनेका है, और इसलिये लोकके परे भी उसको गमन करना चाहिये, यह ठीक है, फिर भी कार्यकी सिद्धि बिना बाह्य निमित्त कारणके नहीं हो सकती, इस सिद्धातके अनुसार जहाँतक गमन करनेका बाह्य निमित्त धर्मास्तिकायका सद्भाव पाया जाता है, वहींतक मुक्त—जीवकी गति होती है, उससे परे नहीं हो सकती, और धर्मद्रव्यका अस्तित्व लोकके अन्ततक ही रहा करता है ।

इस प्रकार मुक्तिके कारणोंको पाकर जो मुक्त हो जाते हैं, वे सभी जीव स्वरूपकी अपेक्षा समान है अथवा असमान ? इस बातको बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञाना-
वगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्या ॥ ७ ॥**

साध्यम्—क्षेत्र काल गति लिङ्ग तीर्थ चारित्र प्रत्येकबुद्धबोधित ज्ञानमवगाहना-
अन्तर संख्या अल्पबहुत्वमित्येतानि द्वादशानुयोगद्वाराणि सिद्धस्य भवन्ति । एभिः सिद्ध-
साध्योऽनुगम्यचिन्त्यो व्याख्येय इत्येकार्थत्वम् । तत्रपूर्वभावप्रज्ञापनीय प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञा-
पनीयश्च द्वौ नयौ भवतः । तत्कृतोऽनुयोगविशेषः । तद्यथा—

अर्थ—क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना,
अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्व, इस प्रकार मुक्त—जीवके लिये बारह अनुयोगद्वार माने हैं । इनके द्वारा मुक्त—जीव साध्य अनुगम्य चिन्त्य और व्याख्येय कहा जाता है । ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । इनमें भी दो नय प्रवृत्त हुआ करते हैं—पूर्वभावप्रज्ञापनीय और प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय । इनके द्वारा अनुयोगोंमें विशेषता सिद्ध होती है । जोकि इस प्रकारसे है ।—

भावार्थ—संहरण शब्दका अर्थ स्पष्ट है। कोई देवादिक किसी मुनिको हरकर क्षेत्रान्तरमें लेजाय, तो उसको संहरण कहते हैं। संहरणके द्वारा जिस क्षेत्रको मुनि प्राप्त होगा वहाँपर अमुक ही काल होगा, ऐसा नियम नहीं बन सकता। सुषमसुषमा या सुषमा अथवा सुषमदुःषमाकाल जहाँपर सदा प्रवृत्त रहा करता है, ऐसे भोगभूमिके क्षेत्रमें भी संहरणके द्वारा प्राप्ति हो सकती है, और वहींसे उसी समयमें निर्वाण—पद भी प्राप्त हो सकता है। अतएव संहरणकी अपेक्षा सभी कालमें सिद्धि कही जासकती है। जन्मकी अपेक्षा जो विशेषता है, वह ऊपर लिखी गई है।

भाष्यम्—गतिः ।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सिद्धिगत्यां सिध्यति । शेषास्तु नया द्विविधाः ।—अनन्तरपश्चात्कृतगतिकश्च एकान्तरपश्चात्कृतगतिकश्च अनन्तरपश्चात्कृतगतिः कस्य मनुष्यगत्यां सिध्यति । एकान्तरपश्चात्कृतगतिकस्याविशेषेण सर्वगतिभ्यः सिध्यति ।

लिङ्गं-स्त्रीपुं नपुंसकानि । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यावेदः सिध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यानन्तरपश्चात्कृतगतिकस्य परम्परपश्चात्कृतगतिकस्य च त्रिभ्यो-लिङ्गेभ्यः सिध्यति ।

लिङ्गे-पुनरन्यो विकल्प उच्यते ।—द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गमलिङ्गमिति । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यालिङ्गः सिध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य भावलिङ्गं प्रति स्वलिङ्गे सिध्यति । द्रव्य-लिङ्गं त्रिविधं स्वलिङ्गमन्यलिङ्गं गृहिलिङ्गमिति तत्प्रति भाज्यम् सर्वस्तु भावलिङ्गं प्रातः सिध्यति ॥

अर्थ—गतिका अर्थ ऊपर बता चुके हैं। भवधारण अथवा पर्यायविशेषको गति कहते हैं। इसके सामान्यतया चार भेद हैं, जोकि पहले कहे जा चुके हैं। इसकी अपेक्षासे भी सिद्धजीवोंकी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा सिद्धिगतिसे ही सिद्धि होती है। पूर्वभावप्रज्ञापनीयमें भी दो प्रकार हैं, अनन्तरपश्चात्कृतिक और एकान्तरपश्चात्कृतिक। सिद्ध-अवस्था प्राप्त होनेसे अव्यवाहित पूर्वक्षणमें जो गति हो उसको अनन्तरपश्चात् कहते हैं, और उससे भी पूर्वमें जो गति हो, उसको एकान्तरपश्चात् शब्दसे कहा जाता है। अनन्तरपश्चात् गतिकी अपेक्षासे यदि विचार किया जाय, तो मनुष्यगतिसे ही सिद्धि होती है, और एकान्तरपश्चाद्गतिकी अपेक्षासे यदि देखा जाय, तो सामान्यतया सभी गतियोंसे सिद्धि हो सकती है।

भावार्थ—वर्तमान भाव की अपेक्षा सिद्ध-जीव सिद्धगतिमें ही रहते हैं, अतएव उनको अन्य किसी भी गतिसे सिद्ध नहीं कहा जा सकता। पूर्वभावकी अपेक्षा यदि ली जाय, तो अनन्तर-गतिकी अपेक्षा उन्हें मनुष्यभवसे सिद्ध कहा जा सकता है। क्योंकि जितने भी सिद्ध हुए हैं, या होंगे, अथवा हो सकते हैं, वे सब मनुष्यगतिके अनन्तर ही हुए हैं, या होंगे, अथवा हो सकते

हैं । यदि इस से भी पूर्वकी-परम्परासे मनुष्यगतिते भी एक भव पूर्वकी अपेक्षा विचार किया जाय, तो चारों ही गतिसे सिद्धि कही जा सकती है । क्योंकि जिस मनुष्यपर्यायसे जवि सिद्धि प्राप्त करता है, उस मनुष्यपर्यायको चारों ही गतिसे आया हुआ जीव धारण कर सकता है ।

लिङ्गके तीन भेद है—स्त्रीलिङ्ग पुलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय-नयकी अपेक्षासे वेदरहित—अलिङ्गकी सिद्धि हुआ करती है—किसी भी लिङ्गसे सिद्धि नहीं होती । पूर्वभावप्रज्ञापनीयमें भी दो भेद हैं ।—अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चात्कृतिक । दोनों ही अपेक्षाओंमें तीनों लिङ्गोंसे सिद्धि हुआ करती है ।

भावार्थ—सिद्ध अवस्थामें कोई भी लिङ्ग नहीं रहता, अतएव वर्तमानकी अपेक्षा अवेदसे सिद्धि कही जा सकती है । किन्तु पूर्वभावकी अपेक्षासे दो प्रभारसे विचार किया जा सकता है । एक तो अन्यवहित पूर्वपर्यायके लिङ्गकी अपेक्षा ओर दूसरा उससे भी पूर्वपर्यायके लिङ्गकी अपेक्षा । इन दोनों ही पर्यायोंमें तीनों लिङ्ग पाये जा सकते हैं ।^१

लिङ्गके विषयमें दूसरे प्रभारसे भी भेद बताये हैं । वे भी तीन हैं ।—द्रव्यलिङ्ग भावलिङ्ग और अलिङ्ग । इनमेंसे प्रत्युत्पन्नभावकी अपेक्षा अलिङ्ग ही सिद्धिको प्राप्त हुआ करता है । पूर्वभावकी अपेक्षामें भावलिङ्गकी अपेक्षा स्वलिङ्गसे ही सिद्धि होती है, द्रव्यलिङ्गमें तीन प्रकार हैं ।—स्वलिङ्ग अन्यलिङ्ग और गृहलिङ्ग । इनकी अपेक्षासे यथायोग्य समझ लेना चाहिये । किन्तु सभी भावलिङ्गको प्राप्त करके ही सिद्धिको प्राप्त हुआ करते हैं ।

भावार्थ—अन्तरङ्ग परिणामोंमें निर्ग्रन्थ जिनलिङ्ग होना ही चाहिये । बाह्यमें स्वलिङ्ग अन्यलिङ्ग अथवा गृहलिङ्गमेंसे यथासम्भव कोई भी होसकता है । यहाँपर लिङ्ग शब्दका अर्थ वेश अथवा मुद्रा समझना चाहिये । यदि लिङ्ग शब्दका अर्थ वेद—स्त्रीलिङ्ग पुलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग किया जाय, तो तीनों ही लिङ्गसे निर्वाण हो सकता है^२ ।

भाष्यम्—तीर्थम्—सन्ति तीर्थकरसिद्धा तीर्थकरतीर्थे नो तीर्थकरसिद्धा तीर्थकर तीर्थेऽतीर्थकरसिद्धा तीर्थकरतीर्थे । पञ्च तीर्थकरतीर्थे सिद्धा अपि ।

चरित्रम्—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य नोचारित्रि नोऽचारित्रि सिध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयो द्विविध अनन्तरपश्चात्कृतिकश्च परम्परपश्चात्कृतिकश्च । अनन्तरपश्चात्कृतिकस्य यथारयात्सयत्तः सिध्यति । परम्परपश्चात्कृतिकस्य व्यञ्जितेऽव्यञ्जिते च । अव्यञ्जिते त्रिचरित्रपश्चात्कृतश्चतुश्चारित्रपश्चात्कृतः पञ्चचारित्रपश्चात्कृतश्च । व्यञ्जिते सामायिकसूक्ष्म सांपरायिकयथारयात्पश्चात्कृतसिद्धा । छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसंपराययथारयात्पश्चात्कृतसिद्धा । सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसूक्ष्म संपराययथारयात्पश्चात्कृतसिद्धा छेदोपस्थाप्यपरिहार-

१—इनशब्दोंका अर्थ गतिअनुयोगमें जैसा किया गया है, उही प्रकार समझना चाहिये । २—दिगम्बर-सम्प्रदायमें द्रव्यत पुलिङ्गकी ही मोक्ष माना है ।

३—दिगम्बर-सम्प्रदायमें भावलिङ्गकी अपेक्षा तीनों लिङ्गोंसे और द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षा केवल पुलिङ्गसे ही मोक्ष माना है । बाह्य-वेशकी अपेक्षा भी केवल निर्ग्रन्थ दिगम्बर-अनेक अवस्थासे ही मोक्ष मानी है ।

विशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः ॥

अर्थ—तीर्थ नामक अनुयोगके द्वारा मुक्तात्माओंमें भेदका वर्णन किया जासकता है । क्योंकि कोई तो तीर्थकरके तीर्थमें तीर्थकर होकर सिद्ध होते हैं, कोई तीर्थकरके तीर्थमें नोतीर्थकर—ईषतीर्थकर होकर सिद्ध हुआ करते हैं, तथा कोई तीर्थकरके तीर्थमें ही अतीर्थकर होकर भी सिद्ध हुआ करते हैं । एवं कोई तीर्थकरीके तीर्थमें सिद्ध होते हैं^१ ।

भावार्थ—यह अनुयोगके द्वारा सिद्धोंकी विशेषताका आख्यान व्यपदेशमात्र कहा जा सकता है । क्योंकि इससे उनके स्वरूपमें कोई अन्तर सिद्ध नहीं होता । जैसा केवलज्ञान आदिक तीर्थकरसिद्धके होता है, वैसा ही नोतीर्थकरके और वैसा ही अतीर्थकरसिद्धके भी हुआ करता है । किसी भी सिद्धके गुणोंमें दूसरे सिद्धोंके उन्हीं गुणोंकी अपेक्षा विशेषता नहीं पाई जाती ।

चारित्र—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा नेचारित्रि और नोअचारित्रि दोनों ही सिद्धिको प्राप्त करनेवाले कहे जा सकते हैं । क्योंकि वर्तमान क्षणकी अपेक्षा सिद्धोंको न चारित्रसे सिद्ध कह सकते हैं और न अचारित्रसे सिद्ध ही कह सकते हैं । क्योंकि वह अवस्था चारित्र अचारित्र दोनोंसे रहित है । पूर्वभावप्रज्ञापनकी अपेक्षा चारित्रसे सिद्ध कही जा सकती है । किन्तु उसमें भी दो प्रकार हैं ।—अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चात्कृतिक । अनन्तरपश्चात्की अपेक्षा यथाख्यातसंयमके धारण करनेवाला ही मुक्तिको प्राप्त किया करता है । परम्परपश्चात् में भी दो अपेक्षाएं हैं—एक व्यञ्जित दूसरी अव्यञ्जित । अव्यञ्जितकी विवक्षा होनेपर तीन भेद कहे जा सकते हैं ।—त्रिचारित्रपश्चात्कृत और चतुश्चारित्रपश्चात्कृत तथा पञ्चचारित्रपश्चात्कृत । व्यञ्जितकी अपेक्षामें कोई तो सामायिक सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं । कोई छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं । कोई सामायिकसंयम छेदोपस्थाप्यसंयम और सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं । कोई छेदोपस्थाप्यसंयम परिहारविशुद्धिसंयम सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं । तथा कोई सामायिक छेदोपस्थाप्य परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं ।

भावार्थ—इस प्रकार सिद्धजीवोंकी विशेषता चारित्रिके द्वारा अनेक प्रकारसे बताई जा सकती है । यद्यपि वर्तमानमें वे चारित्र अचारित्रसे रहित हैं, तो भी पूर्वभावकी अपेक्षा त्रिचारित्रसिद्ध चतुःचारित्रसिद्ध पञ्चचारित्रसिद्ध आदि अनेक भेदरूप कहे जा सकते हैं ।

—अभ्यन्त—प्रत्येकबुद्धबोधितः—अत्य व्याख्याविकल्पश्चतुर्विधः । तद्यथा—१-अस्ति-स्वयं-बुद्धसिद्धः । २-स द्विविधः अर्हश्च तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धसिद्धश्च । बुद्धबोधितसिद्धाः त्रिचतुर्थो विकल्पः परबोधकसिद्धाः स्वेष्टकारिसिद्धाः ॥

ज्ञानम्—अत्रप्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य केवली सिध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयो द्विविधः ।—अनन्तरपश्चात्कृतिकश्च परम्परपश्चात्कृतिकश्च अव्यजिते च व्यजिते च । अव्यजिते द्वाभ्यां ज्ञानाभ्यां सिध्यति । त्रिमिश्रतुर्मिरिति । व्यजिते द्वाभ्यां मतिश्रुताभ्यां । त्रिमिमतिश्रुतावधिभिर्मतिश्रुतमनः पर्यायेर्वा । चतुर्भिर्मतिश्रुतावधिमनः पर्यायेर्वा ॥

अर्थ—प्रत्येकबुद्धबोधित अनुयोगकी अपेक्षासे भी सिद्धोंकी विशेषताका व्याख्यान किया जा सकता है । इस अनुयोगकी व्याख्या चार प्रकारसे हो सकती है । यथा—एकतो स्वयबुद्धसिद्ध दूसरे बुद्धबोधितसिद्ध । इनमें भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं ।—स्वयबुद्धसिद्धके दो भेद इस प्रकार हैं—एक तो अर्हन् तीर्थंकर और दूसरे प्रत्येकबुद्धसिद्ध । तीसरा और चौथा भेद बुद्धबोधितसिद्धका है, जोकि इस प्रकार है—परबोधकसिद्ध और स्वेषकारिसिद्ध ।

भावार्थ—जिनको किसी अन्यसे मोक्षमार्गका ज्ञान उपदेश द्वारा प्राप्त नहीं हुआ करता—स्वयं ही उस विषयके ज्ञाता रहा करते हैं, उनको प्रत्येकबुद्ध कहते हैं, और जिनको परोपदेशके द्वारा मोक्ष-मार्गका ज्ञान प्राप्त होता है, उनको बोधितसिद्ध कहते हैं । जिनकी समवसरण रचना होती है, उनको तीर्थंकर और जिनकी केवल गघकुटी ही होती है, उनको सामान्यकेवली कहा करते हैं । केवलज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर जो दूसरोंको मोक्ष-मार्गका उपदेश देते हैं, उनको परबोधकसिद्ध और जो उपदेशमें प्रवृत्त न होकर ही निर्वाणको प्राप्त कर लिया करते हैं, उनको स्वेषकारिसिद्ध कहते हैं । इस प्रकार पूर्वभावप्रज्ञापनकी अपेक्षासे सिद्धोंमें विशेषताका वर्णन किया जा सकता है, अन्यथा स्वरूपकी अपेक्षा सब सिद्ध समान है ।

ज्ञान—इस अनुयोगकी अपेक्षा लेनेपर भी प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयसे जो केवल ज्ञानके धारक हैं, वे ही सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं । पूर्वभावप्रज्ञापनीयनय दो प्रकार है—अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चात्कृतिक । इनमें भी पहले कहे अनुसार अव्यजित और व्यजित भेद समझ लेने चाहिये । अव्यजित पक्षमें दो ज्ञानोंके द्वारा अथवा तीन ज्ञानोंके द्वारा यद्यपि चार ज्ञानोंके द्वारा सिद्धि हुआ करती है । व्यजित पक्षमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानोंके द्वारा, और मतिश्रुत अवधि अथवा मतिश्रुत मन पर्यय इन तीन ज्ञानोंके द्वारा, तथा मति श्रुत अवधि और मन पर्यय इन चार ज्ञानोंके द्वारा भी सिद्धि हुआ करती है ।

भावार्थ—वर्तमानमें सभी सिद्ध केवलज्ञानके ही धारक हैं । अतएव उसीके द्वारा उनकी सिद्धि कही जा सकती है । किन्तु पूर्वभावकी अपेक्षासे चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंमेंसे यथासम्भव ज्ञानोंके धारक सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं । क्षायोपशमिकज्ञान एक कालमें एक जीवके दोसे लेकर चार तक पाये जा सकते हैं । जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है ।

भाष्यम्—अवगाहना-क कस्यां शरीरावगाहनायां वर्तमान सिध्यति । अवगाहना द्विविधा उत्कृष्टा जघन्या च । उत्कृष्टा पञ्चधनुःशताति धनुःपृथक्त्वेनाभ्यधिकानि । जघन्या

स्तत्परत्नयोऽङ्गुलपृथक्वेहीनाः । एतासु शरीरावगाहनासु सिध्यति, पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य तु एतास्वेव यथास्वं त्रिभागहीनासु सिध्यति ।

अन्तरम्—सिध्यमानानां किमन्तरम् । अनन्तरं च सिध्यन्ति सान्तरं च सिध्यन्ति । तत्रानन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कृष्टेनाष्टौ समयान् । सान्तरं जघन्येनैकं समयमुत्कृष्टेन घण्टासाः इति ।

संख्या—कत्येकसमये सिध्यन्ति, जघन्येनैकः उत्कृष्टेनाष्टशतम् ॥

अर्थ—अवगाहनाके द्वारा सिद्धोंकी विशेषता इस प्रकार बताई जा सकती है, कि कौन सिद्ध कितनी अवगाहनाका धारक है । अथवा किसने कितनी शरीरकी अवगाहनामें रहकर सिद्धि प्राप्त की है । इसके लिये पहले शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण बताना आवश्यक है । अवगाहना दो प्रकारकी हो सकती है । एक उत्कृष्ट और दूसरी जघन्य । क्योंकि मध्यके अनेक भेदोंका इन्हीं दो भेदोंमें समावेश हो जाता है । उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण पाँचसौ धनुषसे पृथक्क धनुष अधिक माना है, और जघन्य अवगाहनाका प्रमाण सात रत्नमेंसे पृथक्क अंगुल कम बताया है । इनमेंसे किसी भी अवगाहनामें अथवा इनके मध्यवर्ती अनेक भेदरूप अवगाहनाओंमेंसे किसी भी अवगाहनामें स्थित जीव सिद्धिको प्राप्त किया करता है । यह विषय पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा समझना चाहिये । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा देखा जाय, तो इन्हीं अवगाहनाओंमेंसे यथायोग्य किसी भी अवगाहना की त्रिभागहीन अवगाहनामें सिद्ध रहा करते हैं ।

भावार्थ—अवगाहना नाम घिरावका है । कौनसा शरीर कितने आकाशप्रदेशोंको रोकता है, इसीका नाम शरीरावगाहना है । मनुष्यशरीरकी जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण ऊपर बताया गया है, जिस शरीरसे जीव सिद्धि प्राप्त किया करते हैं, उस शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण और पूर्वभावप्रज्ञापनकी अपेक्षा वही सिद्धिकी अवगाहनाका प्रमाण समझना चाहिये । क्योंकि जीवकी अवगाहना शरीरके प्रमाणानुसार ही हुआ करती है । क्योंकि जीवको स्वदेह प्रमाण रहनेवाला माना है । किन्तु सिद्ध-अवस्थामे शरीरसे सर्वथा रहित होजानेपर उस आत्माकी अवगाहना त्रिभागहीन होजाया करती है । जिस शरीरसे मुक्ति-लाभ किया करता है, उसका जितना प्रमाण हो, उसमेंसे तृतीयांश कम करनेपर जो प्रमाण शेष रहे, उतना ही सिद्ध-अवस्था प्राप्त होजानेपर उस जीवका प्रमाण कायम रहता है । प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा यही सिद्धोंकी अवगाहनाका प्रमाण है ।

अन्तरअनुयोगके द्वारा सिद्धोंकी विशेषता बतानेका अभिप्राय यह है, कि जो जीव सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं, उनमेंसे परस्परमें कितना अन्तराल—कितने समयका व्यवधान रहा करता है । इसके लिये यह बतानेकी आवश्यकता है, कि एक साथ अनेक जीव सिद्धि प्राप्त किया करते हैं या क्या ? और एक समयमे जितने भी जीवोंने सिद्धि प्राप्त की हो, उसके

अनन्तर समयमेंही दूसरे जीव भी सिद्धि प्राप्त करते है या क्या ? तथा यदि परस्परमें व्यवधान पाया जाता है, तो कितने समयसे कितने समय तक ? इसीका खुलासा करनेके लिये कहते हैं, कि जीव अनन्तर भी सिद्धिको प्राप्त किया करते है और सान्तर भी सिद्धिको प्राप्त करते हैं । इनमेंसे अनन्तरसिद्धिके कालका जघन्य प्रमाण दो समय और उत्कृष्ट प्रमाण आठ समयका है । तथा सान्तरसिद्धिके कालका जघन्य प्रमाण एक समय और उत्कृष्ट प्रमाण छह महीना है ।

भावार्थ—एक समयमें जितने जीव मोक्षको जानेवाले है, उनके चले जानेपर दूसरे समयमें कोई भी जीव मोक्षको न जाय, ऐसा नहीं हो सकता । उस समयके अनन्तर दूसरे समयमें भी अवश्य ही जीव मोक्ष प्राप्त किया करते हैं । इसीको अनन्तरसिद्धि कहते हैं । इसका प्रमाण दो समयसे आठ समय तक है । अर्थात् अव्यवधानरूपसे आठ समयतक जीव बराबर मोक्षको जासकते हैं । इससे अधिक कालतक नहीं जासकते । आठ समयके बाद व्यवधान पड़ जाता है । उस व्यवधानके कालका प्रमाण एक समयसे लेकर छह महीनातकका है ।

सरया—प्रत्येक समयमें कमसे कम कितने और ज्यादा से ज्यादा कितने जीव मोक्षको प्राप्त किया करते है, इसके प्रमाणको सरया कहते हैं । इसकी अपेक्षासे भी सिद्धोंका भेद कहा जासकता है । यथा अमुक समयमें इतने जीव मोक्षको गये और अमुक समयमें इतने, इत्यादि । इसके लिये यह जाननेकी आवश्यकता है, कि एक समयमें कितने जीव मोक्षको जासकते हैं । तो इसका प्रमाण कमसे कम एक और ज्यादा से ज्यादा एकसौ आठ है ।

भावार्थ—एक समयमें सिद्धि प्राप्त करनेवाले जीवोंकी संख्याका जघन्य प्रमाण एक और उत्कृष्ट प्रमाण १०८ है ।

भाष्यम्—अल्पबहुत्वम् ।—एषा क्षेत्रादीनामेकादशानामनुयोगद्वाराणामल्पबहुत्व व्याच्यम् । तद्यथा ।—

क्षेत्रसिद्धाना जन्मत सहरणतश्च कर्मभूमिसिद्धाश्चाकर्मभूमिसिद्धाश्च सर्व स्तोका सहरणसिद्धा जन्मतोऽसरयेगुणा । सहरण द्विविधम्—परकृत स्वयंकृत च । परकृत देवकर्मणा चारणविधाधरैश्च । स्वयंकृत चारणविधाधराणामेव । एषा च क्षेत्राणां विभागः कर्म भूमिरकर्मभूमि समुद्रा द्वीपा ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति लोकत्रयम् । तत्र सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धा अधोलोकसिद्धा सख्येयगुणा, तिर्यग्लोकसिद्धा सरयेयगुणा सर्वस्तोका समुद्रसिद्धा, द्वीपसिद्धा सख्येयगुणा । पृथ तापदध्युन्निते व्यञ्जितेऽपि सर्वस्तोका लयणसिद्धा कालोद-सिद्धाः सरयेयगुणा, जम्बूद्वीपसिद्धा सहरयेयगुणा, धातकीखण्डसिद्धा सरयेयगुणा, पुष्करार्धसिद्धा सख्येयगुणा इति ।

अर्थ—अल्पबहुत्व—नाम हीनाधिस्ताका है । ऊपर क्षेत्र आदि भ्याह अनुयोगद्वारा बताये हैं, जिनसे कि सिद्ध—जीवोंकी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है । इनमेंसे रिम

अनुयोगके द्वारा सिद्ध न्यून हैं, और किस अनुयोगके द्वारा सिद्ध अधिक हैं। यही बात इस अनुयोगके द्वारा बताई जाती है। एक एक अनुयोगके अवान्तरभेदोंके द्वारा सिद्ध जीवोंका अल्पबहुत्व भी इसीके द्वारा समझ लेना चाहिये। अतएव क्रमानुसार क्षेत्रसिद्धादि जीवोंका अल्पबहुत्व यहाँपर क्रमसे बताते हैं।—

क्षेत्रसिद्धोंमें कोई जन्मसिद्ध और कोई संहरणसिद्ध होते हैं। इनमेंसे जो कर्मभूमिसिद्ध और अकर्मभूमिसिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है। किन्तु इनमें जो संहरणसिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है, जन्मसिद्धोंका प्रमाण उनसे असंख्यातगुणा है। संहरण भी दो प्रकारका माना है।— परकृत और स्वयंकृत। देवोंके द्वारा तथा चारणऋद्धिके धारक मुनियोंके द्वारा और विद्याधरोंके द्वारा परकृत संहरण हुआ करता है। स्वयंकृत संहरण चारणऋद्धिके धारक मुनि और विद्याधरोंका ही हुआ करता है। इनके क्षेत्रका विभाग इस प्रकार है—कर्मभूमि अकर्मभूमि समुद्र द्वीप ऊर्ध्व अधः और तिर्यक् इस तरह तीनों लोक इसके विषय हैं। इनमेंसे सबसे कम ऊर्ध्व लोकसिद्धोंका प्रमाण है। अधोलोकसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं, और अधोलोक सिद्धोंसे संख्यातगुणे तिर्यग्लोकसिद्ध होते हैं। इसी प्रकार समुद्रसिद्धोंका प्रमाण सबसे अल्प है। उससे संख्यातगुणा द्वीपसिद्धों का प्रमाण है। इस प्रकार अव्यञ्जितके विषयमें समझना चाहिये। व्यञ्जितके विषयमें भी लवणसमुद्रसे सिद्ध सबसे अल्प है, उनसे संख्यातगुणे कालोदसमुद्रमे सिद्ध हैं। कालोदसिद्धोंसे संख्यातगुणे जम्बूद्वीपसिद्ध और जम्बूद्वीपसिद्धोंसे संख्यातगुणे धातकीखण्डसे सिद्ध होनेवाले हैं, और धातकीखण्डसिद्धोंसे संख्यातगुणे पुष्करार्धसिद्ध हैं। इस प्रकार क्षेत्रविभागकी अपेक्षासे क्षेत्रसिद्धोंका अल्पबहुत्व—संख्याकृत तारतम्य समझना चाहिये।

क्षेत्रसिद्धोंके अनन्तर क्रमानुसार कालसिद्धोंके अल्पबहुत्वको बतानेकेलिये भाष्यकार कहते हैं।—

भाष्यम्—काल-इति त्रिविधो विभागो भवति।—अवसर्पिणी उत्सर्पिणी अनवसर्पिण्युत्सर्पिणीति। अत्र सिद्धानां व्यञ्जिताव्यञ्जितविशेषयुक्तोऽल्पबहुत्वानुगमः कर्तव्यः। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका उत्सर्पिणीसिद्धाः, अवसर्पिणीसिद्धा विशोषाधिका अनवसर्पिण्युत्सर्पिणीसिद्धाः संख्येयगुणा इति। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्याकाले सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम् ॥

गति।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सिद्धिगतौ सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यानन्तरपश्चात्कृतिकस्य मनुष्यगतौ सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। परम्परपश्चात्कृतिकस्यानन्तरा गतिश्चिन्त्यते। तद्यथा।—सर्वस्तोकास्तिर्यग्योन्यनन्तरगतिसिद्धा मनुष्येभ्योऽनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः। नारकेभ्योऽनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणा देवेभ्योऽनन्तरगतिसिद्धा संख्येयगुणा इति ॥

अर्थ—कालका विभाग तीन प्रकारका हो सकता है।—अवर्षिणी उत्सर्पिणी और अनवसर्पिण्युत्सर्पिणी। जिसमें आयु काय बल वीर्य बुद्धि आदिका उत्तरोत्तर ह्रास होता जाय, उसको

अवसर्पिणी कहते हैं, और जिसमें इन विषयोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाय, उसको उत्सर्पिणी कहते हैं । तथा जिसमें हानि वृद्धि कुछ भी न हो—तदवस्थता—जैसा तेसारेहे, उसको अनवसर्पिण्युत्सर्पिणी कहते हैं । इन तीनों ही कालोंमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका अल्पबहुत्व व्याजित और अव्यजित इन विशेष भेदोंकी अपेक्षामें समझना चाहिये । पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी कालमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका प्रमाण सबसे अल्प है । अवसर्पिणीकालमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका प्रमाण उत्सर्पिणीसिद्धोंसे कुछ अधिक है । किन्तु अनवसर्पिण्युत्सर्पिणी कालमें जो सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण अवसर्पिणीसिद्धोंसे सरयातगुणा है । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षासे यदि विचार किया जाय, तो अकालमें सिद्ध होती है । किसी भी कालमें सिद्ध हुई नहीं कही जा सकती । अतएव इस विषयमें अल्प बहुत्व भी नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार काल अनुयोगकी अपेक्षासे सिद्धोंका अल्पबहुत्व समझना चाहिये ।

गति अनुयोगकी अपेक्षासे मुक्ति—छात्र वरनेवालोंका अन्य बहुत्व इस प्रकार कहा जा सकता है ।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा लेनेपर तो किसी गतिसे सिद्ध होती ही नहीं, सिद्धिगतिसे ही सिद्धि कही जासकनी है । अतएव इस विषयमें अल्पबहुत्व भी नहीं हो सकता । पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षासे जो अनन्तरपश्चात्कृतिक हैं, वे मनुष्यगतिसे ही सिद्ध कहे जासकते हैं । अतएव इनका भी अल्पबहुत्व नहीं कहा जासकता । जो परम्परपश्चात्कृतिक है ।—चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिसे आकर मनुष्यपर्यायको धारणकर निन्देने सिद्धि प्राप्त की है, ऐसे मुक्तात्माओंका अल्पबहुत्व अनन्तरगति—मनुष्यगतिसे पूर्वगतिकी अपेक्षा कहा जासकता है । वह चार गतियोंकी अपेक्षा चार प्रकारका होसकता है । क्योंकि मनुष्यपर्यायको चारों गतिके जीव धारण कर सकते हैं । इनका अल्पबहुत्व इस प्रकार है ।—तिर्यग्योनिसे मनुष्यगतिमें आकर निन्देने सिद्धि प्राप्त की है, उनका प्रमाण सबसे कम है । इनसे सख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जो कि मनुष्यगतिसे ही मनुष्यपर्यायमें आकर सिद्ध हुए हैं । इनसे भी सख्यात गुणा प्रमाण उन सिद्ध-जीवोंका है, जो कि नरकगतिसे मनुष्य होकर सिद्ध हुए हैं । तथा इनसे भा सख्यातगुणा प्रमाण उन सिद्धोंका है, जो कि देवगतिसे मनुष्यगतिमें आकर मुक्त हुए हैं ।

भाष्यम्—लिङ्गम् ।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य द्यपगतयेऽः सिध्यति । नास्त्यरप धातुस्य । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका नपुंसकलिङ्गसिद्धाः स्त्रीलिङ्गसिद्धाः सग्येयगुणाः पुलिङ्गसिद्धाः सग्येयगुणाः ।

तीर्थम् ।—सर्वस्तोका तीर्थकरसिद्धा तीर्थकरतीर्थ तीर्थकरसिद्धा सग्येयगुणा इति । तीर्थकरतीर्थसिद्धा नपुंसका सग्येयगुणा । तीर्थकरतीर्थसिद्धा स्त्रिया सग्येयगुणा । तीर्थकरतीर्थसिद्धा पुमान् सग्येयगुणा इति ।

अर्थ—लिङ्गकी अपेक्षा सिद्ध जीवोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा नो सिद्ध होते हैं, वे वेद रहित ही होने हैं, अतएव लिङ्गकी अपेक्षा

उनका अल्पबहुत्व नहीं कहा जा सकता । पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा न्यूनाधिकताका वर्णन किया जा सकता है । इसमें जिन्होंने नपुंसकलिङ्गसे सिद्धि प्राप्त की है, उनका प्रमाण सब से कम है । जिन्होंने स्त्रीलिङ्गसे सिद्धि-लाभ किया है, उनका प्रमाण नपुंसकलिङ्गसिद्धिसे संख्यातगुणा है । स्त्रीलिङ्गसिद्धिसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जिन्होंने पुल्लिङ्गसे सिद्धि प्राप्त की है ।

तीर्थ अनुयोगमें अल्प बहुत्वका प्रमाण इस प्रकार माना गया है, कि जो तीर्थकर-सिद्ध है, वे सबसे थोड़े हैं । किन्तु उनसे संख्यातगुणा प्रमाण तीर्थकरके तीर्थमें नोतीर्थकर सिद्धोंका है । तीर्थकरतीर्थसिद्धोंमें जो नपुंसकलिङ्गसे सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण नोतीर्थकर-सिद्धोंसे संख्यातगुण है । इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उन तीर्थकर तीर्थसिद्धोंका है । जो स्त्रीलिङ्गसे सिद्ध हुए हैं । तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण पुल्लिङ्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले तीर्थकरतीर्थसिद्धोंका है ।

श्लाघ्यम्—चारित्र्यम्—अत्रापि नयौ द्वौ प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयश्च पूर्वभावप्रज्ञापनी-
थश्च । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य नोचारित्र्यं नोअचारित्र्यं सिध्यति । नास्त्यल्पबहुत्वम् ।
पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य व्यञ्जिते चाव्यञ्जिते च । अव्यञ्जिते सर्वस्तोकाः पञ्चचारित्र्यसिद्धाश्चतुश्चा-
रित्रसिद्धाः संख्येयगुणास्त्रिचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः । व्यञ्जिते सर्वस्तोकाः सामायिकच्छे-
दोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धि-
सूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः, सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराय-
यथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः, सामायिकपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यात-
सिद्धाः संख्येयगुणाः, सामायिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः । छेदो-
पस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

अर्थ—चारित्र्य अनुयोगसे सिद्धोंके अल्पबहुत्वका वर्णन करना हो, तो इस विषयमें भी दो नय प्रवृत्त हुआ करते हैं ।—एक प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय और दूसरी पूर्वभावप्रज्ञा-
पनीय । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा न चारित्र्यके द्वारा सिद्धि होती है, और न अचारित्र्यके
द्वारा । अतएव इस विषयमें अल्पबहुत्व भी नहीं हो सकता । पूर्वभावप्रज्ञापनीयमें व्यञ्जित
और अव्यञ्जित इस तरह दो विकल्प हो सकते हैं । इनमेंसे अव्यञ्जितकी विवक्षा होनेपर जो
पञ्चचारित्र्यसिद्ध है, उनका प्रमाण सबसे अल्प है, और चतुश्चारित्र्यसिद्धोंका प्रमाण उनसे
संख्यातगुणा है । तथा उनसे भी संख्यातगुणा त्रिचारित्र्यसिद्धोंका प्रमाण है । इसी प्रकार व्यञ्जितकी
अपेक्षा लेनेपर जो सामायिकसंयम छेदोपस्थाप्यसंयम परिहारविशुद्धिसंयम सूक्ष्मसंपरायसंयम
और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध है, उनका प्रमाण सबसे कम है । इनसे संख्यातगुणा प्रमाण
उनका है, जोकि छेदोपस्थाप्यचारित्र्य परिहारविशुद्धिचारित्र्य सूक्ष्मसंपरायचारित्र्य और
यथाख्यातचारित्र्यके द्वारा सिद्ध हुए हैं, और इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका समझना
चाहिये, जोकि सामायिकचारित्र्य छेदोपस्थाप्यचारित्र्य सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्र्यके द्वारा

सिद्ध हुआ करते हैं । तथा इनसे भी सत्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि सामा-
यिकसम परिहारविशुद्धिसम सूक्ष्मसपरायसम और यथास्यातसमके द्वारा सिद्ध हैं ।
और जो सामायिक सूक्ष्मसपराय और यथास्यातचारित्र द्वारा सिद्ध हैं, उनका प्रमाण उनसे भी
सत्यातगुणा है, और उनसे भी सत्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि छेदोपस्थाप्य सूक्ष्म
सपराय और यथास्यातचारित्रके द्वारा सिद्ध हैं । इसप्रकार चारित्रिके द्वारा सिद्ध जीवोंका
अल्पबहुत्व समझना चाहिये ।

भाष्यम्—प्रत्येकषु द्वो धित —सर्वस्तोका प्रत्येकबुद्धसिद्धा । बुद्धबोधितसिद्धा नपु-
सका सरयेयगुणा । बुद्धबोधितसिद्धा स्त्रिय सत्येयगुणा । बुद्धबोधितसिद्धा पुमान्स-
सदरयेयगुणा इति ।

ज्ञानम्—कः कन ज्ञानेन युक्तः सिध्यति । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वः कवली
सिध्यति । असत्युत्पन्नत्वम् । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका विज्ञानसिद्धा । चतुर्ज्ञान-
सिद्धा सरयेयगुणा । त्रिज्ञानसिद्धा सरयेयगुणा । एव तावद्व्यञ्जिते व्यञ्जितेऽपि
सर्वस्तोका मतिश्रुतज्ञानसिद्धा । मतिश्रुताग्रधिमन पर्यायज्ञानसिद्धा सरयेयगुणा ।
मतिश्रुताग्रधिमन पर्यायज्ञानसिद्धा सरयेयगुणा ।

अर्थ—प्रत्येकबुद्धसिद्ध और बोधितबुद्धसिद्धोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना
चाहिये ।—जो प्रत्येकबुद्धसिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है । बोधितबुद्धसिद्धोंमें जो नपुंसक-
लिङ्गसे सिद्ध कहे जासकते हैं, उनका प्रमाण प्रत्येकबुद्धसिद्धोंसे सत्यातगुणा है, और उनसे
भी सत्यातगुणा प्रमाण उनका समझना चाहिये, जोकि बोधितबुद्धसिद्धोंमें स्त्रीलिङ्गसिद्ध कहे
जा सकते हैं । तथा इनसे भी सत्यातगुणा प्रमाण जो बोधितबुद्धसिद्ध पुलिङ्ग हैं, उनका
समझना चाहिये ।

ज्ञान अनुयोगकी अपेक्षा सिद्धोंका अल्पबहुत्व समझनेके लिये यह जिज्ञासा हो सकती
ह, कि जिस जिस ज्ञानसे युक्त कौनकोन सिद्धि प्राप्त कर सकता है । इसका खुलासा इस प्रकार
है—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा जो सिद्धि प्राप्त हैं, वे सब केवली ही हैं, और केवदज्ञानके
द्वारा ही सिद्धि प्राप्त किया करते हैं । अतएव इस अपेक्षामें अल्पबहुत्वका वर्णन नहीं हो सकता ।
पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा दो ज्ञानोंसे सिद्ध हुए जीवोंका प्रमाण सबसे अल्प है । इससे
सत्यातगुणा प्रमाण चतुर्ज्ञानसिद्धोंका है, और चतुर्ज्ञानसिद्धोंसे भी सत्यातगुणा प्रमाण त्रिज्ञान
सिद्धोंका है । इस प्रकार अन्यज्ञितके विषयमें समझना चाहिये, और व्यञ्जितके विषयमें भी
जो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानके द्वारा सिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है, ऐसा समझना,
और जो मतिश्रुत अधि और मन पर्यायज्ञानके द्वारा सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण उनमें
सत्यातगुणा है । तथा इनसे भी सत्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि मतिज्ञान श्रुतज्ञान
और अधिज्ञानपूर्ण सिद्ध हुए हैं ।

भाष्यम्—अवगाहना—सर्वस्तोका जघन्यावगाहनासिद्धाः उत्कृष्टावगाहनासिद्धास्ततोऽ-
संख्येयगुणाः यवमध्यसिद्धा असंख्येयगुणाः यवमध्योपरिसिद्धा असंख्येयगुणाः यव-
मध्याधस्तात्सिद्धा विशेषाधिकाः सर्वे विशेषाधिकाः ॥

अन्तरम् ।—सर्वस्तोका अष्टसमयानन्तरसिद्धाः सप्तसमयानन्तरसिद्धाः षट्समयान-
न्तरसिद्धाः इत्येवं यावद्द्विसमयानन्तरसिद्धा इति सङ्ख्येयगुणाः । एवं तावदनन्तरेषु । सान्तर-
ेष्वपि सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः एकसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः यवमध्यान्तर-
सिद्धाः संख्येयगुणाः अधस्ताद्यवमध्यान्तरसिद्धा असंख्येयगुणाः उपरियवमध्यान्तरसिद्धा
विशेषाधिकाः सर्वे विशेषाधिकाः ॥

अर्थ—शरीरकी अवगाहनाकी अपेक्षासे सिद्धोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार है ।—
अवगाहनाके जघन्य उत्कृष्ट प्रमाणको ऊपर बता चुके हैं । उसमेंसे जो जघन्य अवगाहनाके
द्वारा सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है । उससे असंख्यातगुणा प्रमाण उत्कृष्ट अव-
गाहनाके द्वारा सिद्ध हुए जीवोंका है, और इससे भी असंख्यातगुणा प्रमाण उन जीवोंका है,
जोकि यव-रचनाके मध्यमें दिखाई गई अवगाहनाके द्वारा सिद्ध हैं । तथा इनसे भी असंख्यात-
गुणा प्रमाण उनका है, जोकि यव-रचनामें मध्य भागसे ऊपरकी तरफ दिखाई गई अवगाहनाके
द्वारा सिद्ध हैं । एवं जो यव-रचनामें मध्य भागसे नीचेकी तरफ अवगाहना दिखाई है, उससे
सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण यव-मध्योपरिसिद्धोंके प्रमाणसे कुछ अधिक है । तथा सभी प्रमाणोंमें
विशेषाधिकता—कुछ अधिकता समझनी चाहिये । इस प्रकार अवगाहना अनुयोगकी अपेक्षा-
सिद्धोंके प्रमाणको न्यूनाधिक कहकर उनकी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है ।

अन्तरकी अपेक्षासे अल्पबहुत्व इस प्रकार है ।—अनन्तर—सिद्धोंमेंसे जो आठ समय-
के अनन्तरसिद्ध होनेवाले हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है । इनसे संख्यातगुणा प्रमाण सात
समयके अनन्तरसिद्धोंका है, और उनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण षट्समयानन्तरसिद्धोंका है ।
और उनसे संख्यातगुणा प्रमाण पञ्चसमयानन्तरसिद्धोंका है । इसी प्रकार क्रमसे द्विसमयानन्तर-
सिद्धोंतक संख्यातगुणा संख्यातगुणा प्रमाण समझना चाहिये । इस प्रकार अनन्तरों—निरन्तरसिद्धोंके
विषयमें समझना चाहिये । सान्तरसिद्धोंके विषयमें भी जो छह महीनाके अन्तरसे सिद्ध होनेवाले
हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है । इनसे संख्यातगुणा प्रमाण एक समयके अन्तरसे सिद्ध
होनेवालों का है । इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण यव-रचनाके मध्यमें दिखाये गये अन्तरसे
सिद्ध होनेवालों का है । इनसे असंख्यातगुणा प्रमाण यव-रचनाके मध्यसे नीचेकी तरफ
दिखाये गये अन्तरसे सिद्ध होनेवालोंका है, और इससे कुछ अधिक प्रमाण यव-रचनाके
मध्यभागसे ऊपरकी तरफ दिखाये गये अन्तरसे सिद्ध होनेवालोंका है । तथा सब भेदोंमें
कुछ अधिकताका प्रमाण समझ लेना चाहिये ।

भाष्यम् ।—संख्या ।—सर्वस्तोका अष्टोत्तरशतसिद्धा विपरीतक्रमात्सप्तोत्तरशतसिद्धा-
द्वयो यावत्पञ्चाशत् इत्यनन्तगुणाः । एकोनपञ्चाशद्वाद्वयो यावत्पञ्चविंशतिरित्यसंख्येयगुणाः ।

चतुर्विंशत्यादयो यावदेक इति सरयेयगुणा । विपरीतहानिर्यथा । सर्वस्तोका अनन्तगुणा-
निसिद्धा असरयेयगुणहानिसिद्धा अनन्तगुणा सख्येयगुणहानिसिद्धा सख्येयगुणा इति ॥

अर्थ—सत्या अनुयोगकी अपेक्षासे सिद्धोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये,
कि सिद्धजीवोंमें ससे अल्पप्रमाण उनका समझना चाहिये, जोकि एकसौ आठकी सत्यामें सिद्ध
हुए हैं । इसके अनन्तर विपरीत क्रमसे पचास तक अनन्तगुणा अनन्तगुणा प्रमाण समझना
चाहिये, अर्थात् एकसौ आठकी सत्यामें सिद्ध होनेवालोंके प्रमाणसे अनन्तगुणा प्रमाण एकसौ
सातकी सत्यामें सिद्ध होनेवालोंका है, और एकसौ सातकी सत्यामें सिद्ध होनेवालोंके प्रमाणसे
अनन्तगुणा प्रमाण एकसौ छहकी सत्यामें सिद्ध होनेवालोंका है । तथा एकसौ उहकी सत्यामें
सिद्ध होनेवालोंके प्रमाणसे अनन्तगुणा प्रमाण एकसौ पाँचकी सत्यामें सिद्ध होनेवालोंका है । इसी
क्रमसे पचासकी सत्यामें सिद्ध होनेवालों तक अनन्तगुणा अनन्तगुणा प्रमाण समझना चाहिये । पचाससे
आगे पचीस तक असत्यातगुणा असत्यातगुणा प्रमाण है । अर्थात् पचासकी सत्यामें सिद्ध होनेवालोंकी
अपेक्षा उनचासकी सत्यामें सिद्ध होनेवाले असत्यातगुणे हैं । उनचासकी सत्यासे सिद्धोंकी
अपेक्षा अड़तालीसकी सत्यामें सिद्ध होनेवाले असत्यातगुणे हैं । इसी प्रकार विपरीत क्रमसे २५
तककी सत्यासे सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण उत्तरोत्तर असत्यातगुणा असत्यातगुणा माना है । इससे
आगे चौबीससे लेकर एक तककी सत्यामें सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण विपरीत क्रमसे उत्तरोत्तर
सत्यातगुणा सत्यातगुणा है । यह उत्तरोत्तर बहुत्वको बतानेवाला क्रम है । हानि को बतानेवाला
क्रम इससे विपरीत हुआ करता है । यथा ।—अनन्त गुणहानिसे सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण सबसे
अल्प है, और उससे अनन्तगुणा प्रमाण असत्यात गुणहानिसे सिद्ध होनेवालोंका है ।
तथा उससे सत्यातगुणा प्रमाण सत्यात गुणहानिसे सिद्ध होनेवालोंका है ।

भाष्यम्—एष निरर्गाधिगयोरन्यतरज तत्त्वार्थभ्रष्टानात्मक शङ्काघतिचारवियुक्त
प्रशमसंवेगनिर्दानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षण विशुद्ध सम्यग्दर्शनमवाप्य सम्यग्दर्शनो-
पलम्भाद्विशुद्ध च ज्ञानमधिगम्य शिक्षणप्रमाणनयविशेषसत्सरयादिभिरभ्युपायैर्जीवादीनां
तत्त्वानां पारिणामिकौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकाणां भावानां स्वतत्त्व विदित्यादि
मत्पारिणामिकौदयिकानां च भावानामुत्पत्तिस्थित्यन्यतानुग्रहप्रलयतत्त्वज्ञो विरक्तानि
स्तृष्णास्त्रिगुण पञ्चममितो दशलक्षणधमानुष्ठानात्फलदर्शनाच्च निचाणमाप्तिपतनयाभिधर्षित-
श्रद्धासंवेगो भावनाभिभाषितात्मानुपेक्षाभि स्थिरीकृतात्माभिप्यद्भ सवृत्तस्याधिरा
स्रजत्वाद्विरक्तत्वाधिरस्तृष्णत्वाच्च द्यपगताभिनयक्रमापचय परीपहजयाद्वाद्याभ्यन्तरतपोनुष्ठा
दनुमात्रतश्च सम्पगृष्टि विरतादीनां च जिनपर्यन्तानां परिणामाध्ययसायविशुद्धिस्थानान्त
राणामसख्येयगुणोत्कर्षशान्त्या पूर्वोपधितकम निर्जरयत् सामायिकादीनां च सुक्ष्मसम्पराया-
न्तानां सयमविशुद्धिस्थानां मुत्तरोत्तरोपलम्भात्पुलाकादीनां च निर्गन्थानां संयमानुपालन
विशुद्धिस्थानविशेषाणामुत्तरोत्तरप्रतिपत्त्या घटमानोऽन्यन्तप्रदीणातरोद्भव्यानां धमध्यान
विजयादरातसमाधिः श्लोकध्यानयोश्च धृष्टस्वैक्यवितर्कयोरन्यतरस्मिन्त्यतमानो नाना
विधार्द्धिविशेषां प्राप्नोति । तद्यथा ।—

अर्थ—इस प्रकार दश अध्यायोंमें सात तत्त्वोंका वर्णन पूर्ण हुआ। मोक्ष—मार्गका वर्णन करते हुए पहले अध्यायमें सबसे प्रथम जो सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताया है, मुमुक्षुओंको सबसे पहले उसीको धारण करना चाहिये। निर्सर्ग अथवा अधिगम दोनोंमेंसे किसी भी हेतुसे उत्पन्न होनेवाले तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप और शंका आदि अतीचारोंसे रहित तथा प्रशम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य इन लक्षणोंसे युक्त विशुद्ध सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना चाहिये। सम्यग्दर्शनके साहचर्यसे ज्ञान विशुद्ध हुआ करता है। अतएव मोक्ष-मार्गके विषयमें तथा जीवाजीवादिक तत्त्वोंके विषयमें संशय विपर्यय अनध्यवसायरूप समारोपसे रहित निर्मल—निर्दोष ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये। तथा निक्षेप प्रमाण नय निर्देश और सत् संख्या आदि उपायोंके द्वारा जीवादिक तत्त्वोंका और पारणामिक औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भावोंके स्वतत्त्वका स्वरूप जानना चाहिये। आदिमान्—उत्पत्तिशील पारणामिक और औदयिक भावोंके उत्पत्ति स्थिति और अन्यताका है, अनुग्रह जिसपर ऐसे प्रलयतत्त्व—विनाशस्वरूपको जानना चाहिये। इसप्रकार जो मुमुक्षु सम्यग्दर्शन ज्ञान और स्वतत्त्वके ज्ञानको धारण करके उत्पत्ति विनाशस्वभाव तत्त्वको समझकर पर पदार्थमात्रसे विरक्त हो जाता है—राग भावको छोड़ देता है, तथा तृष्णा—उत्तरोत्तर अधिकाधिक विषयोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे रहित हो जाता है, तीन गुप्ति और पाँच समितियोंका पालन करता है। उपर्युक्त उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदि दशलक्षणधर्मोंके अनुष्ठान और फलदर्शनसे तथा निर्वाण—प्राप्तिके लिये किये गये प्रयत्नके द्वारा जिसकी श्रद्धा और संवेग वृद्धिगत हो चुका है। मैत्री आदि भावनाओंके द्वारा जिसकी आत्मा प्रशस्त बन चुकी है, और अनित्यादिक उक्त वारह अनुप्रेक्षाओंके द्वारा जिसकी आत्मा मोक्ष-मार्गमें स्थिर हो चुकी है। जो आसक्ति—संग—परिग्रहसे सर्वथा रहित बन चुका है। संवरके कारणोंसे युक्त और आश्रयके कारणोंसे रहित होनेके कारण तथा विरक्त और तृष्णासे रहित होनेके कारण जिसके नवीन कर्मोंका आना रुक गया है। पूर्वोक्त बाईस परीषहोंके जीतनेसे और उक्त बाह्य आभ्यन्तर वारह तरहके तपोंका पालन करनेसे तथा अनुभाव विशेषके द्वारा सम्यग्दृष्टिविरत—छट्टे गुणस्थानसे लेकर जिनपर्यन्त जो निर्जराके स्थान बताये हैं, उनके परिणामाध्यवसायरूप स्थानान्तरोंकी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी उत्कर्षताकी प्राप्ति हो जानेपर पूर्व कालके संग्रहीत—बंध हुए कर्मोंकी निर्जरा करते हुए, संयमविशुद्धिके स्थानरूप जो सामायिकसे लेकर सूक्ष्मसंपराय पर्यन्त चारित्रिके भेद गिनाये हैं, उनको उत्तरोत्तर पालते या धारण करते हुए संयमानुपालनसे होनेवाली विशुद्धिके स्थान विशेष पुलाक आदि निर्ग्रय—पदोंको धारण कर उत्तरोत्तर प्रतिपत्तिके द्वारा उन स्थानविशेषोंके पालनका अभ्यास करते हुए, जिसने

१—निसर्गादिक और प्रशमादिकका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। २—क्योंकि अभाव तुच्छ नहीं है। उत्पत्ति आदिकी अपेक्षा रखनेवाला है।

आर्तध्यान और रौद्रध्यानको सर्वथा नष्ट कर दिया है, और धर्मध्यानपर भी विजय प्राप्त करके समाधिके बलको सिद्ध कर लिया है। वह जीव पृथक्त्ववितर्कबीचार और एकत्ववितर्क इन आदिके दो शुद्धध्यानोमेंसे किसी भी एकमें स्थित रहकर नाना प्रकारके ऋद्धि विशेषोंको प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ—ग्रन्थके अन्तमें उक्त कथनका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं, कि जो मन्थ इस ग्रन्थमें बताये गये मोक्ष-मार्गका अभ्यास करता है—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तपका पालन करते हुए कर्मोंकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्मल करते हुए विशुद्धि के उत्तरोत्तर स्थानोंको पाते हुए धर्मध्यान और समाधिको सिद्ध कर शुद्धध्यानके पहले दो भेदोंको धारण करता है, वह जबतक मोक्ष प्राप्त नहीं होता, तबतक अनेक ऋद्धियोंका प्राप्त बन जाता है। वे ऋद्धियाँ कौन कौन सी हैं, और उनका क्या स्वरूप है, सो स्वयं भाष्यकार आगे बताते हैं।—

भाष्यम्—आमर्शोपधित्व विप्रुद्योपधित्व सर्वोपधित्व शापानुग्रहसामर्थ्यजननीमभि-
व्याहारसिद्धिमीशित्वं वशित्वमयधिज्ञान शारीरविररणाद्ग्राप्तितामणिमान लघिमान महि-
मानमणुत्वम् अणिमा विसृष्टिद्वमपि प्रविश्यासीता । लघुत्वं नाम लघिमा वायोरपि लघुतर-
स्यात् । महत्त्वं महिमा मेरोरपि महत्तर शरीर विकुर्वित । प्राप्तिभूमिप्रोऽङ्कुल्यमेण मेरुशिरर-
भास्करादीनपि स्पृशेत् । प्राकाभ्यमप्लु भूमाविव गच्छेत् भूमावप्स्यिव निमज्जेदुन्मज्जेच्च ।
जङ्घाचारणत्वं येनाग्निशिखाधूमनीहारावश्यायमेघवारिधारामर्कदतन्तुज्योतिष्कराभियायू-
नामन्यतममप्युदाय त्रियति गच्छेत् । वियद्वत्तिचारणत्वं येन वियति भूमाविव गच्छेत्
शकुनिवच्च पट्टीनायदीनगमनानि कुर्यात् । अप्रतिघातित्वं पर्वतमप्येन वियतीव गच्छेत् ।
अन्तर्धानमदृश्यो भवेत् । कामरूपित्वं तानाश्रयानेकरूपधारण युगपदपि कुर्यात् तेजो-
निसर्गसामर्थ्यमित्येतदादि । इति हान्दियेषु मतिज्ञानाविशुद्धिपिशीपादूरत्स्पर्शना-
स्वादनघ्राणदर्शनश्रवणानि विषयाणां कुर्यात् । समिद्धज्ञानत्वं युगपदेकविषयपरिज्ञान-
मित्येतदादि । मानस योष्ठगुह्यित्वं धीजयुद्धित्वं पदप्रररणोद्देशाध्यायशभृतवस्तुपूर्वाङ्गानु-
सारित्वमृजुमतिव्य विपुलमतिव्य परचित्तज्ञानमभिलपितार्थप्राप्तिमनिष्ठानयातीत्येतदादि ।
वाचिक क्षीरस्त्वित्वं मध्यास्त्वित्वं वादित्वं सर्वरुतज्ञत्वं सप्तमन्त्रावयवोपधनमित्येतदादि । तथा
विद्याधरत्वमाशीविषत्वं निष्कामिष्ठाक्षरचतुर्दशपूर्वधरत्वमिति ॥

अर्थ—आमर्शोपधित्व, विप्रुद्योपधित्व, सर्वोपधित्व, शाप और अनुग्रहकी सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाली वचनमिद्धि, ईशित्व, वशित्व, अवधिज्ञान, शारीरविररण, अद्भुतप्राप्तिना, अणिमा, लघिमा, और महिमा । ये सब ऋद्धियाँ हैं, जिनको कि उक्त मोक्ष-मार्गका साधक प्राप्त हुआ करता है।

आणिमा शब्दका अर्थ अणुत्व है अर्थात् छोटापन । इस ऋद्धिके द्वारा अपने शरीरको इतना छोटा बनाया जा सकता है । कि वह कमल-तन्तुके छिद्रमें भी प्रवेश करके स्थित हो सकता है । लघिमा शब्दका अर्थ लघुत्व है अर्थात् हलकापन । इसके सामर्थ्यसे शरीरको वायुसे भी हलका बनाया जा सकता है, महिमा शब्दका अर्थ महत्त्व-अर्थात् भारीपन अथवा बड़ापन है । जिसके सामर्थ्यसे शरीरको मेरु पर्वतसे भी बड़ा किया जा सके, उसको महिमा-ऋद्धि कहते हैं । प्राप्ति नाम स्पर्श संयोगका है, जिसके कि द्वारा दूरवर्ती पदार्थका भी स्पर्श किया जा सकता है । इस ऋद्धिके बलसे भूमिपर बैठा हुआ ही साधु अपनी अंगुलीके अग्रभागसे मेरुपर्वतकी शिखरका अथवा सूर्य-विम्बका स्पर्श कर सकता है । इच्छानुसार चाहे जिस तरह भूमि या जलपर चलनेकी सामर्थ्य विशेषको प्राकाम्यऋद्धि कहते हैं । इसके सामर्थ्यसे पृथिवीपर जलकी तरह चल सकता है, जिस प्रकार जलमें मनुष्य तैरता है, उसी प्रकार पृथिवीपर भी तैर सकता है और निमज्जनोन्मज्जन भी कर सकता है । जिस प्रकार जलमें डुबकी लगाते हैं, या उतराने लगते हैं, उसी प्रकार पृथिवीपर भी जलकीसी समस्त क्रियाएं इस ऋद्धिके सामर्थ्यसे की जा सकती हैं । तथा जलमें पृथिवीकी चेष्टा की जा सकती है—जिस प्रकार पृथिवीपर पैरोंसे डग भरते हुए चलते हैं, उसी प्रकार इसके निमित्तसे जलमें भी चल सकते हैं । अग्नि की शिखा-ज्वाला धूम नीहार-तुषार और अवश्याय मेघ जलधारा मकड़ीका तन्तु सूर्य आदि ज्योतिष्क विमानोंकी किरणें तथा वायु आदिमेंसे किसी भी वस्तुका अवलम्बन लेकर आकाशमें चलनेकी सामर्थ्यको जंघाचारणऋद्धि कहते हैं । आकाशमें पृथिवीके समान चलनेकी सामर्थ्यको आकाशगतिचारणऋद्धि कहते हैं । इसके निमित्तसे मुनिजन भी जिस प्रकार आकाशमें पक्षी उड़ा करते हैं, और कभी ऊपर चढ़ते कभी नीचेकी तरफ उतरते हैं, उसी प्रकार विना किसी प्रकारके अवलम्बनके आकाशमें गमनागमन आदि क्रियाएं कर सकते हैं । जिस प्रकार आकाशमें गमन करते हैं, उसी प्रकार विना किसी तरहके प्रतिबन्धके पर्वतके बीचमें होकर भी गमन करनेकी सामर्थ्य जिससे प्रकट हो जाय-उसको अप्रतिघातीऋद्धि कहते हैं । अदृश्य हो जानेकी शक्ति जिससे कि चर्म-चक्षुओंके द्वारा किसीको दिखाई न पड़े ऐसी सामर्थ्य जिससे प्रकट हो उसको अन्तर्धानऋद्धि कहते हैं । नाना प्रकारके अवलम्बनभेदके अनुसार अनेक तरहके रूप धारण करनेकी सामर्थ्य विशेषको कामरूपिताऋद्धि कहते हैं । इसके निमित्तसे भिन्न भिन्न समयोंमें भी अनेक रूप रक्खे जा सकते हैं, और एक कालमें एक साथ भी नानारूप धारण किये जा सकते हैं । जिस प्रकार तैजस पुतलाका निर्गमन होता है, उसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । दूरसे ही इन्द्रियोंके विषयोंका स्पर्शन आस्वादन घ्राण दर्शन और श्रवण कर सकनेकी सामर्थ्य विशेषको दूरश्रावीऋद्धि कहते हैं । क्योंकि मतिज्ञानावरणकर्मके विशिष्ट क्षयोपशम होजानेसे मतिज्ञानकी विशुद्धिमें जो विशेषता उत्पन्न होती

है, उसके द्वारा इस ऋद्धिका धारक इन विषयोंका दूरसे ही ग्रहण कर सकता है। युगपत्—एक साथ अनेक विषयोंके परिज्ञान—ज्ञान लेने आदिकी शक्ति विशेषको समिन्नज्ञानऋद्धि कहते हैं। इसी प्रकार मानसज्ञानकी ऋद्धियाँ भी प्राप्त हुआ करती हैं। यथा—कोष्ठबुद्धित्व बीजबुद्धित्व और पद प्रकरण उद्देश अध्याय प्राप्त वस्तु पूर्व और अङ्गकी अनुगामिता ऋजुम तित्व विपुलमतित्व परचित्तज्ञान (दूसरेके मनका अभिप्राय ज्ञान लेना) अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति होना, और अनिष्ट पदार्थकी प्राप्ति न होना, इत्यादि अनेक ऋद्धियाँ भी प्राप्त हुआ करती हैं। इसी प्रकार वाचिकऋद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। यथा—क्षीरास्तवित्व, मध्वास्तवित्व, वादित्व, सर्वस्तज्ञत्व और सर्वस्त्वावबोधन इत्यादि। इनका तात्पर्य यह है, कि जिसके सामर्थ्यसे सदा ऐसे वचन निकलें, जोकि सुननेवालेको दूधके समान मधुर मालूम पड़ें, उसको क्षीरास्तवी और यदि ऐसा ज्ञान पड़े मानों शहद झड़ रहा है, तो मध्वास्तवऋद्धि कहते हैं। हर तरहके वादियोंको शास्त्रार्थमें परास्त करनेकी सामर्थ्य विशेषका नाम वादित्वऋद्धि है। प्राणिमात्रके शब्दोंको समझ सकनेकी शक्ति विशेषका नाम सर्वस्तज्ञत्व तथा सभी जीवोंको बोध करानेकी—समज्ञानकी जिसमें सामर्थ्य पाई जाय, उसको सर्वस्त्वावबोधन कहते हैं। इसी प्रकार और भी वाचिकऋद्धियाँ समझनी चाहिये, जोकि वचनकी शक्तिको प्रकट करनेवाली हैं। तथा इनके सिवाय विद्याधरत्व, आशीविषत्व, भिन्नाक्षर और अभिन्नाक्षर इस तरह दोनों ही तरहकी चतुर्दशपूर्वधरत्व भी ऋद्धियाँ प्राप्त हुआ करती हैं।

भाष्यम्—ततोऽस्य निस्तृण्णत्वात्तेज्जनमिच्छकस्य मोक्षपक्षपरिणामावस्थस्याष्टाविंशतिविध मोहनीय निरवशेषत प्रहीयते। ततश्चन्द्रस्थवीतरागत्य प्राप्तस्यान्तर्मुह्यतेन ज्ञानावरण वर्शनावरणान्तरायाणि युगपदशेषत प्रहीयन्ते। ततः ससारवीजबन्धनिमुक्त फलवन्धन मोक्षपेक्षो यथाख्यातसयतो जिन केवली सर्वज्ञ सर्वदर्शा शुद्धो बुद्ध कृतकृत्यः स्थातको भवति। ततो वेदनीयनामगोत्रायुष्कक्षयात्फलवन्धननिर्मुक्तो निर्दग्धपूर्वोपात्तवन्धनो निरुपादान इवाग्नि पूर्वोपात्तभवधियोगाद्धेत्यभावाच्चोत्तरस्याप्रादुभासच्छान्त ससारसुप्तमतीत्यात्यन्तिकमैकान्तिक निरुपम निरतिशय नित्य निर्वाणसुप्तमवाप्नोतीति ॥

अर्थ—उपर्युक्त ऋद्धियोंके प्राप्त होजानेपर भी तृष्णा रहित होनेके कारण उन ऋद्धियोंमें जो आसक्ति या मर्जसे सर्वथा रहित रहता है, तथा मोहनीयमर्माक्षयण करनेवाले परिणामोंसे जो युक्त रहता है, उस जीवके पूर्वोक्त मोहनीयमर्माक्षय अट्टाईसों भेदरूप कर्मोंका—

१—यहाँपर इन ऋद्धियोंका अर्थ वचापक किया गया है। किन्तु दिगम्बर-सम्प्रदायमें इनका अर्थ इस प्रकारका है, कि जिसके सामर्थ्यसे क्षारपिन्का भी भोजन दुग्धस्य परिणमा करे—दूधके समान गुण दिखावे उसको क्षीरमावीऋद्धि कहते हैं। इसी प्रकार रसिन्कावा अमृतस्वादी मधुमावी आदिका भी अर्थ समझना चाहिये।

२ केवलज्ञानके अविभागप्रति-प्रेक्षमें एकपात्र एक अक्षरका भाग दत्त अक्षरका प्रमाण निकलता है नोदहपूर्वके ज्ञानमें एकाग्र अ तत्प्रमाण ज्ञान कम हो, तो भिन्नाक्षर और एक भी अक्षर कम न हा, वा अभिन्नाक्षर कहा जाता है।

मम्पूर्ण मोहनीयकर्मका सामस्त्येन अभाव हो जाता है। मोहनीयकर्मका सर्वथा अभाव होजाने-पर उस जीवको छद्मस्यवीतराग अवस्था प्राप्त हुआ करती है, जिसके कि प्राप्त होनेपर उस जीवके एक अन्तर्मूर्त कालके भीतर ही ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों ही वातिकर्म पूर्णरूपसे एक साथ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार चार कर्मोंके नष्ट होजानेपर यह जीव संसारके बीजरूप कर्म-बन्धसे सर्वथा रहित होजाता है। किंतु जिसका फल भोगना बाकी है, ऐसे बन्धन-अघाति कर्मोंके मोक्ष—छूटनेकी अपेक्षा रखनेवाला और यथाख्यात संयमसे युक्त वह जीव स्नातक कहा जाता है। उसको जिन केवली सर्वज्ञ सर्वदर्शी शुद्ध बुद्ध और कृतकृत्य कहते हैं। इसके अनन्तर इन फलबन्धनरूप चार अघातिकर्म—वेदनीय नाम गोत्र और आयुष्कका भी क्षय हो जाता है, जिससे कि वह इनसे भी मुक्त हो जाता है। जिससे कि पूर्वके संचित कर्मरूपी ईधनके दग्ध हो जानेपर जिस प्रकार बिना उपादान—ईधन रहित अग्नि स्वयं शांत हो जाती है—बुझ जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी पूर्वके उपात्त—गृहीत भवका वियोग हो जानेपर—संसारके छूट जानेपर तथा नवीन भवके धारण करनेका हेतु न रहनेके कारण उत्तर भव प्राप्त न होनेसे शांत हो जाता है। संसार—सुखका अतिक्रमण—उल्लंघन करके आत्यंतिक—अनन्त, ऐकान्तिक—जिसमें रंचमात्र भी दुःखका संपर्क नहीं पाया जाता, अथवा जिसका एक भी अंश असुखरूप नहीं है, तथा निरुपम—जिसकी किसी भी संसारिक वस्तुसे तुलना नहीं की जा सकती, निरतिशय—हीनाधिक-ताके धारण करनेसे रहित और नित्य—सदा अपरिणामी निर्वाण—सुखको प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ—यहाँपर बारहवें गुणस्थानसे लेकर निर्वाण प्राप्तिककी अवस्थाका संक्षेपसे क्रम बताया है। ऋद्धियोंका वर्णन करके इस क्रमके वर्णन करनेका हेतु यही है, कि जिससे मुमुक्षुओंको यह मालूम हो जाय, कि इस मोक्ष-मार्गपर चलनेसे ऐसी ऐसी ऋद्धियाँ प्राप्त हुआ करती हैं, फिर भी वे मुमुक्षुओंके लिये हेय ही हैं। ऋद्धियोंकी तृष्णा भी मोह ही है, और मोहका जबतक पूर्णतया अभाव नहीं होता, तबतक वह जीव निर्वाणसे बहुत दूर है। क्योंकि निर्वाण-अवस्था मोहके सर्वथा नष्ट होजानेपर घातित्रयका घातकर अघातिचतुष्टयके भी नष्ट होजानेपर ही प्राप्त हुआ करती है।

अब इस ग्रन्थमें जिस मोक्षमार्गका वर्णन किया गया है, उसीका प्रकारान्तरसे उप-संहार करते हुए संक्षेपमें ३२ पद्योंके द्वारा निदर्शन करते हैं।—

एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशम् ।

निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ ॥ १ ॥

पूर्वाजितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः ।

संसारबीजं क्वास्त्वेन मोहनीयं प्रहीयते ॥ २ ॥

ततोऽन्तरायज्ञानभद्रदर्शनज्ञान्यनन्तरम् ।

प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः ॥ ३ ॥

गर्भसूच्या विनष्टाया, यथा तालो विनश्यति ।
 तथा कर्म क्षय याति, मोहनीये क्षय गते ॥ ४ ॥
 तत क्षीणचतुष्कर्मा, प्राप्नोऽप्यारयातसयमम् ।
 बीजबन्धननिर्मुक्ता, स्नातक परमेश्वर ॥ ५ ॥
 शेषकर्मफलापेक्ष, शुद्धो बुद्धो निरामय ।
 सर्वज्ञ सर्वदर्शी च, जिनो भवति केवली ॥ ६ ॥
 कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्व, निर्वाणमधिगच्छति ।
 यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्तति ॥ ७ ॥
 दग्धे बीजे यथात्यन्त, प्रादुर्भवति नाङ्कुर ।
 कर्मबीजे तथा दग्धे, नारोहति भयाङ्कुर ॥ ८ ॥
 तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति ।
 पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगोरवै ॥ ९ ॥
 कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते ।
 पूर्वप्रयोगात्कर्मैह, तथा सिद्धगति स्मृता ॥ १० ॥
 मृलेपसङ्गनिर्मुक्षाद्यथा दृष्टाप्यलावुन ।
 कर्मसङ्गविनिर्मुक्षात्तथा सिद्धगति स्मृता ॥ ११ ॥
 परण्डयन्त्रपेडासु बन्धच्छेदाद्यथा गति ।
 कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥ १२ ॥
 ऊर्ध्वगौरवधर्माणो, जीवा इति जिनोत्तमै ।
 अधोगौरवधर्माण, पुद्गला इति चोदितम् ॥ १३ ॥
 यथाधस्तिर्यगूर्ध्व च, लोष्ठवात्यग्निवीतय ।
 स्वभावतः प्रवर्तन्ते, तथोर्ध्व गतिरात्मनाम् ॥ १४ ॥
 अतस्तु गतिवेकृत्यमेवा यदुपलभ्यते ।
 कर्मण प्रतिघाताच्च, प्रयोगाच्च तद्विष्यते ॥ १५ ॥
 अधस्तिर्यग्योर्ध्व च, जीवानां कर्मजा गति ।
 ऊर्ध्वमेव तु तद्धर्मा, भवति क्षीणकर्मणाम् ॥ १६ ॥
 द्रव्यस्य कर्मणो, यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतय ।
 सम तथैव सिद्धस्य, गतिमोक्षमपेक्षया ॥ १७ ॥
 उत्पत्तिश्च विनाशश्च, प्रकाशतमसोरिह ।
 युगपद्भवतो यद्वत्, तथा निर्माणकर्मणो ॥ १८ ॥
 तन्वी मनोज्ञा सुरभि, पुण्या परमसास्वरा ।
 प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १९ ॥

वृलोकतुल्यविष्कम्भा, सितच्छत्रनिभा शुभा ।
 ऊर्ध्वं तस्याःक्षितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः ॥ २० ॥
 तादात्म्यादुपयुक्तास्ते, केवलज्ञानदर्शनैः ।
 सम्यक्त्वसिद्धतावस्थाहेत्वभावाच्च निष्क्रियाः ॥ २१ ॥
 ततोऽप्यूर्ध्वं गतिस्तेषां, कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः ।
 धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतिः परः ॥ २२ ॥
 संसारविषयातीतं, मुक्तानामव्ययं सुखम् ।
 अध्याबाधमिति प्रोक्तं, परमं परमर्षिभिः ॥ २३ ॥
 स्यादेतदशरीरस्य, जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः ।
 कथं भवति मुक्तस्य, सुखमित्यत्र मे शृणु ॥ २४ ॥
 लोके चतुर्विहार्थेषु, सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
 विषये वेदनाभावे, विपाके मोक्ष एव च ॥ २५ ॥
 सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विव कथ्यते ।
 दुःखाभावे च पुरुषः, सुखितोऽस्मीति मन्यते ॥ २६ ॥
 पुण्यकर्मविपाकाच्च, सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
 कर्मक्लेशविमोक्षाच्च, मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥ २७ ॥
 सुखप्रसुप्तवत्केचिदिच्छन्ति परिनिर्वृतिम् ।
 तदयुक्तं क्रियावत्त्वात्सुखानुशयतस्तथा ॥ २८ ॥
 श्रमक्लममद्व्याधिमदनेभ्यश्च सम्भवात् ।
 मोहोत्पत्तेर्विपाकाच्च, दर्शनघ्नस्य कर्मणः ॥ २९ ॥
 लोके तत्सदृशोऽर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते ।
 उपगीयेत तद्येन, तस्माज्जिरुपमं सुखम् ॥ ३० ॥
 लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यादनुमानोपमानयोः ।
 अत्यन्तं चाप्रसिद्धं, तद्यत्तेनानुपमं स्मृतम् ॥ ३१ ॥
 प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम् ।
 गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्नच्छद्मस्थपरीक्षया ॥ ३२ ॥ (इति)

अर्थ—ऊपर तत्त्वज्ञानका उपाय बताया जा चुका है । उस प्रकारसे उक्त तत्त्वोंका परिज्ञान होजानेपर समस्त विषयोंमें वैराग्य उत्पन्न हुआ करता है । इष्ट विषयोंसे राग भाव और अनिष्ट विषयोंसे द्वेषरूप परिणाम नष्ट होजाता है । अच्छी तरह विरक्त हुए मनुष्यके कर्मोंका आस्रव रुक जाता है । आस्रव और उसके कारणोंसे रहित होनेपर नवीन कर्म—सन्तति छिन्न होजाती है । नवीन कर्मोंके आनेका मार्ग रुक जानेपर—संवरकी सिद्धि होनेपर निर्जराका

मार्ग भी प्रवृत्त होता है । पहले कर्मक्षय—निर्जराके कारण बताये जा चुके हैं । उन्हीं कारणोंके द्वारा पहलेके सचित कर्मोंका क्षय करनेवाले जीवके सनसे पहले ससारके बीजरूप मोहनीय कर्मका पूर्णतया क्षय हुआ करता है । मोहनीयकर्मका सर्वथा अभाव होजानेपर अंतराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन तीन कर्मोंका एक साथ ही क्षय हो जाता है । मोहनीयके अभावके बाद ही इन तीनोंका भी पूर्णतया अभाव होता है । जिस प्रकार गर्भसूत्रीके नष्ट होनेपर तालम भी विनाश होजाता है । उसी प्रकार मोहनीयकर्मका भी सर्वथा क्षय होजानेपर कर्मोंका अत्यन्त अभाव होजाता है । इस प्रकार चार घातिकर्मोंको क्षीण करके अथाख्यातसयमको प्राप्त हुआ जीव बीजरूप बन्धनसे निर्मुक्त होनेपर परमेश्वर—परम ऐश्वर्यको धारण करनेवाला स्नातक कहा जाता है । इन स्नातक भगवान्के चार अघातिकर्म अभी बाकी हैं, उनके फलोपभोगभी अभी अपेक्षा बाकी है । जिनको उन कर्मोंका फल भोगना ही मात्र शेष रह गया है, उनको शुद्ध बुद्ध निरामय सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिन और वेवर्णी कहा जाता है । क्योंकि मोहननित अशुद्धिसे वे सर्वथा रहित हैं, ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय होजानेसे उनका अज्ञानभाव सर्वथा नष्ट होगया है, उनको किसी भी प्रकारकी व्याधि नहीं होती, पदार्थमात्र और उनकी त्रिकालवर्त्ता सूक्ष्म स्थूल समस्त अवस्थाओंको वे हस्त—रेखाके समान प्रत्यक्ष और एकसाथ जानते तथा देखते हैं । सम्पूर्ण कर्मोंपर वे विजय प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये उनको जिन कहते हैं, और वे परभाव और परसयोगसे सर्वथा रहित होकर शुद्ध आत्मरूप ही रह गये हैं, इसलिये अथवा केवल ज्ञानादिके ही अधीश्वर है, इससे उनको केवली कहते हैं । इस स्नातक अवस्थाके अनन्तर शेष चार अघातिकर्मोंका क्षय होजानेपर उस शुद्धात्माकी ऊर्ध्व—गति होती है । इसीको निर्वाण प्राप्ति कहते हैं । जिसप्रकार अग्निमें ईंधनका पडते रहना यदि बन्द हो जाय, ओर मौजूद ईंधन भी जलकर भस्म होजाय, तो विना उपादानके वह अग्नि निर्वाण—दशानो प्राप्त होजाती है, उसी प्रकार केवलीभगवान् भी कर्मरूप ईंधनके जल जानेपर निर्वाणको प्राप्त होजाते हैं । निर्वाण होजानेपर उस जीवको फिर मव—धारण नहीं करना पडता—पुन ससारमें नहीं आना पडता । जिस प्रकार बीजके सर्वथा जलजानेपर किसीभी तरह अनुर प्रकृत नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मरूपी बीजके जलजानेपर ससाररूपी अनुर भी उत्पन्न नहीं हुआ करता । जिस समय शेष अघातिकर्मोंका अत्यन्त क्षय होता है, उसके उत्तरक्षणमें ही यह जीव लोकके अतत्क उपरको गमन किया करता है, शुद्ध जीवके ऊर्ध्व—गमनमें कारण—पूर्वप्रयोग असद्वृत्ता बन्धच्छेद और ऊर्ध्व—गौरव है । कुम्भारके चक्रमें एक बार घुमा देनेपर और वाणमें एक बार छोड़ देनेपर भी पूर्वप्रयोगके द्वारा गति होती हुई देखी जाती है, उसी प्रकार सिद्ध होनेवाले जीवोंकी भी गति पूर्वप्रयोगके द्वारा हुआ करती है । मिट्टीके लेपका सगम—साथ टूट जानेपर तुम्बी जठके ऊपर आजाती है, ऐसा देखा जाता है । इसी

प्रकार कर्मोंका संगम छूट जानेपर सिद्ध-जीवोंकी भी ऊर्ध्व-गति हुआ करती है। जिस प्रकार एरण्ड यन्त्रकी पेड़ोंमेंसे बन्धके छूटते ही गमन किया करता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध का विच्छेद होनेपर सिद्ध-जीव भी गमन किया करते हैं। जिनोत्तम श्रीसर्वज्ञ भगवान् ने ऐसा कहा है, कि पुद्गल द्रव्य अयोगौरवधर्मा है, और जीव द्रव्य ऊर्ध्वगौरवधर्मा है। पुद्गलोंमें स्वभाव से ही ऐसा गुरुत्व पाया जाता है, कि जिसके कारण वे नीचेको ही गमन कर सकते या किया करते हैं, जीवोंका स्वभाव इसके प्रतिकूल है—वे स्वभावसे ही ऊपरको गमन करनेवाले हैं। शुद्ध अवस्थामें जीवोंका यह स्वभाव भी प्रकट हो जाता है, और अपना कार्य किया करता है। जिस प्रकार स्वभावसे ही मिट्टीका ढेला नीचेकी तरफ और वायु तिरछी—पूर्वादि दिशाओंकी तरफ और अग्नि ऊपरको गमन किया करती है, उसी प्रकार शुद्ध जीवोंकी भी ऊर्ध्व-गति स्वभावसे ही हुआ करती है। लोकमें ऊर्ध्व-गतिके विरुद्ध जीवोंकी गतिमें जो विकार नजर आता है, उसका कारण कर्म है। कर्मके प्रतिघातसे अथवा बुद्धि-पूर्वक होनेवाले प्रयोगसे जीवोंकी विकृत-गति भी होसकती है। जीवोंकी कर्मके निमित्तसे जो गति हुआ करती है, वह ऊर्ध्व अधः और तिर्यक् सत्र तरहकी होसकती है, परन्तु जिनके कर्म सर्वथा क्षीण हो चुके हैं, और कर्मोंके क्षीण होजानेसे जिनका ऊर्ध्व-गति-स्वभाव प्रकट हो गया है, ऐसे जीव नियमसे ऊपरको ही गमन किया करते हैं। जिस प्रकार द्रव्य कर्मके उत्पत्ति आरम्भ और विनाश एक साथ ही हुआ करते हैं। उसी प्रकार सिद्धजीवके भी गति मोक्ष और संसारका क्षय एक साथ ही हुआ करते हैं। जिस प्रकार प्रकाशकी उत्पत्ति और अन्धकारका विनाश लोकमें एक साथ होता हुआ दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार निर्वाणकी प्राप्ति और कर्मोंका क्षय भी एकसाथ ही हुआ करते हैं। लोकके अन्तमें मूर्धा—शिरके स्थानपर एक प्राग्भारा नामकी पृथिवी व्यवस्थित है, जोकि तन्वी—पतली मनोज्ञ सुगन्धित पुण्य—पवित्र और स्वच्छ तथा अत्यन्त भास्वर—प्रकाशमान है। उसका विष्क्रम्भ मनुष्यलोककी बराबर ४९ लाख योजनका है, और श्वेत छत्रके समान शुभ है। उस पृथ्वीके भी ऊपर लोकके अन्तमें—तनुवातवल्लयके भी अन्तमें सिद्धपरमेष्ठी अवस्थित हैं। सिद्धभगवान् केवलज्ञान और केवलदर्शनके साथ साथ तादात्म्यसम्बन्धसे उपयुक्त है। सम्यक्त्व और सिद्धत्वमें अवस्थित हैं। तथा कारणका अभाव होजानेसे निष्क्रिय है। यदि किसीको यह शंका हो, कि जब जीवका स्वभावही ऊर्ध्व-गमन करनेका है, और वह गुण सर्वथा प्रकट हो चुका है, तो शुद्धजीव ऊर्ध्व-गमनही सदा क्यों नहीं करता रहता, तनुवातवल्लयके अंतमें ठहर क्यों जाता है, उससे ऊपर भी गमन क्यों करता हुआ चला नहीं जाता ? तो यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँपर धर्मास्तिकायका अभाव है। जीव और पुद्गलके गमनमें सहकारी—कारण वही है। और वह वर्तमानक है, जहाँपर सिद्ध-जीव जाकर अवस्थित हो जाते हैं। मुक्तात्माओंके मुखको

परमार्थिद्येने ससारके विषयोसे अतिक्रान्त अव्यय—कभी नष्ट न होनेवाला और अन्याबाध—
बाधाओं—सम्पूर्ण आकुलताओंसे रहित, तथा सर्वोत्कृष्ट बताया है । यहाँपर यह प्रश्न हो सकता
है, कि छोड़में सुखका उपभोग कर्म सहित और शरीरयुक्त जीवोंके ही होता हुआ
देखा जाता है । सिद्धजीव इन दोनों ही बातोंसे रहित हैं । वे शरीरसे भी रहित हैं, और
सम्पूर्ण—आठों कर्म भी उनके नष्ट हो चुके हैं । अतएव मुक्तात्माओंके सुखका उपभोग किस
प्रकारसे हो सकता है ? इसीके उत्तर रूपमें कहते हैं कि—छोड़में सुख शब्द चार अर्थोंमें प्रयुक्त
होता है ।—विषय वेदनाका अभाव विपाक और मोक्ष । इनमेंसे विषयकी अपेक्षा इष्ट वस्तुके समाग-
ममें सुख शब्दका प्रयोग किया जाता है । यथा—सुखो वह्नि सुखो वायु । अर्थात्
शीतशीतित मनुष्य अग्निके मिलनेपर उसको सुखरूप मानता है, और कहता है कि सुख है—
आनन्द आगया, इसी प्रकार गर्मासे जिसके प्रस्वेद—पसीना आगया है, वह जीव वायुको सुखरूप
मानता है । कहींपर दुःख—वेदना और उसके कारणोंके नष्ट होनानेपर अपनेको सुखी समझता
है । इसके सिवाय यह बात तो सभी जानते और कहते हैं, कि इन्द्रियोंके विषयोंमें जन्य—व्ययिक
सुख पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुआ करते हैं । चाँया सुप्त मोक्षमें है अथवा मोक्षरूप है, जो
कि कर्म और हेतुके क्षयसे उद्भूत—पैदा हुआ करता है, और इसीप्रकार जो अनुत्तम माना गया
है, उस सुखसे बन्धन और कोई भी सुख नहीं है—मोक्षका सुख सबसे उत्कृष्ट है । कोई कोई
कहते हैं, कि निर्वाण—अवस्था सुखप्रकारे समान है । अथवा जिस प्रकार सोता हुआ मनुष्य बाण
विषयोंसे बेखबर रहा करता है, उसी प्रकार मुक्त—जीव भी समझना चाहिये । किन्तु यह कहना
युक्त नहीं है, क्योंकि सुमुक्ति—दशामे क्रियावत्ता और सुप्तानुशय—सुषोपभोगके अल्प बहुत्वकी
अपेक्षा मिद्ध—अवस्थामें महान् अंतर है । मिद्ध निष्क्रिय हैं, और अल्प बहुत्व रहित सुप्तोंके
स्वामी हैं । सुप्तजीवमें यह बात नहीं है । इसके सिवाय सुमुक्ति या निद्राके कारण श्रम ह्रम—
वेद मद और मदन—मैथुन—मेवन है । इन कारणोंमें निद्राकी सम्पत्ति—उत्पत्ति हुआ
करती है । मोहकर्मका उत्पन्न तथा दर्शनावरणकर्मका विषय भी इसमें कारण है ।
किन्तु मिद्ध—अवस्थाका सुख इन कारणोंसे जन्य नहीं है । सिद्ध—अवस्थामें जो सुख है,
उसकी महशुसना रगनेवाला तीन छोड़में भी कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, जिसकी उसको
उपमा दी जा सके । अतएव मिद्धोंके सुखको अनुगम कहा जाता है । हेतुवाक्यके द्वारा यहाँपर
मिद्ध की जाड़ी है, उस प्रमाणका भी यह विषय नहीं है, और अनुमान तथा उपमान प्रमाण-
का भी वह सर्वांग अविषय है, इसलिये भी उसको अनुगम कहा जाता है । यामार् अरहत

देवने प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा उसको देखा है, इसलिये उन्हींके ज्ञानका वह विषय हो सकता है । अन्य विद्वान् उनके कहे अनुसार ही उसको ग्रहण किया करते हैं, और उसके अस्तित्व-को स्वीकार करते हैं । क्योंकि वह छद्मस्थोंकी परीक्षाका विषय नहीं है ।

भाष्यम्—यस्त्विदानीं सम्यग्दर्शनज्ञानचरणसम्पन्नो भिक्षुर्मोक्षाय घटमानः कालसंहन-
नायुर्दोषादल्पशक्तिः कर्मणां चातिगुरुत्वादकृतार्थएवोपरमाति स सौधर्मावीनां सर्वार्थसिद्धा-
न्तानां कल्पविमानविशेषाणामन्यतमे देवतयोपपद्यते । तत्र सुकृतकर्मफलमनुभूय स्थितिक्ष-
यात्प्रच्युतो देशजातिकुलशीलविद्याविनयविभवविषयविस्तरविभूतियुक्तेषु मनुष्येषु प्रत्याया-
तिमवाप्य पुनः सम्यग्दर्शनादिविशुद्धबोधिमवाप्नोति । अनेन सुखपरम्परायुक्तेन कुशलाभ्या-
सानुबन्धक्रमेण परं त्रिर्जनित्वा सिध्यतीति ॥

अर्थ—वर्तमान शरीरसे ही मोक्ष प्राप्त करनेका जो क्रम है, और उसके लिये जो जो और जैसे जैसे कारणोंकी आवश्यकता है, उन सबका वर्णन ऊपर किया या चुका है । जो मनुष्य तद्वत् मोक्षगामी है, और उसके अनुकूल काल संहनन आयु आदि सम्पूर्ण—कारण सामग्री जिनको प्राप्त है, वे उसी भवसे मोक्षको प्राप्त करलेते हैं । किन्तु जो आजकलके साधु हैं, वे अल्पशक्ति हैं—उनका बल और पराक्रम बहुत थोड़ा है, तथा उनके कर्मोंका भार भी अत्यंत गुरुतर है—एक ही भवमें जिनका क्षय किया जा सके, ऐसे अल्पस्थिति अनुभाग आदिके धारक उनके कर्म नहीं है । अतएव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप सम्पत्तिसे युक्त और मोक्षके लिये प्रयत्नशील रहते हुए भी वे इसी भवसे कृतार्थ नहीं हो सकते । कृतकृत्य-दशा—निर्वाण पदको वे प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि उसी भवसे कर्म—भारको निःशेष करनेके लिये जिस शक्तिकी आवश्यकता है, काल संहनन और आयुके दोषसे वह उनमें नहीं पाई जाती । इस प्रकारके मुमुक्षु भिक्षु तद्वत्मुक्त न होकर ही उपरामको प्राप्त हो जाया करते हैं, जिससे कि आयुके अन्तमें वे देव पर्यायको धारण किया करते हैं । सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थ-सिद्ध पर्यन्तके कल्प विमानोंमें किसी भी एक कल्पके विमानमें जाकर देव हुआ करते हैं । वहाँपर अपने संचित पुण्यफलको भोगकर आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे च्युत होते हैं, और मनुष्य—पर्यायको धारण किया करते हैं । मनुष्य—जातिमें ऐसे मनुष्योंमेंही वे जन्म धारण किया करते हैं, जोकि देश जाति कुछ शील विद्या विनय विभव और विषयोंके विस्तारसे तथा विभूतियोंसे युक्त हैं । जिन देशोंमें या जातियों अथवा कुलोंमें जन्म—ग्रहण करनेसे रत्नत्रय धारण करनेकी पात्रता उत्पन्न होती है, उन्हीं देश जाति या कुलोंमें ऐसे जीव जन्म—ग्रहण किया करते हैं । इसी प्रकार जो शील या विद्या आदि गुण निरवद्य और मोक्ष पुरुषार्थके साधनमें उपयोगी हो

सकते हैं, वे ही उनको प्राप्त हुआ करते हैं, और इन गुणोंसे युक्त कुलीन पुरुषोंके वशमें ही वे अवतार-धारण किया करते हैं । इस तरहके मनुष्य जन्मको पाकर वे फिरसे सम्यग्दर्शन आदि विशुद्ध-निर्मल-निर्दोष रत्नत्रयको प्राप्त हुआ करते हैं । इसी क्रमसे जिसमें कि पुण्यकर्मके फलका उपभोग साथ लगा हुआ है, और इसी ऋषि जो सुख परम्पराओंसे युक्त है, ऐसे ज्यादासे ज्यादा तीन बार जन्म-धारण करके अन्तमें वह जीव सिद्ध-अवस्था-निर्वाण पदको हुआ करता है ।

प्रशस्तिः—

वाचकमुपपत्त्य शिष्यश्चिन्तय, प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
 शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविद् ॥ १ ॥
 वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
 शिष्येण वाचकाचार्यमूलनान्न प्रथितकीर्ति ॥ २ ॥
 न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनान्नि ।
 कौभीषणिना स्थातितनयेन चात्सीसुतेनार्यम् ॥ ३ ॥
 अर्हद्वचन सम्यग्गुरुकमेणागत समुपधार्य ।
 इत्थान्तं च दुरागमविद्वत्तमिति लोकोमवलोक्य ॥ ४ ॥
 इदमुच्चैर्नगरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृढधम्
 तत्त्वार्थाधिगमाख्य, स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
 यस्तत्त्वार्थाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
 सोऽवात्राधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमायम् ॥ ६ ॥
 इति तत्त्वार्थाधिगमेऽष्टमवचनसप्तमे वृत्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

ग्रन्थ समाप्तम् ।

अर्थ—प्रकाशरूप है, यश जिनका-जिनकी कीर्ति जगद्धिश्चुत है, ऐसे शिष्यश्री नामक वाचकपुरखसे प्रशिष्य आर एकादशाङ्गवेत्ता-न्यासहअङ्गके ज्ञानको धारण करनेवाले श्री घोषन-न्दिक्षमणके शिष्य तथा प्रसिद्ध है कीर्ति जिनकी और जो महावाचकक्षमण श्रीमुण्डपादके शिष्य थे, उन श्रीमूलनामक वाचकाचार्यके वाचनानी अपेक्षा शिष्य, न्यग्रोधिना स्थानमें उत्पन्न होनेवाले कुसुम-पत्रना नामक श्रेष्ठ नगरमें विहार करते हुए, कौभीषणी गोत्रोत्पन्न स्थाति पिता और चात्सी मानाके पुत्र नामक वाचक शास्त्रोंमें उत्पन्न हुए श्रीउमास्वातिने भलेप्रकार गुरु-

क्रमसे चले आये हुए पूज्य अहंत्वचनकी अच्छी तरह व्याख्यान करके यह देख करके कि यह संसार मिथ्या आगमोंके निमित्तसे नष्ट-वृद्धि हो रहा है, और इसीलिये दुःखोंसे पीड़ित भी बना हुआ है, उन प्राणियोंपर दया करके इस उच्च आगमकी रचना की है, और इस शास्त्रको तत्त्वार्थाधिगमनामसे स्पष्ट किया है। जो इस तत्त्वार्थाधिगमको जानेगा, और इसमें जैसा कि बताया गया है, तदनुसार प्रवर्तन करेगा, वह शीघ्र ही परम अर्थ—अव्याबाध सुखको प्राप्त होगा।

भावार्थ—इस मूलशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीका तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके रचयिता श्रीउमास्वतिआचार्य हैं। जोकि वाचकमुख्य शिवश्रीके प्रशिष्य और घोषनन्दिक्षमणके शिष्य थे, और वाचनाकी अपेक्षा मूलनामक वाचकाचार्यके शिष्य थे। ये मूल नामक वाचकाचार्य महावाचकक्षमण श्रीमुण्डपादके शिष्य थे। उमास्वतिका शरीर—जन्म न्यग्रोधिका स्थानमें स्वाति पिताके द्वारा वात्सी नामक माताके गर्भसे हुआ था, इनका गोत्र कौमीपणी और शास्त्रा नागरवाचक थी। गुरु—क्रमसे आये हुए आगमका अभ्यास करके विहार करते हुए कुसुमपुर नामक नगरमें आकर इस ग्रंथकी रचना की। अन्य लिखनेका हेतु प्राणिमात्रके लिये सच्चे सुखके मार्गको प्रकाशित करना ही है। अतएव जो इसके बताये हुए मार्गपर चलेगा वह शीघ्र ही निर्वाध सुखका भागी होगा।

इस प्रकार अहंत्वचनसत्रह नामक तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका दशमोऽध्याय पूर्ण हुआ ॥



महान् ग्रन्थराज

श्रीमद् राजचन्द्र

गुजरातके सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी शतावधानी कविराज रायचन्द्रजीके

गुजराती ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद

अनुवादकर्ता—प्रोफेसर प० जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए०

प्रस्तावना और सम्पूर्णलेखक—विश्वनाथ महात्मा गांधी

एक हजार पृष्ठोंके बड़े साइजके बढियाँ जिल्द बँधे हुए और ग्रन्थकर्त्ताके पाँच चित्रों सहित ग्रन्थका मूल्य सिर्फ ६) जो कि लागतमान है । डाकखर्च १।५)

महात्माजीने अपनी आत्मरुथामें लिखा है—

“ मेरे जीवनपर मुख्यतासे कवि रायचन्द्रमाईकी छाप पड़ी है । टास्टराय और रस्किनकी अपेक्षा भी रायचन्द्रमाईने मुझपर गहरा प्रभाव डाला है । ”

रायचन्द्रजी एक अद्भुत महापुरुष हुए हैं । वे अपने समयके महान् तत्त्ववेत्ता और विचारक थे । जैनसम्प्रदायमें जन्म लेकर भी उन्होंने तमाम धर्मोंका गहराईसे मनन किया था और उनके सारभूत तत्त्वोंपर अपने विचार बनाये थे । उनकी स्मरणशक्ति गजब की थी । किसी भी ग्रन्थकी एक बार पढ़कर वे हृदयस्थ कर लेते थे । शतावधानी तो वे थे ही अर्थात् सो बातोंमें एक साथ उपयोग लगा सकते थे ।

इस ग्रन्थमें उनके मोक्षमाला, भावनावोध, आत्मसिद्धि आदि छोटे मोटे ग्रन्थोंका सग्रह तो है ही, सबसे महत्त्वकी चीज है उनके ८७५ पत्र, जो उन्होंने समय समयपर अपने परिचित मुमुक्षुजनोंको लिखे थे और उनकी डायरी, जो कि वे नियमित रूपसे लिखा करते थे और महात्मा गांधीजीका आफ्रिकासे किया हुआ पत्रव्यवहार भी इसमें है । जिनागममें जो आत्मज्ञानकी पराकाष्ठा है उसका सुन्दर विवेचन इसमें है । अध्यात्मके विषयका तो यह खजाना ही है । रायचन्द्रजीकी कवितायें मूल गुनगती और हिन्दी अर्थ सहित दी हैं । मतलब यह कि रायचन्द्रजीसे सत्रध रचनेवाली कोई भी चीज छूटी नहीं है ।

गुजरातीमें इस ग्रन्थक अत्रतक सात एडिशन हो चुके हैं । हिन्दीमें यह पंद्रहवां ही महात्मा गाँधीजीकी आग्रहसे प्रकाशित, नहीं रहा है । प्रथारभमें विस्तृत विषय-सूची और श्रीमद् राजचन्द्रजीकी जीवनी है, जिससे कृत्रिम रूपसे राजचन्द्रजीका अच्छा परिचय मिलता है । प्रथम बार द्वार पढ़ने और मनन करने योग्य है । ग्रन्थांतमें ग्रन्थार्थत विषयोंको स्पष्ट करनेवाले छह महत्त्वपूर्ण मौलिक परिशिष्ट हैं, जो मूल ग्रन्थमें नहीं हैं ।

प्रत्येक विचारशील और तत्त्वप्रेमीको इस ग्रन्थका स्वागत करना चाहिए । देशके नामी नामी विद्वानों, कवियों, पत्र-सम्पादकोंने इस ग्रन्थकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है । ऐसे ग्रन्थ शताब्दियोंमें निकलते हैं ।

१ उपदेशछाया और आत्मसिद्धि—श्रीमद्राजचन्द्रविरचित गुजराती ग्रंथका हिन्दी अनुवाद प्रो० पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम्० ए० ने किया है।

उपदेशछायामें मुख्य चर्चा आत्मार्थके सम्बन्धमें है, अनेक स्थलोंपर तो यह चर्चा बहुत ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। इसमें केवलज्ञानीका स्वउपयोग, शुष्क ज्ञानियोंका अभिमान, ज्ञान किसे कहते हैं? कल्याणका मार्ग एक है, निर्धन कौन? आत्मार्थ ही सच्चा नय है, आदि गहन विषयोंका सुन्दर वर्णन है।

आत्मसिद्धि श्रीमद्रायचन्द्रजीकी अमर रचना है। यह ग्रंथ लोगोंका इतना पसंद आया कि इसके अंग्रेजी मराठी अनुवाद हो गये हैं। इसमें आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्त्ता है, वह भोक्ता है, मोक्षपद है, और मोक्षका उपाय है, इन छह पदोंको १४२ पद्योंमें युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है। ऊपर गुजराती कविता है, नीचे उसका विस्तृत हिन्दी-अर्थ है। इस ग्रंथका विषय बहुत ही जटिल और गहन है, किन्तु लेखन-शैलीकी सरलता तथा रोचकताके कारण साधारण पढ़े लिखे लोगोंके लिये भी बोवगम्य और उपयोगी हो गया है। प्रारम्भमें ग्रन्थकर्त्ताका सुन्दर चित्र और संक्षिप्त चरित्र भी है। पृष्ठसंख्या १०४, मूल्य सिर्फ ॥) है।

पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनावोध—श्रीमद्राजचन्द्रकृत गुजराती ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद प्रो० पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम्० ए० ने किया है।

पुष्पमालामें सभी अवस्थावालोंके लिए नित्य मनन करने योग्य जपमालाकी तरह १०८ दाने (वचन) गूँथे हैं।

मोक्षमालाकी रचना रायचन्द्रजीने १६ वर्षकी उम्रमें की थी, यह पाठ्य-पुस्तक बड़ी उपयोगी सदैव मनन करने योग्य है, इसमें जैन-मार्गको यथार्थ रीतिसे समझाया है। जिनोक्त-मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। वीतराग-मार्गमें आवाल वृद्धकी रुचि हो, और उसका स्वरूप समझे, इसी उद्देशसे श्रीमदने इसकी रचना की थी। इसमें सर्वमान्य धर्म, मानवदेह, सदेव, सद्धर्म, सद्गुरुत्व, उत्तम गृहस्थ, जिनेश्वरभक्ति, वास्तविक महत्ता, सत्य, सत्संग, विनयसे तत्त्वकी सिद्धि, सामायिक विचार, सुखके विषयमें विचार, बाहुवली, सुदर्शन कपिलमुनि, अनुपम क्षमा, तत्त्वावबोध, समाजकी आवश्यकता, आदि एकसे एक बढ़कर १०८ पाठ हैं। हिन्दी अर्थ सहित गुजरातीकी अनेक सुन्दर कवितायें हैं। इस ग्रंथको स्याद्वाद-तत्त्वबोधरूपी वृक्षका बीज ही समझिये।

भावनावोधका मुख्य विषय वैराग्य है, किस तरह कपाय-मल दूर हो, इसमें उसीके उपाय बताये हैं। इसमें अनित्य, अशरण, अत्यत्व, अशुचि, आश्रय, संवर, निर्जर आदि बारह भावनाओंके स्वरूपको भिखारीका खेद, नमिराजर्षि, भरतेश्वर, सनत्कुमार, आदिकी कथायें देकर बड़ी उत्तम रीतिसे विषयको समझाया है। प्रारंभमें श्रीमद् रायचन्द्रजीका चित्र और संक्षिप्त चरित्र भी है। भाषा बहुत ही सरल है। पृष्ठसंख्या १३० मूल्य सिर्फ ॥) है। लोगोंके सुभितेके लिए ये दोनों ग्रन्थ श्रीमद् राजचन्द्रमेंसे जुदा निकाले गये हैं।

परमात्मप्रकाश और योगसार [जैन रहस्यगदी और अध्यात्मवेत्ता श्री-योगीन्द्रदेवकृत अपभ्रंश दोहे, उनकी संस्कृत-भाषा, श्रीनरहदेवसूक्तित सस्कृतटीका, स्व० प० दौलतरामजीकृत भाषाटीका, डा० उपाध्यायकी ९२ पृष्ठकी अमेजी भूमिका, उसका हिन्दी-सार, विभिन्न, पाठभेद, अनुक्रमणिकायें, और हिन्दी अनुवादसहित ' योगसार ']

सम्पादक और सशोधक—डॉक्टर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम् ए डी लिट् अर्द्धमागधी प्रोफेसर राजाराम कालेज, कोल्हापुर ।

परमात्मप्रकाश अपभ्रंश भाषा-साहित्यका सबसे प्राचीन और अमूल्य रत्न है, आधुनिक हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषाएँ इसी अपभ्रंशसे उत्पन्न हुई हैं, अतः भाषा शास्त्रके जिज्ञासुओंके लिए यह उद्दे कामकी वस्तु है। भाषा साहित्यके नामी विद्वान् प्रो० उपाध्यायजीने अनेक प्राचीन प्रतिपत्तियोंके आधारसे इसका सशोधन संपादन करके सोनेमें सुगंधकी कढ़ावत चरितार्थ की है। पहले संस्करणसे यह संस्करण बहुत विस्तृत और शुद्ध है। इसकी भूमिका तो एक नई वस्तु है—ज्ञानकी खान है। इसमें परमात्मप्रकाशका विषय, भाषा, व्याकरण, ग्रन्थकारका चरित, समय निर्णय और उनकी रचनाओंका परिचय, टीकाकार और उनका परिचय, बड़ी छान-धीनसे किया है। अमेजा भूमिकाका हिन्दीसार प० केशवचन्द्रजी शास्त्री प्रधानाध्यापक स्वाध्याय जैनमहाविद्यालय काशीने लिखा है।

ग्रन्थमें योगीन्द्रदेवने तत्कालीन जनसाधारणकी भाषामें उड़ी ही सरल किंतु प्रभावोत्पादक शैलीमें परमात्माके स्वरूपका व्याख्यान किया है। इसमें बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्माका लक्षण, परमात्माके रूप जाननेकी रीति, शुद्धात्माका मुख्य लक्षण, शुद्धात्माके ध्यानसे सत्तार भ्रमणका रुकना, परमात्मप्रकाशका फल आदि संक्षेपे ज्ञातव्य विषयोंका वर्णन है। समाप्ति-मार्गका अपूर्व ग्रन्थ है। इसकी हिन्दीटीका भी उड़ी सरल और विस्तृत है। मामूली पढ़ा लिखा भी आसानीसे समझ सकता है। ऐसी उत्तम पद्धतिसे सम्पादित ग्रन्थ आपने अभीतक न देखा होगा। ग्रन्थराज स्वदेशी कागजपर बड़ी सुंदरता और शुद्धतासे छपाया गया है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द बँधी हुई है। पृष्ठसंख्या ५५०, मूल्य करल ४।।) है।

योगसार—यह श्रीयोगीन्द्रदेवकी अमर रचना है, इसमें मूल अपभ्रंश दोहे, संस्कृत भाषा, पाठांतर और हिन्दीटीका है। १०८ दोहोंके छोटसे ग्रन्थमें आध्यात्मिक गूढ़वादके तत्त्वोंका बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। यह ग्रन्थ साक्षात् मोक्षका सापान है। इसका सम्पादन और सशोधन प्रोफेसर ए० ए० उपाध्यायने किया है। प्रोफेसर प० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम्० ए० ने सरल हिन्दीटीका लिखी है। बहुत अच्छे मोटे कागजपर सुन्दरतापूर्वक छपा है। पृष्ठसंख्या २८, मूल्य सिर्फ १।) परमात्मप्रकाशके अंतमें यह ग्रन्थ दे उसमेंसे जुदा निकाला है।

YOGĪNDU, HIS PARAMĀTMAPRAKĀŚA AND OTHER WORKS अर्थात् योगीन्द्रदेव और उनकी रचनायें

डा० ए० एन्० उपाध्यायका बड़ी गण्यतासे लिखा हुआ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अमेजी ग्रन्थ है। पृष्ठसंख्या १०८ मूल्य १) है। यह परमात्मप्रकाशके प्रारम्भमें है, उसी मेंसे जुदा निकाला गया है।

प्रवचनसार—[श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्राकृत मूल गाथायें, श्रीअमृतचन्द्राचार्य श्रीजयसेनाचार्यकृत संस्कृतटीकाद्वय, स्व० पाडे हेमराजजीकृत हिन्दीटीका, डाक्टर उपाध्यायकृत अंग्रेजी अनुवाद, १२५ पृष्ठोंकी अति विस्तृत अंग्रेजी भूमिका, विभिन्न पाठ-भेदोंकी और ग्रन्थकी अनुक्रमणिका आदि अलंकारों सहित सम्पादित ।]

सम्पादक—डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय एम० ए० डी० लिट् प्रोफेसर राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर ।

यह अव्यात्मशास्त्रके प्रधान आचार्यप्रवर श्रीकुन्दकुन्दका ग्रन्थ है, केवल इतना ही कहना आत्मज्ञानके इच्छुक सुमुख पाठकोंको आकर्षित करनेके लिए काफी है । यह जैनागमका सार है । इसमें ज्ञानाधिकार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, और चाग्नित्राधिकार ऐसे तीन बड़े बड़े अधिकार हैं । इसमें ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका कथन है अर्थात् और सब विषयोंको गौण करके प्रधानतः आत्माका ही विशेष वर्णन है । इस ग्रन्थका एक संस्करण पहले निकल चुका है । इस नये संस्करणको प्रोफेसर उपाध्यायजीने बहुतसी पुरानी सामग्रीके आधारसे संशोधित किया है, और उसमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका जीवनचरित, समय, उनकी अन्य रचनाओं, टीकाओं, भाषा, दार्शनिकता, आदिपर गहरा विवेचन किया है । इसकी अंग्रेजी भूमिका भाषा-शास्त्र और दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए तो ज्ञानकी खान है, और धैर्ययुक्त परिश्रम और गहरी खोजका एक नमूना है । इस भूमिकापर बम्बई विश्वविद्यालयने २५०) का पुरस्कार दिया है और सम्पादकको डी० लिट्० अर्थात् डॉक्टरकी महत्त्वपूर्ण पदवी प्रदान की है और इसे अपने वी० ए० के पाठ्यक्रममें रखा है । इस ग्रन्थकी छपाई स्वदेशी कागजपर निर्णयसागर प्रेसमें बहुत ही सुन्दर हुई है । पृष्ठसंख्या ६०० से ऊपर है, कपड़ेकी मजबूत और सुन्दर जिल्द बँधी है । मूल्य सिर्फ ५) है ।

स्याद्वादमञ्जरी—कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकी श्रीमल्लिपणसूत्रिकृत विस्तृत संस्कृतटीका स्याद्वादमञ्जरীके नामसे प्रसिद्ध है । इसी टीकाका प्रो० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० कृत सरल और विस्तृत हिन्दी अनुवाद है । मल्लिपणसूत्रिने इस ग्रन्थमें न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, बौद्ध, और चार्वाक नामके छह दर्शनोंके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंका अत्यन्त सरल, स्पष्ट और मार्मिक भाषामें प्रतिपादनपूर्वक खण्डन करके सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करनेवाले स्याद्वाद-दर्शनका प्रौढ़ युक्तियों द्वारा मण्डन किया है । दर्शनशास्त्रके अन्य ग्रंथोंकी अपेक्षा इस ग्रंथकी यह एक असाधारण विशेषता है कि इसमें दर्शनशास्त्रके कठिनसे कठिन विषयोंका भी अत्यन्त सरल, मनोरंजक और प्रसाद गुणसे युक्त भाषामें प्रतिपादन किया है । इस ग्रन्थके संपादन और अनुवादकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है । अनुवादक महोदयने स्याद्वादमञ्जरीमें आये हुए विषयोंका वर्गीकरण करनेके साथ कठिन विषयोंको वादी प्रतिवादीके रूपमें शंका समाधान उपस्थित करके, प्रत्येक श्लोकके अन्तमें उसका भावार्थ देकर समझाया है, और इस तरह ग्रंथको संस्कृत और हिन्दीकी अनेक टीका-टिप्पणियोंसे समलंकृत बनाया है । सम्पादक

महोदयने जैन, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक और मित्रिष परिशिष्ट नामके आठ परिशिष्टों द्वारा इस ग्रन्थको और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इन परिशिष्टोंमें उह दर्शनोक्तोंके मूल सिद्धांतोंका नये दृष्टिकोणसे विवेचन किया गया है और साथ ही इनमें दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिये पर्याप्त सामग्री उपस्थित की गई है। इस ग्रन्थके आरम्भमें प्रथ और प्रथकारका परिचित देते हुए, 'स्याद्वादका जैनदर्शनमें स्थान' यह शीर्षक देकर, स्याद्वादका तुलनात्मक दृष्टिसे विवेचन किया गया है। स्याद्वादमजरीके अतिरिक्त इस संस्करणमें श्रीहेमचन्द्राचार्यकी अयोग्यग्रन्थेद्वयावशिका भी हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। इस ग्रन्थके प्राक्कथन लेखक हिन्दू विश्वविद्यालयके दर्शन-यापक श्रीमान् प० भिखन-लालजी आत्रय, एम० ए०, डी० लिट् हैं। अन्तमें आठ परिशिष्ट, तथा तेरह अनुक्रमणिकायें हैं।

यह ग्रन्थ हिन्दूयूनिवर्सिटी काशीके एम० ए० के कोर्समें, और कलकत्ता यूनिवर्सिटीके न्यायम पामाके कोर्समें नियत है। कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। पृष्ठसंख्या ५३६ है, मूल्य भी सिर्फ ४।) है।

सभाष्यतन्त्रार्थोधिगमसूत्र—अर्थात् अर्हत्ववचनसंग्रह मोक्षशास्त्र तन्त्रार्थ-सूत्रका संस्कृतभाष्य और उसकी प्रामाणिक भाषाटीका।

श्रीचमास्वातिष्ठत मूल सूत्र स्वोपज्ञभाष्य, (संस्कृतटीका) और विद्यावारिधि प० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत भाषाटीका सहित। जैनियोंका यह परमान्वनीय ग्रन्थ है, इसमें जैनधर्मके सम्पूर्ण सिद्धान्त आचार्यवर्यने बड़े लाघवसे संग्रह किये हैं। सिद्धान्तरूपी सागरकी मध्यके गागर (घड़े) में भर देनेका कार्य अपूर्व कुशलतासे किया है। ऐसा कोई तन्त्र नहीं, जिसका निरूपण इसमें न हो। इस ग्रन्थको जैनसाहित्यका जीवात्मा कहना चाहिए। गहनसे गहन विषयका प्रतिपादन स्पष्टतासे इसके सूत्रोंमें स्वामीजीने किया है। इस ग्रन्थपर अनेक आचार्यों और विद्वानोंने अनङ्ग भाष्य—संस्कृतटीकायें और भाषावचनिकायें रची हैं। प्रचलित हिन्दीमें कोई विशद और सरल टीका नहीं थी, जिसमें तरंगोंका वर्णन स्पष्टताके साथ आधुनिक शैलीसे हो। इसी कमीकी पूर्तिके लिये यह टीका छपाई गई है। विद्यार्थियोंको, विद्वानोंको, और सुमुखोंको इसका अध्ययन, पठन-प्राठन, स्वाध्याय करके लाभ ठठाना चाहिए। यह ग्रन्थ कलकत्ता यूनिवर्सिटीके न्यायम-यमाके कोर्समें है और भी कई यूनिवर्सिटीयोंमें पाठ्य-ग्रन्थ है। प्रथारम्भमें विस्तृत विषयसूची है, जिसे ग्रन्थका सार ही समझिये। इसमें दिग्मन्वर श्वताम्वर सूत्रोंका भेदप्रदर्शक कोष्टक और वर्णानुसारी सूत्रोंकी सूची भी है, जिससे बड़ी सरलता और सुभीतेसे पता लग जाता है कि कौन विषय और सूत्र कौनसे पृष्ठमें है। प्रथराज स्वदेशी कामजपर बड़ी शुद्धता और सुन्दरता पूर्वक छपा है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। इतनी सज विशेषतायें होते हुए भी बड़े आकारके ४७६+२४=५०० पृष्ठोंके ग्रन्थका मूल्य लागतमात्र सिर्फ तीन रूपया है, जो ग्रन्थको देखते हुए कुछ नहीं है। मूल्य इसी लिये कम रखा है, जिससे सर्वसाधारण सुभीतेसे खरीद सकें।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—श्रीअमृतचन्द्रस्वामीविरचित मूल श्लोक और पं० नाथूरामजी प्रेमीकृत सान्ध्य सरल भाषाटीका सहित । इसमें आचारसम्बन्धी बड़े बड़े गूढ़ रहस्योंका वर्णन है । अहिंसा तत्त्व और उसका स्वरूप जितनी स्पष्टता और सुन्दरतासे इस ग्रंथमें वर्णित है, उतना और कहीं नहीं है । तीन बार छपकर विक चुका है, इस कारण चौथी बार छपाया गया है । न्योछावर सजिल्दकी १।)

ज्ञानार्णव—राजर्षि श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल श्लोक और स्व० पं० जयचन्द्रजीकी पुरानी भाषावचनिकाके आधारसे स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी भाषाटीका सहित । योगशास्त्र संबंधी यह अपूर्व ग्रंथ है । इसमें ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है, प्रकरणवश ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी विस्तृत है । तीसरी बार छपा है । प्रारंभमें ग्रंथकर्त्ताका शिक्षाप्रद ऐतिहासिक जीवनचरित है । उपदेशप्रद बड़ा सुन्दर ग्रंथ है । मूल्य सजिल्दका ४)

सप्तभंगीतरंगिणी—श्रीमद्विमलदासकृत मूल और स्व० व्याकरणाचार्य पं० ठाकुर-प्रसादजी शर्माकृत भाषाटीका । यह न्यायका अपूर्व ग्रंथ है । इसमें ग्रंथकर्त्ताने स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, आदि सप्तभंगीनयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है । स्याद्वाद क्या है, यह जाननेके लिये यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिये । दूसरी बार सुन्दरतापूर्वक छपी है । न्यो० १)

बृहद्द्रव्यसंग्रह—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृत-टीका और पं० जवाहरलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीका सहित । इसमें जीव, अजीव, आदि छह द्रव्योंका स्वरूप अति स्पष्ट रीतिसे दिखाया है । दूसरी बार छपी है । कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बंधी है । मूल्य २।)

गोम्मटसार कर्मकाण्ड—श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथायें और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा भाषाटीका सहित । इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतने विस्तारसे किया गया है जिसकी मचन-द्वारा प्रशंसा नहीं हो सकती है । देखनेसे ही माद्धम हो सकता है । जो कुछ संसारका झगड़ा है, वह इन्हीं दोनों (जीव कर्म) के सवन्धसे हैं, इन दोनोंका स्वरूप दिखानेके लिए यह ग्रंथ-रत्न अपूर्व सूर्यके समान है । दूसरी बार पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीद्वारा संशो-धित हो करके छपा है । मूल्य सजिल्दका २॥)

गोम्मटसार जीवकाण्ड—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें और पं० खूब-चन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा बालवोविनी भाषाटीका सहित । इसमें गुण-स्थानोंका वर्णन, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा, उपयोग, अन्तर्भाव, आलाप आदि अनेक अविकार हैं । सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन करनेवाला यह अपूर्व ग्रंथ है । दूसरी बार संशोधित होकर छपा है । मूल्य सजिल्दका २॥)

लब्धिसार—(क्षपणासार गर्भित) श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दी भाषाटीका सहित । यह ग्रंथ गोम्मटसारका परिशिष्ट है । इसमें मोक्षके मूलकारण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेमें सहायक क्षयोप-शम, विशुद्ध, देशना, प्रायोग्य, करण इन पाँच लब्धियोंका वर्णन है । मूल्य सजिल्दका १॥)

भविष्यमे प्रकाशित होनेवाले उत्तमोत्तम ग्रंथ रत्न

१ प्रशमरतिप्रकरण—श्रीउमास्वातिकृत मूल श्लोक, श्रीहरिभद्रसूक्तित सस्कृत टीका, प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकृत भाषाटीका ।

२ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—कात्तिकेयस्वामीकृत मूल गायार्थ, श्रीशुभचन्द्राचार्य-
कृत बड़ी सस्कृतटीका, नई भा० टा०, इसका सम्पादन डा० ए० एन० उपाध्याय का रहे है।

३ पङ्कदर्शनसमुच्चय—श्रीहरिभद्रसुरिकृत मूल, श्रीगुणरत्नसुरिकृत तर्करहस्य दीपिका नामकी बड़ी संस्कृतटीका, 'यायाचार्य' प० महेन्द्रुमारजी शास्त्राकृत भाषाटीका ।

इनके सिवाय श्रीस्वामिसमतभद्र, सिद्धसेनदिवाकर, देवनदि, भगलकदेव, गिधानदि, हरिभद्रसूरि, हेमचन्द्रसूरि आदि आचार्योंके कई ग्रंथोंको प्रकाशित करानेकी आयोजना हो रही है। साहित्य प्रेमियोंसे प्रार्थना है कि वे इस पुण्यकार्यमें हमारी भरपूर मदद करें।

गुजराती ग्रंथ

શ્રીમદ્રાજચન્દ્ર—આ પુસ્તકમા શ્રીમદ્રાજચંદ્રની હયાતીમા તેઓશ્રીને જુદે જુદે પ્રસંગે સુસુકુમાર્ષીઓ, સજનોં અને મુનિશ્રીઓ વગેરે તરફથી મિત્ર મિત્ર પ્રિયોં પ્રત્યે પુછલા સવાલોના જવાબના પત્રોના સપ્રદ, તથા બાલ્યાવસ્થામા રચેલા ભાવનાગોષ્ઠ, મોક્ષમાલા, આત્મસિદ્ધિ પ્રયોનો સપ્રદ છે, શ્રીમદ્ની સોळा वर्ष पहेलानी वयधी देहोत्सर्ग पर्यंतना विचारोना आ मध्य प्रथमा सप्रद छ, जैनतत्त्वज्ञानको महान ग्रन्थ छे, जैनतत्त्वज्ञानको उडो अभ्यास समजवा माटे आ प्रथ खास उपयोगी छे, बीजी आवृत्ति सशोधनपूर्ण बहार पाडो छे । अने तेनी अदर श्रिमद्ना अग्रगण्य लखाने पण दाखल करवामा आव्या छे । प्रथममा महात्मा गांधीजीए लखेली महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना छे । आ पुस्तक सारामा सारा कागळ ऊपर सुप्रसिद्ध निर्णय-सागर प्रेसनी अदर खास तैयार करायेला देवनागरी टैपमा छाप्यु छे । सुंदर बाईडिंगधी सुशोभित छे । दरेक प्रथमण्डार, छाईनेरीमां राखवा योग्य छे, तमज साधु, सांणी, श्रावक, श्रानिकाओने खास बाँचवा लायक अने मनन करवा योग्य आ महान् ग्रन्थ छे, रोंगल चार पेजी साइजमा ८२५ पृष्ठमाळा दळदार प्रथना मूल्य फक्त ५ पाँच रुपया, छागतमात्र थी अर्धां राखेला छे । ५ चित्र छे ।

માવનાવોધ—આ પ્રથના કર્તા ઉક્ત મહાપુરુષ છે, વૈરાગ્ય એ આ પ્રથનો મુરત્ય પ્રિય છે, પાતતા પામવાનું અને કપાયમલ દૂર કરવાનું આ પ્રથમા ઉત્તમ સાધન છે, આત્મગ-
વેષીઓને આ પ્રથ આનંદોહાસ આપનાર છે, આ પ્રથની પળ આ નીજી આશુત્તિ છે, આ વસ્ત્રે
પ્રથોં યાસ કરીને પ્રમાનના કરના સારૂ અને પાઠશાળા, જ્ઞાનશાળા, તેમજ સ્કૂલોમા વિદ્યાર્થિ-
યોને વિદ્યાભ્યાસ અને પ્રમાનના કરવામાટે અતિ ઉત્તમ પ્રથ છે, અને તેથી સર્વ કોઈ લાભ હર્ડ
સકે, તે માટે ગુજરાતી ભાષામા અને વાલ્મીકી ટાઈપમા છપાવેલ છે । મુલ્ય સજિલ નુ ફક્ત ચાર આના ।

निवेदन

स्वर्गवासी तत्त्वज्ञानी शतावधानी कविवर श्रीरायचन्द्रजीने श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीउमा-स्वाति (मी) मुनीश्वर, श्रीसमन्तभद्राचार्य, देवनन्दि, श्रीअकलङ्कस्वामी विद्यानन्दि, श्रीनेमि-चन्द्राचार्य, श्रीशुभचन्द्राचार्य, श्रीअमृतचन्द्रसूरि, श्रीहरिभद्रसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य, श्रीयशो-विजय आदि महान् आचार्योंके रचे हुए अतिशय उपयोगी और अलभ्य जैनतत्त्व-ग्रन्थोंका सर्वसाधारणमें सुलभ मूल्यमें प्रचार करनेके लिये श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलकी स्थापना की थी, जिसके द्वारा उक्त कविराजके स्मरणार्थ श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ३२ वर्षोंसे निकल रही है। इस ग्रंथमालामें ऐसे अनेक प्राचीन जैन-ग्रंथ राष्ट्रभाषा हिन्दी टीकासहित प्रकट हुये हैं जो तत्त्वज्ञानाभिलाषी भव्यजीवोंको आनंदित कर रहे हैं।

उभय पक्षके महात्माओं द्वारा प्रणीत सर्वसाधारणोपयोगी उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके अभिप्राय विज्ञ पाठकोको विदित हो, इसके लिये इस शास्त्रमालाकी योजना की गई है। इसी लिये आत्मकल्याणके इच्छुक भव्य जीवोंसे निवेदन है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्रन्थोंके ग्राहक बनकर वे अपनी चल लक्ष्मीको अचल करें, और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोंके पठन-पाठन द्वारा प्रचार कर हमारी इस परमार्थ-योजनाके परिश्रमको सफल करें। प्रत्येक मन्दिर, सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालाओंमें इनका संग्रह अवश्य करें। जैनधर्म और जैनतत्त्व-ज्ञानके प्रसारसे बढ़कर दूसरा और कोई पुण्यकार्य प्रभावनाका नहीं हो सकता, इसलिए अधिकसे अधिक द्रव्यसे सहायता कर पाठक भी इस महत्कार्यमें हमारा हाथ बटावें। पाठकगण जितने अधिक ग्रन्थ खरीदकर हमारी सहायता करेंगे, उतने ही अधिक ग्रन्थ प्रकाशित होंगे।

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनियों, विद्वानों तथा पत्रसंपादकोंने तथा पाश्चात्य विदेशी विद्वानोंने मुक्तकंठसे की है। यह संस्था किसी स्वार्थ-साधनके लिये नहीं है, केवल परोपकारके वास्ते है। जो द्रव्य आता है, वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके उद्धारके काममें लगा दिया जाता है। हमारे सभी ग्रन्थ बड़ी शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक अपने विषयके विद्वानोंद्वारा हिन्दी टीका करवाके अच्छे कागज़पर छपाये गये हैं। मूल्य भी अपेक्षाकृत बहुत कम अर्थात् लागतके लगभग रखा जाता है। उत्तमताका यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि कई ग्रन्थोंके तीन तीन चार चार संस्करण हो गये हैं।

भविष्यमें श्रीउमास्वामी, स्वामी समन्तभद्र, श्रीसिद्धसेनदिवाकर श्रीभट्टाकलंकदेव, श्रीहरिभद्रसूरिके ग्रंथ निकलेंगे। कई ग्रंथोंका उत्तमतापूर्वक सम्पादन हो रहा है।

नोट—रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके ग्रन्थ इकट्ठे मँगानेवालोंको और प्रचार करनेवालोंको बहुत कफायतसे भेजे जाते हैं। इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

सं० १९७३ से १९९० तककी ५० श्रु० प्र० मंडलकी रिपोर्ट और महात्मा गान्धीजी लिखी प्रस्तावना (गुजराती) मुफ्त मँगाकर पढ़िये।

ग्रंथोंके मिलनेका पता—

परमश्रुतप्रभावक मंडल (रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला)

ठि० खाराकुवा जौहरी बाजार बम्बई नं० २

